श्रीमद्भगवद्गीता
श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत-गूढार्थदीपिकाव्याख्योपेता
समीक्षात्मकभूमिका-प्रतिभाख्यहिन्दीभाष्यानुवाद-विमर्शाख्यत्याख्यात्मकटिप्पणी-
विविद्यानुक्रमणिकायुता
द्वितीयभाग
हिन्दीभाष्यानुवादकारः
डॉ. मदनमोहन अग्रवाल
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली
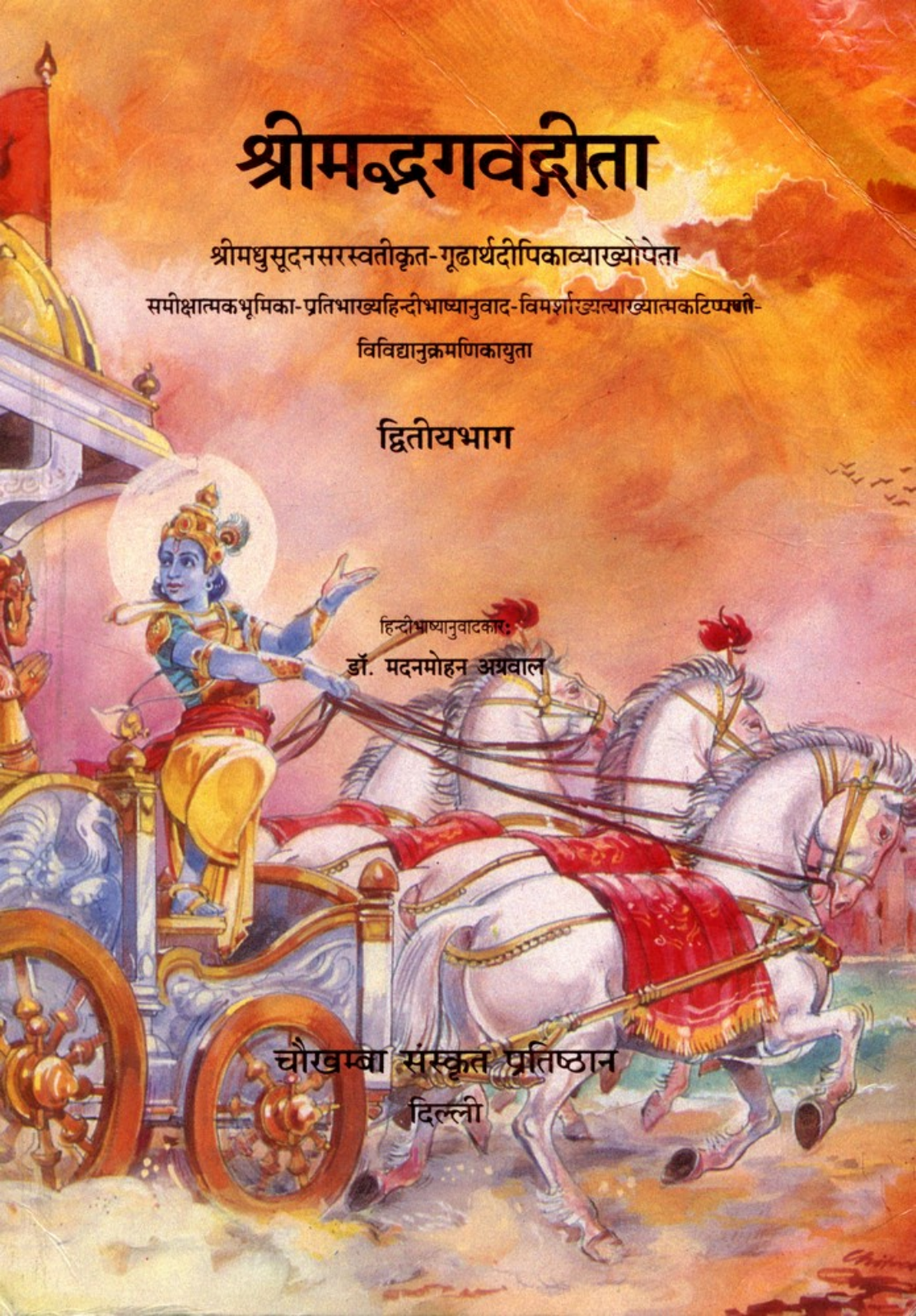
श्रीमद्भगवद्गीता
ŚRĪMADBHAGAVADGĪTĀ

॥ श्रीः ॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला

८५

गीतामृतदुहे श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत-

गूढार्थदीपिकाव्याख्योपेता

समीक्षात्मकभूमिका--प्रतिभाख्यहिन्दीभाष्यानुवाद--विमर्शाख्यव्याख्यात्मकटिप्पणी-
विविधानुक्रमणिकायुता

भाग II

हिन्दीभाष्यानुवादकारः

डॉ. मदनमोहन अग्रवाल

एम.ए.,पी-एच.डी.,डी.लिट्.

प्रोफेसर-संस्कृत-विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय

दिल्ली

आशीर्वाक् लेखकः

प्रोफेसर रसिकविहारी जोशी

एम० ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्० (पेरिस)

मेक्सिको

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली-110007

THE

VRAJAJIVAN PRACHYA GRANTHAMALA

85

ŚRĪMADBHAGAVADGĪTĀ

with the commentary

GŪḌHĀRTHADĪPIKĀ

OF

MADHUSŪDANA SARASVATĪ

Edited with 'Pratibhā' Hindi Translation, Introduction, Preface, Indexes and 'Vimarśa' critical Notes

VOLUME II

by

DR. MADAN MOHAN AGRAWAL

M.A. Ph.D.; D.Litt.

Professor of Sanskrit

University of Delhi

Delhi

Foreword by

Prof. Rasik Vihari Joshi

M.A., Ph.D., D.Litt. (Paris)

Mexico

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

Delhi-11007

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISTHAN
38-UA, Jawahar Nagar, Bungalow Road
Delhi-110007

Also available at
Chaukhamba Surabharati Prakashan
k-37/117, Gopal Mandir lane,
Post Box No. 1129, Varanasi-221001

Sole Distributor
Chaukhamba Vidyabhavan
chouka (Opposite of Banaras State Bank Bhavan)
Post Box No. 1069, Varanasi-221001

Printed at
Deluxe offset Printers
Delhi-110035

नमः कृष्णाय पूर्णाय ब्रह्मणे परमात्मने ।
गीतोपदेष्ट्रे पार्थाय नमो ज्ञानस्वरूपिणे ॥ 1 ॥

वन्देऽहं राधिकाकृष्णौ सच्चिदानन्दरूपिणौ ।
तापत्रयविनाशाय रासलीलाविहारिणौ ॥ 2 ॥

नमामि शिरसा पूर्वं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
रामप्रतापमनघं सर्वज्ञं परमं गुरुम् ॥ 3 ॥

बुद्धिं ज्ञानं यशः सौख्यं भक्तिं मुक्तिञ्च यच्छति ।
यः सदा शिष्यवर्गाय तं वन्दे रसिकं गुरुम् ॥ 4 ॥

हे देव ! हे रसिक ! हे विदुषां वरेण्य !
हे सद्गुरो ! जनहिताय जनस्त्वदीयः ।
ग्रन्थे कृपा विलसतीह पदार्थरूपा
मञ्जीवनं तव पदाब्जयुगेऽर्पयामि ॥ 5 ॥

अद्वैते भक्तिशास्त्रे च परं पारं गतं बुधम् ।
गूढार्थदीपिकाकारं वन्दे श्रीमधुसूदनम् ॥ 6 ॥

वेदान्तेऽद्वैतसिद्धौ बुधजनरुचिरं ज्ञानकाण्डं प्रशस्तं
भक्तौ यो भक्तिशास्त्रे दशमरसमपि स्थापयामास पूर्वम् ।
गीताया गूढमर्थं बुडित इव सदा प्राप्य ज्योतिस्वरूपं
प्राज्वालीद् यो विपश्चित् प्रणिहितमनसा प्राञ्जलिस्तं नमामि ॥ 7 ॥

अद्वैतसिद्धौ हरिमद्वितीयं
रसायने भक्तिरसं समुज्ज्वलम् ।
गूढार्थदीपे भगवद्रहस्यं
यो व्यावृणोत् तं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥ 8 ॥

गूढार्थदीपिकां टीकां पाण्डित्यनिकषोपलाम् ।
मूढोऽपि प्रतिभाख्यायां मदनः कुरुते स्फुटाम् ॥ 9 ॥

गूढार्थदीपिकायाश्च हिन्दीभाषां करोम्यहम् ।
प्रतिभानामिकामद्य श्रीगुरोराशिषा शुभाम् ॥ 10 ॥

प्रायशश्चतुरान्मासानाधिव्याधिप्रपीडितः ।
अशक्तोऽस्मीति कृपया क्षम्यन्तां त्रुटयो बुधैः ॥ 11 ॥

मदन मोहन अग्रवाल

अथ सप्तमोऽध्यायः

1 यद्भक्तिं न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम् ।
तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम् ॥

2 एवं कर्मसंन्यासात्मकसाधनप्रधानेन प्रथमषट्केन ज्ञेयं त्वंपदलक्ष्यं सयोगं व्याख्यायाधुना ध्येयब्रह्मप्रतिपादनप्रधानेन मध्यमेन षट्केन तत्पदार्थो व्याख्यातव्यः । तत्रापि –

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥'

इति प्रागुक्तस्य भगवद्भजनस्य व्याख्यानाय सप्तमोऽध्याय आरभ्यते । तत्र कीदृशं भगवतो रूपं भजनीयं कथं वा तद्गतोऽन्तरात्मा स्यादित्येतद्द्वयं प्रष्टव्यमर्जुनेनापृष्टमपि परमकारुणिकतया स्वयमेव विवक्षुः--

श्रीभगवानुवाच

**मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ 1 ॥**

3 मयि परमेश्वरे सकलजगदायतनत्वादिविविधविभूतिभागिनि आसक्तं विषयान्तरपरिहारेण सर्वदा निविष्टं मनो यस्य तव स त्वम् । अत एव मदाश्रयो मदेकशरणः, राजाश्रयो भार्याद्यासक्तमनाश्च

---

1 जिसकी भक्ति के विना मुक्ति नहीं होती, जो सब योगियों का परम सेव्य-आराध्य है उस परमानन्दघन श्रीनन्दनन्दन-श्रीकृष्णचन्द्र की मैं वन्दना करता हूँ ।

2 इसप्रकार कर्मसंन्यासरूप साधनप्रधान पथम छः अध्यायों से 'त्वम्' पदलक्ष्य ज्ञेय-जीव की योगसहित व्याख्या कर अब ध्येय ब्रह्मनिरूपणप्रधान मध्यम छः अध्यायों से 'तत्' पदार्थ व्याख्येय है । उसमें भी--

"समस्त योगियों में भी जो श्रद्धावान् पुरुष मद्गत-- मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा=अन्तःकरण-चित्त से मुझको भजता है उसको मैं युक्ततम मानता हूँ" (गीता, 6.47) ।

इस श्लोक से प्रागुक्त भगवद्-भजन के व्याख्यान के लिए सप्तम अध्याय आरम्भ किया जाता है । उसमें, भगवान् का कैसा स्वरूप भजनीय -- भजन करने के योग्य है और किस प्रकार अन्तरात्मा = चित्त तद्गत होगा अर्थात् उसमें लगेगा -- इन दो प्रष्टव्यों को, अर्जुन के न पूछने पर भी, भगवान् ने परमकारुणिकता से स्वयं ही बताने की इच्छा से कहना प्रारम्भ किया ।

[श्रीभगवान् बोले -- हे पार्थ ! मुझमें आसक्तचित्त और मेरे ही आश्रय-आश्रित रहनेवाले तुम योग का अभ्यास करते हुए जिसप्रकार मुझको निःसन्देहरूप से पूर्णतया जान सकोगे वह सुनो ॥ 1 ॥]

3 मुझ में = सकल जगत् का आश्रयत्व आदि विविध विभूतिसम्पन्न परमेश्वर में आसक्त = अन्य समस्त विषयों के परित्यागपूर्वक सर्वदा निविष्ट -- अवस्थित है मन जिसका अर्थात् तुम्हारा वह तुम इसी से मदाश्रय = मदेकशरण हो अर्थात् एकमात्र मेरी ही शरण में स्थित हो । यद्यपि लोक में राजसेवक राजा के आश्रय-आश्रित और अपनी भार्या आदि में आसक्त मन होता है, -- यह प्रसिद्ध है, किन्तु मुमुक्षु मदाश्रय -- मेरे ही आश्रित और मदासक्तमना --- मुझमें ही आसक्त चित्त होता

राजभृत्य: प्रसिद्धो मुमुक्षुस्तु मदाश्रयो मदासक्तमनाश्च, त्वं त्वद्विधो वा योगं युञ्जन्मनः-- समाधानं षष्ठोक्तप्रकारेण कुर्वन्, असंशयं यथा भवत्येवं समग्रं सर्वविभूतिबलशक्त्यैश्वर्यादिसंपन्नं मां यथा येन प्रकारेण ज्ञास्यसि तच्छृणूच्यमानं मया ॥ 1 ॥

4 **ज्ञास्यसीत्युक्ते परोक्षमेव तज्ज्ञानं स्यादिति शङ्कां व्यावर्तयन्स्तौति श्रोतुरभिमुख्याय –**

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ 2 ॥

5 **इदं मद्विषयं स्वतोऽपरोक्षज्ञानम् । असंभावनादिप्रतिबन्धेन फलमजनयत्परोक्षमित्युपचर्यते असंभावनादिनिरासे तु विचारपरिपाकान्ते तेनैव प्रमाणेन जनितं ज्ञानं प्रतिबन्धाभावात्फलं जनय-**

है[1] । अतएव तुम अथवा तुम्हारे समान कोई दूसरा मुमुक्षु योग का अभ्यास अर्थात् षष्ठ अध्याय में उक्त प्रकार से मन को समाहित करते हुए जिसप्रकार असंशय -- संशयशून्य होकर[2] समग्र[3] अर्थात् समस्त विभूति[4], बल[5], शक्ति[6], ऐश्वर्य[7] आदि[8] से सम्पन्न मुझको जान सकोगे वह मेरे द्वारा कहा जा रहा है उसको सुनो ॥ 1 ॥

4 'ज्ञास्यसि' = 'जान सकोगे' -- ऐसा कहने से तो वह परमेश्वरज्ञान परोक्ष ही होगा, -- इस शंका का निवारण करते हुए श्रोता को अपने अभिमुख करने के लिए उस परमेश्वरज्ञान की स्तुति करते हैं --

[मैं तुमको यह विज्ञानसहित मद्विषयक ज्ञान अशेषतः -- निःशेषरूप से -- सम्पूर्णरूप से कहूँगा, जिसको जानकर इस लोक में फिर और कुछ भी जानने के योग्य शेष नहीं रहता है ॥ 2 ॥]

5 इदम् = यह मद्विषयक स्वतः अपरोक्ष ज्ञान ज्ञानोत्पत्ति के असंभावना आदि प्रतिबन्धक के कारण फल को उत्पन्न नहीं करता है, अतः यह अपरोक्ष-प्रत्यक्ष भी उपचार से 'परोक्ष' के समान ही कहा जाता है । असंभावना आदि प्रतिबन्धक का निरास होने पर तो उसी विचार का परिपाक होने के अनन्तर उसी प्रमाण से जनित-उत्पन्न ज्ञान प्रतिबन्धक का अभाव होने से फल को उत्पन्न करता

---

1. अभिप्राय यह है कि यदि कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु का प्रयोजन सिद्ध करती है तो उसी वस्तु का वह आश्रय ग्रहण करती है, जैसे कोई व्यक्ति यदि स्वर्गादिरूप पुरुषार्थ की कामना करता है तो वह उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए साधनरूप में अग्निहोत्रादि, तप, दान प्रभृति कर्म का आश्रय ग्रहण करता है, किन्तु मुमुक्षु दूसरी कोई कामना न रहने से अन्य समस्त साधनों का परित्याग कर मात्र मेरा ही आश्रय ग्रहण करता है । किन्तु किसी का आश्रय ग्रहण कर लेने से ही उसमें उसका मन भी आसक्त होगा – यह आवश्यक नहीं है, जैसे राजसेवक राजा का आश्रय ग्रहण करता है किन्तु उसकी आसक्ति अपनी स्त्रीपुत्रादि में होती है, परन्तु मुमुक्षु मदाश्रय होने के साथ मदासक्तमना भी होगा, क्योंकि इसके अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं है ।
2. आत्मा से अतिरिक्त और कोई ईश्वर है या नहीं, -- इस प्रकार की शंका होने पर पातञ्जल और कापिल मत में ईश्वर है, अथवा नैयायिक और मीमांसकों के मत में ईश्वर नहीं है – ऐसा जो मतभेद देखा जाता है उसके द्वारा बुद्धि विचलित होने से जगत् के यथार्थ कारण के ज्ञान के अभाव से जो संशय उत्पन्न होता है उस संशय को विवेकबल से उन्मूलित कर – समग्र मुझको जान सकोगे (द्रष्टव्य-नीलकण्ठी टीका) ।
3. 'समग्र' शब्द का तात्पर्य है – 'मेरे सगुण और निर्गुण भाव को सम्पूर्णरूप से' -- जान सकोगे ।
4. विभूति -- नानाप्रकार की ऐश्वर्यमय साधन सम्पत्ति ।
5. बल -- शरीरगत सामर्थ्य ।
6. शक्ति – मनोगत प्रागल्भ्य ।
7. ऐश्वर्य = ईशन – शासन करने की सामर्थ्य ।
8. 'आदि' शब्द से इच्छा, ज्ञान आदि को भी ग्रहण किया जा रहा है (आनन्दगिरि टीका) ।

दपरोक्षमित्युच्यते । विचारपरिपाकनिष्पन्नत्वाच्च तदेव विज्ञानं, तेन विज्ञानेन सहितमिदमपरोक्षमेव ज्ञानं शास्त्रजन्यं ते तुभ्यमहं परमाप्तो वक्ष्याम्यशेषतः साधनफलादिसहितत्वेन निरवशेषं कथयिष्यामि । श्रौतीमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञामनुसरन्नाह — यज्ज्ञानं नित्यचैतन्यरूपं ज्ञात्वा वेदान्तजन्यमनोवृत्तिविषयीकृत्येह व्यवहारभूमौ भूयः पुनरपि अन्यत्किंचिदपि ज्ञातव्यं नावशिष्यते । सर्वाधिष्ठानसन्मात्रज्ञानेन कल्पितानां सर्वेषां बाधे सन्मात्रपरिशेषात्तन्मात्रज्ञानेनैव त्वं कृतार्थो भविष्यसीत्यभिप्रायः ॥ 2 ॥

हुआ 'अपरोक्ष' कहा जाता है; और विचार के परिपाक से निष्पन्न होने के कारण वही 'विज्ञान' भी है । मैं = परम आप्त -- यथार्थवक्ता उसी विज्ञान के सहित यह शास्त्रजन्य अपरोक्ष ही ज्ञान[9] तुमको अशेषत: = साधन, फल आदि सहित नि:शेषरूप से -- सम्पूर्णरूप से कहूँगा । श्रौती = श्रुतिसिद्ध 'एकविज्ञान से सर्वविज्ञान' की प्रतिज्ञा का अनुसरण करते हुए कहते हैं -- जिस नित्य, चैतन्यरूप ज्ञान को जानकर = वेदान्तवाक्यजन्य मनोवृत्ति का विषय कर इह = यहाँ अर्थात् व्यवहारभूमि में फिर और कुछ भी जानने के योग्य शेष नहीं रहता है[10] । अभिप्राय यह है कि सर्वाधिष्ठान सन्मात्र ज्ञान से सम्पूर्ण कल्पित वस्तुओं का बाध हो जाने पर केवल सन्मात्र ही अवशिष्ट रह जाने के कारण उस सर्वाधिष्ठान सन्मात्र ज्ञान से ही तुम कृतार्थ होओगे ।। 2 ।।

9. 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त महावाक्यों के विचार से जन्य अर्थात् शास्त्रजन्य ब्रह्म और आत्मा का ऐक्यरूप ज्ञान 'अपरोक्ष ज्ञान' – यथार्थज्ञान अथवा अपरोक्षानुभूति कहलाता है । अब प्रश्न है -- ज्ञान दो प्रकार होता है – अनुभूति और स्मृति । अनुभूति प्रमाणसापेक्ष है । प्रमाण मदभेद से एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ: अथवा उससे भी अधिक होते हैं । वेदान्त के अनुसार प्रमाण छ: हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि । सभी के मतों में मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण से 'अपरोक्ष ज्ञान' की उत्पत्ति होती है और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से जो अनुभूति होती है उसको 'परोक्षज्ञान' कहा जाता है । 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान, अथवा, प्रकृत श्लोक में भगवद्वचनजन्य ज्ञान तो केवल शाब्दिक ज्ञान ही है, वह ज्ञान जब परोक्ष अथवा अपरोक्ष-प्रत्यक्ष नहीं है तब उस शब्द-ज्ञान से अपरोक्षज्ञान – अपरोक्षानुभूति कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर है -- शब्द से अपरोक्षज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है । जैसे – दश व्यक्ति एकसाथ एक नदी को तैरकर जब नदी के दूसरे तट पर पहुँचे तब वे परस्पर देखने लगे कि सभी व्यक्ति निरापद पहुँचे हैं या नहीं । प्रत्येक व्यक्ति पृथक्-पृथक्रूप से परस्पर सभी को गिनने लगे और प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को छोड़कर गिनने लगे तो हर बार गिनने पर नौ व्यक्ति ही होते थे । तब सभी सोचने लगे की दशम-दशवाँ व्यक्ति नदी में डूब गया है । ऐसा समझकर वे सभी रोने लगे । उसी समय किसी पथिक ने उन व्यक्तियों को शोकार्त्त देखकर पुन: गिनने के लिए कहा । उन्होंने गिनने के बाद पुन: पूर्ववत् ही कहा कि नौ ही व्यक्ति हैं, दशम-दशवाँ व्यक्ति नहीं है । तब उस आगन्तुक ने स्वयं गिनकर प्रत्येक को तर्जनी से निर्देशकर कहा – 'दशमस्त्वमसि' = 'तुम दशम व्यक्ति हो' । इसप्रकार जो अपरोक्ष-प्रत्यक्ष भ्रम के कारण वे व्यक्ति इतनी देर तक शोक कर रहे थे वह शोक निवृत्त हुआ तथा 'दशमस्त्वमसि' – इस शब्द के श्रवणमात्र से ही 'मैं वह दशम व्यक्ति हूँ' – यह अपरोक्षज्ञान उत्पन्न हुआ और पूर्व अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति हुई । अत: शब्द से अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होता है – यह प्रत्यक्षसिद्ध है । अपरोक्ष वस्तु यदि ज्ञान का विषय है तब वह ज्ञान भी अपरोक्ष होगा । 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य, अथवा भगवद्वचन का विषय प्रत्यक् चैतन्य = 'अहम्' पद लक्ष्य, नित्य, चैतन्यरूप आत्मा है, और 'अहं-ज्ञान' प्रत्येक के समीप सर्वदा अपरोक्ष है । अत: वेदान्तवाक्यजन्यज्ञान शब्दज्ञान होने पर भी उसका विषय प्रत्यक्-चैतन्यरूप अपरोक्षवस्तु, आत्मा होने के कारण अपरोक्षज्ञान ही है । जब वेदान्तवाक्य के श्रवण से सभी को अपरोक्षज्ञान नहीं होता है तब वहाँ ज्ञानोत्पत्ति के असंभावना आदि प्रतिबन्धक उपस्थित रहते हैं, इसलिए वह 'अपरोक्षज्ञान' उत्पन्न नहीं होता है और अपरोक्ष भी उपचार से 'परोक्ष' के समान कहा जाता है । असंभावना आदि प्रतिबन्धक का निरास होने पर तो 'अपरोक्षज्ञान ' ही होता है ।

10. यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने श्लोकस्थ 'यत्' शब्द से दो बार परामर्श किया है – 'इदं मद्विषयं विज्ञानेन सहितमपरोक्षमेव ज्ञानं शास्त्रजन्यं ते तुभ्यमहं वक्ष्यामि' = 'मैं तुमको यह मद्विषयक ज्ञान = विज्ञान के सहित

6 **अतिदुर्लभं चैतन्मदनुग्रहमन्तरेण महाफलं ज्ञानम् । यतः --**

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ 3 ॥

7 **मनुष्याणां शास्त्रीयज्ञानकर्मयोग्यानां सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेकोऽनेकजन्मकृतसुकृतसमासादितनित्यानित्यवस्तुविवेकः सन्यतति यतते सिद्धये सत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तये । यततां यतमानानां ज्ञानाय सिद्धानां प्रागर्जितसुकृतानां साधकानामपि मध्ये कश्चिदेकः श्रवणमनननिदिध्यासनपरिपाकान्ते मामीश्वरं वेत्ति साक्षात्करोति तत्त्वतः प्रत्यगभेदेन तत्त्वमसीत्यादिगुरूपदिष्टमहावाक्येभ्यः । अनेकेषु मनुष्येष्वात्मज्ञानसाधनानुष्ठायी परमदुर्लभः, साधनानुष्ठायिष्वपि मध्ये फलभागी परमदुर्लभ इति किं वक्तव्यमस्य ज्ञानस्य माहात्म्यमित्यभिप्रायः ॥ 3 ॥**

6 यह महाफलदायक ज्ञान मेरे अनुग्रह के बिना प्राप्त होना असंभव है, अतएव अतिदुर्लभ है । कारण कि -- [हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियों में भी कोई एक मुझको तत्त्वतः जानता है ॥ 3 ॥]

7 शास्त्रीय-ज्ञान और कर्मयोग के योग्य सहस्र-सहस्र[11] मनुष्यों[12] के मध्य में कोई एक अनेक जन्मों में किये हुए शुभ कर्मों से सम्प्राप्त नित्यानित्यवस्तुविवेकवाला होकर सिद्धि के लिए यत्न करता है अर्थात् सत्त्वशुद्धि -- अन्तःकरणशुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्ति के लिए यत्न करता है । तथा ज्ञान के लिए यत्न करनेवाले सिद्धों के = पूर्वोपार्जित सुकृतोंवाले साधकों के मध्य में भी कोई एक श्रवण, मनन और निदिध्यासन के परिपाक के पश्चात् मुझ ईश्वर को तत्त्वतः[13] जानता है अर्थात् गुरूपदिष्ट 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से प्रत्यक्-चैतन्य से अभिन्न मेरा साक्षात्कार करता है । अभिप्राय यह है कि अनेक मनुष्यों में आत्मज्ञान के साधनों का अनुष्ठान करनेवाला ही परमदुर्लभ है तथा उन साधनों का अनुष्ठान करनेवालों में भी उसके फल को प्राप्त करनेवाला तो और भी परमदुर्लभ है -- इस प्रकार इस ज्ञान के माहात्म्य का क्या वर्णन किया जाय ? ॥ 3 ॥

शास्त्रजन्य अपरोक्ष ही ज्ञान कहूँगा'; 'यज्ज्ञानं नित्यचैतन्यरूपं ज्ञात्वा वेदान्तजन्यमनोवृत्तिविषयीकृत्येति' = 'जिस नित्य, चैतन्यरूप ज्ञान को जानकर = वेदान्तवाक्यजन्य मनोवृत्ति का विषय कर' फिर और कुछ भी जानने के योग्य शेष नहीं रहता है । इनमें भाष्योत्कर्षदीपिकाकार के अनुसार द्वितीय अर्थात् 'यज्ज्ञानं-' इत्यादि उपेक्षणीय है, क्योंकि श्लोकस्थ 'यत्' शब्द से जब पूर्व में 'विज्ञानेन सहितमपरोक्षमेव ज्ञानम्' का परामर्श कर दिया गया है, तो फिर 'नित्यचैतन्यरूपं ज्ञानम्' का परामर्श कैसे होगा ? अर्थात् द्वितीय बार परामर्श नहीं हो सकता है । यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यहाँ मधुसूदन सरस्वती का उद्देश्य 'यत्' शब्द से दो बार परामर्श करना नहीं है, अपितु यह स्पष्ट करना है कि जो मद्विषयक -- भगवद्विषयक ज्ञान है वही नित्य, चैतन्यपरक ज्ञान ही है । इसप्रकार यद्यपि तात्पर्य में विशेष भेद नहीं हैं फिर भी शाब्द अर्थ में तो भेद है ।

11. सहस्र = यह शब्द हजार, दश हजार, लाख का उपलक्षण है, क्योंकि जिसका केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त होना संभव है, वह मुमुक्षा अत्यन्त दुर्लभ है ।

12. यहाँ 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग यह सूचित करने के लिए है कि मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी जीव-प्राणी को बन्ध और मोक्ष का ज्ञान नहीं रहता है तथा मनुष्य का ही शास्त्रविहित कर्म के अनुष्ठान में और वेदान्त के महावाक्यादि के श्रवणादि में अधिकार है ।

13. 'तत्त्वतः' शब्द से सर्वोपाधिरहित शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा के तत्त्वज्ञान का निर्देश किया गया है, क्योंकि निरुपाधिक शुद्धचैतन्यरूप आत्मा के तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, दूसरे किसी उपाय से नहीं । श्रुति भी कहती है -- 'यदा ह्यवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति' -- (तैत्तिरीय उपनिषद्) = 'जब यह साधक दृश्यत्वरहित, शरीररहित, वाणी के अविषय, निराधार =

8 **एवं प्ररोचनेन श्रोतारमभिमुखीकृत्याऽऽत्मनः सर्वात्मकत्वेन परिपूर्णत्वमवतारयन्नादावपरां प्रकृतिमुपन्यस्यति –**

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ 4 ॥

9 **सांख्यैर्हि पञ्च तन्मात्राण्यहंकारो महानव्यक्तमित्यष्टौ प्रकृतयः पञ्च महाभूतानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि उभयसाधारणं मनश्चेति षोडश विकारा उच्यन्ते । एतान्येव चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि । तत्र भूमिरापोऽनलो वायुः खमिति पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यपञ्चमहाभूतसूक्ष्मावस्थारूपाणि गन्धरसरूपस्पर्शशब्दात्मकानि पञ्चतन्मात्राणि लक्ष्यन्ते । बुद्ध्यहंकारशब्दौ तु स्वार्थावेव । मनःशब्देन च परिशिष्टमव्यक्तं लक्ष्यते प्रकृतिशब्दसामानाधिकरण्येन स्वार्थहानेरावश्यकत्वात् ।**

10 **मनःशब्देन वा स्वकारणमहंकारो लक्ष्यते पञ्चतन्मात्रसंनिकर्षात् । बुद्धिशब्दस्त्वहंकारकारणे महत्तत्त्वे मुख्यवृत्तिरेव । अहंकारशब्देन च सर्ववासनावासितमविद्यात्मकमव्यक्तं लक्ष्यते प्रवर्तकत्वा-**

8 इस प्रकार प्ररोचन -- प्रलोभन से श्रोता -- अर्जुन को आत्मज्ञान की ओर अभिमुख कर सर्वात्मकता के कारण आत्मा की परिपूर्णता का अवतरण करते हुए सर्वप्रथम अपरा प्रकृति का वर्णन करते हैं -- [पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार -- इसप्रकार यह आठ प्रकार से विभक्त हुई मेरी प्रकृति है ॥ 4 ॥]

9 सांख्य -- विद्वान् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध -- पाँच तन्मात्राएँ, तथा अहंकार, महान्-महत् और अव्यक्त -- इन आठ को 'प्रकृतियाँ'; पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश -- पाँच महाभूत, वाक्-पाणि आदि -- पाँच कर्मेन्द्रियाँ, श्रोत्र, त्वचा आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय -- इन दोनों में साधारण-समानरूप से रहनेवाला मन -- इन सोलह को 'विकार' कहते हैं । ये ही सांख्यमतानुसार चौबीस तत्त्व हैं । प्रकृत श्लोक में 'भूमिरापोऽनलो वायुः खमिति' = 'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश' -- इत्यादि से पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशसंज्ञक पाँच महाभूतों की सूक्ष्मावस्थारूप गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दात्मक पाँच तन्मात्राएँ लक्षित हैं । 'बुद्धि' और 'अहंकार' -- ये दोनों शब्द तो स्वार्थपर ही हैं अर्थात् बुद्धिपरक और अहंकारपरक हैं । तथा 'मन' शब्द से परिशिष्ट अव्यक्त लक्षित होता है[14], क्योंकि 'प्रकृति' शब्द से सामानाधिकरण्य होने के कारण इसके अपने अर्थ की हानि -- स्वार्थहानि अर्थात् स्वार्थत्याग होना आवश्यक ही है ।

10 अथवा, 'मन' शब्द से स्वकारण = उसका कारण अहंकार लक्षित होता है, क्योंकि पाँच तन्मात्राओं के समीप है । 'बुद्धि' शब्द तो अहंकार के कारण महत्तत्त्व में मुख्यवृत्ति से ही अर्थवान् है । तथा

स्वयंप्रकाश अर्थात् माया और उसके कार्य के साथ लेशमात्र सम्बन्धशून्य; नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, अद्वितीय, अभय परब्रह्म का अपनी आत्मा से अभिन्नरूप से साक्षात्कार कर उसमें ही स्थिति प्राप्त करता है तब वह अभय हो जाता है अर्थात् सर्वसंसाररूप भय से मुक्त हो जाता है' ।

14. आचार्य धनपति के अनुसार मधुसूदन सरस्वती का यह व्याख्यान कि 'बुद्ध्यहंकारशब्दौ तु स्वार्थाविव, मनःशब्देन च परिशिष्टमव्यक्तं लक्ष्यते' = 'बुद्धि और अहंकार शब्द तो स्वार्थपर ही हैं, तथा 'मन' शब्द से परिशिष्ट अव्यक्त लक्षित होता है' – अरुचिग्रस्त है, क्योंकि प्रकृति-विकृति के क्रम में भङ्ग हो जाता है । प्रकृति-विकृति का क्रम है -- प्रकृति -- महत् -- अहंकार, जबकि प्रकृत व्याख्यान में क्रम होगा – प्रकृति – अहंकार – बुद्धि (महत्) । (भाष्योत्कर्षदीपिका)

यसाधारणधर्मयोगाच्च । इति उक्तप्रकारेणेयमपरोक्षा साक्षिभास्यत्वात्प्रकृतिर्मायाख्या पारमेश्वरी शक्तिरनिर्वचनीयस्वभावा त्रिगुणात्मिकाऽष्टधा भिन्नाऽष्टभिः प्रकारैर्भेदमागता । सर्वोऽपि जडवर्गोऽत्रैवान्तर्भवतीत्यर्थः । स्वसिद्धान्ते चेक्षणसंकल्पात्मकौ मायापरिणामावेव बुद्ध्यहंकारौ । पञ्चतन्मात्राणि चापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानीत्यसकृदवोचाम ॥ 4 ॥

11 एवं क्षेत्रलक्षणायाः प्रकृतेरपरत्वं वदन्क्षेत्रज्ञलक्षणां परां प्रकृतिमाह –

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ 5 ॥

12 या प्रागष्टधोक्ता प्रकृतिः सर्वाचेतनवर्गरूपा सेयमपरा निकृष्टा जडत्वात्परार्थत्वात्संसारबन्धरूपत्वाच्च । इतस्त्वचेतनवर्गरूपायाः क्षेत्रलक्षणायाः प्रकृतेरन्यां विलक्षणां, तुशब्दाद्यथाकथंचिदप्यभेदायोग्यां जीवभूतां चेतनात्मिकां क्षेत्रज्ञलक्षणां मे ममाऽऽत्मभूतां विशुद्धां परां प्रकृष्टां प्रकृतिं विद्धि हे महाबाहो, यया क्षेत्रज्ञलक्षणया जीवभूतयाऽन्तरनुप्रविष्टया प्रकृत्येदं जगदचेतनजातं धार्यते स्वतो विशीर्य उत्तम्यते "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति श्रुतेः । न हि जीवरहितं धारयितुं शक्यमित्यभिप्रायः ॥ 5 ॥

'अहंकार' शब्द से समस्त वासनाओं से वासित अविद्यात्मक अव्यक्त लक्षित होता है, क्योंकि उसका प्रवर्तकत्वादि असाधारण धर्मों से योग -- सम्बन्ध है । इसप्रकार उक्तरीति से साक्षीभाष्य होने के कारण यह अपरोक्षा प्रकृति -- 'माया' नाम की परमेश्वर की अनिर्वचनीय स्वभाववाली त्रिगुणात्मिका शक्ति अष्टधा भिन्न अर्थात् आठ प्रकार से भेद को प्राप्त हुई है । अर्थ यह है कि सम्पूर्ण जड़वर्ग भी इसी में अन्तर्भूत होता है । अपने सिद्धान्त में तो ईक्षण और संकल्परूप माया के परिणाम ही बुद्धि और अहंकार हैं तथा पाँच तन्मात्राएँ अपञ्चीकृत पाँच महाभूत हैं -- यह अनेक बार हम कह चुके हैं ।। 4 ।।

11 इसप्रकार क्षेत्ररूपा प्रकृति की अपरता बतलाते हुए क्षेत्रज्ञरूपा परा प्रकृति को कहते हैं --
[हे महाबाहो ! यह पूर्वोक्त अष्टधा विभक्त मेरी प्रकृति अपरा -- निकृष्टा है, इससे भिन्न जो जीवभूता प्रकृति है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, उसको मेरी परा प्रकृति जानो ।। 5 ।।]

12 पूर्वोक्त आठ प्रकार की जो प्रकृति है, वह सम्पूर्ण अचेतन-जडवर्गरूपा है, अतएव अपरा= निकृष्टा-निम्न कोटि की है; क्योंकि वह जड़, परार्थ=चेतनोपभोगार्थ और संसार की बन्धनरूपा है, अतएव निकृष्टा है । इस अचेतनवर्गरूपा क्षेत्रलक्षणा प्रकृति से अन्य-भिन्न=विलक्षण अर्थात् अपरा प्रकृति से अभेद के अयोग्य जीवभूता चेतनात्मिका क्षेत्रज्ञलक्षणा मेरी आत्मभूता-स्वरूपभूता विशुद्ध परा-प्रकृष्ट प्रकृति को तुम **जिस किसी भी** प्रकार जानो । 'तु' शब्द से अपरा प्रकृति से परा प्रकृति की विलक्षणता सूचित की गई है । हे महाबाहो[15] ! जिस क्षेत्रज्ञलक्षणा, जीवभूता और सर्वान्तरप्रविष्ट प्रकृति से यह सम्पूर्ण अचेतनजात जगत् धारण किया जाता है अर्थात् जगत् स्वतः विशीर्ण-ध्वस्त होने के लिए उन्मुख रहता है किन्तु क्षेत्रज्ञरूप प्रकृति के प्रभाव से ही अवस्थित रहता है । श्रुति भी कहती है -- 'इस जीवरूप आत्मा के द्वारा अर्थात् मायाकल्पित अपने अंश के द्वारा मैं सभी में अनुप्रविष्ट

15. यहाँ भगवान् अर्जुन के लिए 'जीवरूप प्रकृति से अर्थात् 'मैं जीव हूँ' – इस भाव से अपने को मुक्त कर ब्रह्म के साथ ऐक्य लाभ करके संसारगति से उद्धार होने की शक्ति तुममें है' – ऐसा आश्वासन देने के लिए 'महाबाहो !' कह कर सम्बोधन कर रहे हैं

13 **उक्तप्रकृतिद्वये कार्यलिङ्गकमनुमानं प्रमाणयन्स्वस्य तद्द्वारा जगत्सृष्ट्यादिकारणत्वं दर्शयति –**

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ 6 ॥

14 **एते अपरत्वेन परत्वेन च प्रागुक्ते क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे प्रकृती योनिर्येषां तान्येतद्योनीनि भूतानि भवनधर्मकाणि सर्वाणि चेतनाचेतनात्मकानि जनिमन्ति निखिलानीत्येवमुपधारय जानीहि । कार्याणां चिदचिद्ग्रन्थिरूपत्वात्तत्कारणमपि चिदचिद्ग्रन्थिरूपमनुमिन्वित्यर्थः । एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे ममोपाधिभूते यतः प्रकृती भवतस्ततस्तद्द्वाराऽहं सर्वज्ञः सर्वेश्वरोऽनन्तशक्तिमायोपाधिः**

होकर नाम तथा रूप को व्याकृत करता हूँ' (छान्दोग्योपनिषद् 6.3.2) । अभिप्राय यह है कि जीवरहित अर्थात् बिना जीव के जड़ पदार्थ को धारण नहीं किया जा सकता है ॥ 5 ॥

13 उक्त अपरा और परा-- दोनों प्रकार की प्रकृतियों के विषय में कार्यलिङ्गक-- कार्यहेतुक अनुमान को प्रमाणित करते हुए उसके द्वारा अपनी जगत् की सृष्टि आदि की कारणता को दिखलाते हैं--

[हे अर्जुन ! तुम यह जानो कि इस द्विविधा प्रकृति से ही सम्पूर्ण भूत योनिवाले-- उत्पत्तिरूप धर्मवाले हैं अर्थात् सम्पूर्ण भूत की उत्पत्ति इन दोनों प्रकृतियों से ही हुई है । ये दोनों प्रकृतियाँ मेरी उपाधि हैं, इनके द्वारा मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय का स्थान हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण हूँ ॥ 6 ॥

14 अपरा और परारूप से पूर्व में कही हुई ये क्षेत्ररूपा और क्षेत्रज्ञरूपा-- दोनों प्रकार की प्रकृतियाँ योनि-- कारण हैं जिनकी वे ये सम्पूर्ण भूत योनिवाले हैं अर्थात् उत्पत्तिरूप धर्मवाले हैं अर्थात् समस्त चेतन और अचेतनरूप पदार्थ जनि-उत्पत्तिमान् हैं -- ऐसा तुम जानो । भाव यह है कि कार्य चिदचिद्ग्रन्थिरूप हैं, इसलिए उनके कारण के विषय में भी चिदचिद्ग्रन्थिरूप होने का अनुमान करो[16] । इसप्रकार ये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप प्रकृतियाँ क्योंकि मेरी उपाधिभूत होती हैं, इसलिए उनके द्वारा मैं सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, अनन्तशक्ति, मायोपाधिक परमात्मा ही सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् के-- सम्पूर्ण कार्यवर्ग के प्रभव[17]-- उत्पत्ति का कारण तथा प्रलय[18] -- विनाश का कारण हूँ अर्थात् माया का आश्रय और विषय होने के कारण स्वाप्निक-प्रपञ्च के समान इस मायिक प्रपञ्च का मैं मायावी ही उपादान कारण और द्रष्टा अर्थात् निमित्त कारण हूँ[19] ॥ 6 ॥

---

16. प्रकृतिद्वय के विषय में कार्यलिङ्गक अनुमान इस प्रकार भी हो सकता है –
'भूतानि चेतनाचेतनपरापरप्रकृतिकानि; सर्वेषां भूतानां चेतनाचेतनरूपत्वात्; यथा – मृन्मयो घटो मृत्प्रकृतिक इति' = 'सम्पूर्ण भूत चेतनाचेतन -- परापर प्रकृतिक हैं, क्योंकि सम्पूर्ण भूत चेतनाचेतनरूप हैं, जैसे मृन्मय घट मृत्प्रकृतिक होता है' । इसप्रकार सम्पूर्ण भूत-कार्य के चेतनाचेतनरूप होने से चेतनाचेतनरूप परा और अपरा – दोनों प्रकृतियों का उनके कारण होने का अनुमान सिद्ध होता है ।

17. प्रभव = 'प्रभवति अस्मादिति प्रभवः' अर्थात् इससे उत्पत्ति होती है, अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रभव' शब्द का अर्थ उपादान कारण है (शंकरानन्दी टीका) । श्रीधर स्वामी के अनुसार 'प्रकर्षेण भवत्यस्मादिति प्रभवः -- परं कारणमहमित्यर्थः' = 'प्रकृष्टरूप से जिससे उत्पन्न होता है उसको प्रभव = परम कारण कहा जाता है अर्थात् 'मैं' ही वह परम कारण है' ।

18. प्रलय = 'प्रलीयते निष्पाद्यतेऽनेनेति प्रलयः निमित्तकारणम्' अर्थात् जिसके द्वारा कार्य निष्पन्न होता है उसको प्रलय = निमित्तकारण कहा जाता है ।

19. शास्त्र में परा प्रकृति को पुरुष = जीव, अपरा प्रकृति को प्रकृति और परमात्मा को परम पुरुष कहा गया है । पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही सम्पूर्ण प्रपञ्च की सृष्टि होती है । इसीलिए प्रकृत श्लोक में कहा गया

कृत्स्नस्य चराचरात्मकस्य जगतः सर्वस्य कार्यवर्गस्य प्रभव उत्पत्तिकारणं प्रलयस्तथा विनाशकारणम् । स्वाप्निकस्येव प्रपञ्चस्य मायिकस्य मायाश्रयत्वविषयत्वाभ्यां मायाव्यहमेवोपादानं द्रष्टा चेत्यर्थः ॥ 6 ॥

15 **यस्मादहमेव मायया सर्वस्य जगतो जन्मस्थितिभङ्गहेतुस्तस्मात्परमार्थतः --**

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ 7 ॥

16 **निखिलदृश्याकारपरिणतमायाधिष्ठानात्सर्वभासकान्मत्तः सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वानुस्यूतात्स्वप्रकाशपरमानन्दचैतन्यघनात्परमार्थसत्यात्स्वप्नदृशः इव स्वाप्निकं मायाविन इव मायिकं शुक्तिशकलावच्छिन्नचैतन्यादिवत्तदज्ञानकल्पितं रजतं परतरं परमार्थसत्यमन्यत्किंचिदपि नास्ति हे धनंजय । मयि कल्पितं परमार्थतो न मत्तो भिद्यत इत्यर्थः "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० 2.1.14) इति न्यायात् । व्यवहारदृष्ट्या तु मयि सद्रूपे स्फुरणरूपे च सर्वमिदं जडजातं**

15 क्योंकि माया से मैं ही सम्पूर्ण जगत् के जन्म, स्थिति और भङ्ग-नाश का हेतु हूँ, इसलिए परमार्थत :-- [हे धनंजय ! मेरे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु परतर = परमार्थसत्य नहीं है । जिस प्रकार सूत्र में मणियाँ पिरोयी रहती हैं उसी प्रकार मुझमें यह सम्पूर्ण जगत् ओतप्रोत है ॥ 7 ॥]

16 हे धनञ्जय ! = हे अर्जुन ! जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा से अतिरिक्त स्वाप्निक पदार्थ, मायावी से अतिरिक्त मायिक पदार्थ और शुक्तिशकलावच्छिन्न चैतन्य से अतिरिक्त उसके अज्ञान द्वारा कल्पित रजत परतर -- परमार्थसत्य नहीं हैं; उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य के आकार में परिणत माया के अधिष्ठान, सर्वभासक मुझ से = सद्रूप और स्फुरणरूप से सर्वानुस्यूत, स्वयंप्रकाश, परमानन्द, चैतन्यघन, परमार्थ सत्य -- सन्मात्र से अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु परतर -- परमार्थ सत्य नहीं है । भाव यह है कि मुझमें कल्पित कोई भी पदार्थ परमार्थतः मुझसे भिन्न नहीं है, जैसा कि 'तदनंन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्रह्मसूत्र, 2.1.14) = "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (छान्दोग्योपनिषद् 6.1.5) -- 'नाम वाग् से जन्य विकार हैं, और कुछ भी नहीं हैं, अतः मिथ्या है । उनका जो कारण है वही मात्र सत्य है' -- इसप्रकार श्रुति-वाक्य से तद्-तयोः अर्थात् कार्य -- जगत् प्रपञ्च की कारण -- परमात्मा से अनन्यता -- अभिन्नता कही गई है" -- इस सूत्र में कहे हुए न्याय से भी सिद्ध होता है । व्यवहार-

है -- 'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणि' अर्थात् सम्पूर्ण जगत् में जो कुछ भी प्रतीयमान होता है उन सबका योनि – कारण -- उपादानकारण परा और अपरा -- ये दोनों प्रकृतियाँ हैं । जिस उपादान कारण से जिस पदार्थ की सृष्टि होती है उस पदार्थ का लय भी उसी उपादान कारण में ही होता है । जैसे -- मृत्तिका – उपादान कारण से घट की उत्पत्ति होती है, पुनः घट का नाश होने वह घट मृत्तिका में ही विलय हो जाता है । ये दोनों प्रकृतियाँ स्वतंत्ररूप से सृष्टि अथवा प्रलय का कारण नहीं हैं, क्योंकि ये दोनों ही मायिक हैं । माया मायावी को आश्रय करके ही कार्य कर सकती है, अतः प्रपञ्च का परमात्मा निमित्तकारण है । जैसे स्वप्नद्रष्टा कल्पनाशक्ति से स्वाप्निक भोक्ता और भोग्य दृश्य की उत्पत्ति का कारण होता है और स्वप्न के समाप्त होने पर जैसे भोक्ता और भोग्य – सभी स्वाप्निक पदार्थ स्वप्न-द्रष्टा में ही विलीन हो जाते हैं, वैसे ही साक्षी, केवल, निर्गुण परमात्मा माया को उपाधि कर परा -- जीव और अपरा – प्रकृति के रूप से विभक्त होकर उनके संयोग से जगत् प्रपञ्च की सृष्टि कर स्वयं ही उनकी उत्पत्ति और प्रलय का कारण होता है । माया से सृष्ट सभी पदार्थ मिथ्या हैं -- अधिष्ठानस्वरूप परमात्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है । अतः परा प्रकृति, अपरा प्रकृति, उनके संयोग से सम्पूर्ण प्रपञ्च की सृष्टि और प्रलय इत्यादि जो कुछ प्रतीत होते हैं वे उनकी अधिष्ठान सत्ता -- परमात्मा से भिन्न और कुछ भी नहीं है अर्थात् परमात्मा ही माया का आश्रय और विषय होकर उन सकल रूप से प्रतीत होता है । परमात्मा ही सम्पूर्ण प्रपञ्च का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण अर्थात् परम कारण -- मूल कारण है -- यह प्रकृत श्लोक का भाव है ।

प्रोतं ग्रथितं मत्सत्तया सदिव मत्स्फुरणेन च स्फुरदिव व्यवहाराय मायामयाय कल्पते । सर्वस्य चैतन्यग्रथितत्वमात्रे दृष्टान्तः – सूत्रे मणिगणा इवेति । अथवा सूत्रे तैजसात्मनि हिरण्यग स्वप्नदृशि स्वप्नप्रोता मणिगणा इवेति सर्वांशे दृष्टान्तो व्याख्येयः ।

17 **अन्ये तु "परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः" (ब्र० सू० 3.2.31) इतिसूत्रोक्तर पूर्वपक्षस्योत्तरत्वेन श्लोकमिमं व्याचक्षते । मत्तः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः सर्वकारणात्परतरं प्रशस्यत सर्वस्य जगतः सृष्टिसंहारयोः स्वतन्त्रं कारणमन्यन्नास्ति हे धनंजय ! यस्मादेवं तस्मान्मयि सर्वकारणे सर्वमिदं कार्यजातं प्रोतं ग्रथितं नान्यत्र । सूत्रे मणिगणा इवेति दृष्टान्तस्तु ग्रथितत्वमा न तु कारणत्वे । कनके कुण्डलादिवदिति तु योग्यो दृष्टान्तः ॥ 7 ॥**

18 **अबादीनां रसादिषु प्रोतत्वप्रतीतेः कथं त्वयि सर्वमिदं प्रोतमिति च न शङ्क्यं रसादिरूपेण ममै स्थितत्वादित्याह पञ्चभिः –**

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ 8 ॥

दृष्टि से तो सद्रूप और स्फुरणरूप मुझमें प्रोत -- ग्रथित यह सम्पूर्ण जडजात -- जडसमूह मेरी सत्ता से सत्तावान् और मेरे ही स्फुरण से स्फुरणवान् -- प्रकाशवान् के समान मायामय व्यवहार के लिए कल्पित होता है । सम्पूर्ण जगत् के चैतन्य में ग्रथित होने मात्र में दृष्टान्त है -- 'सूत्रे मणिगण इव' = 'जिस प्रकार सूत्र में मणियाँ पिरोयी रहती हैं उसी प्रकार चैतन्य में सम्पूर्ण जगत् ग्रथित है' । अथवा, सूत्र अर्थात् स्वप्न के द्रष्टा-साक्षी, तैजसरूप हिरण्यगर्भ में स्वप्नावस्था में प्रोत-अनुस्यूत मणियों के समान - - -, इसप्रकार सर्वांश में इस दृष्टान्त की व्याख्या की जा सकती है ।

17 कोई अन्य विद्वान् इस श्लोक की व्याख्या 'परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः' (ब्रह्म, 3.2.31) = 'इस ब्रह्म से पर -- भिन्न अन्य तत्त्व भी अस्तित्व के योग्य है, क्योंकि सेतु के व्यपदेश, उन्मान के व्यपदेश, सम्बन्ध के व्यपदेश और भेद के व्यपदेश से परवस्तु की सिद्धि होती है । सेतु का व्यपदेश है-- 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' (छान्दोग्योपनिषद्, 8.4.1.) = 'यह अमृतत्व आदि लक्षणवाला आत्मा सेतु के समान विधारण कर्ता है ' । उन्मान का व्यपदेश है -- 'तदेतद् ब्रह्म चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमिति' = 'यह ब्रह्म चतुष्पाद, अष्टाशफ, षोडशकल इत्यादि परिमाणवाला है' । सम्बन्ध का व्यपदेश है -- 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छान्दोग्योपनिषद्, 6.8.1) - 'हे सोम्य ! सुषुप्ति में जीवात्मा सत् ब्रह्म के साथ सम्पन्न होता है' । इसी प्रकार भेद का व्यपदेश भी है -- 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छान्दोग्योपनिषद्, 1.6.6.) = 'यह जो आदित्य के अन्दर हिरण्मय -- ज्योतिर्मय पुरुष दीखता है' ।'-- इस सूत्र में कहे हुए पूर्वपक्ष के उत्तररूप से करते हैं । मुझ सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और सर्वकारण से परतर--प्रशस्यतर--श्रेष्ठतर सम्पूर्ण जगत् के सृष्टि और संहार का अन्य कोई स्वतंत्र कारण नहीं है । हे धनञ्जय ! क्योंकि ऐसा है, इसलिए सर्वकारणभूत मुझमें ही सम्पूर्ण कार्यजात प्रोत -- ग्रथित है, अन्यत्र नहीं अर्थात् किसी अन्य में ग्रथित नहीं है । 'सूत्रे मणिगणा इव' – यह दृष्टान्त तो मात्र उसके ग्रथित होने में है, कारणत्व में नहीं है; क्योंकि सूत्र मणियों का कारण नहीं है, अतः तद्भिन्न है ।'कनके कुण्डलादिवत्' -- यह योग्य दृष्टान्त है, क्योंकि कुण्डलादि का कारण और आश्रय दोनों ही कनक-स्वर्ण है ।। 7 ।।

18 यदि तुम शङ्का करते हो कि 'जलादि तो रसादि में प्रोत होते प्रतीत होते हैं, आपमें कैसे यह सब प्रोत हो सकते हैं ?, -- तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जलादि में रसादिरूप से मैं ही स्थित हूँ -- यह 'रसोऽहम्' इत्यादि पाँच श्लोकों से भगवान् कहते हैं --

19 रसः पुण्यो मधुरस्तन्मात्ररूपः सर्वासामपां सारः कारणभूतो योऽप्सु सर्वास्वनुगतः सोऽहं हे कौन्तेय ! तद्रूपे मयि सर्वा आपः प्रोता इत्यर्थः । एवं सर्वेषु पर्यायेषु व्याख्यातव्यम् । इयं विभूतिराध्यानायोपदिश्यत इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम् । तथा प्रभा प्रकाशः शशिसूर्ययोरहमस्मि । प्रकाशसामान्यरूपे मयि शशिसूर्यौ प्रोतावित्यर्थः । तथा प्रणव ओंकारः सर्ववेदेष्वनुस्यूतोऽहं "तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक्" इति श्रुतेः । संतृण्णानि ग्रथितानि । सर्वा वाक्सर्वो वेद इत्यर्थः । शब्दः पुण्यस्तन्मात्ररूपः ख आकाशेऽनुस्यूतोऽहम् । पौरुषं पुरुषत्वसामान्यं नृषु पुरुषेषु यदनुस्यूतं तदहम् । सामान्यरूपे मयि सर्वे विशेषाः प्रोताः श्रौतैर्दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैरिति सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥ 8 ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ 9 ॥

20 पुण्यः सुरभिरविकृतो गन्धः सर्वपृथिवीसामान्यरूपस्तन्मात्राख्यः पृथिव्यामनुस्यूतोऽहम् । चकारो रसादीनामपि पुण्यत्वसमुच्चयार्थः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां हि स्वभावत एव पुण्यत्वमविकृतत्वं प्राणिनामधर्मविशेषात्तु तेषामपुण्यत्वं न तु स्वभावत इति द्रष्टव्यम् । तथा विभावसावग्नौ यत्तेजः

[हे कौन्तेय ! जलों में मैं रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रभा हूँ, सम्पूर्ण वेदों में प्रणव-ओंकार हूँ, आकाश में शब्द तथा पुरुषों में पुरुषत्व मैं हूँ ॥ 8 ॥]

19 हे कौन्तेय ! = हे कुन्तिनन्दन ! समस्त जलों का सार, उनका कारणभूत जो तन्मात्ररूप, पुण्य-पवित्र और मधुर रस सम्पूर्ण जलों में अनुगत -- अनुस्यूत है वह मैं हूँ अर्थात् तद्रूप -- रसरूप मुझमें ही सब जल प्रोत हैं । इसी प्रकार सब पर्याय-शब्दों में व्याख्या कर लेनी चाहिए । इस विभूति का केवल ध्यान के लिए उपदेश किया जाता है, इसलिए इसमें विशेष अभिनिवेश -- आग्रह नहीं करना चाहिए । अध्यास से भी विभूतिफलक उपासना होती है । उसी प्रकार चन्द्रमा और सूर्य में मैं प्रभा अर्थात् प्रकाश हूँ अर्थात् प्रकाशसामान्यरूप मुझमें चन्द्रमा और सूर्य -- दोनों प्रोत -- अनुस्यूत हैं । इसी प्रकार मैं सम्पूर्ण वेदों में अनुस्यूत प्रणव -- ओंकार हूँ; जैसा कि श्रुति कहती है -- 'जिस प्रकार सम्पूर्ण पर्ण-पत्ते शङ्कु -- कील-तीक्ष्णधार से व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार समस्त वाणी ओंकार से व्याप्त है' । श्रुति में उक्त 'संतृण्णानि' शब्द का अर्थ है 'ग्रथितानि' = 'जिसप्रकार सम्पूर्ण पर्ण शङ्कु से ग्रथित हैं' । उसी प्रकार समस्त वाक् अर्थात् सम्पूर्ण वेद ओंकार से ग्रथित हैं । ख = आकाश में अनुस्यूत पुण्य तन्मात्ररूप शब्द भी मैं हूँ । तथा नरों में अर्थात् पुरुषों में अनुस्यूत जो पौरुष -- पुरुषत्वसामान्य है वह भी मैं हूँ । सामान्यरूप मुझमें ही समस्त विशेष प्रोत-अनुस्यूत हैं -- ऐसा दुन्दुभि आदि श्रौत दृष्टान्तों से सर्वत्र समझना चाहिए ॥ 8 ॥

[पृथिवी में जो पुण्य -- पवित्र गन्ध है वह मैं हूँ, अग्नि में तेज मैं हूँ, समस्त प्राणियों में उनका जीवन मैं हूँ तथा तपस्वियों में तप भी मैं हूँ ॥ 9 ॥]

20 पुण्य = सुरभि अर्थात् अविकृत -- विकारशून्य गन्ध, जो सम्पूर्ण पृथ्वी में सामान्यरूप से स्थित तन्मात्रसंज्ञक है और समस्त पृथ्वी में अनुस्यूत है, मैं हूँ । श्लोकस्थ 'च'कार रसादि के साथ भी पुण्यत्व का समुच्चय करने के लिए है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में स्वभावतः पुण्यत्व -- अविकृतत्व ही है, प्राणियों के अधर्मविशेष के कारण ही उनमें अपुण्यत्व आ जाता है, वह स्वभावतः

सर्वदहनप्रकाशनसामर्थ्यरूपमुष्णस्पर्शसहितं सितभास्वरं रूपं पुण्यं तदहमस्मि । चकाराद्यो वायौ पुण्य उष्णस्पर्शातुराणामाप्यायकः शीतस्पर्शः सोऽप्यहमिति द्रष्टव्यम् ।

21 **सर्वभूतेषु सर्वेषु प्राणिषु जीवनं प्राणधारणमायुरहमस्मि, तद्रूपे मयि सर्वे प्राणिनः प्रोता इत्यर्थः । तपस्विषु नित्यं तपोयुक्तेषु वानप्रस्थादिषु यत्तपः शीतोष्णक्षुत्पिपासादिद्वंद्वसहनसामर्थ्यरूपं तदहमस्मि, तद्रूपे मयि तपस्विनः प्रोता विशेषणाभावे विशिष्टाभावात् । तपश्चेति चकारेण चित्तैकाग्र्यमान्तरं जिह्वोपस्थादिनिग्रहलक्षणं बाह्यं च सर्वं तपः समुच्चीयते ॥ 9 ॥**

22 **सर्वाणि भूतानि स्वस्वबीजेषु प्रोतानि न तु त्वयीति चेन्नेत्याह –**

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ 10 ॥

23 **यत्सर्वभूतानां स्थावरजङ्गमानामेकं बीजं कारणं सनातनं नित्यं बीजान्तरानपेक्षं न तु प्रतिव्यक्तिभिन्नमनित्यं वा तदव्याकृताख्यं सर्वबीजं मामेव विद्धि न तु मद्भिन्नं हे पार्थ । अतो युक्तमेकस्मिन्नेव मयि सर्वबीजे प्रोतत्वं सर्वेषामित्यर्थः । किं च बुद्धिस्तत्त्वातत्त्वविवेकसामर्थ्यं**

नहीं है -- ऐसा समझना चाहिए । उसी प्रकार विभावसु -- अग्नि में जो सब वस्तुओं के दहन और प्रकाशन में सामर्थ्यरूप, उष्णस्पर्शसहित, सित - शुक्ल, भास्वररूप पुण्य तेज है वह मैं हूँ । 'च'कार से यहाँ यह समझना चाहिए कि वायु में जो उष्णस्पर्श से आतुर पुरुषों का आप्यायक -- आनन्ददायक पुण्य शीत स्पर्श है वह भी मैं ही हूँ ।

21 समस्त भूतों में अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों में जीवन = प्राणधारण अर्थात् आयु मैं हूँ । भाव यह है कि तद्रूप -- जीवनरूप मुझमें सब प्राणी प्रोत -- अनुस्यूत हैं । तपस्वियों में अर्थात् नित्य तपःपरायण वानप्रस्थ आदि में जो शीत -- उष्ण, क्षुधा -- पिपासा आदि द्वन्द्वों को सहन करने का सामर्थ्यरूप तप है, वह भी मैं हूँ अर्थात् तद्रूप -- तपरूप मुझमें ही तपस्वी अनुस्यूत हैं, क्योंकि विशेषण का अभाव रहने पर विशिष्ट का अभाव रहता है । 'तपश्च' -- इसमें 'च'कार से चित्त की एकाग्रतारूप आन्तर और जिह्वा -- उपस्थादि इन्द्रियों का निग्रहरूप बाह्य -- सभी प्रकार के तपों का समुच्चय किया गया है ॥ 9 ॥

22 यदि कहो कि 'समस्त भूत तो अपने-अपने बीजों में अनुस्यूत हैं, आपमें अनुस्यूत नहीं है' -- तो भगवान् कहते हैं, नहीं --

[पार्थ ! तुम मुझको समस्त भूतों का सनातन बीज-कारण जानो । मैं बुद्धिमानों की बुद्धि हूँ और तेजस्वियों का तेज हूँ ॥ 10 ॥]

23 हे पार्थ ! स्थावर-जङ्गम समस्त भूतों का जो एक सनातन -- नित्य अर्थात् बीजान्तर की अपेक्षा से रहित, न कि प्रतिव्यक्ति का भिन्न-भिन्न बीजान्तर की अपेक्षासहित अथवा अनित्य, बीज -- कारण है वह अव्याकृतसंज्ञक सबका बीज-कारण तुम मुझको ही जानो, न कि मुझसे भिन्न उसको समझो । अतः सब के बीज एकमात्र मुझमें सबका अनुस्यूत होना उचित ही है -- यह अर्थ है । इसके अतिरिक्त, बुद्धि अर्थात् तत्त्वातत्त्वविवेक का सामर्थ्य भी इसप्रकार के बुद्धिमानों का मैं ही हूँ, अर्थात् बुद्धिरूप मुझमें ही समस्त बुद्धिमान् अनुस्यूत हैं, क्योंकि विशेषण के अभाव में विशिष्ट का अभाव पहले ही कहा जा चुका है । इसी तेज -- प्रागल्भ्य -- दूसरों का पराभव करने का सामर्थ्य और दूसरों से पराभूत

तादृशबुद्धिमतामहमस्मि, बुद्धिरूपे मयि बुद्धिमन्तः प्रोता विशेषणाभावे विशिष्टाभावस्योक्तत्वात् । तथा तेजः प्रागल्भ्यं पराभिभवसामर्थ्यं परैश्चानभिभाव्यत्वं तेजस्विनां तथाविधप्रागल्भ्ययुक्तानां यत्तदहमस्मि, तेजोरूपे मयि तेजस्विनः प्रोता इत्यर्थः ॥ 10 ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ 11 ॥

24 **अप्राप्तो विषयः प्राप्तिकारणाभावेऽपि प्राप्यतामित्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः कामः, प्राप्तो विषयः क्षयकारणे सत्यपि न क्षीयतामित्येवमाकारश्चित्तवृत्तिविशेषो रञ्जनात्मा रागस्ताभ्यां विशेषेण वर्जितं सर्वथा तदकारणं रजस्तमोविरहितं यत्स्वधर्मानुष्ठानाय देहेन्द्रियादिधारणसामर्थ्यं सात्त्विकं बलं बलवतां तादृशसात्त्विकबलयुक्तानां संसारपराङ्मुखानां तदहमस्मि, तद्रूपे मयि बलवन्तः प्रोता इत्यर्थः । चशब्दस्तुशब्दार्थो भिन्नक्रमः, कामरागविवर्जितमेव बलं मद्रूपत्वेन ध्येयं न तु संसारिणां कामरागकारणं बलमित्यर्थः ।**

25 **क्रोधार्थो वा रागशब्दो व्याख्येयः । धर्मो धर्मशास्त्रं तेनाविरुद्धोऽप्रतिषिद्धो धर्मानुकूलो वा यो भूतेषु प्राणिषु कामः शास्त्रानुमतजायापुत्रवित्तादिविषयोऽभिलाषः सोऽहमस्मि हे भरतर्षभ । शास्त्राविरुद्धकामभूते मयि तथाविधकामयुक्तानां भूतानां प्रोतत्वमित्यर्थः ॥ 11 ॥**

26 **किमेवं परिगणनेन—**

न होना -- यह जो तेजस्वियों अर्थात् तथाविध प्रागल्भ्य से युक्त पुरुषों का गुण है वह मैं हूँ, अर्थात् तेजरूप मुझमें समस्त तेजस्वी अनुस्यूत हैं ॥ 10 ॥

[हे भरतर्षभ ! मैं बलवानों का काम और राग से रहित बल हूँ और प्राणियों में जो धर्म से अविरुद्ध अर्थात् धर्मानुकूल काम है वह मैं हूँ ॥ 11 ॥]

24 'अप्राप्त विषय, प्राप्ति के कारण का अभाव रहने पर भी, प्राप्त हो जाय' -- ऐसी जो चित्त की वृत्तिविशेष है वह 'काम' है, तथा 'प्राप्त विषय, क्षय का कारण रहते हुए भी, क्षीण न हो' -- ऐसी चित्तवृत्तिविशेष रञ्जनस्वरूप होने से 'राग' है -- उन दोनों से विवर्जित = विशेषरूप से वर्जित अर्थात् सर्वथा उक्त प्रकार के काम और राग की उत्पत्ति का अकारण -- अहेतु[20], तथाविध रजोगुण और तमोगुण से विरहित जो स्वधर्म का अनुष्ठान-आचरण करने के लिए देह, इन्द्रिय आदि को धारण करने का सामर्थ्यरूप सात्त्विक बल बलवानों में अर्थात् उस प्रकार के सात्त्विक बल से युक्त और संसार से पराङ्मुख पुरुषों में पाया जाता है वह मैं हूँ, अर्थात् तद्रूप -- उस प्रकार के बलरूप मुझमें समस्त बलवान् अनुस्यूत हैं । श्लोक में 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में व्यवहृत हुआ है तथा इसका क्रम भी भिन्न है । अर्थ यह है कि काम और राग से विवर्जित बल ही मेरे रूप से ध्यान करने के योग्य है, न कि संसारियों के काम और राग का कारण बल ।

25 अथवा, 'राग' शब्द की व्याख्या क्रोध के अर्थ में करनी चाहिए । धर्म अर्थात् धर्मशास्त्र उससे अविरुद्ध -- अप्रतिषिद्ध, अथवा धर्मानुकूल जो भूतों में -- प्राणियों में काम अर्थात् शास्त्रानुगत -- शास्त्रसम्मत जाया, पुत्र, धन आदि विषयक अभिलाषा है वह मैं हूँ । अर्थ यह है कि हे भरतर्षभ ! शास्त्र से अविरुद्ध कामभूत मुझमें तथाविध कामयुक्त प्राणी अनुस्यूत हैं ॥ 11 ॥

26 इसप्रकार गणना करने से क्या लाभ है ? अर्थात् व्यर्थ ही है, क्योंकि, --

20. अर्थात् जो सर्वथा उक्त प्रकार के काम और राग की उत्पत्ति का हेतु नहीं होता है ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ 12 ॥

27 **ये चान्येऽपि भावाश्चित्तपरिणामाः सात्त्विकाः शमदमादयः । ये च राजसा हर्षदर्पादयः । ये चे तामसाः शोकमोहादयः प्राणिनामविद्याकर्मादिवशाज्जायन्ते तान्मत्त एव जायमानान् इति अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभव इत्याद्युक्तप्रकारेण विद्धि समस्तानेव । अथवा सात्त्विका राजसास्तामसाश्च भावाः सर्वेऽपि जडवर्गा व्याख्येया विशेषहेत्वभावात् । एवकारश्च समस्तावधारणार्थः । एवमपि न त्वहं तेषु, मत्तो जातत्वेऽपि तद्वशस्तद्विकाररूषितो रज्जुखण्ड इव कल्पितसर्पविकाररूषितोऽहं न भवामि संसारीव । ते तु भावा मयि रज्ज्वामिव सर्पादयः कल्पिता मदधीनसत्तास्फूर्तिका मदधीना इत्यर्थः ॥ 12 ॥**

28 **तव परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्ये नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वे च सति कुतो जगतस्त्वदात्मकस्य संसारित्वम् । एवंविधमत्स्वरूपापरिज्ञानादिति चेत्, तदेव कुत इत्यत आह--**

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ 13 ॥

29 **एभिः प्रागुक्तैस्त्रिभिस्त्रिविधैर्गुणमयैः सत्त्वरजस्तमोगुणविकारैर्भावैः सर्वैरपि भवनधर्मभिः सर्वमिदं**

[जो भी सात्त्विक भाव हैं और जो राजस तथा तामस भाव हैं वे सब मुझसे ही हैं -- ऐसा उन सबको तुम जानो । मैं तो उनमें नहीं हूँ, वे ही मुझमें हैं ॥ 12 ॥]

27 जो अन्य भी शम, दम आदि सात्त्विक भाव अर्थात् चित्त के परिणाम हैं और जो हर्ष, दर्प आदि राजस तथा शोक, मोह आदि तामस भाव प्राणियों के अविद्या, कर्म आदि के कारण उत्पन्न होते हैं वे सब 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः' (गीता, 7.6) = 'मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का स्थान हूँ' -- इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं -- ऐसा उन सभी को तुम जानो । अथवा, सात्त्विक, राजस और तामस भावों से सम्पूर्ण जडवर्ग ही अर्थ समझना चाहिए, क्योंकि इनका शम-दमादि अर्थ करने में कोई विशेष हेतु नहीं है । 'एव' शब्द भी इन सबका एकसाथ ही निश्चय करने के लिए है । इस प्रकार भी मैं उनमें नहीं हूँ । यद्यपि वे मुझसे ही उत्पन्न हैं फिर भी मैं संसारी व्यक्तियों के समान उनके वश में नहीं हूँ, उनके विकार से रूषित-लिप्त नहीं हूँ, जैसे रज्जुखण्ड कल्पितसर्प के विकार से लिप्त नहीं होता है । किन्तु वे भाव ही मुझमें हैं = रज्जु में सर्पादि के समान मुझमें कल्पित हैं, मेरे अधीन अपनी सत्ता और स्फूर्तिवाले हैं अर्थात् मेरे अधीन हैं ॥ 12 ॥

28 यदि आप परमेश्वर नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव अतएव स्वतंत्र हैं तो आपही के स्वरूपभूत जगत् में संसारित्व कैसे होता है ? इसके उत्तर में यदि आप कहते हैं कि इसप्रकार के मत्स्वरूप = भगवद्स्वरूप का ज्ञान न होने से संसारित्व होता है, तो पुनः प्रश्न है कि ऐसा भी क्यों होता है ? इसका उत्तर भगवान् कहते हैं --

[इन त्रिगुणमय भावों से मोहित हुआ यह सम्पूर्ण जगत् इनसे पर-भिन्न इनके अधिष्ठानभूत और अव्यय -- अविनाशी मुझको नहीं जानता है ॥ 13 ॥]

29 इन प्रागुक्त तीन प्रकार के गुणमय अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण के विकाररूप भावों से = सम्पूर्ण

जगत्प्राणिजातं मोहितं विवेकायोग्यत्वमापादितं सदेभ्यो गुणमयेभ्यो भावेभ्यः परमेषां कल्पनाधिष्ठानमत्यन्तविलक्षणमव्ययं सर्वविक्रियाशून्यमप्रपञ्चमानन्दघनमात्मप्रकाशमव्यवहितमपि मां नाभिजानाति । ततश्च स्वरूपापरिचयात्संसरतीवेत्यहो दौर्भाग्यमविवेकिजनस्येत्यनुक्रोशं दर्शयति भगवान् ॥ 13 ॥

30 **ननु यथोक्तानादिसिद्धमायागुणत्रयबद्धस्य जगतः स्वातन्त्र्याभावेन तत्परिवर्जनासामर्थ्यान्न कदाचिदपि मायातिक्रमः स्याद्वस्तुविवेकासामर्थ्यहेतोः सदातनत्वादित्याशङ्क्य भगवदेकशरणतया तत्त्वज्ञानद्वारेण मायातिक्रमः संभवतीत्याह--**

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ 14 ॥

31 **दैवी, "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वे०, उ०, 6.11) इत्यादिश्रुतिप्रतिपादिते स्वतोद्योतनवति देवे स्वप्रकाशचैतन्यानन्दे निर्विभागे तदाश्रयतया तद्विषयतया च कल्पिता "आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला" (सं० शारी० 1.319) इत्युक्तेः । एषा साक्षिप्रत्यक्षत्वेनापलापानर्हा । हिशब्दाद्भ्रमोपादानत्वादर्थापत्तिसिद्धा च । गुणमयी सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयात्मिका । त्रिगुणरज्जुरिवातिदृढत्वेन बन्धनहेतुः, मम मायाविनः परमेश्वरस्य सर्वजगत्कारणस्य सर्वज्ञस्य सर्व-**

उत्पत्तिधर्मवाले पदार्थों से यह समस्त जगत् -- प्राणीसमूह मोहित हुआ अर्थात् विवेक की अयोग्यता को प्राप्त हुआ इन गुणमय भावों से पर-भिन्न इनकी कल्पना के अधिष्ठान, अत्यन्त विलक्षण और अव्यय -- सब विकारों से शून्य -- अप्रपञ्च-प्रपञ्चरहित, आनन्दघन, आत्मप्रकाश-स्वयंप्रकाश, अव्यवहित भी मुझको नहीं जानता है । इसी से स्वरूप का परिचय न होने के कारण यह संसरण सा करता है, संसारी सा हो जाता है, जन्म-मरण को प्राप्त होता-सा जान पड़ता है । अहो ! अविवेकी जनों का कैसा दुर्भाग्य है -- इसप्रकार भगवान् उनके प्रति अपनी दया दिखलाते हैं ॥ 13 ॥

30 यदि यथोक्त अनादि सिद्ध माया के तीन गुणों से बद्ध यह जगत् स्वतंत्र नहीं है, तो उन गुणों को छोड़ने का सामर्थ्य न होने से कभी भी माया का अतिक्रमण नहीं होगा । यदि आप कहते हैं कि वस्तुविवेक के सामर्थ्य से माया का अतिक्रमण हो जायेगा, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विवेक के असामर्थ्य की हेतु माया सदातन-सनातन अर्थात् अक्षुण्णरूप से विद्यमान रहती है -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् कहते हैं कि यह ठीक है -- माया सदातनी है, किन्तु भगवान् की एकमात्र शरण ग्रहण करके तत्त्वज्ञानद्वारा माया का अतिक्रमण होना संभव है --

[मेरी यह गुणमयी -- त्रिगुणात्मिका दैवी माया -- योगमाया दुरत्यया अर्थात् कठिनाई से पार करने के योग्य है; किन्तु जो पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं ॥ 14 ॥]

31 दैवी = 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.11) = 'एक अद्वितीय देव अर्थात् स्वयंप्रकाश परमात्मा समस्त प्राणियों में गूढ़ -- अविद्याच्छन्न अर्थात् माया से गुप्त -- छिपा हुआ है' -- इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित स्वतः द्योतनवान् -- द्युतिमान् देव को = जो स्वयंप्रकाश, चैतन्य, आनन्दस्वरूप और निर्विभाग -- अखण्ड है उसको आश्रय और विषय कर यह माया कल्पित होती है अतएव 'दैवी' है । ऐसी ही संक्षेपशारीरक की उक्ति है -- 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' (संक्षेपशारीरक, 1.319) = 'केवल निर्विभाग -- अखण्ड -- अविभक्त चिति ही अज्ञान का

शक्तेः स्वभूता स्वाधीनत्वेन जगत्सृष्ट्यादिनिर्वाहिका, माया तत्त्वप्रतिभासप्रतिबन्धेनातत्त्वप्रतिभासहेतुरावरणविक्षेपशक्तिद्वयवत्यविद्या सर्वप्रपञ्चप्रकृतिः "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे० उ०,4.19) इति श्रुतेः ।

आश्रय और विषय होती है' । 'एषा'[21] = 'यह' माया साक्षिचैतन्य के द्वारा प्रत्यक्ष होने के कारण अपलाप--अभाव के योग्य नहीं है,[22] और 'हि'[23] शब्द से 'भ्रमोपादानत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति से भी माया सिद्ध है'[24] – यह सूचित किया गया है । यह गुणमयी अर्थात् सत्त्व, रज और तम रूप त्रिगुणात्मिका है । त्रिगुण रज्जु के समान अत्यन्त दृढ़ होने के कारण बन्धन की हेतु है । मम = मेरी = सम्पूर्ण जगत् के कारण, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति मुझ मायावी परमेश्वर की स्वभूता, स्वाधीन होने से जगत् की सृष्टि आदि की निर्वाहिका माया = तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्ध कर अतत्त्वज्ञान का हेतु, आवरण और विक्षेपरूप शक्तिद्वयवती अविद्या सम्पूर्ण प्रपञ्च की प्रकृति-कारण है, जैसा कि श्रुति से सिद्ध है -- 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4.19) = 'माया को तो प्रकृति -- कारण जानो और मायावी को महेश्वर' -- इत्यादि ।

21. 'एषा' = 'यह' – शब्द प्रत्यक्ष वस्तु को ही लक्ष्य करके कहा जाता है, अतः 'एषा' – शब्द से 'माया' प्रत्यक्षसिद्ध है' -- यह सूचित किया गया है ।

22. अन्तःकरणोपहित चैतन्य 'साक्षी' है, अथवा, अविद्या वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य 'साक्षी' है (साक्षी चाविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यम् – अद्वैतसिद्धि, 1.59) । अविद्या साक्षिवेद्य ही है, शुद्ध चैतन्य से अविद्या प्रकाशित नहीं मानी जाती है, कारण कि शुद्ध चैतन्य को 'साक्षी' नहीं माना जाता है । अविद्या – अज्ञान की सिद्धि तीन प्रकार के साक्षिप्रत्यक्षों से होती है – (1) 'अहमज्ञः' = 'मैं अज्ञ हूँ' – यह आत्माश्रित होने के कारण 'सामान्य-प्रत्यक्ष' है, तथा 'मामन्यं न जानामि' = 'मैं मुझको और अन्य को नहीं जानता हूँ' – यह भी आत्मविषयक होने के कारण अन्यविषयक अज्ञान का साधक 'सामान्य-प्रत्यक्ष' है । (2) 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' = 'मैं त्वदुक्त अर्थ को नहीं जानता हूँ' – यह विषयविशेषित अज्ञान का साधक 'विशेष-प्रत्यक्ष' है, तथा (3) 'एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' = 'मैं इतनी देर तक सुख से सोया, किन्तु मैंने कुछ नहीं जाना' – इस प्रकार के जाग्रत्कालीन स्मरण के बल पर सिद्ध सुषुप्तिकालीन साक्षी प्रत्यक्ष भी अज्ञान की सिद्धि करता है । इस प्रकार त्रिविध साक्षिप्रत्यक्ष भावरूप अज्ञान में प्रमाण है । साक्षिप्रत्यक्ष वस्तु के प्रमा – ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा उससे अवगत शुक्ति-रजतादि में अबाधितत्व प्रसक्त होगा । अतः 'अज्ञाने साक्षिप्रत्यक्षं प्रमाणम्' – का यहाँ इतना ही अर्थ विवक्षित है कि अज्ञान के असत्त्वापादन को निवृत्त कर साक्षि-प्रत्यक्ष उसकी सत्ता सिद्ध करता है (विशेष द्रष्टव्य – अद्वैतसिद्धि, 1.55) ।

23. 'हि' शब्द प्रसिद्धार्थ और निश्चयार्थ में व्यवहृत होता है, अतः 'हि' शब्द से 'माया निश्चयरूप से प्रमाणसिद्ध है' -- यह कहा गया है ।

24. भ्रमोपादानत्वमज्ञानलक्षणम् = 'भ्रमोपादानत्व' अज्ञान का लक्षण है । जैसे शुक्ति में 'यह रजत है' – ऐसा ज्ञान होता है । इस भ्रम का उपादान कारण शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यगत अज्ञान है, क्योंकि यह भ्रम तब तक रहता है जब तक कि 'इयं शुक्तिः' = 'यह शुक्ति है' – इस अधिष्ठान ज्ञान से उस भ्रम की निवृत्ति होती है – यह अनुभवसिद्ध है । यदि कहें कि 'जन्माद्यस्य यतः', 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' – इत्यादि स्थल पर जगत् का उपादान कारण ब्रह्म कहा गया है; अतः भ्रमोपादानत्व ब्रह्म ही है, अज्ञान नहीं; फलतः उक्त अज्ञानलक्षण में अतिव्याप्ति-दोष है; तो इसका समाधान यह है कि यह अज्ञान का लक्षण 'विश्वभ्रम का उपादान कारण माया या अज्ञान है और उसका विषयीभूत ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान है'– इस सिद्धान्त के अनुसार कहा गया है । 'केवल ब्रह्म अथवा ब्रह्मसहित अविद्या जगत् का उपादान कारण है'– इस मत के अनुसार उक्त लक्षण नहीं किया गया है, अतः ब्रह्म में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है । फलतः 'भ्रमोपादानत्व'– अज्ञान का निर्दुष्ट लक्षण है। इस लक्षण के आधार पर 'भ्रमोपादानत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' प्रमाण से माया की सिद्धि होती है । कारण कि भ्रम सोपादान है, भ्रम में सोपादानत्व अज्ञान के बिना हो नहीं सकता है, अतः सोपादानत्वान्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति माया के सद्भाव में प्रमाण है ।

32 **अत्रैवं प्रक्रिया -- जीवेश्वरजगद्विभागशून्ये शुद्धे चैतन्येऽध्यस्ताऽनादिरविद्या सत्त्वप्राधान्येन स्वच्छ-दर्पण इव मुखाभासं चिदाभासमागृह्णाति । ततश्च बिम्बस्थानीयः परमेश्वर उपाधिदोषानास्कन्दितः प्रतिबिम्बस्थानीयश्च जीव उपाधिदोषास्कन्दितः । ईश्वराच्च जीवभोगायाऽऽकाशादिक्रमेण शरीरेन्द्रियसंघातस्तद्भोग्यश्च कृत्स्नः प्रपञ्चो जायत इति कल्पना भवति । बिम्बप्रतिबिम्बमुखानुगतमुखवच्चेशजीवानुगतं मायोपाधि चैतन्यं साक्षीति कल्प्यते । तेनैव च स्वाध्यस्ता माया तत्कार्यं च कृत्स्नं प्रकाश्यते । अतः साक्ष्यभिप्रायेण दैवीति बिम्बेश्वराभिप्रायेण तु ममेति भगवतोक्तम् । यद्यप्यविद्याप्रतिबिम्ब एक एव जीवस्तथाऽप्यविद्यागतानामन्तःकरणसंस्काराणां भिन्नत्वात्तद्भेदेनान्तःकरणोपाधेस्तस्यात्र भेदव्यपदेशो 'मामेव ये प्रपद्यन्ते, दुष्कृतिनो मूढा न प्रपद्यन्ते, चतुर्विधा भजन्ते माम्', इत्यादिः । श्रुतौ च 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० उ० 1.4.10) इत्यादिः ।**

33 **अन्तःकरणोपाधिभेदापर्यालोचने तु जीवत्वप्रयोजकोपाधेरेकत्वादेकत्वेनैवात्र व्यपदेशः 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु', 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि', 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इत्यादिः । श्रुतौ च 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्', (बृ० उ० 1.4.10) । 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० उ० 6.12), 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य', (छा० उ० 6.3.2) --**

---

32 यहाँ ऐसी प्रक्रिया है -- जीव, ईश्वर और जगत् के विभाग से शून्य, शुद्ध चैतन्य में अध्यस्त अनादि अविद्या सत्त्वगुण की प्रधानता होने से स्वच्छदर्पण में मुखाभास -- मुखप्रतिबिम्ब के समान चिदाभास -- चित्प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है । उसी से, बिम्बस्थानीय परमेश्वर उपाधिदोष से अनास्कन्दित -- अलिप्त और प्रतिबिम्बस्थानीय जीव उपाधिदोष से आस्कन्दित -- लिप्त होता है । ईश्वर से जीव के भोग के लिए आकाशादि क्रम से शरीर और इन्द्रियों का संघात तथा उसका भोग्य सम्पूर्ण प्रपञ्च उत्पन्न होता है -- ऐसी कल्पना होती है । बिम्बप्रतिबिम्बरूप मुख में जैसे मुख अनुगत है वैसे ही ईश्वर और जीव में अनुगत मायोपाधिक चैतन्य साक्षी है -- यह कल्पना की जाती है । उसी के द्वारा अपने में अध्यस्त माया और उसका सम्पूर्ण कार्य प्रकाशित होता है । इसी से भगवान् ने साक्षी के अभिप्राय से माया को 'दैवी' और बिम्बभूत ईश्वर के अभिप्राय से 'मम' = 'मेरी' कहा है । यद्यपि अविद्या में प्रतिबिम्बित जीव एक ही है, तथापि अविद्यागत अन्तःकरण के संस्कारों के भिन्न-भिन्न होने से उनके भेद से अन्तःकरणोपाधिक उस जीव का यहाँ = गीता में भेद = नानात्व-अनेकत्व कहा गया है -- 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' (गीता, 7.15) = 'जो मुझको ही प्राप्त होते हैं', 'दुष्कृतिनो मूढा न प्रपद्यन्ते' (गीता, 7.15) = 'दुष्कर्मी और मूढ़ पुरुष मुझको प्राप्त नहीं होते हैं'; 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' (गीता, 7.16) = 'मुझको चार प्रकार के भक्त भजते हैं' -- इत्यादि । श्रुति में भी उपाधिभेद से जीव का भेद -- बहुत्व निर्देश किया गया है -- 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.10) = 'उसको देवताओं में से जिस-जिस ने जाना है वही वह हो गया है, इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में भी हुआ है' -- इत्यादि ।

33 किन्तु अन्तकरणोपाधि के भेद की आलोचना न करने पर जीवत्वप्रयोजक उपाधि एक ही होने के कारण यहाँ = गीता में जीव का एकत्व कहा गया है -- 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु' (गीता, 13.2) = 'हे भारत ! समस्त क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तुम मुझको जानो'; 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥' (श्वे० उ० 5.9)

इत्यादिः । यद्यपि दर्पणगतश्चैत्रप्रतिबिम्बः स्वं परं च न जानात्यचेतनांशस्यैव तत्र प्रतिबिम्बितत्वात्तथाऽपि चित्प्रतिबिम्बश्चित्त्वादेव स्वं परं च जानाति, प्रतिबिम्बपक्षे बिम्बचैतन्य एवोपाधिस्थत्वमात्रस्य कल्पितत्वात्, आभासपक्षे तस्यानिर्वचनीयत्वेऽपि जडविलक्षणत्वात् । स च यावत्स्वबिम्बैक्यमात्मनो न जानाति तावज्जलसूर्य इव जलगतकम्पादिकमुपाधिगतं विकारसहस्रमनुभवति । तदेतदाह—दुरत्ययेति । बिम्बभूतेश्वरैक्यसाक्षात्कारमन्तरेणात्येतुं तरितुमशक्येति दुरत्यया । अत एव जीवोऽन्तःकरणावच्छिन्नत्वात्तत्संबद्धमेवाक्ष्यादिद्वारा भासयन्किंचिज्ज्ञो भवति । ततश्च जानामि करोमि भुञ्जे चेत्यनर्थशतभाजनं भवति । स चेद्बिम्बभूतं भगवन्तमनन्तशक्तिं मायानियन्तारं सर्वविदं सर्वफलदातारमनिशमानन्दघनमूर्तिमनेकानवतारान्भक्तानुग्रहाय विदधतमाराधयति परमगुरुमशेषकर्मसमर्पणेन तदा बिम्बसमर्पितस्य प्रतिबिम्बे प्रतिफलनात्सर्वानपि पुरुषार्थानासादयति । एतदेवाभिप्रेत्य प्रह्लादेनोक्तम् —

उभावपि' (गीता, 13.19) = 'प्रकृति और पुरुष -- इन दोनों को ही तुम अनादि जानो'; 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता, 15.7) = 'जीवलोक में मेरा ही अंश सनातन जीवरूप है' -- इत्यादि । श्रुति में भी अनेक स्थलों पर जीव के एकत्व का निर्देश किया गया है -- 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति, तस्मात् तत्सर्वमभवत्' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.10) = 'सृष्टि के पहले यह ब्रह्म ही था, उसने अपने को जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ', इसलिए वह सब कुछ हो गया'; 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.12) = 'समस्त प्राणियों में एक देव ही गूढ है'; 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य' (छान्दोग्योपनिषद्, 6.3.2) = 'यह जीवरूप अपने अंश के द्वारा सर्वभूत में अनुप्रविष्ट होकर'; --

'केश-बाल के अग्रभाग के शततम भाग को पुनः शतभाग में कल्पना करने से जो शततम भाग प्राप्त होता है उस प्रकार सूक्ष्म के सूक्ष्मतम चैतन्यांश को जीव जानना चाहिए, वह जीव ही पुनः अनन्तस्वरूप कल्पित होता है' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 5.9) – इत्यादि ।

यद्यपि दर्पणगत चैत्रादि का प्रतिबिम्ब अपने या दूसरे किसी को भी नहीं जानता है, क्योंकि उसमें अचेतन अंश पार्थिवादि मुख ही प्रतिम्बित होता है; तथापि चित्-चेतन का प्रतिबिम्ब चिद्-रूप होने के कारण अपने को और दूसरे को भी जानता है, क्योंकि प्रतिबिम्बवाद[25] की दृष्टि से बिम्ब चैतन्य में ही उपाधिस्थत्व -- उपाधिस्थतामात्र कल्पित है; आभासवाद[26] की दृष्टि से उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करने पर भी जड़ से विलक्षण होने के कारण वह जब तक आत्मा का अपने बिम्ब से ऐक्य-एकत्व नहीं जानता तभी तक जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान जलगत कम्पादि की तरह उपाधिगत सहस्रों

---

25. प्रतिबिम्बवाद सिद्धान्त के प्रवर्तक विवरणकार पद्मपादाचार्य है । प्रतिबिम्बवाद के अनुसार बिम्बचैतन्य 'ईश्वर' है और प्रतिबिम्ब चैतन्य 'जीव' है । इस सिद्धान्त के अनुसार बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभिन्नत्व है । जिस प्रकार एक ही सूर्य अनेक देशवर्ती जलों में अनेक रूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अविद्या में प्रतिबिम्बित होने के कारण अनेक जीवों के रूप में प्रतीत होता है । इस प्रकार ब्रह्म और जागतिक जीवों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है ।

26. आभासवाद सिद्धान्त के प्रवर्तक वार्तिककार सुरेश्वराचार्य हैं । आभासवाद के अनुसार शुद्धचैतन्य ही बिम्ब है, माया में जो चित्प्रतिबिम्ब है अर्थात् जो मायोपहित चैतन्य है वह 'ईश्वर' है; और बुद्धि में जो चित्प्रतिबिम्ब है अर्थात् जो बुद्धि में उपहित अतएव बुद्धि के साथ तादात्म्यापन्न चैतन्य है वह 'जीव' कहा जाता है । बुद्धि विभिन्न होने के कारण जीव भी विभिन्न = अनेक हैं, किन्तु माया एक है, अतः ईश्वर एक है । आभासवाद में जीव

'नैवाऽऽत्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चाऽऽत्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥' इति

दर्पणप्रतिबिम्बितस्य मुखस्य तिलकादिश्रीरपेक्षिता चेद्बिम्बभूते मुखे समर्पणीया। सा स्वयमेव तत्र प्रतिफलति नान्यः कश्चित्तत्प्राप्तावुपायोऽस्ति यथा तथा बिम्बभूतेश्वरे समर्पितमेव तत्प्रतिबिम्बभूतो जीवो लभते नान्यः कश्चित्तस्य पुरुषार्थलाभेऽस्त्युपाय इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरर्थः।

34 तस्य यदा भगवन्तमनन्तमनवरतमाराधयतोऽन्तःकरणं ज्ञानप्रतिबन्धकपापेन रहितं ज्ञानानुकूल-

विकारों का अनुभव करता है। इसी से कहते हैं -- यह माया 'दुरत्यया' है अर्थात् बिम्बभूत ईश्वर के साथ ऐक्य-एकत्व का साक्षात्कार किए बिना इसका अत्यय = तरण अशक्य-असंभव है। अतएव जीव अन्तःकरण से अवच्छिन्न होने के कारण उससे सम्बद्ध पदार्थों को ही नेत्रादि के द्वारा भासित करता हुआ किंचिज्ज्ञ = अल्पज्ञ होता है। उसी से 'जनामि', 'करोमि', 'भुञ्जे' = 'जानता हूँ', 'करता हूँ', 'भोगता हूँ' -- इत्यादि सैकड़ों अनर्थों का भाजन होता है। वह यदि बिम्बभूत, अनन्तशक्ति, मायानियन्ता, सर्वविद्-सर्वज्ञ, सर्वफलप्रदाता, आनन्दघनमूर्ति, भक्तों के अनुग्रहार्थ अनेक अवतारों को धारण करनेवाले, परमगुरु भगवान् की अपने सम्पूर्ण कर्मों के समर्पण द्वारा अहर्निश आराधना करता है तो बिम्ब में समर्पित वस्तु के प्रतिबिम्ब में प्रतिफलित होने से सभी पुरुषार्थों को प्राप्त होता है। इसी अभिप्राय से प्रह्लाद ने कहा है --

''सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने स्वरूप के साक्षात्कार से ही परिपूर्ण हैं। उनको अपने लिए क्षुद्र पुरुषों से पूजा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। वे करुणावश ही सरल भक्तों के हित के लिए उनके द्वारा की हुई पूजा स्वीकार कर लेते हैं। जैसे अपने मुख का सौन्दर्य दर्पण में दीखनेवाले प्रतिबिम्ब को भी सुन्दर बना देता है, वैसे ही भक्त भगवान् के प्रति जो-जो सम्मान प्रकट करता है, वह उसको ही प्राप्त होता है'' -- (श्रीमद्भागवतपुराण, 7.9.11)।

यहाँ उक्त दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का अभिप्राय यह है कि दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख की तिलक आदि से शोभा करने की यदि अपेक्षा-आवश्यकता होती है तो वह शोभा बिम्बभूत मुख में ही समर्पित होती है, प्रतिबिम्बि में नहीं, वह तो बिम्ब से ही प्रतिबिम्ब में स्वयं ही प्रतिफलित होती है, उसकी प्राप्ति में अन्य कोई उपाय नहीं है जैसे वैसे ही बिम्बभूत ईश्वर में समर्पित ही वस्तु उसके प्रतिबिम्बभूत जीव को स्वतः प्राप्त होती है, उसका पुरुषार्थ-लाभ करने में अन्य कोई उपाय नहीं है।

34 जब भगवान् अनन्त की अनवरत-निरन्तर आराधना करनेवाले उस जीव का अन्तःकरण ज्ञान के प्रतिबन्धक पाप से रहित और ज्ञान के अनुकूल पुण्य से उपचित-समृद्ध होता है तब अत्यन्त निर्मल

और ईश्वर-- दोनों ही शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्ब हैं, अतः दोनों ही माया के द्वारा सृष्ट है, फलतः दोनों ही उसी प्रकार अनिर्वचनीय अर्थात् मिथ्या हैं जिस प्रकार कि समस्त ऐन्द्रजालिक विषय आभासमात्र होने के कारण मिथ्या हैं। एकमात्र शुद्ध चैतन्य ही परमार्थतः सत्य वस्तु है। परमार्थसत्यस्वरूप ब्रह्म की जगत् के अनेक रूपों में प्रतीति को 'आभास' कहते हैं और इसका कारण अविद्या है। आभासवाद के अनुसार बिम्ब-चैतन्य और प्रतिबिम्ब-चैतन्य अभिन्न नहीं है। तत्त्वज्ञान के द्वारा यह कल्पित मिथ्या जीवत्व बाधित होने पर शुद्धब्रह्मरूपभावापत्तिरूप मुक्ति होती है। आभासवाद में बुद्धि में उपहित चैतन्य को 'चिदाभास' कहा जाता है।

पुण्येन चोपचितं भवति तदाऽतिनिर्मले मुकुरमण्डल इव मुखमतिस्वच्छेऽन्तःकरणे सर्वकर्मत्यागशमदमादिपूर्वकगुरूपसदनवेदान्तवाक्यश्रवणमनननिदिध्यासनैः संस्कृते तत्त्वमसीति-गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्यकरणिकाऽहं ब्रह्मास्मीत्यनात्माकारशून्या निरुपाधिचैतन्याकारा साक्षात्कारात्मिका वृत्तिरुदेति । तस्यां च प्रतिफलितं चैतन्यं सद्य एव स्वविषयाश्रयाम-विद्यामुन्मूलयति दीप इव तमः । ततस्तस्या नाशात्तया वृत्त्या सहाखिलस्य कार्यप्रपञ्चस्य नाशः, उपादाननाशादुपादेयनाशस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धत्वात् । तदेतदाह भगवान् – 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इति । 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० उ०, 1.4.7), 'तदात्मानमेवावेत्' (बृ० उ०, 1.4.10), 'तमेव धीरो विज्ञाय' (बृ० उ० 4.4.23), 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' (श्वे० उ०, 6.15) इत्यादिश्रुतिष्विवेहापि मामेवेत्येवकारो-ऽन्यानुपरक्तताप्रतिपत्त्यर्थः । मामेव सर्वोपाधिविरहितं चिदानन्दसदात्मानमखण्डं ये प्रपद्यन्ते वेदान्तवाक्यजन्यया निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपया निर्वचनानर्हशुद्धचिदाकारत्वधर्मविशिष्टया सर्वसुकृतफलभूतया निदिध्यासनपरिपाकप्रसूतया चेतोवृत्त्या सर्वाज्ञानतत्कार्यविरोधिन्या विषयीकुर्वन्ति ते ये केचिदेतां दुरतिक्रमणीयामपि मायामखिलानर्थजन्मभुवमनायासेनैव तरन्ति अतिक्रामन्ति 'तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' (बृ० उ० 1.4.10) इति श्रुतेः । सर्वोपाधिनिवृत्त्या सच्चिदानन्दघनरूपेणैव तिष्ठन्तीत्यर्थः । बहुवचनप्रयोगो देहेन्द्रियादि संघातभेदनिबन्धनात्मभेदभ्रान्त्यनुवादार्थः ।

दर्पणमण्डल में जैसे मुख की शोभा होती है वैसे ही उसके अत्यन्त स्वच्छ अन्तःकरण में -- सम्पूर्ण कर्मों के त्याग तथा शम-दमादिपूर्वक गुरूपसत्ति और वेदान्तवाक्यों के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से संस्कृत उक्त अन्तःकरण में 'तत्त्वमसि' -- इस गुरूपदिष्ट वेदान्तवाक्य की करणिका 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इत्याकारक अनात्माकार से शून्य और निरुपाधिक चैतन्याकार साक्षात्कारस्वरूप वृत्ति उदित होती है । और उस उक्त अन्तःकरण-वृत्ति में प्रतिफलित-प्रतिबिम्बित चैतन्य शीघ्र ही अपने को विषय और आश्रय करनेवाली अविद्या का उन्मूलन करता है ठीक उसी प्रकार जैसे दीपक अन्धकार का उन्मूलन करता है । तदनन्तर उस अविद्या का नाश होने से उस अन्तःकरणवृत्ति के सहित अखिल कार्यप्रपञ्च का नाश हो जाता है, क्योंकि उपादान के नाश से उपादेय का नाश होना सर्वतन्त्रसिद्धान्तों से सिद्ध है । इसी से भगवान् यह कहते हैं -- 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' = 'जो मुझको ही प्राप्त होते हैं वे इस माया को पार कर जाते हैं । 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.7) = 'आत्मा है - इसी प्रकार परमात्मा की उपासना करे'; 'तदात्मानमेवावेत्' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.10) = 'उसने अपने को ही जाना'; 'तमेव धीरो विज्ञाय' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.23) = 'धीर पुरुष उसी को जानकर '; 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.15) = 'उसी को जानकर मृत्यु को पार कर लेता है' -- इत्यादि श्रुतियों के समान यहाँ भी 'मामेव' -- इस पद में 'एव'कार अन्यों के प्रति अनुपरक्तता दिखाने के लिए है । जो मुझको ही = सम्पूर्ण उपाधियों से रहित, सच्चिदानन्दस्वरूप, अखण्ड आत्मा मुझको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् वेदान्तवाक्यजन्य, निर्विकल्पक साक्षात्काररूप, निर्वचनानर्ह -- निर्वचन के अयोग्य -- अनिर्वचनीय शुद्ध चिदाकारत्व -- आत्माकारत्वधर्मविशिष्ट, सम्पूर्ण सुकृतों की फलभूता, निदिध्यासन के परिपाक से प्रसूत, सम्पूर्ण अज्ञान और उसके कार्य की विरोधी चित्तवृत्ति से मुझको ही विषय करते हैं, वे जो कोई भी हों इस दुरतिक्रमणीय भी अखिल अनर्थों की जन्मभूमि माया को सहज

35 **प्रपश्यन्तीति वक्तव्ये प्रपद्यन्त इत्युक्तेऽर्थे मदेकशरणाः सन्तो मामेव भगवन्तं वासुदेवमीदृशमनन्तसौन्दर्यसारसर्वस्वमखिलकलाकलापनिलयमभिनवपङ्कजशोभाधिकचरणकमलयुगलप्रभमनवरतवेणुवादननिरतवृन्दावनक्रीडासक्तमानसहेलोद्धृतगोवर्धनाख्यमहीधरं गोपालं निषूदितशिशुपालकंसादिदुष्टसंघमभिनवजलदशोभासर्वस्वहरणचरणं परमानन्दघनमयमूर्तिमतिवैरिञ्चप्रपञ्चमनवरतमनुचिन्तयन्तो दिवसानतिवाहयन्ति ते मत्प्रेममहानन्दसमुद्रमग्नमनस्तया समस्तमायागुणविकारैर्नाभिभूयन्ते । किं तु मद्विलासविनोदकुशला एते मदुन्मूलनसमर्था इति शङ्कमानेव माया तेभ्योऽपसरति वारविलासिनीव क्रोधनेभ्यस्तपोधनेभ्यस्तस्मान्मायातरणार्थी मामीदृशमेव संततमनुचिन्तयेदित्यप्यभिप्रेतं भगवतः । श्रुतयः स्मृतयश्चात्रार्थे प्रमाणीकर्तव्याः ॥ 14 ॥**

36 **यद्येवं तर्हि किमिति निखिलानर्थमूलमायोन्मूलनाय भगवन्तं भवन्तमेव सर्वे न प्रतिपद्यन्ते चिरसंचितदुरितप्रतिबन्धादित्याह भगवान् –**

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ 15 ॥

ही तर जाते है -- पार कर जाते हैं । ऐसा श्रुति भी कहती है -- 'तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.10) = 'उसका पराभव करने में देवता भी समर्थ नहीं होते हैं, क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है' । अर्थ यह है कि देहेन्द्रियादि सम्पूर्ण उपाधियों से निवृत्त हो जाने के कारण वे सच्चिदानन्दघनरूप से ही अर्थात् वास्तविक अपने स्वरूप से ही रहते हैं । यहाँ बहुवचन का प्रयोग देह, इन्द्रिय आदि के संघातभेद से होनेवाले आत्मभेद-जीवभेद की भ्रान्ति का अनुवाद करने के लिए है ।

35 श्लोक में 'ये प्रपश्यन्ति' -- यह कहना उचित था, किन्तु वैसा न कहकर 'ये प्रपद्यन्ते' -- कहा गया है । इससे भगवान् के कहने का भाव यह है कि जो एकमात्र मेरी ही शरण ग्रहण कर अनन्तसौन्दर्यसारसर्वस्व, अखिलकलाकलापनिलय, अभिनव-सद्योजात कमल की शोभा से भी अधिक चरणकमलयुगल की प्रभावाले, निरन्तर वंशीवादन में रत रहकर वृन्दावन की क्रीडा में आसक्तचित्त, हेला-क्रीडा से ही गोवर्धन नामक पर्वत को उठानेवाले, गोपाल -- गोपालक अर्थात् गौओं के चराने तथा पालन करनेवाले, शिशुपाल-कंस आदि दुष्टों के समूह का संहार करनेवाले, नवीन जलपूर्ण मेघ की शोभा के सर्वस्व को हरते हुए चरणवाले, परमानन्दघनमय मूर्ति, ब्रह्म के द्वारा सृष्ट प्रपञ्च से अतीत मुझ भगवान् वासुदेव का निरन्तर चिन्तन करते हुए दिन व्यतीत करते हैं वे मेरे प्रेमरूप महानन्दसमुद्र में मग्नमना रहने के कारण सम्पूर्ण मायिक गुणों के विकारों से अभिभूत नहीं होते हैं; किन्तु 'ये मेरे विलास का विनोद करने में कुशल हैं अतएव मेरा उन्मूलन-नाश करने में समर्थ है' -- इसप्रकार की शङ्कमान-सी = शङ्का करती हुई-सी माया उन भक्तों से उसी प्रकार दूर हो जाती है जैसे क्रोधी तपस्वियों के पास से वारविलासिनी-वेश्या दूर हो जाती है । अतः मायातरणार्थी = माया से तरने की इच्छावाला इसप्रकार से ही -- पूर्वोक्त प्रकार से ही निरन्तर मुझको भजे -- मेरा चिन्तन करे -- यह भी भगवान् का अभिप्राय है । इस अभिप्राय में श्रुतियों और स्मृतियों को प्रमाण समझना चाहिए ॥ 14 ॥

36 यदि ऐसा है तो सम्पूर्ण अनर्थों की मूलभूत माया का उन्मूलन करने के लिए सब आप भगवान् की ही शरण क्यों नहीं ग्रहण करते हैं ? -- इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि वे चिरकाल से सञ्चित पापरूप प्रतिबन्धक के कारण मेरी शरण ग्रहण नहीं करते हैं --

37 दुष्कृतिनो दुष्कृतेन पापेन सह नित्ययोगिनः। अत एव नरेषु मध्येऽधमा इह साधुभिर्गर्हणीयाः परत्र चानर्थसहस्रभाजः। कुतो दुष्कृतमनर्थहेतुमेव सदा कुर्वन्ति यतो मूढा इदमर्थसाधनमिदमनर्थसाधनमितिविवेकशून्याः। सति प्रमाणे कुतो न विविञ्चन्ति यतो माययाऽपहृतज्ञानाः शरीरेन्द्रियसंघाततादात्म्यभ्रान्तिरूपेण परिणतया मायया पूर्वोक्तयाऽपहृतं प्रतिबद्धं ज्ञानं विवेकसामर्थ्यं येषां ते तथा। अत एव ते 'दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च' इत्यादिनाऽग्रे वक्ष्यमाणमासुरं भावं हिंसानृतादिस्वभावमाश्रिता मत्प्रतिपत्त्ययोग्याः सन्तो न मां सर्वेश्वरं प्रपद्यन्ते न भजन्ते। अहो दौर्भाग्यं तेषामित्यभिप्रायः॥ 15॥

38 ये त्वासुरभावरहिताः पुण्यकर्माणो विवेकिनस्ते पुण्यकर्मतारतम्येन चुतर्विधाः सन्तो मां भजन्ते क्रमेण च कामनाराहित्येन मत्प्रसादान्मायां तरन्तीत्याह--

[जो दुष्कृति-पापी, मूढ़ हैं, माया ने जिनके ज्ञान को हर लिया है तथा जो आसुरी भाव का आश्रय लेनेवाले हैं, अतएव वे नराधम मुझको प्राप्त नहीं होते हैं -- मेरी शरण ग्रहण नहीं करते हैं ॥ 15 ॥]

37 'दुष्कृत' शब्द पापवाची है, 'दुष्कृत' शब्द से 'नित्ययोग' अर्थ में मतुबर्थीय 'इनि' प्रत्यय होकर 'दुष्कृति' शब्द निष्पन्न हुआ है , अतएव 'दुष्कृति' = दुष्कृत-पाप के साथ नित्य सम्बन्ध रखनेवाले, इसीलिए नराधम = नरों-मनुष्यों में अधम हैं अर्थात् इस लोक में साधुपुरुषों द्वारा सर्वथा निन्दनीय और परलोक में सहस्रों अनर्थों के भाजन हैं। वे सदा अनर्थों के हेतु पाप ही क्यों करते हैं ? क्योंकि में मूढ़ हैं, अर्थात् 'यह अर्थ-सुख का साधन है और यह अनर्थ-दु:ख का साधन है' -- इस प्रकार के विवेक से शून्य हैं। प्रमाण रहते हुए भी वे ऐसा विवेक क्यों नहीं करते हैं ? क्योंकि माया ने उनके ज्ञान को हर लिया है, अर्थात् शरीर और इन्द्रिय के संघात-पिण्ड में आत्मतादात्म्यभ्रान्तिरूप से परिणत पूर्वोक्त माया ने जिनके ज्ञान = विवेकसामर्थ्य का अपहरण अर्थात् प्रतिबन्ध कर दिया है वे ऐसे हैं। अतएव वे 'दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोध पारुष्यमेव च' (गीता, 16.4) इत्यादि से आगे वक्ष्यमाण आसुर भाव -- हिंसा, अनृत भाषण आदि स्वभाव के आश्रित रहने से -- मेरी प्रतिपत्ति के आयोग्य रहने से मुझ सर्वेश्वर को प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् मुझको नहीं भजते हैं -- मेरी शरण ग्रहण नहीं करते हैं। अहो ! यह उनका दौर्भाग्य है -- ऐसा भगवान् का अभिप्राय है[27] ॥ 15 ॥

38 किन्तु जो आसुर भाव से रहित पुण्यकर्मा विवेकी हैं वे पुण्यकर्म के तारतम्य से चार प्रकार के हुए मुझको ही भजते हैं और क्रम से कामनारहित होने से मेरे प्रसाद-अनुग्रह से माया को पार कर जाते हैं-- यह कहते हैं:--

27. प्रकृत श्लोक में 'दुष्कृतिशाली लोग मुझको प्राप्त नहीं होते हैं' -- यह प्रधान वक्तव्य विषय है। पापों के तारतम्य से चार प्रकार के दुष्कृतिशाली व्यक्ति होते हैं -- (1) मूढ = जो सभी प्रकार से परमेश्वर के स्वरूपज्ञान से शून्य होते हैं। (2) नराधम = जिनका परमेश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञान रहने पर भी परमेश्वर में आग्रह = श्रद्धा-प्रेम नहीं होता है। (3) माययापहृतज्ञान = परमेश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञान रहने पर भी कूट युक्ति के प्रभाव से जिनके चित्त असम्भावनारूप संशय से ग्रस्त होते हैं। तथा (4) आसुरभावमाश्रित = परमेश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में सुदृढ़ ज्ञान रहने पर भी बहुजन्मार्जित पापों के कारण जिनके हृदय में परमेश्वर के प्रति प्रेम न रहकर द्वेषभाव ही रहता है। ये चार प्रकार के दुष्कृतिशाली व्यक्ति उत्तरोत्तर अधिक नराधम होते हैं, -- किन्तु इस प्रकार की व्याख्या सर्वथा समीचीन नहीं है, कारण कि अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी भगवद्भजन से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं -- यह गीता (9.30-32) में ही कहा गया है। अत: इस श्लोक में चार प्रकार के दुष्कृतिशाली व्यक्तियों के वर्णन का अभिप्राय भगवान् का नहीं है, अपितु जो लोग माया से अपहृत ज्ञानवाले हैं, साथ ही साथ आसुरभावापन्न, पापाचारी, मूढ और उस प्रकार के होने के कारण नराधम जैसे समझे जाते हैं अर्थात् जो लोग इन दोषों से ही दूषित होते हैं वे लोग कभी भी भगवान् का आश्रय ग्रहण नहीं करते हैं -- यह कहने का अभिप्राय है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ 16 ॥

39 ये सुकृतिनः पूर्वजन्मकृतपुण्यसंचया जनाः सफलजन्मानस्त एव नान्ये ते मां भजन्ते सेवन्ते हेऽर्जुन । ते च त्रयः सकामा एकोऽकाम इत्येवं चतुर्विधाः । आर्त आर्त्या शत्रुव्याध्याद्यापदा ग्रस्तस्तन्निवृत्तिमिच्छन् । यथा मखभङ्गेन कुपित इन्द्रे वर्षति व्रजवासी जनः, यथा वा जरासंधकारागारवर्ती राजनिचयः, द्यूतसभायां वस्त्राकर्षणे द्रौपदी च, ग्राहग्रस्तो गजेन्द्रश्च । जिज्ञासुरात्मज्ञानार्थी मुमुक्षुः । यथा मुचुकुन्दः, यथा वा मैथिलो जनकः श्रुतदेवश्च, निवृत्ते मौसले यथा चोद्धवः । अर्थार्थी, इह वा परत्र वा यद्भोगोपकरणं तल्लिप्सुः । तत्रेह यथा सुग्रीवो विभीषणश्च, यथा चोपमन्युः परत्र यथा ध्रुवः । एते त्रयोऽपि भगवद्भजनेन मायां तरन्ति । तत्र जिज्ञासुर्ज्ञानोत्पत्त्या साक्षादेव मायां तरति आर्तोऽर्थार्थी च जिज्ञासुत्वं प्राप्येति विशेषः । आर्तस्यार्थार्थिनश्च जिज्ञासुत्वसंभवाज्जिज्ञासोश्चाऽऽर्तत्वज्ञानोपकरणार्थार्थित्वसंभवादुभयोर्मध्ये जिज्ञासुरुद्दिष्टः ।

40 तदेते त्रयः सकामा व्याख्याताः निष्कामश्चतुर्थ इदानीमुच्यते-ज्ञानी च, ज्ञानं भगवत्तत्त्व-साक्षात्कारस्तेन नित्ययुक्तो ज्ञानी तीर्णमायो निवृत्तसर्वकामः । चकारो यस्य कस्यापि निष्काम-

[हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी -- ये चार प्रकार के सुकृति -- पुण्यकर्मा पुरुष मुझको भजते हैं ॥ 16 ॥]

39 जो सुकृति -- पूर्वजन्म में पुण्यों का सञ्चय करनेवाले और सफलजन्मा पुरुष हैं वे ही, अन्य नहीं, मुझको भजते हैं -- मेरी सेवा करते हैं । हे अर्जुन ! वे तीन सकाम और एक निष्काम -- इसप्रकार चार प्रकार के होते हैं । उनमें जो आर्त -- आर्ति अर्थात् शत्रु, व्याधि आदि आपत्ति से ग्रस्त हैं वे निवृत्ति की इच्छा करते हैं । जैसे -- यज्ञभङ्ग से कुपित होकर इन्द्र के वर्षा करने पर व्रजवासी लोगों ने वृष्टि की आपत्ति से बचने के लिए मेरा भजन किया था, अथवा, जैसे -- जरासन्ध के कारागार में रहनेवाले राजसमूह, द्यूतसभा में वस्त्र खींचे जाने पर द्रौपदी, और ग्राह से ग्रस्त गजेन्द्र ने अपनी-अपनी आपत्ति से बचने के लिए मेरा स्मरण किया था । जो जिज्ञासु -- आत्मज्ञान की इच्छावाले हैं वे मोक्ष पाने के इच्छुक हैं । जैसे -- मुचुकुन्द, मैथिल जनक, और श्रुतदेव थे, अथवा जैसे -- मौसलकाण्ड समाप्त होने पर उद्धव हुए । अर्थार्थी -- इस लोक अथवा परलोक में जो भोगोपकरण हैं उनको पाने की इच्छा वाले हैं । जैसे -- इस लोक में भोगों के अर्थी सुग्रीव और विभीषण हुए हैं और परलोक में श्रेष्ठ पद के अर्थी जैसे उपमन्यु और ध्रुव हुए हैं । ये आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी -- तीनों प्रकार के भक्त भी भगवान् के भजन से माया को पार कर जाते हैं । इनमें जिज्ञासु तो ज्ञानोत्पत्ति होने से साक्षात् ही माया को तर जाता है, किन्तु आर्त और अर्थार्थी जिज्ञासुत्व को प्राप्त करके माया को तरते हैं -- यही इनमें विशेष-भेद है । आर्त और अर्थार्थी का जिज्ञासु होना संभव है, तथा जिज्ञासु का आर्त होना और ज्ञानोपकरणार्थार्थी होना सम्भव है, इसलिए आर्त और अर्थार्थी -- इन दोनों के मध्य में जिज्ञासु का उल्लेख किया गया है ।

40 इसप्रकार ये तीनों सकाम भक्त कहे गये । अब चौथा निष्काम भक्त कहा जाता है । 'ज्ञानी च' -- 'ज्ञान' भगवत्तत्त्व के साक्षात्कार को कहते हैं, उससे जो नित्ययुक्त है वह 'ज्ञानी' अर्थात् माया

प्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्यन्तर्भावार्थः । हे भरतर्षभ त्वमपि जिज्ञासुर्वा ज्ञानी वेति कतमोऽहं भक्त इति मा शङ्किष्ठा इत्यर्थः । तत्र निष्कामभक्तो ज्ञानी यथा सनकादिर्यथा नारदो यथा प्रह्लादो यथा पृथुर्यथा वा शुकः । निष्कामः शुद्धप्रेमभक्तो यथा गोपिकादिर्यथा वाऽक्रूरयुधिष्ठिरादिः । कंसशिशुपालादयस्तु भयाद्द्वेषाच्च संततभगवच्चिन्तापरा अपि न भक्ता भगवदनुरक्तेरभावात् । भगवदनुरक्तिरूपायास्तु भक्तेः स्वरूपं साधनं भेदास्तथा भक्तानामपि भगवद्भक्तिरसायनेऽस्माभिः सविशेषं प्रपञ्चिता इतीहोपरम्यते ॥ 16 ॥

41 **ननु न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमा इत्यनेन तद्विलक्षणाः सुकृतिनो मां भजन्त इत्यर्थात्प्राप्तेऽपि तेषां चातुर्विध्यं चतुर्विधा भजन्ते मामित्यनेन दर्शिताः ततस्ते सर्वे सुकृतिन एव निर्विशेषादिति चेत्तत्राऽह च । चतुर्विधानामपि सुकृतित्वे नियतेऽपि सुकृताधिक्येन निष्कामतया प्रेमाधिक्यात् –**

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ 17 ॥

से पार गया हुआ तथा सम्पूर्ण कामनाओं से निवृत्त होता है । चकार जो कोई निष्काम प्रेमी भक्त है उसका भी ज्ञानी में ही अन्तर्भाव करने के लिए है । तात्पर्य यह है कि हे भरतर्षभ[28] ! तुम भी ऐसी शङ्का मत करो कि मैं जिज्ञासु अथवा ज्ञानी इनमें से कौन सा भक्त हूँ ? इनमें निष्काम भक्त ज्ञानी हैं, जैसे -- सनकादि, नारद, प्रह्लाद, पृथु अथवा शुकदेव । निष्काम शुद्ध प्रेमी भक्त हैं, जैसे -- गोपिकादि, अक्रूर, अथवा युधिष्ठिर आदि । कंस, शिशुपाल आदि तो भय और द्वेष के कारण सतत भगवच्चिन्तन में तत्पर रहने पर भी भक्त नहीं थे, क्योंकि उनमें भगवान् के प्रति अनुराग नहीं था । भगवदनुरक्तिरूप भक्ति का स्वरूप, साधन, और उसके भेद; तथा भक्तों के भी स्वरूप आदि का हमने 'भगवद्भक्तिरसायन' नामक ग्रन्थ में विशेषरूप से विस्तार किया है, इसलिए यहाँ इस प्रसङ्ग को समाप्त करते हैं ॥ 16 ॥

41 यदि यह शङ्का हो कि यद्यपि 'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः' -- इस श्लोकार्ध से ही यह अर्थ सिद्ध हो जाता है कि उनसे भिन्न सुकृतिजन मुझको भजते हैं, फिर भी 'चतुर्विधा भजन्ते माम् ' -- इस वाक्य से उनके चार प्रकार दिखाये हैं, इससे क्या यह कहा गया है कि वे सभी अर्थात् चारों निर्विशेष होने के कारण सुकृति ही हैं अथवा उनमें किसी की कोई विशेषता है ? -- तो इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि चारों प्रकार के भक्तों का सुकृति होना नियत -- निश्चित होने पर भी उनमें सुकृताधिक्य और निष्काम प्रेमाधिक्य होने से ज्ञानी की विशेषता है --

[उनमें नित्ययुक्त -- प्रत्यगभिन्न भगवान् में सदा समाहित चित्त रहनेवाला तथा एकभक्ति -- एकमात्र भगवान् में ही भक्ति रखनेवाला ज्ञानी -- तत्त्वज्ञानी भक्त विशेष -- सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझको प्रिय है ॥ 17 ॥]

28. हे भरतर्षभ अर्जुन ! तुम शङ्का मत करो कि तुम जिज्ञासु अथवा ज्ञानी – इनमें से कौन से भक्त हो ? तुम तो भरतर्षभ = परम सुकृतिशाली भरतवंश के श्रेष्ठ पुरुष हो स्वयं अर्जुन = शुद्धबुद्धि भी हो, अतः तुम मेरे भक्त होओगे और एकमात्र मेरी ही शरण ग्रहण करोगे -- इस विषय में सन्देह करने को क्या है ? यह सूचित करने के लिए भगवान् ने अर्जुन को 'भरतर्षभ' कहकर सम्बोधन किया है ।

42 **चतुर्विधानां तेषां मध्ये ज्ञानी तत्त्वज्ञानवान्निवृत्तसर्वकामो विशिष्यते सर्वतोऽतिरिच्यते सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः। यतो नित्ययुक्तो भगवति प्रत्यगभिन्ने सदा समाहितचेता विक्षेपकाभावात्। अत एवैक-भक्तिरेकस्मिन्भगवत्येव भक्तिरनुरक्तिर्यस्य स तथा, तस्यानुरक्तिविषयान्तराभावात्। हि यस्मात्प्रियो निरुपाधिप्रेमास्पदमत्यर्थमत्यन्तातिशयेन ज्ञानिनोऽहं प्रत्यगभिन्नः परमात्मा च तस्मादत्यर्थं स मम परमेश्वरस्य प्रियः। आत्मा प्रियोऽतिशयेन भवतीति श्रुतिलोकयोः प्रसिद्धमेवेत्यर्थः ॥ 17 ॥**

43 **तत्किमार्तादयस्तव न प्रियाः, न, अत्यर्थमिति विशेषणादित्याह—**

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्मात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ 18 ॥

44 **एत आर्तादयः सकामा अपि मद्भक्ताः सर्वे त्रयोऽप्युदारा एवोत्कृष्टा एव पूर्वजन्मार्जिता-नेकसुकृतराशित्वात्। अन्यथा हि मां न भजेयुरेव, आर्तस्य जिज्ञासोरर्थार्थिनश्च मद्विमुखस्य क्षुद्रदेवताभक्तस्यापि बहुलमुपलम्भात्। अतो मम प्रिया एव ते। न हि ज्ञानवानज्ञो वा कश्चिदपि भक्तो ममाप्रियो भवति। किं तु यस्य यादृशी मयि प्रीतिर्ममापि तत्र तादृशी प्रीतिरिति स्वभाव-**

---

42 उन चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी -- जिसकी समस्त कामनाएँ निवृत्त हो गई हैं वह तत्त्वज्ञानवान् भक्त विशिष्ट है-- सबसे अतिरिक्त है अर्थात् सबसे उत्कृष्ट है, क्योंकि विक्षेप के कारण का अभाव होने से वह प्रत्यगभिन्न -- स्वात्माऽभिन्न भगवान् में नित्ययुक्त-सदा समाहित चित्त रहता है। इसी से वह एकभक्ति अर्थात् एकमात्र भगवान् में ही है भक्ति--अनुरक्ति जिसकी वैसा है, क्योंकि उसके अनुराग के विषय विषयान्तर नहीं हैं। हि -- यस्मात् -- जिससे ज्ञानी को मैं प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा ही अत्यर्थ-अत्यन्त-अतिशय से प्रिय हूँ -- निरुपाधिक प्रेमास्पद हूँ, और उसी से वह भी मुझ परमेश्वर का अत्यन्त प्रिय है। 'आत्मा अतिशय से प्रिय होता है' -- यह श्रुति[29] और लोक में प्रसिद्ध ही है -- यह इसका तात्पर्य है ॥ 17 ॥

43 'तब क्या आर्त आदि आपके प्रिय नहीं है ?' -- ऐसी अर्जुन की ओर से शङ्का करके भगवान् कहते हैं -- ऐसा नहीं है, वे भी मेरे प्रिय हैं, किन्तु ज्ञानी भक्त अत्यर्थ -- अत्यन्त प्रिय है -- |ये सभी उदार -- उत्कृष्ट ही हैं, किन्तु ज्ञानी भक्त मेरा आत्मा -- स्वरूप ही है -- ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह मुझमें ही समाहितचित्त है और मुझको ही अपनी अनुत्तम -- सर्वोत्कृष्ट गति मानता है ॥ 18 ॥|

44 ये सब अर्थात् आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी -- तीनों प्रकार के सकाम भी मेरे भक्त हैं अतएव उदार -- उत्कृष्ट ही हैं, क्योंकि वे पूर्व-पूर्व जन्मों में अर्जित अनेक पुण्यराशिवाले हैं, अन्यथा वे मेरा भजन ही नहीं करते, कारण कि आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी पुरुषों में ऐसे भी बहुत-से देखे जाते हैं जो मुझसे विमुख तथा क्षुद्र देवताओं के भक्त हैं, अत: वे तीनों मेरे प्रिय ही हैं। ज्ञानवान् अथवा अज्ञ कोई भी भक्त मेरा अप्रिय नहीं होता है, किन्तु जिसकी जैसी मुझमें प्रीति होती है मेरी भी उसमें

---

29. श्रुति में कहा गया है -- 'तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.8) = 'यह वही आत्मा है जो पुत्र से प्रिय, वित्त से प्रिय, अन्य सभी वस्तुओं से प्रिय है; क्योंकि यह आत्मा सबसे अन्तरतर है'। रासपञ्चाध्यायी में भी गोपियों ने भगवान् कृष्ण को कहा है -- 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा (श्रीमद्भागवत, 10.29.32) = 'हे अङ्ग ! आप निश्चितरूप से आत्मा हो और शरीर धारण करनेवालों के परमप्रिय बन्धु हो।'

सिद्धमेतत् । तत्र सकामानां त्रयाणां काम्यमानमपि प्रियमहमपि प्रियः, ज्ञानिनस्तु प्रियान्तरशून्यस्याहमेव निरतिशयप्रीतिविषयः । अतः सोऽपि मम निरतिशयप्रीतिविषय इति विशेषः । अन्यथा हि मम कृतज्ञता न स्यात्कृतघ्नता च स्यात् । अत एवात्यर्थमिति विशेषणमुपात्तं प्राक् । यथा हि 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इत्यत्र तरबर्थस्य विवक्षितत्वाद्विद्यादिव्यतिरेकेण कृतमपि कर्म वीर्यवद्भवत्येव, तथाऽत्यर्थं ज्ञानी भक्तो मम प्रिय इत्युक्तेर्यो ज्ञानव्यतिरेकेण भक्तः सोऽपि प्रिय इति पर्यवस्यत्येव, अत्यर्थमिति विशेषणस्य विवक्षितत्वात् । उक्तं हि -- 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इति । अतो मामात्वत्वेन ज्ञानवाञ्ज्ञानी, आत्मैव न मत्तो भिन्नः किं त्वहमेव स इति मम मतं निश्चयः । तुशब्दः सकामभेददर्शित्रितयापेक्षया निष्कामत्वभेदादर्शित्वविशेषद्योतनार्थः । हि यस्मात्स ज्ञानी युक्तात्मा

वैसी ही प्रीति होती है-- यह स्वभावसिद्ध है । उन चतुर्विध भक्तों में तीनों सकाम भक्तों को काम्य पदार्थ भी प्रिय हैं और मैं भी प्रिय हूँ; किन्तु ज्ञानी को दूसरा कोई प्रिय है ही नहीं, मैं ही उसकी निरतिशय प्रीति का विषय हूँ, अत: वह भी मेरी निरतिशय प्रीति का विषय है -- यह सकाम भक्तों की अपेक्षा ज्ञानी में विशेष है । अन्यथा मेरी कृतज्ञता नहीं होगी, कृतघ्नता ही होगी । इसी से ज्ञानी के लिए पूर्व में 'अत्यर्थम्' -- यह विशेषण कहा है । 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' = 'जो विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् के साथ कोई कर्म करता है वही वीर्यवत्तर = अधिक वीर्यशाली होता है' -- इस श्रुति में उक्त 'वीर्यवत्तरम्' पद के 'तरप्' प्रत्यय का अर्थ 'अतिशय' विविक्षित होने से जिस प्रकार यह निश्चित होता ही है कि विद्यादि के बिना किया हुआ कर्म भी वीर्यवान् होता ही है, उसी प्रकार 'ज्ञानी भक्त मेरा अत्यर्थ -- अत्यन्त प्रिय है' -- यह कहने से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान के बिना भी जो मेरा भक्त है वह भी मेरा प्रिय है, कारण कि यहाँ ज्ञानी के लिए 'अत्यर्थम्' -- यह विशेषण विवक्षित है । कहा भी है -- 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता, 4.11) = 'जो मुझको जिस प्रकार भजते हैं उनको मैं उसी प्रकार ही भजता हूँ' । अत: मुझको आत्मस्वरूप से जाननेवाला ज्ञानी मेरा आत्मा ही है, मुझसे भिन्न नहीं है, किन्तु मैं ही वह हूँ -- यह मेरा मत -- निश्चय है । 'तु' शब्द यह सूचित करने के लिए है कि जो सकाम भेददर्शी तीन प्रकार के भक्त हैं उनकी अपेक्षा निष्कामत्व अभेददर्शित्वरूप ज्ञानी विशेष है । हि -- यस्मात् = क्योंकि उस ज्ञानी ने युक्तात्मा -- सदा मुझमें ही समाहित चित्त होकर मुझ अनन्त, आनन्दघन, आत्मस्वरूप भगवान् को ही अनुत्तम -- सर्वोत्कृष्ट गति[30] -- गन्तव्य स्थान अर्थात् परम फलरूप से आस्थित[31] -- अङ्गीकार किया है, न कि मुझसे भिन्न किसी भी फल को वह मानता है-- यह अर्थ है ॥ 18 ॥

30. जो केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है उसको 'गति' कहते है । 'अनुत्तम' शब्द का अर्थ है -- जिससे उत्तम अन्य कुछ भी नहीं है । इसप्रकार नित्य, महत्, सूक्ष्म, आन्तर, आनन्दस्वरूप, ज्ञेय और प्राप्यरूप होने के कारण जिस गति से लोक में या शास्त्र में प्रसिद्ध अन्य कोई उत्तम पदार्थ नहीं है वही 'अनुत्तमा गति' है ,। आनन्दस्वरूप परब्रह्म ही 'अनुत्तमा गति' है । श्रुति में भी कहा गया है -- 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठोपनिषद्) = 'पुरुष से श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है, वही अन्तिम सीमा है, वही परागति है ।'

31. आस्थित: = इसका व्युत्पत्त्यर्थ है -- 'आ समन्तात् मामेव अधिष्ठाय स्थित: आश्रित:' अर्थात् सर्वतोभाव से मुझको ही आश्रय कर स्थित रहते है = 'मैं परब्रह्म वासुदेव ही हूँ' -- इस प्रकार अखण्डाकारा वृत्ति के द्वारा सदा मेरे स्वरूप में ही स्थितिलाभ करने में प्रवृत्त रहते हैं । इसलिए भाष्य में 'आस्थित:' शब्द का 'आरोढुं प्रवृत्त:' -- यह अर्थ किया गया है । इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का साक्षात्कार करने पर मुक्तात्मा होते हैं और शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को ही एकमात्र नित्य और परमानन्द का हेतु जानकर 'वही जीवन की अनुत्तमा-गति है' -- ऐसा निश्चय कर उस आत्मस्वरूप में निरन्तर अप्रतिबद्धरूप से स्थितिलाभ करने में प्रवृत्त होते हैं । किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने 'आस्थित' शब्द का अर्थ 'अङ्गीकृतवान्' किया है । उनके अनुसार फलितार्थ

49 तत्तद्देवताप्रसादात्तेषामपि सर्वेश्वरे भगवति वासुदेवे भक्तिर्भविष्यतीति न शङ्कनीयं, यतः:--

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ 21 ॥

50 तेषां मध्ये यो यः कामी यां यां तनुं देवतामूर्तिं श्रद्धया जन्मान्तरवासनाबलप्रादुर्भूतया भक्त्या संयुक्तः सन्नर्चितुमर्चयितुमिच्छति प्रवर्तते । चौरादिकस्यार्चयतेर्णिजभावपक्षे रूपमिदम् । तस्य तस्य कामिनस्तामेव देवतातनुं प्रति श्रद्धां पूर्ववासनावशात्प्राप्तां भक्तिमचलां स्थिरां विदधामि करोम्यहमन्तर्यामी, न तु मद्विषयां श्रद्धां तस्य तस्य करोमीत्यर्थः । तामेव श्रद्धामिति व्याख्याने यच्छब्दानन्वयः स्पष्टस्तस्मात्प्रतिशब्दमध्याहृत्य व्याख्यातम् ॥ 21 ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ 22 ॥

51 स कामी तया मद्विहितया स्थिरया श्रद्धया युक्तस्तस्या देवतातन्वा राधनमाराधनं पूजनमीहते निर्वर्तयति । उपसर्गरहितोऽपि राधयतिः पूजार्थः । सोपसर्गत्वे ह्याकारः श्रूयेत । लभते च तत-

49 उस-उस देवता के प्रसाद -- अनुग्रह से उन क्षुद्र देवताओं के भक्तों की भी सर्वेश्वर भगवान् वासुदेव में भक्ति होगी -- ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि :--
[जो-जो भक्त जिस-जिस देवतामूर्ति को श्रद्धापूर्वक पूजना चाहता है उस-उस की उसी-उसी देवताविषयक श्रद्धा को मैं स्थिर करता हूँ ॥ 21 ॥]

50 उनमें से जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस तनु[34] -- देवतामूर्ति की श्रद्धा से -- जन्मान्तर की वासना के बल से प्रादुर्भूत भक्ति से संयुक्त होकर अर्चना करने की इच्छा करता है अर्थात् अर्चना-आराधना में प्रवृत्त होता है । 'अर्च पूजायाम्' = 'अर्च्' धातु 'पूजा करने' के अर्थ में चुरादि गण की है, अतः 'अर्च्' धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय करने पर 'अर्चयितुम्' -- यह रूप निष्पन्न होता है, 'अर्चितुम्' यह रूप ठीक नहीं है -- इस आक्षेप की निवृत्ति के लिए समाधान है कि जिस पक्ष में 'णिच्' का अभाव होता है उस पक्ष में 'अर्चितुम्' -- यह रूप ठीक है । उस-उस सकाम भक्त की उसी-उसी देवतामूर्ति के प्रति श्रद्धा को = पूर्ववासनावश प्राप्त हुई भक्ति को मैं अन्तर्यामी अचल = स्थिर करता हूँ, न कि उस-उस सकाम भक्त की श्रद्धा को मद्विषयक करता हूँ -- यह अर्थ है । 'तामेव श्रद्धाम्' = 'उसी श्रद्धा को' -- ऐसी व्याख्या करने पर इसका 'यां याम्' -- इस रूप में प्रयुक्त 'यत्' शब्द से अन्वय नहीं होता है -- यह स्पष्ट है, इसलिए यहाँ 'तामेव प्रति श्रद्धाम्' -- इसप्रकार 'तामेव' के साथ 'प्रति' शब्द का अध्याहार करके व्याख्या की है ॥ 21 ॥
[उस श्रद्धा से युक्त हुआ वह देवताभक्त उस देवतामूर्ति की आराधना करता है और उस देवता से मेरे द्वारा ही निष्पन्न की हुई अपनी कामनाओं को प्राप्त करता है ॥ 22 ॥]

51 वह सकाम देवताभक्त मेरे द्वारा विहित -- स्थिर की हुई उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवतातनु -- देवतामूर्ति का राधन -- आराधन = पूजन करता है । 'आङ्'-- उपसर्गरहित होने पर भी 'राध्'

संसार में कोई-कोई पुत्र, पशु इत्यादि विषय की और परलोक में स्वर्गादि की कामना करते हैं ।

34. तनु = 'कामितार्थं तनोतीति तनुर्देवता' अर्थात् जो काम्य पदार्थों की वृद्धि करता है उसको 'तनु' अर्थात् 'देवता' कहा जाता है । यहाँ 'तनु' शब्द के एकवचन के प्रयोग से भगवान् यही सूचित करते हैं कि देवताओं के तनु अर्थात् मूर्ति का भेद होता है, परन्तु उनकी आत्मा चैतन्यस्वरूप वासुदेव मैं ही हूँ, अतः परमार्थतः उन देवताओं में और मुझमें कोई भेद नहीं है ।

स्तस्या देवतातन्वाः सकाशात्कामानीप्सितांस्तान्पूर्वसंकल्पितान्हि प्रसिद्धम् । मयैव सर्वज्ञेन सर्वकर्मफलदायिना तत्तद्देवतान्तर्यामिणा विहितांस्तत्तत्फलविपाकसमये निर्मितान् । हितान्मनः-प्रियानित्यैकपद्यं वा । अहितत्वेऽपि हिततया प्रतीयमानानित्यर्थः ॥ 22 ॥

52 **यद्यपि सर्वा अपि देवताः सर्वात्मनो ममैव तनवस्तदाराधनमपि वस्तुतो मदाराधनमेव, सर्वत्रापि च फलदाताऽन्तर्याम्यहमेव, तथाऽपि साक्षान्मद्भक्तानां च तेषां च वस्तुविवेकाविवेककृतं फलवैषम्यं भवतीत्याह --**

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ 23 ॥

53 **अल्पमेधसां मन्दप्रज्ञत्वेन वस्तुविवेकासमर्थानां तेषां तत्तद्देवताभक्तानां तन्मया विहितमपि तत्तद्देवताराधनजं फलमन्तवदेव विनाश्येव न तु मद्भक्तानां विवेकिनामिवानन्तं फलं तेषामि-त्यर्थः । कुत एवं यतो देवानिन्द्रादीनन्तवत एव देवयजो मदन्यदेवताराधनपरा यान्ति**

धातु पूजार्थक है, उपसर्गसहित होने पर 'आ'कार सुनाई देता । उस देवतामूर्ति से उन पूर्वसंकल्पित कामनाओं -- ईप्सित वस्तुओं को प्राप्त करता है -- यह प्रसिद्ध है, इसलिए 'हि' शब्द का प्रयोग प्रसिद्धार्थ में हुआ है । उस-उस देवता के अन्तर्यामी, सम्पूर्ण कर्मफलों को देनेवाले मुझ सर्वज्ञ परमेश्वर के द्वारा ही विहित = उस-उस कर्मफल के विपाक -- परिपाक के समय निर्मित उन कामनाओं को प्राप्त करता है[35] । अथवा, 'विहितान्' पद का 'वि + हितान्' -- इसप्रकार पदच्छेद होने से 'हितान्' -- यह एक पद है, इस पक्ष में 'हितान्' का अर्थ मनःप्रिय है, फलतः अर्थ होगा कि मुझ परमेश्वर के द्वारा ही वि-विशेष हित -- मनःप्रिय कामनाओं को प्राप्त करता है अर्थात् अहितरूप होने पर भी अज्ञानवश हितरूप प्रतीयमान कामनाओं को प्राप्त करता है । यहाँ 'हित' शब्द अनित्य -- औपचारिक ही है[36] ॥ 22 ॥

52 यद्यपि सभी देवता मुझ सर्वात्मा के ही तनु-स्वरूप हैं, उनकी आराधना भी वस्तुतः मेरी आराधना ही है, और सर्वत्र फलदाता अन्तर्यामी भी मैं ही हूँ, तथापि साक्षात् मेरे भक्तों में और उन क्षुद्रदेवताभक्तों में वस्तु के विवेक और अविवेक के कारण होनेवाली फल की विषमता रहती ही है -- यह भगवान् कहते हैं :--

[उन अल्पबुद्धि देवताभक्तों का वह फल अन्तवान् -- नाशवान् ही होता है । वे देवताओं की आराधना करनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ 23 ॥]

53 अल्पबुद्धि = मन्दमति होने से वस्तुविवेक में असमर्थ उन = उस-उस देवता के भक्तों का वह = उस-उस देवता की आराधना से प्राप्त, मेरे द्वारा नियत भी फल अन्तवान् = नाशवान् ही होता है, न कि विवेकी मेरे भक्तों के समान उनका फल अनन्त होता है -- यह अर्थ है । ऐसा क्यों होता है ? क्योंकि देवयाजी = मुझसे भिन्न देवताओं की अराधना में तत्पर अन्तवान् इन्द्रादि देवताओं

35. यहाँ भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि देवताओं के अन्तर्यामीरूप से मैं ही अवस्थान कर देवताओं के द्वारा उन-उन सभी अभीष्ट वस्तुओं को प्रदान करता हूँ । इसीलिए श्रुति में भी कहा गया है -- 'एको बहूनां यो विदधाति कामान्' ।

36. यहाँ 'हित' शब्द औपचारिक ही है, क्योंकि कामसमूह किसी के लिए हितकर नहीं हो सकता, कारण कि वे सब दुःखमय संसारगति की प्राप्ति का ही हेतु होते हैं ।

प्राप्नुवन्ति । मद्भक्तास्तु त्रयः सकामाः प्रथमं मत्प्रसादादभीष्टान्कामान्प्राप्नुवन्ति । अपिशब्दप्रयोगात्ततो मदुपासनापरिपाकान्मामनन्तमानन्दघनमीश्वरमपि यान्ति प्राप्नुवन्ति । अतः समानेऽपि सकामत्वे मद्भक्तानामन्यदेवताभक्तानां च महदन्तरम् । तस्मात्साधूक्तमुदाराः सर्व एवैत इति ॥ 23 ॥

54 **एवं भगवद्भजनस्य सर्वोत्तमफलत्वेऽपि कथं प्रायेण प्राणिनो भगवद्विमुखा इत्यत्र हेतुमाह भगवान् –**

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ 24 ॥

55 **अव्यक्तं देहग्रहणात्प्राकार्याक्षमत्वेन स्थितमिदानीं वसुदेवगृहे व्यक्तिं भौतिकदेहावच्छेदेन कार्यक्षमतां प्राप्तं कंचिज्जीवमेव मन्यन्ते मामीश्वरमप्यबुद्धयो विवेकशून्याः । अव्यक्तं सर्वकारणमपि मां व्यक्तिं कार्यरूपतां मत्स्यकूर्माद्यनेकावताररूपेण प्राप्तमिति वा ।**

56 **कथं ते जीवास्त्वां न विविञ्चन्ति । तत्राबुद्धय इत्युक्तं हेतुं विवृणोति – परं सर्वकारणरूपमव्ययं नित्यं मम भावं स्वरूपं सोपाधिकमजानन्तस्तथा निरुपाधिकमप्यनुत्तमं सर्वोत्कृष्टमनतिशयाद्वितीयपरमा-**

को ही प्राप्त होते हैं[37] । मेरे तीन प्रकार के सकाम भक्त तो प्रथम मेरे अनुग्रह से अपने अभीष्ट कामों को प्राप्त होते हैं और 'अपि' शब्द के प्रयोग से पुन: मेरी उपासना के परिपाक से मुझ अनन्त, आनन्दघन, ईश्वर को भी प्राप्त होते हैं । अत: सकामत्व में समान होने पर भी मेरे भक्तों में और अन्य देवताओं के भक्तों में महान् अन्तर है । अत: ठीक ही कहा है – 'उदारा: सर्व एवैत' इति ॥ 23 ॥

54 इसप्रकार भगवद्-भजन का सर्वोत्तम फल होने पर भी प्राणी प्राय: भगवान् से विमुख क्यों रहते हैं ? इसमें भगवान् कारण कहते हैं :--

[मेरे अव्यय और अनुत्तम -- सर्वोत्तम तथा सर्वकारणरूप भाव को न जाननेवाले बुद्धिहीन पुरुष अव्यक्तरूप मुझको व्यक्तत्व को प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ 24 ॥]

55 अव्यक्त = देहग्रहण से पूर्व कार्य करने में अक्षमरूप से स्थित और इस समय वसुदेव के गृह में व्यक्ति = भौतिक देह के अवच्छेद से कार्य करने में क्षमता को प्राप्त मुझ ईश्वर को भी अबुद्धि = विवेकशून्य पुरुष कोई जीव ही मानते हैं । अथवा, अव्यक्त = सबके कारणभूत भी मुझको व्यक्ति = मत्स्य, कूर्म आदि अनेक अवताररूप से कार्यरूपता को प्राप्त हुआ मानते हैं ।

56 वे जीव आपका विवेचन क्यों नहीं करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में उक्त हेतु जो 'अबुद्धय:' है उसका विवरण करते हैं -- पर = सर्वकारणरूप, अव्यय = नित्य मेरे भाव अर्थात् सोपाधिक स्वरूप को न जानकर तथा निरुपाधिक भी अनुत्तम = सर्वोत्कृष्ट अर्थात् अनतिशय -- निरतिशय, अद्वितीय, परमानन्दघन, अनन्त मेरे स्वरूप को न जानकर जीवों के कार्य के समान कार्य करना देखने से

37. 'देवयाजी अन्तवान् इन्द्रादि देवताओं को ही प्राप्त होते हैं' – इसका अर्थ है कि देवयाजी इन्द्रादि देवताओं के सालोक्य को ही प्राप्त होते हैं और उन-उन लोकों अर्थात् ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, शिवलोक इत्यादि लोकों के भोग का उपभोग करते हैं । किन्तु इन्द्रादि देवता स्वयं ही अन्तवान् = विनाशशील हैं अर्थात् चिरस्थायी – नित्य नहीं हैं । कल्प के नाश के साथ-साथ उनका भी नाश होता है, अत: उनकी आराधना से प्राप्त हुआ फल भी विनश्वर होता है ।

नन्दघनमनन्तं मम स्वरूपमजानन्तो जीवानुकारिकार्यदर्शनाज्जीवमेव कंचिन्मां मन्यन्ते । ततो मामनीश्वरत्वेनाभिमतं विहाय प्रसिद्धं देवतान्तरमेव भजन्ते । ततश्चान्तवदेव फलं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । अग्रे च वक्ष्यते -- अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितमिति ॥ 24 ॥

57 ननु जन्मकालेऽपि सर्वयोगिध्येयं श्रीवैकुण्ठस्थमैश्वरमेव रूपमाविर्भावितवति संप्रति च श्रीवत्सकौस्तुभवनमालाकिरीटकुण्डलादिदिव्योपकरणशालिनि कम्बुकमलकौमोदकीचक्रवरधारिचतुर्भुजे श्रीमद्वैनतेयवाहने निखिलसुरलोकसंपादितराजराजेश्वराभिषेकादिमहावैभवे सर्वसुरासुरजेतरि विविधदिव्यलीलाविलासशीले सर्वावतारशिरोमणौ साक्षाद्वैकुण्ठनायके निखिललोकदुःखनिस्ताराय भुवमवतीर्णे विरिञ्चिप्रपञ्चासंभवि निरतिशयसौन्दर्यसारसर्वस्वमूर्तौ बाललीलाविमोहितविधातरि तरणिकिरणोज्ज्वलदिव्यपीताम्बरे निरुपमश्यामसुन्दरे करदीकृतपारिजातार्थपराजितपुरंदरे बाणयुद्धविजितशशाङ्कशेखरे समस्तसुरासुरविजयिनरकप्रभृतिमहादैतेयप्रकरप्राणपर्यन्तसर्वस्वहारिणि श्रीदामादिपरमरङ्कमहावैभवकारिणि षोडशसहस्रदिव्यरूपधारिण्यपरिमेयगुणगरिमणि महामहिमनि नारदमार्कण्डेयादिमहामुनिगणस्तुते त्वयि कथमविवेकिनोऽपि मनुष्यबुद्धिर्जीवबुद्धिर्वेत्यर्जुनाशङ्कामपनिनीषुराह भगवान् --

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ 25 ॥

कोई जीवविशेष ही मुझको मानते हैं । इसी कारण अनीश्वररूप से माने हुए मुझको छोड़कर किसी दूसरे प्रसिद्ध देवता को ही भजते हैं और उससे अन्तवान् ही फल प्राप्त करते हैं-- यह इसका अभिप्राय है । भगवान् आगे भी यह कहेंगे -- 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्' (गीता, 9.11) अर्थात् 'मूढ व्यक्ति मानुषदेहधारी मेरा अनादर करते हैं' ॥ 24 ॥

57 जन्म लेने के समय भी समस्त योगियों के ध्येय श्रीवैकुण्ठस्थ ईश्वररूप को ही प्रकट करनेवाले और इस समय श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, किरीट, कुण्डल आदि दिव्य भूषण धारण करनेवाले; शंख, पद्म, कौमोदकी गदा और चक्रवर-सुदर्शन -- इन आयुधों को धारण करनेवाली चार भुजाओंवाले; श्रीमान् वैनतेय-गरुडरूप वाहनवाले; सम्पूर्ण सुरलोकों द्वारा सम्पादित राजराजेश्वराभिषेकरूप महान् वैभववाले; समस्त देवता और असुरों को जीतने वाले; विविध दिव्य लीलाओं के विलासशील; सम्पूर्ण अवतारों में शिरोमणि; साक्षात् वैकुण्ठनायक; सम्पूर्ण लोकों के दु:खों की निवृत्ति के लिए पृथ्वी पर अवतार लेनेवाले; ब्रह्मा की सृष्टि में असम्भव निरतिशय सौन्दर्य की सारसर्वस्वमूर्ति; अपनी बाललीलाओं से विधाता को भी मोहित करनेवाले; तरणि -- सूर्य की किरणों के समान उज्ज्वल दिव्य पीताम्बरधारी; निरुपम श्यामसुन्दर; करदीकृत[38] पारिजात वृक्ष के लिए इन्द्र को पराजित करनेवाले; वाणासुर के साथ युद्ध करते समय शशाङ्कशेखर -- महादेव को पराजित करनेवाले; समस्त देवता और असुरों को जीतनेवाले नरकासुर आदि बडे-बडे दैत्यों के प्राणपर्यन्त सर्वस्व का हरण करनेवाले; श्रीदामा -- सुदामा आदि परम रङ्कों को महान् वैभवशाली बना देनेवाले; सोलह हजार दिव्य रूप धारण करनेवाले; अपरिमित गुणगरिमा से युक्त; महामहिमशाली; नारद, मार्कण्डेय

38. करदीकृत = कर देनेवाले को 'करद' कहते हैं, जो पहले कर नहीं देता है और बाद में पराजित होने पर कर देता है वह 'करदीकृत' कहलाता है । श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी की प्रसन्नता के लिए इन्द्र को पराजित कर नन्दनवन से करदीकृत पारिजात को लाकर उनके प्राङ्गण में रोप दिया था -- ऐसी पौराणिक गाथा है ।

58 अहं सर्वस्य लोकस्य न प्रकाशः स्वेन रूपेण प्रकटो न भवामि । किं तु केषांचिन्मद्भक्तानामेव प्रकटो भवामीत्यभिप्रायः । कथं सर्वस्य लोकस्य न प्रकट इत्यत्र हेतुमाह--योगमायासमावृतः, योगो मम संकल्पस्तद्वशवर्तिनी माया योगमाया तयाऽयमभक्तो जनो मां स्वरूपेण न जानात्विितिसंकल्पानुविधायिन्या मायया सम्यगावृतः सत्यपि ज्ञानकारणे ज्ञानविषयत्वायोग्यः कृतः । अतो यदुक्तं 'परं भावमजानन्त' इति तत्र मम संकल्प एव कारणमित्युक्तं भवति । अतो मम मायया मूढ आवृतज्ञानः सन्नयं चतुर्विधभक्तविलक्षणो लोकः सत्यपि ज्ञानकारणे मामजमव्ययमनाद्यनन्तं परमेश्वरं नाभिजानाति, किं तु विपरीतदृष्ट्या मनुष्यमेव कंचिन्मन्यत इत्यर्थः । विद्यमानं वस्तुस्वरूपमावृणोत्यविद्यमानं च किंचिद्दर्शयतीति लौकिकमायायामपि प्रसिद्धमेतत् ॥ 25 ॥

59 अतो मायया स्वाधीनया सर्वव्यामोहकत्वात्स्वयं चाप्रतिबद्धज्ञानत्वात् --

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ 26 ॥

आदि महामुनिगण से स्तुत आपमें अविवेकियों की भी मनुष्यबुद्धि या जीवबुद्धि क्यों होती है ? -- इस अर्जुन की आशङ्का का निराकरण करने की इच्छा से भगवान् कहते हैं :--
[योगमाया से समावृत -- आच्छादित हुआ मैं सबको प्रकट नहीं होता हूँ, इसलिए मुझ अजन्मा और अविनाशी को यह मूढ लोक नहीं जानता है ॥ 25 ॥]

58 मैं सब लोक को प्रकाशमान् अर्थात् अपने रूप से प्रकट नहीं होता हूँ, किन्तु अपने किन्हीं भक्तों को ही प्रकट होता हूँ -- यह अभिप्राय है । सब लोक को प्रकट क्यों नहीं होता हूँ ? -- इसमें 'योगमायासमावृतः' -- यह हेतु कहते हैं । 'योग' मेरा संकल्प है, उसके वश में रहनेवाली जो माया है वह 'योगमाया'[39] है, उससे = 'ये अभक्तजन मुझ ईश्वर को स्वरूप से नहीं जानें' -- इसप्रकार के मेरे संकल्प का अनुसरण करनेवाली माया से ज्ञान का कारण रहने पर भी सम्यक् प्रकार से आवृत -- आच्छन्न रहता हूँ अर्थात् ज्ञान की विषयता के अयोग्य कर दिया जाता हूँ । अतः यह जो कहा गया है कि 'परं भावमजानन्तः' = 'मेरे परम भाव को न जानकर', उसमें मेरा संकल्प ही कारण है -- ऐसा कहना होता है । अतः मेरी माया से मूढ और आवृतज्ञान हुआ यह पूर्वोक्त चार प्रकार के भक्तों से विलक्षण लोक ज्ञान का कारण रहने पर भी मुझ अजन्मा, अव्यय-अविनाशी, अनादि, अनन्त परमेश्वर को नहीं जानता है, किन्तु अपनी विपरीत दृष्टि से मुझको कोई मनुष्य ही मानता है -- यह अर्थ है । लौकिक माया के विषय में भी यह प्रसिद्ध ही है कि वह विद्यमान वस्तु के स्वरूप को ढ्क लेती है और अविद्यमान किसी वस्तु को दिखाती है ॥ 25 ॥

59 इसलिए स्वाधीन माया से सबका व्यामोहक और स्वयं अप्रतिबद्ध ज्ञानवान् होने से --

---

39. योगमाया = 'योगो युक्तिः मदीयः कोऽप्यचिन्त्यप्रज्ञाविलासः स एव माया अघटमानघटनाचातुर्यं योगमाया' (श्रीधरी टीका) = 'योग'शब्द का अर्थ है -- 'युक्ति' । वह योग या युक्ति मेरा = भगवान् का कोई एक अचिन्त्य प्रज्ञा का विलासरूप संकल्प है । यह योग अथवा संकल्प ही माया है (योग एव माया योगमाया), कारण कि यह अघटनघटनपटीयसी है । अभिप्राय यह है कि शुद्धचैतन्य में माया भी नहीं है, अतः गुणों की क्रिया भी नहीं है । शुद्धचैतन्य में अचिन्त्य और अनिर्वचनीय कल्पनाशक्ति का उदय होने पर जगत् की सृष्टि का आरम्भ होता है, क्योंकि इस अवस्था में गुणत्रय का योग या संघटन होकर वह जो जगत् की वस्तुतः सत्ता नहीं है उस जगत् को शुद्धब्रह्मरूप अधिष्ठान में प्रतीत कराती रहती है । अतः वह कल्पनाशक्ति अघटनघटनपटीयसी होने के कारण माया = 'योगमाया' कहलाती है ।

60 **अहमप्रतिबद्धसर्वविज्ञानो मायया सर्वांल्लोकान्मोहयन्नपि समतीतानि चिरविनष्टानि वर्तमानानि च भविष्याणि च । एव कालत्रयवर्तीनि भूतानि स्थावरजंगमानि सर्वाणि वेद जानामि हेऽर्जुन । अतोऽहं सर्वज्ञः परमेश्वर इत्यत्र नाऽस्ति संशय इत्यर्थः । मां तु, तुशब्दो ज्ञानप्रतिबन्धद्योतनार्थः । मां सर्वदर्शिनमपि मायाविनमिव तन्मायामोहितः कश्चन कोऽपि मदनुग्रहभाजनं मद्भक्तं विना न वेद मन्मायामोहितत्वात् । अतो मत्तत्त्ववेदनाभावादेव प्रायेण प्राणिनो मां न भजन्त इत्यभिप्रायः ॥ 26 ॥**

61 **योगमायां भगवत्तत्त्वविज्ञानप्रतिबन्धे हेतुमुक्त्वा देहेन्द्रियसंघाताभिमानातिशयपूर्वकं भोगाभिनिवेशं हेत्वन्तरमाह –**

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ 27 ॥

62 **इच्छाद्वेषाभ्यामनुकूलप्रतिकूलविषयाभ्यां समुत्थितेन शीतोष्णसुखदु:खादिद्वंद्वनिमित्तेन मोहेनाहं सुख्यहं दु:खीत्यादिविपर्ययेण सर्वाण्यपि भूतानि संमोहं विवेकायोग्यत्वं सर्गे स्थूलदेहोत्पत्तौ सत्यां यान्ति । हे भारत हे परंतपेति संबोधनद्वयस्य कुलमहिम्ना स्वरूपशक्त्या च त्वां द्वंद्वमोहाख्यः**

[हे अर्जुन ! मैं तो समतीत = पूर्व में व्यतीत हुए, वर्तमान में स्थित और भविष्य में होनेवाले -- सभी प्राणियों को जानता हूँ, किन्तु मुझको कोई नहीं जानता है ॥ 26 ॥]

60 हे अर्जुन ! जिसका सब प्रकार का विज्ञान अप्रतिबद्ध है ऐसा मैं अपनी माया से सम्पूर्ण लोकों को मुग्ध करता हुआ भी समतीत = चिरकाल पूर्व विनष्ट हुए, वर्तमान में स्थित और भविष्य में होनेवाले -- इस प्रकार तीनों कालों में रहनेवाले स्थावर-जंगम सभी प्राणियों को जानता हूँ । अत : मैं सर्वज्ञ परमेश्वर हूँ -- इसमें कोई संशय नहीं है -- यह अभिप्राय है । 'मां तु' -- इसमें प्रयुक्त 'तु' शब्द परमेश्वर से भिन्न सभी प्राणियों के ज्ञान की प्रतिबन्धकता को सूचित करने के लिए है । मायावी के समान सर्वदर्शी भी मुझको मेरे अनुग्रह के पात्र मेरे भक्त के बिना उस माया से मोहित हुआ कोई भी जीव नहीं जानता है, क्योंकि वह मेरी माया से मोहित रहता है । अत: अभिप्राय यह है कि मेरे तत्त्व का ज्ञान न होने के कारण ही प्राणी प्राय: मुझको नहीं भजता है ॥ 26 ॥

61 भगवत्तत्त्व के विज्ञान में प्रतिबन्धक कारण योगमाया को कहकर अब देहेन्द्रियसंघात के अत्यन्त अभिमानपूर्वक भोगाभिनिवेशरूप दूसरा प्रतिबन्धक कारण कहते हैं :--

[हे भारत ! हे परंतप ! स्थूल देह की उत्पत्ति होने पर समस्त प्राणी इच्छा और द्वेष से समुत्पन्न सुख-दु:खादि द्वन्द्व के निमित्तक मोह से संमोह को प्राप्त होते हैं ॥ 27 ॥]

62 अनुकूलविषयक इच्छा और प्रतिकूलविषयक द्वेष से समुत्पन्न शीतोष्ण, सुख-दु:खादि द्वन्द्वों के निमित्तक मोह से = 'मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ' -- इत्यादि विपर्यय = मिथ्याज्ञान से समस्त प्राणी सर्ग अर्थात् स्थूलदेह की उत्पत्ति होने पर ही संमोह = विवेक की अयोग्यता को प्राप्त होते है[40] । 'हे भारत !' और 'हे परन्तप[41] !' -- इन दोनों सम्बोधनों का भाव यह है कि कुल की महिमा और स्वरूपशक्ति

40. कारण कि सुख-दु:खादि वस्तुत: आत्मा के धर्म नहीं है, ये अन्त:करण के धर्म हैं, अत: स्थूलदेह की उत्पत्ति होने पर ही उनमें तादात्म्याध्यास होता है, फलत: इस तादात्म्याध्यास के हेतु विपर्यय – मिथ्याज्ञान से समस्त प्राणी मुग्ध होते हैं ।

41. हे अर्जुन ! तुम परन्तप हो = परम तपस्वी हो, अत: शीतोष्ण, सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वरूप शत्रु तुमको अभिभूत नहीं कर सकेंगे । फिर तुम भारत हो = ज्ञानवैराग्यसम्पन्न, प्रसिद्ध भरतवंश में तुम्हारा जन्म हुआ है, अतः तुम

शत्रुर्नाभिभवितुमलमिति भावः । नहीच्छाद्वेषरहितं किंचिदपि भूतमस्ति । न च ताभ्यामाविष्टस्य बहिर्विषयमपि ज्ञानं संभवति किं पुनरात्मविषयम् । अतो रागद्वेषव्याकुलान्तःकरणत्वात्सर्वाण्यपि भूतानि मां परमेश्वरमात्मभूतं न जानन्ति, अतो न भजन्ते भजनीयमपि ॥ 27 ॥

63 **यदि सर्वभूतानि संमोहं यान्ति कथं तर्हि 'चतुर्विधा भजन्ते मामि'त्युक्तम् ? सत्यं, सुकृतातिशयेन तेषां क्षीणपापत्वादित्याह–**

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ 28 ॥

64 **येषां त्वितरलोकविलक्षणानां जनानां सफलजन्मनां पुण्यकर्मणामनेकजन्मसु पुण्याचरणशीलानां तैस्तैः पुण्यैः कर्मभिर्ज्ञानप्रतिबन्धकं पापमन्तगतमन्तमवसानं प्राप्तं ते पापाभावेन तन्निमित्तेन द्वंद्वमोहेन रागद्वेषादिनिबन्धनविपर्यासेन स्वत एव निर्मुक्ताः पुनरावृत्त्ययोग्यत्वेन त्यक्ता दृढव्रता अचाल्यसंकल्पाः सर्वथा भगवानेव भजनीयः स चैवंरूप एवेति प्रमाणजनिताप्रामाण्यशङ्का-शून्यविज्ञानाः सन्तो मां परमात्मानं भजन्तेऽनन्यशरणाः सन्तः सेवन्ते । एतादृशा एव 'चतुर्विधा**

के कारण तुमको द्वन्द्वमोहसंज्ञक शत्रु अभिभूत करने में समर्थ नहीं है । इच्छा और द्वेष से रहित तो संसार में कोई भी प्राणी नहीं है और उन इच्छा तथा द्वेष से आविष्ट-वशीकृत प्राणी को बाह्यविषयक ज्ञान भी नहीं होता है, फिर आत्मविषयक ज्ञान की तो बात ही क्या है ? अतः राग-द्वेष से व्याकुलचित्त रहने के कारण सभी प्राणी आत्मभूत -- आत्मस्वरूप मुझ परमेश्वर को नहीं जानते हैं, अतएव भजनीय भी मुझको नहीं भजते हैं ।। 27 ।।

63 यदि समस्त प्राणी संमोह को प्राप्त होते हैं, तो 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' = 'चार प्रकार के भक्त मुझको भजते हैं' -- ऐसा क्यों कहा है ? ठीक है, पुण्यों की अतिशयता के कारण उनके पाप क्षीण हो जाते हैं -- इसप्रकार भगवान् कहते हैं :--

[जिन पुण्यकर्मा पुरुषों के पापों का अन्त हो गया है वे रागद्वेषादि द्वन्द्वरूप मोह से सर्वथा मुक्त और सुदृढ़ संकल्पवाले होकर मुझको भजते हैं ।। 28 ।।]

64 अन्य लोगों से विलक्षण जिन सफलजन्मा पुण्यकर्मा -- अनेक जन्मों में पुण्य कर्मों का आचरण करनेवाले पुरुषों का ज्ञान का प्रतिबन्धक पाप उन-उन पुण्यकर्मों से अन्तगत हो गया है -- समाप्त हो गया है वे पाप का अभाव होने से उसके कारण द्वन्द्वमोह = रागद्वेषादिनिमित्तक विपर्यास -- विपरीत ज्ञान से स्वतः ही निर्मुक्त = पुनरावृत्ति-जन्मग्रहण के अयोग्य होने से त्यक्त-- परित्यक्त हुए दृढव्रत = अचल संकल्प अर्थात् 'सर्वथा भगवान् ही भजनीय है और वह एवंरूप ही है' -- इस प्रकार प्रमाणजनित और अप्रामाण्य की शङ्का से शून्य विज्ञानवाले होकर मुझ परमात्मा को भजते हैं अर्थात् अनन्यशरण होकर -- किसी अन्य की शरण में न जाकर मेरा ही सेवन करते हैं । एतादृश ही -- ऐसे ही पुरुष 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' = 'चार प्रकार के भक्त मुझको भजते हैं' -- इस श्लोक में 'सुकृति' शब्द से कहे गये हैं । अतः 'सर्वभूतानि संमोहं यान्ति' = ' समस्त प्राणी संमोह को प्राप्त होते हैं-- यह उत्सर्ग है और 'तेषां मध्ये ये सुकृतिनस्ते संमोहशून्या मां भजन्ते'

अपने वंश की महिमा से मोह के वशीभूत नहीं हो सकोगे । द्वन्द्व और मोह – दोनों ही ज्ञान के प्रतिबन्धक होते हैं । तुम अपनी शक्ति के प्रभाव से और वंश की महिमा के प्रभाव से अनायास ही इनको जीत सकोगे – इस प्रकार आश्वासन देने के लिए ही भगवान् ने अर्जुन को उक्त दोनों सम्बोधनों से सम्बोधित किया है ।

भजन्ते मामि'त्यत्र सुकृतिशब्देनोक्ताः । अतः सर्वभूतानि संमोहं यान्तीत्युत्सर्गः । तेषां मध्ये ये सुकृतिनस्ते संमोहशून्या मां भजन्त इत्यपवाद इति न विरोधः। अयमेवोत्सर्गः प्रागपि प्रतिपादित-स्त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरित्यत्र। तस्मात्सत्त्वशोधकपुण्यकर्मसंचाय सर्वदा यतनीयमिति भावः ॥ 28 ॥

65 **अथेदानीमर्जुनस्य प्रश्नमुत्थापयितुं सूत्रभूतौ श्लोकावुच्येते । अनयोरेव वृत्तिस्थानीय उत्तरोऽध्यायो भविष्यति--**

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ 29 ॥

66 **ये संसारदुःखान्निर्विण्णा जरामरणमोक्षाय जरामरणादिविविधदुःसहसंसारदुःखनिरासाय तदेकहेतुं मां सगुणं भगवन्तमाश्रित्येतरसर्वविमुख्येन शरणं गत्वा यतन्ति यतन्ते मदर्पितानि फलाभिसंधिशून्यानि विहितानि कर्माणि कुर्वन्ति ते क्रमेण शुद्धान्तःकरणाः सन्तस्तज्जगत्कारणं मायाधिष्ठानं शुद्धं परं ब्रह्म निर्गुणं तत्पदलक्ष्यं मां विदुः। तथाऽऽत्मानं शरीरमधिकृत्य प्रकाशमानं कृत्स्नमुपाध्यपरिच्छिन्नं त्वंपदलक्ष्यं विदुः। कर्म च तदुभयवेदनसाधनं गुरूपसदनश्रवणमननाद्यखिलं निरवशेषं फलाव्यभिचारि विदुर्जानन्तीत्यर्थः॥ 29 ॥**

= 'उनमें जो सुकृति हैं वे संमोहशून्य होकर मुझको भजते हैं' -- यह अपवाद है, अतः यहाँ कोई विरोध नहीं है । यही उत्सर्ग पहले भी 'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः' -- इस श्लोक में कहा गया है । अतः सत्त्व-चित्त की शुद्धि करनेवाले पुण्यकर्मों के सञ्चय के लिए सर्वदा प्रयत्न करना चाहिए -- यह भाव है ॥ 28 ॥

65 अब इस समय अर्जुन के प्रश्न के उत्थापन के लिए सूत्रभूत दो श्लोक कहे जाते हैं । इन्हीं सूत्रभूत दोनों श्लोकों की ही वृत्तिरूप -- व्याख्यारूप उत्तर अध्याय होगा --

[जो पुरुष मेरा आश्रय लेकर जरा-मरण की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करते हैं वे तत्पद के लक्ष्य परब्रह्म मुझको तथा शरीरादि उपाधि से अपरिच्छिन्न त्वंपद लक्ष्य आत्मा को और उन दोनों के साधनभूत कर्म को पूर्णतया जानते हैं ॥ 29 ॥]

66 जो पुरुष संसारदुःख से निर्विण्ण -- खिन्न होकर जरा[42]-मरण से मोक्ष पाने के लिए अर्थात् जरा-मरणादि नानाविध दुःसह -- असहनीय सांसारिक दुःखों की निवृत्ति के लिए उसके एकमात्र हेतु सगुण भगवान् मेरा आश्रय लेकर = इतर सबसे विमुख होते हुए मेरे ही शरण में जाकर यत्न करते हैं अर्थात् मुझको अर्पित करते हुए फलेच्छा से शून्य विहित कर्म करते हैं; वे क्रम से शुद्धचित्त होते हुए जगत् के कारण, माया के अधिष्ठान, तत्पद के लक्ष्य मुझ निर्गुण और शुद्ध परब्रह्म को जानते हैं, तथा अध्यात्म[43] = आत्मा -- शरीर को अधिष्ठान कर प्रकाशमान, सम्पूर्ण उपाधियों से अपरिच्छिन्न, त्वंपद लक्ष्य आत्मा को भी जानते हैं । इसके अतिरिक्त उन दोनों के ज्ञान के साधन

42. जरा = 'जायतेऽसौ इति जः -- जीवः ; जं -- जीवं राति नश्यतीति जरा' = जो लोग जन्म ग्रहण करते हैं उनको 'ज' -- 'जीव' कहा जाता है । जीव-प्राणी जिसके द्वारा ज़ीर्ण या नष्ट होता है उसको 'जरा' कहा जाता है ।

43. अध्यात्म = 'आत्मानं शरीरमधिकृत्य अधिष्ठानं कृत्वा तिष्ठतीति तदध्यात्मम्' प्रत्येक आत्मा-शरीर को अधिष्ठान कर जो अवस्थान करता है उसको 'अध्यात्म' कहा जाता है अर्थात् किसी प्रकार उपाधि द्वारा परिच्छिन्न न रहकर 'त्वं' पद का लक्ष्य अखण्ड साक्षी चैतन्य प्रत्यगात्मारूप से जो सर्वशरीर में अवस्थान करता है उसको ही यहाँ 'अध्यात्म' शब्द द्वारा कहा गया है ।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 30॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥7॥

67 **न चैवंभूतानां मद्भक्तानां मृत्युकालेऽपि विवशकरणतया मद्विस्मरणं शङ्कनीयं, यतः साधिभूताधिदैवमधिभूताधिदैवाभ्यां सहितं तथा साधियज्ञं चाधियज्ञेन च सहितं मां ये विदुश्चिन्तयन्ति ते युक्तचेतसः सर्वदा मयि समाहितचेतसः सन्तस्तत्संस्कारपाटवात्प्रयाणकाले प्राणोत्क्रमणकाले करणग्रामस्यात्यन्तव्यग्रतायामपि, चकारादयत्नेनैव मत्कृपया मां सर्वात्मानं विदुर्जानन्ति, तेषां मृतिकालेऽपि मदाकारैव चित्तवृत्तिः पूर्वोपचितसंस्कारपाटवाद्भवति । तथा च ते मद्भक्तियोगात्कृतार्था एवेति भावः।**

68 **अधिभूताधिदैवाधियज्ञशब्दानुत्तरेऽध्यायेऽर्जुनप्रश्नपूर्वकं व्याख्यास्यति भगवानिति सर्वमनाविलम्।**

गुरूपसत्ति, श्रवण-मनन आदि कर्म[44] को भी अखिल = अशेषरूप से अर्थात् फलाव्यभिचारिरूप से = कर्मफल जिससे अवश्य ही प्राप्त हो सके उस प्रकार से जानते हैं ॥ 29 ॥

[जो पुरुष अधिभूत और अधिदैव के सहित तथा अधियज्ञ के सहित मुझको जानते हैं वे युक्तचित्तवाले -- सर्वदा मुझमें ही समाहितचित्त रहनेवाले होकर मरणकाल में भी अनायास ही मुझको ही जानते हैं अर्थात् मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ 30 ॥]

67 इसप्रकार के मेरे भक्तों से, मृत्युकाल में भी, इन्द्रियों के विवश रहने से भी मेरे विस्मरण की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि साधिभूताधिदैव = अधिभूत[45] और अधिदैव[46] के सहित तथा साधियज्ञ = अधियज्ञ[47] के सहित मुझको जो पुरुष जानते हैं अर्थात् मेरा चिन्तन करते हैं वे युक्तचित्त = सर्वदा मुझमें ही समाहित चित्त रहनेवाले होकर उस संस्कार की पटुता के कारण प्रयाणकाल में = प्राणोत्क्रमण के समय इन्द्रियसमूह की अत्यन्त व्यग्रता -- विकलता हो जाने पर भी, चकार से बिना प्रयत्न के ही, मेरी कृपा से मुझ सर्वात्मा को जानते हैं। उनकी, मृत्युकाल में भी, मदाकार -- मेरे आकारवाली ही चित्तवृत्ति उनके पूर्वोपचित संस्कारों की पटुता से ही होती है। इसप्रकार भाव यह है कि वे मेरे भक्तियोग से कृतार्थ ही होते हैं।

68 अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ शब्दों की भगवान् उत्तर अध्याय में अर्जुन के प्रश्नपूर्वक व्याख्या

---

44. आचार्य धनपति अपनी भाष्योत्कर्षदीपिका में मधुसूदन सरस्वती के मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि 'कर्म' शब्द का अर्थ श्रवण-मननादि साधन किया जाता है तो गीता के अष्टम अध्याय के तृतीय श्लोक में भाष्यकार ने 'कर्म' शब्द का अर्थ जो यज्ञ, दान, होमादि वैदिक कर्म किया है, उसके साथ विरोध होगा। अत: यहाँ 'अखिल कर्म को जानते हैं' -- इस वाक्य का अर्थ होगा 'अखिल – सम्पूर्ण प्रपञ्च के तत्त्व को जानते हैं'।

45. अधिभूत = उत्पत्ति और विनाशशील वस्तुमात्र को 'अधिभूत' कहा जाता है।

46. अधिदैव = जो शरीररूप पुर में रहता है उसको 'पुरुष' कहा जाता है। यह पुरुष ही 'अधिदैव ' है। समष्टि लिङ्गशरीररूप हिरण्यगर्भ 'अधिदैव' शब्द के द्वारा अभिहित होता है, क्योंकि वही आदित्यादि देवतागण को आश्रय कर व्यष्टिभूत प्रत्येक जीव की इन्द्रियों का अनुग्राहक होता है।

47. अधियज्ञ = सभी यज्ञों के अधिष्ठाता और फलदाता विष्णु नाम से जो देवता है वही 'अधियज्ञ' है।

तदत्रोत्तमाधिकारिणं प्रति ज्ञेयं मध्यमाधिकारिणं प्रति च ध्येयं लक्षणया मुख्यया च वृत्त्या तत्पदप्रतिपाद्यं ब्रह्म निरूपितम् ॥ 30 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वती - विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामधिकारिभेदेन ज्ञेयध्ये- यप्रतिपाद्यतत्त्वब्रह्मनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ 7॥

करेंगे। इसप्रकार सब अनाविल -- निर्दोष है। यहाँ तत्पद द्वारा लक्षणा और मुख्य वृत्ति से प्रतिपाद्य, उत्तम अधिकारी के प्रति ज्ञेय, मध्यम अधिकारी के प्रति ध्येय ब्रह्म का निरूपण किया गया है ॥ 30 ॥

इस प्रकारश्रीमत्परमहंस -- परिव्राजकाचार्य -- विश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य श्रीमधुसूदन- सरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का ज्ञानविज्ञानयोग नामक सप्तम अध्याय समाप्त होता है।

अथ अष्टमोऽध्यायः

1 पूर्वाध्यायान्ते 'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्' इत्यादिना सार्धश्लोकेन सप्त पदार्था ज्ञेयत्वेन भगवता सूत्रितास्तेषां वृत्तिस्थानीयोऽयमष्टमोऽध्याय आरभ्यते। तत्र सूत्रितानि सप्त वस्तूनि विशेषतो बुभुत्समानः श्लोकाभ्याम् –

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अभिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ 1 ॥

2 तज्ज्ञेयत्वेनोक्तं ब्रह्म किं सोपाधिकं निरुपाधिकं वा। एवमात्मानं देवमधिकृत्य तस्मिन्नधिष्ठाने तिष्ठतीत्यध्यात्मं किं श्रोत्रादिकरणग्रामो वा प्रत्यक्चैतन्यं वा। तथा कर्म चाखिलमित्यत्र किं कर्म यज्ञरूपमन्यद्वा 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' इति श्रुतौ द्वैविध्यश्रवणात्।

3 तव मम च समत्वात्कथं त्वं मां पृच्छसीति शङ्कामपनुदन्सर्वपुरुषेभ्य उत्तमस्य सर्वज्ञस्य तव न किंचिदज्ञेयमिति संबोधनेन सूचयति हे पुरुषोत्तमेति। अधिभूतं च किं प्रोक्तं पृथिव्यादिभूतमधिकृत्य यत्किंचित्कार्यमधिभूतपदेन विवक्षितं किंवा समस्तमेव कार्यजातम्। चकारः सर्वेषां प्रश्नानां समुच्चयार्थः। अधिदैवं किमुच्यते देवताविषयमनुध्यानं वा सर्वदैवतेष्वादित्यमण्डलादिष्वनुस्यूतं चैतन्यं वा ॥ 1 ॥

---

1 पूर्व अध्याय के अन्त में 'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्' (गीता, 7.29 ब-30) -- इत्यादि डेढ़ श्लोक से भगवान् ने ज्ञेयरूप से सात पदार्थ सूचित किए हैं। उनकी वृत्तिरूप अर्थात् विशेषव्याख्यारूप यह अष्टम अध्याय आरम्भ किया जाता है। उसमें पूर्वसूत्रित सात वस्तुओं -- पदार्थों को विशेषरूप से जानने की इच्छा से अर्जुन दो श्लोकों द्वारा भगवान् से पूछते हैं :--
[अर्जुन ने कहा -- हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? और अधिभूत किसको कहा गया है ? तथा अधिदैव किसको कहा जाता है ? ॥ 1 ॥]

2 वह ज्ञेयरूप से उक्त ब्रह्म क्या है ? वह सोपाधिक है अथवा निरुपाधिक है ? इसी प्रकार वह अध्यात्म = जो आत्मा -- देह को अधिष्ठित करके उस अधिष्ठान में स्थित रहता है, क्या श्रोत्रादि इन्द्रियसमूह है अथवा प्रत्यक्चैतन्य है ? तथा 'कर्म चाखिलम्' (गीता, 7.29) इस स्थान पर उक्त 'कर्म' क्या यज्ञरूप है अथवा दूसरा है ? क्योंकि श्रुति में 'कर्म' शब्द का प्रयोग दोनों प्रकार से सुना जाता है -- 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' (तैत्तिरीयोपनिषद्) = 'विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है तथा कर्मों का भी विस्तार करता है'।

3 'तुम मेरे समान ही हो, फिर तुम मुझसे क्यों पूछते हो ? -- इस शङ्का का वारण करते हुए अर्जुन भगवान् को 'हे पुरुषोत्तम !' शब्द से सम्बोधन करते हैं। इस सम्बोधन से अर्जुन यह सूचित करते हैं कि 'आप समस्त पुरुषों से उत्तम हैं, सर्वज्ञ हैं; अतः आपको कुछ भी अज्ञेय नहीं है'। अधिभूत किसको कहा गया है ? -- पृथिवी आदि भूतों को अधिष्ठित कर जो कुछ कार्य है वह 'अधिभूत' पद से विवक्षित है अथवा समस्त ही कार्यजात विवक्षित है ? चकार सब प्रश्नों के समुच्चय के लिए है। अधिदैव किसको कहा जाता है ? देवताविषयक ध्यान को कहा जाता है, अथवा आदित्यमण्डलादि समस्त देवताओं में अनुस्यूत चैतन्य को कहा जाता है ? ॥ 1 ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ 2 ॥

4 **अधियज्ञो यज्ञमधिगतो देवतात्मा वा परब्रह्म वा । स च कथं केन प्रकारेण चिन्तनीयः । किं तादात्म्येन किंवाऽत्यन्ताभेदेन । सर्वथाऽपि स किमस्मिन्देहे वर्तते ततो बहिर्वा । देहे चेत्स कोऽत्र बुद्ध्यादिस्तद्व्यतिरिक्तो वा । अधियज्ञः कथं कोऽत्रेति न प्रश्नद्वयम् । किंतु सप्रकार एक एव प्रश्न इति द्रष्टव्यम् । परमकारुणिकत्वादायासेनापि सर्वोपद्रवनिवारकस्य भगवतोऽनायासेन मत्संदेहोपद्रवनिवारणमीषत्करमुचितमेवेति सूचयन्संबोधयति हे मधुसूदनेति ।**

5 **प्रयाणकाले च सर्वकरणग्रामवैयग्र्याच्चित्तसमाधानानुपपत्तेः कथं केन प्रकारेण नियतात्मभिः समाहितचित्तैर्ज्ञेयोऽसीत्युक्तशङ्कासूचनार्थश्चकारः । एतत्सर्वं सर्वज्ञत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च शरणागतं मां प्रति कथयेत्यभिप्रायः ॥ 2 ॥**

6 **एवं सप्तानां प्रश्नानां क्रमेणोत्तरं त्रिभिः श्लोकैः –**

[हे मधुसूदन ! इस देह में अधियज्ञ कौन है ? और वह किस प्रकार चिन्तनीय है तथा प्रयाणकाल मरणकाल में = मृत्यु के समय नियतात्मा -- समाहितचित्त पुरुषों के द्वारा आप किस प्रकार ज्ञेय हैं ? ॥ 2 ॥]

4 अधियज्ञ = यज्ञ में अधिगत -- ज्ञात जो देवतात्मा या परब्रह्म है वह किस प्रकार चिन्तनीय-ध्येय है ? क्या वह तादात्म्यभाव से चिन्तनीय है, अथवा अत्यन्त अभेदरूप से ध्येय है ? क्या वह सर्वथा इसी देह में रहता है, अथवा इससे बाहर भी देह में है ? यदि वह देह में ही रहता है तो वह कौन है ? बुद्धि आदि है अथवा उनसे भिन्न है ? 'अधियज्ञः कथं कोऽत्र' -- 'अधियज्ञ कैसे है, यहाँ अधियज्ञ कौन है' -- इसप्रकार ये दो प्रश्न नहीं है, किन्तु प्रकारभेदसहित इसको एक ही प्रश्न समझना चाहिए[1] । परम कारुणिक होने से आयास-प्रयत्न से भी सम्पूर्ण उपद्रवों के निवारक भगवान् का अनायास ही मेरे सन्देहरूप उपद्रव का निवारण करना ईषत्कर है -- यह उचित ही है, -- यह सूचित करते हुए अर्जुन 'हे मधुसूदन !' शब्द से सम्बोधन करते हैं ।

5 प्रयाण -- मरण -- मृत्यु के समय सम्पूर्ण इन्द्रियग्राम के अति व्यग्र-व्याकुल रहने के कारण चित्त का समाधान = एकाग्र होना अनुपपन्न होता है, अतः नियतात्मा = समाहितचित्त पुरुषों के द्वारा आप किस प्रकार से ज्ञेय हैं ? -- इसप्रकार उक्त शङ्का को सूचित करने के लिए 'च'कार का प्रयोग है । अर्जुन के कहने का अभिप्राय यह है कि 'हे मधुसूदन ! आप सर्वज्ञ हैं, परमकारुणिक हैं और मैं आपकी ही शरण हूँ, अतः आप मुझ शरणागत को यह सब कहिये ॥ 2 ॥

6 इसप्रकार इन सात प्रश्नों[2] का क्रमशः उत्तर तीन श्लोकों से भगवान् कहते हैं --

1. भाव यह है कि 'अधियज्ञः कथं कोऽत्र' -- ये दो प्रश्न नहीं हैं, किन्तु 'उस अधियज्ञ को किस प्रकार से जानूँ' -- इस उद्देश्य से प्रश्न किया गया है, इसलिए वह एक ही प्रश्न है । वह अधियज्ञ देह में कौन है और किस प्रकार से चिन्तनीय है -- उसके सम्बन्ध में ऐसा दो प्रकार का ज्ञान रहने से ही उसको ठीक-ठीक रूप से जाना जा सकता है, अतः यहाँ केवल प्रश्न के प्रकार में भेद रहने के कारण इसको एक ही प्रश्न समझना चाहिए ।

2. ब्रह्म कौन है ? अध्यात्म किसको कहा जाता है ? कर्म क्या है ? अधिभूत शब्द का अर्थ क्या है ? अधिदैव कौन है ? अधियज्ञ कौन है ? तथा मृत्यु के समय इन्द्रियग्राम के अति व्याकुल रहने के कारण चित्त का समाहित होना सम्भव न होने से नियतात्मा -- समाहितचित्त पुरुषों के द्वारा आप किस प्रकार से ज्ञेय हैं ?

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ 3 ॥

7 **प्रश्नक्रमेण हि निर्णये प्रष्टुरभीष्टसिद्धिरनायासेन स्यादित्यभिप्रायवान्भगवानत्र श्लोके प्रश्नत्रयं क्रमेण निर्धारितवान् । एवं द्वितीयश्लोकेऽपि प्रश्नत्रयं तृतीयश्लोके त्वेकमिति विभागः । निरुपाधिकमेव ब्रह्मात्र विवक्षितं ब्रह्मशब्देन न तु सोपाधिकमिति प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह -- अक्षरं न क्षरतीत्यविनाशि अश्नुते वा सर्वमिति सर्वव्यापकम् । "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु" इत्याद्युपक्रम्य "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" इत्यादि मध्ये परामृश्य "एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च" इत्युपसंहृतं श्रुत्या । सर्वोपाधिशून्यं सर्वस्य प्रशासितृ, अव्याकृताकाशान्तस्य कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य धारयितृ, अस्मिंश्च शरीरेन्द्रियसंघाते, विज्ञातृ निरुपाधिकं, चैतन्यं तदिह ब्रह्मेति विवक्षितम् । एतदेव विवृणोति- परममिति । परमं स्वप्रकाशपरमानन्दरूपं प्रशासनस्य कृत्स्नजडवर्गधारणस्य च लिङ्गस्य तत्रैवोपपत्तेः । "अक्षरमम्बरान्तधृतेः" (ब्र० सू० 1.3.10) इति न्यायात् ।**

[श्रीभगवान् ने कहा -- अक्षर परमात्मा 'ब्रह्म' है, स्वभाव 'अध्यात्म' कहा जाता है, तथा स्थावर-जंगम प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला यज्ञ-दान-होमरूप त्याग 'कर्म' कहलाता है ॥ 3 ॥]

7 प्रश्न के क्रम से निर्णय करने में -- उत्तर देने में प्रश्नकर्त्ता की अभीष्टसिद्धि अनायास -- सुगमता से होती है -- इस अभिप्राय से भगवान् ने इस श्लोक में प्रथम तीन प्रश्नों का क्रम से निर्णय किया है । इसी प्रकार द्वितीय श्लोक में भी दूसरे तीन प्रश्नों का निर्णय किया है तथा तृतीय श्लोक में शेष एक प्रश्न का निर्णय किया है -- इसप्रकार यह उत्तर विभाग है । यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से निरुपाधिक ब्रह्म ही विवक्षित है, सोपाधिक नहीं -- इसप्रकार प्रथम प्रश्न का उत्तर कहते हैं -- अक्षर = 'न क्षरति इत्यक्षरम्' = जो क्षर-विनष्ट न हो वह अक्षर अर्थात् अविनाशी है, अथवा 'अश्नुते व्याप्नोति सर्वमिति' = जो सबमें व्याप्त हो वह अक्षर अर्थात् सर्वव्यापक है । 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु' = 'हे गार्गि ! ब्राह्मण लोग इस अक्षर को अस्थूल, अनणु' इत्यादि से प्रारम्भ कर 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, नान्यदतोऽस्ति द्रष्टा' = 'हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्र आकाश में विधृत टिके हुए हैं, इससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं है' -- इत्यादि से मध्य में परामर्श -- विचार कर 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.8.8-11) = 'हे गार्गि ! निश्चय ही इस अक्षर में ही आकाश ओतप्रोत है' -- इस प्रकार श्रुति ने उपसंहार किया है । यहाँ जो समस्त उपाधियों से शून्य, सम्पूर्ण का शासन करनेवाला, अव्याकृत और आकाशपर्यन्त समस्त प्रपञ्च को धारण करनेवाला, तथा इस शरीर और इन्द्रिय के संघात में विज्ञाता-साक्षी, निरुपाधिक चैतन्य है वह ब्रह्म ही विवक्षित है । इसी का 'परमम्' शब्द से विवरण करते हैं । परम अर्थात् स्वप्रकाश, परमानन्दरूप है, क्योंकि प्रशासन और सम्पूर्ण जडवर्ग को धारण करना रूप लिङ्ग -- चिह्न उसी में उपपन्न है । जैसा कि 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' (ब्रह्मसूत्र, 1.3.10) = 'पृथ्वी से लेकर आकाशपर्यन्त सम्पूर्ण विकारजात को धारण करने के कारण अक्षर परमात्मा है-- इस सूत्रोक्त न्याय से सिद्ध होता है ।

८ **न त्विहाक्षरशब्दस्य वर्णमात्रे रूढत्वाच्छ्रुतिलिङ्गाधिकरणन्यायमूलकेन "रूढिर्योगमपहरति" इति न्यायेन रथकारशब्देन जातिविशेषवत्प्रणवाख्यमक्षरमेव ग्राह्यं तत्रोक्तलिङ्गासंभवात् । ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मेति च परेण विशेषणात् "आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलम्" इति न्यायात् । "वर्षासु रथकार आदधीत" इत्यत्र तु जातिविशेषे नास्त्यसंभव इति विशेषः । अनन्यथासिद्धेन तु लिङ्गेन श्रुतेर्बाधः "आकाशस्तल्लिङ्गात्" इत्यादौ विवृतः । एतावांस्त्विह**

---

८ 'अक्षर' शब्द वर्णमात्र में रूढ़ है, इसलिए श्रुतिलिङ्गाधिकरण[3]न्यायमूलक 'रूढिर्योगमपहरति' = 'रूढ़ि यौगिक अर्थ का बाध कर देती है' -- इस न्याय से 'रथकार[4]' शब्द से जैसे जातिविशेष का ग्रहण होता है वैसे ही 'अक्षर' शब्द से प्रणवसंज्ञक अक्षर का ही ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि यहाँ 'अक्षर' शब्द का जो अर्थ किया गया है उसमें प्रणववाची लिङ्ग सम्भव नहीं है, तथा आगे इसी अध्याय के तेरहवें श्लोक में वर्णात्मक अक्षर को 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (गीता, 8.13) -- इसप्रकार 'ओम्' -- यह विशेषण भी दिया गया है; अत: 'निरर्थकता से प्रतिहतों की सबलता और निर्बलता में विपरीतता हो जाती है' -- इस न्याय[5] से यहाँ 'अक्षर' शब्द वर्णवाचक नहीं माना जा सकता है । 'वर्षासु रथकार आदधीत' = 'वर्षाकाल में रथकार अग्न्याधान करे' -- इस विधिवाक्य में तो 'रथकार' शब्द से रूढार्थ 'जातिविशेष' असम्भव नहीं है, अत: यहाँ 'रथकार' शब्द से रूढार्थ ही ग्रहण होगा -- यही 'रथकार' और 'अक्षर' शब्दों के अर्थग्रहण में भेद है । अनन्यथासिद्ध लिङ्ग से तो श्रुति का बाध हो सकता है -- ऐसा ही विवरण 'आकाशस्तल्लिङ्गात्[6]' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.22) = "आकाश इति होवाच' (छान्दोग्योपनिषद्, 1.9.1) -- इत्यादि श्रुति में 'आकाश' शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि यहाँ ब्रह्म का लिङ्ग देखा जाता है"-- इत्यादि सूत्रों में किया गया

---

3. 'श्रुतिलिंगाधिकरण' जैमिनिप्रणीत मीमांसादर्शन के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद का सातवाँ अधिकरण है । इसको 'बलाबलाधिकरण' भी कहते हैं । इस अधिकरण का प्रारम्भ 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (मीमांसादर्शन, 3.3.14) -- इस सूत्र से होता है । इसका अभिप्राय यह है कि श्रुति, लिङ्ग वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या -- इन छ: प्रमाणों में से यदि अनेक प्रमाणों के एक स्थान पर इकट्ठे प्रवृत्त होने और उनमें विरोध होने का अवसर आ जाय तो उनमें से उत्तर-उत्तर को दुर्बल और पूर्व-पूर्व को प्रबल समझना चाहिए । इसी आधार पर गुण-प्रधानभाव का निर्णय करना चाहिए । इसी का नाम 'बलाबलाधिकरण' है । अपने अर्थ के बोधन और प्रामाण्य के लिए किसी अन्य की अपेक्षा न करनेवाला शब्द प्रमाण 'श्रुति' कहलाता है । यह 'श्रुति' लिङ्गादि उत्तरवर्ती प्रमाणों की अपेक्षा अधिक बलवती होती है । शब्द के सामर्थ्य को 'लिङ्ग' कहते हैं । सामर्थ्य का अर्थ 'रूढि' है । छठे प्रमाण 'समाख्या' का अर्थ यौगिक-शब्द है । यौगिक से रूढि प्रबल होती है -- 'योगाद्रूढिर्बलीयसी' -- यह न्याय है ।

4. योग से रूढ़ि के प्राबल्य में 'रथकाराधिकरणन्याय' का उदाहरण देते हैं -- 'वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीत' = 'वर्षाकाल में रथकार अग्न्याधान करे' । यहाँ 'रथकार' शब्द 'रथं करोति' = 'रथ बनानेवाला' -- इस व्युत्पत्ति से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र का बोधक होता है । किन्तु रूढि के अनुसार 'रथकार' शब्द से 'सुधन्वा' जाति विशेष का बोध होता है । योग से रूढ़ि के प्रबल होने के कारण 'रथकार' शब्द से जातिविशेष का ही यहाँ ग्रहण करना चाहिए, यह सिद्धान्त मीमांसादर्शन के षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद के बारहवें 'रथकाराधिकरण' में कहा गया है ।

5. इस न्याय का अभिप्राय यह है कि यद्यपि योग से रूढि प्रबल होती है, किन्तु जहाँ रूढि निरर्थक हो जाती है वहाँ उनके बलाबल में विपरीतता हो जाती है, अर्थात् यौगिक अर्थ प्रबल हो जाता है और रूढार्थ दुर्बल हो जाता है । इसी न्याय से प्रकृत प्रसंग में 'अक्षर' शब्द का रूढार्थ - वर्णवाचक प्रणव अक्षर ग्रहण न कर यौगिक अर्थ ही ग्रहण होगा ।

6. छान्दोग्योपनिषद् में कथा है कि शालावत्य नामक ब्राह्मण जैवलि नामक राजा से पूछता है कि -- 'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाश: परायणम् (छान्दोग्योपनिषद्, 1.9.1) = 'इस लोक का आधाररूप आश्रय कौन है ? राजा उत्तर देता

विशेषः—अनन्यथासिद्धेन लिङ्गेन श्रुतेर्बाधे यत्र योगः संभवति तत्र स एव गृह्यते मुख्यत्वात्, यथाऽऽज्यैः स्तुवते पृष्ठैः स्तुवत इत्यादौ । यथा चात्रैवाक्षरशब्दे । यत्र तु योगोऽपि न संभवति तत्र गौणी वृत्तिर्यथाऽऽकाशप्राणादिशब्देषु । आकाशशब्दस्यापि ब्रह्मणि आ समन्तात्काशत इति योगः संभवतीति चेत्, स एव गृह्यतामिति पञ्चपादीकृतः । तथा च परामर्षं सूत्रं "प्रसिद्धेश्च" (ब्र० सू० 1.3.17) इति । कृतमत्र विस्तरेण ।

9 **तदेवं किं तद्ब्रह्मेति निर्णीतम् । अधुना किमध्यात्ममिति निर्णीयते — यदक्षरं ब्रह्मेत्युक्तं तस्यैव स्वभावः स्वो भावः स्वरूपं प्रत्यक्चैतन्यं न तु स्वस्य भाव इति षष्ठीसमासः, लक्षणाप्रसङ्गात्,**

है । यहाँ इतनी ही विशेषता है कि जब अनन्यथासिद्ध लिङ्ग से श्रुति का बाध हो तब उस प्रसंग में जहाँ उसका यौगिक अर्थ संभव हो वहाँ मुख्य होने के कारण उस यौगिक अर्थ को ही ग्रहण किया जाता है, जैसाकि 'आज्यैः स्तुवते पृष्ठैः स्तुवते[7]' इत्यादि प्रयोग में और यहीं 'अक्षर' शब्द में यौगिक अर्थ को ही ग्रहण किया गया है । किन्तु जहाँ यौगिक अर्थ भी संभव न हो वहाँ गौणीवृत्ति से तात्पर्य ग्रहण किया जाता है, जैसा कि आकाश, प्राण आदि शब्दो में गौणी वृत्ति से तात्पर्य ग्रहण किया गया है । यदि कोई कहे कि 'आकाश' शब्द का भी 'ब्रह्म' के अर्थ में 'आ समन्तात् काशते' = 'जो सब ओर से प्रकाशित हो वह 'आकाश' है' -- इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से यौगिक अर्थ संभव है, तो वही ग्रहण कीजिए, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है -- ऐसा पञ्चपादिकाकार का मत है । इसी प्रकार पारमर्ष सूत्र है -- 'प्रसिद्धेश्च' (ब्रह्मसूत्र, 1.3.17) = 'आकाश शब्द की ब्रह्म के अर्थ में प्रसिद्धि होने से भी 'आकाश' को 'ब्रह्म' अर्थ में ग्रहण किया गया है' । यहाँ विस्तार की अपेक्षा नहीं है ।

9 इसप्रकार 'वह ब्रह्म क्या है '? -- इस प्रश्न का निर्णय हुआ, अब 'अध्यात्म क्या है'? -- इसका निर्णय करते हैं -- 'अक्षरं ब्रह्म' = 'अक्षर परमात्मा ब्रह्म है' -- यह जो कहा है उस अक्षर ब्रह्म का ही स्वभाव = स्वः भावः = स्व-ब्रह्म स्वयं ही भाव-स्वरूप है जिसका वह अर्थात् स्वरूप -- ब्रह्मरूप जो प्रत्यक्चैतन्य है वह 'अध्यात्म' है । यहाँ 'स्वभाव' शब्द का 'स्वस्य भावः' = 'अपना भाव' -- इसप्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास करके अर्थ करना युक्तियुक्त नहीं होगा, क्योंकि षष्ठी तत्पुरुष समास करने से पूर्वपद में 'स्व का सम्बन्धी' -- यह लक्षणा माननी होगी । षष्ठी तत्पुरुष समास

है कि आकाश आधार है, आकाश इसलिए आधार है कि आकाश से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन होते हैं, आकाश ही इन सबसे बडा है । इससे आकाश ही इनका परायण -- परम आश्रय है' । यहाँ संशय होता है कि 'आकाश' शब्द से परब्रह्म कहा जाता है या भूताकाश कहा जाता है ? क्योंकि श्रुतिवाक्यों में 'आकाश ' शब्द का प्रयोग दोनों ही अर्थों में प्राप्त होता है । भूतविशेष में तो 'आकाश' शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध ही है, 'ब्रह्म' अर्थ में भी कहीं कहीं 'आकाश' शब्द का प्रयोग देखा जाता है । परामर्श होता है कि यहाँ युक्त क्या है ? 'आकाश' शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि श्रुति में ब्रह्म का लिङ्ग–चिह्न देखा जाता है (आकाशस्तल्लिङ्गात्' । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' = 'सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं' -- यही परब्रह्म का लिङ्ग है, क्योंकि परब्रह्म से ही भूतों की उत्पत्ति होती है, यह सब वेदान्त में मर्यादा की गई है । यह आकाश के ब्रह्मत्व का निरूपक लिङ्ग अनन्यथासिद्ध है, अत : इससे 'आकाश' शब्द को भूताकाशपरक बतानेवाली श्रुतियों का बाध हो जाता है ।

7. 'आज्यैः स्तुवते पृष्ठैः स्तुवते'-- इस वाक्य का अर्थ किया जाय तो वाक्यार्थ होगा – 'घृतों से स्तुति करते हुए, पृष्ठों - पीठों से स्तुति करते हुए' । यहाँ वाक्य के 'आज्य' और 'पृष्ठ' – इन दोनों पदों का रूढार्थ किया है, जो कि सर्वथा असंगत है; क्योंकि मीमांसादर्शन में इन पदों के अर्थ का विचार किया गया है, वहाँ 'आज्य' शब्द की 'यत् आजिम् ईयुः तत् आज्यानाम् आज्यत्वम्' तथा 'पृष्ठ' शब्द की 'स्पर्शनात् पृष्ठानि' -- ऐसी व्युत्पत्ति करके दोनों को 'कर्मविशेष' के अर्थ में स्वीकार किया गया है । इससे सिद्ध होता है अनन्यथासिद्ध लिङ्ग से श्रुति का बाध होने पर लिङ्ग के अनुसार यहाँ यौगिक अर्थ को ग्रहण किया गया है ।

वै विष्णुः" इति श्रुतेः । स च विष्णुरधियज्ञोऽहं वासुदेव एव न मद्भिन्नः कश्चित् । अतएव परब्रह्मणः सकाशादत्यन्ताभेदेनैव प्रतिपत्तव्य इति कथिमिति व्याख्यातम् । स चात्रास्मिन्मनुष्यदेहे यज्ञरूपेण वर्तते बुद्ध्यादिव्यतिरिक्तो विष्णुरूपत्वात् । एतेन स किमस्मिन्देहे ततो बहिर्वा, देहे चेत्कोऽत्र बुद्ध्यादिस्तद्व्यतिरिक्तो वेति संदेहो निरस्तः । मनुष्यदेहे च यज्ञस्यावस्थानं यज्ञस्य मनुष्यदेहनिर्वर्त्यत्वात् । "पुरुषो वै यज्ञः पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुते" इत्यादिश्रुतेः। हे देहभृतां वर सर्वप्राणिनां श्रेष्ठेति संबोधयन्प्रतिक्षणं मत्संभाषणात्कृतकृत्यस्त्वमेतद्बोधयोग्योऽसीति प्रोत्साहयत्यर्जुनं भगवान् । अर्जुनस्य सर्वप्राणिश्रेष्ठत्वं भगवदनुग्रहातिशयभाजनत्वात्प्रसिद्धमेव ॥ 4 ॥

14 **इदानीं प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसीति सप्तमस्य प्रश्नस्योत्तरमाह –**

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ 5 ॥

15 **मामेव भगवन्तं वासुदेवमधियज्ञं सगुणं निर्गुणं वा परममक्षरं ब्रह्म न त्वध्यात्मादिकं स्मरन्सदा चिन्तयंस्तत्संस्कारपाटवात्समस्तकरणग्रामवैयग्र्यवत्यन्तकालेऽपि स्मरन्कलेवरं मुक्त्वा शरीरेऽहं-**

नामक देवता अधियज्ञ = समस्त यज्ञों का अधिष्ठाता और समस्त यज्ञों का फलदायक है । वह अधियज्ञ विष्णु मैं वासुदेव ही हूँ, मुझसे भिन्न कोई अन्य नहीं है । अतएव अधियज्ञ को परब्रह्म से सर्वथा अभेद-अभिन्न रूप ही समझना चाहिए -- इसप्रकार द्वितीय श्लोक के 'कथम्' पद की व्याख्या हुई । वह अधियज्ञ इस मनुष्यदेह में यज्ञरूप से विद्यमान रहता है, क्योंकि वह यज्ञ बुद्धि आदि से व्यतिरिक्त विष्णुरूप है । इससे 'वह अधियज्ञ क्या इस देह में रहता है ? अथवा इस देह से बाहर रहता है ? यदि इस देह में रहता है तो वह कौन है ? बुद्धि आदि है ? अथवा बुद्धि आदि से व्यतिरिक्त -- भिन्न है ?' -- इस सन्देह का निराकरण हो जाता है । मनुष्यदेह में ही यज्ञ का अवस्थान है, क्योंकि यज्ञ मनुष्यदेह से ही निष्पन्न होनेवाला है । श्रुति भी कहती है -- 'पुरुषो वै यज्ञ : पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुते' = 'पुरुष ही यज्ञ है, इसीसे यज्ञ पुरुष है, क्योंकि पुरुष ने ही यज्ञ का विस्तार किया है और वही इसका विस्तार करता है' -- इत्यादि । हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्थात् हे समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ -- इसप्रकार सम्बोधन करते हुए भगवान् अर्जुन को प्रोत्साहन देते हैं कि तुम प्रतिक्षण मेरे सम्भाषण से कृतकृत्य हो रहे हो और तुम ही इस ज्ञान के योग्य हो । भगवान् के अनुग्रह का अतिशय भाजन होने के कारण अर्जुन का समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ होना प्रसिद्ध ही है ।। 4 ।।

14 अब 'प्रयाण-मृत्यु के समय आप किस प्रकार ज्ञेय हैं' -- इस सप्तम प्रश्न का उत्तर कहते हैं -- [अन्तकाल में जो पुरुष मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है वह मद्भाव अर्थात् मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है -- इसमें कोई भी संशय नहीं है ।। 5 ।।]

15 जो पुरुष अधियज्ञ, सगुण अथवा निर्गुण अक्षर परब्रह्म मुझ भगवान् वासुदेव का ही (एव[10]), अध्यात्म आदि का नहीं, स्मरण करता हुआ -- सदा चिन्तन करता हुआ और उस स्मरण-चिन्तन

10. यहाँ 'एव' शब्द अवधारणार्थ -- निश्चयार्थ में प्रयुक्त हुआ है । भगवान् के कथन का अभिप्राय यह है कि अध्यात्म आदि गुण से विशिष्ट ब्रह्म को स्मरण न करते हुए मात्र मुझको ही अर्थात् अधियज्ञ = सगुण अथवा निर्गुण अक्षर परब्रह्म मुझ भगवान् वासुदेव को ही स्मरण करना चाहिए, अन्य किसी को नहीं । अध्यात्म आदि गुण से विशिष्ट ब्रह्म के स्मरण -- चिन्तन में चित्तविक्षेप की सम्भावना रहती है । परमगति प्राप्त करने के लिए परमात्मा के ध्यान का अभ्यास अत्यन्त दृढ़ और परिपक्व होना चाहिए । यही 'एव' शब्द का तात्पर्य है ।

ममाभिमानं त्यक्त्वा प्राणवियोगकाले यः प्रयाति, सगुणध्यानपक्षेऽग्निज्योतिरहः शुक्ल इत्यादिवक्ष्यमाणेन देवयानमार्गेण पितृयान(ण)मार्गात्प्रकर्षेण याति स उपासको मद्भावं मद्रूपतां निर्गुणब्रह्मभावं हिरण्यगर्भलोकभोगान्ते याति प्राप्नोति । निर्गुणब्रह्मस्मरणपक्षे तु कलेवरं त्यक्त्वा प्रयातीति लोकदृष्ट्यभिप्रायं "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते" इति श्रुतेस्तस्य प्राणोत्क्रमणाभावेन गत्यभावात् । स मद्भावं साक्षादेव याति "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" (बृ० उ० 4.4.6) इति श्रुतेः । नास्त्यत्र देहव्यतिरिक्त आत्मनि मद्भावप्राप्तौ वा संशयः, आत्मा देहाद्यतिरिक्तो न वा, देहव्यतिरेकेऽपि ईश्वराद्भिन्नो न वेति संदेहो न विद्यते "छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" (मु० उ० 2.2.8) इति श्रुतेः । अत्र च कलेवरं मुक्त्वा प्रयातीति देहाद्भिन्नत्वं मद्भावं यातीति चेश्वरादभिन्नत्वं जीवस्योक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ 5 ॥

16 **अन्तकाले भगवन्तमनुध्यायतो भगवत्प्राप्तिर्नियतेति वदितुमन्यदपि यत्किंचित्तत्काले ध्यायतो देहं त्यजतस्तत्प्राप्तिरवश्यंभाविनीति दर्शयति –**

यं यं चापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ 6 ॥

के संस्कार के पाटव -- सामर्थ्यातिशय से समस्त इन्द्रियग्राम की वैयग्र्यावस्थारूप अन्तकाल -- मरणकाल में भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर अर्थात् प्राणवियोग के समय शरीर में अहंता -- ममता का अभिमान त्यागकर जाता है (प्रयाति) = सगुण-ध्यानपक्ष में 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः' (गीता, 8.24) इत्यादि वक्ष्यमाण श्लोक से पितृयानमार्ग से प्र-प्रकृष्ट-श्रेष्ठ देवयानमार्ग से जाता है, -- यहाँ 'प्रयाति' पद में 'प्र' उपसर्ग 'पितृयानमार्ग से देवयानमार्ग प्र-प्रकृष्ट-उत्कृष्ट है' -- एतत्सूचनार्थ है -- वह उपासक हिरण्यगर्भ लोक का भोग करने के अनन्तर मद्भाव = मद्रूपता अर्थात् निर्गुण ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है । निर्गुणब्रह्मस्मरणपक्ष में तो 'शरीर त्यागकर जाता है' -- यह कथन लोकदृष्टि के अभिप्राय से है, क्योंकि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते' = 'उस ब्रह्मविद् व्यक्ति के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता है = लोकान्तर में गमन नहीं होता है, किन्तु यहाँ रहकर ही वे ब्रह्म में लीन हो जाते हैं' -- इस श्रुति के अनुसार उस निर्गुणब्रह्मज्ञानी का प्राणों का उत्क्रमण न होने से गत्यभाव सिद्ध है, अतः वह ब्रह्मविद् योगी 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.6) = 'ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाता है' -- इस श्रुति के अनुसार साक्षात् मद्भाव को ही प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मभावापन्न हो जाता है । यहाँ देह से व्यतिरिक्त आत्मा के होने में अथवा उसके मद्भाव अर्थात् मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होने में संशय नहीं है । 'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' (मुण्डकोपनिषद्, 2.2.8) = 'उसके सब संशय क्षीण हो जाते हैं' -- इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मभावापन्नावस्था में 'आत्मा देह से भिन्न है या नहीं ? यदि आत्मा देह से भिन्न है भी, तो वह ईश्वर से भिन्न है या नहीं ?' -- इसप्रकार का सन्देह नहीं रहता है । यहाँ यह समझना चाहिए कि 'कलेवरं मुक्त्वा प्रयाति' = 'शरीर त्यागकर जाता है' -- इस कथन से 'जीव देह से भिन्न है' -- यह प्रतिपन्न हुआ है, और 'मद्भावं याति' 'मद्भाव को प्राप्त होता है' -- इस कथन से 'जीव ईश्वर से अभिन्न है' -- यह कहा गया है ॥ 5 ॥

16 अन्तकाल में भगवान् का ध्यान करनेवाले को भगवान् की प्राप्ति होना निश्चित है -- यह बतलाने के लिए 'अन्त काल में जिस किसी अन्य देवताविशेष का भी ध्यान करते हुए देहत्याग करने वाले को उस देवताविशेष की प्राप्ति अवश्यंभाविनी है' -- यह दिखलाते हैं --

17 न केवलं मां स्मरन्मद्भावं यातीति नियमः किं तर्हि यं यं चापि भावं देवताविशेषं, चकारादन्यदपि यत्किंचिद्वा स्मरंश्चिन्तयन्नन्ते प्राणवियोगकाले कलेवरं त्यजति स तं तमेव स्मर्यमाणं भावमेव नान्यमेति प्राप्नोति । हे कौन्तेयेति पितृष्वसृपुत्रत्वेन स्नेहातिशयं सूचयति । तेन चावश्यानुग्राह्यत्वं तेन च प्रतारणाशङ्काशून्यत्वमिति ।

18 अन्तकाले स्मरणोद्यमासंभवेऽपि पूर्वाभ्यासजनिता वासनैव स्मृतिहेतुरित्याह -- सदा सर्वदा तस्मिन्देवताविशेषादौ भावो भावना वासना तद्भावः स भावितः संपादितो येन स तथा भावितत‌द्भाव इत्यर्थः । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वाद्भावितपदस्य परनिपातः । तद्भावेन तच्चिन्तनेन भावितो वासितचित्त इति वा ॥ 6 ॥

19 यस्मादेवं पूर्वस्मरणाभ्यासजनिताऽन्त्या भावनैव तदानीं परवशस्य देहान्तरप्राप्तौ कारणम् ---

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ 7 ॥

[हे कौन्तेय ! हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अन्तकाल में उपासक जिस-जिस भाव को भी स्मरण करता हुआ देहत्याग करता है सदा उसी भाव से भावित होकर उस-उस को ही प्राप्त होता है ॥ 6 ॥]

17 मुझको स्मरण करता हुआ मद्‌भाव अर्थात् मेरे साक्षात् स्वरूप को ही प्राप्त होता है -- केवल यही नियम नहीं है । तो फिर क्या है ? जिस-जिस भाव = देवताविशेष का भी, अथवा 'च'कार से अन्य भी जिस किसी का स्मरण करता हुआ = चिन्तन करता हुआ अन्त में = प्राणवियोग के समय जो देह का त्याग करता है वह उस-उस ही स्मर्यमाण भाव को ही प्राप्त होता है, अन्य किसी को प्राप्त नहीं होता है । हे कौन्तेय ! -- इस सम्बोधन से भगवान् पितृभगिनीपुत्र होने से अर्जुन के प्रति अपना अत्यन्त स्नेह सूचित करते हैं । इससे अर्जुन की अवश्य अनुग्रहपात्रता और अपने द्वारा प्रतारणा -- वञ्चना की शङ्का की शून्यता भी सूचित करते हैं ।

18 अन्तकाल में स्मरण का उद्यम-उद्योग होना असम्भव होने पर भी पूर्वाभ्यास से जनित वासना ही स्मृति का हेतु होती है -- यह 'सदा तद्‌भावभावितः' से कहते हैं :-- सदा-सर्वदा उस देवताविशेष आदि में जो भाव = भावना-वासना है वह तद्‌भाव है, वह तद्‌भाव जिससे भावित-सम्पादित है वह तद्‌भावभावित है अर्थात् वह उस देवताविशेष के स्वरूप की भावना से भावित होता है । अथवा, 'आहिताग्नि' आदि पद आकृतिगण के अन्तर्गत हैं, अतः 'भावित' पद का परनिपात हुआ, और विग्रह हुआ 'तद्‌भावेन भावितः' इति । इसका तात्पर्य है कि सदा वह तद्‌भाव = उस देवताविशेष के भाव-चिन्तन से भावित -- वासित चित्त वाला होता है[11] ॥ 6 ॥

19 क्योंकि इसप्रकार पूर्वस्मरण के अभ्यास से जनित-उत्पन्न अन्तिम भावना ही उस समय = मृत्युकाल में परवश जीव की देहान्तर-प्राप्ति में कारण है --

[इसलिए सब समय तुम मेरा स्मरण करो और यदि अन्तःकरण की अशुद्धि के कारण सतत मेरा स्मरण नहीं कर सकते हो तो अन्तःकरणशुद्धि के लिए युद्ध करो । इसप्रकार मुझ वासुदेव में अर्पित मन, बुद्धि वाले तुम निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगे ॥ 7 ॥]

---

11. अभिप्राय यह है कि मनुष्य को स्मर्यमाण वस्तु के अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्राप्त नहीं होता है । मृत्यु के समय अन्तःकरण की व्याकुलता के कारण स्मरण करने का उद्यम -- उद्योग न होने पर भी पूर्वाभ्यासजनित वासना ही इष्टवस्तु का स्मरण करा देती है । अतः उसके स्मरण के लिए मुमूर्षु व्यक्ति को कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती है । मृत्युकाल में जिस वस्तु का स्मरण कर देहत्याग किया जाता है उस वस्तु की ही स्वरूपता प्राप्त होती है -- यही शाश्वत नियम है ।

20 तस्मान्मद्विषयकान्त्यभावनोत्पत्त्यर्थं सर्वेषु कालेषु पूर्वमेवाऽऽदरेण मां सगुणमीश्वरमनुस्मर चिन्तय । यद्यन्तःकरणाशुद्धिवशान्न शक्नोषि सततमनुस्मर्तुं ततोऽन्तःकरणशुद्धये युध्य च, अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं युद्धादिकं स्वधर्मं कुरु । युध्येति युध्यस्वेत्यर्थः । एवं च नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेनाशुद्धिक्षयान्मयि भगवति वासुदेवेऽर्पिते संकल्पाध्यवसायलक्षणे मनोबुद्धी येन त्वया स त्वमीदृशः सर्वदा मच्चिन्तनपर : सन्मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि । असंशयो नात्र संशयो विद्यते । इदं च सगुणब्रह्मचिन्तनमुपासकानामुक्तं तेषामन्त्यभावनासापेक्षत्वात् । निर्गुणब्रह्मज्ञानिनां तु ज्ञानसमकालमेवाज्ञाननिवृत्तिलक्षणाया मुक्तेः सिद्धत्वान्नास्त्यन्त्यभावनापेक्षेति द्रष्टव्यम् ॥ 7 ॥

21 तदेवं सप्तानामपि प्रश्नानामुत्तरमुक्त्वा प्रयाणकाले भगवदनुस्मरणस्य भगवत्प्राप्तिलक्षणं फलं विवरीतुमारभते –

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ 8 ॥

22 अभ्यासः सजातीयप्रत्ययप्रवाहो मयि विजातीयप्रत्ययानन्तरितः षष्ठे प्राग्व्याख्यातः । स एव

---

20 इसलिए मद्-विषयक = परमात्मविषयक अन्तिम भावना की उत्पत्ति के लिए पहले से ही सब समय तुम आदरपूर्वक मुझ सगुण ईश्वर का अनुस्मरण -- चिन्तन करो । यदि अन्तःकरण की अशुद्धि के कारण तुम सतत स्मरण नहीं कर सकते हो तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिए युद्ध करो अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि के लिए युद्धादि स्वधर्म का पालन करो[12] । यहाँ 'युध्य' -- यह आर्ष प्रयोग है, क्योंकि 'युध्' धातु परस्मैपदी नहीं है, आत्मनेपदी है, इसलिए 'युध्यस्व' -- यह पाणिनीय प्रयोग होगा । इस प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय होने पर मुझ भगवान् वासुदेव में अर्पित किये हैं संकल्प और अध्यवसायरूप मन और बुद्धि जिसने-तुमने वह ऐसे तुम सर्वदा मेरे चिन्तन में तत्पर रहकर मुझको ही प्राप्त होगे । इसमें संशय नहीं है । यह सगुणब्रह्मचिन्तन उपासकों के लिए कहा गया है, क्योंकि उनको मेरी प्राप्ति के लिए अन्तिम भावना की अपेक्षा होती है । निर्गुणब्रह्मज्ञानियों को तो ज्ञानकाल में ही अज्ञाननिवृत्तिरूप मुक्ति सिद्ध होने से अन्तिम भावना की अपेक्षा नहीं है -- यह समझना चाहिए ॥ 7 ॥

21 इस प्रकार सातों प्रश्नों का उत्तर कहकर अब भगवान् 'मृत्यु के समय भगवदनुस्मरण = भगवच्चिन्तन का फल भगवत्प्राप्ति है' -- इसके विवरण के लिए कहना आरम्भ करते हैं --

[हे पार्थ ! भगवच्चिन्तन के अभ्यासरूप योग-समाधि से युक्त और किसी अन्य विषय में न जानेवाले चित्त से शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश के अनुसार चिन्तन करता हुआ पुरुष परमप्रकाशरूप दिव्य पुरुष को अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है ॥ 8 ॥]

22 मुझ भगवान् वासुदेव में विजातीय प्रत्यय के व्यवधान से रहित सजातीय प्रत्यय का प्रवाह 'अभ्यास' कहा जाता है । इसकी व्याख्या पहले छठे अध्याय में की जा चुकी है । वह अभ्यास ही योग

---

12. यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि प्रकृत श्लोक में क्या भगवान् भगवदनुस्मरण-कर्त्तव्य के साथ-साथ युद्धादि स्वधर्मानुष्ठान-कर्त्तव्य के उपदेश से ज्ञान और कर्म के समुच्चय का उपदेश कर रहे हैं ? तो इसका समाधान यह है कि यहाँ भगवान् का ज्ञान-कर्म-समुच्चयोपदेश विवक्षित नहीं है, भगवान् तो अर्जुन को यह कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! तुम 'मन और बुद्धि से गोचर क्रिया, कारक, कर्मफल सभी ब्रह्म ही हैं' -- ऐसी भावना करके युद्ध करो -- स्वधर्मपालन करो । क्रियादि समूह में ब्रह्म से भिन्न अन्य किसी दूसरी वस्तु की भावना नहीं रहने से ही सब समय ब्रह्मस्वरूप भगवदनुस्मरण सम्भव है (द्रष्टव्य -- आनन्दगिरिटीका) ।

योगः समाधिस्तेन युक्तं तत्रैव व्यापृतमात्माकारवृत्तीतरवृत्तिशून्यं यच्चेतस्तेन चेतसाऽभ्यासपाटवेन नान्यगामिना नान्यत्र विषयान्तरे निरोधप्रयत्नं विनाऽपि गन्तुं शीलमस्येति तेन परमं निरतिशयं पुरुषं पूर्णं दिव्य दिवि द्योतनात्मन्यादित्ये भवं "यश्चासावादित्ये" इति श्रुतेः । याति गच्छति हे पार्थ । अनुचिन्तयन्, शास्त्राचार्योपदेशमनुध्यायन् ॥ 8 ॥

23 **पुनरपि तमेवानुचिन्तयितव्यं गन्तव्यं च पुरुषं विशिनष्टि --**

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ 9 ॥

24 **कविं क्रान्तदर्शिनं तेनातीतानागताद्यशेषवस्तुदर्शित्वेन सर्वज्ञं, पुराणं चिरंतनं सर्वकारणत्वादनादिमिति यावत् । अनुशासितारं सर्वस्य जगतो नियन्तारमणोरणीयांसं सूक्ष्मादप्याकाशादेः सूक्ष्मतरं तदुपादानत्वात् । सर्वस्य कर्मफलजातस्य धातारं विचित्रतया**

अर्थात् समाधि है, उस अभ्यासयोग से युक्त अर्थात् उसी में सदा व्यापृत-रत, आत्माकारवृत्ति से भिन्न विषयवृत्तियों से रहित है जो चित्त उस चित्त से और अभ्यास के पाटव से जो अन्य गामी नहीं है अर्थात् निरोध का प्रयत्न न करने पर भी जिसका अन्यत्र = अन्य विषय में जाने का स्वभाव नहीं है उस चित्त से[13] अनुचिन्तन करता हुआ अर्थात् शास्त्र और आचार्य के उपदेश के अनुसार निरन्तर ध्यान करता हुआ पुरुष हे पार्थ ! दिव्य = दिव् में अर्थात् द्योतनात्मा-- प्रकाशात्मा आदित्य-सूर्यमण्डल में रहनेवाले, जैसा कि 'यश्चासावादित्ये' = 'जो यह आदित्यमण्डल में पुरुष है' -- इस श्रुति से सिद्ध होता है, परम = निरतिशय पूर्ण पुरुष को प्राप्त होता है[14] ॥ 8 ॥

23 फिर भी उस निरन्तर चिन्तनीय-ध्येय और गन्तव्य-प्राप्तव्य पुरुष के विशेषण कहते हैं -- ।

[जो पुरुष कवि-सर्वज्ञ, पुराण -- अनादि, सम्पूर्ण जगत् के नियन्ता, सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, समस्त कर्मफलों का विभाग करनेवाले, अचिन्त्यरूप, सूर्य के सदृश प्रकाशमय, अतएव अज्ञानरूप अन्धकार से परे परम पुरुष का सतत चिन्तन करता है वह उस दिव्य परम पुरुष को ही प्राप्त होता है ॥ 9 ॥]

24 कवि = क्रान्तदर्शी अतएव अतीत, अनागत आदि अर्थात् भूत, भावी तथा वर्तमान -- सभी वस्तुओं का दर्शी -- देखनेवाला होने से सर्वज्ञ; पुराण = चिरन्तन अर्थात् सबका कारण होने से अनादि; अनुशासिता = सम्पूर्ण जगत् का नियन्ता; अणोरणीयान् = अणु से भी अणु -- आकाशादि सूक्ष्म वस्तुओं से भी अधिकसूक्ष्म, क्योंकि वह आकाशादि का भी उपादान कारण है; समस्त कर्मफलजात का धाता-विधाता = कर्म विचित्र है अतः उनके फल भी विचित्र हैं, उन कर्मों के विचित्र फलों

---

13. प्रकृत श्लोक में 'चेतसा' के दो विशेषण दिये गए हैं -- 'अभ्यासयोगयुक्तेन' और 'नान्यगामिना' । 'अभ्यासयोगयुक्तेन' शब्द से अभ्यास तथा 'नान्यगामिना' शब्द से वैराग्य की ओर संकेत किया गया है । योगशास्त्र में भी कहा गया है -- 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (योगसूत्र, 1.12) = ' अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है' । अभ्यास और वैराग्य से प्रथमतः चित्त की विषयाकारा वृत्तियों का निरोध होता है, पुनः ब्रह्माकारावृत्तिप्रवाह से परमात्मा में स्थिति करने का अभ्यास चलता रहता है । उस अवस्था में ही सतत भगवदनुस्मरण -- भगवच्चिन्तन होता रहता है, क्योंकि उस समय मन और बुद्धि परमात्मा में सम्पूर्णरूप से अर्पित रहते हैं ।

14. अभिप्राय यह है कि दिव्य परम पुरुष सभी जीवों में पूर्णरूप से प्रकट होकर जीवात्मा को परमात्मास्वरूप में परिणत कर देता है, जिस प्रकार समुद्र नदियों को अपने में विलीन कर उनको भी समुद्र बना देता है । श्रुति कहती है -- 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुण्डकोपनिषद्, 3.2.8) ।

विभक्तारं 'फलमत उपपत्तेः' इति न्यायात् । न चिन्तयितुं शक्यमपरिमितमहिमत्वेन रूपं यस्य तम् । आदित्यस्येव सकलजगदवभासको वर्णः प्रकाशो यस्य तं सर्वस्य जगतोऽवभासकमिति यावत् । अत एव तमसः परस्तात्तमसो मोहान्धकारादज्ञानलक्षणात्परस्तात्प्रकाशरूपत्वेन तमोविरोधिनमिति यावत् । अनुस्मरेच्चिन्तयेद्यः कश्चिदपि स तं यातीति पूर्वेणैव सम्बन्धः । स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति परेण वा सम्बन्धः ॥ 9 ॥

25 **कदा तदनुस्मरणे प्रयत्नातिरेकोऽभ्यर्थ्यते तदाह –**

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ 10 ॥

26 **प्रयाणकालेऽन्तकालेऽचलेनैकाग्रेण मनसा तं पुरुषं, योऽनुस्मरेदित्यनुवर्तते । कीदृशः, भक्त्या परमेश्वरविषयेण परमेण प्रेम्णा युक्तः । योगस्य समाधेर्बलेन तज्जनितसंस्कारसमूहेन व्युत्थानसंस्कारविरोधिना च युक्तः । एवं प्रथमं हृदयपुंडरीके वशीकृत्य तत ऊर्ध्वगामिन्या सुषुम्नया**

का प्राणियों की योग्यतानुसार विभाग करनेवाला, जैसा कि ब्रह्मसूत्रन्याय है -- 'फलमत उपपत्तेः' (ब्रह्मसूत्र, 3.2.28) = 'जीव को अपने कर्मों का फल सर्वाध्यक्ष ईश्वर से ही प्राप्त होता है, क्योंकि उपपत्ति -- युक्ति से ऐसा ही सिद्ध होता है'; अचिन्त्य रूप = अपरिमित महिमाशील होने के कारण जिसके रूप का चिन्तन नहीं किया जा सकता है वह[15]; आदित्यवर्ण = आदित्य-सूर्य के समान सम्पूर्ण जगत् का अवभासक-प्रकाशक वर्ण -- प्रकाश है जिसका वह अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का अवभासक-प्रकाशक अतएव तमस = अज्ञानरूप मोहान्धकार से परस्तात् = परे है[16] अर्थात् प्रकाशरूप होने के कारण तम -- अन्धकार का विरोधी है जो उसका जो कोई भी पुरुष अनुस्मरण -- चिन्तन करता है 'वह उसको ही प्राप्त होता है' -- इसप्रकार इसका पूर्व श्लोक से ही सम्बन्ध है । अथवा, 'वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है' -- इसप्रकार इसका अगले श्लोक से सम्बन्ध है ॥ 9 ॥

25 किस समय उस परम पुरुष के अनुस्मरण -- चिन्तन के लिए अधिक प्रयत्न की अपेक्षा होती है ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं --

[प्रयाण-मृत्यु के समय जो पुरुष भक्तियुक्त होकर योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को सम्यक् प्रकार से स्थापित कर अविचल -- निश्चल मन से भगवदनुस्मरण -- भगवच्चिन्तन करता है वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है ॥ 10 ॥]

26 प्रयाणकाल में = अन्तकाल में -- मरणकाल में अचल = एकाग्र मन से उस परम पुरुष का 'जो पुरुष अनुस्मरण -- चिन्तन करता है' -- इस अंश की पूर्व श्लोक से अनुवृत्ति है । वह पुरुष कैसा हो ? जो भक्ति से = परमेश्वरविषयक परम प्रेम से युक्त हो और योग = समाधि के बल से अर्थात् व्युत्थानसंस्कार के विरोधी समाधिजनित संस्कारसमूह[17] से युक्त हो । इसप्रकार पहले विषयों से चित्त को विमुखकर

15. श्रुति भी कहती है -- 'एतदप्रमेयं ध्रुवमिति यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' = 'वह अप्रमेय है, प्रत्यक्ष -- अनुमानादि किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है, वह ध्रुव है जिसको न पाकर मन और वाणी लौट आती हैं' -- इत्यादि ।

16. श्रुति कहती है -- 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' = 'अज्ञानान्धकार से अतीत आदित्य के समान सर्वप्रकाशक महान् पुरुष को मैं जानता हूँ' -- इत्यादि ।

17. योग का अर्थ है -- समाधि । समाधि का सतत अभ्यास करते रहने पर समाधिजनित संस्कार की वृद्धि होती रहती है और व्युत्थानसंस्कार क्षीण होता रहता है और समाधि के स्वाभाविक परिणामरूप से चित्त का स्थैर्य उत्पन्न होता है, इसको ही 'योग-समाधिबल' कहा जाता है । यही योगशास्त्र में 'समाधिपरिणाम' कहा जाता है – 'सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः' (योगसूत्र, 3.11) = 'जब चित्त के व्युत्थान अर्थात् सर्वार्थता– सर्वविषयतारूप धर्म का क्षय और एकाग्रतारूप धर्म का उदय होता है तो वह 'समाधिपरिणाम' कहा जाता है ।'

नाड्या गुरूपदिष्टमार्गेण भूमिजयक्रमेण भ्रुवोर्मध्य आज्ञाचक्रे प्राणमावेश्य स्थापयित्वा सम्यगप्रमत्तो ब्रह्मरन्ध्रादुत्क्राम्य स एवमुपासकस्तं कविं पुराणमनुशासितारमित्यादिलक्षणं परं पुरुषं दिव्यं द्योतनात्मकमुपैति प्रतिपद्यते ॥ 10 ॥

27 **इदानीं येन केनचिदभिधानेन ध्यानकाले भगवदनुस्मरणे प्राप्ते –**

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥"

(कठ० 1.2.15)

इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितत्वेन प्रणवेनैवाभिधानेन तदनुस्मरणं कर्तव्यं नान्येन मन्त्रादिनेति नियन्तुमुपक्रमते –

हृदयपुण्डरीक-हृदयकमल = अनाहतचक्र में परम पुरुष का स्वरूप धारण कर चित्त को वशीकृत करके फिल ऊर्ध्वगामिनी सुषुम्ना नाडी द्वारा गुरूपदिष्ट मार्ग से हृदिस्थित प्राणवायु को कण्ठ में = विशुद्धचक्र में लाकर अत: परभूमिजयक्रम से = परचक्रजयक्रम से भ्रुकुटियों के मध्य में = आज्ञाचक्र में स्थापित कर सम्यक् प्रकार से अर्थात् अप्रमत्त होकर ब्रह्मरन्ध्र = सहस्रारचक्र से उत्क्रान्त कर[18] वही उपासक उस कवि, पुराण, अनुशासिता -- इत्यादि लक्षणों से युक्त दिव्य = द्योतनात्मक परम पुरुष को प्राप्त होता है ।। 10 ।।

27 अब भगवान् जिस किसी अभिधान -- शब्द से ध्यानकाल में भगवदनुस्मरण -- भगवच्चिन्तन प्राप्त होने पर "समस्त वेदवाक्य जिस पद का निरूपण करते हैं, समस्त तप जिसकी प्राप्ति बतलाते हैं, और जिस पद की प्राप्ति की इच्छा करके जन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, मैं तुमको संक्षेप में उप पद का वर्णन करता हूँ, वह है 'ओम्' " (कठोपनिषद्, 1.2.15) -- इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित

---

18. मनुष्य के शरीर में प्राण -- प्रवाहिनी नाडियाँ असंख्य है, इनमें से पन्द्रह मुख्य हैं – सुषुम्ना, इड़ा, पिङ्गला, गांधारी, हस्तजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, शूरा, कुहू, सरस्वती, वारुणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी, शङ्खिनी और चित्रा । इन पन्द्रह में से भी सुषुम्ना, इड़ा और पिङ्गला -- ये तीन प्रधान हैं, जिनका योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इन तीनों में सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ है । सुषुम्ना नाड़ी अतिसूक्ष्म नली के सदृश है, जो मेरुदण्ड के भीतर होती हुई मस्तिष्क के ऊपर चली गई है । मेरुदण्ड से ही सुषुम्ना के वाम भाग से इड़ा और दक्षिण भाग से पिङ्गला नासिका-मूलपर्यन्त चली गई हैं । भ्रुकुटी के मध्य में ये तीनों नाड़ियाँ परस्पर मिल जाती हैं । जब प्राणवायु वाम नासिकारन्ध्र से वहती है तब इड़ा नाडी से वहती है, जब दक्षिण नासिकारन्ध्र से वहती है तब पिङ्गला नाडी से वहती है, और जब सुषुम्ना नाडी से वहती है तब वह स्थिर हो जाती है । अत: योगीजन सुषुम्ना नाडी में प्राणवायु का प्रवेश कराकर उसकी स्थिरता सम्पादन करने के लिए प्रयन्त करते हैं । सुषुम्ना मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक विस्तृत है । सुषुम्ना के भीतर वज्रणी, वज्रणी के भीतर चित्रणी, और चित्रणी के भीतर ब्रह्मनाड़ी है । ये सब नाडियाँ मकड़ी के जाले-जैसी अतिसूक्ष्म हैं, जिनका ज्ञान केवल योगियों को ही हो सकता है । ये नाड़ियाँ सत्त्वप्रधान, प्रकाशमय और अद्‌भुत शक्तिवाली हैं । ये ही सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म प्राण के स्थान है, सूक्ष्म शक्तियों के केन्द्र हैं । इन सूक्ष्मशक्तियों के केन्द्रों को पद्म या कमल और चक्र कहते हैं । ये पद्म – चक्र मुख्य सात हैं – मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार । ये चक्र ब्रह्मनाड़ी में पद्म के रूप से ग्रथित हैं । इन चक्रों के शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थान हैं । अनाहतचक्र का स्थान हृदयकमल है, विशुद्धचक्र का कण्ठ, आज्ञाचक्र का दोनों भ्रुकुटियों के मध्य स्थान है, और सहस्रारचक्र का स्थान तालु के ऊपर मस्तिष्क में ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर है । योगी पहले विषयों से चित्त को विमुखकर क्रमश: प्रथम तीन चक्रों का भेदन कर हृदयकमल = अनाहतचक्र में परमपुरुष का स्वरूप धारण कर चित्त को वशीकृत करके फिर ऊर्ध्वगामिनी सुषुम्ना नाड़ी द्वारा हृदय में स्थित प्राणवायु को क्रमश: कण्ठ = विशुद्धचक्र में लाकर, दोनों भ्रुकुटियों के मध्य = आज्ञाचक्र में स्थापित कर जब ब्रह्मरन्ध्र = सहस्रारचक्र से उत्क्रान्त करता है तब वह ब्रह्मलोक में ज्योतिरादि मार्ग से गमन कर वहाँ तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करके मुक्त होता है अर्थात् दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है -- यही प्रकृत प्रसङ्ग है ।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ 11 ॥

28 यदक्षरमविनाशि ओंकाराख्यं ब्रह्म वेदविदो वदन्ति 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्स्वमदीर्घम्' इत्यादिवचनैः सर्वविशेषनिवर्तनेन प्रतिपादयन्ति । न केवलं प्रमाणकुशलैरेव प्रतिपन्नं किं तु मुक्तोपसृप्यतया तैरप्यनुभूतमित्याह -- विशन्ति स्वरूपतया सम्यग्दर्शनेन यदक्षरं यतयो यत्नशीलाः संन्यासिनो वीतरागा निस्पृहाः । न केवलं सिद्धैरनुभूतं साधकानामपि सर्वोऽपि प्रयासस्तदर्थ इत्याह -- यदिच्छन्तो ज्ञातुं नैष्ठिका ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासादि तपश्चरन्ति यावज्जीवं तदक्षराख्यं पदं पदनीयं ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेणाहं प्रवक्ष्ये प्रकर्षेण कथयिष्यामि यथा तव बोधो भवति तथा । अतस्तदक्षरं कथं मया ज्ञेयमित्याकुलो मा भूरित्यभिप्रायः ।

29 अत्र च परस्य ब्रह्मणो वाचकरूपेण प्रतिमावत्प्रतीकरूपेण च 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तमधिगच्छति' इत्यादिवचनैर्मन्दमध्यमबुद्धीनां क्रममुक्तिफलकमुपासनमुक्तं तदेवेहापि विवक्षितं भगवता । अतो योगधारणासहितमोंकारोपासनं तत्फलं स्वस्वरूपं ततोऽपुनरावृत्तिस्तन्मार्गश्चेत्यर्थजातमुच्यते यावदध्यायसमाप्ति ॥ 11 ॥

होने के कारण प्रणव = ओम् अभिधान-नाम-शब्द द्वारा ही भगवान् का अनुस्मरण-- चिन्तन करना चाहिए, किसी अन्य मन्त्र आदि से नहीं -- यह नियम करने के लिए उपक्रम करते हैं --

[वेद को जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परम पद को ओंकार नाम से कहते हैं, जिसमें वीतराग यतिजन प्रवेश करते हैं, और जिसकी इच्छा करते हुए जन ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं उस पद का मैं तुम्हारे प्रति संक्षेप में वर्णन करता हूँ ॥ 11 ॥]

28 जिस अक्षर = अविनाशी, ओंकारसंज्ञक ब्रह्म का वेदवेत्ता 'हे गार्गि ! यही वह अक्षर है जिसको ब्राह्मणजन अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ कहते हैं' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.8.8) -- इत्यादि वचनों से सम्पूर्ण विशेषधर्मों की निवृत्ति कर प्रतिपादन करते हैं । न केवल प्रमाणकुशलजन ही ने उसका प्रतिपादन किया है, किन्तु मुक्तजन उपसृप्य -- प्राप्य होने के कारण उन मुक्तजन ने भी उसका अनुभव किया है -- यह कहते हैं :-- अपना स्वरूपभूत होने के कारण जिस अक्षर ब्रह्म में सम्यक्दर्शन = सम्यक्ज्ञान द्वारा यति -- यत्नशील वीतराग -- निस्पृह संन्यासी प्रवेश करते हैं । न केवल सिद्ध पुरुषों ने ही उसका अनुभव किया है, अपितु साधकों का भी सम्पूर्ण प्रयास उसी के लिए है -- ऐसा कहते हैं :-- जिसको जानने की इच्छावाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास आदि तप का आचरण करते हैं उस अक्षरसंज्ञक पद = पदनीय -- गन्तव्य -- प्राप्तव्य को मैं तुमसे संक्षेप में प्रकर्षपूर्वक कहूँगा जिससे कि वह तुम्हारी समझ में आ जाय । अतः 'उस दुर्बोध अक्षर तत्त्व को मैं कैसे जानूँगा'? -- ऐसा सोचकर तुम व्याकुल मत होओ -- यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है ।

29 यहाँ 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तमधिगच्छति' (प्रश्नोपनिषद्, 5.5) = 'जो पुरुष तीन मात्रावाले 'ओम्' -- इस अक्षर के द्वारा परम पुरुष का ध्यान करता है वह उसको प्राप्त होता है' -- इत्यादि वचनों के अनुसार मन्द और मध्यम बुद्धिवाले साधकों के लिए परब्रह्म के वाचकरूप से और प्रतिमा के समान प्रतीकरूप से क्रममुक्तिफलक ओंकार की उपासना कही गई है, वही यहाँ भगवान् को भी विवक्षित है । अतः इस अध्याय की समाप्तिपर्यन्त

30 तत्र प्रवक्ष्य इति प्रतिज्ञातमर्थं सोपकरणमाह द्वाभ्याम् –

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायाऽऽत्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ 12 ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ 13 ॥

31 सर्वाणीन्द्रियद्वाराणि संयम्य स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य विषयदोषदर्शनाभ्यासात्तद्विमुखतामापादितैः श्रोत्रादिभिः शब्दादिविषयग्रहणमकुर्वन् । बाह्येन्द्रियनिरोधेऽपि मनसः प्रचारः स्यादित्यत आह -- मनो हृदि निरुध्य च, अभ्यासवैराग्याभ्यां षष्ठे व्याख्याताभ्यां हृदयदेशे मनो निरुध्य निर्वृत्तिकतामापाद्य च, अन्तरपि विषयचिन्तामकुर्वन्नित्यर्थः । एवं बहिरन्तरुपलब्धिद्वाराणि सर्वाणि संनिरुध्य क्रियाद्वारं प्राणमपि सर्वतो निगृह्य भूमिजयक्रमण मूर्ध्न्याधाय भ्रुवोर्मध्ये तदुपरि च गुरूपदिष्टमार्गेणाऽऽवेश्याऽऽत्मनो योगधारणामात्मविषयसमाधिरूपां धारणामास्थितः । आत्मन इति देवतादिव्यावृत्त्यर्थम् ॥ 12 ॥

32 ओमित्येकमक्षरं ब्रह्मवाचकत्वात्प्रतिमावद्ब्रह्मप्रतीकत्वाद्वा ब्रह्म व्याहरन्नुच्चरन् । ओमिति व्याहर-

---

योगधारणासहित ओंकार की उपासना, उसका फल, अपने स्वरूप का ज्ञान, उससे फिर अपुनरावृत्ति और उसका मार्ग -- इन सब अर्थों को कहा गया है ॥ 11 ॥

30 उसमें 'प्रवक्ष्ये' = 'प्रकर्षपूर्वक कहूँगा' -- इसप्रकार प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ को उसके साधनों सहित दो श्लोकों से कहते हैं --

[जो उपासक समस्त इन्द्रियद्वारों को रोककर, मन का हृदयदेश में निरोध कर, अपने प्राणों को मूर्धा अर्थात् भ्रुकुटियों के मध्य में स्थिर करके और योगधारणा में स्थित होकर 'ओम्' -- इस एक अक्षररूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरा सतत अनुस्मरण -- चिन्तन करता हुआ देह त्यागकर जाता है वह परम गति को प्राप्त होता है ॥ 12-13 ॥]

31 समस्त इन्द्रियद्वारों को रोककर = समस्त इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर अर्थात् विषयों में दोषदर्शन के अभ्यास से उन-उन विषयों से विमुख की हुई श्रोत्रादि इन्द्रियों से शब्दादि विषयों को ग्रहण न करते हुए; बाह्य इन्द्रियों का निरोध होने पर भी मन का प्रचार होगा, अत: कहते हैं -- मन को हृदयदेश में रोककर अर्थात् भीतर भी विषयों का चिन्तन न करते हुए, जैसा कि छठे अध्याय में व्याख्यात है कि अभ्यास और वैराग्य से मन को हृदयदेश में रोककर अर्थात् मन की विषयाकारावृत्तियों का निरोध कर -- इसप्रकार बाहर और भीतर की उपलब्धियों के समस्त द्वारों को रोककर; क्रिया के द्वारभूत प्राण को भी सब ओर से रोककर = भूमिकाजय के क्रम से उसको मूर्धा में स्थिर कर अर्थात् गुरूपदिष्ट मार्ग से उसको दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में स्थापित कर और फिर उससे ऊपर मस्तिष्क में उसका आधान कर; आत्मविषयक योगधारणा = आत्मविषयिणी समाधिरूपा धारणा में स्थित हो -- यहाँ 'आत्मन:' -- यह पद देवता आदि की व्यावृत्ति के लिए है ॥ 12 ॥

32 'ओम्' -- इस एक अक्षर का जो ब्रह्म का वाचक होने से अथवा प्रतिमा के समान ब्रह्म का प्रतीक होने से ब्रह्म ही है[19], उच्चारण करते हुए, -- यहाँ'ओमिति व्याहरन्' = 'ओम् --इस प्रकार उच्चारण

---

19. वैयाकरण वाच्य और वाचक में अभेद स्वीकार करते हैं, लोक में भी शब्द और अर्थ को एक ही पद से कहते हैं -- जैसे 'गौरिति शब्द: गौरित्यर्थ:' = 'गौ' शब्द है और 'गौ' अर्थ भी है', अत: ब्रह्म का वाचक 'ओम्' ब्रह्म है अथवा विष्णु की प्रतिमा को जैसे विष्णु कहते है वैसे ही प्रकृत ब्रह्म का प्रतीक 'ओम्' ब्रह्म ही है ।

न्नित्येतावतैव निर्वाह एकाक्षरमित्यनायासकथनेन स्तुत्यर्थम् । ओमिति व्याहरन्नेकाक्षरमेकमद्वितीयमक्षरमविनाशि सर्वव्यापकं ब्रह्म मामोमित्यस्यार्थं स्मरन्निति वा । तेन प्रणवं जपंस्तदभिधेयभूतं च मां चिन्तयन्मूर्धन्यया नाड्या देहं त्यजन्यः प्रयाति स याति देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकं गत्वा तद्भोगान्ते परमां प्रकृष्टां गतिं मद्रूपाम् ।

33 **अत्र पतञ्जलिना "तीव्रसंवेगानामासन्नः" समाधिलाभः, इत्युक्त्वा "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इत्युक्तम् । प्रणिधानं च व्याख्यातं "तस्य वाचकः प्रणवः", "तज्जपस्तदर्थभावनम्" इति । "समाधि सिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" इति च । इह तु साक्षादेव ततः परमगतिलाभ इत्युक्तम् । तस्मादविरोधायोमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्नात्मनो योगधारणामास्थित इति व्याख्येयम् । विचित्रफलत्वोपपत्तेर्वा न विरोधः ॥ 13 ॥**

34 **य एवं वायुनिरोधवैधुर्येण भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य मूर्धन्यया नाड्या देहं त्यक्तुं स्वेच्छया न शक्नोति किं तु कर्मक्षयेणैव परवशो देहं त्यजति तस्य किं स्यादिति तदाह –**

करते हुए' -- इतना कहने से ही अर्थनिर्वाह हो सकता था, फिर भी 'एकाक्षरम्' -- यह अनायास कथन से 'ओम्' की स्तुति के लिए है[20] । अथवा, 'ओमिति व्याहरन्, एकाक्षरं ब्रह्म मामनुस्मरन्' -- इस प्रकार अन्वय करके भी अर्थ किया जा सकता है । 'ओम्' -- इस प्रकार उच्चारण करते हुए और इसके अर्थभूत एक अक्षर अर्थात् एक = अद्वितीय अक्षर = अविनाशी सर्वव्यापक ब्रह्मरूप मुझको स्मरण करते हुए, अतः प्रणव = 'ओम्' का जप करते हुए और उसके अभिधेयभूत मेरा चिन्तन करते हुए मूर्धन्य नाड़ी से देह को त्यागकर जो जाता है वह देवयान मर्गा से ब्रह्मलोक में जाकर उसका भोग समाप्त होने पर मुझ भगवद्-रूप परम-प्रकृष्ट गति को प्राप्त होता है ।

33 यहाँ पतञ्जलि ने 'तीव्रसंवेगानामासन्नः' (योगसूत्र, 1.21) = 'तीव्र संवेग = वैराग्य और अधिमात्र उपायवाले योगियों को समाधि-लाभ शीघ्रतम = निकटतम होता है' -- ऐसा कहकर ' ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (योगसूत्र, 1.23) = 'अथवा, ईश्वरप्रणिधान से शीघ्रतम समाधिलाभ होता है' -- ऐसा कहा है । और प्रणिधान की व्याख्या इस प्रकार की है -- 'तस्य वाचकः प्रणवः' (योगसूत्र, 1.27); 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योगसूत्र, 1.28) = 'उस ईश्वर का वाचक-बोधक शब्द-नाम प्रणव = 'ओम्' है, उस प्रणव = 'ओम्' का जप और उसके अर्थभूत ईश्वर का भावन-ध्यान करना = पुनः पुनः चिन्तन करना 'ईश्वरप्रणिधान' है' । तथा ऐसा भी कहा है -- 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' (योगसूत्र, 2.45) = 'समाधि की सिद्धि ईश्वरप्रणिधान से होती है' । यहाँ तो साक्षात् ही उस ईश्वरप्रणिधान से परमगतिलाभ को कहा गया है । अतः अविरोध के लिए 'ओम् -- इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते हुए और मेरा अनुस्मरण -- चिन्तन करते हुए आत्मविषयिणी योगधारणा में स्थित हो' -- ऐसी व्याख्या करनी चाहिए । अथवा, विचित्र फल की उपपत्ति होने के कारण इसका उससे विरोध नहीं है ॥ 13 ॥

34 जो पुरुष उक्त प्रकार से प्राणवायु का निरोध करने में असमर्थ होने के कारण दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में अथवा उससे ऊपर मस्तिष्क में प्राण को स्थिर कर मूर्धन्य = मूर्धा तक जानेवाली नाड़ी से अपनी इच्छा के अनुसार देहत्याग करने में समर्थ नहीं है, किन्तु कर्मों का क्षय होने से ही परवश-विवश होकर देहत्याग करता है उसका क्या होगा — उसकी क्या गति होगी ? -- इसके

---

20. अभिप्राय यह है कि 'ओम्' -- यह एक अक्षर मात्र है, अनेक पदविशिष्ट क्या नहीं है, अतः मृत्यु के समय इसका उच्चारण अनायास किया जा सकता है अर्थात् मृत्यु के समय इन्द्रियों के विवश रहने के कारण अनेक पदात्मक वाक्य का उच्चारण करना निःसन्देह अतिकष्टसाध्य है, किन्तु 'ओम्' – यह एक अक्षर मात्र होने के कारण इसका उच्चारण करने में कोई कष्ट नहीं होता है और यह परम पद को प्राप्त कराता है -- इस प्रकार ओंकार की स्तुति या प्रशंसा की गई है ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ 14 ॥

35 **न विद्यते मदन्यविषये चेतो यस्य सोऽनन्यचेताः सततं निरन्तरं नित्यशो यावज्जीवं यो मां स्मरति तस्य स्ववशतया परवशतया वा देहं त्यजतोऽपि नित्ययुक्तस्य सततसमाहितचित्तस्य योगिनः सुलभः सुखेन लभ्योऽहं परमेश्वर इतरेषामतिदुर्लभोऽपि हे पार्थ, तवाहमतिसुलभो मा भैषीरित्यभिप्रायः ।**

36 **अत्र तस्येति षष्ठी शेषे सम्बन्धसामान्ये । कर्तरि न लोकेत्यादिना निषेधात् । अत्र चानन्यचेतस्त्वेन सत्कारोऽत्यादरः सततमिति नैरन्तर्यं नित्यश इति दीर्घकालत्वं स्मरणस्योक्तम् । तेन "स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" इति पातञ्जलं मतमनुसृतं भवति । तत्र स इत्यभ्यास उक्तोऽपि स्मरणपर्यवसायी । तेन यावज्जीवं प्रतिक्षणं विक्षेपान्तरशून्यतया भगवदनुचिन्तनमेव परमगतिहेतुर्मूर्धन्यया नाड्या तु स्वेच्छया प्राणोत्क्रमणं भवतु न वेति नातीवाऽऽग्रहः ॥ 14 ॥**

उत्तर में भगवान् कहते हैं--

[हे पार्थ ! हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त से स्थित हुआ सतत-निरन्तर नित्यशः -- जीवनपर्यन्त मुझको स्मरण करता है उस सतत समाहितचित्त योगी के लिए मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ॥ 14 ॥]

35 जिसका चित्त मेरे अतिरिक्त किसी अन्य विषय में नहीं रहता -- लगता वह पुरुष अनन्यचेता है । ऐसा जो सतत -- निरन्तर नित्यशः -- यावज्जीवन मुझको स्मरण करता है उस नित्ययुक्त = सतत समाहितचित्त योगी के लिए स्ववशता से अथवा परवशता से देहत्याग करने पर भी मैं परमेश्वर, इतर के लिए दुर्लभ होने पर भी, सुलभ = सुखपूर्वक-सहज ही लभ्य -- प्राप्य हूँ = प्राप्त होने योग्य हूँ । हे पार्थ ! तुमको तो मैं अतिसुलभ हूँ, तुम मत डरो -- यह भगवान् का अभिप्राय है ।

36 यहाँ 'तस्य' -- इस पद में षष्ठी विभक्ति 'षष्ठी शेषे' (पाणिनिसूत्र, 2.3.50) = 'सम्बध -- सामान्य में षष्ठी विभक्ति होती है' -- इस सूत्र के अनुसार सम्बन्धसामान्य में है, 'सुलभः' = 'सु+ लभ्+ खल्' -- कृदन्त पद का योग होने से कर्त्ता में नहीं है, क्योंकि 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (पाणिनिसूत्र, 2.3.69) = 'ल = शतृ, शानच् आदि; उ, उक, अव्यय = क्त्वा आदि, निष्ठा = क्त, क्तवतु ; खल् प्रत्यय के अर्थवाले प्रत्यय तथा तृन् (प्रत्याहार) -- इनके प्रयोग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती है' -- इस सूत्र के अनुसार कर्त्ता में षष्ठी का निषेध होता है । यहाँ अनन्यचेता होने से सत्कार और अति आदर, 'सतत' शब्द से नैरन्तर्य, तथा 'नित्यशः' शब्द से स्मरण की दीर्घकालता कही गई है । अतः इससे 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः' (योगसूत्र, 1.14) = 'वह अभ्यास दीर्घकालपर्यन्त, नैरन्तर्य -- निरन्तर व्यवधानरहित और सत्कारपूर्वक सेवन किए जाने पर दृढ़भूमिवाला होता है' -- इस पातञ्जल मत का अनुसरण किया गया है । उक्त पातञ्जल योगसूत्र में 'सः' शब्द का अर्थ अभ्यास कहा जाने पर भी वह स्मरण में ही पर्यवसान प्राप्त करनेवाला होता है । अतः जीवनपर्यन्त प्रतिक्षण अन्य विक्षेप से शून्य मन से भगवान् का चिन्तन ही परम गति का हेतु है -- मूर्धन्य नाडी से स्वेच्छापूर्वक प्राणों का उत्क्रमण हो या न हो -- इसमें विशेष आग्रह नहीं है ॥ 14 ॥

37 **भगवन्तं प्राप्ताः पुनरावर्तन्ते न वेति संदेहे नाऽऽवर्तन्त इत्याह –**

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाऽऽप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ 15 ॥

38 **मामीश्वरं प्राप्य पुनर्जन्म मनुष्यादिदेहसंबन्धं, कीदृशं दुःखालयं गर्भवासयोनिद्वारनिर्गमनाद्यनेकदुःखस्थानम् । अशाश्वतमस्थिरं दृष्टनष्टप्रायं नाऽऽप्नुवन्ति पुनर्नाऽऽवर्तन्त इत्यर्थः । यतो महात्मानो रजस्तमोमलरहितान्तःकरणाः शुद्धसत्त्वाः समुत्पन्नसम्यग्दर्शना मल्लोकभोगान्ते परमां सर्वोत्कृष्टां संसिद्धिं मुक्तिं गतास्ते । अत्र मां प्राप्य सिद्धिं गता इति वदतोपासकानां क्रममुक्तिर्दर्शिता ॥ 15 ॥**

39 **भगवन्तमुपागतानां सम्यग्दर्शिनामपुनरावृत्तौ कथितायां ततो विमुखानामसम्यग्दर्शिनां पुनरावृत्तिरर्थसिद्धेत्याह –**

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ 16 ॥

40 **आब्रह्मभुवनात्, भवन्त्यत्र भूतानीति भुवनं लोकः । अभिविधावाकारः । ब्रह्मलोकेन सह सर्वेऽपि**

---

37 भगवान् को प्राप्त हुए पुरुषों की पुनरावृत्ति -- पुनर्जन्म होता है या नहीं ? -- ऐसा सन्देह होने पर भगवान् कहते हैं कि मुझको प्राप्त हुए पुरुषों का पुनर्जन्म नहीं होता है --
[मुझको प्राप्त होकर परम -- सर्वोत्कृष्ट संसिद्धि -- मुक्ति पद को प्राप्त हुए महात्माजन पुनः दुःख के स्थानरूप अनित्य पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते हैं ॥ 15 ॥]

38 मुझ ईश्वर को प्राप्त कर पुनः जन्म अर्थात् मनुष्यादि देह के सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होते हैं । किस प्रकार के देहसम्बन्ध को प्राप्त नहीं होते हैं ? जो दुःखालयं = गर्भवास, योनिद्वार से निकलना आदि दुःखों का स्थान है और अशाश्वत = अस्थिर -- प्रायः देखते-देखते नष्ट होनेवाला है उस देहसम्बन्ध को प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् पुनः आवर्तन = जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ते हैं । क्योंकि महात्मा = रजोगुण -- तमोगुण से शून्य अन्तःकरणवाले -- शुद्धचित्त अतएव समुत्पन्नतत्त्वज्ञान अर्थात् जिनका तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे वे मेरे लोक का भोग समाप्त होने पर परम = सर्वोत्कृष्ट संसिद्धि = मुक्ति को प्राप्त होते है । यहाँ 'मां प्राप्य सिद्धिं गता' = 'मुझको प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त होते है' -- ऐसा कहते हुए भगवान् ने उपासकों की क्रममुक्ति दिखलाई है ॥ 15 ॥

39 भगवान् को प्राप्त हुए सम्यक्दर्शियों -- तत्त्वज्ञानियों की अपुनरावृत्ति कहने पर यह अर्थतः सिद्ध होता है कि भगवान् से विमुख जो असम्यक्दर्शी -- अतत्त्वज्ञानी हैं उनकी पुनरावृत्ति होती है -- यही भगवान् कहते हैं --
[हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्ति की प्राप्ति करानेवाले हैं, किन्तु हे कौन्तेय ! हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है ॥ 16 ॥]

40 आब्रह्मभुवनात् = जिसमें भूत -- प्राणी उत्पन्न होते हैं वह भुवन -- लोक कहलाता है । यहाँ 'आ'-कार अर्थात् 'आङ्' (आ) उपसर्ग अभिविधि = व्याप्ति के अर्थ में है । अतः 'आब्रह्मभुवनात् लोकाः' का अर्थ है -- ब्रह्म[21] लोक के साथ सभी लोक अर्थात् ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने लोक हैं वे

---

21. यहाँ 'ब्रह्म' से चतुर्मुख ब्रह्मा को ही सूचित किया गया है, क्योंकि सहस्रयुगपर्यन्त ब्रह्मा के ही दिन और रात्रि का निर्णय श्रुति ने किया है ।

लोका मद्विमुखानामसम्यग्दर्शिनां भोगभूमयः पुनरावर्तिनः पुनरावर्तनशीलाः । ब्रह्मभवमादिति पाठे भवनं वासस्थानमिति स एवार्थः । हेऽर्जुन स्वतःप्रसिद्धमहापौरुष ।

41 **किं तद्वदेव त्वां प्राप्तानामपि पुनरावृत्तिर्नेत्याह -- मामीश्वरमेकमुपेत्य तु । तुर्लोकान्तरवैलक्षण्यद्योतनार्थोऽवधारणार्थो वा । मामेव प्राप्य निर्वृतानां हे कौन्तेय मातृतोऽपि प्रसिद्धमहानुभाव पुनर्जन्म न विद्यते पुनरावृत्तिर्नास्तीत्यर्थः । अत्रार्जुन कौन्तेयेति संबोधनद्वयेन स्वरूपतः कारणतश्च शुद्धिर्ज्ञानसंपत्तये सूचिता ।**

42 **अत्रेयं व्यवस्था, ये क्रममुक्तिफलाभिरुपासनाभिर्ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामेव तत्रोत्पन्नसम्यग्दर्शनानां ब्रह्मणा सह मोक्षः । ये तु पञ्चाग्निविद्यादिभिरतत्क्रतवोऽपि तत्र गतास्तेषामवश्यंभावि पुनर्जन्म । अत एव क्रममुक्त्यभिप्रायेण "ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते", "अनावृत्तिः शब्दात्" इति श्रुतिसूत्रयोरुपपत्तिः । इतरत्र "तेषामिह न पुनरावृत्तिः", "इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते" इतीहेममिति च विशेषणाद्गमनाधिकरणकल्पादन्यत्र पुनरावृत्तिः प्रतीयते ॥ 16 ॥**

सभी लोक मुझसे विमुख असम्यक्दर्शियों के भोग के स्थान हैं और पुनरावर्ती = पुनरावर्तनस्वभाववाले हैं अर्थात् पुनर्जन्म को देनेवाले हैं । यदि 'आब्रह्मभवनात्' -- ऐसा पाठ है तो 'भवन' का 'वासस्थान' अर्थ है, अत: वही अर्थ है । हे अर्जुन ! स्वत:सिद्ध महान् पौरुषवाले ।

41 क्या ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोकों को प्राप्त हुए पुरुषों की जैसे पुनरावृत्ति होती है वैसे ही आपको प्राप्त हुए पुरुषों -- उपासकों की भी पुनरावृत्ति होती है ? -- इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं -- नहीं । मुझ एक ईश्वर को प्राप्त होकर तो आवृत्ति नहीं होती है -- यहाँ 'तु' शब्द अन्य लोकों से अपनी विलक्षणता दिखलाने के लिए है अथवा निश्चय के लिए है । द्वितीय अर्थ है -- मुझको ही प्राप्त कर निर्वृत -- कृतकृत्य हुए पुरुषों की हे कौन्तेय ! अर्थात् मातृपक्ष से भी सुप्रसिद्ध महान् प्रभाववाले ! पुनरावृत्ति नहीं होती है अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता है । यहाँ अर्जुन और कौन्तेय -- इन दोनों सम्बोधनों से ज्ञानरूप सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए स्वरूपत: और कारणत: शुद्धि आवश्यक है -- यह सूचित किया गया है[22] ।

42 यहाँ यह व्यवस्था है -- जो साधक क्रममुक्तिफलक उपासनाओं से ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं वे ही ब्रह्मलोक में सम्यक्दर्शन -- तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होते हैं अतएव उन्ही का ब्रह्मा के साथ मोक्ष होता है । किन्तु जो ब्रह्मोपासक न होने पर भी पञ्चाग्निविद्या आदि के प्रभाव से ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं उनका तो पुनर्जन्म अवश्यंभावी होता है । अतएव क्रममुक्ति के अभिप्राय से 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते (छान्दोग्योपनिषद्, 8.15.1) = 'वे ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और फिर जन्म नहीं लेते हैं' और 'अनावृत्ति: शब्दादनावृत्ति: शब्दात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.4.12) = 'ब्रह्मलोक प्राप्त हुए पुरुषों की पुनरावृत्ति नहीं होती है, क्योंकि शब्द अर्थात् श्रुति वही कहती है' -- इन श्रुति और सूत्र की उपपत्ति होती है । इतरत्र 'तेषामिह न पुनरावृत्ति:' = 'उनकी इह = इस लोक में पुनरावृत्ति नहीं होती है'; 'इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते' = 'वे इमम् = इस मानवलोक में नहीं आते हैं' -- इत्यादि में जो 'इह' और 'इमम्' विशेषण हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि गमनाधिकरणकल्प से अन्यत्र उनकी पुनरावृत्ति होती है अर्थात् जिस कल्प में उनका ब्रह्मलोक में गमन होता है उस कल्प से भिन्न कल्प में उनकी पुनरावृत्ति होती है ।। 16 ।।

---

22. 'अर्जुन' शब्द का अर्थ है -- शुद्ध, अत: अर्जुन स्वरूपत: शुद्ध है । अर्जुन स्वरूपत: ही शुद्ध नहीं है, अपितु वह कौन्तेय = कुन्ती का पुत्र है जो कुन्ती अत्यन्त शुद्धकुल में उत्पन्न हुई है, अतएव वह मातृपक्ष के कारण भी शुद्ध है इसप्रकार अर्जुन स्वरूपत: और कारणत: भी शुद्ध है । अत: अर्जुन को मैं अनायास ही सुलभ हूँ, क्योंकि स्वरूपत: और कारणत: -- दोनों प्रकार से शुद्धता ही ज्ञानरूप सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए हेतु है -- यही 'अर्जुन' और 'कौन्तेय' -- इन दो सम्बोधनों से भगवान् सूचित कर रहे हैं ।

43 ब्रह्मलोकसहिताः सर्वे लोकाः पुनरावर्तिनः, कस्मात् । कालपरिच्छिन्नत्वादित्याह --

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ 17 ॥

44 मनुष्यपरिमाणेन सहस्रयुगपर्यन्तं सहस्रं युगानि चतुर्युगानि(णि) पर्यन्तोऽवसानं यस्य तत् । "चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते" इति हि पौराणिकं वचनम् । तादृशं ब्रह्मणः प्रजापतेरहर्दिनं यद्ये विदुः, तथा रात्रिं युगसहस्रान्तां चतुर्युगसहस्रपर्यन्तां, ये विदुरित्यनुवर्तते, तेऽहोरात्रविदस्त एवाहोरात्रविदो योगिनो जनाः । ये तु चन्द्रार्कगत्यैव विदुस्ते नाहोरात्रविदः स्वल्पदर्शित्वादित्यभिप्राय : ॥ 17 ॥

45 यथोक्तैरहोरात्रैः पक्षमासादिगणनया पूर्णं वर्षशतं प्रजापतेः परमायुरिति कालपरिच्छिन्नत्वेनानित्योऽसौ । तेन तल्लोकात्पुनरावृत्तिर्युक्तैव । ये तु ततोऽर्वाचीनास्तेषां तदहर्मात्रपरिच्छिन्नत्वात्तत्तल्लोकेभ्यः पुनरावृत्तिरिति किमु वक्तव्यमित्याह –

43 ब्रह्मलोक सहित सब लोक पुनरावर्ती = पुनरावर्तनशील हैं, क्यों ? क्योंकि वे काल से परिच्छिन्न है । यही भगवान् कहते हैं --

[जो पुरुष ब्रह्मा के दिन को सहस्रयुगपर्यन्त और उसकी रात्रि को सहस्रयुग में समाप्त होनेवाली जानते हैं वे ही तत्त्वत: दिन और रात्रि के परिणाम को जाननेवाले हैं ॥ 17 ॥]

44 मनुष्य के परिमाण से सहस्रयुगपर्यन्त = सहस्रयुग अर्थात् सहस्र चतुर्युग -- सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि-चतुर्युग है पर्यन्त -- अवसान जिसका वह सहस्रचतुर्युग ब्रह्मा का एक दिन कहा जाता है । 'चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते' = 'सहस्र चतुर्युग ब्रह्मा का एक दिन कहा जाता है' -- ऐसा पुराण का भी वचन है । तादृश जो ब्रह्मा -- प्रजापति का दिन है उसको जो जानते हैं, इसीप्रकार सहस्रयुग में समाप्त होनेवाली अर्थात् सहस्र चतुर्युग पर्यन्त रहनेवाली रात्रि को 'जो जानते हैं' -- यह अनुवृत्ति है, वे ही अहोरात्रविद: = दिन और रात्रि का रहस्य जाननेवाले योगी पुरुष हैं । जो मात्र सूर्य और चन्द्रमा की गति से ही दिन और रात्रि को जानते हैं वे अल्पदर्शी होने के कारण दिन और रात्रि को जाननेवाले नहीं है -- यह अभिप्राय है ॥ 17 ॥

45 पूर्वोक्त दिन और रात्रि के क्रम से पक्ष, मास आदि की गणना करने से पूरे सौ वर्ष की प्रजापति की परम आयु है[23] -- इसप्रकार काल से परिच्छिन्न होने के कारण वह अनित्य है । अत: उसके लोक से पुनरावृत्ति होना युक्तियुक्त ही है । जो उससे अर्वाचीन हैं वे तो उसके एक दिन मात्र से ही परिच्छिन्न हैं, अत: उस-उस लोक से पुनरावृत्ति होती है -- इसमें तो कहना ही क्या है ? यही अब भगवान् कहते हैं--

23. ब्रह्मा की आयुगणना इसप्रकार की है । मनुष्य का एक वर्ष देवताओं का एक दिन और रात्रि है । इसप्रकार दिन और रात्रि के क्रम से पक्ष और मास की कल्पना कर बारह महीनों का एक वर्ष तथा बारह हजार दिव्य वर्ष का एक चतुर्युग होता है । ब्रह्मा का एक दिन एक हजार चतुर्युग होता है । इसी प्रकार ब्रह्मा की रात्रि एक हजार चतुर्युग होती है । इसप्रकार एक चतुर्युग = 12,000 दिव्यवर्ष; 1000 चतुर्युग = 12,000 x 1000 दिव्यवर्ष = 12,00,00,00 x 360 मनुष्यवर्ष = ब्रह्मा का एक दिन 432,00,00,000 मनुष्यवर्ष; इसी प्रकार ब्रह्मा की एक रात्रि = 432,00,00,000 मनुष्यवर्ष -- इसप्रकार ब्रह्मा का एक दिन और एक रात्रि = 864,00,00,000 मनुष्यवर्ष अर्थात् 864 करोड़ मनुष्यवर्ष है । इसप्रकार दिन, रात्रि, पक्ष, मास आदि के क्रम से सौ वर्ष तक ब्रह्मा की परम आयु है ।

अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ 18 ॥

46 अत्र दैनंदिनसृष्टिप्रलययोरेव वक्तुमुपक्रान्तत्वात्तत्र चाऽऽकाशादीनां सत्त्वादव्यक्तशब्देनाव्याकृतावस्था नोच्यते । किं तु प्रजापते: स्वापावस्थैव । स्वापावस्थ: प्रजापतिरिति यावत् । अहरागमे प्रजापते: प्रबोधसमयेऽव्यक्तात्तत्स्वापावस्थारूपाद् व्यक्तय: शरीरविषयादिरूपा भोगभूमय: प्रभवन्ति व्यवहारक्षमतयाऽभिव्यज्यन्ते । रात्र्यागमे तस्य स्वापकाले पूर्वोक्ता: सर्वा अपि व्यक्तय: प्रलीयन्ते तिरो भवन्ति यत आविर्भूतास्तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके कारणे प्रागुक्ते स्वापावस्थे प्रजापतौ ॥ 18 ॥

47 एवमाशुविनाशित्वेऽपि संसारस्य न निवृत्ति: क्लेशकर्मादिभिरवशतया पुन: पुन: प्रादुर्भावात्प्रादुर्भूतस्य च पुन: क्लेशादिवशेनैव तिरोभावात् । संसारे विपरिवर्तमानानां सर्वेषामपि प्राणिनामस्वातन्त्र्यादवशानामेव जन्ममरणादिदु:खप्रबन्धसंबन्धादलमनेन संसारेणेतिवैराग्योत्पत्त्यर्थं समाननामरूपत्वेन च पुन: पुन: प्रादुर्भावात्कृतनाशाकृताभ्यागमपरिहारार्थं चाऽऽह –

भूतग्राम: स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवश: पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ 19 ॥

[ब्रह्मा के प्रबोधकालरूप दिन के आने पर उसके स्वापावस्थारूप अव्यक्त से ही शरीर, विषय आदि समस्त भोगभूमियाँ अभिव्यक्त -- प्रकट होती हैं और उसकी स्वापकालरूप रात्रि के आने पर उसी अव्यक्तसंज्ञक -- स्वापावस्थ प्रजापति में पूर्वोक्त समस्त व्यक्त भोगभूमियाँ लीन हो जाती हैं ॥ 18 ॥]

46 यहाँ दैनंदिन -- प्रतिदिन ही सृष्टि और प्रलय को कहने का उपक्रम है, उसमें आकाश आदि रहते हैं, अत: यहाँ 'अव्यक्त' शब्द से अव्याकृत अवस्था प्रकृति नहीं कही गई है, अपितु प्रजापति की स्वापावस्था कही गई है अर्थात् प्रजापति स्वापावस्थ है -- यह कहा गया है । दिन आने पर = प्रजापति के प्रबोध के समय उसके स्वापावस्थारूप अव्यक्त से व्यक्तियाँ = शरीर, विषय आदिरूप भोगभूमियाँ उत्पन्न होती हैं अर्थात् व्यवहारयोग्य होने से अभिव्यक्त होती हैं । और रात्रि के आने पर अर्थात् प्रजापति के स्वापकाल में पूर्वोक्त सभी व्यक्तियाँ जिससे आविर्भूत हुई थीं उसी अव्यक्तसंज्ञक कारण में अर्थात् प्रागुक्त स्वापावस्थ प्रजापति में लीन हो जाती हैं -- तिरोहित हो जाती हैं ॥ 18 ॥

47 इसप्रकार आशुविनाशी होने पर भी संसार की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि अविद्यादि क्लेश और कर्मों से अवश -- विवश होने के कारण उसका पुन: पुन: प्रादुर्भाव होता रहता है और प्रादुर्भूत उस संसार का पुन: क्लेशादिवश ही तिरोभाव होता रहता है, तथा संसार में विपरिवर्तमान = चक्कर काटने वाले सभी प्राणियों का अस्वतंत्र होने से विवश का ही जन्म-मरणादिरूप दु:खप्रबन्ध से सम्बन्ध बना रहता है, अत: इस संसार से क्या है ? यह संसार व्यर्थ है-- इसप्रकार वैराग्य उत्पन्न करने के लिए अथवा समान नामरूप होने से पुन: पुन: प्रादुर्भाव होने के कारण कृतनाश और अकृताभ्यागम के परिहार के लिए भगवान् कहते हैं --

[हे पार्थ ! प्रजापति की रात्रि आने पर यह वही भूतसमुदाय अविद्या, वासना, कर्मादिवश उत्पन्न हो-होकर लीन हो जाता है और उसका दिन आने पर पुन: उत्पन्न हो जाता है ॥ 19 ॥]

48 **भूतग्रामो भूतसमुदायः स्थावरजङ्गमलक्षणो यः पूर्वस्मिन्कल्पे स्थितः स एवायमेतस्मिन्कल्पे जायमानोऽपि न तु प्रतिकल्पमन्योऽन्यश्च । असत्कार्यवादानभ्युपगमात् । "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः" इति श्रुतेः ॥ "समाननामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च" इति न्यायाच्च । अवश इत्यविद्याकामकर्मादिपरतन्त्रः । हे पार्थ स्पष्टमितरत् ॥ 19 ॥**

49 **एवमवशानामुत्पत्तिविनाशप्रदर्शनेनाऽऽब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिन इत्येतद्व्याख्यातमधुना मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यत इत्येतद्व्याचष्टे द्वाभ्याम् –**

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ 20 ॥

50 **तस्माच्चराचरस्थूलप्रपञ्चकारणभूताद्धिरण्यगर्भाख्यादव्यक्तात्परो व्यतिरिक्तः श्रेष्ठो वा तस्यापि कारणभूतः । व्यतिरेकेऽपि सालक्षण्यं स्यादिति नेत्याह–अन्योऽत्यन्तविलक्षणः "न तस्य प्रतिमा अस्ति" इति श्रुतेः । अव्यक्तो रूपादिहीनतया चक्षुराद्यगोचरो भावः कल्पितेषु सर्वेषु कार्येषु सद्रूपेणानुगतः । अत एव सनातनो नित्यः । तुशब्दो हेयादनित्यादव्यक्तादुपादेयत्वं नित्यस्या-**

---

48 हे पार्थ ! जो भूतग्राम = स्थावर-जंगमरूप भूतसमुदाय पूर्वकल्प में स्थित -- विद्यमान था वही यह जायमान भी इस कल्प में उत्पन्न होता है, न कि प्रत्येक कल्प में अन्य-अन्य = नवीन-नवीन उत्पन्न होता है, क्योंकि असत्कार्यवाद स्वीकार नहीं है । श्रुति भी कहती है -- 'धाता -- विधाता ने यथापूर्व -- पूर्ववत् सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की रचना की' । इसप्रकार न्याय भी है -- 'समाननामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च' (ब्रह्मसूत्र, 1.3.30) = 'प्रत्येक कल्प में समान नामरूप होने से सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलयरूप आवृत्ति स्वीकार करने में भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ऐसा ही श्रुति और स्मृति दिखलाती हैं' । 'अवशः' -- इससे यह कहा है कि संसार अविद्या, वासना, कर्म आदि के अधीन है । शेष सब स्पष्ट है ॥ 19 ॥

49 इसप्रकार अवश -- पराधीन पुरुषों की उत्पत्ति और विनाश के प्रदर्शन से 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' = 'ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोक पुनरावर्ती हैं' -- इसकी व्याख्या की गई । अब दो श्लोकों से 'मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते' = 'मुझको प्राप्त कर पुनर्जन्म नहीं होता है' -- इसकी व्याख्या कहते हैं --

[तस्मात् = उस हिरण्यगर्भ संज्ञक अव्यक्त से पर -- भिन्न जो अन्य अव्यक्त = चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर सनातन भाव है वह समस्त भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है ॥ 20 ॥]

50 तस्मात् = उस चराचर स्थूल प्रपञ्च के कारणभूत हिरण्यगर्भ संज्ञक अव्यक्त से पर = भिन्न अथवा श्रेष्ठ -- उसका भी कारणभूत, -- व्यतिरेक होने पर भी वह सालक्षण्य = उसी के-से लक्षणोंवाला होगा ? तो कहते हैं, नहीं -- वह अन्य अर्थात् अत्यन्त विलक्षण है, श्रुति भी कहती है 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4.19) = 'उसकी कोई प्रतिमा -- प्रतिमूर्ति नहीं है' । अव्यक्त = रूपादिहीन होने के कारण चक्षुरादि से अगोचर = चक्षुरादि इन्द्रियों का अविषय और भाव = सब कल्पित कार्यों में सद्-रूप से अनुगत, अतएव सनातन -- नित्य है । 'तु' शब्द हेय, अनित्य अव्यक्त से नित्य अव्यक्त की उपादेयता और विलक्षणता सूचित करता है । इसप्रकार का जो भाव

व्यक्तस्य वैलक्षण्यं सूचयति । एतादृशो यो भाव: स हिरण्यगर्भ इव सर्वेषु भूतेषु नश्यत्स्वपि न विनश्यति उत्पद्यमानेष्वपि नोत्पद्यत इत्यर्थ: । हिरण्यगर्भस्य तु कार्यस्य भूताभिमानित्वात्तदुत्पत्तिविनाशाभ्यां युक्तावेवोत्पत्तिविनाशौ न तु तदनभिमानिनोऽकार्यस्य परमेश्वरस्येति भाव: ॥ 20 ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु: परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ 21 ॥

51 **यो भाव इहाव्यक्त इत्यक्षर इति चोक्तोऽन्यत्रापि श्रुतिषु स्मृतिषु च तं भावमाहु: श्रुतय: स्मृतयश्च "पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गति:" इत्याद्या: । परमामुत्पत्तिविनाशशून्य-स्वप्रकाशपरमानन्दरूपां गतिं पुरुषार्थविश्रान्तिम् । यं भावं प्राप्य न पुनर्निवर्तन्ते संसाराय तद्धाम स्वरूपं मम विष्णो: परमं सर्वोत्कृष्टम् । मम धामेति राहो: शिर इतिवद्भेदकल्पनया षष्ठी । अतोऽहमेव परमा गतिरित्यर्थ: ॥ 21 ॥**

52 **इदानीम् -- "अनन्यचेता: सततं यो मां स्मरति नित्यश: । तस्याहं सुलभ:" इति प्रागुक्तं भक्तियोगमेव तत्प्राप्त्युपायमाह --**

है वह हिरण्यगर्भ के समान समस्त भूतों के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता है अर्थात् उनके उत्पन्न होने पर भी उत्पन्न नहीं होता है । कार्यभूत हिरण्यगर्भ तो भूताभिमानी है, अतः उनके उत्पत्ति और विनाश से उसके उत्पत्ति और विनाश उचित ही है; किन्तु अकार्यभूत परमेश्वर भूताभिमानी नहीं है, अत: उसके उत्पत्ति और विनाश नहीं हो सकते -- यह भाव है ॥ 20 ॥

[जिसको 'अव्यक्त' और 'अक्षर' -- इसप्रकार कहा गया है उसी को श्रुति और स्मृतियों ने परम गति कहा है । जिसको प्राप्त होकर मनुष्य पुन: संसार में नहीं लौटता है, वही मेरा परम धाम है ॥ 21 ॥]

51 जिस भाव को यहाँ तथा अन्यत्र -- श्रुति और स्मृतियों में भी 'अव्यक्त' और 'अक्षर' कहा गया है, उसी भाव को 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गति:' (कठोपनिषद्, 3.11) = 'उस पुरुष की अपेक्षा कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, वही काष्ठा है और वही परमगति है' -- इत्यादि श्रुति और स्मृतियों ने परम = उत्पत्ति और विनाश से शून्य, स्वप्रकाश, परमानन्दरूप गति = पुरुषार्थ की विश्रान्ति कहा है । जिस भाव को प्राप्त कर पुन: संसार के लिए नहीं लौटते हैं, वही मुझ विष्णु का परम -- सर्वोत्कृष्ट धाम = स्वरूप है । यहाँ 'मम धाम' = 'मेरा धाम' -- इसमें 'राहो: शिर:' = 'राहु का शिर' -- इस प्रयोग के समान अभेद में भेद की कल्पना से षष्ठी की गई है । अत: तात्पर्य यह है कि मैं ही परम गति हूँ[24] ॥ 21 ॥

52 अब, "जो पुरुष अनन्यचित्त से सतत नित्यश: मुझको स्मरण करता है उसको मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ" -- इसप्रकार पूर्वोक्त भक्तियोग ही भगवत्प्राप्ति का उपाय है, -- यह कहते हैं --

24. यहाँ 'मम धाम' का अर्थ है -- मेरा धाम-स्वरूप । मेरा स्वरूप मुझसे अभिन्न है, तथापि षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से यहाँ भेद की कल्पना की गई है । क्यों ? इसका समाधान यह है कि पौराणिक मत में विष्णु के चक्र से छिन्न दैत्य के देहांश को केतु और शिर को राहु कहा जाता है । राहु स्वयं जबकि शिर ही है तब भी 'राहो: शिर:' = 'राहु का शिर'-- इसप्रकार के प्रयोग से जिस प्रकार औपचारिक भेद की कल्पना करके षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है उसी प्रकार 'मेरा धाम-स्वरूप' और 'मैं' -- अभिन्न है, फिर भी औपचारिक भेद की कल्पना करके यहाँ षष्ठी विभक्ति की गई है । अत: यहाँ भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही परम धाम हूँ और मैं ही परम गति हूँ । मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है । यहाँ इसप्रकार सारूप्य मोक्ष विवक्षित है, सालोक्य नहीं ।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ 22 ॥

53 **स परो निरतिशयः पुरुषः परमात्माऽहमेवानन्यया न विद्यतेऽन्यो विषयो यस्यां तया प्रेमलक्षणया भक्त्यैव लभ्यो नान्यथा । स क इत्यपेक्षायामाह—यस्य पुरुषस्यान्तःस्थान्यन्तर्वर्तीनि भूतानि सर्वाणि कार्याणि कारणान्तर्वर्तित्वात्कार्यस्य । अत एव येन पुरुषेण सर्वमिदं कार्यजातं ततं व्याप्तं —**
"यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्"
"वृक्ष एव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्"
"यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः"
"स पर्यगाच्छुक्रम्" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ॥ 22 ॥

54 **सगुणब्रह्मोपासकास्तत्पदं प्राप्य न निवर्तन्ते किं तु क्रमेण मुच्यन्ते । तत्र तल्लोकभोगात्प्रागनु-**

[हे पार्थ ! वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त करने योग्य है, जिसके भीतर समस्त भूत विद्यमान हैं और जिससे यह सम्पूर्ण प्रपञ्च व्याप्त है ॥ 22 ॥]

53 'वह' पर = निरतिशय पुरुष परमात्मा 'मैं' ही अनन्य = नहीं है अन्य विषय जिसमें उस प्रेमलक्षणा भक्ति[25] से ही लभ्य हूँ, अन्यथा नहीं । 'वह' कौन है ? इस अपेक्षा में कहते हैं – जिस पुरुष के अन्तःस्थ अर्थात् भीतर रहनेवाले समस्त भूत -- कार्य हैं, क्योंकि कार्य कारण के भीतर ही रहता है । अतएव जिस पुरुष से सम्पूर्ण कार्यजात तत -- व्याप्त है । इसमें अनेक श्रुतियाँ प्रमाण हैं, जैसे --

"जिससे पर और कोई नहीं है, जिससे अपर भी कोई नहीं है, जिससे सूक्ष्म या स्थूल कोई नहीं है, वह एक ही वृक्ष की भाँति निश्चल भाव से अपनी द्योतनात्मक महिमा में स्थित है, उस पुरुष से ही सम्पूर्ण कार्यजात व्याप्त है" (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 3.9) ।

"जो कुछ यह सम्पूर्ण जगत् दिखाई या सुनाई देता है, इस सबको भीतर और बाहर से व्याप्त करके नारायण स्थित है ।"

"वह महापुरुष परम तेजोमय (शुक्र) को प्राप्त होता है" (ईशावास्योपनिषद्, 9) -- इत्यादि ॥ 22 ॥

54 सगुण ब्रह्म के उपासक उस पद को अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लौटते नहीं है, किन्तु क्रम से मुक्त हो जाते हैं । उसमें उस लोक के भोगों को भोगने से पूर्व सम्यक्ज्ञान उत्पन्न न होने से उनको वहाँ जाने के लिए मार्ग की अपेक्षा रहती है, सम्यक्ज्ञानियों के समान उपासकों को उसकी अनपेक्षा

---

25. शास्त्र में कहा गया है –

'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥'

अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए जितने उपाय शास्त्रों में कहे गये हैं उनमें से 'भक्ति' ही श्रेष्ठ है । स्व स्वरूपानुसन्धान अर्थात् अपने स्वरूप = आत्मा का अनुसन्धान ही भक्ति है अर्थात् आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानकर उसमें अन्य किसी विषय का चिन्तन न कर केवल आत्मा का ही निरन्तर चिन्तन करने से जो प्रेम का प्रवाह प्रवाहित रहता है वही 'अनन्यभक्ति' है और उस अनन्यभक्ति से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है । यही ज्ञानलक्षणा – प्रेमलक्षणा भक्ति है ।

त्यन्नसम्यग्दर्शनानां तेषां मार्गापेक्षा विद्यते न तु सम्यग्दर्शिनामिव तदनपेक्षेत्युपासकानां तल्लोकप्राप्तये देवयानमार्ग उपदिश्यते। पितृयान(ण)मार्गोपन्यासस्तु तस्य स्तुतये –

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ 23 ॥

55 **प्राणोत्क्रमणानन्तरं यत्र यस्मिन्काले कालाभिमानिदेवतोपलक्षिते मार्गे प्रयाता योगिनो ध्यायिनः कर्मिणश्चानावृत्तिमावृत्तिं च यान्ति । देवयाने पथि प्रयाता ध्यायिनोऽनावृत्तिं यान्ति पितृयाने(णे) पथि प्रयाताश्च कर्मिण आवृत्तिं यान्ति । यद्यपि देवयानेऽपि पथि प्रयाताः पुनरावर्तन्त इत्युक्तम् 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' इत्यत्र, तथाऽपि पितृयाणे पथि गता आवर्तन्त एव न केऽपि तत्र क्रममुक्तिभाजः । देवयाने पथि गतास्तु यद्यपि केचिदावर्तन्ते प्रतीकोपासकास्तडिल्लोकपर्यन्तं गता हिरण्यगर्भपर्यन्तममानवपुरुषनीता अपि पञ्चाग्निविद्याद्युपासका अतत्क्रतवो भोगान्ते निवर्तन्त एव तथाऽपि दहराद्युपासकाः क्रमेण मुच्यन्ते भोगान्त इति न सर्व एवाऽऽवर्तन्ते । अत एव पितृयानः(णः) पन्था नियमेनाऽवृत्तिफलत्वान्निकृष्टः । अयं तु देवयानः पन्था अनावृत्तिफलत्वादतिप्रशस्त इति स्तुतिरुपपद्यते केषांचिदावृत्तावप्यनावृत्तिफलत्वस्यानपायात् ।**

56 **तं देवयानं पितृयाणं च कालं कालाभिमानिदेवतोपलक्षितं मार्गं वक्ष्यामि हे भरतर्षभ ! अत्र**

नहीं होती, अतः उपासकों के लिए उस ब्रह्मलोक की प्राप्ति के उद्देश्य से देवयान मार्ग का उपदेश किया जाता है । यहाँ पितृयान मार्ग का उल्लेख तो उस देवयान मार्ग की स्तुति के लिए है -- [हे भरतर्षभ ! जिस कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग में जानेवाले योगीजन अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं और जिसमें जानेवाले पुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं उस-उस कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग को मैं कहूँगा ॥ 23 ॥]

55 प्राणोत्क्रमण के पश्चात् यत्र = यस्मिन् = जिस काल में अर्थात् तत्कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग में जानेवाले योगी -- ध्यानी और कर्मी पुरुष अनावृत्ति और आवृत्ति को प्राप्त होते हैं । इनमें देवयान मार्ग में जानेवाले ध्यानीजन अनावृत्ति को प्राप्त होते हैं और पितृयान मार्ग में जानेवाले कर्मीजन आवृत्ति को प्राप्त होते हैं । यद्यपि 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' -- इस स्थान पर यह कहा है कि देवयान मार्ग में भी जानेवाले पुनः लौटते हैं, तथापि पितृयान मार्ग में जानेवाले तो लौटते ही हैं वहाँ क्रम से कोई भी मुक्त नहीं होता है । यद्यपि देवयान मार्ग में जानेवाले कोई प्रतीकोपासक तो विद्युल्लोकपर्यन्त जाकर लौटते हैं और कोई पञ्चाग्निविद्या आदि के उपासक, अतत्क्रतु भी अर्थात् जो सगुण ब्रह्म के उपासक भी नहीं होते हैं, अमानव पुरुष द्वारा हिरण्यगर्भलोक पर्यन्त ले जाये जाने पर भी वहाँ का भोग समाप्त होने पर पुनः लौटते ही हैं; तथापि दहरादि के उपासक तो वहाँ का भोग समाप्त होने पर क्रम से मुक्त होते हैं -- इसप्रकार वहाँ से सभी नहीं लौटते हैं । अतएव पितृयान मार्ग नियमेन आवृत्तिफलक होने से निकृष्ट है, किन्तु यह देवयान मार्ग अनावृत्तिफलक होने से अत्यन्त श्रेष्ठ है -- इसप्रकार इसकी स्तुति उचित ही है, क्योंकि किन्हीं-किन्हीं की आवृत्ति होने पर भी अनावृत्तिफलकत्व देवयान मार्ग में है ही ।

56 हे भरतर्षभ ! उस देवयान और पितृयान काल = कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग को मैं कहूँगा । यहाँ 'काल' शब्द का यदि मुख्यार्थ 'समय' ग्रहण करते हैं तो परवर्ती श्लोकों में प्रयुक्त

कालशब्दस्य मुख्यार्थत्वेऽग्निर्ज्योतिर्धूमशब्दानामनुपपत्तिर्गतिसृतिशब्दयोश्चेति तदनुरोधेनैकस्मिन्कालपद एव लक्षणाऽऽश्रिता कालाभिमानिदेवतानां मार्गद्वयेऽपि बाहुल्यात् । अग्निधूमयोस्तदितरयोः सतोरपि अग्निहोत्रशब्दवदेकदेशेनाप्युपलक्षणं कालशब्देन । अन्यथा प्रातरग्निदेवताया अभावात् 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' (मी० द० 1.4.4) इत्यनेन तस्य नामधेयता न स्यात् । आम्रवणमिति च लौकिको दृष्टान्तः ॥ 23 ॥

57 **तत्रोपासकानां देवयानं पन्थानमाह –**

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ 24 ॥

अग्नि, ज्योति और धूम शब्दों की कोई उपपत्ति नहीं होगी तथा गति और सृति शब्दों की भी कोई संगति नहीं होगी । अत: उनके अनुरोध से एक 'काल' पद में ही लक्षणा का आश्रय लिया गया है, क्योंकि दोनों ही मार्गों में कालाभिमानी देवताओं की बहुलता है । अग्नि और धूम -- ये शब्द यद्यपि 'काल' शब्द से भिन्न हैं, तथापि 'अग्निहोत्र' शब्द के समान एकदेश 'काल' शब्द को भी वहाँ उपलक्षण के रूप में ग्रहण करना होगा अर्थात् 'काल' कहने पर काल और काल से भिन्न जो कहा गया है उन सबको ही ग्रहण करना होगा । अन्यथा प्रात:काल में अग्नि देवता के न रहने पर 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' (मीमांसादर्शन, 1.4.4) = 'यद्यपि 'अग्निहोत्र' शब्द का यौगिक अर्थ 'अग्नि देवता के लिए आहुति देना' है, तथापि अन्य शास्त्र द्वारा विधान किया जाने से यहाँ 'अग्नि' शब्द प्रजापति आदि अन्य देवताओं का भी उपलक्षण है, अत: कर्ममात्र का वाचक है' -- इस न्याय से उसका ' अग्निहोत्र' -- यह नाम नहीं होगा[26] । इसमें 'आम्रवन' -- यह लौकिक दृष्टान्त है[27] ॥ 23 ॥

57 उसमें उपासको के देवयान मार्ग को कहते हैं --

[ब्रह्मवेत्ता अर्थात् सगुण ब्रह्म की उपासना करनेवाले पुरुष उस देवयान मार्ग में जाते हुए क्रमशः अर्चिरभिमानी देवता, दिन के अभिमानी देवता, शुक्लपक्ष के अभिमानी देवता और उत्तरायण के छ: महीनों के अभिमानी देवता के लोकों में जाकर ब्रह्मलोक में जाते हैं ॥ 24 ॥]

26. अभिप्राय यह है कि 'अग्निहोत्र' नामक यज्ञ में सायंकाल और प्रात:काल के होम की जो विधि है उसमें सायंकालीन होम 'अग्नि' देवता के उद्देश्य से किया जाता है और प्रात:कालीन होम अग्नि देवता के स्थान पर 'सूर्य' देवता के उद्देश्य से ही करने का विधान है, इसी प्रकार इस यज्ञ में सायं और प्रात: 'प्रजापति' को भी आहुति दी जाती है । इसप्रकार 'अग्निहोत्र' शब्द का एकदेश ' अग्नि' शब्द अग्नि और अग्नि से भिन्न सूर्य आदि देवता का भी उपलक्षण है । यदि यहाँ 'अग्नि' शब्द का यौगिक अर्थ 'अग्नि' ही ग्रहण करते हैं तो वहीं प्रात:काल में अग्नि देवता के रहने पर उसका 'अग्निहोत्र' नाम ही नहीं होगा, क्योंकि वहाँ प्रात:कालीन हवि सूर्य देवता को देने का विधान है । अत: 'अग्निहोत्र' शब्द का एकदेश 'अग्नि' शब्द जिस प्रकार सूर्यादि देवता का भी उपलक्षण है उसी प्रकार प्रकृत में एकदेश 'काल' शब्द काल से भिन्न अग्नि, ज्योति, धूम आदि का भी उपलक्षण है ।

27. उक्त दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि जहाँ जिसकी संख्या अधिक होती है वहाँ उसके नाम से ही परिचय दिया जाता है । जिस प्रकार किसी एक वन में आम्र के वृक्ष के अतिरिक्त अन्य वृक्ष रहने पर भी वहाँ आम्र के वृक्षों की अधिक संख्या होने से वन को 'आम्रवन' ही कहा जाता है, उसी प्रकार प्रकृत स्थल में देवयान और पितृयान मार्ग के सम्बन्ध में श्रुति में कालवाचक शब्द की अर्थात् कालाभिमानी देवता शब्द की बहुलता रहने के कारण 'काल' शब्द का प्रयोग हुआ है तथापि अग्नि, धूम आदि का भी 'काल' शब्द से ही निर्देश किया गया है ।

58 **अग्निर्ज्योतिरित्यर्चिरभिमानिनी देवता लक्ष्यते, अहरित्यहरभिमानिनी, शुक्लपक्ष इति शुक्लपक्षाभिमानिनी, षण्मासा उत्तरायणमिति उत्तरायणरूपषण्मासाभिमानिनी देवतैव लक्ष्यते 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० 4.3.4) इति न्यायात् । एतच्चान्यासामपि श्रुत्युक्तानां देवतानामुपलक्षणार्थम् । तथा च श्रुतिः – 'तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाण-पक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते' इति । अत्र श्रुत्यन्तरानुसारात्संवत्सरानन्तरं देवलोकदेवता ततो वायुदेवता तत आदित्य इत्याकरे निर्णीतम् । एवं विद्युतोऽनन्तरं वरुणेन्द्रप्रजापतयस्तावता मार्गपर्वपूर्तिः । तत्रार्चिरहःशुक्लपक्षोत्तरायणदेवता इहोक्ताः । संवत्सरो देवलोको वायुरादित्य-श्चन्द्रमा विद्युद्वरुण इन्द्रः प्रजापतिश्चेत्यनुक्ता अपि द्रष्टव्याः । तत्र देवयानमार्गे प्रयाता गच्छन्ति**

---

58 'अग्निः' और 'ज्योतिः' शब्दों से अर्चिरभिमानी देवता लक्षित होता है, 'अहः' शब्द से दिन का अभिमानी देवता लक्षित होता है। 'शुक्लपक्षः' से शुक्लपक्षाभिमानी देवता और 'षण्मासा उत्तरायणम्'-- इससे उत्तरायणरूप छः महीनों का अभिमानी देवता ही लक्षित होता है। जैसे कि सूत्रोक्त न्याय है-- 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.3.4) = 'अर्चिरादि शब्दों से अतिवाहिक चेतन देवता ग्रहण करने चाहिए, क्योंकि श्रुति में ऐसा प्रमाण है'। यह अन्य श्रुतियों में उक्त देवताओं का उपलक्षण कराने के लिए भी है। इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'वे अर्चिरभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिन के अभिमानी देवता को, दिन से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को, शुक्लपक्ष से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तरायण रहता है उनके अभिमानी देवता को, उन मासाभिमानी देवताओं से संवत्सराभिमानी देवता को, संवत्सर से आदित्यलोक के अभिमानी देवता को, आदित्य से चन्द्रलोक के अभिमानी देवता को और चन्द्रलोक से विद्युल्लोकाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। वहाँ से एक अमानव पुरुष इसको ब्रह्मलोक में ले जाता है -- यह देवयान मार्ग है' (छान्दोग्योपनिषद्, 5.10.1-2), 'यह ब्रह्ममार्ग है, इस मार्ग से जानेवाले जीव इस मानवलोक में पुनः नहीं लौटते हैं-- नहीं लौटते हैं' (छान्दोग्योपनिषद्, 4.15.5) इत्यादि। यहाँ दूसरी श्रुतियों के अनुसार 'संवत्सर के अनन्तर देवलोक देवता, तदनन्तर वायु देवता, तदनन्तर आदित्य'- ऐसा आकरग्रन्थ अर्थात् भाष्य में निर्णय किया है। इसीप्रकार 'विद्युत् के अनन्तर वरुण, इन्द्र और प्रजापति हैं' -- इनसे ही यह मार्ग पूर्ण होता है। उनमें अर्चिः, अहः, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के देवता तो यहाँ कहे ही गये हैं। संवत्सर, देवलोक, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत्, वरुण, इन्द्र और प्रजापति नहीं कहे गये हैं, अतः उनको भी समझ लेना चाहिए। इनमें देवयान मार्ग से जानेवाले कार्योपाधिक ब्रह्म[28] को प्राप्त होते हैं, जैसा कि न्याय है --

---

28. यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'ब्रह्म' का मुख्यार्थ तो परब्रह्म है, अतः सम्यक्ज्ञानी ब्रह्मवित् तो देवयान मार्ग से परब्रह्म को प्राप्त होते हैं, कार्योपाधिक ब्रह्म को नहीं, तो इसका समाधान यह है कि जो सम्यक्ज्ञानी ब्रह्मवित् अर्थात् तत्त्वज्ञान में निष्ठावाले हैं वे सद्योमुक्ति को प्राप्त होते हैं, अतः उनकी कहीं भी गति नहीं होती है, क्योंकि श्रुति कहती है – 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.6) = 'उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं'। किन्तु जो पुरुष सगुणब्रह्मोपासक हैं वे ही उपासना के फलरूप से अग्नि आदि अतिवाहिक देवताओं के द्वारा अधिष्ठित देवयान मार्ग का आश्रय कर क्रम से निर्विशेष -- निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। वे पहले कार्योपाधिक ब्रह्म को प्राप्त होते हैं और उसके द्वारा ही निरुपाधिक ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। प्रकृत श्लोक में सगुणब्रह्मोपासक ब्रह्मवित् का ही प्रसंग है, अतः उक्त शंका का निरस्त होती है।

ब्रह्म कार्योपाधिकं 'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः' इति न्यायात् । निरुपाधिकं तु ब्रह्म तद्द्वारैव क्रममुक्तिफलत्वात् । ब्रह्मविदः सगुणब्रह्मोपासका जनाः । अत्र 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते' इति श्रुताविममिति विशेषणात्कल्पान्तरे केचिदावर्तन्त इति प्रतीयते । अत एवात्र भगवतोदासितं श्रौतमार्गकथनेनैव व्याख्यानात् ॥ 24 ॥

59 **देवयानमार्गस्तुत्यर्थं पितृयाणमार्गमाह --**

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ 25 ॥

60 **अत्रापि धूम इति धूमाभिमानिनी देवता, रात्रिरिति रात्र्यभिमानिनी, कृष्ण इति कृष्णपक्षाभिमानिनी, षण्मासा दक्षिणायनमिति दक्षिणायनाभिमानिनी लक्ष्यते एतदप्यन्यासां श्रुत्युक्तानामुपलक्षणम् । तथाहि श्रुतिः -- 'ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति तस्मिन्यावत्सं-**

'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्ते :' (ब्रह्मसूत्र , 4.3.7) = 'वह अमानव पुरुष इन उपासकों को सगुण अपर कार्य-ब्रह्म की ही प्राप्ति कराता है, क्योंकि कार्यब्रह्म सम्बन्धी गति की उपपत्ति है -- ऐसा आचार्य बादरि का मत है' । निरुपाधिक ब्रह्मप्राप्ति तो उसके द्वारा ही होती है, क्योंकि वह क्रममुक्तिफलक है । ब्रह्मवित्-- सगुण ब्रह्म के उपासक पुरुष हैं । यहाँ 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽवर्तन्ते' -- इस पूर्वोक्त श्रुति में 'इमम्' -- इस विशेषण से यह प्रतीत होता है कि कोई-कोई कल्पान्तर में लौट आते हैं । अतएव यहाँ भगवान् उदासीन रहे हैं, क्योंकि श्रौतमार्ग कथन से ही व्याख्यान हुआ है ॥ 24 ॥

59 देवयान मार्ग की स्तुति के लिए पितृयान मार्ग को कहते हैं --
|कर्मयोगी धूमाभिमानी देवता, रात्रि के अभिमानी देवता, कृष्णपक्षाभिमानी देवता, दक्षिणायन के छः महीनों के अभिमानी देवता से उपलक्षित पितृयान मार्ग में जाकर, वहाँ चान्द्रमस ज्योतिरूप फल को प्राप्त होकर पुनः इस संसार में लौट आते हैं ॥ 25 ॥

60 यहाँ भी पूर्व श्लोक के समान 'धूम' से धूमाभिमानी देवता, 'रात्रि' से रात्रि के अभिमानी देवता, 'कृष्ण' से कृष्णपक्षाभिमानी देवता, 'षण्मासा दक्षिणायनम्' से दक्षिणायन के छः महीनों के देवता लक्षित होते हैं । यह भी अन्य श्रुतियों में उक्त देवताओं का उपलक्षण है । इसीप्रकार श्रुति है -- 'वे धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष के अभिमानी देवता को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के छः महीनों के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, ये मासाभिमानी देवताओं से संवत्सर के अभिमानी देवता को प्राप्त नहीं होते हैं । वे दक्षिणायन के छः मासों के अभिमानी देवताओं से पितृलोक को प्राप्त होते हैं, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं । यह सोम राजा है, वह देवताओं का अन्न है, उसका देवता भक्षण करते हैं । जब तक यहाँ से पतन न हो तबतक वहाँ रहकर वे पुनः उसी मार्ग से लौट आते हैं' (छान्दोग्योपनिषद्, 5.10.3;4,5) इत्यादि । उसमें धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के अभिमानी देवताओं को तो यहाँ कहा ही गया है । पितृलोक, आकाश और चन्द्रमा -- इनको नहीं कहा गया है, फिर भी इन-

पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' इति । तत्र धूमरात्रिकृष्णपक्षदक्षिणायनदेवता इहोक्ताः । पितृलोक आकाशश्चन्द्रमा इत्यनुक्ता अपि द्रष्टव्याः । तत्र तस्मिन्पथि प्रयाताश्चान्द्रमसं ज्योतिः फलं योगी कर्मयोगीष्टापूर्तदत्तकारी प्राप्य यावत्संपातमुषित्वा निवर्तते । संपतत्यनेनेति संपातः कर्म । तस्मादेतस्मादावृत्तिमार्गादनावृत्तिमार्गः श्रेयानित्यर्थः ॥ 25 ॥

61 उक्तौ मार्गावुपसंहरति –

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ 26 ॥

62 शुक्लाऽर्चिरादिगतिर्ज्ञानप्रकाशमयत्वात् । कृष्णा धूमादिगतिर्ज्ञानहीनत्वेन तमोमयत्वात् । ते एते शुक्लकृष्णे गती मार्गौ हि प्रसिद्धे सगुणविद्याकर्माधिकारिणोः, जगतः सर्वस्यापि शास्त्रज्ञस्य शाश्वते अनादी मते संसारस्यानादित्वात् । तयोरेकया शुक्लया यात्यनावृत्तिं कश्चित्, अन्यया कृष्णया पुनरावर्तते सर्वोऽपि ॥ 26 ॥

63 गतेरुपास्यत्वाय तद्विज्ञानं स्तौति –

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ 27 ॥

को श्रुति के अनुसार समझ लेना चाहिए । तत्र = वहाँ अर्थात् उस पितृयान मार्ग में जानेवाले योगी = इष्ट, पूर्त्त और दान कर्म करनेवाले कर्मयोगी चान्द्रमस ज्योतिरूप फल प्राप्त कर उस कर्म का क्षय होने तक वहाँ रहकर पुन: लौट आते हैं । 'संपतति -- सम्यक् पतति अनेन इति संपातः कर्म' = जिससे सम्यक्रूपेण पतित होता है वह संपात अर्थात् कर्म है । अतः इस आवृत्तिमार्ग = पितृयानमार्ग से अनावृत्ति मार्ग -- देवयान मार्ग श्रेष्ठ है -- यह अभिप्राय है ॥ 25 ॥

61 उक्त दोनों मार्गों का उपसंहार करते हैं --
[जगत् के शुक्ल और कृष्ण -- ये दो मार्ग शाश्वत -- अनादि माने गये हैं । इनमें से एक -- शुक्ल से अनावृत्ति -- अपुनरावृत्ति को प्राप्त होता है और अन्य -- कृष्ण से पुन: आवृत्ति को प्राप्त होता है अर्थात् पुन: लौट आता है ॥ 26 ॥]

62 अर्चिरादि गति ज्ञान और प्रकाशमयी होने से 'शुक्ल' है । धूमादि गति ज्ञानहीन होने से तमोमयी है अतएव 'कृष्ण' है । सगुणविद्या -- सगुणोपासना करनेवालों के लिए शुक्ल गति-मार्ग है और कर्माधिकारियों के लिए कृष्ण गति-मार्ग है -- यह प्रसिद्ध है । यहाँ 'हि' शब्द 'प्रसिद्ध' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । शुक्ल और कृष्ण -- ये दोनों मार्ग जगत् के सभी शास्त्रज्ञों द्वारा शाश्वत -- अनादि माने गए हैं, क्योंकि संसार अनादि है । इन दोनों मार्गों में से एक अर्थात् शुक्लमार्ग से कोई-कोई पुरुष अनावृत्ति को प्राप्त होता है और अन्य अर्थात् कृष्णमार्ग से सभी पुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् पुन: लौट आते हैं ॥ 26 ॥

63 गति-मार्ग की उपास्यता के लिए उन दोनों मार्गों के विज्ञान -- विशेष ज्ञान की स्तुति करते हैं --
[हे पार्थ ! इन दोनों मार्गों को तत्त्व से जानता हुआ कोई भी योगी मोहित नहीं होता है, इसलिए हे अर्जुन ! तुम सब काल में समत्वबुद्धिरूप योग से युक्त होओ ॥ 27 ॥]

64 एते सृती मार्गौ हे पार्थ जनन्क्रममोक्षायैका पुनः संसारायापरेति निश्चिन्वन्योगी ध्याननिष्ठो न मुह्यति केवलं कर्म धूमादिमार्गप्रापकं कर्तव्यत्वेन न प्रत्येति कश्चन कश्चिदपि । तस्माद्योगस्यापुनरावृत्तिफलत्वात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः समाहितचित्तो भवापुनरावृत्तये हेऽर्जुन ॥ 27 ॥

65 पुनः श्रद्धावृद्ध्यर्थं योगं स्तौति –

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाऽऽद्यम् ॥ 28॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽक्षरपरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ 8 ॥

66 वेदेषु दर्भपवित्रपाणित्वप्राङ्मुखत्वगुर्वधीनत्वादिभिः सम्यगधीतेषु, यज्ञेष्वङ्गोपाङ्गसाहित्येन श्रद्धया सम्यगनुष्ठितेषु, तपःसु शास्त्रोक्तेषु मनोबुद्ध्याद्यैकाग्र्येण श्रद्धया सुतप्तेषु,दानेषु तुलापुरुषादिषु देशे काले पात्रे च श्रद्धया सम्यग्दत्तेषु यत्पुण्यफलं पुण्यस्य धर्मस्य फलं स्वर्गस्वाराज्यादि प्रदिष्टं

---

64 हे पार्थ ! इन दोनों सृतियों -- मार्गों को तत्त्व से जानता हुआ = 'इनमें से एक -- शुक्लमार्ग क्रममोक्ष के लिए है और अपर -- कृष्णमार्ग पुन: संसार के लिए है' -- यह निश्चय करता हुआ कोई भी योगी = ध्याननिष्ठ पुरुष मोहित नहीं होता है अर्थात् धूमादि मार्ग की प्राप्ति करानेवाले केवल कर्म को अपने कर्त्तव्यरूप से स्वीकार नहीं करता है । इसलिए हे अर्जुन ! योग का फल अपुनरावृत्ति है, अत: तुम अपुनरावृत्ति के लिए सब काल में योगयुक्त = समाहितचित्त होओ ॥ 27 ॥

65 पुन: श्रद्धावृद्धि के लिए योग की स्तुति करते हैं --
[योगी पुरुष इस उपासना क्रम को जानकर वेद, यज्ञ, तप और दान में जो पुण्यफल कहा गया है उस सबका अतिक्रमण करता है और सबके कारणरूप सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त होता है ॥ 28 ॥]

66 वेदों में = हाथ में दर्भ के पवित्रक बाँधकर, पूर्व की ओर मुख कर, गुरु के अधीन रहकर इत्यादि नियमों का पालन कर सम्यक् प्रकार से अध्ययन किये हुए वेदों में; यज्ञों में = अंग और उपांगों सहित श्रद्धापूर्वक सम्यक् रीति से अनुष्ठित यज्ञों में; तपों में = मन, बुद्धि आदि की एकाग्रता तथा श्रद्धा से सु-अनुष्ठित शास्त्रोक्त तपों में; दानों में = देश, काल और पात्र के अनुसार श्रद्धापूर्वक सम्यक् प्रकार से दिये हुए तुलापुरुष[29] आदि दानों में शास्त्र ने जो पुण्यफल = पुण्य -- धर्म के फल -- स्वर्ग, स्वराज्य आदि कहे हैं उस सबका योगी = ध्याननिष्ठ पुरुष इस पूर्वोक्त सात[30] प्रश्नों

---

29. दस या सोलह 'महादान' हैं । इनमें स्वर्णदान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । इसके पश्चात् भूमि, आवास, ग्राम दान आदि का क्रमश: स्थान है । स्वर्णदान सबसे मूल्यवान् होने से उत्तम माना गया है । इसके अन्तर्गत 'तुलापुरुषदान' या 'तुलादान' है । इसमें सर्वाधिक दान देनेवाला पुरुष तुला के एक पलड़े में बैठकर दूसरे पलड़े में समान भार का स्वर्ण रख कर उसको ब्राह्मणों में दान करता है ।

30. श्रीधर स्वामी ने अष्टम अध्याय में आठ प्रश्नों का अर्थनिर्णय स्वीकार किया है । आनन्दगिरि का कहना है कि यद्यपि अष्टम अध्याय के प्रथम दो श्लोकों में आठ प्रश्न किये गये हैं उनमें से 'किं तद्ब्रह्म ?' और 'अधियज्ञ: कथं कोऽत्र ?' -- कहने में ये दो पृथक् प्रश्न किए गए हैं – ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु उक्त दोनों प्रश्नों का प्रतिपाद्य एक ही है, अत: यथार्थरूप से प्रश्न सात ही है, आठ नहीं हैं । यही मधुसूदन सरस्वती स्वीकार करते हैं ।

शास्त्रेण, अत्येत्यतिक्रामति तत्सर्वमिदं पूर्वोक्तसप्तप्रश्ननिरूपणद्वारेणोक्तं विदित्वा सम्यगनुष्ठानपर्यन्तमवधार्यानुष्ठाय च योगी ध्याननिष्ठः । न केवलं तदतिक्रामति परं सर्वोत्कृष्टमैश्वरं स्थानमाद्यं सर्वकारणमुपैति च प्रतिपद्यते च सर्वकारणं ब्रह्मैव प्राप्नोतीत्यर्थः । तदनेनाध्यायेन ध्येयत्वेन तत्पदार्थो व्याख्यातः ॥ 28 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसर-स्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामधिकारिभेदेनाक्षर-परब्रह्मविवरणं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ 8 ॥

के निरूपण द्वारा उक्त विषय को जानकर = सम्यक् अनुष्ठान पर्यन्त समझकर और अनुष्ठान कर अतिक्रमण करता है[31] । वह योगी केवल उस सब फल का अतिक्रमण ही नहीं करता है, अपितु परम-- सर्वोत्कृष्ट आद्य -- सर्वकारण ईश्वरीय स्थान को प्राप्त होता है अर्थात् सर्वकारण ब्रह्म को ही प्राप्त होता है । इसप्रकार इस अध्याय से ध्येयरूप 'तत्' पदार्थ की व्याख्या की गई है ॥ 28 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-विश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य श्रीमधुसूदन-सरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का अक्षरपरब्रह्मयोग नामक अष्टम अध्याय समाप्त होता है ।

---

31. अभिप्राय यह है कि वेदाध्ययन, यज्ञादि कर्म, तप, दान आदि कर्मों का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करने पर पुण्यों का उदय होता है और उनके फलरूप से सुखकर स्वर्गादि की प्राप्ति होती है, किन्तु उक्त कर्मों का फल नित्य और निरतिशय नहीं होता है, अतः उन कर्मों से मुक्ति प्राप्त करना सम्भव नहीं है । 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता, 9.21) अर्थात् पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में लौटना होता है, इसीलिए योगी सभी पुण्यफल का अतिक्रमण करते है अर्थात् पुण्य का फल जो अनित्य जागतिक या पारलौकिक स्वर्गादिसुख है उसको भोगने की इच्छा नहीं करते हैं, किन्तु ध्याननिष्ठ हो नित्य, शाश्वत, निरतिशय, परमानन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं । यदि निर्गुण ब्रह्म में ध्याननिष्ठ होकर इसी जीवन में आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं तो उसके फलस्वरूप सद्योमुक्ति को प्राप्त होते हैं, और यदि सगुण ब्रह्म की उपासना में रत रहते हैं तो क्रममुक्ति लाभ करते हैं । सद्योमुक्ति प्राप्त हो या क्रममुक्ति प्राप्त हो जो योगी परमात्मा या ईश्वर में योग से उनके साथ सदा ही युक्त रहने के लिए प्रयत्न करते हैं, उनको पुनः संसार में लौटना नहीं होता है, यह निश्चित है ।

अथ नवमोऽध्यायः

1 **पूर्वाध्याये मूर्धन्यनाडीद्वारकेण हृदयकण्ठभ्रूमध्यादिधारणासहितेन सर्वेन्द्रियद्वारसंयमगुणकेन योगेन स्वेच्छयोत्क्रान्तप्राणस्यार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्रयातस्य तत्र सम्यग्ज्ञानोदयेन कल्पान्ते परब्रह्मप्राप्तिलक्षणा क्रममुक्तिर्व्याख्याता । तत्र चानेनैव प्रकारेण मुक्तिर्लभ्यते नान्यथेत्याशङ्क्य –**

'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः'

इत्यादिना भगवत्तत्त्वविज्ञानात्साक्षान्मोक्षप्राप्तिरभिहिता । तत्र चानन्या भक्तिरसाधारणो हेतुरित्युक्तं 'पुरुषः स परः पार्थ भाक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' इति । तत्र पूर्वोक्तयोगधारणापूर्वक-प्राणोत्क्रमणार्चिरादिमार्गगमनकालविलम्बादिक्लेशमन्तरेणैव साक्षान्मोक्षप्राप्तये भगवत्तत्वस्य तद्भक्तेश्च विस्तरेण ज्ञापनाय नवमोऽध्याय आरभ्यते । अष्टमे ध्येयब्रह्मनिरूपणेन तद्ध्याननिष्ठस्य गतिरुक्ता । नवमे तु ज्ञेयब्रह्मनिरूपणेन ज्ञाननिष्ठस्य गतिरुच्यत इति संक्षेपः । तत्र वक्ष्यमाणज्ञानस्तुत्यर्थांस्त्रीञ्श्लोकान् –

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ 1 ॥

---

1 पूर्व अध्याय में मूर्धन्य -- मूर्धा में स्थित सुषुम्ना नाडी द्वारा हृदय, कण्ठ, दोनों भ्रुकुटियों के मध्य आदि में धारणा सहित समस्त इन्द्रियद्वारों के संयमरूप गुणवाले योग से स्वेच्छया उत्क्रान्त त्यक्त प्राणवाले अतएव अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक को गये हुए -- प्राप्त हुए योगी की वहाँ सम्यग्ज्ञान -- तत्त्वज्ञान का उदय होने से कल्पान्त में परब्रह्म की प्राप्तिरूप क्रममुक्ति की व्याख्या की गई है । उसमें 'इसी प्रकार से मुक्ति-लाभ होता है, अन्यथा नहीं' -- यह आशंका कर --

'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः' (गीता, 8.14)

इत्यादि श्लोक से जो भगवान् का सतत जीवनपर्यन्त स्मरण करता है उसको भगवत्तत्वज्ञान से मोक्ष की साक्षात् प्राप्ति कही गई है । उसमें अनन्या भक्ति असाधारण हेतु है -- यह 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' (गीता, 8.22) = 'हे पार्थ ! वह परम पुरुष अनन्या भक्ति से लभ्य है' -- इससे कहा है । इसमें पूर्वोक्त योगधारणापूर्वक प्राणोत्क्रमण, अर्चिरादिमार्गगमनरूप कालविलम्ब आदि क्लेश के बिना ही साक्षात् मोक्षप्राप्ति के लिए भगवान् के तत्त्व और उनकी भक्ति का विस्तार से ज्ञान कराने के लिए नवम अध्याय आरम्भ किया जाता है । अष्टम अध्याय में ध्येय ब्रह्म के निरूपण द्वारा उसके ध्याननिष्ठ पुरुष की गति कही गई है । नवम अध्याय में तो ज्ञेय ब्रह्म के निरूपण द्वारा उसके ज्ञाननिष्ठ पुरुष की गति कही जाती है -- यह संक्षेप में अर्थ है । इसमें वक्ष्यमाण ज्ञान की स्तुति के लिए भगवान् तीन श्लोकों को कहते हैं --

[श्रीभगवान् ने कहा -- हे अर्जुन ! मैं अनसूयु -- असूयारहित अर्थात् गुणों में दोषदृष्टि न करनेवाले तुमको यह ब्रह्मानुभवपर्यन्त अत्यन्त गुह्य -- गोपनीय ज्ञान कहूँगा, जिसको जानकर तुम संसाररूप अशुभ से मुक्त हो जाओगे ॥ 1 ॥]

2 इदं प्राग्बहुधोक्तमग्रे च वक्ष्यमाणमधुनोच्यमानं ज्ञानं शब्दप्रमाणकं ब्रह्मतत्त्वविषयकं ते तुभ्यं प्रवक्ष्यामि । तुशब्दः पूर्वाध्यायोक्ताद्ध्यानाज्ज्ञानस्य वैलक्षण्यमाह । इदमेव सम्यग्ज्ञानं साक्षान्मोक्षप्राप्तिसाधनं न तु ध्यानं तस्याज्ञानानिवर्तकत्वात् । तत्त्वन्तःकरणशुद्धिद्वारेदमेव ज्ञानं संपाद्य क्रमेण मोक्षं जनयतीत्युक्तम् ।

3 कीदृशं ज्ञानं गुह्यतमं गोपनीयतममतिरहस्यत्वात् । यतो विज्ञानसहितं ब्रह्मानुभवपर्यन्तम् । ईदृशमतिरहस्यमप्यहं शिष्यगुणाधिक्याद्वक्ष्यामि तुभ्यमनसूयवे । असूया गुणेषु दोषदृष्टिस्तदाविष्करणादिफला । सर्वदाऽयमात्मैश्वर्यख्यापनेनाऽऽत्मानं प्रशंसति मत्पुरस्तादित्येवंरूपा तद्रहिताय । अनेनाऽऽर्जवसंयमावपि शिष्यगुणौ व्याख्यातौ । पुनः कीदृशं ज्ञानं यज्ज्ञात्वा प्राप्य मोक्ष्यसे सद्य एव संसारबन्धनादशुभात्सर्वदुःखहेतोः ॥ 1 ॥

4 पुनस्तदाभिमुख्याय तज्ज्ञानं स्तौति --

---

2 यह पहले बहुधा कहा गया है और आगे भी कहेंगे, इस समय उच्यमान -- कथ्यमान शब्दप्रमाणक ब्रह्मतत्त्वविषयक ज्ञान मैं तुमको कहूँगा । 'तु' शब्द से पूर्व अध्याय में कहे गये ध्यान से ज्ञान की विलक्षणता कहते हैं । यह सम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्षप्राप्ति का साधन है, ध्यान नहीं, क्योंकि वह ध्यान अज्ञान का निवर्तक नहीं होता है[1] । वह ध्यान तो अन्तःकरणशुद्धि द्वारा इसी ज्ञान का सम्पादन कर क्रम से मोक्ष उत्पन्न करता है -- यह कहा गया है ।

3 भगवान् कैसा ज्ञान कहेंगे ? जो गुह्यतम -- अत्यन्त गोपनीय है, क्योंकि अत्यन्त रहस्यमय है और जिस कारण विज्ञानसहित है अर्थात् ब्रह्मानुभवपर्यन्त है । ऐसा अत्यन्त रहस्यमय ज्ञान भी मैं शिष्य के गुणों की अधिकता से अनसूयु -- असूयारहित तुमको कहूँगा । गुणों में दोषदृष्टि करना 'असूया[2]' है, 'यह सर्वदा मेरे सामने अपने ऐश्वर्य के ख्यापन -- स्थापन से अपनी प्रशंसा करता है' -- इस प्रकार दोषाविष्करण -- दोषान्वेषण आदि जिसका फल है उस असूया से रहित तुमको यह ज्ञान मैं कहूँगा । इससे आर्जव और संयमरूप शिष्य के अन्य दो गुणों की भी व्याख्या हो जाती है[3] । फिर वह ज्ञान कैसा है ? जिसको जानकर -- प्राप्तकर तुम शीघ्र ही संसारबन्धनरूप अशुभ -- समस्त दुःखों के हेतु से मुक्त हो जाओगे -- ऐसा ज्ञान तुमको मैं कहूँगा ॥ 1 ॥

4 पुनः अर्जुन को अभिमुख -- आकर्षित करने के लिए उस ज्ञान की स्तुति करते हैं :--

---

1. यद्यपि ज्ञान और ध्यान में कोई विरोध नहीं है, तथापि ज्ञान की ध्यान से विलक्षणता है । सम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्षप्राप्ति का साधन है, ध्यान नहीं, क्योंकि ज्ञान अज्ञान का निवर्तक होता है, किन्तु ध्यान अज्ञान का निवर्तक नहीं होता है । कारण कि ज्ञान वस्तुतन्त्र है, जो विषय होने पर ही होता है, अन्यथा नहीं, किन्तु ध्यान पुरुषतन्त्र है, जो विषय का बाध होने पर भी पुरुष की इच्छावश होता है, अतः ज्ञान और ध्यान में विरोध न होने से निवर्त्य -- निवर्तनभाव नहीं होता है ।

2. 'असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि' (अमरकोश, 1.7.24) = 'औद्धत्य से किसी के गुणविषयक कार्य में भी दोष निकालना 'असूया' है । यहाँ 'असूया' शब्द से काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि का उपलक्षण भी सूचित किया गया है ।

3. अभिप्राय यह है कि 'असूया' स्वभाव जिसमें रहता है उसमें आर्जव -- ऋजुता -- सरलता या धैर्य और संयम का अभाव रहता है, अतः असूयायुक्त पुरुष कभी भी शिष्य होकर गुरु से गोपनीय तत्त्व को ग्रहण करने का अधिकारी नहीं होता है । किन्तु जिसमें 'असूया' स्वभाव नहीं रहता है उसमें आर्जव और संयम भी रहता है, अतः असूयाशून्य पुरुष ही शिष्य के गुणों से युक्त होने से गुरु द्वारा गोपनीय तत्त्व को ग्रहण करने का अधिकारी होता है । इसी से प्रकृत में कहा है कि अनसूयु -- असूयारहित होने से शिष्य के आर्जव और संयम -- इन अन्य दो गुणों की भी व्याख्या हो जाती है ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ 2 ॥

5 **राजविद्या सर्वासां विद्यानां राजा सर्वाविद्यानाशकत्वात्, विद्यान्तरस्याविद्यैकदेशविरोधित्वात् । तथा राजगुह्यं सर्वेषां गुह्यानां राजा, अनेकजन्मकृतसुकृतसाध्यत्वेन बहुभिरज्ञातत्वात् । राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः । पवित्रमिदमुत्तमं, प्रायश्चित्तैर्हि किंचिदेकमेव पापं निवर्त्यते । निवृत्तं च तत्स्वकारणे सूक्ष्मरूपेण तिष्ठत्येव । यतः पुनस्तत्पापमुपचिनोति पुरुषः । इदं तु अनेकजन्मसहस्रसंचितानां सर्वेषामपि पापानां स्थूलसूक्ष्मावस्थानां तत्कारणस्य चाज्ञानस्य सद्य एवोच्छेदकम् । अतः सर्वोत्तमं पावनमिदमेव । न चातीन्द्रिये धर्म इवात्र कस्यचित्संदेहः स्वरूपतः फलतश्च प्रत्यक्षत्वादित्याह -- प्रत्यक्षावगममवगम्यतेऽनेनेत्यवगमो मानमवगम्यते प्राप्यत इत्यव-**

[यह ज्ञान राजविद्या = विद्याओं का राजा, राजगुह्य = गोपनीयों का भी राजा, अति पवित्र, सर्वोत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, अनेक जन्मों में सञ्चित हुए निष्काम धर्म का फल है, करने में अत्यन्त सुगम और अविनाशी फल प्रदान करनेवाला है ॥ 2 ॥]

5 यह ज्ञान राजविद्या = समस्त विद्याओं का राजा है, क्योंकि यह सब प्रकार की अविद्या का नाशक है, इससे भिन्न जो अन्य विद्याएँ हैं वे तो अविद्या के एकदेश अर्थात् एक-एक देश की ही विरोधी या निवर्तक होती हैं । तथा राजगुह्य = समस्त गोपनीयों का राजा है, क्योंकि यह अनेक जन्मों में किये हुए पुण्यों से साध्य-प्राप्य होने से बहुतों को अज्ञात है । 'राजदन्तादिषु परम्' (पाणिनिसूत्र, **2.2.31) = 'राजदन्त आदि शब्दों में जिस शब्द की 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' (पाणिनिसूत्र,** 1.2.43) = 'समासशास्त्र में प्रथमा --प्रथमान्त पद से निर्दिष्ट पद उपसर्जनसंज्ञक होता है' -- इस सूत्र के अनुसार उपसर्जन संज्ञा होने से 'उपसर्जनं पूर्वम्' (पाणिनिसूत्र, 2.2.30) -- 'उपसर्जनसंज्ञक पद का पूर्वनिपात होता है' -- इस सूत्र के अनुसार पूर्वनिपात प्राप्त हो, उस उपसर्जनसंज्ञक शब्द का परनिपात होता है' -- जैसे, -- राजदन्तः = दन्तानां राजा=इस विग्रह में 'षष्ठी' (पाणिनिसूत्र, 2.2.8) -- 'षष्ठ्यन्त पद का सुबन्त के साथ समास होता है और षष्ठी तत्पुरुष कहलाता है' -- इस सूत्र से षष्ठी तत्पुरुष होता है । यहाँ 'दन्त' शब्द की उपसर्जन संज्ञा होने से पूर्वनिपात प्राप्त था, उक्त सूत्र के अनुसार 'दन्त' शब्द को पर-निपात हुआ है और 'राजदन्तः' पद सिद्ध हुआ है; उसी प्रकार 'राजविद्या' = 'विद्यानां राजा' और 'राजगुह्यम्' = 'गुह्यानां राजा' -- इन विग्रहों में 'षष्ठी' सूत्र से षष्ठी तत्पुरुष समास है । यहाँ 'विद्या' और 'गुह्य' शब्दों की उपसर्जन संज्ञा होने से पूर्व-निपात प्राप्त है, किन्तु 'राजदन्तादिषु परम्' -- सूत्र से 'विद्या' और 'गुह्य' शब्दों को पर-निपात होकर 'राजविद्या' और 'राजगुह्यम्' -- पद सिद्ध हुए हैं । यह ज्ञान पवित्र, उत्तम है। प्रायश्चित्तों से तो किसी एक ही पाप की निवृत्ति होती है और वह निवृत्त अपने कारण में सूक्ष्मरूप से रहता ही है, क्योंकि पुरुष पुनः उस पाप को करता है । यह ज्ञान तो अनेक सहस्र जन्मों में सञ्चित स्थूल और सूक्ष्म अवस्थावाले सभी पापों और उनके कारण अज्ञान का शीघ्र ही उच्छेद करनेवाला है, अतः सर्वोत्तम, पावन-पवित्र यही है । इसमें अतीन्द्रिय = इन्द्रियों के अविषय धर्म के समान किसी को सन्देह नहीं है, क्योंकि यह स्वरूपतः और फलतः प्रत्यक्ष है, अतएव कहते हैं -- 'प्रत्यक्षावगमम्' । 'अवगम्यतेऽनेनेत्यवगमः' = 'जिससे जाना जाता है वह 'अवगम' है' -- इस व्युत्पत्ति से अवगम का अर्थ 'मान = प्रमाण' है, तथा 'अवगम्यते प्राप्यत इत्यवगमः' = 'जो प्राप्त किया जाता है वह 'अवगम' है' -- इस व्युत्पत्ति से अवगम का अर्थ 'फल' है । 'प्रत्यक्षमवगमो

गमः फलं प्रत्यक्षमवगमो मानमस्मिन्निति स्वरूपतः साक्षिप्रत्यक्षत्वं, प्रत्यक्षोऽवगमोऽस्येति फलतः साक्षिप्रत्यक्षत्वम् । मयेदं विदितमतो नष्टमिदानीमत्र ममाज्ञानमिति हि सार्वलौकिकः साक्ष्यनुभवः ।

6 **एवं लोकानुभवसिद्धत्वेऽपि तज्ज्ञानं धर्म्यं धर्मादनपेतमनेकजन्मसंचितनिष्कामधर्मफलम् । तर्हि दुःसंपादं स्यान्नेत्याह — सुसुखं कर्तुं गुरूपदर्शितविचारसहकृतेन वेदान्तवाक्येन सुखेन कर्तुं शक्यं न देशकालादिव्यवधानमपेक्षते प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वाज्ज्ञानस्य । एवमनायाससाध्यत्वे स्वल्पफलत्वं स्यादत्यायाससाध्यानामेव कर्मणां महाफलत्वदर्शनादिति नेत्याह — अव्ययम्, एवमनायाससाध्यस्याप्यस्य फलतो व्ययो नास्तीत्यव्ययमक्षयफलमित्यर्थः । कर्मणा त्वतिमहतामपि क्षयिफलत्वमेव 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति' इति श्रुतेः । तस्मात्सर्वोत्कृष्टात्वाच्छ्रद्धेयमेवाऽऽत्मज्ञानम् ॥ 2 ॥**

7 **एवमस्य सुकरत्वे सर्वोत्कृष्टत्वे च सर्वेऽपि कुतोऽत्र न प्रवर्तन्ते, तथा च न कोऽपि संसारी स्यादित्यत आह —**

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ 3 ॥

मानमस्मिन्निति' = 'इसमें प्रत्यक्ष अवगम अर्थात् मान -- प्रमाण है' -- इस विग्रह से इसकी स्वरूपतः साक्षिप्रत्यक्षता है, तथा 'प्रत्यक्षोऽवगमोऽस्येति' = 'इसका अवगम -- फल प्रत्यक्ष है' -- इस विग्रह से इसकी फलतः साक्षिप्रत्यक्षता है । 'मैंने इसको जाना, अतः इस समय इस विषय में मेरा अज्ञान नष्ट हुआ' -- यह सार्वलौकिक साक्षी का अनुभव है ।

6 इसप्रकार लोकानुभव सिद्ध होने पर भी वह ज्ञान धर्म्य[1] = धर्म से अनपेत अर्थात् अनेक जन्मों में संचित निष्काम धर्म का फल है । तब तो इसका सम्पादन करना अति कष्टकर होगा ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं -- नहीं, यह करने में सुसुख है अर्थात् यह गुरु के द्वारा उपदर्शित -- उपदिष्ट विचार के साथ वेदान्तवाक्य से सुखपूर्वक -- अनायास ही करने के योग्य है । इसको देश, काल आदि के व्यवधान की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि ज्ञान प्रमाण-वस्तुपरतन्त्र होता है । इसप्रकार अनायास ही साध्य होने पर तो इसका स्वल्प-बहुत थोड़ा फल ही होगा, क्योंकि अत्यायास -- अधिक परिश्रमसाध्य कर्म ही महाफलक देखे जाते हैं ? इस पर भगवान् कहते हैं -- नहीं, यह अव्यय है अर्थात् इसप्रकार अनायाससाध्य भी इसका फलतः व्यय नहीं होता है, क्योंकि यह अव्यय = अक्षयफलक है । कर्म तो बड़े-बड़े भी नाशवान् फलवाले ही होते हैं, जैसा कि श्रुति भी कहती है -- 'हे गार्गि ! जो पुरुष इस अक्षर पुरुष को न जानकर इस लोक में अनेक सहस्र-वर्षपर्यन्त याग-यज्ञादि करता है और तप करता है उसका वह सब कर्म अन्तवान् -- नाशवान् ही होता है' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.8.1) । अतः सर्वोत्कृष्ट होने से आत्मज्ञान श्रद्धेय -- श्रद्धा के योग्य ही है ।। 2 ।।

7 इसप्रकार इसकी सुकरता और सर्वोत्कृष्टता होने पर भी सभी इसमें प्रवृत्त क्यों नहीं होते हैं, ऐसा होने पर तो कोई भी संसारी नहीं होगा ? -- इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं --

[हे परंतप ! इस आत्मज्ञानरूप धर्म में श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझको प्राप्त न होकर मृत्युयुक्त संसारमार्ग में भ्रमण करते हैं ।। 3 ।।]

---

1. 'वेदोक्तसर्वधर्मफलत्त्वात् धर्म्यम्' = यह ज्ञान वेदोक्त सर्वधर्म का फलरूप है, अतः इसको 'धर्म्य' कहते हैं' (श्रीधरी टीका) ।

८ **अस्याऽऽत्मज्ञानाख्यस्य धर्मस्य स्वरूपे साधने फले च शास्त्रप्रतिपादितेऽपि अश्रद्दधाना वेदविरोधिकुहेतुदर्शनदूषितान्तःकरणतया प्रामाण्यममन्यमानाः पापकारिणोऽसुरसंपदमारूढाः स्वमतिकल्पितेनोपायेन कथंचिद्यतमाना अपि शास्त्रविहितोपायाभावादप्राप्य मां मत्प्राप्तिसाधनमप्यलब्ध्वा निवर्तन्ते निश्चयेन वर्तन्ते । क्व मृत्युयुक्ते संसारवर्त्मनि, सर्वदा जननमरणप्रबन्धेन नारकितिर्यगादियोनिष्वेव भ्रमन्तीत्यर्थः ॥ 3 ॥**

9 **तदेवं वक्तव्यतया प्रतिज्ञातस्य ज्ञानस्य विधिमुखेनेतरनिषेधमुखेन च स्तुत्याऽभिमुखीकृतमर्जुनं प्रति तदेवाऽऽह द्वाभ्याम् –**

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ 4 ॥

10 **इदं जगत्सर्वं भूतभौतिकतत्कारणरूपं दृश्यजातं मदज्ञानकल्पितं मयाऽधिष्ठानेन परमार्थसता सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च ततं व्याप्तं रज्जुखण्डेनेव तदज्ञानकल्पितं सर्पधारादि । त्वया वासुदेवेन परिच्छिन्नेन सर्वं जगत्कथं व्याप्तं प्रत्यक्षविरोधादिति नेत्याह –– अव्यक्ता सर्वकरणागोचरीभूता स्वप्रकाशाद्वयचैतन्यसदानन्दरूपा मूर्तिर्यस्य तेन मया व्याप्तमिदंसर्वं न त्वनेन देहेनेत्यर्थः । अत**

८ शास्त्र द्वारा प्रतिपादित होने पर भी इस आत्मज्ञानसंज्ञक धर्म के स्वरूप, साधन और फल में श्रद्धा न रखनेवाले -- वेदविरोधी कुहेतुओं के दर्शन से दूषित अन्तःकरण होने के कारण वेदों के प्रामाण्य को न माननेवाले पापकारी पुरुष आसुरी सम्पत्ति से सम्पन्न होकर अपनी बुद्धि से कल्पित उपाय द्वारा किसी भी प्रकार यत्न करते हुए भी शास्त्रविहित उपाय के अभाव के कारण मुझको प्राप्त न कर अर्थात् मेरी प्राप्ति के साधन को भी प्राप्त न कर निश्चयपूर्वक आवर्तन करते हैं । कहाँ ? मृत्युयुक्त संसारमार्ग में आवर्तन करते हैं अर्थात् सर्वदा जन्म-मरण के प्रबन्ध से नारकी, तिर्यगादि योनियों में ही भ्रमण करते हैं ॥ 3 ॥

9 इसप्रकार वक्तव्यरूप से प्रतिज्ञात ज्ञान की विधिमुख से और इतर की निषेधमुख से स्तुति करके ज्ञान के अभिमुख किये हुए अर्जुन के प्रति भगवान् दो श्लोकों से वही ज्ञान कहते हैं :-
[हे अर्जुन ! यह सम्पूर्ण जगत् अव्यक्तरूप मुझसे व्याप्त है । सब भूत मुझमें स्थित हैं, किन्तु मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ ॥ 4 ॥]

10 जिसप्रकार रज्जुखण्ड के **अज्ञान से कल्पित सर्प,** जलधारा आदि रज्जुखण्ड से ही व्याप्त होते हैं उसी प्रकार मेरे अज्ञान से कल्पित यह भूत-भौतिक और उसका कारणरूप सम्पूर्ण दृश्यजात जगत् मुझ अधिष्ठान परमार्थसत् से सद्रूप और स्फुरणरूप से व्याप्त है[5] । परिच्छिन्न-परिमित वासुदेव आपसे अपरिमित यह सम्पूर्ण जगत् कैसे व्याप्त है, यह तो प्रत्यक्षविरुद्ध है ? इस पर भगवान् कहते हैं - नहीं, अव्यक्त=समस्त करण-इन्द्रियों की अगोचरीभूत-अविषयीभूत स्वप्रकाश, अद्वय, चैतन्य, सत्, आनन्दरूपा मूर्ति है जिसकी उस अव्यक्तमूर्ति मुझसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, न कि देहवाले मुझसे व्याप्त है - यह अर्थ है । अत एव 'सन्ति इव' = 'हैं - जैसे', 'स्फुरन्ति इव'='स्फुरण करते हैं - जैसे' अर्थात् सद्रूप और स्फुरणरूप से प्रतीत होनेवाले सम्पूर्ण स्थावर और जंगम भूत

5. अभिप्राय यह है कि अधिष्ठानरूप से विद्यमान रज्जुखण्ड की सत्ता और स्फुरण से जिस प्रकार उसके अज्ञान से कल्पित सर्प, जलधारा आदि सद्रूप और स्फुरणरूप प्रतीत होते हैं उसी प्रकार अधिष्ठानस्वरूप परमार्थसत् मुझ ब्रह्म की सत्ता और स्फुरण से मेरे अज्ञान से कल्पित यह सम्पूर्ण जगत् सद्रूप और स्फुरणरूप प्रतीत होता है । मेरे अतिरिक्त इस जगत् की कोई पृथक् सत्ता और स्फुरण नहीं है, यह परमार्थ सत् नहीं है, मैं ही परमार्थसत् अधिष्ठानस्वरूप हूँ, यह मुझमें कल्पित है, अतएव सम्पूर्ण जगत् मुझ से व्याप्त है ।

एव न च नैवाहं तेषु कल्पितेषु भूतेष्ववस्थितः कल्पिताकल्पितयोः संबन्धायोगात् । अत एवोक्तं यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन गुणेन दोषेण वाऽणुमात्रेणापि न स संबध्यत इति ॥ 4 ॥

11 अत एव –

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममाऽऽत्मा भूतभावनः ॥ 5 ॥

12 दिविष्ठ इवाऽऽदित्ये कल्पितानि जलचलनादीनि मयि कल्पितानि भूतानि परमार्थतो मयि न सन्ति । त्वमर्जुनः प्राकृतीं मनुष्यबुद्धिं हित्वा पश्य पर्यालोचय मे योगं प्रभावमैश्वरमघटनघटनाचातुर्यं मायाविन इव ममावलोकयेत्यर्थः । नाहं कस्यचिदाधेयो नापि कस्यचिदाधारस्तथाऽप्यहं सर्वेषु भूतेषु मयि च सर्वाणि भूतानीति महतीयं माया । यतो भूतानि सर्वाणि कार्याण्युपादानतया बिभर्ति

मुझमें स्थित हैं अर्थात् मद्रूप-- मेरे रूप से स्थित हैं । परमार्थतः तो मैं उन कल्पित भूतों में अवस्थित नहीं हूँ[6], क्योंकि कल्पित और अकल्पित वस्तुओं का सम्बन्ध नहीं होता है । अत एव भाष्यकार ने कहा है -- 'जिसमें जो वस्तु अध्यस्त होती है उस अध्यस्त वस्तु के गुण अथवा दोष से अधिष्ठानभूत वस्तु का अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता है' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य - अध्यासभाष्य) ॥ 4 ॥

11 अत एव --

[वे सब कल्पित भूत वास्तव में मुझमें स्थित नहीं है । तुम मेरा ऐश्वर-ईश्वरीय योग-प्रभाव देखो । उपादान कारणरूप से सम्पूर्ण भूतों का भरण-पोषण करने वाला और कर्तारूप से उनकी उत्पत्ति करने वाला भी मेरा आत्मा वास्तव में उनसे सम्बद्ध नहीं है ॥ 5 ॥]

12 आकाशस्थ सूर्य में जलचलनादि जैसे कल्पित हैं वैसे ही सम्पूर्ण भूत मुझमें कल्पित हैं, परमार्थतः वे मुझमें नहीं हैं[7] । तुम अर्जुन अपनी प्राकृती मनुष्य-बुद्धि को छोड़कर मेरे ऐश्वर -- ईश्वरीय योग -- प्रभाव को देखो -- मेरे ईश्वरीय प्रभाव का पर्यालोचन करो अर्थात् मायावी के समान मेरे अघटनघटनाचातुर्य का अवलोकन करो । मैं न तो किसी का आधेय हूँ और न किसी का आधार हूँ, तथापि मैं सब भूतों में हूँ और सब भूत मुझमें है -- यह महती माया है[8] । क्योंकि उपादान रूप से मेरा आत्मा ही सब भूतों-कार्यों का भरण, धारण और पोषण करता है इसलिए वह 'भूतभृत्'

6. अभिप्राय यह है कि मैं सभी कारणों का कारण होने पर भी घटादि कार्य में मिट्टी जैसे विद्यमान रहती है वैसे मैं सभी भूतों में अवस्थान नहीं करता हूँ । मूर्त – परिच्छिन्न मिट्टीरूप वस्तु से उत्पन्न हुई परिच्छिन्न घटादिरूप वस्तु के अणु-परमाणु में जैसे मिट्टी व्याप्त होकर स्थित रहती है वैसे मैं सभी भूतों में नहीं रहता हूँ, क्योंकि अपरिच्छिन्न -- अपरिमित आकाश सर्वव्यापी होकर भी किसी वस्तु से कभी संश्लिष्ट नहीं होता है वैसे ही मैं भी किसी वस्तु से संश्लिष्ट-संयुक्त नहीं होता हूँ, कारण कि मैं तो आकाश का भी अन्तरतम हूँ, अतएव श्रुति भी कहती है – 'असंगोऽयमात्मा' अर्थात् यह आत्मा असंग है, इसका किसी के साथ संग नहीं होता है, क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तु की पारमार्थिक सत्ता ही नहीं है । आत्मा किसी वस्तु से संसर्ग न रहने के कारण कभी किसी का आधेय नहीं हो सकता है । यह सम्पूर्ण जगत् ही अज्ञान से अनन्त आत्मा में कल्पित होता है । अधिष्ठानरूप आत्मा से भिन्न उनकी कोई पृथक् सत्ता ही नहीं हैं, वे तो भ्रान्ति से प्रतीत होने के कारण मिथ्या ही हैं । अतः आत्मा उनमें अवस्थान नहीं करता है ।

7. अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार किसी पात्र में स्थित जल में जब सूर्य का प्रतिबिम्ब देखा जाता है, तो वहाँ जल के चलन, कम्पन आदि से आकाशस्थ सूर्य में भी चलन, कम्पन आदि की कल्पना की जाती है, वस्तुतः आकाशस्थ सूर्य में चलन, कम्पनादि नहीं होते हैं, उसी प्रकार मुझमें सम्पूर्ण भूतों की स्थिति की कल्पना ही की जाती है, वह परमार्थतः मुझमें नहीं है, क्योंकि वह सम्पूर्ण जगत् कोई वस्तु नहीं है, वह मिथ्या ही है ।

८. प्रकृत प्रसंग में यह प्रश्न हो सकता है कि भगवान् ने पूर्वश्लोक में 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' (गीता, 9.4) = 'सब भूत मुझमें स्थित हैं' -- यह कहकर पुनः उक्त श्लोक में 'न च मत्स्थानि भूतानि' (गीता, 9.5) = 'सब भूत

धारयति पोषयतीति च भूतभृत । भूतानि सर्वाणि कर्तृतयोत्पादयतीति भूतभावनः । एवमभिन्ननिमित्तोपादानभूतोऽपि ममाऽऽत्मा मम परमार्थस्वरूपभूतः सच्चिदानन्दघनोऽसङ्गाद्वितीयस्वरूपत्वान्न भूतस्थः परमार्थतो न भूतसंबन्धी स्वप्नदृगिव न परमार्थतः स्वकल्पितसंबन्धीत्यर्थः । ममाऽऽत्मेति राहोः शिर इतिवत्कल्पनया षष्ठी ॥ 5 ॥

13 **असंश्लिष्टयोरप्याधाराधेयभावं दृष्टान्तेनाऽऽह --**

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ 6 ॥

14 **यथैवासङ्गस्वभाव आकाशे स्थितो नित्यं सर्वदोत्पत्तिस्थितिसंहारकालेषु वातीति वायुः सर्वदा चलनस्वभावः । अत एव सर्वत्र गच्छतीति सर्वत्रगः, महान्परिमाणतः । एतादृशोऽपि न कदाऽप्याकाशेन सह संसृज्यते । तथैवासङ्गस्वभावे मयि संश्लेषमन्तरेणैव सर्वाणि भूतान्याकाशादीनि महान्ति सर्वत्रगानि च स्थितानीत्युपधारय विमृश्यावधारय ॥ 6 ॥**

15 **एवमुत्पत्तिकाले स्थितिकाले च कल्पितेन प्रपञ्चेनासङ्गस्याऽऽत्मनोऽसंश्लेषमुक्त्वा प्रलयेऽपि तमाह --**

है, तथा कर्तारूप से मेरा आत्मा ही सब भूतों को उत्पन्न करता है, इसलिए वह 'भूतभावन' है । इसप्रकार अभिन्ननिमित्तोपादनभूत भी मेरा परमार्थस्वरूपभूत सच्चिदानन्दघन आत्मा असंग -- अद्वितीयस्वरूप होने से भूतस्थ -- भूतों में स्थित अर्थात् परमार्थतः भूतसम्बन्धी -- भूतों से सम्बद्ध नहीं है । भावार्थ यह है कि वह आत्मा स्वप्नद्रष्टा के समान परमार्थतः अपने में कल्पित पदार्थों से सम्बन्ध नही रखता है[9] । 'मम आत्मा' = 'मेरा आत्मा' -- इस प्रयोग में 'राहोः शिरः' = 'राहु का शिर ' -- इस प्रयोग के समान अभेद में भेद की कल्पना कर षष्ठी का प्रयोग है ॥ 5 ॥

13 असंश्लिष्ट -- असम्बद्ध वस्तुओं में भी आधार -- आधेय भाव दृष्टान्त से कहते हैं --
[जिसप्रकार नित्य -- सर्वदा चलनस्वभाव, सर्वत्रग -- सर्वत्र गमनशील, और महान् वायु आकाश में स्थित रहता है उसी प्रकार सब भूतों को तुम मुझमें स्थित समझो ॥ 6 ॥]

14 जिसप्रकार असङ्गस्वभाव आकाश में स्थित जो नित्य = सर्वदा-उत्पत्ति, स्थिति और संहार काल में वहता है ऐसा सर्वदा चलनस्वभाववाला, अतएव जो सर्वत्र जाता है ऐसा सर्वत्रगामी, और परिणामतः महान् वायु ऐसा होने पर भी आकाश के साथ कभी भी संसृष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार असङ्गस्वभाव मुझमें सम्बन्ध के बिना ही महान् और सर्वत्रगामी आकाशादि सम्पूर्ण भूत स्थित हैं -- ऐसा तुम समझो -- विचारकर निश्चय करो ॥ 6 ॥

15 इसप्रकार कल्पित प्रपञ्च के साथ असङ्ग आत्मा का उत्पत्तिकाल और स्थितिकाल में असंश्लेष -- सम्बन्धाभाव कहकर अब प्रलयकाल में भी उसका सम्बन्धाभाव कहते हैं :--

---

मुझमें स्थित नहीं हैं' यह कहा है, इसप्रकार उन्होंने विरुद्ध कथन क्यों कहा है ? इसका उत्तर यह है कि 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' और 'न च मत्स्थानि भूतानि' -- इसप्रकार का भगवान् का कथन कुछ भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि 'मैं न तो किसी का आधेय हूँ और न किसी का आधार हूँ, तथापि मैं सब भूतों में हूँ और सब भूत मुझमें हैं -- यह मेरी महती माया है' -- इसप्रकार यह सब उनकी माया का वैभव है । माया के वैभव से असम्भव भी सम्भव होता है । इसीलिए प्रकृत में भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि 'पश्य मे योगमैश्वरम्' = 'हे अर्जुन ! अपनी मानुषी बुद्धि का त्याग कर मेरे ईश्वरीय योग को देख' ।

९. तात्पर्य यह है कि आत्मा वस्तुतः अपने में कल्पित पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है अथवा आत्मा का अपने में कल्पित पदार्थों से वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं होता है, जैसे स्वप्न देखनेवाला अपने में जो देखता है उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि स्वाप्निक पदार्थ कुछ होते ही नहीं है तब उनका सम्बन्ध वस्तुतः कैसे होगा ?

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ 7 ॥

16 **सर्वाणि भूतानि कल्पक्षये प्रलयकाले मामिकां मच्छक्तित्वेन कल्पितां प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकां मायां स्वकारणभूतां यान्ति तत्रैव सूक्ष्मरूपेण लीयन्त इत्यर्थः । हे कौन्तेयेत्युक्तार्थम् । पुनस्तानि कल्पादौ सर्गकाले विसृजामि प्रकृतावविभागापन्नानि विभागेन व्यनज्मि अहं सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरः ॥ 7 ॥**

17 **किंनिमित्ता परमेश्वरस्येयं सृष्टिर्न तावत्स्वभोगार्था तस्य सर्वसाक्षिभूतचैतन्यमात्रस्य भोक्तृत्वाभावात्तथात्वे वा संसारित्वेनेश्वरत्वव्याघातात् । नाप्यन्यो भोक्ता यदर्थेयं सृष्टिः, चेतनान्तराभावात्, ईश्वरस्यैव सर्वत्र जीवरूपेण स्थितत्वात्, अचेतनस्य चाभोक्तृत्वात् । अत एव नापवर्गार्थाऽपि सृष्टिः, बन्धाभावादपवर्गाविरोधित्वाच्चेत्याद्यनुपपत्तिः सृष्टेर्मायामयत्वं साधयन्ती नास्माकं प्रतिकूलेति न परिहर्तव्येत्यभिप्रेत्य मायामयत्वान्मिथ्यात्वं प्रपञ्चस्य वक्तुमारभते त्रिभिः--**

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ 8 ॥

18 **प्रकृतिं मायाख्यामनिर्वचनीयां स्वां स्वस्मिन्कल्पितामवष्टभ्य स्वसत्तास्फूर्तिभ्यां दृढीकृत्य तस्याः**

[हे कौन्तेय ! कल्प के क्षय -- अन्त में सब भूत मेरी त्रिगुणात्मिका प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृति में लीन हो जाते हैं और कल्प के आदि -- आरम्भ में उनको मैं पुनः रचता हूँ ॥ 7 ॥]

16 कल्प के क्षय -- अन्त में अर्थात् प्रलयकाल में समस्त भूत मेरी शक्तिरूप से कल्पित प्रकृति -- स्वकारणभूता त्रिगुणात्मिका माया को प्राप्त होते हैं अर्थात् सूक्ष्मरूप से उसी में लीन हो जाते हैं । 'हे कौन्तेय !' -- इस सम्बोधन का अर्थ कहा जा चुका है । कल्प के आदि -- आरम्भ में अर्थात् सर्गकाल में सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, ईश्वर मैं उनको पुनः रचता हूँ -- प्रकृति में अविभागरूप से स्थित उनको विभागरूप से व्यक्त करता हूँ ॥ 7 ॥

17 परमेश्वर की यह सृष्टि किस निमित्त से है ? यह उसके अपने भोग के लिए तो नहीं है, क्योंकि उसमें सर्वसाक्षिभूत चैतन्यमात्र होने से भोक्तृत्व का अभाव है, अथवा यदि उसमें भोक्तृत्व स्वीकार करेंगे तो संसारित्व होने से उसके ईश्वरत्व का व्याघात होगा । ईश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य भोक्ता भी नहीं है जिसके लिए यह सृष्टि हो, क्योंकि उसके अतिरिक्त कोई अन्य चेतन ही नहीं है, कारण कि ईश्वर ही सर्वत्र जीवरूप से स्थित है और अचेतन में भोक्तृत्व हो नहीं सकता है । अतएव यह सृष्टि उसके मोक्ष के लिए भी नहीं है, क्योंकि उसमें बन्धन का अभाव है और वह अपवर्ग का विरोधी नहीं है -- इत्यादि अनुपपत्ति, जो सृष्टि का मायामयत्व -- मिथ्यात्व सिद्ध करनेवाली है, हमारे लिए प्रतिकूल नहीं है, अतएव परिहार के योग्य नहीं है -- इस अभिप्राय से मायामय होने के कारण प्रपञ्च के मिथ्यात्व को तीन श्लोकों से कहना आरम्भ करते हैं --

[मैं अपने में कल्पित माया को अपनी सत्ता और स्फूर्ति से दृढकर उस माया के प्रभाव से ही अवश -- परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदाय की पुनः पुनः रचना करता हूँ ॥ 8 ॥]

18 अपने में कल्पित 'माया' नाम की अनिर्वचनीया प्रकृति का आश्रय ग्रहण कर = अपनी सत्ता और स्फूर्ति से उसको दृढ़ कर उस प्रकृति -- माया के वश से अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष

प्रकृतेर्मायाया वशादविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशकारणावरणविक्षेपात्मकशक्तिप्रभावाज्जायमान-मिमं सर्वप्रमाणसंनिधापितं भूतग्राममाकाशादिभूतसमुदायमहं मायावीव पुनः पुनर्विसृजामि विविधं सृजामि कल्पनामात्रेण स्वप्नदृगिव च स्वप्नप्रपञ्चम् ॥ 8 ॥

19 **अतः –**

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ 9 ॥

20 **न च नैव सृष्टिस्थितिप्रलयाख्यानि तानि मायाविनेव स्वप्नदृशेव च मया क्रियमाणानि मां निबध्नन्ति अनुग्रहनिग्रहाभ्यां न सुकृतदुष्कृतभागिनं कुर्वन्ति मिथ्याभूतत्वात्, हे धनंजय युधिष्ठिरराजसूयार्थं सर्वान्राज्ञो जित्वा धनमाहृतवानिति महान्प्रभावः सूचितः प्रोत्साहनार्थम् ।**

और अभिनिवेश की कारणभूता आवरण और विक्षेपरूपा शक्ति के प्रभाव से जायमान इस सब प्रमाणों से निश्चित भूतग्राम को = आकाशादि भूतसमुदाय को मैं मायावी के समान पुनः पुनः रचता हूँ अर्थात् कल्पनामात्र से ही विविधरूप से रचता हूँ जैसे स्वप्रदृष्टा स्वप्नप्रपञ्च की कल्पना से सृष्टि करता है[10] ॥ 8 ॥

19 अतः --

[हे धनञ्जय ! उदासीन के समान स्थित और उन कर्मों में आसक्तिशून्य मुझको वे कर्म बाँधते नहीं हैं ॥ 9 ॥]

20 मायावी और स्वप्नद्रष्टा के समान मेरे द्वारा क्रियमाण वे सृष्टि-स्थिति-प्रलयसंज्ञक कर्म मुझको नहीं बाँधते हैं अर्थात् अनुग्रह और निग्रह से मुझको पुण्य और पाप का भागी नहीं करते हैं, क्योंकि वे स्वयं मिथ्याभूत हैं । हे धनञ्जय ! = 'तुम युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिए सब राजाओं को जीतकर धन लाये थे' -- इसप्रकार अर्जुन को प्रोत्साहन देने के लिए[11] उक्त सम्बोधन से उसका महान् प्रभाव सूचित किया है ।

10. यहाँ भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि मैं परमेश्वर केवल कल्पना द्वारा ही सब भूतों की विविध प्रकार से सृष्टि करता हूँ । मेरी कल्पनाशक्ति को ही प्रकृति या माया कहा जाता है । मायावी – ऐन्द्रजालिक जिस प्रकार केवल कल्पना शक्ति द्वारा ही विविध ऐन्द्रजालिक – मायावी वस्तुओं की सृष्टि कर जनसमूह को दिखाता है, अथवा स्वप्नद्रष्टा जिस प्रकार स्वप्नकाल में कल्पना के द्वारा अनेक प्रकार की सृष्टि करता है, मैं भी उसीप्रकार केवल अपनी कल्पना शक्ति अथवा माया शक्ति के द्वारा इस इन्द्रजालरूप विश्वप्रपञ्च की सृष्टि करता हूँ । ऐन्द्रजालिक अथवा स्वप्नद्रष्टा जिस प्रकार सब कुछ की सृष्टि करके भी वास्तव में कुछ की भी सृष्टि नहीं करता है और लेशमात्र भी अपने स्वरूप से विच्युत नहीं होता है, उसी प्रकार मैं भी सम्पूर्ण जगत् का सृष्टिकर्ता होकर भी सदा ही अकर्ता तथा अविनाशी स्वरूप में स्थिति रहता हूँ । ऐन्द्रजालिक के द्वारा कल्पित वस्तुएँ जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक की कल्पना के वशीभूत होकर अवश रहती हैं, अथवा स्वप्नद्रष्टा के द्वारा कल्पित स्वप्नप्रपञ्च जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा की कल्पना के वशीभूत होने के कारण अस्वतन्त्र होता है, उसी प्रकार मेरी कल्पना शक्ति = माया शक्ति के द्वारा कल्पित वस्तुएँ उस प्रकृति से उत्पन्न स्वभाव के वशीभूत होने के कारण अवश होकर रहती हैं, इसलिए जागतिक सभी वस्तुएँ माया के द्वारा उत्पन्न होने के कारण मायामय हैं, अतः मिथ्या हैं ।

11. यहाँ अर्जुन को प्रोत्साहन प्रदान करने का अभिप्राय यह है कि हे धनञ्जय !जिस प्रकार तुमने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिए सब राजाओं को जीतकर धन का संग्रह किया था, उसी प्रकार तुम इस जीवनयज्ञ के लिए भी समस्त प्रतिबन्धों को जीतकर जीवन्मुक्तिरूप महाधन का सञ्चय करो और अनासक्त तथा उदासीन होकर स्वधर्म का पालन करो ।

21 तानि कर्माणि कुतो न बध्नन्ति तत्राऽऽह -- उदासीनवदासीनं, यथा कश्चिदुपेक्षको द्वयोर्विवदमानयोर्जयपराजयासंसर्गी तत्कृतहर्षविषादाभ्यामसंसृष्टो निर्विकार आस्ते तद्वन्निर्विकार-तयाऽऽसीनम् । द्वयोर्विवदमानयोरिहाभावादुपेक्षकत्वमात्रसाधर्म्येण वतिप्रत्ययः । अत एव निर्विकारत्वात्तेषु सृष्ट्यादिकर्मस्वसक्तमहं करोमीत्यभिमानलक्षणेन सङ्गेन रहितं मां न निबध्नन्ति कर्माणीति युक्तमेव । अन्यस्यापि हि कर्तृत्वाभावे फलसङ्गाभावे च कर्माणि न बन्धका-रणानीत्युक्तमनेन, तदुभयसत्त्वे तु कोशकार इव कर्मभिर्बध्यते मूढ इत्यभिप्रायः ॥ 9 ॥

22 भूतग्राममिमं विसृजाम्युदासीनवदासीनमिति च परस्परविरुद्धमितिशङ्कापरिहारार्थं पुनर्मायामयत्वमेव प्रकटयति --

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥10 ॥

23 मया सर्वतोदृशिमात्रस्वरूपेणाविक्रियेणाध्यक्षेण नियन्त्रा भासकेनावभासिता प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका सत्त्वासत्त्वादिभिरनिर्वाच्या माया सूयत उत्पादयति सचराचरं जगन्मायाविनाऽधिष्ठितेव माया कल्पितगजतुरगादिकम् । न त्वहं स्वकार्यमायाभासनमन्तरेण करोमि व्यापारान्तरम् । हेतुना

---

21 वे कर्म मुझको क्यों नहीं बाँधते है ? इसमें कारण कहते हैं -- 'उदासीनवदासीनम्' = 'मैं उदासीन के समान आसीन रहता हूँ' = जिस प्रकार कोई उपेक्षक पुरुष दो विवाद करनेवालों के जय और पराजय से सम्बन्ध नहीं रखता है और जय-पराजयकृत हर्ष और विषाद से असंश्लिष्ट-निर्विकार रहता है उसी प्रकार मैं निर्विकाररूप से आसीन-स्थित रहता हूँ । यहाँ यद्यपि दो विवाद करनेवालों का अभाव है, तथापि उपेक्षकत्वमात्र में साधर्म्य-साम्य होने से 'वत्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है । अतएव निर्विकार होने से उन सृष्टि आदि कर्मों में असक्त-अनासक्त और 'मैं करता हूँ' - इस अभिमानरूप संग से रहित मुझको कर्म नहीं बाँधते हैं - यह उचित ही है । कर्तृत्व और फलसङ्ग का अभाव होने पर कर्म अन्य किसी पुरुष के भी बन्धन के कारण नहीं होते हैं -- यह इससे कहा गया है । अभिप्राय यह है कि कर्तृत्व और फतसङ्ग - इन दोनों के रहने पर तो मूढ पुरुष ही कोशकार - रेशम के कीड़े के समान कर्मों से बँधता है[12] ॥ 9 ॥

22 आठवें श्लोक में कहा है कि 'मैं इस भूतग्राम की रचना करता हूँ' और नवें श्लोक में कहा है कि 'मैं उदासीन के समान स्थित रहता हूँ' -- ये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध हैं -- ऐसी शङ्का हो सकती है, अत: उक्त शङ्का के परिहार के लिए भगवान् पुन: इस प्रपञ्च में मायामयत्व प्रकट करते हैं --
[हे कौन्तेय ! मुझ दृशिमात्र अध्यक्ष -- भासक से अवभासित प्रकृति इस चराचर जगत् को उत्पन्न करती है । इसी कारण यह जगत् अनेक प्रकार से परिवर्तित होता रहता है ॥ 10 ॥]

23 मुझ सर्वत: दृशिमात्र -- चिन्मात्रस्वरूप अतएव अविक्रिय -- निर्विकार अध्यक्ष = नियन्ता-भासक -- प्रकाशक से अवभासित -- प्रकाशित प्रकृति = त्रिगुणात्मिका सत्त्व, असत्त्व आदि से अनिर्वचनीया माया चराचरसहित जगत् को उत्पन्न करती है, जैसे -- मायावी से अधिष्ठित माया कल्पित हाथी, घोडे आदि को उत्पन्न करती है । मैं तो स्वकार्य मायाभासन से अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार नहीं

---

12. जिस प्रकार कोशकार - रेशम का कीड़ा स्वकृत जाल में ही बँध जाता है और कभी मुक्त नहीं होता है उसी प्रकार मूढ़ पुरुष स्वकृत कर्मजाल में बँध जाता है और मुक्त नहीं होता है ।

निमित्तेनानेनाध्यक्षत्वेन हे कौन्तेय, जगत्सचराचरं विपरिवर्तते विविधं परिवर्तते जन्मादिविनाशान्तं विकारजातमनवरतमासादयतीत्यर्थः । अतो भासकत्वमात्रेण व्यापारेण विसृजामीत्युक्तं तावता चाऽऽदित्यादेरिव कर्तृत्वाभावादुदासीनवदासीनमित्युक्तमिति न विरोधः । तदुक्तम् –

'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् ।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥' इति ।

श्रुतिस्मृतिवादाश्चात्रार्थे सहस्रश उदाहार्याः ॥10 ॥

24 **एवं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वजन्तूनामात्मानमान्दघनमनन्तमपि सन्तम् –**

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥11 ॥

25 **अवजानन्ति मां साक्षादीश्वरोऽयमिति नाऽऽद्रियन्ते निन्दन्ति वा मूढा अविवेकिनो जनाः । तेषामवज्ञाहेतुं भ्रमं सूचयति मानुषीं तनुमाश्रितं, मनुष्यतया प्रतीयमानां मूर्तिमात्मेच्छया भक्तानुग्रहार्थं गृहीतवन्तं मनुष्यतया प्रतीयमानेन देहेन व्यवहरन्तमिति यावत् । ततश्च मनुष्योऽयमिति भ्रान्त्याऽऽच्छादितान्तःकरणा मम परं भावं प्रकृष्टं पारमार्थिकं तत्त्वं सर्वभूतानां महान्तमीश्वरमजानन्तो यन्नाऽऽद्रियन्ते निन्दन्ति वा तदनुरूपमेव मूढत्वस्य ॥11 ॥**

करता हूँ । इस अध्यक्षत्वरूप -- प्रकाशकत्वरूप हेतु से ही हे कौन्तेय ! यह चराचर जगत् विविधरूप से परिवर्तित होता है अर्थात् जन्म से लेकर विनाशपर्यन्त विकारसमूह को प्राप्त होता रहता है । अत: मात्र भासकत्वरूप व्यापार से ही 'मैं रचता हूँ' -- 'मैं सृष्टि करता हूँ' -- यह कहा है । और इतने ही से सूर्यादि के समान कर्तृत्व का अभाव होने के कारण 'मैं उदासीन के समान स्थित हूँ' -- यह कहा है[13] । इसप्रकार 'मैं रचता हूँ' और 'मैं उदासीन के समान स्थित हूँ' -- इन दोनों उक्तियों में कोई विरोध नहीं है । कहा भी है --

''इस द्वैतरूप इन्द्रजाल का जो उपादान कारण है वह अज्ञान है, उस अज्ञान का आश्रय लेकर ही ब्रह्म कारण कहा जाता है''

इसप्रकार यहाँ इस अर्थ में सहस्रों श्रुति -- स्मृतियाँ उद्धृत की जा सकती है ॥ 10 ॥

24 इसप्रकार नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सब प्राणियों का आत्मा, आनन्दघन, अनन्त होने पर भी --
[सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वररूप मेरे परम भाव = पारमार्थिक तत्त्व को न जाननेवाले मूढ़ पुरुष मानुष शरीर को धारण करनेवाले मुझ परमात्मा का अनादर करते हैं ॥ 11 ॥]

25 मुझ परमात्मा का अनादर करते हैं = 'यह साक्षात् ईश्वर हैं' -- इसप्रकार आदर नहीं करते हैं प्रत्युत मेरी निन्दा करते हैं मूढ़ = अविवेकीजन । उनकी अवज्ञा के हेतुभूत भ्रम को सूचित करते हैं -- मानुषी तनु -- शरीर का आश्रय लेनेवाले = मनुष्यरूप से प्रतीयमान मूर्ति को भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए अपनी इच्छा से ग्रहण करनेवाले अर्थात् मनुष्यरूप से प्रतीयमान देह से व्यवहार करनेवाले मुझको 'यह मनुष्य हैं' -- इस भ्रान्ति से आच्छादित -- अन्त:करण होकर मेरे परमभाव = प्रकृष्ट अर्थात् पारमार्थिक तत्त्व को अर्थात् सब भूतों के महान् ईश्वर मुझको न जानते हुए वे मेरा जो आदर नहीं करते हैं प्रत्युत निन्दा करते हैं वह उनकी मूढ़ता -- मूर्खता के अनुरूप ही है ॥ 11 ॥

---

13. जैसे सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है, किन्तु वहाँ उसका कोई कर्तृत्व नहीं रहता है, क्योंकि सूर्य का स्वभाव प्रकाश करना ही है और उसके फलस्वरूप ही जगत् स्वयं ही प्रकाशित होता है, उसीप्रकार प्रकाशस्वरूप मुझमें कल्पित होने के कारण मेरे ही प्रकाश से माया और उसके कार्य प्रकाशित होते हैं ।

26 ते च भगवदवज्ञाननिन्दनजनितमहदुरितप्रतिबद्धबुद्धयो निरन्तरं निरयनिवासार्हा एव –

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥12 ॥

27 ईश्वरमन्तरेण कर्मण्येव नः फलं दास्यन्तीत्येवंरूपा मोघा निष्फलैवाऽऽशा फलप्रार्थना येषां ते । अत एवेश्वरविमुखत्वान्मोघानि श्रममात्ररूपाण्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि येषां ते । तथा मोघमीश्वराप्रतिपादककुतर्कशास्त्रजनितं ज्ञानं येषां ते । कुत एवं यतो विचेतसो भगवदवज्ञानजनितदुरितप्रतिबद्धविवेकविज्ञानाः । किं च ते भगवदवज्ञानवशाद्राक्षसीं तामसीमविहितहिंसाहेतुद्वेषप्रधानामासुरीं च राजसीं शास्त्रानभ्यनुज्ञातविषयभोगहेतुरागप्रधानां च मोहिनीं शास्त्रीयज्ञानभ्रंशहेतुं प्रकृतिं स्वभावमाश्रिता एव भवन्ति । ततश्च —

'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभः ॥'

इत्युक्तनरकद्वारभागितया नरकयातनामेव ते सततमनुभवन्तीत्यर्थः ॥12 ॥

---

26 वे मूढ़जन भगवान् की अवज्ञा और निन्दा से होनेवाले महापाप से प्रतिबद्ध बुद्धि होकर निरन्तर नरक में निवास करने के योग्य ही हैं --

[वे अविवेकीजन व्यर्थ आशा, निष्फल कर्म और दूषित ज्ञानवाले; विवेक और विज्ञान से रहित; तथा मोह में डालनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति का ही आश्रय लिये होते हैं ॥ 12 ॥]

27 'ईश्वर के बिना कर्म ही हमको फल देंगे' -- इसप्रकार की जिनकी मोघ = निष्फल ही आशा = फलप्रार्थना है वे 'मोघाशा' हैं । अतएव ईश्वर से विमुख होने के कारण जिनके मोघ = श्रममात्ररूप अग्निहोत्रादि कर्म हैं वे 'मोघकर्मा' हैं । तथा जिनका मोघ = ईश्वर का प्रतिपादन न करनेवाले, कुतर्कयुक्त शास्त्रों से जनित -- उत्पन्न ज्ञान है वे 'मोघज्ञान' हैं । ऐसे वे क्यों है ? क्योंकि वे विंचेता हैं अर्थात् भगवान् की अवज्ञा से जनित पाप से उनके विवेक और विज्ञान प्रतिबद्ध हो गए हैं । इसके अतिरिक्त वे भगवान् की अवज्ञा के कारण राक्षसी[14] = तापसी अर्थात् आशास्त्रीय हिंसा के हेतुभूत द्वेष की प्रधानतावाली तथा आसुरी[15] = राजसी अर्थात् शास्त्र से अननुमोदित -- असम्मत विषयभोग के हेतुभूत राग की प्रधानतावाली मोहिनी[16] = शास्त्रीय ज्ञान से भ्रष्ट करने की हेतुभूता प्रकृति = स्वभाव के आश्रित ही होते हैं । इसी से 'काम, क्रोध तथा लोभ -- ये आत्मा को नष्ट करनेवाले तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं' (गीता, 16.21) -- इसप्रकार उक्त नरक के द्वार के भागी होने से वे सतत -- निरन्तर नरक की यातनाओं का ही अनुभव करते हैं -- यह अभिप्राय है ॥ 12 ॥

---

14. सब प्रकार से प्राणीहिंसा में रत हुए स्वभाव को 'राक्षसी' प्रकृति करते हैं (प्राणिहिंसारूपो रक्षसां स्वभावः -- आनन्दगिरिटीका) ।

15. दूसरों के धन का अपहरण करना, किसी को भी कुछ नहीं देना, यज्ञादि कर्म नहीं करना तथा अपनी सुविधा के लिए दूसरों को अनेक दुःख देना आदि 'आसुरी' प्रकृति के लक्षण होते हैं (असुराणां स्वभावस्तु न देहि न जुहुधि परस्वमेवापहरेत्यादिरूपः -- आनन्दगिरिटीका) ।

16. 'मोहिनी' शब्द राक्षसी और आसुरी -- इन दोनों प्रकृतियों का ही विशेषण है, 'मोह' मिथ्याज्ञान को कहते है अर्थात् देहादि में आत्मबुद्धि करना ही 'मोह' है (देहादिषु आत्मबुद्धिः मोहः – श्रीधरीटीका); अतः देहादि में आत्मबुद्धिरूप मोह के वश होकर अविवेकीजन तोडो, फोडो, पीओ, खाओ, किसी को कुछ मत दो, दूसरों के धन को लूटो -- इत्यादि वचन बोलनेवाले और यज्ञादि कर्म न कर अत्यन्त निष्ठुर कर्म करनेवाले हो जाते हैं अर्थात् राक्षसी और आसुरी प्रकृतिवाले हो जाते हैं ।

28 भगवद्विमुखानां फलकामनायास्तत्प्रयुक्तस्य नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मानुष्ठानस्य तत्प्रयुक्तस्य शास्त्रीयज्ञानस्य च वैयर्थ्यात्पारलौकिकफलतत्साधनशून्यास्ते । नाप्यैहलौकिकं किंचित्फलमस्ति तेषां विवेकविज्ञानशून्यतया विचेतसो हि ते । अतः सर्वपुरुषार्थबाह्याः शोच्या एव सर्वेषां ते वराका इत्युक्तम् । अधुना के सर्वपुरुषार्थभाजोऽशोच्या ये भगवदेकशरणा इत्युच्यते –

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ 13 ॥

29 महाननेकजन्मकृतसुकृतैः संस्कृतः क्षुद्रकामाद्यनभिभूत आत्माऽन्तःकरणं येषां तेऽत एव 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादिवक्ष्यमाणां दैवीं सात्त्विकीं प्रकृतिमाश्रिताः । अत एवान्यस्मिन्मद्व्यतिरिक्ते नास्ति मनो येषां ते भूतादिं सर्वजगत्कारणमव्ययमविनाशिनं च मामीश्वरं ज्ञात्वा भजन्ति सेवन्ते ॥ 13 ॥

30 ते केन प्रकारेण भजन्तीत्युच्यते द्वाभ्याम् –

28 भगवान् से जो विमुख हैं उनकी फलकामना, उससे प्रयुक्त नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों का अनुष्ठान तथा उससे प्रयुक्त -- फलित शास्त्रीय ज्ञान -- ये सब व्यर्थ होते हैं, अत: वे पारलौकिक फल और उसके साधनों से शून्य होते हैं । उनको कोई ऐहलौकिक फल भी नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि वे विवेक और विज्ञान से शून्य होने के कारण विचेता -- विचारहीन होते हैं । अत: वे बेचारे सब प्रकार के पुरुषार्थ से बाह्य और सबके शोच्य -- शोचनीय ही कहे गए हैं । अब प्रश्न है कि सर्वपुरुषार्थभागी और अशोच्य कौन हैं ? तो भगवान् कहते हैं कि जो एकमात्र भगवान् की ही शरण में हैं --

[हे पार्थ ! जिनका मन मेरे अतिरिक्त अन्य की ओर नहीं जाता है वे महात्माजन तो मुझको भूतादि का कारण और अव्यय -- अविनाशी जानकर दैवी प्रकृति का आश्रय ग्रहण कर निरन्तर मुझको ही भजते हैं ॥ 13 ॥]

29 महान् अर्थात् अनेक जन्मों में किए हुए पुण्यों से संस्कृत -- क्षुद्र कामादि से अनभिभूत आत्मा = अन्त:करण है जिनका वे महात्मा हैं, अतएव वे 'अभयं सत्त्वसंशुद्धि' (गीता, 16.1-3) -- इत्यादि श्लोकों से वक्ष्यमाण दैवी = सात्त्विकी प्रकृति के आश्रित हैं, अतएव मेरे अतिरिक्त अन्य में मन नहीं है जिनका वे अनन्यमना हैं । ऐसे वे मुझ ईश्वर को ही भूतादि = सम्पूर्ण जगत् का कारण और अव्यय[17] = अविनाशी जानकर भजते हैं अर्थात् मेरा ही सेवन करते हैं ॥ 13 ॥

30 वे किस प्रकार मुझको भजते हैं ? -- यह दो श्लोकों से कहते हैं --

17. प्रकृत प्रसंग में 'भूतादि' शब्द से ईश्वर -- ब्रह्म को सम्पूर्ण भूतों का आदि अर्थात् कारण कहा गया है, अतएव 'भूतादि' से कार्य के कारणरूप होने के कारण भूतों के पृथक् स्वरूप का अभाव और ब्रह्म का अद्वितीयत्व भी कहा गया है । किन्तु यहाँ शंका हो सकती है कि जैसे कदली आदि कार्य के नाश से कारण का भी नाश देखा जाता है, वैसे ही भूतों के नाश से ब्रह्म के नाश का भी प्रसंग उपस्थित होगा, तो इस शंका का निवारण 'अव्यय' शब्द से किया गया है वह ब्रह्म अव्यय -- अविनाशी है, उसका ज्ञान से, अज्ञान से, कारण के नाश से, कार्य के नाश से, अपने से या अन्य से -- किसी प्रकार से भी व्यय -- नाश नहीं होता है, वह अव्यय है अर्थात् नित्य, सर्वात्मक, अखण्ड, आनंदैकरस, परब्रह्म है ।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ 14 ॥

31 सततं सर्वदा ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारेण गुरूपसदनेतरकाले च प्रणवजपोपनिषदावर्तनादिभिर्मां सर्वोपनिषत्प्रतिपाद्यं ब्रह्मस्वरूपं कीर्तयन्तो वेदान्तशास्त्राध्ययनरूपश्रवणव्यापारविषयीकुर्वन्त इति यावत् । तथा यतन्तश्च गुरुसंनिधावन्यत्र वा वेदान्ताविरोधितर्कानुसंधानेनाप्रामाण्यशङ्कानास्कन्दितगुरूपदिष्टमत्स्वरूपावधारणाय यतमानाः श्रवणनिर्धारितार्थबाधशङ्कापनोदकतर्कानुसंधानरूपमननपरायणा इति यावत् । तथा दृढव्रता दृढानि प्रतिपक्षैश्चालयितुमशक्यानि अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहादीनि व्रतानि येषां ते शमदमादिसाधनसंपन्ना इति यावत् । तथा चोक्तं पतञ्जलिना 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' ते तु 'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' इति । जात्या ब्राह्मणत्वादिकया देशेन तीर्थादिना कालेन चतुर्दश्यादिना समयेन यज्ञाद्यन्यत्वेनानवच्छिन्ना अहिंसादयः सार्वभौमाः क्षिप्तमूढविक्षिप्तभूमिष्वपि भाव्यमानाः कस्यामपि जातौ कस्मिन्नपिदेशे कस्मिन्नपि काले यज्ञादिप्रयोजनेऽपि हिंसां न करिष्यामीत्येवंरूपेण किंचिदप्यपर्युदस्य सामान्येन प्रवृत्ता एते महाव्रतमित्युच्यन्त इत्यर्थः । तथा नमस्यन्तश्च मां कायवाङ्मनोभिर्नमस्कुर्वन्तश्च मां भगवन्तं वासुदेवं सकलकल्याणगुणनिधानमिष्टदेवतारूपेण गुरुरूपेण च स्थितम् । चकारात् —

[नित्ययुक्त अर्थात् मुझमें सर्वदा परम प्रेम से युक्त वे महात्माजन सतत -- निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ़व्रती होकर मेरे स्वरूप को जानने का प्रयत्न करते हुए और भक्तिपूर्वक मुझको नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं ॥ 14 ॥]

31 सतत = सर्वदा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाकर वेदान्तवाक्यों के विचार से तथा गुरूपसदन मे भिन्न काल में प्रणवजप, उपनिषद्-पाठादि से सम्पूर्ण उपनिषदों के प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूप मेरा कीर्तन करते हुए अर्थात् मुझको वेदान्तशास्त्र के अध्ययनरूप श्रवणव्यापार का विषय करते हुए; तथा यत्न करते हुए = गुरुसन्निधि में या अन्यत्र वेदान्ताविरोधी तर्कानुसंधान से अप्रामाण्य की शङ्का से अनास्कन्दित -अस्पृष्ट गुरूपदिष्ट मेरे स्वरूप का निश्चय करने के लिए यत्न करते हुए अर्थात् श्रवण द्वारा निर्धारित अर्थ के बाध की शङ्का के निवर्तक तर्कानुसन्धानरूप मनन में लगे हुए; तथा दृढवती होकर = दृढ़ - प्रतिपक्षियों द्वारा चलायमान न किये जा सकनेवाले अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रत हैं जिनके वे शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न होकर, -- इसी प्रकार पतञ्जलि ने कहा है - 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह - ये यम हैं ' (योगसूत्र, 2.30), 'वे तो जब जातिरूप अवच्छेद से रहित, देशरूप अवच्छेद से रहित, कालरूप अवच्छेद से रहित तथा समयरूप अवच्छेद से रहित होते हैं, तब सब अवस्था में व्यभिचाररहित होने के कारण सार्वभौम 'महाव्रत' कहलाते हैं (योगसूत्र, 2.31) । जाति से -- ब्राह्मणत्वादि से, देश से -- तीर्थादि से, काल से -- चतुर्दशी आदि से और समय से -- यज्ञादि की अन्यता से अनवच्छिन्न अहिंसा आदि सार्वभौम = क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों में भी होनेवाले अर्थात् किसी भी जाति में, किसी भी देश में, किसी भी काल में और यज्ञादि के प्रयोजन में भी मैं हिंसा नहीं करूँगा -- एवंरूप किसी भी निमित्त को अपवादरूप से न छोड़कर सामान्यरूप से प्रवृत हुए ये यम 'महाव्रत' कहे जाते हैं-- यह तात्पर्य

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥'

इति वन्दनसहचरितं श्रवणाद्यपि बोद्धव्यम् ।अर्चनं पादसेवनमित्यपि गुरुरूपे तस्मिन्सुकरमेव ।

32 अत्र मामिति पुनर्वचनं सगुणरूपपरामर्शार्थम् । अन्यथा वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तथा भक्त्या मद्विषयेण परेण प्रेम्णा नित्ययुक्ताः सर्वदा संयुक्ताः एतेन सर्वसाधनपौष्कल्यं प्रतिबन्धकाभावश्च दर्शितः ।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥' इति श्रुतेः ।

पतञ्जलिना चोक्तं 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' इति । तत ईश्वरप्रणिधानात्प्रत्यक्चेतनस्य त्वंपदलक्ष्यस्याधिगमः साक्षात्कारो भवति, अन्तरायाणां विघ्नानां चाभावो भवतीति सूत्रस्यार्थः ।

33 तदेवं शमदमादिसाधनसंपन्ना वेदान्तश्रवणमननपरायणाः परमेश्वरे परमगुरौ प्रेम्णा नमस्कारादिना च विगतविघ्नाः परिपूर्णसर्वसाधनाः सन्तो मामुपासते विजातीयप्रत्ययानन्तरितेन सजातीयप्रत्ययप्रवाहेण श्रवणमननोत्तरभाविना सततं चिन्तयन्ति महात्मानः । अनेन निदिध्यासनं चरमसाधनं दर्शितम् । एतादृशसाधनपौष्कल्ये सति यद्वेदान्तवाक्यजमखण्डगोचरं साक्षात्काररूप-

---

है; तथा मुझको नमस्कार करते हुए = इष्टदेवतारूप से और गुरुरूप से स्थित मुझ सकलकल्याणगुणनिधान भगवान् वासुदेव को शरीर, वाणी और मन से नमस्कार करते हुए, -- चकार से 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्' -- इसके अनुसार वन्दन के सहचरित श्रवणादि को भी समझना चाहिए । अर्चन और पादसेवन भी उस गुरुरूप भगवान् में सुकर ही है ।

32 यहाँ 'माम्' -- यह पुनः कथन भगवान् के सगुणरूप के परामर्श के लिए है, अन्यता इसकी व्यर्थता का प्रसंग होगा । तथा भक्ति से = मद्विषयक परम प्रेम से नित्ययुक्त = सर्वदा संयुक्त हैं जो वे महात्मा । इससे समस्त साधनों की पुष्कलता - पूर्णता और प्रतिबन्धकाभाव दिखलाया है । जैसा कि श्रुति कहती है :-

''जिसकी इष्टदेव में पराभक्ति है और जैसी इष्टदेव में है वैसी गुरु में भी है, उसी महात्मा को ये अध्यात्मशास्त्रोक्त अर्थ भासित-प्रकाशित होते हैं'' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.23) ।

पतञ्जलि ने भी कहा है -- 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (योगसूत्र, 1.29) = 'ईश्वरप्रणिधान से जैसे शीघ्र समाधिलाभ होता है, वैसे ही व्याधि आदि अन्तराय - विघ्न का अभाव और प्रत्यक्-चेतनरूप आत्मा का साक्षात्कार भी होता है' । ईश्वरप्रणिधान से प्रत्यक्-चेतन = त्वंपद लक्ष्य का अधिगम =साक्षात्कार होता है और अन्तरायों - विघ्नों का अभाव भी होता है -- यह सूत्र का अर्थ है ।

33 इसप्रकार शमदमादि साधनों से सम्पन्न, वेदान्तश्रवणमननपरायण, परमगुरु परमेश्वर में प्रेम और नमस्कारादि से विघ्नशून्य और सर्वसाधनसम्पन्न होते हुए वे महात्मा मेरी उपासना करते हैं अर्थात् विजातीय वृत्तियों के व्यवधान से रहित सजातीय वृत्तियों के प्रवाहरूप श्रवण और मनन के अनन्तर होने वाली भक्ति से सतत - निरन्तर मेरा चिन्तन करते हैं । इससे निदिध्यासन चरम-अन्तिम साधन है - यह दिखलाया है । इसप्रकार की साधनपुष्कलता होने पर जो वेदान्तवाक्य से उत्पन्न अखण्डवृत्ति

महं ब्रह्मास्मीति ज्ञानं तत्सर्वशङ्काकलङ्कास्पृष्टं सर्वसाधनफलभूतं स्वोत्पत्तिमात्रेण दीप इव तमः सकलमज्ञानं तत्कार्यं च नाशयतीति निरपेक्षमेव साक्षान्मोक्षहेतुर्न तु भूमिजयक्रमेण भ्रूमध्ये प्राणप्रवेशनं मूर्धन्यया नाड्या प्राणोत्क्रमणमर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनं तद्भोगान्तकालविलम्बं वा प्रतीक्षते । अतो यत्प्राक्प्रतिज्ञातम् 'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे । ज्ञानम्' इति तदेतदुक्तम् । फलं चास्याशुभान्मोक्षणं प्रागुक्तमेवेतीह पुनर्नोक्तम्। एवमत्रायं गम्भीरो भगवतोऽभिप्रायः । उत्तानार्थस्तु प्रकट एव ॥ 14 ॥

34 **इदानीं य एवमुक्तश्रवणमनननिदिध्यासनासमर्थास्तेऽपि त्रिविधा उत्तमा मध्यमा मन्दाश्चेति सर्वेऽपि स्वानुरूप्येण मामुपासत इत्याह –**

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥15 ॥

35 **अन्ये पूर्वोक्तसाधनानुष्ठानासमर्था ज्ञानयज्ञेन 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वै त्वमसि'**

का विषय, साक्षात्काररूप 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- यह ज्ञान होता है वह सर्वशङ्कारूप कलङ्क से अस्पृष्ट, समस्त साधनों का फलभूत होता है, और वह अपनी उत्पत्तिमात्र से सकल अज्ञान और उसके कार्य का नाश कर देता है, जैसे -- दीपक अपनी उत्पत्तिमात्र से अन्धकार का नाश कर देता है । अत एंव उक्तज्ञान निरपेक्ष ही साक्षात् मोक्ष का हेतु है । न कि वह भूमिकाजय के क्रम से दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में प्राणों का प्रवेश करने की, मूर्धन्य - सुषुम्ना नाडी से प्राणोत्क्रमण की, अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक जाने की, अथवा ब्रह्मलोक के भोगपर्यन्त कालरूप विलम्ब की प्रतीक्षा करता है । अत: जैसी कि प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की थी कि 'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे । ज्ञानम्' (गीता, 9.1) = 'मैं अनसूयु तुमको यह अत्यन्त गुह्य ज्ञान कहूँगा' -- वही यह ज्ञान कह दिया । इसका फल - "अशुभ से मोक्षण - मुक्त होना'- तो पहले ही कह दिया गया है, अत: यहाँ पुन: नहीं कहा गया है । इसप्रकार यहाँ भगवान् का यह गम्भीर अभिप्राय है और उत्तान[18]-स्पष्ट अर्थ तो प्रकट ही है ॥ 14 ॥

34 अब भगवान् यह कहते हैं कि जो इसप्रकार उक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासन में असमर्थ हैं वे भी उत्तम, मध्यम और मन्द के भेद से तीन प्रकार के हैं और वे सभी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार मेरी उपासना करते हैं --

[अन्यजन अर्थात्, श्रवण, मनन और निदिध्यासन में असमर्थजन ज्ञानयज्ञ से भी यजन-पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं । उनमें कोई उत्तम अधिकारी तो एकत्वभाव से अर्थात् जो कुछ है सब वासुदेव ही हैं - इसप्रकार अभेदभाव से उपासना करते हैं, अन्य कोई मध्यम अधिकारी पृथक्त्वभाव से अर्थात् उपास्य और उपासक के भेदभाव से तथा अन्य कोई मन्द साधक बहुत प्रकार से विश्वरूप मेरी उपासना करते हैं ॥ 15 ॥]

35 अन्यजन = पूर्वोक्त साधनों के अनुष्ठान में असमर्थजन ज्ञानयज्ञ से = 'हे भगवो देवते ! तुमही मैं हूँ और मैं ही तुम हो' -- इत्यादि श्रुति से उक्त अहंग्रहोपासना ज्ञान है[19] और परमेश्वर का यजनरूप

18. 'निम्नं गंभीर गम्भीरम् उत्तानं तद्विपर्यये' (अमरकोश, 1.10.15) -- निम्न, गभीर और गम्भीर - ये गम्भीर-गहरे के नाम हैं, उस गम्भीर-गहरे से विपरीत स्पष्ट-उथले को 'उत्तान' कहते हैं ।

19. आचार्य धनपति अपनी भाष्योत्कर्षदीपिका में कहते हैं कि मधुसूदन सरस्वती ने जो ज्ञान का अर्थ 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वै त्वमसि' -- इस श्रुति के अनुसार 'अहंग्रहोपासना' किया है वह चिन्त्य है, क्योंकि

इत्यादिश्रुत्युक्तमहंग्रहोपासनं ज्ञानं स एव परमेश्वरयजनरूपत्वाद्यज्ञस्तेन । चकार एवार्थे । अपिशब्दः साधनान्तरत्यागार्थः । केचित्साधनान्तरनिस्पृहाः सन्त उपास्योपासकाभेदचिन्तारूपेण ज्ञानयज्ञेनैकत्वेन भेदव्यावृत्त्या मामेवोपासते चिन्तयन्त्युत्तमाः । अन्ये तु केचिन्मध्यमाः पृथक्त्वेनोपास्योपासकयोर्भेदेन ' आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' इत्यादिश्रुत्युक्तेन प्रतीकोपासनरूपेण ज्ञानयज्ञेन मामेवोपासते । अन्ये त्वहंग्रहोपासने प्रतीकोपासने वाऽसमर्थाः केचिन्मन्दाः कांचिदन्यां देवतां चोपासीनाः कानिचित्कर्माणि वा कुर्वाणा बहुधा तैस्तैर्बहुभिः प्रकारैर्विश्वरूपं सर्वात्मानं मामेवोपासते । तेन तेन ज्ञानयज्ञेनेति उत्तरोत्तराणां क्रमेण पूर्वपूर्वभूमिलाभः ॥ 15 ॥

36 **यदि बहुधोपासते तर्हि कथं त्वामेवेत्याशङ्क्याऽऽत्मनो विश्वरूपत्वं प्रपञ्चयति चतुर्भिः –**

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाऽऽज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ 16 ॥

37 **सर्वस्वरूपोऽहमिति वक्तव्ये तत्तदेकदेशकथनमवयुत्यानुवादेन वैश्वानरे द्वादशकपालेऽष्टाकपालत्वादिकथनवत् । क्रतुः श्रौतोऽग्निष्टोमादिः । यज्ञः स्मार्तो वैश्वदेवादिर्महायज्ञत्वेन श्रुति-**

होने से वही यज्ञ है -- इसप्रकार उस ज्ञानयज्ञ से भी मेरी उपासना करते हैं । यहाँ चकार एवकार के अर्थ में है तथा 'अपि' शब्द अन्य साधनों का त्याग सूचित करने के लिए है । उनमें कोई उत्तम अधिकारी तो अन्य साधनों की स्पृहा न करते हुए उपास्य और उपासक के अभेदचिन्तनरूप ज्ञानयज्ञ के द्वारा एकत्वभाव से अर्थात् भेद की व्यावृत्ति से मेरी ही उपासना करते हैं -- मेरा ही चिन्तन करते हैं । अन्य कोई मध्यम अधिकारी 'आदित्य ब्रह्म है -- ऐसा आदेश है' -- इत्यादि श्रुति से उक्त प्रतीकोपासनारूप ज्ञानयज्ञ के द्वारा पृथक्त्वभाव से अर्थात् उपास्य और उपासक के भेदभाव से मेरी ही उपासना करते हैं । अन्य कोई मन्द अधिकारी अर्थात् जो अहंग्रहोपासना अथवा प्रतीकोपासना में भी असमर्थ हैं वे अतिमन्द अधिकारी तो किसी अन्य देवता की उपासना करते हुए या किन्हीं कर्मों को करते हुए - प्रायः उन-उन बहुत प्रकारों से विश्वरूप = सर्वात्मा मेरी ही उपासना करते हैं । उस-उस ज्ञानयज्ञ से मेरी उपासना करते हैं -- इसका अभिप्राय यह है कि उत्तर-उत्तर की उपासना के क्रम से पूर्व-पूर्व भूमि का लाभ होता है ॥ 15 ॥

36 यदि वे अतिमन्द अधिकारी बहुत प्रकार से उपासना करते हैं तो वे आप ही की उपासना कैसे करते हैं -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् चार श्लोकों से अपनी विश्वरूपता का प्रतिपादन करते हैं --

[मैं क्रतु अर्थात् श्रोतकर्म हूँ, मैं यज्ञ अर्थात् स्मार्तकर्म हूँ, स्वधा मैं हूँ, मैं औषध हूँ, मन्त्र मैं हूँ, मैं ही आज्य-घृत हूँ, मैं ही अग्नि हूँ और मैं ही हवनक्रिया भी हूँ ॥ 16 ॥]

37 'मैं सर्वस्वरूप हूँ' -- यह कहना अभीष्ट था, किन्तु ऐसा न कहकर अवयुत्यनुवाद[20] से उस-उस एक देश का कथन किया है, जैसे - वैश्वानर यज्ञ में द्वादशकपाल के प्रसंग में अवयुत्यनुवाद से

मुख्य और अमुख्य अर्थ में से मुख्य अर्थ ही ग्रहण करना उचित होता है, अमुख्य अर्थ को ग्रहण करना तो अनुचित ही है । अतः प्रकृत में ज्ञान का अर्थ 'एकमेव परं ब्रह्म' -- 'एक ही परब्रह्म है' -- यह परमार्थदर्शन है । यह मुख्यार्थ ही यहाँ स्वीकार्य है, अमुख्यार्थ नहीं ।

20. 'अनुवाद' अर्थवाद का प्रभेद है । एकदेश से समुदायानुवाद 'अवयुत्यनुवाद' है ।

स्मृतिप्रसिद्धः । स्वधाऽन्नं पितृभ्यो दीयमानम् । औषधमोषधिप्रभवमन्नं सर्वैः प्राणिभिर्भुज्यमानं भेषजं वा । मन्त्रो याज्यापुरोनुवाक्यादिर्येनोद्दिश्य हविर्दीयते देवेभ्यः । आज्यं घृतं, सर्वहविरूपलक्षणमिदम् । अग्निराहवनीयादिर्हविष्प्रक्षेपाधिकरणम् । हुतं हवनं हविष्प्रक्षेपः एतत्सर्वमहं परमेश्वर एव । एतदेकैकज्ञानमपि भगवदुपासनमिति कथयितुं प्रत्येकमहंशब्दः । क्रियाकारकफलजातं किमपि भगवदतिरिक्तं नास्तीति समुदायार्थः ॥16 ॥

38 **किं च –**

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥17 ॥

39 **अस्य जगतः सर्वस्य प्राणिजातस्य पिता जनयिता, माता जनयित्री, धाता पोषयिता तत्तत्कर्मफलविधाता वा । पितामहः पितुः पिता, वेद्यं वेदितव्यं वस्तु, पूयतेऽनेनेति पवित्रं**

अष्टाकपालत्वादि का कथन किया गया[21] है । 'क्रतु' श्रौत अग्निष्टोमादि हैं । 'यज्ञ' स्मार्त वैश्वदेवादि हैं जो श्रुति और स्मृतियों में महायज्ञरूप से प्रसिद्ध हैं । 'स्वधा' पितरों के उद्देश्य से दीयमान अन्न है । 'औषध' ओषधियों से सम्पन्न अन्न है, अथवा समस्त प्राणियों द्वारा खायी जानेवाली भेषज-दवा ही 'औषध' है । 'मन्त्र' याज्या, पुरोनुवाक्यादि हैं, जिससे देवताओं के उद्देश्य से हवि दी जाती है । 'आज्य' घृत को कहते हैं, यह सब हवियों का उपलक्षण है । 'अग्नि' आहवनीयादि हैं, जो हवि डालने का अधिकरण-आधार है । 'हुत' हवन को कहते हैं, हवि डालने को कहते हैं । ये सब मैं परमेश्वर ही हूँ । इनमें एक-एक ज्ञान भी भगवान् की उपासना है -- यह कहने के लिए प्रत्येक के साथ 'अहम् = मैं' शब्द का उच्चारण है । क्रियाकारक -- फलजात कुछ भी भगवान् से अतिरिक्त नहीं है -- यह समुदायार्थ है ॥ 16 ॥

38 इसके अतिरिक्त --

[इस जगत् का पिता मैं हूँ, माता मैं हूँ, धाता अर्थात् धारण-पोषण करनेवाला भी मैं हूँ, पितामह मैं हूँ; वेद्य, पवित्र, ओंकार मैं ही हूँ तथा ऋक्, साम और यजु भी मैं हूँ ॥ 17 ॥

39 इस जगत् का अर्थात् सम्पूर्ण प्राणीसमूह का पिता-जनयिता, माता-जनयित्री, धाता= पोषयिता-पोषण करनेवाला अथवा उस-उस कर्मफल का विधाता-विधान करनेवाला मैं हूँ । पितामह = पिता का पिता भी मैं हूँ । वेद्य = वेदितव्य-जानने के योग्य वस्तु[22], पवित्र हो जिससे वह पवित्र-पावन अर्थात्

21. प्रकृत प्रसंग मीमांसादर्शन के प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद के बारहवें वैश्वानरेष्ट्याद्यर्थवादताधिकरण से उद्धृत है । वहाँ पहले कहा है – 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जाते' = 'पुत्र का जन्म होने पर वैश्वानर देवता के उद्देश्य से द्वादशकपाल अर्थात् बारह कपालों - मिट्टी के शकोरों में संस्कार किये हुए पुरोडाश से यज्ञ करें', तदुपरान्त 'यदष्टाकपालो भवति गायत्र्येवै ब्रह्मवर्चसेन पुनाति यन्नवकपालस्त्रिवृतैवास्मिन्नित्यादि श्रूयते' -- इस श्रुति से भिन्न-भिन्न फलों का उल्लेख करते हुए अष्टाकपाल और नवकपाल से यज्ञ करने का विधान कहा गया है । यहाँ शंका यह है कि अष्टाकपालादि इष्टियाँ स्वतंत्र कर्म हैं या द्वादशकपाल इष्टि के अंगरूप अर्थवाद हैं । इस शंका के समाधान में आचार्य ने अष्टाकपालादि को द्वादशकपाल का अंगरूप अर्थवाद कहा है । अत एव मधुसूदन सरस्वती ने द्वादशकपाल के प्रसंग में अष्टाकपालत्वादि के कथन को अवयुत्यनुवाद कथन कहा है ।

22. मैं ही वेद्य-वेदितव्य वस्तु अर्थात् ज्ञातव्य सर्वात्मा परम ब्रह्म हूँ । मैं अर्थात् आत्मा को ही ज्ञातव्य इसलिए कहा गया है कि आत्मा को जानकर सब कुछ विदित हो जाता है । श्रुति में भी कहा गया है -- 'आत्मनि खल्वरे इष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.5.6) । अतएव श्रुति में अन्य सब कर्मों का त्याग कर एकमात्र आत्मा को जानने के लिए ही कहा गया है । जैसे :- 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ' (मुण्डकोपनिषद्, 2.2.5) । 'अन्य सब वाक्य त्याग कर उस एक अद्वितीय आत्मा को ही जानो, क्योंकि वह आत्मविज्ञान ही मोक्ष का सेतु है' ।

पावनं शुद्धिहेतुर्गङ्गास्नानगायत्रीजपादि । वेदितव्ये ब्रह्मणि वेदनसाधनमोंकारः । नियताक्षरपादा, ऋक् । गीतिविशिष्टा सैव साम । सामपदं तु गीतिमात्रस्यैवाभिधायकमित्यन्यत् । गीतिरहितमनियताक्षरं यजुः । एतत्त्रिविधं मन्त्रजातं कर्मोपयोगि । चकारादथर्वाङ्गिरसोऽपि गृह्यन्ते । एवकारोऽहमेवेत्यवधारणार्थः ॥ 17 ॥

40 **किं च --**

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ 18 ॥

41 **गम्यत इति गतिः कर्मफलं,**

'ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥' इत्येवं मन्वाद्युक्तम् ।

भर्ता पोष्टा सुखसाधनस्यैव दाता । प्रभुः स्वामी मदीयोऽयमिति स्वीकर्ता । साक्षी सर्वप्राणिनां शुभाशुभद्रष्टा । निवसन्त्यस्मिन्निति निवासो भोगस्थानम् । शीर्यते दुःखमस्मिन्निति शरणं प्रपन्नानामार्तिहृत् । सुहृत्प्रत्युपकारानपेक्षः सन्नुपकारी । प्रभव उत्पत्तिः । प्रलयो विनाशः ।

शुद्धि के हेतु गंगास्नान, गायत्रीजप आदि मैं ही हूँ । वेदितव्य ब्रह्म के वेदन-ज्ञान का साधन 'ओंकार' मैं हूँ[23] । जिसके पाद में अक्षर नियत होते हैं वह 'ऋक्', जो गीतिविशिष्ट है वही 'साम' -- अन्य के मत में 'सामपद' तो केवल गीतिमात्र का ही अभिधायक -बोधक है, जो गीतिरहित और अनियताक्षर है वह यजु मैं ही हूँ । यह तीन प्रकार का मन्त्रसमुदाय कर्मोपयोगी है । चकार से अथर्ववेद का भी ग्रहण है । एवकार 'अहमेव' = 'मैं ही हूँ' -- यह निश्चय करने के लिए है ॥ 17 ॥

40 और फिर --

[मैं ही गति-कर्मफल, भर्ता-पोष्टा-पोषण करनेवाला, प्रभु, साक्षी, निवास-भोगस्थान, शरण, सुहृत्; प्रभव-उत्पत्ति, प्रलय-विनाश, स्थान-स्थिति अर्थात् उत्पत्ति-विनाश-स्थिति का स्थान; लयस्थान और अविनाशी बीज हूँ ॥ 18 ॥]

41 'गम्यते इति गतिः कर्मफलम्' = जो प्राप्त किया जाता है उसको 'गति' अर्थात् कर्मफल कहते हैं । 'विश्व की सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा, धर्म, महान् और अव्यक्त - इनको मनीषीजन सात्त्विकी उत्तम 'गति' कहते हैं' (मनुस्मृति, 12.50) -- इसप्रकार मनु आदि ने भी कहा है । 'भर्ता' = पोष्टा-पोषण करनेवाला अर्थात् सुख के साधनों को ही देनेवाला है । 'प्रभु' = स्वामी अर्थात् 'यह मदीय-मेरा है' -- इसप्रकार स्वीकार करनेवाला है । 'साक्षी' समस्त प्राणियों के शुभ और अशुभ का द्रष्टा है ।' निवसन्त्यस्मिन्निति' = जिसमें निवास करते हैं वह 'निवास' अर्थात् भोगस्थान है । 'शीर्यते दुःखमस्मिन्निति' = जिसमें

---

23. जैसा कि पतञ्जलि ने कहा है -- 'तस्य वाचकः प्रणवः ' (योगसूत्र, 1.27) = उस ईश्वर-परमेश्वर-ब्रह्म का वाचक प्रणव =ओंकार है । ओंकाररूप साधन से ही ब्रह्म ज्ञेय है, जैसा कि श्रुति कहती है – 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' (मुण्डकोपनिषद्, 2.2.6) = 'ओंकार से ही आत्मा का ध्यान करो । अविद्यान्धकार से शून्य स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूप आत्मा की प्राप्ति के लिए यह ओंकाररूप साधन विघ्नशून्य हो' ।

स्थानं स्थितिः । यद्वा प्रकर्षेण भवन्त्यनेनेति प्रभवः स्रष्टा । प्रकर्षेण लीयन्तेऽनेनेति प्रलयः संहर्ता । तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानमाधारः । निधीयते निक्षिप्यते तत्कालभोगायोग्यतया कालान्तरोपभोग्यं वस्त्वस्मिन्निति निधानं सूक्ष्मरूपसर्ववस्त्वधिकरणं प्रलयस्थानमिति यावत् । शङ्खपद्मादिनिधिर्वा । बीजमुत्पत्तिकारणम् । अव्ययमविनाशि न तु व्रीह्यादिवद्विनश्वरम् । तेनानाद्यनन्तं यत्कारणं तदप्यहमेवेति पूर्वेणैव संबन्धः ॥ 18 ॥

42 **किं च –**

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ 19 ॥

43 **तपाम्यहमादित्यः सन् । ततश्च तापवशादहं वर्षं पूर्ववृष्टिरूपं रसं पृथिव्या निगृह्णाम्याकर्षामि कैश्चिद्रश्मिभिरष्टसु मासेषु । पुनस्तमेव निगृहीतं रसं चतुर्षु मासेषु कैश्चिद्रश्मिभिरुत्सृजामि च वृष्टिरूपेण प्रक्षिपामि च भूमौ । अमृतं च देवानां सर्वप्राणिनां जीवनं वा । एवकारस्याहमित्यनेन संबन्धः । मृत्युश्च मर्त्यानां सर्वप्राणिनां विनाशो वा । सत्, यत्संबन्धितया यद्विद्यते तत्तत्र सत् ।**

दुःख शीर्ण होता है वह 'शरण' अर्थात् शरणागतों के दुःख को हरनेवाला है । 'सुहृत्' प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए उपकार करनेवाला है । 'प्रभव' उत्पत्ति है । 'प्रलय' विनाश है । 'स्थान' स्थिति है । अथवा, 'प्रकर्षेण भवन्त्यनेनेति' = जिससे प्रकर्ष से होते हैं वह 'प्रभव' अर्थात् स्रष्टा है । 'प्रकर्षेण लीयन्तेऽनेनेति'= जिससे प्रकर्षेण लय हो वह 'प्रलय'[24] अर्थात् संहर्ता है । 'तिष्ठन्त्यस्मिन्निति' = जिसमें स्थित रहते हैं वह स्थान अर्थात् आधार है । जिसमें तत्काल भोग के अयोग्य होने से कालान्तर में उपभोग के योग्य वस्तु निहित की जाती है -- डाली जाती है वह 'निधान' अर्थात् सूक्ष्मरूप सब वस्तुओं का अधिकरण-प्रलयस्थान है, अथवा शङ्ख, पद्म आदि 'निधि' हैं । 'बीज ' उत्पत्ति के कारण को कहते हैं । 'अव्यय' अविनाशी है, न कि व्रीहि आदि के समान विनश्वर है । इससे अनादि अनन्त जो कारण है वह भी मैं ही हूँ -- इस प्रकार इसका भी पूर्व श्लोकों से ही सम्बन्ध है ॥ 18 ॥

42 तथा --

[हे अर्जुन ! मैं ही सूर्यरूप से तपता हूँ, मैं ही वर्ष अर्थात् पूर्ववृष्टिरूप रस-जल को पृथिवी से ग्रहण करता हूँ और मैं ही उसको बरसाता हूँ । मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ । सत् और असत् भी सब कुछ मैं ही हूँ ॥ 19 ॥]

43 आदित्य-सूर्य होकर मैं ही तपता हूँ । उस ताप के कारण ही मैं वर्ष = पूर्ववृष्टिरूप रस-जल को पृथिवी से ग्रहण करता हूँ अर्थात् खींचता हूँ -- अपनी कुछ रश्मियों -- किरणों के द्वारा आठ महीने तक खींचता हूँ । पुनः उस निगृहीत -- आकर्षित रस-जल को चार महीनों में अपनी कुछ रश्मियों-किरणों से बरसाता हूँ अर्थात् वृष्टि-वर्षारूप से भूमि पर छोड़ देता हूँ । 'अमृत' अर्थात् देवता और समस्त प्राणियों का जीवन मैं हूँ । यहाँ एवकार का 'अहम्' = 'मैं' के साथ सम्बन्ध है । 'मृत्यु' अर्थात् मर्त्य अथवा सब प्राणियों का विनाश है । 'सत्' = जिसके सम्बन्धीरूप से जो वस्तु विद्यमान है वह वहाँ 'सत्' कही जाती है । 'असत् = जिसके सम्बन्धीरूप से जो विद्यमान

24. 'प्रलीयते यस्मित् इति प्रलयः' = 'जिसमें सब लीन हो जाते हैं वह 'प्रलय' है (श्रीधरीटीका) ।

असच्च यत्संबन्धितया यन्न विद्यते तत्तत्रासत् । एतत्सर्वमहमेव हेऽर्जुन । तस्मात्सर्वात्मानं मां विदित्वा स्वस्वाधिकारानुसारेण बहुभिः प्रकारैर्मामेवोपासत इत्युपपन्नम् ॥19 ॥

44 **एवमेकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा चेति त्रिविधा अपि निष्कामाः सन्तो भगवन्तमुपासीनाः सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेण क्रमेण मुच्यन्ते । ये तु सकामाः सन्तो न केनापि प्रकारेण भगवन्तमुपासते किं तु स्वस्वकामसाधनानि काम्यान्येव कर्माण्यनुतिष्ठन्ति ते सत्त्वशोधकाभावेन ज्ञानसाधनमनधिरूढाः पुनः पुनर्जन्ममरणप्रबन्धेन सर्वदा संसारदुःखमेवानुभवन्तीत्याह द्वाभ्याम् –**

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ 20 ॥

45 **ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदलक्षणा हौत्राध्वर्यवौद्गात्रप्रतिपत्तिहेतवस्तिस्रो विद्या येषां ते त्रिविद्यास्त्रिविद्या एव स्वार्थिकतद्धितेन त्रैविद्यास्तिस्रो विद्या विदन्तीति वा वेदत्रयविदो याज्ञिका यज्ञैरग्निष्टोमादिभिः क्रमेण सवनत्रेय वसुरुद्रादित्यरूपिणं मामीश्वरमिष्ट्वा तद्रूपेण मामजानन्तोऽपि वस्तुवृत्तेन पूजयित्वाऽभिषुत्य हुत्वा च सोमं पिबन्तीति सोमपाः सन्तस्तेनैव सोमपानेन पूतपापा**

नहीं रहती है वह वहाँ 'असत्' कही जाती है । ये सब हे अर्जुन ! मैं ही हूँ । अतः मुझको सर्वात्मा जानकर वे अतिमन्द अधिकारी अपने-अपने अधिकार के अनुसार बहुत प्रकार से मेरी ही उपासना करते हैं -- यह उचित है ॥ 19 ॥

44 इसप्रकार एकत्वभाव से, पृथक्त्वभाव से और बहुत प्रकार से -- इसप्रकार तीनों प्रकार से निष्काम होकर भगवान् की उपासना करनेवाले पुरुष सत्त्वशुद्धि -- अन्तःकरणशुद्धि और ज्ञानोत्पत्ति द्वारा क्रम से मुक्त होते हैं । जो तो सकाम होकर किसी भी प्रकार से भगवान् की उपासना नहीं करते हैं, किन्तु अपनी-अपनी कामनाओं के साधन काम्य-कर्म ही करते हैं, वे सत्त्व-अन्तःकरण के शोधक के अभाव से ज्ञान के साधन पर आरूढ़ न होकर पुनः--पुनः जन्म और मरण के प्रबन्ध से सर्वदा संसार के दुःखों का ही अनुभव करते हैं -- यह भगवान् दो श्लोकों से कहते हैं :--

[ऋक्, यजु और साम -- वेदत्रयी का अनुसरण करनेवाले, सोमपान करनेवाले, सोमपान के द्वारा जिनके पाप धुल गए हैं वे याज्ञिकजन यज्ञों द्वारा यजन करके स्वर्गप्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं । वे अपने पुण्यों के फलस्वरूप इन्द्रलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं ॥ 20 ॥]

45 हौत्र[25], आध्वर्यव[26] और औद्गात्र[27] कर्मों के ज्ञान की हेतु ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदरूपा तीन विद्याएँ हैं जिनकी वे 'त्रिविद्या' कहलाते हैं, त्रिविद्या ही स्वार्थ में 'अण्' तद्धित प्रत्यय होने से 'त्रैविद्य' बनकर बहुवचन में 'त्रैविद्याः[28]' कहे गये हैं । अथवा, जो उक्त तीन विद्याओं को जानते

25. हौत्र = होता नामक ऋत्विक् का कर्त्तव्य कर्म है, जो कि ऋग्वेद में उपदिष्ट हुआ है ।
26. आध्वर्यव = अध्वर्यु नामक ऋत्विक् का कर्त्तव्य कर्म है, जिसके सम्बन्ध में यजुर्वेद में उपदेश किया गया है ।
27. औद्गात्र = उद्गाता नामक ऋत्विक् का कर्त्तव्य कर्म है, इसका उपदेश सामवेद में किया गया है ।
28. त्रैविद्याः = त्रिविद्या एव (त्रिविद्या ही त्रैविद्य हैं) = त्रिविद्या + अण् = त्रैविद्यः अर्थात् त्रिविद्या प्रातिपदिक से 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पाणिनिसूत्र, 5.4.38) = 'प्रज्ञादि-गण-पठित प्रातिपदिकों से भी स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है' -- इस सूत्र के अनुसार स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होकर 'त्रैविद्यः' बनकर बहुवचन में 'त्रैविद्याः' निष्पन्न हुआ है ।

निरस्तस्वर्गभोगप्रतिबन्धकपापाः सकामतया स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते न तु सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्त्यादि । ते दिवि स्वर्गे लोके पुण्यं पुण्यफलं सर्वोत्कृष्टं सुरेन्द्रलोकं शतक्रतोः स्थानमासाद्य दिव्यान्मनुष्यैरलभ्यान्देवभोगान्देवदेहोपभो-ग्यान्कामानश्नन्ति भुञ्जते ॥ 20 ॥

46 ततः किमनिष्टमिति तदाह –

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं हि त्रैधर्म्यमनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ 21 ॥

47 ते सकामास्तं काम्येन पुण्येन प्राप्तं विशालं विस्तीर्णं स्वर्गलोकं भुक्त्वा तद्भोगजनके पुण्ये क्षीणे सति तद्देहनाशात्पुनर्देहग्रहणाय मर्त्यलोकं विशन्ति पुनर्गर्भवासादियातना अनुभवन्तीत्यर्थः । पुनः पुनरेवमुक्तप्रकारेण । हिः प्रसिद्ध्यर्थः । त्रैधर्म्यं हौत्राध्वर्यवौद्गात्रधर्मत्रयार्हं ज्योतिष्टोमादिकं काम्यं कर्म । त्रयीधर्ममिति पाठेऽपि त्रय्या वेदत्रयेण प्रतिपादितं धर्ममिति स एवार्थः । अनुप्रपन्ना अनादौ संसारे पूर्वप्रतिपत्त्यपेक्षयाऽनुशब्दः, पूर्वप्रतिपत्त्यनन्तरं मनुष्यलोकमागत्य पुनः प्रति-

---

हैं वे वेदत्रयविद् याज्ञिक क्रम से सवनत्रय[29] में अग्निष्टोमादि यज्ञों द्वारा वसु, रुद्र और आदित्यरूपी मुझ ईश्वर का यज्ञ कर उस रूप में स्थित मुझको न जानते हुए भी वस्तुस्वभाव से पूजा कर, अभिषव कर अर्थात् सोम को कूटकर रस निकालकर और हवन कर; जो सोमपान करते हैं वे 'सोमपा' कहलाते है वैसे 'सोमपा' होते हुए, उस सोमपान से ही पूतपाप -- स्वर्ग के भोगों के प्रतिबन्धकरूप पाप निरस्त -- निवृत्त हो गये हैं जिनके ऐसे होकर सकाम होने के कारण स्वर्गप्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं, न कि सत्त्वशुद्धि -- अन्तःकरणशुद्धि और ज्ञानोत्पत्ति आदि के लिए प्रार्थना करते हैं । वे दिवि -- स्वर्गलोक में पुण्य -- पुण्य के फलस्वरूप सर्वोत्कृष्ट सुरेन्द्रलोक = शतक्रतु -- इन्द्र के स्थान को प्राप्त होकर दिव्य = मनुष्यों के लिए अलभ्य देवभोग = देवताओं के देह से उपभोग्य -- उपभोग के योग्य भोगों -- विषयों को भोगते हैं ॥ 20 ॥

46 उससे क्या अनिष्ट होता है -- यह कहते हैं :--

[वे सकाम पुरुष उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर, पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक - मनुष्य लोक को प्राप्त होते हैं । इसप्रकार त्रयीधर्म की शरण लेनेवाले और दिव्य भोगों की कामना करनेवाले वे पुरुष बार -- बार गतागत = आवागमन को प्राप्त होते हैं ॥ 29 ॥]

47 वे सकाम पुरुष हैं अतएव काम्य पुण्यकर्म से प्राप्त उस विशाल -- विस्तीर्ण स्वर्गलोक को भोगकर, उस स्वर्गभोग के जनक पुण्य के क्षीण होने पर उस स्वर्गीय देह का नाश होने से पुनः देहग्रहण करने के लिए मर्त्यलोक -- मनुष्यलोक में प्रवेश करते हैं अर्थात् वे पुनः गर्भवास आदि यातनाओं -- दुःखों का अनुभव करते हैं । पुनः पुनः एवम् = इसीप्रकार अर्थात् उक्त प्रकार से आते हैं और जाते हैं । 'हि' शब्द प्रसिद्धि के अर्थ में है । त्रैधर्म्य = हौत्र, आध्वर्यव और औद्गात्र -- इन तीनों धर्मों के योग्य ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्म से, अथवा 'त्रयीधर्मम्' ऐसा पाठ होने पर भी त्रयी

29. सवनत्रय = 'सवन' यज्ञ को कहते हैं । इसमें सोम को कूटकर रस निकाल कर, उस सोमरस से हवन किया जाता है । यह दिन में तीन बार किया जाता है, इसलिए तीन प्रकार का होता है – प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन । इन तीनों सवनों में यथाक्रम वसु, रुद्र तथा आदित्य की पूजा होती है ।

पन्नाः, कामकामा दिव्यान्भोगान्कामयमाना एवं गतागतं लभन्ते कर्म कृत्वा स्वर्गं यान्ति तत आगत्य पुनः कर्म कुर्वन्तीत्येवं गर्भवासादियातनाप्रवाहस्तेषामनिशमनुवर्तत इत्यभिप्रायः ॥ 21 ॥

48 **निष्कामाः सम्यग्दर्शिनस्तु –**

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ 22 ॥

49 **अन्यो भेददृष्टिविषयो न विद्यते येषां तेऽनन्याः सर्वाद्वैतदर्शिनः सर्वभोगनिःस्पृहाः । अहमेव भगवान्वासुदेवः सर्वात्मा न मद्व्यतिरिक्तं किंचिदस्तीति ज्ञात्वा तमेव प्रत्यञ्चं सदा चिन्तयन्तो मां नारायणमात्मत्वेन ये जनाः साधनचतुष्टयसंपन्नाः संन्यासिनः परि सर्वतोऽनवच्छिन्नतया पश्यन्ति ते मदनन्यतया कृतकृत्या एवेति शेषः ।**

50 **अद्वैतदर्शननिष्ठानामत्यन्तनिष्कामानां तेषां स्वयमप्रयतमानानां कथं योगक्षेमौ स्यातामित्यत आह– तेषां नित्याभियुक्तानां नित्यमनवरतमादरेण ध्याने व्यापृतानां देहयात्रामात्रार्थमप्यप्रयतमानानां**

-- वेदत्रयी से प्रतिपादित धर्म से -- इसप्रकार वही अर्थ है[30], अनुप्रपन्न = अनादि संसार में पूर्व प्रतिपत्ति -- प्राप्ति की अपेक्षा से 'अनु' शब्द है, अत: पूर्व प्राप्ति के अनन्तर मनुष्यलोक में आकर पुन: मनुष्य होते हैं । कामकामा: = दिव्य भोगों की कामना करते हुए इसप्रकार गतागत = आवागमन को प्राप्त होते हैं अर्थात् संसार में आते -- जाते हैं । कर्म कर स्वर्ग जाते हैं, वहाँ से आकर पुन: कर्म करते हैं -- इसप्रकार उनका गर्भवासादि यातनाओं का प्रवाह अहर्निश चलता रहता है -- यह अभिप्राय है ।। 20 ।

48 किन्तु निष्काम सम्यग्दर्शी पुरुष --

[जो पुरुष अनन्यभाव से मुझ वासुदेव का सदा चिन्तन करते हुए सब ओर से मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य अभियुक्त = आदरपूर्वक मेरे ध्यान में व्यापृत पुरुषों के योगक्षेम का मैं वहन करता हूँ ।। 22 ।।]

49 अन्य अर्थात् भेददृष्टि का विषय नहीं है जिनके लिए वे अनन्य, सबको अद्वैतरूप से देखनेवाले अतएव सब प्रकार के भोगों से निस्पृह होकर 'मैं ही भगवान् वासुदेव सर्वात्मा हूँ, मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है' -- ऐसा जानकर उस प्रत्यगात्मा का ही सदा चिन्तन करते हुए जो साधन-चतुष्टयसंपन्न संन्यासीजन मुझ नारायण को आत्मस्वरूप से परि -- सर्वत: = सब ओर से अर्थात् सर्वत्र अनवच्छिन्नरूप से देखते हैं वे मेरे अनन्य = मेरे से अभिन्न होने के कारण कृतकृत्य ही हैं -- इतना यहाँ अध्याहार करना चाहिए ।

50 अद्वैतज्ञान- निष्ठ अतएव अत्यन्त निष्काम उन स्वयं प्रयत्न न करने वाले पुरुषों के योग और क्षेम का वहन कैसे होता है ? इस शङ्का से भगवान् कहते हैं -- उन नित्य अभियुक्त = नित्य -- निरन्तर आदरपूर्वक ध्यान में व्यापृत -- लगे हुए, देहयात्रामात्र के लिए भी प्रयत्न न करनेवाले तथा योगक्षेम

30. मधुसूदन सरस्वती को 'एवं हि त्रैधर्म्यम्' -- पाठ ही अभीष्ट है, क्योंकि उन्होंने अपनी टीका में तदनुसार ही व्याख्या की है और विकल्प में 'एवं त्रयीधर्मम्' -- पाठ का भी अर्थ किया है । भाष्यकार को भी 'एवं हि त्रैधर्म्यय्' -- यह पाठ ही अभीष्ट है । आचार्य धनपति ने तो यह कहा है कि 'एवं त्रयीधर्मम्' -- यह पाठ यद्यपि श्रीधर, नीलकण्ठ आदि कुछ आचार्यों ने स्वीकार किया है, तथापि भाष्यकार ने उक्त पाठ के अनुसार व्याख्या नहीं की है, अत: 'एवं त्रयीधर्मम्' -- इस पाठ का आदर नहीं करना चाहिए, 'एवं हि त्रैधर्म्यम्' -- यह पाठ ही उचित है । वस्तुत: देखा जाय तो अर्थ की दृष्टि से दोनों पाठ ही उचित है, क्योंकि मधुसूदन सरस्वती ने दोनों पाठों के अनुसार व्याख्या करके यही कहा है कि 'स एवार्थ:' = 'उभय पाठ में अर्थ वही है -- एक ही है' ।

योगं च क्षेमं च, अलब्धस्य लाभं लब्धस्य परिरक्षणं च शरीरस्थित्यर्थं योगक्षेममकामयमानानामपि वहामि प्रापयाम्याहं सर्वेश्वरः।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥'

इति ह्युक्तम् । यद्यपि सर्वेषामपि योगक्षेमं वहति भगवांस्तथाऽप्यन्येषां प्रयत्नमुत्पाद्य तद्द्वारा वहति ज्ञानिनां तु तदर्थं प्रयत्नमनुत्पाद्य वहतीति विशेषः ॥ 22 ॥

51 **नन्वन्या अपि देवतास्त्वमेव त्वद्व्यतिरिक्तस्य वस्त्वन्तरस्याभावात् । तथा च देवतान्तरभक्ता अपि त्वामेव भजन्त इति न कोऽपि विशेषः स्यात्, तेन गतागतं कामकामा वसुरुद्रादित्यादिभक्ता लभन्ते । अनन्याश्चिन्तयन्तो मां तु कृतकृत्या इति कथमुक्तं तत्राऽऽह –**

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ 23 ॥

52 **यथा मद्भक्ता मामेव यजन्ति तथा येऽन्यदेवतानां वस्वादीनां भक्ता यजन्ते ज्योतिष्टोमादिभिः श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्याऽन्विताः, तेऽपि मद्भक्ता इव हे कौन्तेय तत्तद्देवतारूपेण स्थितं मामेव यजन्ति पूजयन्ति अविधिपूर्वकमविधिरज्ञानं तत्पूर्वकं सर्वात्मत्वेन मामज्ञात्वा मद्भिन्नत्वेन वस्वादीन्कल्पयित्वा यजन्तीत्यर्थः ॥ 23 ॥**

की भी कामना न करनेवाले पुरुषों के योग और क्षेम = शरीर की स्थिति के लिए अलब्ध की प्राप्ति 'योग' और लब्ध की रक्षा 'क्षेम' का वहन– प्राप्ति मैं सर्वेश्वर कराता हूँ। मैं पहले भी कह चुका हूँ- "ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझको प्रिय है। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी --- ये सब उदार -- उत्कृष्ट हैं, किन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है -- यह मेरा मत है" (गीता, 7.17ब, 18अ)। यद्यपि भगवान् सभी के योगक्षेम का वहन करते हैं, तथापि अन्यपुरुषों के योग-क्षेम का वहन तो वे उनके लिए प्रयत्न उत्पन्न करके अर्थात् उस-उस पुरुष से व्यापार कराकर उसके द्वारा करते हैं, किन्तु ज्ञानियों के योग-क्षेम का वहन वे उनके लिए प्रयत्न उत्पन्न किये बिना अर्थात् ज्ञानियों से व्यापार न कराकर ही करते हैं -- यह भेद है ॥ 22 ॥

51 अन्य भी देवता आप ही हैं, क्योंकि आपके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं। इसप्रकार जो दूसरे देवताओं के भक्त हैं वे भी आपको ही भजते हैं, इसलिए उनकी अपेक्षा आपके भक्तों में कोई भी विशेष-भेद नहीं है। ऐसी स्थिति में आपने यह कैसे कहा कि भोगों की कामना करनेवाले, वसु-रुद्र और आदित्य आदि देवताओं के भक्त गतागत -- आवागमन को प्राप्त होते हैं औरअनन्यभाव से मेरा चिन्तन करनेवाले तो कृतकृत्य होते हैं ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं :--
[हे कौन्तेय ! जो भी अन्य देवताओं के भक्त श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं, वे भी मेरा ही यजन करते हैं, किन्तु उनका वह यजन अविधिपूर्वक -- अज्ञानपूर्वक है ॥ 23 ॥]

52 जैसे मेरे भक्त मेरा ही यजन करते हैं वैसे ही जो वसु आदि अन्य देवताओं के भक्त श्रद्धा = आस्तिक्य बुद्धि से युक्त हो ज्योतिष्टोमादि यज्ञों से यजन करते हैं हे कौन्तेय ! वे भी मेरे भक्तों के समान उस-उस देवता के रूप में स्थित मेरा ही यजन करते हैं -- मेरी ही पूजा करते हैं, किन्तु वे अविधिपूर्वक = अविधि अज्ञान है अतएव अज्ञानपूर्वक मुझको सर्वात्मारूप से न जानकर वसु आदि को मुझसे भिन्नरूप समझकर यजन करते हैं -- यह अर्थ है ॥ 23 ॥

53 **अविधिपूर्वकत्वं विवृण्वन्फलप्रच्युतिममीषामाह –**

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ 24 ॥

54 **अहं भगवान्वासुदेव एव सर्वेषां यज्ञानां श्रौतानां स्मार्तानां च तत्तद्देवतारूपेण भोक्ता च स्वेनान्तर्यामिरूपेणाधियज्ञत्वात्प्रभुश्च फलदाता चेति प्रसिद्धमेतत् । देवतान्तरयाजिनस्तु मामीदृशं तत्त्वेन भोक्तृत्वेन प्रभुत्वेन च भगवान्वासुदेव एव वस्वादिरूपेण यज्ञानां भोक्ता स्वेन रूपेण च फलदाता न तदन्योऽस्ति कश्चिदाराध्य इत्येवंरूपेण न जानन्ति । अतो मत्स्वरूपापरिज्ञानान्महताऽऽयासेनेष्ट्वाऽपि मय्यनर्पितकर्माणस्तत्तद्देवलोकं धूमादिमार्गेण गत्वा तद्भोगान्ते च्यवन्ति प्रच्यवन्ते तद्भोगजनककर्मक्षयात्तद्देहादिवियुक्ताः पुनर्देहग्रहणाय मनुष्यलोकं प्रत्यावर्तन्ते । ये तु तत्तद्देवतासु भगवन्तमेव सर्वान्तर्यामिणं पश्यन्तो यजन्ते ते भगवदर्पितकर्माणस्तद्विद्यासहितकर्मवशादर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गत्वा तत्रोत्पन्नसम्यग्दर्शनास्तद्भोगान्ते मुच्यन्त इति विवेकः ॥ 24॥**

---

53 अविधिपूर्वकत्व का विवरण करते हुए उन देवभक्तों की फलच्युति कहते हैं --
[मैं ही समस्त यज्ञों का भोक्ता और प्रभु भी हूँ, किन्तु वे अन्यदेवभक्त मुझको = मुझ अधियज्ञस्वरूप परमेश्वर को तत्त्व से नहीं जानते हैं, अतएव वे च्युत होते हैं अर्थात् फलभोग के क्षीण होने पर उन दिव्यलोकों से च्युत होते हैं ॥ 24 ॥]

54 मैं भगवान् वासुदेव ही समस्त श्रौत और स्मार्त यज्ञों का उस-उस देवतारूप से भोक्ता हूँ और अधियज्ञ होने के कारण अपने अन्तर्यामीस्वरूप से प्रभु अर्थात् उन यज्ञों का फलदाता हूँ -- यह प्रसिद्ध ही है[31] । किन्तु वे अन्य देवताओं का यजन करनेवाले ऐसे मुझको तत्त्व से = भोक्तारूप और प्रभुरूप से अर्थात् 'भगवान् वासुदेव की वसु आदिरूप से यज्ञों के भोक्ता और अपने स्वरूप से फलदाता हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कोई आराध्यदेव नहीं है' -- इस रूप से नहीं जानते हैं[32] । अतः मेरे स्वरूप का ज्ञान न होने से अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक यजन करके भी मुझमें कर्मों को अर्पित न करते हुए धूमादि मार्ग से उस-उस देवलोक में जाकर उस-उस लोक के भोग का अन्त होने पर उस-उस लोक से च्युत-प्रच्युत होते हैं अर्थात् उस-उस लोक के भोगजनक कर्मों का क्षय होने से उस-उस लोक के देहादि से वियुक्त होकर पुनः देह ग्रहण करने के लिए मनुष्यलोक में लौट आते हैं । किन्तु जो उस-उस देवता में सर्वान्तर्यामी भगवान् को ही देखते हुए यजन करते हैं वे भगवान् में कर्मों को अर्पित करते हुए भगवत्स्वरूप के ज्ञानसहित कर्म करने से अर्चिरादि मार्गद्वारा ब्रह्मलोक में जाकर वहाँ -- उस लोक में तत्त्वज्ञानोत्पत्ति होने से उस लोक के भोग का अन्त होने पर मुक्त हो जाते हैं -- यह विवेक -- भेद है ॥ 24 ॥

---

31. श्रुतियाँ कहती हैं – 'शुष्ठास्त्रयो वैष्णवाः' = 'याजक यजन और यज्ञ – तीनों 'विष्णु हैं'; 'अग्नेर्घृतं विष्णोस्तण्डुलः' = 'अग्नि का घृत – विष्णु के तण्डुल'; 'यज्ञो वै विष्णुः' = 'यज्ञ ही विष्णु है' – इत्यादि । स्मृति भी कहती है -- 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' (गीता, 5.29) = 'मैं ही अधियज्ञ हूँ' – इत्यादि ।

32. अर्थ यह है कि वे अन्यदेवभक्त मुझको तत्त्व से अर्थात् 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' = 'ब्रह्म ही अर्पण है और ब्रह्म ही हवि है', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' = 'यह सब ब्रह्म ही है' -- इत्यादि श्रुतियों में जैसा कि कहा गया है – यज्ञ का भोक्ता, यज्ञ का पुरोडाश, यजमान, याजक आदि – यह सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है -- इसप्रकार तत्त्व से नहीं जानते हैं ।

55 देवतान्तरयाजिनामनावृत्तिफलाभावेऽपि तत्तद्देवतायागानुरूपक्षुद्रफलावाप्तिर्ध्रुवेति वदन्भगवद्याजिनां तेभ्यो वैलक्षण्यमाह –

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ 25 ॥

56 अविधिपूर्वकयाजिनो हि त्रिविधा अन्तःकरणोपाधिगुणत्रयभेदात् । तत्र सात्त्विका देवव्रताः, देवा वसुरुद्रादित्यादयस्तत्संबन्धि व्रतं बल्युपहारप्रदक्षिणप्रह्वीभावादिरूपं पूजनं येषां ते तानेव देवान्यान्ति 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः । राजसास्तु पितृव्रताः श्राद्धादिक्रियाभिरग्निष्वात्तादीनां पितॄणामाराधकास्तानेव पितॄन्यान्ति । तथा तामसा भूतेज्या यक्षरक्षोविनायकमातृगणादीनां भूतानां पूजकास्तान्येव भूतानि यान्ति । अत्र देवपितृभूतशब्दानां तत्संबन्धिलक्षणयोष्ट्रमुखन्यायेन समासः । मध्यमपदलोपिसमासानङ्गीकारात्प्रकृतिविकृतिभावा-

55 अन्य देवताओं का यजन करनेवालों को अनावृत्तिरूप फल प्राप्त न होने पर भी उस-उस देवता के याग के अनुरूप क्षुद्र फल की प्राप्ति तो निश्चित होती है – यह कहते हुए भगवान् का यजन करनेवालों की उन देवतान्तरयाजियों से विलक्षणता कहते हैं :--

[देवव्रत अर्थात् देवताओं का पूजन करनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितृव्रत = पितरों के आराधक पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतेज्य = भूतों को पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरी आराधना करनेवाले मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ 25 ॥]

56 अन्तःकरण के उपाधिभूत तीन गुणों के भेद से अविधिपूर्वक -- अज्ञानपूर्वक यजन करनेवाले तीन प्रकार के हैं । उनमें जो सात्त्विक हैं वे 'देवव्रत' हैं । जिनका व्रत अर्थात् बलि, उपहार, प्रदक्षिणा, प्रह्वीभाव = नमस्कार आदि रूप पूजन वसु, रुद्र, आदित्य आदि देवताओं से सम्बन्ध रखनेवाला होता है वे देवव्रत उन देवताओं को ही प्राप्त होते हैं, जैसाकि श्रुति कहती है -- 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' = 'उपासक उसकी जैसी-जैसी उपासना करता है वह वही होता है' । राजस -- रजोगुण विशिष्ट 'पितृव्रत' कहलाते हैं वे पितृव्रत = श्राद्धादि क्रियाओं से अग्निष्वात्तादि पितरों के आराधक उन पितरों को ही प्राप्त होते हैं । तथा तामस -- तमोगुणविशिष्ट 'भूतेज्य' कहलाते हैं वे भूतेज्य = यक्ष, राक्षस, विनायक, मातृगणादि भूतों के पूजक उन भूतों को ही प्राप्त होते हैं । यहाँ देव, पितृ और भूत शब्दों का 'तत्सम्बन्धी' = 'उनसे सम्बन्ध रखनेवाली' लक्षणा होने से उष्ट्रमुख-न्याय[33] से समास हुआ है, क्योंकि यहाँ मध्यमपदलोपी समास स्वीकार नहीं है और प्रकृति-विकृतिभाव

33. 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः' (वार्तिक) = 'सप्तम्यन्त अथवा उपमानवाचक पूर्व पद का समास होता है और उत्तर पद का लोप भी होता है' – इस वार्तिक के अनुसार 'उष्ट्रमुखः' का समास विग्रह होता है -- 'उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य स उष्ट्रमुखः' = 'उष्ट्र के मुख के समान है मुख जिसका वह 'उष्ट्रमुख' है । यहाँ 'उष्ट्रस्य मुखमिव' – इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष है और इसमें 'इव' शब्द यह सूचित करने के लिए है कि 'मुख' शब्द 'मुख के समान' अर्थ में लाक्षणिक है । 'उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य' – इस विग्रह में 'बहुव्रीहि' समास है । इसमें 'उष्ट्रमुख' बहुव्रीहि समास का पूर्व पद है, और उत्तरपद 'मुख' शब्द का लोप वाचनिक है । इस प्रकार 'उष्ट्र' शब्द 'उष्ट्रमुख' में लाक्षणिक है । इसी प्रकार देवव्रतादि शब्दों में 'देवस्य व्रतमिव व्रतं येषां ते देवव्रताः' = देवव्रत के समान व्रत है जिनका वे देवव्रत हैं' । यहाँ भी 'देव' शब्द देवव्रत अर्थात् देवतासम्बन्धी व्रत में लाक्षणिक है, अतः देवव्रतादि शब्दों में उष्ट्रमुखन्याय से समास हुआ है ।

भावेन च तादर्थ्यचतुर्थीसमासायोगात् । अन्ते च पूजावाचीज्याशब्दप्रयोगात्पूर्वपर्यायद्वयेऽपि व्रतशब्दः पूजापर एव ।

57 **एवं देवतान्तराराधनस्य तत्तद्देवतारूपत्वमन्तवत्फलमुक्त्वा भगवदाराधनस्य भगवद्रूपत्वमनन्तं फलमाह - मां भगवन्तं यष्टुं पूजयितुं शीलं येषां ते मद्याजिनः सर्वासु देवतासु भगवद्भावदर्शिनो भगवदाराधनपरायणा मां भगवन्तमेव यान्ति । समानेऽप्यायासे भगवन्तमन्तर्यामिणमनन्तफलदमनाराध्य देवतान्तरमाराध्यान्तवत्फलं यान्तीत्यहो दुर्दैववैभवमज्ञानामित्यभिप्रायः ॥ 25 ॥**

58 **तदेवं देवतान्तराणि परित्यज्यानन्तफलत्वाद्भगवत एवाऽऽराधनं कर्तव्यमतिसुकरत्वाच्चेत्याह –**

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ 26 ॥

59 **पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्यद्वाऽनायासलभ्यं यत्किंचिद्वस्तु यः कश्चिदपि नरो मे मह्यमनन्तमहाविभूतिपतये परमेश्वराय भक्त्या 'न वासुदेवात्परमस्ति किंचित्' इतिबुद्धिपूर्विकया प्रीत्या प्रयच्छतीश्वराय भृत्यवदुपकल्पयति मत्स्वत्वानास्पदद्रव्याभावात्सर्वस्यापि जगतो मयैवा-**

न होने से तादर्थ्य-चतुर्थी समास भी नहीं है । अन्त में पूजावाची 'इज्या' शब्द के प्रयोग से पहले दो पर्यायों में भी 'व्रत' शब्द पूजापरक ही है ।

57 इसप्रकार अन्य देवताओं की आराधना का उस-उस देवतारूप की प्राप्तिरूप अन्तवान् -- विनाशवान् फल कहकर भगवान् की आराधना का भगवद्-रूप की प्राप्तिरूप अनन्त फल कहते हैं -- जिनका शील-स्वभाव मुझ-भगवान् का यजन -- पूजन करना है वे मद्याजी = मेरा यजन करनेवाले = समस्त देवताओं में भगवद्-भाव का दर्शन करनेवाले अतएव भगवद्-आराधनपरायण मुझ भगवान् को ही प्राप्त होते हैं । इसप्रकार आयास -- अभ्यास में समानता होने पर भी वे अन्यदेवताराधक अनन्त फलदाता अन्तर्यामी भगवान् की आराधना न करके अन्य देवताओं की आराधना कर अन्तवान् -- विनाशवान् -- अनित्य फल को प्राप्त होते हैं । अहो ! उन अज्ञानियों के दुर्दैव -- दुर्भाग्य का कैसा वैभव है -- यह अभिप्राय है ॥ 25 ॥

58 इसप्रकार अन्य देवताओं का परित्याग कर अनन्त फलप्राप्ति रूप होने से भगवान् की ही आराधना करनी चाहिए, क्योंकि वह अतिसुकर भी है -- ऐसा भगवान् कहते हैं --
[जो पुरुष मुझको भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल या जल अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि पुरुष के भक्तिपूर्वक अर्पण किये हुए उन पदार्थों को मैं स्वीकार करता हूँ ॥ 26 ॥]

59 पत्र, पुष्प, फल, जल अथवा अनायास ही लभ्य अन्य जो कोई वस्तु जो कोई भी पुरुष मुझ अनन्त महाविभूतिपति परमेश्वर को भक्तिपूर्वक = 'वासुदेव से पर- श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है' -- इस प्रकार की बद्धिपूर्वक प्रीति से अर्पण करता है = ईश्वर-स्वामी को सेवक के समान भेंट करता है, क्योंकि मेरा स्वत्व जिसमें नहीं है ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, कारण कि सम्पूर्ण जगत् मेरे द्वारा ही अर्जित--उपार्जित है, अत: पुरुष सब कुछ मेरा ही मुझको अर्पण करता है । उस प्रीतिपूर्वक अर्पण करनेवाले प्रयात्मा अर्थात् शुद्धबुद्धि पुरुष के उन पत्र-पुष्पादि तुच्छ भी वस्तुओं को मैं सर्वेश्वर खाता हूँ अर्थात् भोजन के समान उन वस्तुओं को प्रीतिपूर्वक स्वीकार कर तृप्त होता हूँ । यहाँ

र्जितत्वात् । अतो मदीयमेव सर्वं मह्यमर्पयति जनः । तस्य प्रीत्या प्रयच्छतः प्रयतात्मनः शुद्धबुद्धेस्तत्पत्रपुष्पादि तुच्छमपि वस्तु अहं सर्वेश्वरोऽश्नामि अशनवत्प्रीत्या स्वीकृत्य तृप्यामि । अत्र वाच्यस्यात्यन्ततिरस्कारादशनलक्षितेन स्वीकारविशेषेण प्रीत्यतिशयहेतुत्वं व्यज्यते । 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' इति श्रुतेः । कस्मात्तुच्छमपि तदश्नासि यस्माद्भक्त्युपहृतं भक्त्या प्रीत्या समर्पितं, तेन प्रीत्या समर्पणं मत्स्वीकारनिमित्तमित्यर्थः ।

60 अत्र भक्त्या प्रयच्छतीत्युक्त्वा पुनर्भक्त्युपहृतमिति वदन्नभक्तस्य ब्राह्मणत्वतपस्वित्वादि मत्स्वीकारनिमित्तं न भवतीति परिसंख्यां सूचयति । श्रीदामब्राह्मणानीततण्डुलकणभक्षण-वत्प्रीतिविशेषप्रतिबद्धभक्ष्याभक्ष्यविज्ञानो बाल इव मात्राद्यर्पितं पत्रपुष्पादि भक्तार्पितं साक्षादेव

वाच्यार्थ -- 'भोजन' का अत्यन्ततिरस्कार[34] होने से 'अशन' -- 'भोजन' पद से लक्षित स्वीकारविशेष से उसकी अतिशय प्रीति में हेतुत्व व्यञ्जित होता है । जैसा कि श्रुति में भी कहा गया है -- 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' = 'देवता न तो खाते हैं न पीते हैं, वे केवल इस अमृत को देखकर तृप्त होते हैं' । यदि पूछते हो कि आप तुच्छ भी उन पत्र -- पुष्पादि को क्यों खाते हो -- स्वीकार करते हो, तो इसका उत्तर यह है :-- क्योंकि वे भक्त्युपहृत = भक्ति अर्थात् प्रीति से समर्पित होते हैं । अत: तात्पर्य यह है कि प्रीति से समर्पण करना ही मेरे स्वीकार का निमित्त है ।

60 यहाँ 'भक्त्या प्रयच्छति' = 'भक्तिपूर्वक अर्पण करता है' -- यह कहकर पुन: 'भक्त्युपहृतम्' = 'भक्तिपूर्वक अर्पण किये हुए' -- यह कहते हुए 'अभक्त के ब्राह्मणत्व, तपस्वित्व आदि मेरे स्वीकार के निमित्त नहीं हैं' -- इस परिसंख्या-विधि[35] को सूचित करते हैं । अथवा, श्रीदाम -- सुदामा ब्राह्मण के समर्पण किये हुए तण्डुलकण के भक्षण के समान; प्रीतिविशेष से प्रतिबद्ध हो गया है भक्ष्याभक्ष्यविज्ञान -- भक्ष्याभक्ष्यविवेक जिसका उस बालक की तरह मैं माता आदि के अर्पण किये

---

34. अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि में कहीं वाच्यार्थ अनुपपद्यमान होने से अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है, उसको 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि' कहते हैं (अविवक्षितवाच्यध्वनौ वाच्यं क्वचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम् -- काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास) । 'अत्यन्ततिरस्कृत' में णिजन्त 'तिरस्कृत' शब्द का प्रयोग किया गया है इसलिए उसका प्रयोजक कर्ता अपेक्षित है । 'तिरस्कृत' शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि इस ध्वनि के व्यञ्जना व्यापार में जो सहकारी वर्ग लक्षणा, वक्तृविवक्षादि हैं उन्हीं के प्रभाव से वाच्यार्थ कहीं अत्यन्त तिरस्कृत होता है । इसमें मुख्यत: लक्षणा का प्रभाव है, इसीलिए अविवक्षितवाच्यध्वनि को लक्षणामूलध्वनि भी कहते हैं । प्रश्न है कि अविवक्षितवाच्यध्वनि में लक्षणा के प्रभाव से वाच्यार्थ अत्यन्ततिरस्कृत क्यों और कैसे हो जाता है । इसका उत्तर है कि लक्षणा के भेद 'लक्षणलक्षणा' में दूसरे की अन्वयसिद्धि के लिए एक शब्द अपने मुख्यार्थ का अत्यन्त परित्याग -- तिरस्कार करता है, इसीलिए -- 'लक्षणलक्षणा' में वाच्यार्थ के अत्यन्त तिरस्कार -- सर्वथा परित्याग के कारण ही उसको 'जहत्स्वार्था' लक्षणा भी कहते हैं । यही अविवक्षितवाच्यध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यभेद का मूल है । इसी के प्रभाव से अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि में वाच्यार्थ तिरस्कृत होता है । प्रकृत प्रसंग में 'भोजन' शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य है । भगवान् में 'भोजनत्व' अनुपपन्न होने से 'भोजन' शब्द अपने भोजनत्व अर्थ का सर्वथा तिरस्कार -- परित्याग कर 'स्वीकारविशेष' अर्थ को लक्षणलक्षणा से बोधित करता है और उसमें प्रीत्यतिशय व्यङ्ग्य होता है । इसी से यहाँ 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि' है ।

35. जहाँ दो वैकल्पिक पदार्थों की युगपत् प्राप्ति हो रही हो तो दोनों में से एक विशेष पदार्थ की निवृत्ति की बोधक विधि को 'परिसंख्या-विधि' कहा जाता है । (उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधि: परिसंख्याविधि: -- अर्थसंग्रह) ।

भक्षयामीति वा । तेन भक्तिरेव मत्परितोषनिमित्तं न तु देवतान्तरवद्बल्युपहारादि बहुवित्तव्ययायाससाध्यं किंचिदिति देवतान्तरमपहाय मामेव भजेतेत्यभिप्रायः ॥ 26 ॥

61 कीदृशं ते भजनं तदाह –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ 27 ॥

62 यत्करोषि शास्त्रादृतेऽपि रागात्प्राप्तं गमनादि यदश्नासि स्वयं तृप्त्यर्थं कर्मसिद्ध्यर्थं वा । तथा यज्जुहोषि शास्त्रबलान्नित्यमग्निहोत्रादिहोमं निर्वर्तयसि । श्रौतस्मार्तसर्वहोमोपलक्षणमेतत् । तथा यद्ददासि अतिथिब्राह्मणादिभ्योऽन्नहिरण्यादि । तथा यत्तपस्यसि प्रतिसंवत्सरमज्ञात-प्रामादिकपापनिवृत्तये चान्द्रायणादि चरसि उच्छृङ्खलप्रवृत्तिनिरासाय शरीरेन्द्रियसंघातं

हुए पदार्थों के समान भक्त के अर्पण किये हुए पत्र-पुष्पादि को साक्षात् ही खाता हूँ[36] । अत: भक्ति ही मेरे परितोष -- सन्तोष का निमित्त है, दूसरे देवताओं के समान बहुधनव्यय और अतिपरिश्रम से साध्य कोई वलि, उपहार आदि नहीं है । अतएव अभिप्राय यह है कि दूसरे देवताओं को छोड़कर मेरा ही भजन करो ॥ 26 ॥

61 आपका भजन कैसा है ? वह कहते हैं --

[हे कौन्तेय ! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान देते हो और जो कुछ तप करते हो वह सब मुझको अर्पण करो ॥ 27 ॥]

62 जो कुछ तुम करते हो अर्थात् शास्त्रविधान के बिना भी रागत: प्राप्त जो गमनादि कर्म भी तुम करते हो; जो कुछ खाते हो[37] अर्थात् स्वयं तृप्ति के लिए अथवा कर्मसिद्धि के लिए जो कुछ तुम खाते हो; जो कुछ हवन करते हो अर्थात् शास्त्रविधान के बल से नित्य अग्निहोत्रादि जो होम-यज्ञरूप हवन करते हो -- यह 'होम' श्रौत और स्मार्त -- सभी प्रकार के होमों का उपलक्षण है । तथा जो कुछ दान देते हो अर्थात् अतिथि, ब्राह्मण आदि को अन्न, स्वर्णादि जो कुछ देते हो; तथा जो कुछ तप करते हो अर्थात् प्रत्येक संवत्सर में अज्ञात -- बिना जाते हुए और प्रामादिक = प्रमाद -- असावधानी से किये हुए पापों की निवृत्ति के लिए जो कुछ चान्द्रायणादि तप करते हो, अथवा उच्छृङ्खल -- अविहित प्रवृत्ति को रोकने के लिए शरीर और इन्द्रिय के संघात -- समूह का संयम

36. प्रकृत श्लोक में 'भक्त्या' शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है । इससे भगवान् यह दृढ़ निश्चय कर रहे हैं कि भक्तिरहित अति उत्तम पदार्थ को भी मैं ग्रहण नहीं करता हूँ -- भोजन करना तो दूर की बात है । मैं तो भावग्राही जनार्दन हूँ, प्रेमी भक्तों का ही दास हूँ, मुझ पूर्णकाम भगवान् को किस वस्तु का अभाव है जिसकी प्राप्ति से मुझको परितोष होगा । भक्ति ही मेरे स्वीकार और परितोष-सन्तोष का कारण है । इस भक्ति के प्रभाव से ही मैंने भक्त दरिद्र सुदामा के तण्डुलकण का भक्षण किया था । वस्तुत: माता के विशेष प्रेम से मुग्ध होकर बालक जिस प्रकार उसके द्वारा अर्पित हुए पदार्थ 'भोजन के योग्य हैं कि नहीं' – इस प्रकार विज्ञान – विवेक करने का सामर्थ्य खो देता है, उसी प्रकार मैं भी भक्त की जाति, वर्ण, दरिद्रता आदि का विवेक न कर उसके द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित पत्र-पुष्पादि को साक्षात् ही खाता – स्वीकार करता हूँ । यहाँ 'भक्ति' शब्द से 'प्रेमाभक्ति', 'अनन्याभक्ति', या 'पराभक्ति' को भगवान् सूचित कर रहे हैं ।

37. आनन्दगिरि 'यदश्नासि' = 'जो कुछ खाते हो' का अर्थ 'यं कंचिद्भोगं भुङ्क्षे' = 'जो कुछ विषय का भोग करते हो' -- इस प्रकार करते हैं ।

संयममयसीति वा । एतच्च सर्वेषां नित्यनैमित्तिककर्मणामुपलक्षणम् । तेन यत्तव प्राणिस्वभाववशाद्विनाऽपि शास्त्रमवश्यंभावि गमनाशनादि, यच्च शास्त्रवशादवश्यंभावि होमदानादि हे कौन्तेय तत्सर्वं लौकिकं वैदिकं च कर्मान्येनैव निमित्तेन क्रियमाणं मदर्पणं मय्यर्पितं यथा स्यात्तथा कुरुष्व । आत्मनेपदेन समर्पकनिष्ठमेव समर्पणफलं न तु मयि किंचिदिति दर्शयति । अवश्यंभाविनां कर्मणां मयि परमगुरौ समर्पणमेव मद्भजनं न तु तदर्थं पृथग्व्यापारः कश्चित्कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ 27 ॥

63 एतादृशस्य भजनस्य फलमाह –

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ 28 ॥

64 एवमनायाससिद्धेऽपि सर्वकर्मसमर्पणरूपे मद्भजने सति शुभाशुभे इष्टानिष्टे फले येषां तैः कर्मबन्धनैर्बन्धरूपैः कर्मभिर्मोक्ष्यसे मयि समर्पितत्वात्तव तत्संबन्धानुपपत्तेः कर्मभिस्तत्फलैश्च न संस्रक्ष्यसे । ततश्च संन्यासयोगयुक्तात्मा संन्यासः सर्वकर्मणां भगवति समर्पणं स एव योग इव चित्तशोधकत्वाद्योगस्तेन युक्तः शोधित आत्माऽन्तःकरणं यस्य स त्वं त्यक्तसर्वकर्मा वा कर्मबन्धनैर्जीवन्नेव विमुक्तः सन्सम्यग्दर्शनेनाज्ञानावरणनिवृत्त्या मामुपैष्यसि साक्षात्करिष्यस्यहं

करते हो -- यह 'तप' समस्त नित्य और नैमित्तिक कर्मों का उपलक्षण है । अत: प्राणिस्वभाववश शास्त्रविधान के बिना भी अवश्यंभावी जो तुम्हारे गमन, भोजन आदि व्यापार हैं और जो शास्त्रविधानवश अवश्यंभावी होम, दानादि हैं; हे कौन्तेय[38] ! हे अर्जुन ! वे सब लौकिक और वैदिक कर्म, दूसरे निमित्त से किये जाने पर भी, जिस प्रकार मदर्पण = मुझको अर्पण हों वैसा करो । 'कुरुष्व' -- इस आत्मनेपद के प्रयोग से यह दिखलाते हैं कि समर्पण का फल समर्पकनिष्ठ ही होता है अर्थात् समर्पण करनेवाले को ही प्राप्त होता है, मुझको कुछ भी प्राप्त नहीं होता है । अभिप्राय यह है कि अवश्यंभावी कर्मों का मुझ परमगुरु को समर्पण करना ही मेरा भजन है, उसके लिए कोई पृथक् व्यापार करना आवश्यक नहीं है ।। 27 ।।

63 इसप्रकार के भजन का फल कहते हैं --

[इसप्रकार तुम शुभ और अशुभ फलरूप कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाओगे तथा संन्यास = मुझको समस्त कर्मों का अर्पण करना रूप योग से युक्तात्मा = शुद्धचित्त हो जीवित रहते हुए ही मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होओगे ।। 28 ।।]

64 इसप्रकार अनायाससिद्ध - स्वल्पपरिश्रमसाध्य भी सम्पूर्ण कर्मों के समर्पणरूप मेरे भजन के होने पर शुभ और अशुभ = इष्ट और अनिष्ट फल हैं जिनके उन कर्मबन्धनों से अर्थात् बन्धनरूप कर्मों से तुम मुक्त हो जाओगे । कारण कि वे कर्म मुझको समर्पित होने से तुम्हारा उन कर्मों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा, अत: कर्म और उनके फलों से तुम्हारा संसर्ग नहीं होगा । उससे संन्यासयोगयुक्तात्मा = संन्यास अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों का भगवान् को समर्पण करना, वही योग के समान चित्तशोधक होने से योग है उससे युक्त = शोधित आत्मा = अन्तःकरण है जिसका वह तुम; अथवा सम्पूर्ण

---

३८. हे कौन्तेय ! हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! तुम कुन्ती के पुत्र हो । कुन्ती ने अपना सर्वस्व मुझको ही अर्पण कर समस्त दु:खों से मोक्ष प्राप्त किया था । तुम भी समस्त कर्म मुझको ही अर्पण कर इस संसाररूप दु:खमहार्णव से मुक्त हो जाओगे--ऐसा उत्साह देने के लिए ही भगवान् ने यहाँ 'कौन्तेय' कहकर अर्जुन को सम्बोधन किया है ।

ब्रह्मास्मीति । ततः प्रारब्धकर्मक्षयात्पतितेऽस्मिञ्छरीरे विदेहकैवल्यरूपं मामुपैष्यसि, इदानीमपि मद्रूपः सन्सर्वोपाधिनिवृत्त्या मायिकभेदव्यवहारविषयो न भविष्यसीत्यर्थः ॥ 28 ॥

65 यदि भक्तानेवानुगृह्णासि नाभक्तान्, ततो रागद्वेषवत्त्वेन कथं परमेश्वरः स्या इति नेत्याह --

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ 29 ॥

66 सर्वेषु प्राणिषु समस्तुल्योऽहं सद्रूपेण स्फुरणरूपेणाऽऽनन्दरूपेण च स्वाभाविकेनौपाधिकेन चान्तर्यामित्वेन । अतो न मम द्वेषविषयः प्रीतिविषयो वा कश्चिदस्ति सावित्रस्येव गगनमण्डलव्यापिनः प्रकाशस्य । तर्हि कथं भक्ताभक्तयोः फलवैषम्यं तत्राऽऽह -- ये भजन्ति तु ये तु भजन्ति सेवन्ते मां सर्वकर्मसमर्पणरूपया भक्त्या । अभक्तापेक्षया भक्तानां विशेष-द्योतनार्थस्तुशब्दः । कोऽसौ, मयि ते ये मदर्पितैर्निष्कामैः कर्मभिः शोधितान्तःकरणास्ते निरस्तसमस्तरजस्तमोमलस्य सत्त्वोद्रेकेणातिस्वच्छस्यान्तःकरणस्य सदा मदाकारा वृत्तिमुपनि-

---

कर्मों का त्याग कर दिया है जिसने वह तुम जीवित रहते हुए ही समस्त कर्मबन्धनों से मुक्त होकर सम्यक् ज्ञान से अज्ञानरूप आवरण की निवृत्ति द्वारा मुझको प्राप्त होओगे अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' - 'मैं ब्रह्म हूँ' -- ऐसा साक्षात्कार करोगे । उससे प्रारब्धकर्म का क्षय होने से इस शरीर के पतित - नष्ट होने पर विदेहकैवल्यरूप मुझको प्राप्त होओगे[39] । इस समय भी मद्स्वरूप होकर समस्त उपाधियों की निवृत्ति हो जाने से मायिक भेदव्यवहार के विषय नहीं होओगे[40] - यह अर्थ है ॥ 28 ॥

65 यदि आप भक्तों पर ही अनुग्रह करते हैं, अभक्तों पर नहीं करते हैं, तो आप राग-द्वेषयुक्त होने से किस प्रकार परमेश्वर होंगे ? इस पर भगवान् कहते हैं, नहीं = ऐसा नहीं है, --

[मैं तो समस्त प्राणियों के प्रति समान हूँ, मेरा न कोई द्वेष्य-द्वेषपात्र = अप्रिय है और न प्रिय है । जो तो मुझको भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मेरे में हैं और मैं भी उनमें हूँ ॥ 29 ॥

66 मैं स्वाभाविक सद्रूप से, स्फुरणरूप से और आनन्दरूप से तथा औपाधिक अन्तर्यामीरूप से समस्त प्राणियों में तुल्य हूँ । अतः मेरे द्वेष का विषय कोई नहीं है और न कोई प्रीति का विषय है, जैसे आकाशमण्डलव्यापी सूर्य के प्रकाश का कोई भी पदार्थ रागद्वेष का विषय नहीं है, सभी पदार्थ समान प्रकाश हैं उसी प्रकार मैं भी समान हूँ । तो फिर भक्त और अभक्त के फल में वैषम्य क्यों रहता है ? इस पर भगवान् कहते हैं -- 'ये भजन्ति तु' = जो तो भजते हैं अर्थात् जो तो सर्व-कर्मसमर्पणरूपा भक्ति से मेरा भजन-सेवन करते हैं, अभक्तों की अपेक्षा भक्तों का विशेष-भेद बतलाने के लिए यहाँ 'तु' शब्द का प्रयोग है । वह विशेष क्या है ? -- वे मेरे में है = जो मुझको अर्पित निष्काम कर्मों से शोधित अन्तःकरण वाले हैं वे समस्त रजोगुण और तमोगुणरूप मल से रहित और सत्त्वगुण के उद्रेक से अत्यन्त स्वच्छ हुए अन्तःकरण की सदा मदाकारा वृत्ति को उपनिषद्-प्रमाण से उत्पन्न करते हुए मुझमें ही रहते हैं । और मैं भी उनकी अत्यन्त स्वच्छ चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित

---

39. अभिप्राय यह है कि मुझको अर्थात् 'सर्वप्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमात्मानम्' = सर्वप्रपञ्चरहित शिवस्वरूप नित्य-शुद्ध-मुक्त शान्त अद्वय मुझको अर्थात् विदेहकैवल्यरूप मुझको प्राप्त होओगे ।

40. भाव यह है कि इस समय भी तुम मद्रूप हो अर्थात् मैं जिस प्रकार नित्यमुक्त हूँ उसी प्रकार तुम भी स्वरूप से नित्यमुक्त हो । अतः तुम समस्त उपाधियों की निवृत्ति हो जाने से मायिक भेद्व्यवहार के विषय नहीं होओगे ।

षन्मानेनोत्पादयन्तो मयि वर्तन्ते । अहमप्यतिस्वच्छायां तदीयचित्तवृत्तौ प्रतिबिम्बितस्तेषु वर्ते । चकारोऽवधारणार्थस्त एव मयि तेष्वेवाहमिति । स्वच्छस्य हि द्रव्यस्यायमेव स्वभावो येन सम्बध्यते तदाकारं गृह्णातीति । स्वच्छद्रव्यसंबद्धस्य च वस्तुन एष एव स्वभावो यत्तत्र प्रतिफलतीति । तथाऽस्वच्छद्रव्यस्याप्येष एव स्वभावो यत्स्वसंबद्धस्याप्याकारं न गृह्णातीति । अस्वच्छद्रव्यसंबद्धस्य च वस्तुन एष एव स्वभावो यत्तत्र न प्रतिफलतीति । यथा हि सर्वत्र विद्यमानोऽपि सावित्रः प्रकाशः स्वच्छे दर्पणादावेवाभिव्यज्यते न त्वस्वच्छे घटादौ । तावता न दर्पणे रज्यति न वा द्वेष्टि घटम् । एवं सर्वत्र समोऽपि स्वच्छे भक्तचित्तेऽभिव्यज्यमानोऽस्वच्छे चाभक्तचित्तेऽनभिव्यज्यमानोऽहं न रज्यामि कुत्रचित्, न वा द्वेष्मि कंचित्, सामग्रीमर्यादया जायमानस्य कार्यस्यापर्यनुयोज्यत्वात् । वह्निवत्कल्पतरुवच्चावैषम्यं व्याख्येयम् ॥ 29 ॥

67 **किं च मद्भक्तेरेवायं महिमा यत्समेऽपि वैषम्यमापादयति, शृणु तन्महिमानम् –**

होकर उनमें रहता हूँ । यहाँ 'च'कार अवधारणार्थ-निश्चयार्थ है अर्थात् वे भी मेरे में है और मैं भी उनमें हूँ । स्वच्छ द्रव्य का यही स्वभाव है -- जिससे उसका सम्बन्ध होता है वह उसके आकार को ग्रहण कर लेता है, और स्वच्छ द्रव्य से सम्बद्ध वस्तु का यही स्वभाव है -- जो वह उसमें प्रतिफलित -- प्रतिबिम्बित होती है । इसी प्रकार अस्वच्छ द्रव्य का भी यही स्वभाव है -- जो वह अपने से सम्बद्ध वस्तु के आकार को ग्रहण नहीं करता है, और अस्वच्छ द्रव्य से सम्बद्ध वस्तु का यही स्वभाव है -- जो वह उसमें प्रतिफलित -- प्रतिबिम्बित नहीं होती है । जैसे सर्वत्र विद्यमान होने पर भी सूर्य का प्रकाश स्वच्छ दर्पणादि में ही अभिव्यक्त होता है, अस्वच्छ घटादि में नहीं । इससे उसका दर्पण में राग अथवा घट में द्वेष नहीं होता । इसीप्रकार सर्वत्र समान होने पर भी भक्त के स्वच्छ चित्त में अभिव्यक्त होने से और अभक्त के अस्वच्छ चित्त में अभिव्यक्त न होने से मेरा कहीं राग नहीं होता और न किसी से द्वेष होता है, क्योंकि सामग्री की मर्यादा से जायमान = उत्पन्न होनेवाले कार्य के विषय में कोई प्रश्न नहीं हो सकता । अग्नि और कल्पवृक्ष के समान भगवान् में वैषम्य नहीं है[41] -- यह व्याख्या कर लेनी चाहिए ॥ 29 ॥

67 इसके अतिरिक्त मेरी भक्ति की ही यह महिमा है जो कि वह समरूप होने पर भी मुझमें वैषम्य का आपादन कर देती है अर्थात् समरूप भी मुझमें वैषम्य उत्पन्न कर देती है । उसकी महिमा को सुनो :--

---

41. अग्नि और कल्पवृक्ष के समान भगवान् में वैषम्य नहीं है । अग्नि से प्रकाश और दाह -- दोनों होते हैं, क्योंकि उसका उभयस्वभाव है, उसका किसी से राग-द्वेष नहीं है । अग्नि का उचित प्रयोग करने से सुख होता है और अनुचित प्रयोग करने से दु:ख होता है । जो अग्नि का सेवन करता है, अग्नि अपने सेवक के अन्धकार, शीत आदि का निवारण करता है, उसको सुख प्रदान करता है और जो अग्नि से दूर रहता है अग्नि उसके अन्धकार, शीत आदि का निवारण नहीं करता है । उसी प्रकार जो भगवान् की शरण में रहते हैं वे उनके अनुग्रह के पात्र होते हैं और जो उनसे दूर रहते हैं वे उनके अनुग्रह से वंचित रहते हैं । इसीप्रकार कल्पवृक्ष है । कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर जो मनोरथ किया जाता है वही प्राप्त होता है, चाहे मनोरथ अच्छा है या बुरा है । कारण कि कल्पवृक्ष का स्वभाव ही है – मनोरथ सिद्ध करना । उसका किसी से राग-द्वेष नहीं होता है । फल तो उचितानुचित प्रयोग पर निर्भर करता है । जो कल्पवृक्ष का पादसेवन करता है वह मनोरथ प्राप्त करता है, जो उसका पादवेसन नहीं करता है वह मनोरथ प्राप्त नहीं करता है । ऐसे ही जो भगवान् का भजन-सेवन करता है वह उनकी कृपा प्राप्त करता है और जो उनका भजन-सेवन नहीं करता है वह उनकी कृपा से वंचित रहता है । अतः भगवान् में वैषम्य नहीं है ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ 30 ॥

68 यः कश्चित्सुदुराचारोऽपि चेदजामिलादिरिवानन्यभाक्सन्मां भजते कुतश्चिद्भाग्योदयात्सेवते स प्रागसाधुरपि साधुरेव मन्तव्यः । हि यस्मात्सम्यग्व्यवसितः साधुनिश्चयवान्सः ॥ 30 ॥

69 अस्मादेव सम्यग्व्यवसायात्स हित्वा दुराचारताम् --

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ 31 ॥

70 चिरकालमधर्मात्माऽपि मद्भजनमहिम्ना क्षिप्रं शीघ्रमेव भवति धर्मात्मा धर्मानुगतचित्तो दुराचारत्वं झटित्येव त्यक्त्वा सदाचारो भवतीत्यर्थः । किं च शश्वन्नित्यं शान्तिं विषयभोगस्पृहानिवृत्तिं निगच्छति नितरां प्राप्नोत्यतिनिर्वेदात् ।

71 कश्चित्त्वद्भक्तः प्रागभ्यस्तं दुराचारत्वमत्यजन्न भवेदपि धर्मात्मा, तथा च स नश्येदेवेति नेत्याह भक्तानुकम्पापरवशतया कुपित इव भगवान् -- नैतदाश्चर्यं मन्वीथा हे कौन्तेय निश्चितमेवेदृशं मद्भक्तेर्माहात्म्यम् । अतो विप्रतिपन्नानां पुरस्तादपि त्वं प्रतिजानीहि सावज्ञं सगर्वं च प्रतिज्ञां कुरु

[यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मुझको भजता है तो उसको साधु ही समझना चाहिए, क्योंकि वह सम्यक्-यथार्थ निश्चयवाला है ॥ 30 ॥]

68 अपि चेत्[42] = यदि जो कोई अतिशय दुराचारी भी अजामिल आदि के समान अनन्य भावयुक्त -- शरणागत होकर मेरा भजन करता है अर्थात् किसी प्रकार भाग्योदय होने से मेरी सेवा करता है तो वह पहले असाधु होने पर भी साधु ही समझा जाने योग्य है, क्योंकि वह सम्यक्-व्यवसित = साधु -- शुभ निश्चयवाला है ॥ 30 ॥

69 इसी सम्यक् निश्चय के कारण वह दुराचारता को त्यागकर --
[शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शश्वत् = निरन्तर शान्ति को प्राप्त होता है । हे कौन्तेय ! तुम प्रतिज्ञा करो अर्थात् निश्चयपूर्वक सत्य जानो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता है ॥ 31 ॥]

70 चिरकाल से अधर्मात्मा होने पर भी मेरे भजन की महिमा से क्षिप्र = शीघ्र ही धर्मात्मा = धर्मपरायणचित्तवाला हो जाता है अर्थात् दुराचारत्व को शीघ्र ही त्यागकर सदाचारी हो जाता है । इसके अतिरिक्त शश्वत् = नित्य शान्ति[43] = विषयभोगेच्छा की निवृत्ति को नितराम् -- एकदम प्राप्त होता है, क्योंकि उसमें अतिनिर्वेद = अतिवैराग्य उत्पन्न हो जाता है ।

71 'यदि आपका कोई भक्त अपने पूर्व -- अभ्यस्त दुराचारत्व का त्याग न करता हुआ धर्मात्मा भी न हो, तो वह नष्ट ही होगा' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् भक्तों के प्रति अनुकम्पापरवश होने के कारण कुपितसे होकर कहते हैं -- नहीं, हे कौन्तेय ! इसमें तुम कोई आश्चर्य मत मानो, मेरी भक्ति का ऐसा महात्म्य निश्चित ही है । अतः विप्रतिपन्न = विवादशील

---

42. 'अपि चेत्' शब्द से यह सूचित किया है कि अतिशय दुराचारी व्यक्तियों को भगवान् में अनन्यभक्ति प्राप्त होना दुर्लभ है । पूर्वजन्म की अनेक सुकृतियों के फलस्वरूप ही ऐसा होना सम्भव है । इसमें अजामिल आदि दृष्टान्त हैं ।

43. आनन्दगिरि ने 'शश्वच्छान्तिम्' = 'नित्यशान्ति' का अर्थ किया है -- 'उपशमो दुराचारादुपरमः' अर्थात् 'दुराचार से उपराम' ।

न मे वासुदेवस्य भक्तोऽतिदुराचारोऽपि प्राणसंकटमापन्नोऽपि सुदुर्लभमयोग्यः सन्प्रार्थयमानोऽपि अतिमूढोऽशरणोऽपि न प्रणश्यति किं तु कृतार्थ एव भवतीति । दृष्टान्ताश्चाजामिलप्रह्लादध्रुव-गजेन्द्रादयः प्रसिद्धा एव । शास्त्रं च – 'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्' इति ॥ 31 ॥

72 **एवमागन्तुकदोषेण दुष्टानां भगवद्भक्तिप्रभावान्निस्तारमुक्त्वा स्वाभाविकदोषेण दुष्टानामपि तमाह-**

मां हि पार्थ व्यापाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ 32 ॥

73 **हि निश्चितं हे पार्थ मां व्यपाश्रित्य शरणमागत्य येऽपि स्युः पापयोनयोऽन्त्यजास्तिर्यञ्चो वा जातिदोषेण दुष्टाः । तथा वेदाध्ययनादिशून्यतया निकृष्टाः स्त्रियो वैश्याः कृष्यादिमात्ररताः । तथा शूद्रा जातितोऽध्ययनाद्यभावेन च परमगत्ययोग्यास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् । अपिशब्दात्प्रागुक्तदुराचारा अपि ॥ 32 ॥**

74 **एवं चेत् –**

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ 33 ॥

पुरुषों के सामने तुम निश्चयपूर्वक सत्य जानो अर्थात् अवज्ञा और गर्व के साथ प्रतिज्ञा करो कि 'मुझ वासुदेव का भक्त अत्यन्त दुराचारी भी, प्राणसंकट प्राप्त भी, अत्यन्त अयोग्य भी सुदुर्लभ की प्रार्थना करता हुआ भी अतिमूढ़ और अशरण भी नष्ट नहीं होता है, किन्तु कृतार्थ ही होता है' । इसमें अजामिल, प्रह्लाद, ध्रुव, गजेन्द्र आदि दृष्टान्त प्रसिद्ध ही हैं । तथा 'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्'='भगवान् वासुदेव के भक्तों का कहीं अशुभ नहीं होता है'-यह शास्त्र भी प्रमाण है ॥ 31 ॥

72 इसप्रकार आगन्तुक दोष से दूषित पुरुषों का भगवद्-भक्ति के प्रभाव से निस्तार कहकर स्वाभाविक दोष से दूषित पुरुषों का भी निस्तार कहते हैं :--

[हे पार्थ ! मेरा आश्रय लेकर जो पशु-पक्षी आदि पापयोनि हैं तथा जो स्त्री, वैश्य और शूद्र हैं वे भी परम-गति को ही प्राप्त होते हैं ॥ 32 ॥]

73 हे पार्थ ! हे अर्जुन ! हि[44] = निश्चितम् = यह निश्चित है कि मेरा आश्रय लेकर = मेरी शरण में आकर जो भी पापयोनि हैं अर्थात् जातिदोष से दूषित अन्त्यज, तिर्यञ्च = पशु-पक्षी आदि हैं; तथा वेदाध्ययन आदि से शून्य होने के कारण निकृष्ट स्त्रियाँ, कृषि आदि में मात्र निरत -- रत वैश्य और जाति ही से अध्ययन आदि का अभाव रहने के कारण परमगति के अयोग्य शूद्र हैं, वे भी परमगति को प्राप्त होते हैं । 'अपि' शब्द से पूर्वोक्त दुराचारियों का भी संग्रह है ॥ 32 ॥

74 यदि ऐसा है तो --

[फिर पुण्यशील - सदाचारी और उत्तमयोनि में उत्पन्न हुए मेरे भक्त ब्राह्मण और राजर्षियों के विषय में तो कहना ही क्या है । अत: इस अनित्य और असुख लोक को पाकर मुझको ही भज अर्थात् मेरा ही भजन कर ॥ 33 ॥]

---

44. शाङ्करभाष्य में 'हि' शब्द 'क्योंकि' अर्थ में ग्रहण किया गया है, किन्तु यहाँ 'हि' शब्द का प्रसिद्धार्थ अथवा निश्चितार्थ में भी प्रयोग करके प्रकृत श्लोक की व्याख्या की जा सकती है । 'स्त्रियों में गोपी आदि, वैश्यों में तुलाधारादि, शूद्रों में विदुर आदि, तथा तिर्य्यग् जाति में जटायु आदि मेरे शरणागत होकर दिव्य गति को प्राप्त हुए थे -- यह शास्त्र में प्रसिद्ध है', यही सूचित करने के लिए 'हि' शब्द प्रसिद्धार्थ में प्रयुक्त हुआ है । अथवा 'हि' शब्द को निश्चितार्थ में ग्रहण करके कहा जा सकता है कि 'जो मुझको अनन्यभाव से भजते हैं वे क्रममुक्ति अथवा सद्योमुक्ति अवश्य प्राप्त करेंगे - यह निश्चित है' । मधुसूदन सरस्वती ने 'हि' शब्द को निश्चितार्थ में ग्रहण किया ही है ।

75 पुण्याः सदाचारा उत्तमयोनयश्च ब्राह्मणास्तथा राजर्षयः सूक्ष्मवस्तुविवेकिनः क्षत्रिया मम भक्ताः परां गतिं यान्तीति किं पुनर्वाच्यमत्र कस्यचिदपि संदेहाभावादित्यर्थः । यतो मद्भक्तेरीदृशो महिमाऽतो महता प्रयत्नेनेमं लोकं सर्वपुरुषार्थसाधनयोग्यमतिदुर्लभं च मनुष्यदेहमनित्यमाशुविनाशिनमसुखं गर्भवासाद्यनेकदुःखबहुलं लब्ध्वा यावदयं न नश्यति तावदतिशीघ्रमेव भजस्व मां शरणमाश्रयस्व, अनित्यत्वादसुखत्वाच्चास्य विलम्बं सुखार्थमुद्यमं च मा कार्षीस्त्वं च राजर्षिरतो मद्भजनेनाऽऽत्मानं सफलं कुरु । अन्यथा ह्येतादृशं जन्म निष्फलमेव ते स्यादित्यर्थः ॥ 33 ॥

76 भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति –

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ 34 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ 9 ॥

77 राजभक्तस्यापि राजभृत्यस्य पुत्रादौ मनस्तथा स तन्मना अपि न तद्भक्त इत्यत उक्तं 'मन्मना

---

75 पुण्यशील - सदाचारी और उत्तमयोनि में उत्पन्न हुए ब्राह्मण तथा राजर्षि = सूक्ष्मवस्तुविवेकी क्षत्रिय, जो मेरे भक्त हैं, परमगति को प्राप्त होते हैं -- इसमें तो कहना ही क्या है ? अर्थात् इस विषय में किसी को भी सन्देह नहीं है, क्योंकि मेरी भक्ति की ऐसी ही महिमा है । अत: महान् प्रयत्न से इस लोक को अर्थात् सम्पूर्ण पुरुषार्थों के साधनयोग्य और अत्यन्त दुर्लभ किन्तु अनित्य - आशुतरविनाशी और असुख - गर्भवासादि अनेक दु:खों की बहुलता से युक्त मनुष्यदेह को पाकर जब तक यह नष्ट नहीं होता तब तक अतिशीघ्र मेरा भजन करो -- मेरी शरण में आओ । यह देह अनित्य और असुख - सुखहीन है, अत: विलम्ब और सुख के लिए उद्योग मत करो । तुम राजर्षि हो, अत: मेरे भजन से अपने को सफल करो । अन्यथा तुम्हारा इसप्रकार का जन्म निष्फल ही होगा -- यह अभिप्राय है ॥ 33 ॥

76 भजन का प्रकार दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं :--
[तुम मेरे में मनवाले, मेरे भक्त और मेरा पूजन करने वाले होओ तथा मुझको ही नमस्कार करो । इस प्रकार मत्परायण होकर अर्थात् मेरी ही शरण में आकर और मेरे में ही चित्त लगाकर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे ॥ 34 ॥

77 राजभक्त भी राजभृत्य = राजा के सेवक का पुत्रादि में मन लगा रहता है, किन्तु वह पुत्र में मनवाला होने पर भी उसका भक्त नहीं होता -- इसी से कहा है कि 'मेरे में मनवाले और मेरे भक्त होओ'[45] । तथा मद्याजी[46] = मेरी ही पूजा करनेवाले होओ । मन, वाणी और शरीर से मुझ-

---

45. श्लोक में कहा है कि 'मन्मना भव मद्भक्तो' अर्थात् 'मेरे में मनवाले और मेरे भक्त होओ' । यहाँ प्रश्न है कि 'मन्मना' होने से तो 'भद्भक्त' भी होगा, अत: श्लोक में 'मन्मना' और 'भद्भक्त' - इस शब्दों का प्रयोग करने से तो पुनरुक्ति - दोष है । उसका उत्तर है – नहीं, यहाँ पुनरुक्ति - दोष नहीं है, कारण कि राजा का सेवक राजभक्त होने पर भी उसके मन का ध्यान रखता है किन्तु उसके पुत्रादि में मनवाला होने पर भी पुत्रादि का भक्त नहीं होता है । अत: 'मन्मना' होने से 'भद्भक्त' होगा ही -- यह नहीं कहा जा सकता है । सभी बाह्य विषयों से मन को उपरत कर भगवान् में रखने से 'मन्मना' होता है और भगवान् को आत्मबुद्धि अर्थात् ब्रह्माकारा चित्तवृत्ति से निरन्तर प्रेमपूर्वक स्मरण करने से 'भद्भक्त' होता है । अत: 'मन्मना' और 'भद्भक्त' होना पुनरुक्ति नहीं है ।

46. 'मद्याजी' शब्द का अर्थ यह है कि जब 'मन्मना' नहीं हो सको तो यज्ञादि क्रिया के द्वारा, अथवा बाह्य उपकरण -- धूप, दीप, नैवेद्यादि के द्वारा, अथवा वाक्य अर्थात् स्तुति के द्वारा, अथवा भावना के द्वारा सर्वात्मा

भव मद्भक्त' इति । तथा मद्याजी मत्पूजनशीलो मां नमस्कुरु मनोवाक्कायैः । एवमेभिः प्रकारैर्मत्परायणो मदेकशरणः सन्नात्मानमन्तःकरणं युक्त्वा मयि समाधाय मामेव परमानन्दघनं स्वप्रकाशं सर्वोपद्रवशून्यमभयमेष्यसि प्राप्स्यसि ॥ 34 ॥

78 **श्रीगोविन्दपदारविन्दमकरन्दास्वादशुद्धाशयाः**
संसाराम्बुधिमुत्तरन्ति सहसा पश्यन्ति पूर्णं महः ॥
वेदान्तैरवधारयन्ति परमं श्रेयस्त्यजन्ति भ्रमं
द्वैतं स्वप्नसमं विदन्ति विमलां विन्दन्ति चाऽऽनन्दताम् ॥ 1 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामधिकारिभेदेन राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ 9 ॥

को ही नमस्कार[47] करो । इसप्रकार मत्परायण = एकमात्र मेरी ही शरण होकर मेरे में ही आत्मा = अन्तःकरण-मन-चित्त को लगाकर = समाहित कर परमानन्दघन, स्वप्रकाश समस्त उपद्रवों से शून्य, अभय-मुझको ही प्राप्त होओगे[48] ॥ 34 ॥

78 श्री गोविन्द के पदारविन्द - चरणारविन्द के मकरन्द-पराग-रस के आस्वाद से शुद्धाशय = शुद्धान्तःकरण जो हैं वे सहसा संसाररूपी सागर के पार उतरते हैं और पूर्णमहः = पूर्णज्योति अर्थात् पूर्णप्रकाश ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं । वे वेदान्तवाक्यों द्वारा परम श्रेय-कल्याण का निश्चय करते हैं और भ्रम का त्याग करते हैं तथा द्वैत को स्वप्न के समान जानते हैं और विमल-विशुद्ध आनन्द का अनुभव करते हैं ॥ 1 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य -- विश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य श्रीमधुसूदन-सरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवम अध्याय समाप्त होता है ।

परमेश्वर मेरी ही पूजा करनेवाले होओ ।

47. 'नमस्कार' आत्मसमर्पण अथवा परिपूर्णदासत्वस्वीकार का लक्षण है । कर्तृत्वाभिमान और कर्मफल भगवान् को समर्पण किये बिना यथार्थ नमस्कार नहीं होता है । जब 'मन्मना' नहीं हो सको, 'मद्याजी' भी नहीं हो सको तब 'वासुदेवः सर्वम्' -- ऐसी भावना के द्वारा भक्तिपूर्वक मन, वाणी, और शरीर से मुझको नमस्कार करो -- यह अर्थ है ।

48. इसप्रकार कभी ध्यान के द्वारा 'मन्मना' होकर, कभी भक्ति के द्वारा अर्थात् प्रेमपूर्वक मुझको स्मरण कर, कभी बाह्य उपकरण अथवा मानसिक भाव के द्वारा 'मद्याजी' होकर, अथवा कभी सर्वात्मा मुझको सर्वरूप में सर्वत्र नमस्कार कर मुझमें युक्त= चित्त को सदा समाहित कर और मत्परायण = एकमात्र मेरी ही शरण होकर प्रत्यगात्मस्वरूप = सर्वोपाधिशून्य शुद्धचैतन्यस्वरूप मुझको ही प्राप्त होओगे । घट भग्न होने से जिस प्रकार घटाकाश महाकाश में मिलकर अभिन्नरूप से महाकाश को प्राप्त होता है उसी प्रकार तुम जीवात्मा और परमात्मा का एकत्वानुभव कर ब्रह्माद्वैतभाव को प्राप्त होओगे । श्रुति भी कहती है -- " यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" (मुण्डकोपनिषद्, 3.2.8) = "जैसे नदियाँ समुद्र की ओर प्रवाहित होकर अन्त में नामरूप का त्याग कर समुद्र में ही निमग्न हो जाती है अर्थात् समुद्र ही हो जाती है, उसी प्रकार विद्वान्= तत्त्वज्ञानी भी अविद्याकृत नाम और रूप से विमुक्त होकर परात्पर पुरुष को प्राप्त होता है अर्थात् परब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है ।

अथ दशमोऽध्यायः

1 एवं सप्तमाष्टमनवमैस्तत्पदार्थस्य भगवतस्तत्त्वं सोपाधिकं निरुपाधिकं च दर्शितम् । तस्य च विभूतयः सोपाधिकस्य ध्याने निरुपाधिकस्य ज्ञाने चोपायभूता रसोऽहमप्सु कौन्तेयेत्यादिना सप्तमे, अहं क्रतुरहं यज्ञ इत्यादिना नवमे च संक्षेपेणोक्ताः । अथेदानीं तासां विस्तरो वक्तव्यो भगवतो ध्यानाय तत्त्वमपि दुर्विज्ञेयत्वात्पुनस्तस्य वक्तव्यं ज्ञानायेति दशमोऽध्याय आरभ्यते । तत्र प्रथममर्जुनं प्रोत्साहयितुम् –

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ 1 ॥

2 भूय एव पुनरपि हे महाबाहो शृणु मे मम परमं प्रकृष्टं वचः । यत्ते तुभ्यं प्रीयमाणाय मद्वचनादमृतपानादिव प्रीतिमनुभवते वक्ष्याम्यहं परमाप्तस्तव हितकाम्ययेष्टप्राप्तीच्छया ॥ 1 ॥

---

1 इसप्रकार सप्तम, अष्टम और नवम अध्यायों से 'तत्' – पदार्थ भगवान् के सोपाधिक और निरुपाधिक तत्त्व को दिखलाया है, तथा सोपाधिक के ध्यान में और निरुपाधिक के ज्ञान में उपायभूत उनकी विभूतियों को 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' (गीता, 7.8) इत्यादि से सप्तम अध्याय में और 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' (गीता, 9.16) इत्यादि से नवम अध्याय में संक्षेप से कहा गया है । अब भगवान् के ध्यान के लिए उन विभूतियों का विस्तार अवश्य वक्तव्य है, तत्त्व भी दुर्विज्ञेय होने से पुनः उसके ज्ञान के लिए अवश्य वक्तव्य है – इसलिए दशम अध्याय आरम्भ किया जाता है । उसमें प्रथम अर्जुन को प्रोत्साहित करने के लिए भगवान् कहते हैं :–

[श्रीभगवान् ने कहा – हे महाबाहो ! तुम पुनः भी मेरा यह परम – उत्कृष्ट वचन सुनो, जो कि मैं अतिशय प्रेम रखनेवाले तुमसे हित की कामना से कहूँगा ॥ 1 ॥]

2 हे महाबाहो[1] ! हे अर्जुन ! भूय एव[2] = पुनरपि = पुनः भी मेरा यह परम[3] – उत्कृष्ट वचन सुनो[4],

---

1. महान्तौ युद्धादिस्वधर्मानुष्ठाने महत्परिचर्यायां वा कुशलौ बाहू यस्य हे महाबाहो' = युद्धादि स्वधर्मानुष्ठान में अथवा महापुरुषों की परिचर्या = सेवा करने में तुम्हारे दोनों बाहु = हाथ महान् अर्थात् कुशल हैं इसलिए तुम महाबाहु = महाशक्तिशाली हो – इसप्रकार अर्जुन को प्रोत्साहित करने के लिए भगवान् ने 'हे महाबाहो !' – कहकर सम्बोधन किया है ।

2. यदि अर्जुन को ओर से यह शंका की जाती है कि भगवान् ने तो पहले ही तत्र-तत्र तत्त्वज्ञान का अनेक बार उपदेश किया ही है, पुनः वे उसी तत्त्वज्ञान को क्यों कह रहे हैं, तो इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि यद्यपि तत्र-तत्र तत्त्वज्ञानोपदेश मैंने किया है तथापि वह तत्त्वज्ञान = ज्ञातव्य वस्तु परम सूक्ष्म, दुर्विज्ञेय तथा सम्पूर्णरूप से व्यवहार का अविषय होने के कारण पुनः पुनः वक्तव्य है, अतएव मैं उसको भूय एव = पुनरपि अर्थात् पुनः भी तुमसे कह रहा हूँ ।

3. जिस वाक्य से निरतिशय वस्तु प्रकाशित हो उस वाक्य को परम = उत्कृष्ट – प्रकृष्ट अर्थात् प्रकृष्टवस्तु का प्रकाशरूप होने से परमात्मनिष्ठ वचन कहते हैं ।

4. यहाँ भगवान् अर्जुन को आत्मोक्त परम वचन के पुनः पुनः श्रवण और मनन के लिए उपदेश कर रहे हैं, क्योंकि अर्जुन तत्त्वविद्या = ब्रह्मविद्या का अधिकारी है, कारण कि वह भगवद्वचन को सुनकर अमृतपान के समान आनन्द का अनुभव करता है, अर्जुन का भगवान् के प्रति अतिशय प्रेम है, और फिर वह महाबाहु = महाशक्ति-

3 प्राग्बहुधोक्तमेव किमर्थं पुनर्वक्ष्यसीत्यत आह –

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ 2 ॥

4 प्रभवं प्रभावं प्रभुशक्त्यतिशयं प्रभवनमुत्पत्तिमनेकविभूतिभिराविर्भावं वा सुरगणा इन्द्रादयो महर्षयश्च भृग्वादयः सर्वज्ञा अपि न मे विदुः । तेषां तदज्ञाने हेतुमाह – अहं हि यस्मात्सर्वेषां देवानां महर्षीणां च सर्वशः सर्वैः प्रकारैरुत्पादकत्वेन बुद्ध्यादिप्रवर्तकत्वेन च निमित्तत्वेनोपादानत्वेन चेति वाऽऽदिः कारणम् । अतो मद्विकारास्ते मत्प्रभावं न जानन्तीत्यर्थः ॥ 2 ॥

5 महाफलत्वाच्च कश्चिदेव भगवतः प्रभावं वेत्तीत्याह –

जो कि परम आप्त – प्रामाणिक मैं अतिशय प्रेम रखनेवाले तुमसे अर्थात् मेरे वचनों को सुनकर अमृतपान के समान प्रीति का अनुभव करनेवाले तुमसे तुम्हारे हित की कामना से = तुम्हारी इष्टप्राप्ति की इच्छा से कहूँगा ॥ 1 ॥

3 पहले बहुत बार कहे हुए पदार्थों को ही पुन: क्यों कहेंगे ? इस शंका से कहते हैं :–
[हे अर्जुन ! मेरे प्रभव = प्रभाव को न देवता जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सर्वश: = सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का आदि कारण हूँ ॥ 2 ॥]

4 मेरे प्रभव[5] = प्रभाव अर्थात् प्रभुशक्ति के अतिशय को अथवा प्रभवन = उत्पत्ति अर्थात् अनेक विभूतियों से आविर्भाव को इन्द्रादि सुरगण = देवगण और भृगु आदि महर्षिगण सर्वज्ञ होने पर भी नहीं जानते हैं । उनके उस अज्ञान में हेतु = कारण कहते हैं – हि = यस्मात् = क्योंकि मैं सभी देवताओं और महर्षियों का सर्वश: = सब प्रकार से अर्थात् उत्पादकरूप से और बुद्धि आदि के प्रवर्तकरूप से अथवा निमित्तरूप से और उपादानरूप से आदि = कारण हूँ । अत: मेरे विकार = कार्य वे देवगण और महर्षिगण मेरे प्रभाव को नहीं जानते हैं[6] – यह अर्थ है ॥ 2 ॥

5 महाफल[7] होने से कोई ही भगवान् के प्रभाव को जानता है – यह कहते हैं :–
[जो मुझको अज, अनादि और लोकमहेश्वर = समस्त लोकों का महान् ईश्वर जानता है, वह मर्त्यों अर्थात् मनुष्यों में संमोह से रहित हो सम्पूर्ण पापों से सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥ 3 ॥]

शाली है । जो गुरु के प्रति अतिशय श्रद्धा और प्रीति-प्रेम रखकर गुरु के परमात्मनिष्ठ वचनों का पुनः पुनः श्रवण-मनन कर अमृतपान के समान आनन्द का अनुभव करता है, और फिर शक्तिशाली होता है, बलहीन नहीं होता है – क्योंकि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:' – इस श्रुतिवाक्य के अनुसार बलहीन तो आत्मज्ञान के लिए समर्थ ही नहीं होता, वह ब्रह्मविद्या का उत्तम अधिकारी होता है ।

5. प्रभव = प्र + भव = प्रकृष्ट भव अर्थात् प्रकृष्ट भव =ऐश्वर्य = वियदादि की सृष्टि के सामर्थ्य को 'प्रभव' कहते हैं; अथवा प्रकृष्ट भव अर्थात् अज = जन्मरहित के भी अनेक विभूतियों से आविर्भाव को 'प्रभव' कहते हैं ।

6. अभिप्राय यह है कि कार्य कारण को नहीं जान सकता है, इसलिए मेरे विकार = कार्य वे देवगण और महर्षिगण मेरे प्रभाव को नहीं जानते हैं । अनादि = सर्वकारण मैं ही उनको आत्मप्रभाव का ज्ञान करा सकता हूँ । जिसप्रकार पिता अपने जन्मादि के विषय में पुत्र को स्वयं नहीं बताता है तो पुत्र कभी भी पिता के जन्मादि के रहस्य को नहीं जान सकता है, उसीप्रकार मेरे अनुग्रह के बिना मुझको या मेरे प्रभाव को कोई भी नहीं जान सकता है । वेद में कहा है – 'को वा वेद, क इह प्रवोचत्, कुत आयातः, कुत इयं विसृष्टिरर्वाग्देवा:' = अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति किस कारण से हुई और किससे हुई – यह कौन जानता है और कौन इस विषय में पूर्णरूप से कहने में समर्थ है ? देवता भी समर्थ नहीं है, क्योंकि वे भी बाद में उत्पन्न हुए हैं ।

7. जिसकी प्राप्ति – अवगति के पश्चात् कुछ भी प्राप्य – ज्ञेय नहीं रहता वह 'महाफल' कहा जाता है ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ 3 ॥

6 **सर्वकारणत्वान्न विद्यत आदिः कारणं यस्य तमनादिमनादित्वादजं जन्मशून्यं लोकानां महान्तमीश्वरं च मां यो वेत्ति स मर्त्येषु मनुष्येषु मध्येऽसंमूढः संमोहवर्जितः सर्वैः पापैर्मतिपूर्वकृतैरपि प्रमुच्यते प्रकर्षेण कारणोच्छेदात्तत्संस्काराभावरूपेण मुच्यते मुक्तो भवति ॥ 3 ॥**

7 **आत्मनो लोकमहेश्वरत्वं प्रपञ्चयति –**

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ 4 ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ 5 ॥

8 **बुद्धिरन्तःकरणस्य सूक्ष्मार्थविवेकसामर्थ्यं, ज्ञानमात्मानात्मसर्वपदार्थावबोधः, असंमोहः प्रत्युत्पन्नेषु बोद्धव्येषु कर्तव्येषु वाऽव्याकुलतया विवेकेन प्रवृत्तिः, क्षमाऽऽक्रुष्टस्य ताडितस्य वा निर्विकारचित्तता, सत्यं प्रमाणेनावबुद्धस्यार्थस्य तथैव भाषणं, दमो बाह्येन्द्रियाणां स्वविषयेभ्यो**

6 सर्वकारण होने से जिसका आदि = कारण विद्यमान नहीं है उस अनादि; अनादि होने से अज = जन्मशून्य और लोकों के महान् ईश्वर मुझको जो जानता है वह मर्त्यों = मनुष्यों में असंमूढ = संमोहवर्जित अर्थात् मोहशून्य हो बुद्धिपूर्वक किये हुए भी सभी पापों से प्रमुक्त हो जाता है अर्थात् प्र = प्रकर्ष से -- कारण के उच्छेद-नाश से तत्संस्काराभावरूप से अर्थात् पाप के संस्कारों के अभावरूप से मुक्त हो जाता है ॥ 3 ॥

7 अपने लोकमहेश्वरत्व का प्रपञ्च करते हैं :--
[बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दु:ख, भव = उत्पत्ति, भाव = सत्ता, अथवा अभाव, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, और अपयश -- ये प्राणियों के पृथक्-पृथक् भाव मुझसे ही होते हैं ॥ 4-5 ॥]

8 अन्त:करण का सूक्ष्म वस्तुओं का विवेक -- विवेचन करने का सामर्थ्य 'बुद्धि'[8] है । आत्म और अनात्म स्वरूप समस्त पदार्थों का बोध 'ज्ञान'[9] है । बोद्धव्य = जानने योग्य और कर्तव्य = करने योग्य विषयों के उपस्थित होने पर अव्याकुलता से विवेकपूर्वक प्रवृत्त होना 'असंमोह' है । आक्रुष्ट -- भर्त्सित -- निन्दित अथवा ताडित पुरुष की निर्विकारचित्तता 'क्षमा'[10] है । प्रमाण द्वारा जाने हुए विषय को उसीप्रकार कहना 'सत्य'[11] है । बाह्य इन्द्रियों को अपने विषयों से निवृत्त करना =

8. अन्तःकरण का सूक्ष्मादि अर्थात् सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम पदार्थों का विवेचन करने का सामर्थ्य 'बुद्धि' है । ऐसे सामर्थ्यवान् पुरुष को ही बुद्धिमान् कहा जाता है ।

9. आत्मादि पदार्थों का अवबोध अर्थात् आत्म और अनात्म स्वरूप समस्त पदार्थों को जान लेना 'ज्ञान' है । ऐसे बोधवान् पुरुष को 'ज्ञानी' कहते हैं ।

10. अर्थात् किसी के द्वारा निन्दा किये जाने पर, अपशब्द का प्रयोग किये जाने पर अथवा पीटे जाने पर भी किसी पुरुष का निर्विकार चित्त रहना = उसके चित्त में विकार न होना 'क्षमा' है ।

11. किसी भी वस्तु को देखकर और सुनकर अपना जैसा अनुभव हुआ हो उसको उसीप्रकार दूसरे की बुद्धि में पहुँचाने के लिए जो वाक्य का उच्चारण किया जाता है वह 'सत्य' है ।

निवृत्तिः, शमोऽन्तःकरणस्य शमता, सुखं धर्मासाधारणकारणकमनुकूलवेदनीयं, दुःखमधर्मासाधारणकारणकं प्रतिकूलवेदनीयं, भव उत्पत्तिः, भावः सत्ताऽभावोऽसत्तेति वा । भयं च त्रासस्तद्विपरीतमभयम् । एव च, एकश्चकार उक्तसमुच्चयार्थः । अपरोऽनुक्ताबुद्ध्यज्ञानादिसमुच्चयार्थः । एवेत्येते सर्वलोकप्रसिद्धा एवेत्यर्थः । मत्त एव भवन्तीत्युत्तरेणान्वयः ॥ 4 ॥

9 **अहिंसा प्राणिनां पीडाया निवृत्तिः । समता चित्तस्य रागद्वेषादिरहितावस्था । तुष्टिर्भोग्येष्वेतावताऽलमिति बुद्धिः । तपः शास्त्रीयमार्गेण कायेन्द्रियशोषणम् । दानं देशे काले श्रद्धया यथाशक्त्यर्थानां सत्पात्रे समर्पणम् । यशो धर्मनिमित्ता लोकश्लाघारूपा प्रसिद्धिः । अयशस्त्वधर्मनिमित्ता लोकनिन्दारूपा प्रसिद्धिः । एते बुद्ध्यादयो भावाः कार्यविशेषाः सकारणकाः पृथग्विधा धर्माधर्मादिसाधनवैचित्र्येण नानाविधा भूतानां सर्वेषां प्राणिनां मत्तः परमेश्वरादेव भवन्ति नान्यस्मात्तस्मात्किं वाच्यं मम लोकमहेश्वरत्वमित्यर्थः ॥ 5 ॥**

हटाना 'दम' है । अन्त:करण की विषयों से शमता – शान्ति – निवृत्ति 'शम' है । धर्म जिसका असाधारण कारण है और जिसको सभी अपना अनुकूल समझते हैं वह 'सुख'[12] है । अधर्म जिसका असाधारण कारण है और जिसको सभी अपना प्रतिकूल समझते हैं वह 'दु:ख'[13] है । 'भव' = उत्पत्ति, 'भाव' = सत्ता, अथवा 'अभाव' = असत्ता है[14] । 'भय' त्रास को कहते हैं । भय से विपरीत 'अभय' है । श्लोक में 'भयं चाभयमेव च' -- इसप्रकार दो चकार और एक एवकार का प्रयोग हुआ है । उनमें एक चकार 'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोह: ----' इत्यादि से उक्त बुद्धि आदि समस्त भावों के समुच्चय के लिए है और दूसरा चकार श्लोक में अनुक्त अबुद्धि, अज्ञान आदि भावों के समुच्चय के लिए है तथा 'एव' शब्द 'ये समस्त भाव सर्वलोकप्रसिद्ध ही हैं' – इसप्रकार प्रसिद्धि अर्थ में व्यवहृत हुआ है । 'मत्त एव भवन्ति' -- इसप्रकार उत्तर श्लोक से अन्वय करने पर – ये उक्तानुक्त समस्त भाव मुझसे ही होते हैं ।। 4 ।।

9 प्राणियों की पीडा से निवृत्ति 'अहिंसा'[15] है । चित्त की राग-द्वेषादि से रहित अवस्था 'समता'[16] है । भोग्य पदार्थों में 'इतना बहुत है--इसप्रकार पर्याप्त बुद्धि रखना 'तुष्टि'[17] है । शास्त्रीय मार्ग से शरीर और इन्द्रियों को सुखाना 'तप' है । देश और काल के अनुसार श्रद्धापूर्वक यथाशक्ति सत्पात्र को द्रव्य देना 'दान' है । धर्म के निमित्त से होनेवाली लोकश्लाघा = लोकप्रशंसारूप प्रसिद्धि 'यश'

12. अन्त:करण की अनुकूलवृत्तिविशेष से उत्पन्न आह्लाद 'सुख' है । सुख इष्ट विषय की प्राप्ति से उत्पन्न होता है और सदा अनुकूल-स्वभाव होता है । सुख में मुख और नेत्र खिल जाते हैं । वह विद्या, शान्ति, सन्तोष और धर्मविशेष से होता है ।

13. अन्त:करण की प्रतिकूलवृत्तिविशेष से उत्पन्न सन्ताप 'दु:ख' है । यह इष्ट के वियोग अथवा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होता है और सदा प्रतिकूल-स्वभाव होता है । दु:ख में मुख मुरझा जाता है और दीनता आ जाती है । वह अधर्म-विशेष से होता है ।

14. प्रकृत श्लोक में मधुसूदन सरस्वती ने 'भवो भावो' और 'भवोऽभावो' -- इसप्रकार दो पाठों का विकल्प करके अर्थ किया है । ऐसा ही नीलकण्ठव्याख्या में किया गया है, जबकि भाष्यकार आदि ने 'भवोऽभावो' – मात्र एक पाठ स्वीकार किया है ।

15. शरीर, वाणी अथवा मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि मनोवृत्तियों के साथ किसी प्राणी को शारीरिक, मानसिक पीडा अथवा हानि पहुँचाना या पहुँचवाना या उसकी अनुमति देना या स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से उसका कारण बनना हिंसा है, इससे निवृत्ति – बचना या दूर रहना 'अहिंसा' है ।

16. मित्र, अमित्र आदि में समान व्यवहार करना 'समता' है ।

17. दैववश अथवा भाग्यवश प्राप्त वस्तुओं – विषयों में सन्तोष रखना 'तुष्टि है ।

10 इतश्चैतदेवम् –

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ 6 ॥

11 महर्षयो वेदतदर्थद्रष्टारः सर्वज्ञा विद्यासंप्रदायप्रवर्तका भृग्वाद्याः सप्त पूर्वे सर्गाद्यकालाविर्भूताः । तथा च पुराणं –

'भृगुं मरीचिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
वसिष्ठं च महातेजाः सोऽसृजन्मनसा सुतान् ।
सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः ॥' इति ।

है । 'अयश'[18] = 'अपयश' तो अधर्म के निमित्त से होनेवाली लोकनिन्दारूप प्रसिद्धि है । ये बुद्धि आदि भाव = कार्यविशेष सकारणक हैं, अनेक प्रकार के हैं = धर्म, अधर्म आदि रूप साधनों की विचित्रता से नाना प्रकार के हैं । समस्त प्राणियों के ये पूर्वोक्त भाव मुझ परमेश्वर से ही होते हैं, अन्य से नहीं । अतः मेरे लोकमहेश्वरत्व के विषय में क्या कहना है[19] – यह अर्थ है ॥ 5 ॥

10 इस कारण से भी इसको ऐसा कहते हैं --
[जिनकी लोक में यह सम्पूर्ण प्रजा है वे पूर्ववर्ती सप्त महर्षि और चार मनु मेरा ही चिन्तन करनेवाले थे और मेरे ही संकल्प से उत्पन्न हुए थे ॥ 6 ॥]

11 वेद और वेदार्थ के द्रष्टा, सर्वज्ञ, विद्या-ज्ञानसम्प्रदाय के प्रवर्तक भृगु आदि सप्त महर्षि पूर्व में अर्थात् सर्ग के आदिकाल में आविर्भूत हुए हैं । जैसा कि पुराण का कथन है -- 'महातेजस्वी हिरण्यगर्भ भगवान् ने भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ – इन सात पुत्रों की मन से रचना की । ये सात ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं -- इसप्रकार पुराण में निश्चय किया गया है' (महाभारत, शान्तिपर्व, 208.5) ।
इसीप्रकार चार मनु 'सावर्ण'[20] नाम से प्रसिद्ध हैं । अथवा, भृगु आदि सप्त महर्षि और उनसे भी

18. यहाँ 'अयश' शब्द अबुद्धि, अज्ञान, संमोह, अक्षमा, असत्य, अदम, अशम, हिंसा आदि विपरीत धर्मसमूह का उपलक्षण है ।

19. अभिप्राय यह है कि लोक में प्राणियों के अपने-अपने कर्मानुसार राजस, तामस और सात्त्विक भेद से अनेक प्रकार के भाव हैं । काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, असूया, अहंकार आदि राजस भाव है । अबुद्धि, अज्ञान, संमोह, अक्षमा, असत्य, हिंसा, अयश आदि तामस भाव हैं । बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, अहिंसा, यश आदि सात्त्विक भाव हैं । बन्धन के हेतुभूत राजस और तामस भाव मेरे भजन से शून्य प्राणियों के हैं तथा मोक्ष के साधनभूत सात्त्विक भाव मेरे भक्त मुमुक्षु प्राणियों के हैं । ये सभी भाव मुझसे ही होते हैं, अतः मैं ही सर्वलोकमहेश्वर हूँ, फलतः सभी प्राणी भोग अथवा मोक्ष के लिए मेरी ही शरण ग्रहण करते हैं ।

20. 'सवर्णा' की सन्तति होने के कारण मनु की 'सावर्ण' संज्ञा है । विष्णुपुराण के अनुसार सावर्णसंज्ञक मनु चार हुए हैं – सावर्णि, दक्षसावर्णि, धर्मसावर्णि और रुद्रसावर्णि । ये क्रमशः अष्टम, नवम, एकादश और द्वादश मनु हैं ।

'सावर्णिस्तु मनुर्योऽसौ मैत्रेय भविता ततः ।
नवमो दक्षसावर्णिर्मैत्रेय भविता मनुः ॥
एकादशश्च भविता धर्मसावर्णिको मनुः ।
रुद्रपुत्रस्तु सावर्णो भविता द्वादशो मनुः ॥' (विष्णुपुराण)

किन्तु भागवतपुराण में अष्टम से लेकर चतुर्दश मनु तक – सात मनुओं की सावर्णसंज्ञा कही गई है ।

तथा चत्वारो मनवः सावर्णा इति प्रसिद्धाः । अथवा महर्षयः सप्त भृग्वाद्याः, तेभ्योऽपि पूर्वे प्रथमाश्चत्वारः सनकाद्याः महर्षयः । मनवस्तथा स्वायंभुवाद्याश्चतुर्दश मयि परमेश्वरे भावो भावना येषां ते मद्भावा मच्चिन्तनपरा मद्भावनावशादाविर्भूतमदीयज्ञानैश्वर्यशक्तय इत्यर्थः । मानसा मनसः संकल्पादेवोत्पन्ना न तु योनिजाः । अतो विशुद्धजन्मत्वेन सर्वप्राणिश्रेष्ठा मत्त एव हिरण्यगर्भात्मनो जाताः सर्गाद्यकाले प्रादुर्भूताः । येषां महर्षीणां सप्तानां भृग्वादीनां चतुर्णां च सनकादीनां मनूनां च चतुर्दशानामस्मिँल्लोके जन्मना च विद्यया च संततिभूता इमा ब्राह्मणाद्याः सर्वाः प्रजाः ॥ 6 ॥

12 **एवं सोपाधिकस्य भगवतः प्रभावमुक्त्वा तज्ज्ञानफलमाह –**

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ 7 ॥

13 **एतां प्रागुक्तां बुद्ध्यादिमहर्ष्यादिरूपां विभूतिं विविधभावं तत्तद्रूपेणावस्थितिं योगं च तत्तदर्थनिर्मा-**

पूर्ववर्ती सनकादि[21] प्रथम चार महर्षि हैं । तथा स्वायंभुवादि[22] चौदह मनु हैं । इन सभी का मुझ परमेश्वर में भाव = भावना है, अत: ये मद्भाव अर्थात् मच्चिन्तनपर = मेरे चिन्तन में तत्पर रहनेवाले हैं । अर्थ यह है कि मेरी भावना के कारण इनमें मेरे ज्ञान, ऐश्वर्य और शक्ति का आविर्भाव हुआ है[23] । ये सभी हिरण्यगर्भ के मानस अर्थात् मन के संकल्प से ही उत्पन्न पुत्र हैं, न कि योनि से उत्पन्न हैं । अत: विशुद्ध जन्म होने से समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ हैं, हिरण्यगर्भरूप मुझसे ही सर्ग के आदिकाल में उत्पन्न = प्रादुर्भूत हुए हैं । जिन भृगु आदि सात और सनकादि चार महर्षियों तथा चौदह मनुओं की इस लोक में जन्म और विद्या से यह ब्राह्मणादि सम्पूर्ण प्रजा संततिभूत है ॥ 6 ।

12 इसप्रकार सोपाधिक भगवान् के प्रभाव को कहकर उसके ज्ञान का फल कहते हैं :--
[जो पुरुष मेरी इस विभूति को और योग को तत्त्व से जानता है वह निश्चल योग से युक्त होता है – इसमें सन्देह नहीं है ॥ 7 ॥]

13 इस प्रागुक्त बुद्धि आदि और महर्षि आदि रूप विभूति को अर्थात् तद्-तद् रूप से अवस्थित विविधभाव को तथा योग[24] को अर्थात् तद्-तद् अर्थनिर्माण के सामर्थ्यरूप मेरे परम ऐश्वर्य को जो तत्त्वत:[25] =

21. सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार -- ये प्रथम चार महर्षि हैं (द्रष्टव्य – भागवतपुराण, 3.12.4) ।

22. चौदह मनु हैं :-- स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि (भागवतपुराण – 8.13) ।

23. भक्त में भगवद्भाव = भगवद्भावना के कारण भगवदीय = वैष्णवी ज्ञान, ऐश्वर्य और शक्ति का आविर्भाव स्वाभाविक होता है, क्योंकि भक्त भगवद्भावना से भगवदीय होकर रहता है ।

24. 'योग' शब्द का अर्थ है – युक्ति = उपाय या अघटनघटनसामर्थ्य अर्थात् निष्क्रिय, निरवद्य, निर्गुण, असङ्ग, अद्वितीय होते हुए भी ब्रह्म जो जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्त्ता है वह उसकी अघटनघटनपटीयसी अनिर्वचनीया मायाशक्ति के योग से ही सम्भव होता है, अत: ब्रह्म की माया ही 'योग' है, इसीलिए इसको 'योगमाया' भी कहते हैं । अथवा, योगैश्वर्यसामर्थ्य, सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व इत्यादि जो योग से फल प्राप्त होते हैं उनको भी योगज होने के कारण 'योग' कहा जाता है । जिसके लेशमात्र सम्बन्ध से भृगु आदि महर्षि और मनु आदि प्रजापति प्रजा पर शासन करने में समर्थ होते हैं और सर्वज्ञ कहे जाते हैं ।

25. 'तत्त्वत:' शब्द का अर्थ है मायारूप उपाधि और उसके कार्य तथा मायारूप उपाधि से रहित परमात्मा के स्वरूप को यथार्थरूप से जानना ।

णसामर्थ्यं परमैश्वर्यमिति यावत् । मम यो वेत्ति तत्त्वतो यथावत्सोऽविकम्पेनाप्रचलितेन योगेन सम्यग्ज्ञानस्थैर्यलक्षणेन समाधिना युज्यते नात्र संशयः प्रतिबन्धः कश्चित् ॥ 7 ॥

14 यादृशेन विभूतियोगयोर्ज्ञानेनाविकम्पयोगप्राप्तिस्तद्दर्शयति चतुर्भिः –

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ 8 ॥

15 अहं परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं सर्वस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिकारणमुपादानं निमित्तं च स्थितिनाशादि च सर्वं मत्त एव प्रवर्तते भवति । मयैवान्तर्यामिणा सर्वज्ञेन सर्वशक्तिना प्रेर्यमाणं स्वस्वमर्यादामनतिक्रम्य सर्वं जगत्प्रवर्तते चेष्टत इति वा । इत्येवं मत्वा बुधा विवेकेनावगततत्त्वभावेन परामार्थतत्त्वग्रहणरूपेण प्रेम्णा समन्विताः सन्तो मां भजन्ते ॥ 8 ॥

16 प्रेमपूर्वकं भजनमेव विवृणोति –

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ 9 ॥

17 मयि भगवति चित्तं येषां ते मच्चित्ताः । तथा मद्गता मां प्राप्ताः प्राणाश्चक्षुरादयो येषां ते मद्गतप्राणा मद्भजननिमित्तचक्षुरादिव्यापारा मय्युपसंहृतसर्वकरणा वा । अथवा मद्गतप्राणा मद्भजनार्थजीवना मद्भजनातिरिक्तप्रयोजनशून्यजीवना इति यावत् । विद्वद्गोष्ठीषु परस्परमन्योन्यं

यथावत् जानता है वह अविकम्प = अप्रचलित -- निश्चल -- अचल योग से = सम्यक्-ज्ञान के स्थैर्यरूप समाधि से युक्त हो जाता है -- इसमें कोई संशय = प्रतिबन्ध नहीं है ॥ 7 ॥

14 जिसप्रकार के विभूति और योग के ज्ञान से अचल-योग की प्राप्ति होती है उसको चार श्लोकों से दिखलाते हैं :--
['मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही यह सब जगत् प्रवृत्त होता है' – ऐसा मानकर बुधजन भाव से युक्त हुए मुझ परमेश्वर को ही भजते हैं ॥ 8 ॥]

15 मैं वासुदेवसंज्ञक परब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का प्रभव = उत्पत्तिकारण अर्थात् उपादान और निमित्त कारण हूँ । जगत् के स्थिति, नाश आदि -- सब मुझसे ही होते हैं । मुझ अन्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् से प्रेरित हुआ ही सारा जगत् अपनी-अपनी मर्यादा का अतिक्रमण न करके प्रवृत्त होता है अर्थात् चेष्टा करता है । ऐसा मानकर ही बुधजन विवेक से अवगत तत्त्वभाव से परमार्थ तत्त्वग्रहणरूप प्रेम से समन्वित -- युक्त होते हुए मुझको भजते हैं ॥ 8 ॥

16 प्रेमपूर्वक भजन का ही विवरण करते हैं :--
[मुझमें चित्त-मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणों को अर्पण करनेवाले भक्तजन विद्वद्गोष्ठियों में परस्पर मेरा ही बोधन कराते हुए तथा मेरा ही नित्य कथन करते हुए संतुष्ट होते हैं और मुझमें ही रमण करते हैं ॥ 9 ॥]

17 मुझ भगवान् में चित्त है जिनका वे मच्चित्त = मुझमें चित्त लगानेवाले तथा मद्गत अर्थात् मुझको प्राप्त हैं प्राण अर्थात् चक्षु आदि जिनके वे मद्गतप्राण = मेरे भजन के निमित्त ही चक्षु आदि का

श्रुतिभिर्युक्तिभिश्च मामेव बोधयन्तस्तत्त्वबुभुत्सुकथया ज्ञापयन्तः । तथा स्वशिष्येभ्यश्च मामेव कथयन्त उपदिशन्तश्च । मयि चित्तार्पणं तथा बाह्यकरणार्पणं तथा जीवनार्पणमेवं समानामन्योन्यं मद्बोधनं स्वन्यूनेभ्यश्च मदुपदेशनमित्येवंरूपं यन्मद्भजनं तेनैव तुष्यन्ति च, एतावतैव लब्धसर्वार्था वयमलमन्येन लब्धव्येनेत्येवंप्रत्ययरूपं संतोषं प्राप्नुवन्ति च । तेन संतोषेण रमन्ति च रमन्ते च प्रियसंगमेनेवोत्तमं सुखमनुभवन्ति च । तदुक्तं पतञ्जलिना - 'संतोषादनुत्तमः सुखलाभः' इति। उक्तं च पुराणे –

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्" इति ॥

तृष्णाक्षयः सन्तोषः ॥ 9 ॥

18 ये यथोक्तेन प्रकारेण भजन्ते माम् –

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ 10 ॥

व्यापार करनेवाले, अथवा मुझमें ही समस्त करणों = इन्द्रियों का उपसंहार करनेवाले[26], अथवा मद्गतप्राण = मुझमें ही प्राणों को अर्पण करनेवाले अर्थात् मेरे भजन के लिए ही जीवन को अर्पण करनेवाले = मेरे भजन के अतिरिक्त जीवन को प्रयोजनशून्य समझनेवाले भक्तजन विद्वद्गोष्ठियों में परस्पर = अन्योन्य श्रुति और युक्तियों से मेरा ही बोधन कराते हुए अर्थात् तत्त्वबुभुत्सुओं की कथा से मेरा ही विज्ञापन करते हुए तथा अपने शिष्यों से मेरा ही कथन करते हुए अर्थात् मेरा ही उपदेश देते हुए – मुझमें चित्त का अर्पण, मुझमें ही बाह्य इन्द्रियों का अर्पण और मुझमें ही जीवन का अर्पण, इसीप्रकार समोंके अन्योन्य – परस्पर मेरा ही बोधन तथा अपने से न्यून पुरुषों को मेरा ही उपदेश – एवंरूप जो मेरा भजन है उससे ही सन्तुष्ट होते हैं अर्थात् 'इतने से ही हमको सब पदार्थ प्राप्त हो गये, अब किसी अन्य प्राप्तव्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है' -- इसप्रकार के अनुभवरूप सन्तोष को प्राप्त करते हैं । तथा उस सन्तोष से रमण करते हैं अर्थात् प्रियसंगम के समान उत्तम सुख का अनुभव करते हैं । ऐसा ही पतञ्जलि ने कहा है -- 'संतोषादनुत्तमसुखलाभः' (योगसूत्र, 2.42) = 'संतोष से अनुत्तम सुख[27] प्राप्त होता है' । पुराण में भी कहा है --

'लोक में जो कामसुख है और जो दिव्य महान् सुख है – वे तृष्णा के क्षय से प्राप्त होनेवाले सुख के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है' । तृष्णा का क्षय ही 'संतोष' है ॥ 9 ॥

18 जो यथोक्त प्रकार से मुझको भजते हैं --

[उन सततयुक्त = सर्वदा मेरे ध्यान में लगे हुए और प्रेमपूर्वक मुझको भजनेवाले भक्तों को मैं वह बुद्धियोग = तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ 10 ॥]

---

26. अर्थात् जिनके चक्षु मेरे ही रूप को देखते हैं, श्रोत्र मेरी ही लीला का श्रवण करते हैं, जिह्वा मेरा ही गुणगान करती है, त्वचा मेरे ही चरणारविन्द का स्पर्श कर धन्य होती है और नासिका मुझको अर्पित चन्दनादि की ही गन्ध सूँघती है वे मद्गतप्राण = मद्गतेन्द्रिय हैं ।

27. अनुत्तम सुख = उत्तम से उत्तम सुख अर्थात् जिससे बढ़कर कोई और सुख न हो । संतोष में जब पूरी स्थिरता हो जाती है, तब तृष्णा का नितान्त क्षय हो जाता है । तृष्णारहित होने पर जो प्रसन्नता और सुख का अनुभव होता है, उसके एक अंश के बराबर भी बाह्य सुख नहीं होता । अतः संतोष से प्राप्त अनुत्तम सुख होता है ।

19 सततं सर्वदा युक्तानां भगवत्येकाग्रबुद्धीनाम् । अत एव लाभपूजाख्यात्याद्यनभिसंधाय प्रीतिपूर्वकमेव भजतां सेवमानानां तेषामविकम्पेन योगेनेति यः प्रागुक्तस्तं बुद्धियोगं मत्तत्त्वविषयं सम्यग्दर्शनं ददामि उत्पादयामि । येन बुद्धियोगेन मामीश्वरमात्मत्वेनोपयान्ति ये मच्चित्तत्वादिप्रकारैर्मां भजन्ते ते ॥ 10 ॥

20 दीयमानस्य बुद्धियोगस्याऽऽत्मप्राप्तौ फले मध्यवर्तिनं व्यापारमाह –

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ 11 ॥

21 तेषामेव कथं श्रेयः स्यादित्यनुग्रहार्थमात्मभावस्थ आत्माकारान्तःकरणवृत्तौ विषयत्वेन स्थितोऽहं स्वप्रकाशचैतन्यानन्दाद्वयलक्षण आत्मा तेनैव मद्विषयान्तःकरणपरिणामरूपेण ज्ञानदीपेन दीप-

---

19 उन सततयुक्त = सर्वदा भगवान् में एकाग्रबुद्धि रखनेवाले अतएव लाभ, पूजा, ख्याति, आदि की अपेक्षा न कर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन -- सेवन ही करनेवाले भक्तों को मैं जो 'अविकम्पेन योगेन' इत्यादि से अचलयोग कहा है उस बुद्धियोग[28] को देता हूँ अर्थात् मत्-तत्त्वविषयक = मेरे तत्त्वविषयक सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करता हूँ । जिस बुद्धियोग से, जो मुझको मच्चित्तत्व आदि प्रकार से भजते हैं वे मुझ ईश्वर को आत्मरूप से प्राप्त होते हैं ।। 10 ।।

20 दिये जानेवाले बुद्धियोग का आत्मप्राप्तिरूप फल में मध्यवर्ती व्यापार कहते हैं :--
[उन पर अनुग्रह करने के लिए ही मैं उस आत्मभाव में स्थित होकर अर्थात् उनके अन्त:करण की आत्माकार वृत्ति में स्थित होकर प्रकाशमय ज्ञानरूप दीपक से अज्ञानजनित अन्धकार को नष्ट करता हूँ ।। 11 ।।]

21 उनका ही कैसे कल्याण होगा -- यह अनुग्रह करने के लिए आत्मभावस्थ[29] अर्थात् आत्माकार अन्त:करणवृत्ति में विषयरूप से स्थित मैं स्वप्रकाश, चैतन्य, आनन्द और अद्वयरूप आत्मा उससे ही अर्थात् चिदाभासयुक्त अप्रतिबद्ध भास्वत -- प्रकाशमय मद्विषयक अन्त:करणपरिणामरूप ज्ञानदीप[30]

---

28. बुद्धियोग = यहाँ 'बुद्धि' का अर्थ है – भगवान् का तत्त्व अर्थात् उनके स्वरूप के विषय में सम्यग्-दर्शन अर्थात् परमेश्वरविषयक यथार्थज्ञान = तत्त्वज्ञान; और 'योग' का अर्थ है – उस तत्त्वज्ञान के साथ योग = संयोग, इसप्रकार 'तं बुद्धियोगं ददामि' का अर्थ है – 'मैं उस तत्त्वज्ञान के साथ संयोग करा देता हूँ अर्थात् उस परमेश्वरविषयक यथार्थज्ञान को बुद्धि में प्रकाशित कर देता हूँ' ।

29. आत्मभावस्थ = यहाँ 'आत्मा' का अर्थ है -- अन्त:करण और 'भाव' का अर्थ है – आशय = वृत्ति, अत: 'आत्मभाव' का अर्थ है – अन्त:करणवृत्ति अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से जनित ब्रह्माकार – आत्माकार अन्त:करणवृत्ति अर्थात् मुझ स्वप्रकाश, चैतन्य, आनन्द और अद्वयरूप आत्मा को विषय बना कर अन्त:करण की जो आत्माकार – ब्रह्माकार वृत्तिविशेष उत्पन्न होती है उसको 'आत्मभाव' कहा जाता है । अन्त:करणवृत्तिमात्र जड़ है अतएव उसमें कोई स्वतंत्र व्यापार सम्भव नहीं है फलत: वह अज्ञान को नष्ट नहीं कर सकती है । शुद्धचैतन्यमात्र भी अज्ञान का नाशक नहीं होता है, कारण कि वह सर्वव्यापक और सर्वसाधारण है, फलत: वह भी किसी का नाशक नहीं हो सकता है । अतएव 'आत्मभावस्थ' अर्थात् अन्त:करणवृत्ति और शुद्धचैतन्य के मध्य ब्रह्माकारान्त:करणवृत्तिविशेष में चिदाभास = चित्स्वरूप मेरे आभास -- प्रतिबिम्ब-अभिमान से स्थित होकर मैं अज्ञान को नष्ट करता हूँ ।

30. भास्वत ज्ञानदीप = ब्रह्माकार – आत्माकार अन्त:करणवृत्ति में चिदाभासयुक्त अप्रतिबद्ध भास्वत – प्रकाशमय ज्ञान उदित होता है उस भास्वत ज्ञानदीप से मैं अज्ञान को नष्ट करता हूँ । यह ज्ञान विवेकप्रत्ययरूप होता है । जो अन्त:करणवृत्ति देहादि से अव्यक्त तक – सम्पूर्ण अनात्मवर्ग से अतिरिक्त नित्य, सत्य आत्मवस्तु को विषय बनाती है वह 'विवेकप्रत्यय' कहा जाता है । यह विवेकप्रत्यय ही ज्ञानदीप है । चिदाभास से युक्त उस विवेकप्रत्यय

सदृशेन ज्ञानेन भास्वता चिदाभासयुक्तेनाप्रतिबद्धेनाज्ञानजमज्ञानोपादानकं तमो मिथ्याप्रत्यय-लक्षणं स्वविषयावरणमन्धकारं तदुपादानाज्ञाननाशेन नाशयामि सर्वभ्रमोपादानस्याज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वादुपादाननाशनिवर्त्यत्वाच्चोपादेयस्य ।

22 **यथा दीपेनान्धकारे निवर्तनीये दीपोत्पत्तिमन्तरेण न कर्मणोऽभ्यासस्य वाऽपेक्षा विद्यमानस्यैव च वस्तुनोऽभिव्यक्तिस्ततो नानुत्पन्नस्य कस्यचिदुत्पत्तिस्तथा ज्ञानेनाज्ञाने निवर्तनीये न ज्ञानोत्पत्तिमन्तरेणान्यस्य कर्मणोऽभ्यासस्य वाऽपेक्षा विद्यमानस्यैव च ब्रह्मभावस्य मोक्षस्याभिव्यक्तिस्ततो नानुत्पन्नस्योत्पत्तिर्येन क्षयित्वं कर्मादिसापेक्षत्वं वा भवेदिति रूपकालंकारेण सूचितोऽर्थः । भास्वतेत्यनेन तीव्रपवनादेरिवासंभावनादेः प्रतिबन्धकस्याभावः सूचितः । ज्ञानस्य च दीपसाधर्म्यं स्वविषयावरणनिवर्तकत्वं स्वव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वं स्वोत्पत्त्यतिरिक्तसहकार्यनपेक्षत्वमित्यादि रूपकबीजं द्रष्टव्यम् ॥ 11 ॥**

से = दीपसदृश ज्ञान से अज्ञानज = अज्ञानजनित-- अज्ञानोपादानक = अज्ञान है उपादान जिसका ऐसे तम = मिथ्याज्ञानरूप स्वविषयावरण अन्धकार को उसके उपादान अज्ञान के नाश से नष्ट करता हूँ, क्योंकि समस्त भ्रमों का उपादान कारण अज्ञान ज्ञान से निवर्त्य होता है और उपादान के नाश से उपादेय भ्रम निवर्त्य होता है ।

22 जिसप्रकार दीप से अन्धकार निवर्तनीय होने पर दीपोत्पत्ति से अतिरिक्त कर्म अथवा अभ्यास की अपेक्षा नहीं होती और उससे विद्यमान वस्तुओं की ही अभिव्यक्ति होती है किसी अनुत्पन्न वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती, उसीप्रकार ज्ञान से अज्ञान निवर्तनीय होने पर ज्ञानोत्पत्ति से अतिरिक्त अन्य कर्म अथवा अभ्यास की अपेक्षा नहीं होती और उससे विद्यमान ब्रह्मभाव मोक्ष की ही अभिव्यक्ति होती है किसी अनुत्पन्न की उत्पत्ति नहीं होती जिससे क्षयित्व अथवा कर्मादिसापेक्षत्व की शंका हो – यह अर्थ रूपकालंकार[31] से सूचित किया गया है । 'भास्वता' -- इस विशेषण से तीव्र पवनादि के समान असंभावनादि प्रतिबन्धक का अभाव सूचित किया गया है[32] । अपने विषय के आवरण

का प्रवाह जब एकाग्रता और ध्यान के अभ्यास से निरन्तर अनवच्छिन्नरूप से चलता रहता है तब 'अहं ब्रह्मास्मि' – इसप्रकार सम्यग्दर्शन का उदय होता है, उस सम्यग्दर्शनरूप दीप्ति से वह ज्ञानदीप अति भास्वत – प्रकाशमय होता है । उसी भास्वत ज्ञानदीप से मैं अज्ञान को नष्ट करता हूँ । यह भास्वत ज्ञानदीप अनायास ही प्रकाशित नहीं होता है, इसके लिए प्रारम्भिक अनेक साधनों की आवश्यकता होती है । यह ज्ञानदीप सर्वप्रथम भक्ति के प्रसादरूप स्नेह-तेल से अभिषिक्त होता है, तदुपरान्त भगवद्भावना के अभिनिवेशरूप वात से प्रज्वलित होता है, ब्रह्मचर्य आदि साधनों के संस्कारों से युक्त प्रज्ञा उस ज्ञानदीप की बत्ती है, विषयों से विरक्त अन्त:करण उस ज्ञानदीप का आधार है, विषयों से व्यावृत्त और राग-द्वेष से अकलुषित चित्त ज्ञानदीप का निवात-वायुरहित अपवारक – ढकना है, तथा नित्य चित्त के एकाग्र और ध्यान में रहने से उत्पन्न जो सम्यग्दर्शनरूप 'भा' = दीप्ति है उससे वह ज्ञानदीप उद्भासित होता है ।

31. 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते' (काव्यादर्श, 2.66) = यदि अतिशय सादृश्य बतलाने के लिए उपमान और उपमेय के भेद को छिपाकर दोनों में अभेद-सा कहा जाय तो उस सादृश्य को 'रूपक' अलंकार कहा जाता है । 'रूपक' शब्द की व्युत्पत्ति है – 'रूपयति एकतां नयति = उपमानोपमेये सादृश्यातिशयद्योतनद्वारा एकतां नयति इति रूपकम्' = उपमान और उपमेय के भिन्नस्वरूप में प्रकाशित होने पर भी दोनों में अत्यन्त सादृश्य के प्रदर्शन के लिए काल्पनिक अभेद को कहना ही 'रूपक' है ।

32. जिसप्रकार पवनादिरूप प्रतिबन्धक का अभाव होने पर दीपक स्थिर रूप से जलता है उसीप्रकार असम्भावना आदि विपरीत भावनारूप प्रतिबन्धक का अभाव होने पर ज्ञानरूप दीपक प्रज्वलित होता है । अतएव 'भास्वत' – इस विशेषण से दीप -- ज्ञानदीप के प्रतिबन्धक के अभाव को सूचित किया गया है ।

23 एवं भगवतो विभूतिं योगं च श्रुत्वा परमोत्कण्ठितः–

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ 12 ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ 13 ॥

24 परं ब्रह्म परं धाम, आश्रयः प्रकाशो वा, परमं पवित्रं पावनं च भवानेव । यतः पुरुषं परमात्मानं शाश्वतं सर्वदैकरूपं दिवि परमे व्योम्नि स्वस्वरूपे भवं दिव्यं सर्वप्रपञ्चातीतमादिं च सर्वकारणं देवं च द्योतनात्मकं स्वप्रकाशमादिदेवमत एवाजं विभुं सर्वगतं त्वामाहुरिति संबन्धः ॥ 12 ॥

25 आहुः कथयन्ति त्वामनन्तमहिमानमृषयस्तत्त्वज्ञाननिष्ठाः सर्वे भृगुवसिष्ठादयः । तथा देवर्षिर्नारदोऽसितो देवलश्च धौम्यस्य ज्येष्ठो भ्राता, व्यासश्च भगवान्कृष्णद्वैपायनः । एतेऽपि त्वां पूर्वोक्तविशेषणं मे मह्यमाहुः साक्षात्किमन्यैर्वक्तृभिः स्वयमेव त्वं च मह्यं ब्रवीषि । अत्र ऋषित्वेऽपि साक्षाद्वक्तॄणां नारदादीनामतिविशिष्टत्वात्पृथग्ग्रहणम् ॥ 13 ॥

का निवर्तक होना, अपने व्यवहार में किसी अन्य सजातीय की अपेक्षा न रखना, स्वोत्पत्ति से अतिरिक्त अन्य किसी सहकारी की अपेक्षा न रखना -- इत्यादि ज्ञान और दीप का साधर्म्य[33] रूपक का बीज समझना चाहिए ।। 11 ।।

23 इसप्रकार भगवान् की विभूति और योग को सुनकर परम उत्कण्ठित हो अर्जुन ने कहा :--
[अर्जुन ने कहा -- आप परब्रह्म, परमधाम और परमपवित्र हैं । समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको परमात्मा, शाश्वत = सर्वदा एकरूप, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा और विभु कहते हैं तथा स्वयं आप भी मुझसे ऐसा ही कह रहे हैं ।। 12-13 ।।]

24 परब्रह्म, परम धाम[34] = आश्रय अथवा प्रकाश और परम पवित्र अर्थात् पावन आप ही हैं, क्योंकि सब आपको ही पुरुष = परमात्मा, शाश्वत = सर्वदा एकरूप, दिव्य = द्युलोक में अर्थात् परमव्योम में स्वस्वरूप में स्थित अर्थात् सर्वप्रपञ्चातीत, आदि = सर्वकारण, देव = द्योतनात्मक स्वप्रकाश आदिदेव अतएव अज और विभु = सर्वगत कहते हैं -- यहाँ अग्रिम श्लोक के 'त्वामाहुः' – पद से सम्बन्ध है ।। 12 ।।]

25 भृगु, वसिष्ठ आदि सब तत्त्वज्ञाननिष्ठ ऋषि अनन्त महिमाशाली आप ही को कहते हैं तथा देवर्षि नारद, असित, देवल -- धौम्य के बड़े भाई, और व्यास -- भगवान् कृष्णद्वैपायन– ये सब भी पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त आपको मुझसे कहते हैं, अन्य वक्ताओं से क्या-साक्षात् आप स्वयं ही मुझसे ऐसा ही कह रहे हैं । ऋषि होने पर भी साक्षात् वक्ता नारदादि को अतिविशिष्ट होने के कारण यहाँ पृथक् ग्रहण किया गया है ।। 13 ।।

---

33. 'साधर्म्यं साधारणधर्मवत्त्वम्' = 'साधर्म्य' शब्द का अर्थ है -- समानधर्मवत्व अर्थात् दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं का समान धर्मवाला होना ।

34. प्रकृत स्थल पर मधुसूदन सरस्वती ने 'धाम' शब्द को दो प्रकार के अर्थ में ग्रहण किया है – मिथ्या जगत् की दृष्टि से भगवान् सर्वभूत के परम धाम = आश्रय हैं और स्वस्वरूप की दृष्टि से भगवान्परम धाम = प्रकाश-तेज अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप हैं । भाष्यकार ने भगवान् के स्वरूपमात्र के दृष्टिकोण से 'धाम' शब्द को मात्र 'तेज' अर्थ में ग्रहण किया है ।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ 14 ॥

26 **सर्वमेतदुक्तमृषिभिश्च त्वया च तदृतं सत्यमेवाहं मन्ये यन्मां प्रति वदसि केशव । नहि त्वद्वचसि मम कुत्राप्यप्रामाण्यशङ्का, तच्च सर्वज्ञत्वात्त्वं जानासीति केशौ ब्रह्मरुद्रौ सर्वेशावप्यनुकम्प्यतया वात्यवगच्छतीति व्युत्पत्तिमाश्रित्य निरतिशयैश्वर्यप्रतिपादकेन केशवपदेन सूचितम् । अतो यदुक्तं 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः' इत्यादि तत्तथैव । हि यस्मात्, हे भगवन्समग्रै-श्वर्यादिसंपन्न ते तव व्यक्तिं प्रभावं ज्ञानातिशयशालिनोऽपि देवा न विदुर्नापि दानवा न महर्षय इत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ 14 ॥**

27 **यतस्त्वं तेषां सर्वेषामादिरशक्यज्ञानश्चातः –**

स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ 15 ॥

28 **स्वयमेवान्योपदेशादिकमन्तरेणैव त्वमेवाऽऽत्मना स्वरूपेणाऽऽत्मानं निरुपाधिकं सोपाधिकं च, निरुपाधिकं प्रत्यक्त्वेनाविषयतया सोपाधिकं च निरतिशयज्ञानैश्वर्यादिशक्तिमत्त्वेन वेत्थ जानासि**

[हे केशव ! आप मुझसे जो कुछ भी कहते हैं उस समस्त को मैं सत्य मानता हूँ, क्योंकि भगवन् ! आपके प्रभाव को न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं ॥ 14 ॥]

26 यह सब जैसा ऋषियों ने कहा और आपने भी कहा सब सत्य है । हे केशव ! आप मुझसे जो कुछ भी कहते हैं उसको मैं सत्य ही मानता हूँ, आपके वचन में कहीं भी मुझको अप्रामाण्य की शङ्का नहीं रहती है, 'यह आप सर्वज्ञ होने के कारण जानते ही हैं' – यह 'कश्च ईशश्च केशौ ब्रह्मरुद्रौ सर्वेशावप्यनुकम्प्यतया वात्यवगच्छति' = 'क -- ब्रह्मा और ईश -- रुद्र -- ये दोनों सर्वेश्वर भी अपने को आपके ही अनुकम्प्य समझते हैं' -- इस व्युत्पत्ति का आश्रय ग्रहण कर निरतिशय ऐश्वर्य के प्रतिपादक 'केशव' पद से सूचित किया गया है । अत: आपने जो कहा है कि 'न मे विदु: सुरगणा प्रभवं न महर्षय:' -- वह ठीक ही है, हि = यस्मात् = क्योंकि हे भगवन्[35] = हे समग्रऐश्वर्यादिसम्पन्न ! आपकी व्यक्ति = प्रभाव को ज्ञानातिशयशील देवता भी नहीं जानते हैं, दानव भी नहीं जानते हैं, न महर्षिजन ही जानते हैं -- यह भी समझना चाहिए ॥ 14 ॥

27 क्योंकि आप उन सबके आदि कारण हैं अतएव अशक्य ज्ञान हैं, इसलिए --
[हे भूतभावन = समस्त भूतों को उत्पन्न करनेवाले, हे भूतेश = सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर, हे देवों के देव, हे जगत् के स्वामी अतएव हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपने से अपने को जानते हैं ॥ 15 ॥]

28 स्वयं ही अर्थात् दूसरों के उपदेशादि के बिना ही आप ही आत्मना = अपने से अर्थात् स्वरूप से अपने को अर्थात् निरुपाधिक और सोपाधिक स्वरूप को = निरुपाधिक को तो प्रत्यक् चैतन्य होने के कारण अविषयरूप से और सोपाधिक को निरतिशय ज्ञान, ऐश्वर्य आदि शक्तिमान्‌रूप से जानते

---

35. 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशस: श्रिय: ।
वैराग्यस्य च ज्ञानस्य षण्णां भग इतीङ्गना ॥'
'समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और ज्ञान – ये छ: 'भाग' कहलाते हैं' – जो इनसे युक्त हो उसको 'भगवान्' कहते हैं ।

नान्यः कश्चित् । अन्यैर्ज्ञातुमशक्यमहं कथं जानीयामित्याशङ्कामपनुदन्प्रेमौत्कण्ठ्येन बहुधा संबोधयति हे पुरुषोत्तम त्वदपेक्षया सर्वेऽपि पुरुषा अपकृष्टा एव । अतस्तेषामशक्यं सर्वोत्तमस्य तव शक्यमेवेत्यभिप्रायः । पुरुषोत्तमत्वमेव विवृणोति पुनश्चतुर्भिः संबोधनैः – भूतानि सर्वाणि भावयत्युत्पादयतीति हे भूतभावन सर्वभूतपितः । पिताऽपि कश्चिन्नेष्टस्तत्राऽऽह हे भूतेश सर्वभूतनियन्तः । नियन्ताऽपि कश्चिन्नाऽऽराध्यस्तत्राऽऽह हे देवदेव देवानां सर्वाराध्यानामप्याराध्यः । आराध्योऽपि कश्चिन्न पालयितृत्वेन पतिस्तत्राऽऽह हे जगत्पते हिताहितोपदेशकवेदप्रणेतृत्वेन सर्वस्य जगतः पालयितः । एतादृशसर्वविशेषणविशिष्टस्त्वं सर्वेषां पिता सर्वेषां गुरुः सर्वेषां राजाऽतः सर्वैः प्रकारै : सर्वेषामाराध्य इति किं वाच्यं पुरुषोत्तमत्वं तवेति भावः ॥ 15 ॥

29 **यस्मादन्येषां सर्वेषां ज्ञातुमशक्या अवश्यं ज्ञातव्याश्च तव विभूतयस्तस्मात् –**

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ 16 ॥

30 **याभिर्विभूतिभिरिमान्सर्वान् लोकान्व्याप्य त्वं तिष्ठसि तास्तवासाधारणा विभूतयो दिव्या असर्वज्ञैर्ज्ञातुमशक्या हि यस्मात्तस्मात्सर्वज्ञस्त्वमेव ता अशेषेण वक्तुमर्हसि ॥ 16 ॥**

31 **किं प्रयोजनं तत्कथनस्य तदाह द्वाभ्याम् –**

हैं, अन्य कोई नहीं जानता है । जो दूसरों के द्वारा नहीं जाना जा सकता उसको मैं कैसे जानूँगा -- इस आशङ्का को दूर करने के लिए अर्जुन प्रेम और उत्कण्ठापूर्वक अनेक प्रकार से सम्बोधन करते हैं :-- हे पुरुषोत्तम = आपकी अपेक्षा सभी पुरुष अपकृष्ट ही हैं, अत: उनके लिए जो अशक्य है वह आप सर्वोत्तम के लिए शक्य ही है -- यह अभिप्राय है । पुन: चार सम्बोधनों से पुरुषोत्तमत्व का ही विवरण करते हैं -- समस्त भूतों का आप भावन = उत्पादन करते हैं अत: हे भूतभावन ! समस्त भूतों के पिता आप हैं, पिता भी कोई इष्ट नहीं होता इसमें कहते हैं -- हे भूतेश अर्थात् सब भूतों के नियन्ता आप हैं, नियन्ता भी कोई आराध्य-सेव्य नहीं होता अत: कहते हैं -- हे देवदेव अर्थात् सर्वाराध्य देवताओं के भी आराध्य आप हैं, आराध्य भी कोई पालयिता भाव से पति नहीं होता इसलिए कहते हैं-- हे जगत्पते अर्थात् हिताहित के उपदेशक वेदों के प्रणेता होने से सम्पूर्ण जगत् के पालयिता आप ही हैं । इस प्रकार के सभी विशेषणों से विशिष्ट आप ही सबके पिता हैं, सबके गुरु हैं और सबके राजा हैं, अतः सब प्रकार से सबके आराध्य हैं -- इसप्रकार आपके पुरुषोत्तमत्व के विषय में क्या कहना है -- यह भाव है ।। 15 ।।

29 क्योंकि आपकी विभूतियाँ अन्य सभी के लिए जानने में अशक्य हैं किन्तु अवश्य ज्ञातव्य हैं, इसलिए --

[जिन विभूतियों से आप इन लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं उस समस्त अपनी दिव्य विभूतियों को आप ही पूर्णतया कहने के लिए योग्य हैं ।। 16 ।।]

30 जिन विभूतियों से आप इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं वे आपकी दिव्य असाधारण विभूतियाँ, हि = यस्मात् = क्योंकि असर्वज्ञों के लिए जानने में अशक्य हैं, अत: आप ही सर्वज्ञ उन सब विभूतियों को पूर्णतया कह सकते हैं ।। 16 ।।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ 17 ॥

32 योगो निरतिशयैश्वर्यादिशक्तिः सोऽस्यातीति हे योगिन्निरतिशयैश्वर्यादिशक्ति-शालिन्नहमतिस्थूलमतिस्त्वां देवादिभिरपि ज्ञातुमशक्यं कथं विद्यां जानीयां सदा परिचिन्तयन्सर्वदा ध्यायन् । ननु मद्विभूतिषु मां ध्यायञ्ज्ञास्यसि तत्राऽऽह – केषु केषु च भावेषु चेतनाचेतनात्मकेषु वस्तुषु त्वद्विभूतिभूतेषु मया चिन्त्योऽसि हे भगवन् ॥ 17 ॥

33 अतः –

विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ 18 ॥

34 आत्मनस्तव योगं सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादिलक्षणमैश्वर्यातिशयं विभूतिं च ध्यानालम्बनं विस्तरेण संक्षेपेण सप्तमे नवमे चोक्तमपि भूयः कथय सवैर्जनैरभ्युदयनिःश्रेयसप्रयोजनं याच्यस इति हे जनार्दन । अत ममापि याञ्चा त्वय्युचितैव ।

---

31 उन विभूतियों को कहने का क्या प्रयोजन है -- यह दो श्लोकों से कहते हैं --
[हे योगिन् ! हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार सदा चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन् ! आप किन-किन भावों में मेरे द्वारा चिन्त्य = चिन्तन करने योग्य हैं ॥ 17 ॥]

32 'योग' निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्ति है वह जिसमें है वे योगी आप हैं अत: हे योगिन् ! हे निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्तिशालिन् ! मैं अतिस्थूल बुद्धि हूँ, आप देवादि के लिए भी जानने में अशक्य हैं, अतः मैं किस प्रकार सदा -- सर्वदा चिन्तन करता हुआ अर्थात् ध्यान करता हुआ आपको जानूँ । यदि कहते हो कि मेरी विभूतियों में मेरा ध्यान करते हुए मुझको जान लोगे तो इसपर कहते हैं -- हे भगवन् ! आपके विभूतिभूत किन-किन भावों में अर्थात् किन-किन चेतन और अचेतनरूप वस्तुओं में आप मेरे द्वारा चिन्त्य हैं अर्थात् ध्येय हैं ॥ 17 ॥

33 अत:------
[हे जनार्दन ! आप अपनी योगशक्ति और परमैश्वर्यरूप विभूति को पुन: विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है ॥ 18 ॥]

34 आप सप्तम और नवम अध्यायों में संक्षेप से कहे हुए अपने योग = सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्वादिरूप ऐश्वर्यातिशय को और विभूति = ध्यान के आलम्बन को पुन: विस्तार से कहिये । सब जन अभ्युदय और निःश्रेयसरूप प्रयोजन की याचना आपसे ही करते हैं अतएव हे जनार्दन[36] ! -- यह सम्बोधन हुआ है । इसीलिए आपसे मेरी भी याचना उचित ही है ।

---

36. जनार्दन = 'अर्द गतौ याचने च'– इस धातुसूत्र के अनुसार 'जनार्दन' शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति होती है । यदि 'अर्द्' धातु का 'गति' अर्थ में प्रयोग करते है तो 'असुराणां देवप्रतिपक्षभूतानां जनानां नरकादिगमयितृत्वाज्जनार्दन:' अर्थात् जो देवप्रतिपक्षभूत असुरजनों की नरकादि गति का हेतु होते हैं वे 'जनार्दन' कहलाते हैं । अथवा, 'अर्द्' धातु का 'याचना' = 'प्रार्थना' अर्थ करने पर 'अभ्युदयनि:श्रेयसपुरुषार्थप्रयोजनं सवैर्जनै: अर्द्यते याच्यते इति जनार्दन:' = अर्थात् सब जन अभ्युदय और नि:श्रेयस – पुरुषार्थरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए जिनसे याचना करते हैं वे 'जनार्दन' कहलाते हैं ! भाष्यकार ने उक्त दोनों व्युत्पत्तियों को कहा है, किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ मात्र याचनार्थक व्युत्पत्ति को ग्रहण किया है, जो प्रसङ्गसंगत है, तदनुसार वे कहते भी है -- 'अतो ममापि याञ्चा त्वय्युचितैव' ।

35 उक्तस्य पुनः कथनं कुतो याचसे तत्राऽऽह – तृप्तिरलंप्रत्ययेनेच्छाविच्छित्तिर्नास्ति हि यस्माच्छृण्वतः श्रवणेन पिबतस्त्वद्वाक्यममृतममृतवत्पदे पदे स्वादु स्वादु। अत्र त्वद्वाक्यमित्यनुक्तेरपह्नुत्यतिशयोक्तिरूपकसंकरोऽयं माधुर्यातिशयानुभवेनोत्कण्ठातिशयं व्यनक्ति ॥ 18 ॥

36 अत्रोत्तरम् –

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ 19 ॥

37 हन्तेत्यनुमतौ, यत्त्वया प्रार्थितं तत्करिष्यामि मा व्याकुलो भूरित्यर्जुनं समाश्वास्य तदेव कर्तुमारभते। कथयिष्यामि प्राधान्यतस्ता विभूतीर्या दिव्या हि प्रसिद्धा आत्मनो ममासाधारणा

35 उक्त के लिए पुनः कथन की याचना क्यों है ? इसका उत्तर कहते हैं -- हि = यस्मात् = क्योंकि पद-पद में अमृत के समान स्वादुयुक्त आपके वाक्यामृत को सुनते हुए -- श्रवणों से पीते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है अर्थात् 'अलं' प्रत्यय से इच्छा की विच्छित्ति -- निवृत्ति नहीं होती है। यहाँ 'त्वद्वाक्यम्' = 'आपका वाक्य' -- यह नहीं कहा गया है, अत: यह अपह्नुति, अतिशयोक्ति और रूपक अलंकारों का संकर[37] अतिशय माधुर्य के अनुभव से अतिशय उत्कण्ठा को व्यक्त करता है ॥ 18 ॥

36 इसप्रकार अर्जुन के पूछने पर -- प्रार्थना करने पर भगवान् उत्तर देते हैं :--
[श्रीभगवान् ने कहा -- अच्छा, कुरुश्रेष्ठ ! मैं तुमसे अपनी दिव्य विभूतियों को प्रधानता से कहूँगा, क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है ॥ 19 ॥]

37 'हन्त'[38] -- यह अव्यय यहाँ 'अनुमति' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अत: 'तुमने जिसके लिए

37. 'क्षीरनीरन्यायेन तु संकरः' (अलङ्कारसर्वस्व, सूत्र 86) = क्षीर-नीर जैसा अलंकारो का मिश्रण 'संकर' अलंकार कहलाता है। प्रकृत स्थल में अपह्नुति, अतिशयोक्ति और रूपक – इन तीन अलंकारों का क्षीर-नीर के समान मिश्रण होने से 'संकर' अलंकार है। यहाँ 'त्वद्वाक्यम्' = 'आपका वाक्य' – इस प्रकृत अर्थात् वर्णनीय = उपमेय का अपह्नव किया गया है, 'यह आपका वाक्य नहीं, अमृत है' – इसप्रकार कहा गया है, अत: 'अपह्नुति' अलंकार है। जहाँ यदि उपमा कुछ-कुछ अपह्नव – छिपाई जाए तो उसको 'अपह्नुति' अलंकार कहते हैं (अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा – भामहकृत काव्यालंकार, 3.21)। यहाँ 'भगवान् के वाक्य' विषय – उपमेय का 'अमृत' – विषयी – उपमान ने निगरण कर लिया है, अत: 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार भी है। जहाँ उपमान उपमेय का निगरण कर उसके साथ अध्यवसान – अभेद स्थापित करे वहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार होता है ('रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः' – कुवलयानन्द, कारिका 36)। 'भगवान् के वाक्यों की मधुरता ही अमृत है, अन्यत्र विद्यमान अमृत अमृत नहीं है' -- इसप्रकार यहाँ 'सापह्नवा अतिशयोक्ति' भी है। यदि अतिशयोक्ति अपह्नुति अलंकार से युक्त हो तो 'सापह्नवा अतिशयोक्ति' होती है ('यद्यपह्नुतिगर्भत्वं सैव सापह्नवा मता' – कुवलयानन्द, कारिका 37)। यहाँ वाक्य और अमृत के अपने-अपने स्वरूप में प्रकाशित होने पर भी दोनों में ताद्रूप्य होने से अभेद का आरोप किया गया है, अत: 'रूपक' अलंकार है। इसप्रकार यहाँ अपह्नुति, अतिशयोक्ति और रूपक – इन तीनों में परस्पर सापेक्षभाव रहने से दूध और पानी के समान मिश्रण है, अत: 'संकर' अलंकार है।

38. हन्त = 'हन्तेत्यनुमतिं व्यावर्त्य जिज्ञासावच्छिन्नं कालं दर्शयति' (आनन्दगिरिटीका) = 'हन्त' – यह अव्यय अनुमति का व्यावर्तन करके जिज्ञासावच्छिन्न काल को दिखाता है, अत: 'हन्त' का अर्थ 'इदानीम्' = 'अब' भी है। श्रीधरस्वामी के अनुसार 'हन्त' – अव्यय अर्जुन के प्रति अनुकम्पाभाव प्रकट करने के लिए सम्बोधनरूप से प्रयुक्त हुआ है।

विभूतयो हे कुरुश्रेष्ठ, विस्तरेण तु कथनमशक्यं, यतो नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे विभूतीनाम् । अतः प्रधानभूताः काश्चिदेव विभूतीर्वक्ष्यामीत्यर्थः ॥ 19 ॥

38 तत्र प्रथमं तावन्मुख्यं चिन्तनीयं शृणु –

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ 20 ॥

39 सर्वभूतानामाशये हृद्देशेऽन्तर्यामिरूपेण प्रत्यगात्मरूपेण च स्थित आत्मा चैतन्यानन्दघनस्त्वयाऽहं वासुदेव एवेति ध्येयः, हे गुडाकेश जितनिद्रेति ध्यानसामर्थ्यं सूचयति । एवं ध्यानासामर्थ्ये तु वक्ष्यमाणानि ध्यानानि कार्याणि । तत्राप्यादौ ध्येयमाह – अहमेवाऽऽदिश्चोत्पत्तिर्भूतानां प्राणिनां चेतनत्वेन लोके व्यवह्रियमाणानां मध्यं च स्थितिरन्तश्च नाशः सर्वचेतनवर्गाणामुत्पत्तिस्थितिनाशरूपेण तत्कारणरूपेण चाहमेव ध्येय इत्यर्थः॥ 20 ॥

प्रार्थना की है, वह मैं करूँगा, व्याकुल मत होओ' -- इसप्रकार अर्जुन को आश्वासन देकर भगवान् वही करना आरम्भ करते हैं । मैं प्रधानरूप से उन विभूतियों को कहूँगा जो दिव्य प्रसिद्ध मेरी असाधारण विभूतियाँ हैं । हे कुरुश्रेष्ठ[39] ! विस्तार से कहना तो अशक्य-असम्भव है, क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है । अत: प्रधानभूत कुछ ही विभूतियों को कहूँगा – यह अर्थ है ॥ 19 ॥

38 उनमें पहले मुख्य चिन्त्य -- ध्येय को सुनो --
[हे गुडाकेश ! मैं समस्त प्राणियों के आशय -- अन्त:करण में अन्तर्यामिरूप से स्थित सबका आत्मा हूँ, मैं ही सम्पूर्ण भूतों -- प्राणियों -- जीवों का आदि, मध्य और अन्त भी हूँ ॥ 20 ॥]

39 हे गुडाकेश[40] ! हे जितनिद्र ! हे निद्रा को जीतनेवाले !, -- इस सम्बोधन से भगवान् अर्जुन के ध्यानसामर्थ्य को सूचित करते हैं, समस्त प्राणियों के आशय[41] -- हृद्देश -- हृदय में अन्तर्यामिरूप से और प्रत्यगात्मा[42] -- जीवरूप से स्थित आत्मा[43] = चैतन्य -- आनन्दघन मैं वासुदेव ही तुम्हारा ध्येय -- चिन्त्य हूँ[44] । इसप्रकार ध्यान करने का यदि सामर्थ्य न हो तो वक्ष्यमाण ध्यान करना चाहिए । उनमें भी पहले ध्येय को कहते हैं -- मैं ही सम्पूर्ण भूतों का अर्थात् लोक में चेतनरूप से व्यवहार किये जानेवाले प्राणियों का आदि = उत्पत्ति, मध्य = स्थिति और अन्त = नाश हूँ । तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण चेतनवर्ग के उत्पत्ति, स्थिति और नाशरूप से तथा उनके कारणरूप से

---

39. हे कुरुश्रेष्ठ ! हे कुरुवंश में श्रेष्ठ ! – यह सम्बोधन अर्जुन के अधिकारित्व को सूचित करता है ।

40. गुडाकेश = 'गुडाका निद्रा तस्या ईश: गुडाकेशः' अर्थात् गुडाका = निद्रा, उसका ईश = प्रभु है जो वह गुडाकेश = जितनिद्र है । अथवा, गुडाकेश: = घनकेशः अर्थात् गुडा = घन केश हैं जिसके वह 'गुडाकेश' है ।

41. आशय = 'आशेरतेऽस्मिन्विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञा इत्याशय:' अर्थात् जिसमें विद्या और कर्म से जन्य पूर्वप्रज्ञा आहित – स्थित रहती है उसको आशय = हृदय कहा जाता है ।

42. प्रत्यगात्मा = 'प्रतीपं विरुद्धं सुखदु:खादिकं अञ्जति विजानातीति प्रत्यक् स चासौ आत्मा इति प्रत्यगात्मा' अर्थात् जो प्रतीप प्रतिकूल वेदनीय अपने स्वरूप से विपरीत सुखदु:खादि का अनुभव करता है वह आत्मा 'प्रत्यगात्मा' कहलाता है । यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने जीवात्मा के लिए प्रत्यगात्मा शब्द का प्रयोग किया है ।

43. आत्मा = अततीत्यात्मा व्यापक: ।

44. यहाँ उत्तम अधिकारी के दृष्टिकोण से भगवान् के निरुपाधिक स्वरूप को ध्येय कहा गया है ।

40 एतदशक्तेन बाह्यानि ध्यानानि कार्याणीत्याह यावदध्यायसमाप्ति –

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ 21 ॥

41 आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुर्विष्णुनामाऽऽदित्योऽहं वामनावतारो वा । ज्योतिषां प्रकाशकानां मध्येऽहं रविरंशुमान्विश्वव्यापी प्रकाशकः । मरुतां सप्तसप्तकानां मध्ये मरीचिनामाऽहं, नक्षत्राणामधिपतिरहं शशी चन्द्रमाः । निर्धारणे षष्ठी । अत्र प्रायेण निर्धारणे षष्ठी । क्वचित्संबन्धेऽपि । यथा भूतानामस्मि चेतनेत्यादौ । वामनरामादयश्चावताराः सर्वैश्वर्यशालिनोऽप्यनेन रूपेण ध्यानविवक्षया विभूतिषु पठ्यन्ते । वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मीति तेन रूपेण ध्यानविवक्षया स्वस्यापि स्वविभूतिमध्ये पाठवत् । अतः परं च प्रायेणायमध्यायः स्पष्टार्थ इति क्वचित्किंचिद्व्याख्यास्यामः ॥ 21 ॥

मैं ही ध्येय = ध्यान के योग्य हूँ[45] ॥ 20 ॥

40 इसप्रकार ध्यान करने में भी जो अशक्त हो उसको बाह्य ध्यान करने चाहिए -- यह भगवान् अध्याय की समाप्ति पर्यन्त कहते हैं :--

[हे अर्जुन ! मैं आदित्यों में = अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु नामक आदित्य हूँ, ज्योतियों में = प्रकाशकों में अंशुमान् विश्वव्यापी प्रकाशक सूर्य मैं हूँ, मरुतों में मरीचि नामक मरुत् मैं हूँ और नक्षत्रों का अधिपति शशी -- चन्द्रमा भी मैं हूँ ॥ 21 ॥]

41 बारह आदित्यों[46] में विष्णु नामक आदित्य मैं हूँ अथवा वामन अवतार मैं हूँ। ज्योतियों = प्रकाशकों के मध्य में अंशुमान् = विश्वव्यापी प्रकाशक सूर्य मैं हूँ। सप्तसप्तक = सात बार सप्तक[47] अर्थात् उनचास मरुतों में मरीचि नामक मरुत् मैं हूँ और नक्षत्रों में उनका अधिपति शशी = चन्द्रमा भी मैं हूँ। निर्धारण में षष्ठी विभक्ति होती है = जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा की विशेषता के आधार पर किसी एक का अपने समुदाय से पृथक् करना 'निर्धारण' कहलाता है, जिसमें से निर्धारण किया जाता है उसमें षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं[48]। यहाँ 'आदित्यानाम्' आदि पदों में

---

45. यहाँ भगवान् के सोपाधिक स्वरूप को ध्येय कहा गया है तथा 'अहमेव' शब्द से भगवान् को ही सर्वकारण, सर्वज्ञ और सर्वेश्वररूप से परम पुरुष कहा गया है, अन्य को नहीं ।

46. अदिति और कश्यप से उत्पन्न देवों के एक वर्ग का नाम 'आदित्य' है । ये संख्या में बारह हैं – धातृ, मित्र, अर्यमन्, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वत्, पूषन्, सवितृ, त्वष्टृ और विष्णु (महाभारत, 1.65.14-16) ।

47. ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के छियानवें सूक्त के आठवें मंत्र में मरुतों की संख्या तीन बार साठ-साठ अर्थात् एक सौ अस्सी कही गई है, किन्तु परवर्ती साहित्य में कहीं इनकी संख्या मात्र सात कही गई है – आवह, प्रवह, विवह, परावह, उद्वह, संवह और परिवह; कहीं सप्तसप्तक = सात बार सात-सात अर्थात् उनचास कही गयी है । वामन पुराण के उनहत्तरवें अध्याय में मरुतों को दिति के पुत्र कहा गया है । वामन पुराण के अनुसार इन्द्र ने दिति के जठर में प्रवेश कर वहाँ कटिन्यस्तकर, ऊर्ध्वमुख महान् बालक को देखा और अपने वज्र से उस दितिज गर्भ के सात टुकडे कर दिये, वह रोने लगा, तब इन्द्र ने कहा 'मूढ ! मा रुदस्व'= 'मूर्ख ! मत रो', इससे उसका नाम 'मरुत्' हो गया। ये मरुत् सात बार अर्थात् सात मन्वन्तर = स्वायम्भुवान्तर, स्वारोचिषान्तर, औत्तमान्तर, तामसान्तर, रैवतान्तर, चाक्षुषान्तर और वैवस्वतान्तर में सात-सात अर्थात् उनचास उत्पन्न हुए । रैवतान्तर में मरीचि आदि सात ऋषियों से जो मरुत् उत्पन्न हुए वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे, अतः यहाँ भगवान् ने अपने को मरुतों में मरीचि कहा है ।

48. यतश्च निर्धारणम् (पाणिनिसूत्र, 2.3.41) । जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् (सिद्धान्तकौमुदी) ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ 22 ॥

42 **चतुर्णां वेदानां मध्ये गानमाधुर्येणातिरमणीयः सामवेदोऽहमस्मि । वासव इन्द्रः सर्वदेवाधिपतिः । इन्द्रियाणामेकादशानां प्रवर्तकं मनः, भूतानां सर्वप्राणिसंबन्धिनां परिणामानां मध्ये चिदभिव्यञ्जिका बुद्धेर्वृत्तिश्चेतनाऽहमस्मि ॥ 22 ॥**

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ 23 ॥

43 **रूद्राणामेकादशानां मध्ये शंकरः । वित्तेशो धनाध्यक्षः कुबेरो यक्षरक्षसां यक्षानां राक्षसानां च । वसूनामष्टानां पावकोऽग्निः । मेरुः सुमेरुः शिखरिणां शिखरवतामत्युच्छ्रितानां पर्वतानाम् ॥ 23 ॥**

प्रायः निर्धारण में षष्ठी हुई है । कहीं-कहीं सम्बन्ध में भी षष्ठी[49] हुई है, जैसे – 'भूतानामस्मि चेतना' = 'भूतसम्बन्धी चेतना मैं हूँ' इत्यादि में है । वामन, राम आदि अवतार सर्व-ऐश्वर्यशाली होने पर भी इस रूप से अर्थात् वामनादि रूप से ध्यान के लिए विवक्षित हैं, इसलिए ये विभूतियों में पढ़े गये हैं अर्थात् गिनाये गये हैं । जैसे 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' = 'वृष्णिवंशियों में वासुदेव मैं हूँ' -- इसमें उस रूप से अर्थात् वासुदेवरूप से ध्यानविवक्षा होने के कारण भगवान् ने अपने को भी अपनी विभूतियों में कहा है । इससे आगे यह अध्याय प्रायः स्पष्टार्थ ही है, अतः कहीं कुछ व्याख्या करेंगे ॥ 21 ॥

[मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में वासव = इन्द्र मैं हूँ, इन्द्रियों में मन मैं हूँ और प्राणियों की चेतना मैं ही हूँ ॥ 22 ॥]

42 ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद -- चारों वेदों में गान के माधुर्य से अतिरमणीय सामवेद मैं हूँ । देवों में वासव[50] = इन्द्र अर्थात् देवाधिपति मैं हूँ । ग्यारह इन्द्रियों में प्रवर्त्तक मन मैं हूँ । भूतों की = सब प्राणियों से सम्बन्ध रखनेवाले परिणामों के मध्य में चिद् की अभिव्यञ्जिका बुद्धि की वृत्तिरूप चेतना -- ज्ञानशक्ति मैं ही हूँ ॥ 22 ॥

[मैं रुद्रों में शंकर हूँ, यक्ष और राक्षसों में वित्तेश -- कुबेर मैं हूँ, वसुओं में अग्नि भी मैं हूँ और मैं ही पर्वतों में सुमेरु हूँ ॥ 23 ॥]

43 मैं ग्यारह रुद्रों[51] में शंकर हूँ, यक्ष और राक्षसों में वित्तेश -- धनाध्यक्ष कुबेर मैं हूँ, आठ वसुओं[52] में पावक-अग्नि मैं हूँ तथा शिखरवाले अर्थात् अत्यन्त ऊँचे पर्वतों में मेरु = सुमेरु मैं ही हूँ ॥ 23 ॥

---

49. षष्ठी शेषे (पाणिनिसूत्र, 2.3.50) = कारक और प्रातिपदिकार्थ से भिन्न स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्ध 'शेष' हैं । उस शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है अर्थात् सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी विभक्ति होती है ।

50. वसवो देवाः, वसूनि रत्नान्यास्य वा सन्ति । ज्योत्स्नादित्वात् (वार्तिक, 5.2.103) अण् । वासवः = इन्द्रः ।

51. देवों के एक वर्ग का नाम 'रुद्र' है । ये संख्या में ग्यारह हैं – वीरभद्र, शंभु, गिरीश, अज, एकपाद, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, भवानीश, कपाली, दिक्पति और स्थाणु । इन ग्यारह रुद्रों का जो शम् = कल्याण करता है वह शङ्कर है । शङ्कर अर्थात् शंभु = जिससे शम् = कल्याण होता है वह शंभु है (शं भवत्यस्मादिति शंभुः) । यह शंभु अर्थात् शंङ्कर ही ग्यारह रुद्रों में सर्वश्रेष्ठ है, अतः भगवान् ही रुद्रों में शङ्कर हैं ।

52. देवों के एक वर्ग का नाम 'वसु' है । ये संख्या में आठ हैं – ध्रुव, अध्वर, आप, सोम, अनल, अनिल, प्रत्यूष और प्रभास । इन आठ वसुओं में अतितेजस्वी अनल–पावकअग्नि है, अतः भगवान् वसुओं में अग्नि हैं ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ 24 ॥

44 **इन्द्रस्य सर्वराजश्रेष्ठत्वात्तत्पुरोधसं बृहस्पतिं सर्वेषां पुरोधसां राजपुरोहितानां मध्ये मुख्यं श्रेष्ठं मामेव हे पार्थ विद्धि जानीहि । सेनानीनां सेनापतीनां मध्ये देवसेनापतिः स्कन्दो गुहोऽहमस्मि । सरसां देवखातजलाशयानां मध्ये सागरः सगरपुत्रैः खातो जलाशयोऽहमस्मि ॥ 24 ॥**

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ 25 ॥

45 **महर्षीणां सप्तब्रह्मणां मध्ये भृगुरतितेजस्वित्वादहम् । गिरां वाचां पदलक्षणानां मध्य एकमक्षरं पदमोंकारोऽहमस्मि । यज्ञानां मध्ये जपयज्ञो हिंसादिदोषशून्यत्वेनात्यन्तशोधकोऽहमस्मि । स्थावराणां स्थितिमतां मध्ये हिमालयोऽहम् । शिखरवतां मध्ये हि मेरुरहमित्युक्तमतः स्थावरत्वेन शिखरवत्त्वेन चार्थभेदाददोषः ॥ 25 ॥**

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ 26 ॥

[हे पार्थ ! तुम मुझको पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति जानो । मैं सेनानियों में स्कन्द हूँ और जलाशयों में सागर मैं ही हूँ ॥ 24 ॥]

44 हे पार्थ ! इन्द्र सब राजाओं में श्रेष्ठ है, अत: इन्द्र का पुरोहित बृहस्पति, जो सब पुरोहितों = राजपुरोहितों में मुख्य -- श्रेष्ठ है, तुम मुझको ही जानो । सेनानियों अर्थात् सेनापतियों में देवसेनापति स्कन्द = गुह -- स्वामी कार्तिकेय मैं हूँ । जलाशयों = देवताओं के खोदे हुए जलाशयों में सागर = सगर के पुत्रों द्वारा खोदा हुआ जलाशय मैं हूँ ॥ 24 ॥

[मैं महर्षियों में भृगु हूँ, वाणी में एक अक्षर अर्थात् ओंकार मैं ही हूँ, यज्ञों में जपयज्ञ भी मैं हूँ और स्थावरों में हिमालय मैं ही हूँ ॥ 25 ॥]

45 महर्षियों में अर्थात् सप्त ब्रह्मर्षियों में = भरद्वाज, भृगु, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि और वसिष्ठ -- इन सात ब्रह्मर्षियों में अत्यन्त तेजस्वी होने के कारण भृगु मैं ही हूँ । गिरा = पदलक्षण वाणी में एक अक्षर-पद अर्थात् ओंकार भी मैं हूँ । यज्ञों में = श्रौत और स्मार्त -- सभी यज्ञों में हिंसादि दोषों से शून्य होने के कारण अत्यन्त शोधक जपयज्ञ मैं ही हूँ । स्थावरों = स्थितिवालों में हिमालय भी मैं ही हूँ । पूर्व में 'शिखरवालों में सुमेरु मैं हूँ' -- यह कहा गया है, अत: स्थावरत्व और शिखरवत्त्वरूप से अर्थ में भेद होने के कारण यहाँ कोई दोष नहीं है[53] ॥ 25 ॥

53. प्रकृतप्रसङ्ग में यह शंका हो सकती है कि पहले 'मेरु: शिखरिणामहम्' = 'शिखरवाले पर्वतों में सुमेरु मैं हूँ' (गीता, 10.23) – यह कह दिया गया है, पुन: यहाँ 'स्थावराणां हिमालय:' = 'स्थिर रहनेवाले पर्वतों में हिमालय मैं हूँ' – यह कहा गया है – इससे तो यहाँ पुनरुक्ति-दोष होता है । इसका समाधान यह है कि यहाँ कोई पुनरुक्ति- दोष नहीं है, क्योंकि पहले शिखरवाले पर्वतों में श्रेष्ठता की दृष्टि से सुमेरु का कथन किया गया है, यहाँ स्थितिवाले पर्वतों में श्रेष्ठता की दृष्टि से हिमालय का उल्लेख किया गया है । तात्पर्य यह है कि पूर्वापर प्रसङ्ग में प्रतिपाद्य विषय भिन्न होने के कारण यहाँ पुनरुक्ति-दोष नहीं है ।

46 सर्वेषां वृक्षाणां वनस्पतीनामन्येषां च । देवा एव सन्तो ये मन्त्रदर्शित्वेन ऋषित्वं प्राप्तास्ते देवर्षयस्ते षां मध्ये नारदोऽहमस्मि । गन्धर्वाणां गानधर्मणां देवगायकानां मध्ये चित्ररथोऽहमस्मि । सिद्धानां जन्मनैव विना प्रयत्नं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयं प्राप्तानामधिगतपरमार्थानां मध्ये कपिलो मुनिरहम् ॥ 26 ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ 27 ॥

47 अश्वानां मध्य उच्चैःश्रवसममृतमथनोद्भवमश्वं मां विद्धि । ऐरावतं गजममृतमथनोद्भवं गजेन्द्राणां मध्ये मां विद्धि । नराणां च मध्ये नराधिपं राजानं मां विद्धीत्यनुषज्यते ॥ 27 ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ 28 ॥

48 आयुधानामस्त्राणां मध्ये वज्रं दधीचेरस्थिसंभवमस्त्रमहमस्मि । धेनूनां दोग्ध्रीणां मध्ये कामं दोग्धीति कामधुक्, समुद्रमथनोद्भवा वसिष्ठस्य कामधेनुरहमस्मि । कामानां मध्ये प्रजनः प्रजनयिता पुत्रो-

---

[मैं सब वृक्षों में अश्वत्थ हूँ और देवर्षियों में नारद हूँ । गन्धर्वों में चित्ररथ मैं हूँ और सिद्धों में कपिल मुनि भी मैं हूँ ।। 26 ।।]

46 सब वृक्षों और अन्य वनस्पतियों में अवत्थ मैं हूँ । देवता होते हुए जो मन्त्रदर्शी होने से ऋषित्व को प्राप्त हुए हैं वे 'देवर्षि' कहलाते हैं, उन देवर्षियों में नारद मैं हूँ । गन्धर्वों अर्थात् गानधर्मवाले देवगायकों में चित्ररथ भी मैं हूँ । सिद्धों में अर्थात् जन्म से ही विना प्रयत्न के धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के अतिशय को प्राप्त करने वालों में = परमार्थतत्त्व को जानने वालों में कपिल मुनि मैं ही हूँ ।। 26 ।।

[हे अर्जुन ! तुम मुझको घोड़ों में अमृतमन्थन के समय उत्पन्न हुआ उच्चै:श्रवा नामक घोड़ा, गजेन्द्रों -- गजराजों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा जानो ।। 27 ।।]

47 तुम घोड़ों में अमृतमन्थन के समय उत्पन्न हुआ उच्चै:श्रवा नामक घोड़ा मुझको ही जानो । गजेन्द्रों में अमृतमन्थन के समय उत्पन्न हुआ ऐरावत नामक गज भी तुम मुझको समझो । तथा नरों -- मनुष्यों में नराधिप -- राजा भी तुम मुझको ही जानो ।। 27 ।।

[आयुधों में वज्र मैं ही हूँ, दूध देनेवाली धेनुओं में कामधेनु भी मैं हूँ, प्रजनयिता कामदेव मैं ही हूँ और सर्पों में वासुकि भी मैं ही हूँ ।। 28 ।।]

48 आयुधों में अर्थात् अस्त्रों में वज्र अर्थात् महर्षि दधीचि की अस्थियों -- हड्डियों से संभव-उत्पन्न अस्त्र मैं हूँ । धेनुओं में अर्थात् दूध देनेवाली गौओं में जो काम -- अभीष्ट वस्तु का दोहन करती है वह कामधुक् अर्थात् समुद्रमन्थन के समय उत्पन्न हुई वसिष्ठ की कामधेनु मैं ही हूँ । कामों के मध्य में प्रजन -- प्रजनयिता अर्थात् पुत्रोत्पत्तिरूप प्रयोजनवाला जो कन्दर्प अर्थात् कामदेव है वह भी मैं ही हूँ । यहाँ चकार 'तु' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त है जो रतिमात्र ही जिसका हेतु -- प्रयोजन है उस काम की व्यावृत्ति करता है । सर्प और नाग जातिभेद से भिन्न-भिन्न हैं[54], अत: उनमें से सर्पों के मध्य में उनका राजा वासुकि भी मैं ही हूँ ।। 28 ।।

---

54. सर्प एक ही मस्तकवाले होते हैं किन्तु नाग बहुमस्तक होते हैं । सभी सर्प विषयुक्त होते हैं किन्तु नागों के सम्बन्ध में यह नियम नहीं है । नाग प्राय: निर्विष होते हैं किन्तु कभी-कभी तक्षक नाग जैसे कुछ नाग अत्यन्त विषयुक्त होते हैं ।

त्यत्यर्थो यः कंदर्पः कामः सोऽहमस्मि । चकारस्त्वर्थो रतिमात्रहेतुकामव्यावृत्त्यर्थः । सर्पाश्च नागाश्च जातिभेदाद्भिद्यन्ते । तत्र सर्पाणां मध्ये तेषां राजा वासुकिरहमस्मि ॥ 28 ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ 29 ॥

49 नागानां जातिभेदानां मध्ये तेषां राजाऽनन्तश्च शेषाख्योऽहमस्मि । यादसां जलचराणां मध्ये तेषां राजा वरुणोऽहमस्मि । पितॄणां मध्येऽर्यमा नाम पितृराजश्चाहस्मि । संयमतां संयमं धर्माधर्मफलदानेनानुग्रहं निग्रहं च कुर्वतां मध्ये यमोऽहमस्मि ॥ 29 ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ 30 ॥

50 दैत्यानां दितिवंश्यानां मध्ये प्रकर्षेण ह्लादयत्यानन्दयति परमसात्त्विकत्वेन सर्वानिति प्रह्लादश्चास्मि । कलयतां संख्यानं गणनं कुर्वतां मध्ये कालोऽहम् । मृगेन्द्रः सिंहो मृगाणां पशूनां मध्येऽहम् । वैनतेयश्च पक्षिणां विनतापुत्रो गरुडः ॥ 30 ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ 31 ॥

51 पवतां पावयितॄणां वेगवतां वा मध्ये पवनो वायुरहमस्मि । शस्त्रभृतां शस्त्रधारिणां युद्धकुशलानां मध्ये रामो दाशरथिरखिलराक्षसकुलक्षयकरः परमवीरोऽहमस्मि । साक्षात्स्वरूपस्याप्यनेन रूपेण

[मैं नागों में अनन्त हूँ और जलचरों में वरुण हूँ। पितरों में अर्यमा मैं ही हूँ और संयम करनेवालों में यम भी मैं हूँ ॥ 29 ॥]

49 जातिभेद से भिन्न नागों के मध्य में उनका राजा अनन्त अर्थात् 'शेष' नामक नाग = शेषनाग मैं हूँ। यादस = जलचरों के मध्य में उनका राजा वरुण मैं हूँ। पितरों में अर्यमा नामक पितृराज भी मैं ही हूँ। संयम करनेवालों में अर्थात् धर्माधर्म के अनुसार फलदान से अनुग्रह और निग्रह करने वालों में यमराज मैं ही हूँ ॥ 29 ॥

[मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ और गिनती करनेवालों में काल-समय हूँ। मैं मृगों में सिंह हूँ और पक्षियों में वैनतेय – गरुड हूँ ॥ 30 ॥]

50 दैत्यों में अर्थात् दिति के वंशियों में प्रह्लाद अर्थात् जो परम सात्त्विक होने के कारण प्रकर्ष से सबको ह्लादित -- आनन्दित करता है वह प्रह्लाद मैं ही हूँ। कलना – संख्या अर्थात् गणना करनेवालों के मध्य में विद्यमान काल मैं हूँ। मृगों – पशुओं के मध्य में मृगेन्द्र -- मृगराज सिंह भी मैं ही हूँ। पक्षियों में वैनतेय -- विनता का पुत्र गरुड मैं हूँ ॥ 30 ॥

[मैं पवित्र करनेवालों में पवन-वायु हूँ, शस्त्रधारियों में राम मैं हूँ, मछलियों में मकर भी मैं हूँ और नदियों में जाह्नवी मैं ही हूँ ॥ 31 ॥]

51 पवताम् = पवित्र करनेवालों अथवा वेगवालों में पवन -- वायु मैं हूँ। शस्त्रभृतों में अर्थात् शस्त्रधारियों में = युद्ध में कुशल पुरुषों में राम = अखिल राक्षसकुल का क्षय करनेवाला परमवीर दाशरथि --

चिन्तनार्थं वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मीतिवदत्र पाठ इति प्रागुक्तम् । झषाणां मत्स्यानां मध्ये मकरो नाम तज्जातिविशेषः । स्रोतसां वेगेन चलज्जलानां नदीनां मध्ये सर्वनदीश्रेष्ठा जाह्नवी गङ्गाऽहमस्मि ॥ 31 ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ 32 ॥

52 **सर्गाणामचेतनसृष्टीनामादिरन्तश्च मध्यं चोत्पत्तिस्थितिलया अहमेव हे अर्जुन । भूतानां जीवाविष्टानां चेतनत्वेन प्रसिद्धानामेवाऽऽदिरन्तश्च मध्यं चेत्युक्तमुपक्रमे, इह त्वचेतनसर्गाणामिति न पौनरुक्त्यम् । विद्यानां मध्येऽध्यात्मविद्या मोक्षहेतुरात्मतत्त्वविद्याऽहम् । प्रवदतां प्रवदत्संबन्धिनां कथाभेदानां वादजल्पवितण्डात्मकानां मध्ये वादोऽहम् । भूतानामस्मि चेतनेत्यत्र यथा भूतशब्देन तत्संबन्धिनः परिणामा लक्षितास्तथेह प्रवदच्छब्देन तत्संबन्धिनः कथाभेदा लक्ष्यन्ते । अतो निर्धारणोपपत्तिः । यथाश्रुते तूभयत्रापि संबन्धे षष्ठी । तत्र तत्त्वबुभुत्स्वोर्वीतरागयोः सब्रह्मचारिणोर्गुरुशिष्ययोर्वा प्रमाणेन तर्केण च साधनदूषणात्मा सपक्षप्रतिपक्षपरिग्रहस्तत्त्वनिर्णयपर्यन्तो वादः । तदुक्तं 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः' इति । वादफलस्य तत्त्वनिर्णयस्य दुर्दुरूढवादिनि-**

दशरथ का पुत्र राम मैं ही हूँ । राम भगवान् के साक्षात् स्वरूप ही हैं – इस रूप से चिन्तन करने के लिए भी 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' = 'वृष्णिवंशियों में वासुदेव मैं हूँ' (गीता, 10.37) के समान यहाँ पाठ है – यह पहले भी कहा है । झषों में अर्थात् मत्स्यों – मछलियों में उनकी जातिविशेष का मकर नाम का मत्स्य मैं हूँ । स्रोतों अर्थात् वेग से चलते हुए जलवाली नदियों के मध्य में सर्वनदीश्रेष्ठ जाह्नवी – गंगा मैं ही हूँ ॥ 31 ॥

[हे अर्जुन ! मैं सर्गों – सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त हूँ, विद्याओं में अध्यात्मविद्या – ब्रह्मविद्या-आत्मतत्त्वविद्या मैं ही हूँ और परस्पर विवाद करनेवालों में वाद भी मैं ही हूँ ॥ 32 ॥]

52 हे अर्जुन ! सर्गों अर्थात् अचेतन सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय मैं ही हूँ । चेतनरूप से प्रसिद्ध जीवाविष्ट – जीवयुक्त भूतों = प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ – यह तो उपक्रम – आरम्भ में कह दिया है । यहाँ तो मात्र अचेतन सर्गों – सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त कहा है, अतः यहाँ पुनरुक्ति-दोष नहीं है । विद्याओं के मध्य में अध्यात्मविद्या = मोक्ष की हेतु आत्मतत्त्वविद्या मैं ही हूँ । प्रवदताम् = विवाद करनेवालों से सम्बन्ध रखनेवाले वाद, जल्प और वितण्डारूप कथाभेदों[55] में वाद भी मैं हूँ । 'भूतानामस्मि चेतना' – यहाँ जैसे 'भूत' शब्द से भूतसम्बन्धी परिणाम लक्षित हुए हैं वैसे ही 'प्रवदतामहं वादः' – यहाँ

---

55. कथा तु नानावक्तृकपूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसन्दर्भः (तर्कभाषा) = कथा वह वाक्य-समुदाय है जो अनेक वक्ताओं के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का प्रतिपादन करता है । यह कथामात्रनियम नहीं है जिससे कि बृहत्कथा आदि में अकथात्व होगा, अपितु विचारवस्तुनियम है जो अनेक वक्ताओं के विचार में वसता है । अतः कथा विचारविषयक वाक्यसमुदाय है । कथा में वक्ता या तो तत्त्वजिज्ञासु होते हैं अथवा विजिगीषु होते हैं । वाद, जल्प और वितण्डा – ये तीन प्रकार की कथाएँ होती हैं । 'वाद' तत्त्वजिज्ञासु जनों की कथा है । जल्प और वितण्डा विजिगीषु जनों की कथा है ।

राकरणेन संरक्षणार्थं विजिगीषुकथे जल्पवितण्डे जयपराजयमात्रपर्यन्ते । तदुक्तं 'तत्त्वाध्यवसाय-संरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखाप्रावरणवत्' इति । छलजातिनिग्रहस्थानैः परपक्षो दूष्यत इति जल्पे वितण्डायां च समानम् । तत्र वितण्डायामेकेन स्वपक्षः स्थाप्यत एव, अन्येन च स दूष्यत एव । जल्पे तूभाभ्यामपि स्वपक्षः स्थाप्यत उभाभ्यामपि परपक्षो दूष्यत इति विशेषः । तदुक्तं 'यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा' इति । अतो वितण्डाद्वयशरीरत्वाज्जल्पो नाम नैका कथा, किं तु शक्त्यतिशयज्ञानार्थं समयबन्धमात्रेण प्रवर्तत इति खण्डनकाराः । तत्त्वाध्यवसायपर्यवसायित्वेन तु वादस्य श्रेष्ठत्वमुक्तमेव ॥ 32 ॥

भी 'प्रवदत्' शब्द से तत्सम्बन्धी = विवाद करनेवालों से सम्बन्ध रखनेवाले कथाभेद लक्षित होते हैं । इसी से निर्धारण की उपपत्ति होती है । यथाश्रुत में तो दोनों जगह सम्बन्ध में षष्ठी है । वाद, जल्प और वितण्डा में 'वाद' इसप्रकार है – दो तत्त्वबुभुत्सु-तत्त्वजिज्ञासु वीतराग पुरुषों अथवा सतीर्थ्य ब्रह्मचारियों अथवा गुरु और शिष्य के बीच जो तत्त्वनिर्णयपर्यन्त प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन -- स्थापना और दूषण – उपालम्भ-प्रतिषेधपूर्वक पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रहण होता है उसको 'वाद' कहते हैं । ऐसा ही कहा भी है -- 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ: सिद्धान्ताविरुद्ध: पञ्चावयवोपपन्न: पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद:' (न्यायसूत्र, 1.2.1) = 'प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन – स्थापना और उपालम्भ – प्रतिषेधपूर्वक सिद्धान्त के अविरुद्ध, प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण-उपनय और निगमन -- पाँच अवयवों से उपपन्न पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रहण 'वाद' कहलाता है' । 'वाद' के फल तत्त्वनिर्णय के संरक्षण के लिए दुर्दुरूढवादी = अत्यन्त दुराग्रही वादी के निराकरण द्वारा जो विजिगीषु की जय-पराजयमात्रफलक कथाएँ हैं वे 'जल्प' और 'वितण्डा' कहलाती हैं । ऐसा कहा भी है – तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखाप्रावरणवत्' (न्यायसूत्र, 4.2.50) = 'तत्त्वज्ञान के संरक्षण के लिए जल्प और वितण्डा का उपयोग उसीप्रकार किया जाता है जैसे बीज से उत्पन्न हुए अङ्कुर के संरक्षण के लिए काँटे वाली शाखाओं के प्रावरण का उपयोग किया जाता है' । छल[56], जाति[57] और निग्रहस्थान[58] के द्वारा परपक्ष को दूषित सिद्ध

---

56. वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् (न्यायसूत्र, 1.2.10) = भिन्न अर्थ का ग्रहण कर वादी के वचन का जो खण्डन किया जाता है, उसको 'छ्ल' कहते हैं । यह तीन प्रकार का होता है – वाक्छल, सामान्यछ्ल और उपचारछल ।

57. साधर्म्यवैधर्माभ्यां प्रत्यवस्थानं जाति: (न्यायसूत्र, 1.2.18) = जब किसी के पक्ष का केवल साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के बल पर खण्डनात्मक उत्तर दिया जाता है तब उस उत्तर को 'जाति' कहा जाता है । यह जाति चौबीस प्रकार की होती है ।

58. न्यायसूत्रकार ने निग्रहस्थान का लक्षण किया है -- विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् (न्यायसूत्र, 1.2.19) = विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति होना 'निग्रहस्थान' है । भाष्यकार ने कहा है – निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्ति: = पराजयप्राप्ति 'निग्रहस्थान' है । भाष्यकार के अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही तर्कभाषाकार ने कहा है – पराजयहेतु: निग्रहस्थानम् = पराजय प्राप्त होने में जो हेतु – निमित्त होता है वह 'निग्रहस्थान' है । वृत्तिकार विश्वनाथ ने 'निग्रहस्थान' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है – निग्रहस्य खलीकारस्य स्थानं ज्ञापनं निग्रहस्थानम् = पराजय का ज्ञापन ही 'निग्रहस्थान' है ! फलत: निग्रहस्थान पराजय का ज्ञापक हेतु है । जब कोई वादी या प्रतिवादी ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि उसको पराजित समझा जाने लगे उसको 'निग्रहस्थान' कहा जाता है । निग्रहस्थान बारह प्रकार के होते हैं ।

अक्षराणामकारोस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ 33 ॥

53 **अक्षराणां सर्वेषां वर्णानां मध्येऽकारोऽहमस्मि । 'अकारो वै सर्वा वाक्' इति श्रुतेस्तस्य श्रेष्ठत्वं प्रसिद्धम् । द्वंद्वः समास उभयपदार्थप्रधानः सामासिकस्य समाससमूहस्य मध्येऽहमस्मि । पूर्व-**

करना जल्प और वितण्डा में समान है । जल्प और वितण्डा में से वितण्डा में एक के द्वारा अपने पक्ष की स्थापना की जाती है और अन्य के द्वारा उसको दूषित ही सिद्ध किया जाता है । 'जल्प' में तो वादी और प्रतिवादी -- दोनों ही अपने पक्ष की स्थापना करते हैं और दोनों ही परपक्ष को दूषित सिद्ध करते हैं – यही जल्प और वितण्डा में भेद है । ऐसा कहा भी है – 'यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः, स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा' (न्यायसूत्र, 1.2.2-3) = 'यथोक्तोपपन्न[59] अर्थात् प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन और उपालम्भपूर्वक सिद्धान्त के अविरुद्ध पञ्चावयव से उपपन्न पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रहण; छल, जाति और निग्रहस्थान के द्वारा साधन – स्थापना और उपालम्भ -- प्रतिषेध करना 'जल्प' है[60]; वह (जल्प) ही प्रतिपक्ष की स्थापना से हीन होता हुआ 'वितण्डा' कहा जाता है' । अतः 'वितण्डाद्वय शरीर होने से 'जल्प' न मात्र एक कथा है, किन्तु वह शक्ति के अतिशय ज्ञान के लिए समयबन्धमात्र से प्रवृत्त होता है' -- यह खण्डनकार का मत है । तत्त्वज्ञान में पर्यवसायी – समाप्त होनेवाला होने से तो 'वाद' की श्रेष्ठता कही ही गई है[61] ॥ 32 ॥

[मैं अक्षरों में अकार हूँ, समासों में द्वन्द्व समास मैं हूँ, मास-संवत्सरादि क्षयशील कालों में अक्षय काल मैं ही हूँ और कर्मफल देनेवालों में विश्वतोमुख -- सर्वतोमुख धाता भी मैं ही हूँ ॥ 33 ॥]

53 अक्षरों में अर्थात् सब वर्णों में अकार मैं हूँ, क्योंकि श्रुति में उस अकार का श्रेष्ठत्व प्रसिद्ध है -- 'अकारो वै सर्वा वाक्' = 'अकार ही सम्पूर्ण वाणी है'[62] । सामासिक = समाससमूह के मध्य में

59. यहाँ जल्प के लक्षण में 'यथोक्तोपपन्न' जो कहा है उससे प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन और उपालम्भपूर्वक सिद्धान्ताविरुद्ध पञ्चावयवोपपन्न पक्ष और प्रतिपक्ष के परिग्रहण की योग्यता से परामर्श किया है, अन्यथा जल्प में वादविशेषत्व = वाद का भेद होने की आपत्ति होगी । प्रमाण और तर्क के द्वारा उस रूप से ज्ञात को कहा गया है न कि ज्ञान में अनाहार्यत्व कहा गया है, क्योंकि जल्प आरोपित प्रमाणाभास में भी निर्वाह करता है ।

60. यहाँ यद्यपि छलादि के द्वारा परपक्ष का प्रतिषेध ही कहा गया है, न कि स्वपक्ष की स्थापना, तथापि 'साधनोपालम्भः' का 'साधनस्य परकीयानुमानस्य उपालम्भो यत्र' अर्थात् साधन = परकीयानुमान का प्रतिषेध जहाँ किया जाता है वह 'जल्प' है' – ऐसा अर्थ करने पर लक्षण में कोई दोष नहीं रहता है । कारण कि परपक्ष का प्रतिषेध होने पर स्वपक्ष की सिद्धि होती है और स्थापना में उसका उपयोग हो जाता है ।

61. अभिप्राय यह है कि वाद, जल्प और वितण्डा – इस कथात्रय में जल्प और वितण्डा विजिगीषु जनों की कथाएँ हैं, जबकि वाद तत्त्वजिज्ञासु जनों की कथा है । परिणामतः जल्प और वितण्डा में विजिगीषुजन अपनी-अपनी विजय की इच्छा से अपने-अपने पक्ष की सिद्धि में तत्पर रहते हैं, इसीलिए वे यथासम्भव छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग करते हैं । जल्प की समाप्ति परपक्ष के खण्डनपूर्वक स्वपक्ष की स्थापना में होती है । वितण्डा में तो मात्र परपक्ष का खण्डन करना ही उद्देश्य रहता है, यहाँ स्वपक्ष की स्थापना की भी चिन्ता नहीं रहती है । जल्प और वितण्डा में तत्त्वनिर्णय की अभिलाषा नहीं रहती है । 'वाद' में तो तत्त्व के निर्णय के लिए ही प्रयत्न रहता है, इसीलिए तत्त्वजिज्ञासु इसमें सभी निग्रहस्थानों का प्रयोग भी नहीं करता है । वाद की समाप्ति तत्त्वनिर्णय में ही होती है । इसप्रकार उक्त कथात्रय में 'वाद' सर्वश्रेष्ठ है, अतः भगवान् ने विवाद करनेवालों में अपने को 'वाद' कहा है ।

62. ऐसा भी कहा है – 'अकारो वासुदेवः स्यात्' इत्यादि ।

पदार्थप्रधानोऽव्ययीभाव उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिरिति तेषामुभयपदार्थसाम्याभावेनापकृष्टत्वात् । क्षयिकालाभिमान्यक्षयः परमेश्वराख्यः कालः "ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धोऽहमेव । कालः कलयतामहमित्यत्र तु क्षयी काल उक्त इति भेदः । कर्मफलविधातॄणां मध्ये विश्वतोमुखः सर्वतोमुखो धाता सर्वकर्मफलदातेश्वरोऽहमित्यर्थः ॥ 33 ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ 34 ॥

54 **संहारकारिणां मध्ये सर्वहरः सर्वसंहारकारी मृत्युरहम् । भविष्यतां भाविकल्याणानां य उद्भव**

उभयपदार्थप्रधान द्वन्द्व समास मैं हूँ[63], कारण कि अव्ययीभाव समास मात्र पूर्वपदार्थप्रधान होता है, तत्पुरुष समास मात्र उत्तरपदार्थप्रधान होता है और बहुव्रीहि समास मात्र अन्यपदार्थप्रधान होता है -- इसप्रकार उनमें उभयपदार्थसाम्य न होने से वे अपकृष्ट ही होते हैं । क्षयिकालाभिमानी जो "ज्ञ: कालकालो गुणी सर्वविद्य:" इत्यादि श्रुति में प्रसिद्ध परमेश्वरसंज्ञक अक्षय काल है वह मैं ही हूँ । 'काल: कलयतामहम्' (गीता, 10.30) – यहाँ तो क्षयी काल को कहा गया है, अत: इससे उपर्युक्त काल का भेद है[64] । कर्मफल का विधान करनेवालों में विश्वतोमुख अर्थात् सर्वतोमुख धाता अर्थात् सब कर्मों का फल देनेवाला ईश्वर भी मैं ही हूँ ॥ 33 ॥

[मैं संहार करनेवालों में सर्वहर -- सबका संहार करनेवाला मृत्यु हूँ, भविष्य में होनेवालों – भावी कल्याणों में उद्भव -- उत्कर्ष मैं ही हूँ तथा नारियों -- स्त्रियों के मध्य में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा भी मैं ही हूँ ॥ 34 ॥]

54 संहारकारियों के मध्य में सर्वहर -- सर्वसंहारकारी मृत्यु[65] मैं हूँ । भविष्यताम्.= भावी कल्याणों में

63. नीलकण्ठ ने 'सामासिकस्य द्वन्द्व:' की व्याख्या इसप्रकार की है -- 'समं एकत्रासनं समासो विदुषां वा गुरुशिष्याणां वा मन्त्रार्थं कथार्थं वा एकत्रावस्थानं तत्र विदिततमर्थजातं सामासिकम्' = ' समास = सम-एकत्र आसन अर्थात् मन्त्र के अर्थ के लिए अथवा कथा के अर्थ के लिए विद्वानों अथवा गुरु-शिष्यों का एकत्रावस्थान -- एक स्थान पर एकत्रित होना 'समास' है, वहाँ अर्थजात विदित होना 'सामासिक' है । 'समास' शब्द से 'ठक्' प्रत्यय होकर समास + ठक् – इस दशा में 'ठस्येक:' (पाणिनिसूत्र, 7.3.50) – इस सूत्र से ठ् को इक् होकर समास + इक् – इस दशा में आदि स्वर अ को 'किति च' (पाणिनिसूत्र, 7.2.118) सूत्र से वृद्धि होकर तथा अन्त्य स्वर अ का 'यस्येति च' (पाणिनिसूत्र, 6.4.148)– सूत्र से लोप होकर 'सामासिक' पद निष्पन्न हुआ है । 'तस्य सामासिकस्य मध्ये द्वन्द्वो रहस्योऽर्थोऽहम्' = उस सामासिक के मध्य में द्वन्द्व = रहस्य अर्थ मैं हूँ । यहाँ 'द्वन्द्व' शब्द 'द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु' (पाणिनिसूत्र, 8.1.15) – इस सूत्र से रहस्यवाची है । उक्त व्याख्या के सन्दर्भ में आचार्य धनपति अपनी भाष्योत्कर्षदीपिका में शंका-समाधान करते हुए कहते हैं कि 'सामासिकस्य द्वन्द्व:' की उक्त व्याख्या जैसी व्याख्या भाष्यकार ने क्यों नहीं की ? कारण कि अव्ययीभावादि में 'समास' शब्द और द्वन्द्वसमास में 'द्वन्द्व' शब्द केवल योग की अपेक्षा योगरूढि से प्रबल होंने के कारण प्रकृत में 'द्वन्द्व' शब्द पुंस्त्वेन निर्दिष्ट हुआ है । अत: भाष्यकार सम्मत अर्थ तदनुसार प्रकृतार्थ ही उचित है ।

64. काल दो प्रकार का होता है – क्षयकाल और अक्षयकाल । जिससे पल, घड़ी, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष, युग आदि रूप में आयु की गणना की जाती है वह 'क्षयकाल' है, क्योंकि इसका आदि और अन्त होता है । 'अक्षयकाल' कालज्ञ परमेश्वरसंज्ञक महाकाल होता है । 'काल: कलयतामहम्' (गीता, 10.30) इत्यादि में 'क्षयकाल' सूचित है और प्रकृत श्लोक में तो 'अक्षयकाल ' ही कहा गया है ।

65. मृत्यु दो प्रकार की होती है -- धनादिहर = धनादि का हरण करनेवाली और प्राणहर = प्राणों का हरण करनेवाली । धनादिहर सर्वहर नहीं होती है, प्राणहर ही सर्वहर मृत्यु होती है, क्योंकि प्राणों के हरण से सब हरण

उत्कर्षः स चाहमेव । नारीणां मध्ये कीर्तिः श्रीवाक्स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमेति च सप्त धर्मपत्न्योऽहमेव । तत्र कीर्तिर्धार्मिकत्वनिमित्ता प्रशस्तत्वेन नानादिग्देशीयलोकज्ञानविषयतारूपा ख्यातिः । श्रीर्धर्मार्थकामसंपत्, शरीरशोभा वा कान्तिर्वा । वाक्सरस्वती सर्वस्यार्थस्य प्रकाशिका संस्कृता वाणी । चकारान्मूर्त्यादयोऽपि धर्मपत्न्यो गृह्यन्ते । स्मृतिश्चिरानुभूतार्थस्मरणशक्तिः । अनेकग्रन्थार्थधारणाशक्तिर्मेधा । धृतिरवसादेऽपि शरीरेन्द्रियसंघातोत्तम्भनशक्तिः, उच्छृङ्खलप्रवृत्तिकारणेन चापलप्राप्तौ तन्निवर्तनशक्तिर्वा । क्षमा हर्षविषादयोरविकृतचित्तता । यासामाभासमात्रसंबन्धेनापि जनः सर्वलोकादरणीयो भवति तासां सर्वस्त्रीषूत्तमत्वमतिप्रसिद्धमेव ॥ 34 ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ 35 ॥

55 वेदानां सामवेदोऽस्मीत्युक्तं तत्रायमन्यो विशेषः साम्नामृगक्षरारूढानां गीतिविशेषाणां मध्ये त्वामिद्धि हवामह इत्यस्यामृचि गीतिविशेषो बृहत्साम । तच्चातिरात्रे पृष्ठस्तोत्रं सर्वेश्वरत्वेनेन्द्रस्तुतिरूपमन्यतः श्रेष्ठत्वादहम् । छन्दसां नियताक्षरपादत्वरूपच्छन्दोविशिष्टानामृचां मध्ये द्वि-

जो उद्भव अर्थात् उत्कर्ष है वह मैं ही हूँ[66] । नारियों के मध्य में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा – ये सात धर्मपत्नियाँ भी मैं ही हूँ । इनमें 'कीर्ति' धार्मिकत्वनिमित्ता, प्रशस्तत्वेन – श्रेष्ठत्वेन = श्रेष्ठरूप से नानादिग्देशीयलोकज्ञान-विषयता[67]रूपा ख्याति है । 'श्री' धर्म, अर्थ और कामरूप सम्पत्ति; शरीर की शोभा अथवा कान्ति है । 'वाक्' = वाणी-सरस्वती सब अर्थों की प्रकाशिका संस्कृता वाणी है । 'स्मृति' चिरकाल से अनुभूत अर्थों की स्मरणशक्ति है । 'मेधा' अनेक ग्रन्थों के अर्थों की धारणाशक्ति है । 'धृति' अवसाद में भी शरीर और इन्द्रियों के संघात को संभाले रखने की शक्ति है अथवा उच्छृङ्खल प्रवृत्ति के कारण से चपलता प्राप्त होने पर उसको निवृत्त करने की शक्ति है । 'क्षमा' हर्ष और विषाद में चित्त का विकृत न होना है । श्लोकस्थ अन्तिम चकार से मूर्ति आदि भी धर्मपत्नियों को ग्रहण किया जाता है । जिन कीर्ति आदि धर्मपत्नियों के आभासमात्र के सम्बन्ध से भी मनुष्य सम्पूर्ण लोक में आदरणीय होता है उन सब स्त्रियों में उत्तमत्व प्रसिद्ध ही है ॥ 34 ॥

[मैं सामों में बृहत्साम हूँ, छन्दों में गायत्री मैं हूँ, मासों – महीनों में मार्गशीर्ष मैं ही हूँ तथा ऋतुओं में कुसुमाकर – वसन्त भी मैं ही हूँ ॥ 35 ॥

55 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (गीता, 10.22) = 'मैं वेदों में सामवेद हूँ' – यह पूर्व में जो कहा गया है उसमें यह दूसरा विशेष है कि सामों में अर्थात् ऋगक्षरों – ऋचाओं पर आरूढ़ गीतिविशेषों के मध्य में जो 'त्वामिद्धि हवामहे'– इस ऋचा में आरूढ़ गतिविशेष है वह बृहत्साम मैं हूँ । अतिरात्रयज्ञ

हो जाता है । अथवा, प्रलयकाल में सब हरण कर लेने के कारण परमेश्वररूप मृत्यु ही सर्वहर मृत्यु है ।

66. तात्पर्य यह है कि भावी कल्याणों के उत्कर्षप्राप्ति के योग्यों में से उत्कर्षप्राप्ति या अभ्युदयप्राप्ति का हेतु मैं हूँ ।

67. ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और भावना नामक संस्कार – ये आत्मा के पाँच गुण सविषयक होते हैं । जिसका ज्ञान होता है, जिसकी इच्छा होती है, जिससे द्वेष होता है, जिसके लिए प्रयत्न होता है और जिसकी भावना होती है, वह ज्ञानादि का विषय होता है, अतः उसी में 'विषयता' कही जाती है । प्रकृत स्थल पर नानादिग्देशीयलोकज्ञान में विषयता है ।

जातेर्द्वितीयजन्महेतुत्वेन प्रातःसवनादिसवनत्रयव्यापित्वेन त्रिष्टुब्जगतीभ्यां सोमाहरणार्थं गताभ्यां सोमो न लब्धोऽक्षराणि च हारितानि जगत्या त्रीणि त्रिष्टुभैकमिति चत्वारि तैरक्षरैः सह सोमस्याऽऽहरणेन च सर्वश्रेष्ठा गायत्र्यृगहम् । 'चतुरक्षराणि ह वा अग्रे छन्दांस्यासुस्ततो जगती सोममच्छापतत्सा त्रीण्यक्षराणि हित्वा जगाम ततस्त्रिष्टुप्सोममच्छापतत्सैकमक्षरं हित्वाऽपतत्ततो गायत्री सोममच्छापतत्सा तानि चाक्षराणि हरन्त्यागच्छत्सोमं च तस्मादष्टाक्षरा गायत्री' इत्युपक्रम्य 'तदाहुर्गायत्राणि वै सर्वाणि सवनानि गायत्री ह्येवैतदुपसृजमानैः' इति शतपथश्रुतेः, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' इत्यादिछान्दोग्यश्रुतेश्च ।

56 **मासानां द्वादशानां मध्येऽभिनवशालिवास्तूकशाकादिशाली शीतातपशून्यत्वेन च सुखहेतुर्मार्गशीर्षोऽहम् । ऋतूनां षण्णां मध्ये कुसुमाकरः सर्वसुगन्धिकुसुमानामाकरोऽतिरमणीयो वसन्तः, 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' 'तद्वै वसन्त एवाभ्यारभेत' 'वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः' इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धोऽहमस्मि ॥ 35 ॥**

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ 36 ॥

में सर्वेश्वररूप से इन्द्र की स्तुतिरूप वह पृष्ठस्तोत्र दूसरों से श्रेष्ठ होने के कारण मैं हूँ । छन्दों में अर्थात् जिनके अक्षर और पाद नियत हैं ऐसी छन्दोविशिष्ट ऋचाओं के मध्य में गायत्री ऋचा मैं हूँ, जो गायत्री ऋचा द्विजातियों के द्वितीय जन्म का हेतु होने से, प्रात:सवन आदि तीन सवनों[68] में व्यापी होने से और सोम को लेने के लिए गई हुई त्रिष्टुप् और जगती को जब सोम नहीं प्राप्त हुआ तथा जगती के तीन और त्रिष्टुप् का एक – इसप्रकार उनके चार अक्षरों का हरण भी कर लिया गया तो उस समय उन चार अक्षरों के साथ सोम को ले आने से सर्वश्रेष्ठ है । ऐसा श्रुतियों में भी कहा है -- 'पहले सब छन्द चार अक्षरवाले थे, तब जगती सोम की ओर गयी और वह अपने तीन अक्षरों को खोकर चली आयी, तदुपरान्त त्रिष्टुप् सोम की ओर गयी और वह अपने एक अक्षर को खोकर चली आयी, तत्पश्चात् गायत्री सोम की ओर गयी और वह उन चार अक्षरों को तथा सोम को भी लेकर आयी, इसीलिए गायत्री आठ अक्षरवाली है' – इसप्रकार आरम्भ करके 'इसीसे कहा है कि सब सवन गायत्री सम्बन्धी हैं और हमने जो रचा है वह सब गायत्री ही है' -- यह शतपथ श्रुति ने कहा है तथा 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' = 'यह सब भूतवर्ग गायत्री ही है' -- यह छान्दोग्य श्रुति ने कहा है ।

56 बारह महीनों में से जिसमें नवीन धान, वास्तूक-वथुआ शाकादि होते हैं और जो शीत और आतप से शून्य होने के कारण सुख का हेतु है वह मार्गशीर्ष नामक मास मैं हूँ । छः ऋतुओं में कुसुमाकर अर्थात् सब सुगन्धित कुसुमों -- पुष्पों का आकर-खानरूप अत्यन्त रमणीय वसन्त मैं हूँ, जो वसन्त 'वसन्त में ब्राह्मण का उपनयन करे'; 'वसन्त में ब्राह्मण अग्न्याधान करे'; 'प्रत्येक वसन्त में ज्योतिष् नाम यज्ञ करे'; 'उसका वसन्त में ही आरम्भ करे'; 'वसन्त ही ब्राह्मण का ऋतु है' – इत्यादि शास्त्रवाक्यों में प्रसिद्ध है ।। 35 ।।

68. जिस यज्ञ में प्रधान अंग का सोमरस से हवन किया जाता है उस यज्ञ को 'सवन' कहा जाता है । यह तीन प्रकार का होता है – प्रात:सवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीय सवन ।

57 **छलयतां छलस्य परवञ्चनस्य कर्तॄणां संबन्धि द्यूतमक्षदेवनादिलक्षणं सर्वस्वापहारकारणमहमस्मि। तेजस्विनामत्युग्रप्रभावानां संबन्धि तेजोऽप्रतिहताज्ञत्वमहमस्मि । जेतॄणां पराजितापेक्षयोत्कर्ष-लक्षणो जयोऽस्मि । व्यवसायिनां व्यवसायः फलाव्यभिचार्युद्यमोऽहमस्मि । सत्त्ववतां सात्त्विकानां धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यलक्षणं सत्त्वकार्यमेवात्र सत्त्वमहम् ॥ 36 ॥**

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ 37 ॥

58 **साक्षादीश्वरस्यापि विभूतिमध्ये पाठस्तेन रूपेण चिन्तनार्थ इति प्रागेवोक्तम् । वृष्णीनां मध्ये वासुदेवो वसुदेवपुत्रत्वेन प्रसिद्धस्त्वदुपदेष्टाऽयमहम् । तथा पाण्डवानां मध्ये धनंजयस्त्वमेवाहम् । मुनीनां मननशीलानामपि मध्ये वेदव्यासोऽहम् । कवीनां क्रान्तदर्शिनां सूक्ष्मार्थविवेकिनां मध्य उशना कविरिति ख्यातः शुक्रोऽहम् ॥ 37 ॥**

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ 38 ॥

59 **दमयतामदान्तानुत्पथान्पथि प्रवर्तयतामुत्पथप्रवृत्तौ निग्रहहेतुर्दण्डोऽहमस्मि । जिगीषतां जेतुमिच्छतां नीतिर्न्यायो जयोपायस्य प्रकाशकोऽहमस्मि । गुह्यानां गोप्यानां गोपनहेतुर्मौनं वाचंयमत्वमहमस्मि ।**

[मैं छल करनेवालों का द्यूत हूँ, तेजस्वियों का तेज मैं हूँ, जीतनेवालों का जय मैं ही हूँ, व्यवसायियों का व्यवसाय मैं हूँ तथा सात्त्विक पुरुषों का सत्त्व भी मैं ही हूँ ॥ 36 ॥]

57 छलनेवालों का अर्थात् छल करनेवालों = दूसरों को ठगनेवालों से सम्बन्ध रखनेवाला द्यूत = सर्वस्व अपहरण का कारण पासों से जुआ खेलनारूप द्यूत मैं हूँ । तेजस्वियों का अर्थात् अत्यन्त उग्र प्रभाववालों से सम्बन्ध रखनेवाला तेज = अप्रतिहत आज्ञारूप तेज मैं हूँ । जीतनेवालों का पराजितों की अपेक्षा उत्कर्षरूप जय मैं हूँ । व्यवसायियों का व्यवसाय अर्थात् अवश्य फलदायी उद्यम – उद्योग मैं हूँ । सत्त्ववान् अर्थात् सात्त्विक पुरुषों का धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यरूप जो सत्त्वकार्य है वही यहाँ सत्त्व है वह मैं हूँ ॥ 36 ॥

[मैं वृष्णिवंशियों में वासुदेव अर्थात् वसुदेवपुत्र हूँ, पाण्डवों में धनञ्जय अर्थात् तुम भी मैं हूँ, मुनियों में भी व्यास मैं हूँ और कवियों में उशना कवि-शुक्राचार्य मैं ही हूँ ॥ 37 ॥]

58 साक्षात् ईश्वर का भी विभूतियों के मध्य में पाठ-उल्लेख उनका विभूतिरूप से चिन्तन-ध्यान करने के लिए है -- यह पूर्व में ही कहा जा चुका है । वृष्णियों के मध्य में वासुदेव अर्थात् वसुदेव के पुत्ररूप से प्रसिद्ध यह तुमको उपदेश करनेवाला मैं हूँ । तथा पाण्डवों के मध्य में धनञ्जय -- अर्जुन अर्थात् तुम ही मैं हूँ । मुनियों अर्थात् मननशील मुनियों के भी मध्य में वेदव्यास मैं ही हूँ । कवियों -- क्रान्तदर्शियों अर्थात् सूक्ष्मार्थविवेकीजनों के मध्य में उशना कवि नाम से विख्यात शुक्र मैं हूँ ॥ 37 ॥

[मैं दमन करनेवालों का दण्ड हूँ, जीतने की इच्छावालों की नीति मैं हूँ, गोपनीयों में मौन भी मैं हूँ तथा ज्ञानवानों का ज्ञान भी मैं ही हूँ ॥ 38 ॥]

59 दमन करनेवालों का अर्थात् अदान्त - अनियन्त्रित उत्पथ -- कुमार्गगामियों को सुमार्ग पर प्रवृत्त करनेवालों का उत्पथप्रवृत्ति = कुमार्गप्रवृत्ति के निग्रह का हेतुभूत दण्ड मैं हूँ । जिगीषुओं = जीतने की इच्छावालों की नीति -- न्याय अर्थात् जय के उपाय का प्रकाशक मैं हूँ । गुह्यों -- गुप्तों अर्थात्

· नहि तूष्णीं स्थितस्याभिप्रायो ज्ञायते । गुह्यानां गोप्यानां मध्ये ससंन्यासश्रवणमननपूर्वकमात्मनो निदिध्यासनलक्षणं मौनं वाऽहमस्मि । ज्ञानवतां ज्ञानिनां यच्छ्रवणमनननिदिध्यास-नपरिपाकप्रभवमद्वितीयात्मसाक्षात्काररूपं सर्वाज्ञानविरोधि ज्ञानं तदहमस्मि ॥ 38 ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ 39 ॥

60 यदपि च सर्वभूतानां प्ररोहकारणं बीजं तन्मायोपाधिकं चैतन्यमहमेव हेऽर्जुन ! मया विना यत्स्याद्भवेच्चरमचरं वा भूतं वस्तु तन्नास्त्येव यतः सर्वं मत्कार्यमेवेत्यर्थः ॥ 39 ॥

61 प्रकरणार्थमुपसंहरन्विभूतिं संक्षिपति –

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेविस्तरो मया ॥ 40 ॥

62 हे परंतप परेषां शत्रूणां कामक्रोधलोभादीनां तापजनक मम दिव्यानां विभूतीनामन्त इयत्ता नास्ति । अतः सर्वज्ञेनापि सा न शक्यते ज्ञातुं वक्तुं वा सन्मात्रविषयत्वात्सर्वज्ञतायाः । एष तु त्वां प्रत्युद्देशत एकदेशेन प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो विस्तारो मया ॥ 40 ॥

गोप्यों -- गोपनीयों का गोपनहेतु मौन अर्थात् वाणी का संयमरूप मौन मैं हूँ, क्योंकि चुपचाप बैठे हुए पुरुष का अभिप्राय नहीं जाना जाता । अथवा, गुह्यों अर्थात् गोप्यों -- गोपनीयों के मध्य में संन्यास सहित श्रवण और मननपूर्वक आत्मा का निदिध्यासनरूप मौन मैं हूँ । ज्ञानवानों का अर्थात् ज्ञानियों का जो श्रवण, मनन और निदिध्यासन के परिपाक से उत्पन्न सम्पूर्ण अज्ञान का विरोधी अद्वितीय, आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञान है वह ज्ञान मैं ही हूँ ।। 38 ।।

[हे अर्जुन ! जो सब भूतों का बीज है वह भी मैं हूँ, ऐसा वह चर -- जंगम अथवा अचर-स्थावर कोई भी भूत नहीं है जो मुझसे रहित हो ।। 39 ।।]

60 जो भी सब भूतों की उत्पत्ति का कारणभूत बीज है वह मायोपाधिक चैतन्य मैं ही हूँ, हे अर्जुन[69] ! मेरे बिना जो हो ऐसा कोई चर अथवा अचर भूत अर्थात् वस्तु वह है ही नहीं, क्योंकि सब मेरा ही कार्य है -- यह अर्थ है ।। 39 ।।

61 प्रकरणार्थ का उपसंहार करते हुए विभूतियों का संक्षेप करते हैं :--
[हे परन्तप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है । यह तो मैंने अपनी विभूतियों का विस्तार उद्देशतः अर्थात् एकदेश से कहा है ।। 40 ।।]

62 हे परन्तप[70] ! = हे पर अर्थात् काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं को ताप उत्पन्न करने वाले ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त = इयत्ता अर्थात् सीमा नहीं है, अतः सर्वज्ञ मेरे द्वारा भी उसको जानना या कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञता का विषय सन्मात्र होता है अर्थात् जो विषय होता है उसी को सर्वज्ञ जान सकता है और कह भी सकता है, किन्तु जो विषय है ही नहीं उसका ज्ञान सर्वज्ञ को भी असंभव ही है । यह तो मैंने अपनी विभूतियों का विस्तार तुमसे उद्देशतः एकदेश से कहा है ।। 40 ।।

69. भगवान् की विभूतियों का ज्ञान अन्तःकरणशोधक है – यह सूचित करते हुए ही भगवान् ने यहाँ सम्बोधन किया है – हे अर्जुन ! अर्थात् हे शुद्ध बुद्धिवाले ! मेरा तत्त्व तुम्हारी बुद्धि से अगम्य नहीं है ।

70. भगवान् की उक्त विभूतियों के परिचिन्तन से पर अर्थात् राग-द्वेषादिरूप शत्रुओं को तप्त करो – इस अभिप्राय से भगवान् ने सम्बोधन किया है – हे परन्तप !

63 अनुक्ता अपि भगवतो विभूतीः संग्रहीतुमुपलक्षणमिदमुच्यते –

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥ 41 ॥

64 यद्यत्सत्त्वं प्राणिविभूतिमदैश्वर्ययुक्तं, तथा श्रीमत्, श्रीर्लक्ष्मीः संपत्, शोभा, कान्तिर्वा तया युक्तं, तथोर्जितं बलाद्यतिशयेन युक्तं तत्तदेव मम तेजसः शक्तेरंशेन संभूतं त्वमवगच्छ जानीहि ॥ 41 ॥

65 एवमवयवशो विभूतिमुक्त्वा साकल्येन तामाह –

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ 42 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ 10 ॥

66 अथवेति पक्षान्तरे । बहुनैतेन सावशेषेण ज्ञातेन किं तव स्याद्धेऽर्जुन ! इदं कृत्स्नं सर्वं जगदेकांशेनैकदेशमात्रेण विष्टभ्य विधृत्य व्याप्य वाऽहमेव स्थितो न मद्व्यतिरिक्तं किंचिदस्ति 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति श्रुतेः । तस्मात्किमनेन परिच्छिन्नदर्शनेन सर्वत्र मद्दृष्टिमेव कुर्वित्यभिप्रायः ॥ 42 ॥

63 भगवान् की अनुक्त भी विभूतियों के संग्रह के लिए यह उपलक्षण[71] कहते हैं :--
[जो-जो प्राणी विभूतियुक्त -- ऐश्वर्ययुक्त, श्रीयुक्त अथवा बलादि के अतिशय से युक्त हो उस-उस को तुम मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न जानो ।। 41 ।।]

64 जो-जो सत्त्व = प्राणी विभूतिमान् = ऐश्वर्ययुक्त तथा श्रीमान् = श्री-लक्ष्मी, सम्पति, शोभा अथवा कान्ति से युक्त तथा ऊर्जित = बलादि के अतिशय से युक्त हो उसी-उसी को तुम मेरे तेज = शक्ति के अंश से सम्भूत = समुत्पन्न जानो ।। 41 ।।

65 इसप्रकार अवयवशः विभूतियों को कहकर उनको समष्टिरूप से कहते हैं --
[अथवा, हे अर्जुन ! इसप्रकार के बहुत ज्ञान से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? मैं इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से धारण करके स्थित हूँ, इसलिए तुम मुझको ही तत्त्व से जानो ।। 42 ।।]

66 अथवा अर्थात् पक्षान्तर में, इसप्रकार के बहुत अर्थात् सावशेष ज्ञान से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? हे अर्जुन ! इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से -- एकदेशमात्र से धारण करके = व्याप्त करके मैं ही स्थित हूँ, मुझसे अतिरिक्त -- भिन्न कुछ भी नहीं है, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (तैत्तिरीयारण्यक, 3.12) = 'समस्त भूत इस परमेश्वर का एक पाद है और इसके अमृतमय तीन पाद द्युलोक में हैं' -- इत्यादि । अत: इस परिच्छिन्न दर्शन से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? तुम तो सर्वत्र मेरी ही दृष्टि करो -- यह अभिप्राय है ।। 42 ।।

71. किसी अतिरिक्त वस्तु की ओर या अन्य किसी समरूप पदार्थ की ओर संकेत जबकि केवल एक का ही उल्लेख किया गया हो, समस्त वस्तु के लिए उसके किसी एक भाग का कथन, सम्पूर्ण जाति को अभिव्यक्त करने के लिए व्यक्ति की ओर संकेत 'उपलक्षण' है (स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वम्) ।

67 कुर्वन्ति केऽपि कृतिनः क्वचिदप्यनन्ते
स्वान्तं विधाय विषयान्तरशान्तिमेव ।
त्वत्पादपद्मविगलन्मकरन्दबिन्दु-
मास्वाद्य माद्यति मुहुर्मधुभिन्मनो मे ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वती-विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामधिकारिभेदेन विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ 10 ॥

---

67 कोई कुशल विद्वान् तो कहीं-कहीं अनन्त में अपने अन्त:करण को स्थापित कर विषयान्तर की शान्ति ही करते हैं, हे मधुभिद् ! हे मधुसूदन ! मेरा मन आपके पादपद्म -- चरणकमल से टपकते हुए मकरन्द के बिन्दु का आस्वादन कर बार-बार प्रसन्न होता है ।।

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-विश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य
श्री मधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका
के हिन्दीभाषानुवाद का विभूतियोग नामक
दशम अध्याय समाप्त होता है ।

अथैकादशोऽध्यायः

1 **पूर्वोध्याये नानाविभूतीरुक्त्वा "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति विश्वात्मकं पारमेश्वरं रूपं भगवताऽन्तेऽभिहितं श्रुत्वा परमोत्कण्ठितस्तत्साक्षात्कर्तुमिच्छन्पूर्वोक्तमभिनन्दन् –**

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ 1 ॥

2 **मदनुग्रहाय शोकनिवृत्त्युपकाराय परमं निरतिशयपुरुषार्थपर्यवसायि गुह्यं गोप्यं यस्मै कस्मैचिद्वक्तुमनर्हमपि अध्यात्मसंज्ञितमध्यात्ममितिशब्दितमात्मानात्मविवेकविषयमशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादिषष्ठाध्यायपर्यन्तं त्वंपदार्थप्रधानं यत्त्वया परमकारुणिकेन सर्वज्ञेनोक्तं वचो वाक्यं तेन वाक्येनाहमेषां हन्ता मयैते हन्यन्त इत्यादिविविधविपर्यासलक्षणो मोहोऽयमनुभवसाक्षिको विगतो विनष्टो मम, तत्रासकृदात्मनः सर्वविक्रियाशून्यत्वोक्तः ॥ 1 ॥**

3 **तथा सप्तमादारभ्य दशमपर्यन्तं तत्पदार्थनिर्णयप्रधानमपि भगवतो वचनं मया श्रुतमित्याह –**

---

1 पूर्व अध्याय में अनेक विभूतियों को कहकर अन्त में 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' -- इस श्लोक से भगवान् ने विश्वात्मक -- सर्वात्मक पारमेश्वर रूप को कहा । उसको सुनकर परम उत्कण्ठित हो उसका साक्षात्कार करने की इच्छा करते हुए भगवान् के पूर्वोक्त वचनों का अभिनन्दन करते हुए अर्जुन ने कहा --

[अर्जुन ने कहा -- हे भगवन् ! मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आपने अध्यात्मसंज्ञक जो परमगुह्य -- परमगोपनीय वचन -- उपदेश कहा है उससे मेरा यह मोह नष्ट हो गया है ॥ 1 ॥]

2 मुझ पर अनुग्रह करने के लिए अर्थात् शोकनिवृत्तिरूप उपकार करने के लिए जो परम = निरतिशय पुरुषार्थ में समाप्त होनेवाला गुह्य[1] -- गोप्य-गोपनीय = जिसकिसी से कहने के अयोग्य, अध्यात्मसंज्ञित[2] = 'अध्यात्म' शब्द से उक्त अर्थात् आत्मानात्मविवेकविषयक और 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (गीता, 2.11) -- इत्यादि से लेकर छठे अध्याय तक 'त्वम्' पदार्थ प्रधान वचन-वाक्य परम कारुणिक, सर्वज्ञ आपने मुझसे कहा है उस वाक्य से मेरा यह = अनुभवसाक्षिक "मैं इनका हनन करने वाला हूँ और ये मुझसे हत होंगे" -- इत्यादि विविध विपर्यय -- भ्रमरूप मोह विगत = विनष्ट हो गया है, क्योंकि उस वाक्य में 'आत्मा सब विकारों से शून्य है' -- यह अनेक बार आपने कहा है ॥ 1 ॥

3 तथा सातवें अध्याय से लेकर दशवें अध्याय तक 'तत्' पदार्थनिर्णयप्रधान भी भगवान् का वचन मैंने सुना है -- यह कहते हैं --

---

1. 'गुह्य' शब्द का अर्थ है – गुप्त रखने योग्य अर्थात् अनधिकारी पुरुष से गुप्त रखने के योग्य । अध्यात्म-ज्ञान अनधिकारी पुरुष से गुप्त ही रखा जाता है, अतः प्रकृत में भगवद्वचन को 'गुह्य' कहा है । जिसप्रकार मलिन वस्त्र रंग नहीं पकड सकता है उसी प्रकार जो पुरुष विषयों में आसक्त और आत्मा से विमुख रहता है उसकी बुद्धि भी मलिन होने के कारण आत्मतत्त्व को धारण नहीं कर सकती है, इसीलिए विषयासक्त मलिनबुद्धि अनधिकारी पुरुष से अध्यात्मसंज्ञक ज्ञान गुप्त रखने के लिए शास्त्र का अनुशासन है । इसी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृत प्रसंग में 'गुह्य' शब्द का प्रयोग है ।

2. जिससे आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता है उसको 'अध्यात्मसंज्ञित' कहते है ।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यपि चाव्ययम् ॥ 2 ॥

4 **भूतानां भवाप्ययावुत्पत्तिप्रलयौ त्वत्त एव भवन्तौ त्वत्त एव विस्तरशो मया श्रुतौ न तु संक्षेपेणासकृदित्यर्थः । कमलस्य पत्रे इव दीर्घे रक्तान्ते परममनोरमे अक्षिणी यस्य तव स त्वं हे कमलपत्राक्ष ! अतिसौन्दर्यातिशयोल्लेखोऽयं प्रेमातिशयात् । न केवलं भवाप्ययौ त्वत्तः श्रुतौ महात्मनस्तव भावो माहात्म्यमनतिशयैश्वर्यं विश्वसृष्ट्यादिकर्तृत्वेऽप्यविकारित्वं शुभाशुभकर्म-कारयितृत्वेऽप्यवैषम्यं बन्धमोक्षादिविचित्रफलदातृत्वेऽप्यसङ्गौदासीन्यमन्यदपि सर्वात्मत्वादि सोपाधिकं निरूपाधिकमपि चाव्ययमक्षयं मया श्रुतमिति परिणतमनुवर्तते चकारात् ॥ 2 ॥**

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ 3 ॥

5 **हे परमेश्वर यथा येन प्रकारेण सोपाधिकेन निरुपाधिकेन च निरतिशयैश्वर्येणाऽऽत्मानं त्वमात्थ कथयसि त्वमेवमेतन्नान्यथा । त्वद्वचसि कुत्रापि ममाविश्वासशङ्का नास्त्येवेत्यर्थः । यद्यप्येवं तथा-**

[हे कमलदललोचन ! मैंने आपसे विस्तारपूर्वक भूतों -- प्राणियों या जीवों की उत्पत्ति और प्रलय तथा आपका अव्यय = अक्षय माहात्म्य भी सुना है ॥ 2 ॥]

4 भूतों अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति (भव) और प्रलय (अप्यय) आपसे ही होती है -- यह मैंने आपसे ही विस्तार से सुना है, न कि संक्षेप से अर्थात् बार-बार सुना है । कमल के पत्र-दल के समान दीर्घ, रक्तान्त = रक्तोपान्त = रक्त-लाल कोरवाले और परम मनोरम अक्षि-नेत्र-लोचन हैं जिसके ऐसे आप हे कमलपत्राक्ष[3] ! हे कमलदललोचन ! -- यह भगवान् के अतिसौन्दर्य का अतिशय उल्लेख प्रेम के अतिशय के कारण है । मैंने आपसे न केवल प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय को ही सुना है, अपितु आप महात्मा का भाव अर्थात् आपका माहात्म्य[4] = निरतिशय ऐश्वर्य अर्थात् विश्व की सृष्टि आदि करनेवाले होने पर भी अविकारी रहना, शुभाशुभ कर्म करानेवाले होने पर भी विषमता न आना, बन्ध और मोक्ष आदि विचित्र फल देनेवाले होने पर भी असंग और उदासीन रहना तथा अन्य भी सर्वात्मत्वादिरूप सोपाधिक और निरुपाधिक अव्यय = अक्षय माहात्म्य भी मैंने सुना है । यहाँ चकार से 'श्रुतौ' पद के परिणत रूप 'श्रुतम्' पद की अनुवृत्ति हुई है[5] ॥ 2 ॥

[हे परमेश्वर ! आप अपने विषय में जैसा कहते हैं वह सब वैसा ही है, परन्तु हे पुरुषोत्तम ! मैं आपके ऐश्वर = ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज से युक्त रूप का दर्शन करना चाहता हूँ ॥ 3 ॥]

5 हे परमेश्वर ! जिस प्रकार सोपाधिक और निरुपाधिक निरतिशय ऐश्वर्यरूप से आप अपने को कह

---

3. जिस प्रकार कमलपत्र जल में रहकर भी जल से सिक्त नहीं होता है उसी प्रकार भगवान् की आँखें नित्य द्रष्ट्रा होने पर भी किसी भी दृश्य वस्तु से सिक्त नहीं होती हैं अर्थात् भगवान् नित्य साक्षी-द्रष्टा और विज्ञाता होने पर भी नित्य स्थिर, सब विकारों से रहित तथा वृद्धि और हानि से शून्य रहते हैं । ऐसे कमलपत्राक्षरूप भगवान् से ही सब प्राणियों का पालन-पोषण होता है – यह सूचित करने के लिए अर्जुन ने 'कमलपत्राक्ष' शब्द से सम्बोधन किया है ।

4. महात्मनो भावः = महात्मन् + ष्यञ् = माहात्म्यम् ।

5. आगामी में पिछले की पुनरुक्ति और पूर्ति 'अनुवृत्ति' होती है । यहाँ चकार से श्लोकस्थ द्विवचनान्त पुंल्लिङ्ग 'श्रुतौ' पद के लिङ्ग – वचन से परिणतरूप एकवचनान्त नपुंसकलिङ्ग 'श्रुतम्' पद की अनुवृत्ति हुई है ।

ऽपि कृतार्थीबुभूषया द्रष्टुमिच्छामि ते तव रूपमैश्वरं ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभि: संपन्नमद्भुतं हे पुरुषोत्तम। संबोधनेन त्वद्वचस्यविश्वासो मम नास्ति दिदृक्षा च महती वर्तत इति सर्वज्ञत्वात्त्वं जानासि सर्वान्तर्यामित्वाच्चेति सूचयति ॥ 3 ॥

6 **द्रष्टुमयोग्ये कुतस्ते दिदृक्षेत्याशङ्क्याऽऽह –**

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयाऽऽत्मानमव्ययम् ॥ 4 ॥

7 **प्रभवति सृष्टिस्थितिसंहारप्रवेशप्रशासनेष्विति प्रभु:, हे प्रभो सर्वस्वामिन्। तत्तवैश्वरं रूपं मयाऽर्जुनेन द्रष्टुं शक्यमिति यदि मन्यसे जानासीच्छसि वा हे योगेश्वर सर्वेषामणिमादिसिद्धिशालिनां योगानां योगिनामीश्वर ततस्त्वदिच्छावशादेव मे मह्यमत्यर्थमर्थिने त्वं परमकारुणिको दर्शय चाक्षुषज्ञानविषयी कारयाऽऽत्मानमैश्वररूपविशिष्टमव्ययमक्षयम् ॥ 4 ॥**

रहे हैं आप वैसे ही हैं, अन्यथा नहीं हैं अर्थात् आपके वचन में मुझको कहीं भी अविश्वास की शंका ही नहीं है। यद्यपि ऐसा है तथापि कृतार्थ होने की इच्छा से मैं आपके ऐश्वर = ईश्वरीय -- ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज से सम्पन्न अद्भुतरूप का दर्शन करना चाहता हूँ हे पुरुषोत्तम ! इस सम्बोधन से यह सूचित करते हैं कि मुझको आपके वचन में अविश्वास नहीं है और आपके ऐश्वररूप के दर्शन की बड़ी इच्छा भी है -- यह आप सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी होने से जानते ही हैं ।। 3 ।।

6 'जो रूप चर्मचक्षुओं से दर्शन के योग्य नहीं है उसका दर्शन करने की तुम्हारी इच्छा क्यों है ?' -- ऐसा भगवान् की ओर से आशंका करके अर्जुन कहते हैं :--
[हे प्रभो ! यदि आप यह मानते हैं कि आपका वह रूप मेरे द्वारा दर्शन किये जाने योग्य है तो हे योगेश्वर ! आप अपने अव्यय = अविनाशी स्वरूप का मुझको दर्शन कराइये ।। 4 ।।]

7 जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करने में तथा उसमें प्रवेश और उसका प्रशासन करने में आप प्रभु = समर्थ हैं, अत: 'प्रभु' है, अतएव हे प्रभो[6] ! हे सर्वस्वामिन् = सबके स्वामी ! आपका वह ऐश्वर = ईश्वरीय रूप मुझ अर्जुन के द्वारा दर्शन किये जाने योग्य है -- यह यदि आप मानते हैं = समझते हैं अथवा इच्छा करते हैं तो हे योगेश्वर[7] ! हे अणिमादि सब सिद्धिशाली योगों अर्थात् योगियों के ईश्वर ! तत: = उससे अर्थात् आपकी इच्छा के वश से ही मुझ अत्यन्त उत्सुक को परम कारुणिक आप अपने ऐश्वररूपविशिष्ट अव्यय = अक्षय स्वरूप का दर्शन कराइये = उसको मेरे चाक्षुषज्ञान का विषय बनाइये ।। 4 ।।

---

6. भगवान् जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करने में, उसमें प्रवेश और उसका अनुशासन करने में समर्थ हैं – इस प्रकार भगवान् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं करने में समर्थ हैं, उनके लिए कुछ भी असंभव नहीं है, उनका अनुग्रह होने पर तो अर्जुन ऐश्वररूप का दर्शन करने में असमर्थ होने पर भी दर्शन करने के योग्य हो सकता है – यह सूचित करने के लिए ही यहाँ अर्जुन ने भगवान् को 'हे प्रभो!' – यह सम्बोधन किया है।

7. जब योगीजन अप्राकृत पदार्थों का दर्शन कराने में समर्थ हैं तब भगवान् तो उनके ईश्वर हैं उनके लिए उनके ही ऐश्वररूप का दर्शन कराना कठिन व्यापार नहीं हो सकता है -- यह सूचित करने के लिए अर्जुन ने 'हे योगेश्वर' – सम्बोधन किया है। अथवा, हे योगेश्वर ! आप तो आपके ऐश्वररूप का दर्शन करने में समर्थ योगियों के ईश्वर हैं, अतएव मुझको भी योगी बनाकर अपने ऐश्वररूप का दर्शन कराइये – यह उक्त सम्बोधन से ध्वनित होता है।

8 एवमत्यन्तभक्तेनार्जुनेन प्रार्थितः सन् –

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ 5 ॥

9 अत्र क्रमेण श्लोकचतुष्टयेऽपि पश्येत्यावृत्त्याऽत्यद्भुतरूपाणि दर्शयिष्यामि त्वं सावधानो भवेत्यर्जुनमभिमुखी करोति भगवान् । शतशोऽथ सहस्रश इत्यपरिमितानि तानि च नानाविधान्यनेकप्रकाराणि दिव्यान्यत्यद्भुतानि नाना विलक्षणा वर्णा नीलपीतादिप्रकारास्तथाऽऽकृतयश्चावयवसंस्थानविशेषा येषां तानि नानावर्णाकृतीनि च मे मम रूपाणि पश्य । अर्हे लोट् । द्रष्टुमर्हो भव हे पार्थ ॥ 5 ॥

10 दिव्यानि रूपाणि पश्येत्युक्त्वा तान्येव लेशतोऽनुक्रामति द्वाभ्याम् –

पश्याऽऽदित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याऽऽश्चर्याणि भारत ॥ 6 ॥

11 पश्याऽऽदित्यान्द्वादश, वसूनष्टौ, रुद्रानेकादश, अश्विनौ द्वौ, मरुतः सप्तसप्तकानेकोनपञ्चाशत्। तथाऽन्यानपि देवानित्यर्थः । बहून्यन्यान्यदृष्टपूर्वाणि पूर्वमदृष्टानि मनुष्यलोके त्वया त्वत्तोऽन्येन

---

8 इस प्रकार अत्यन्त भक्त अर्जुन के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर –
[श्रीभगवान् ने कहा -- हे पार्थ ! हे अर्जुन ! मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकार के, नाना वर्ण और आकृतिवाले दिव्य रूपों को देखों ॥ 5 ॥]

9 यहाँ क्रम से चार श्लोकों में 'पश्य' = 'देखो' – इस क्रियापद की आवृत्ति से भगवान् 'मैं तुमको अत्यन्त अद्भुत रूपों को दिखाऊँगा, तुम सावधान हो जाओ' – ऐसा भाव प्रकट करके अर्जुन को अपनी ओर अभिमुख करते हैं । सैंकड़ों-हजारों अर्थात् अपरिमित उन अनेक प्रकार के दिव्य = अत्यन्त अद्भुत और नानावर्णाकृति = नाना-विलक्षण वर्ण अर्थात् नीलपीतादि प्रकार तथा आकृतियाँ = अवयवसंस्थानवशेष हैं जिनके ऐसे उन नानावर्णाकृति मेरे रूपों को देखो । यहाँ 'अर्ह' = 'योग्यता' अर्थ में लोट्लकार है । अतएव हे पार्थ[8] ! हे अर्जुन ! मेरे रूपों का दर्शन करने के योग्य होओ ॥ 5 ॥

10 मेरे दिव्य रूपों को देखो -- यह कहकर भगवान् उन्हीं रूपों का दो श्लोकों से लेशत: = अंशत: अनुक्रमण करते हैं --
[हे भारत ! हे भरतवंशी अर्जुन ! मुझमें बारह आदित्यों, आठ वसुओं, ग्यारह रुद्रों, दो अश्विनी कुमारों और उनचास मरुतों को देखो । इनके अतिरिक्त और भी बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्य = अद्भुत रूपों को देखो ॥ 6 ॥]

11 बारह आदित्यों, आठ वसुओं, ग्यारह रुद्रों, दो अश्विनीकुमारों, उनचास मरुतों तथा अन्य देवताओं

---

8. हे अर्जुन ! तुम पृथा के पुत्र हो अतएव मेरे प्रेमास्पद सखा हो और मेरे भक्त भी हो, अत: तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने के लिए मैं सदा ही प्रस्तुत हूँ – यह सूचित करने के लिए भक्तवत्सल भगवान् ने अर्जुन को 'पार्थ' शब्द से सम्बोधित किया है ।

वा केनचित्पश्याऽऽश्चर्याण्यद्भुतानि हे भारत ! अत्र शतशोऽथ सहस्रशः नानाविधानीत्यस्य विवरणं बहूनीति आदित्यानित्यादि च । अदृष्टपूर्वाणीति दिव्यानीत्यस्य, आश्चर्याणीति नानावर्णाकृतीनीत्यस्येति द्रष्टव्यम् ॥ 6 ॥

12 न केवलमेतावदेव, समस्तं जगदपि मद्देहस्थं द्रष्टुमर्हसीत्याह –

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ 7 ॥

13 इहास्मिन्मम देह एकस्थमेकस्मिन्नेवावयवरूपेण स्थितं जगत्कृत्स्नं समस्तं सचराचरं जङ्गमस्थावरसहितं तत्र तत्र परिभ्रमता वर्षकोटिसहस्रेणापि द्रष्टुमशक्यमद्याधुनैव पश्य हे गुडाकेश ! यच्चान्यज्जयपराजयादिकं द्रष्टुमिच्छसि तदपि संदेहोच्छेदाय पश्य ॥ 7 ॥

14 यत्तूक्तं 'मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुम्' इति तत्र विशेषमाह –

नतु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ 8 ॥

को भी मुझमें देखो – यह अर्थ है । हे भारत[9] ! मनुष्यलोक में तुमने या तुमसे अन्य किसी ने भी जिनको पहले कभी नहीं देखा है ऐसे बहुत से अन्य-अन्य आश्चर्य = अद्भुत रूपों को देखो । यहाँ 'बहूनि' और आदित्यान्' -- इत्यादि पद पूर्व श्लोक के 'शतशोऽथ सहस्रश: नानाविधानि'– इन पदों के विवरण हैं । इसी प्रकार 'अदृष्टपूर्वाणि' पद 'दिव्यानि' पद का और 'आश्चर्याणि' पद 'नानावर्णाकृतीनि' पद का विवरण है -- यह समझना चाहिए ॥ 6 ॥

12 न केवल इतना ही, अपितु समस्त जगत् को मेरे शरीर में स्थित देख सकते हो – यह कहते हैं :-- [हे गुडाकेश ! अब इस मेरे शरीर में एक ही स्थान पर स्थित हुए चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् को देखो तथा अन्य भी जो कुछ देखना चाहते हो वह भी देखो ॥ 7 ॥]

13 इह-अस्मिन् = इस मेरे देह में एकस्थ = एक ही में अवयवरूप से स्थित समस्त सचराचर = जङ्गमस्थावरसहित जगत् को, जिसको वहाँ-वहाँ घूमकर सहस्र-कोटि वर्षों में भी नहीं देखा जा सकता है, अब = इसी समय देखो हे गुडाकेश[10] ! इसके अतिरिक्त जो अन्य जय-पराजय आदिक तुम देखना चाहते हो वह भी अपने संदेह की निवृत्ति के लिए देखो ॥ 7 ॥

14 अर्जुन ने जो यह कहा कि 'मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुम्' = 'यदि आप समझते हैं कि आपका वह ऐश्वररूप मेरे द्वारा दर्शन किये जाने योग्य है तो आप दर्शन कराइये' – उसमें भगवान् विशेष कहते हैं --

[किन्तु अर्जुन ! तुम मुझको अपने इन प्राकृत नेत्रों से ही नहीं देख सकते हो, अतएव मैं तुमको दिव्य अर्थात् अप्राकृत नेत्र देता हूँ उनसे तुम मेरा ऐश्वर योग देखो ॥ 8 ॥]

---

9. भरतवंश जैसे उत्तम वंश में उद्भव होने के कारण अर्जुन को भगवान् के ऐश्वररूप का दर्शन करने का अधिकार है – यह सूचित करने के लिए भगवान् ने हे भारत ! सम्बोधन किया है । अथवा, जिस वंश में अर्जुन का जन्म हुआ है उस वंश में उत्पन्न किसी भी साधुजन ने ऐश्वररूप को नहीं देखा है, अतएव अर्जुन भरतवंश में श्रेष्ठ है -- यह सूचित करने के लिए 'भारत' शब्द से भगवान् ने सम्बोधन किया है ।

10. 'गुडाका' का अर्थ है निद्रा । निद्रा तमोगुण का लक्षण है, जो निद्रा के वशीभूत रहता है उसमें भगवान् के ऐश्वररूप के दर्शन की योग्यता नहीं होती है, किन्तु अर्जुन गुडाकेश अर्थात् जितनिद्र है अतएव अर्जुन में ऐश्वररूप के दर्शन की योग्यता है – यह सूचित करने के लिए ही 'गुडाकेश' सम्बोधन का प्रयोग है ।

15 अनेनैव प्राकृतेन स्वचक्षुषा स्वभावसिद्धेन चक्षुषा मां दिव्यरूपं द्रष्टुं न तु शक्यसे न शक्नोषि तु एव । शक्ष्यस इति पाठे शक्तो न भविष्यसीत्यर्थः । सौवादिकस्यापि शक्नोतेर्दैवादिकः श्यंश्छान्दस इति वा । दिवादौ पाठो वेत्येव सांप्रदायिकम् ।

16 तर्हि त्वां द्रष्टुं कथं शक्नुयामत आह- दिव्यमप्राकृतं मम दिव्यरूपदर्शनक्षमं ददामि ते तुभ्यं चक्षुस्तेन दिव्येन चक्षुषा पश्य मे योगमघटनघटनासामर्थ्यातिशयमैश्वरमीश्वरस्य ममासाधारणम् ॥ 8 ॥

17 भगवानर्जुनाय दिव्यं रूपं दर्शितवान् । स च तद्दृष्ट्वा विस्मयाविष्टो भगवन्तं विज्ञापितवानितीमं वृत्तान्तमेवमुक्त्वेत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैर्धृतराष्ट्रं प्रति –

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ 9 ॥

15 तुम अपने इन प्राकृत = प्रकृति से निर्मित अर्थात् स्वभावसिद्ध नेत्रों से ही दिव्यरूप मुझको नहीं देख सकते हो -- यह ठीक ही है । 'शक्ष्यसे' – यदि यह पाठ है तो 'देखने में शक्त = समर्थ नहीं होओगे' – यह अर्थ होगा । यहाँ 'शक्यसे' पाठ में सौवादिक = स्वादिगण में पठित 'शक्[11]' धातु से तिङ् प्रत्ययों से पूर्व लगनेवाले 'श्नु' विकरण के स्थान पर दैवादिक = दिवादिगण की धातुओं से तिङ् प्रत्ययों से पूर्व लगनेवाला 'श्यन्[12]' विकरण[13] हुआ है, अथवा यह छान्दस पाठ है । अथवा यह दिवादिगण में पठित 'शक्[15]' धातु से रचित पाठ है – यही साम्प्रदायिक मत है ।

16 'तो फिर मैं आपको कैसे देख सकता हूँ' – इस शंका से भगवान् कहते हैं -- मैं तुमको दिव्य = अप्राकृत-स्वभावसिद्ध से अतिरिक्त अर्थात् मेरे दिव्यरूप का दर्शन करने में समर्थ नेत्र देता हूँ, उन दिव्य नेत्रों से तुम मेरे ऐश्वर अर्थात् मुझ ईश्वर के असाधारण योग = अघटनघटनासामर्थ्य -- अघटित को घटित करने के सामर्थ्य के अतिशय को देखो ॥ 8 ॥

17 'भगवान् ने अर्जुन को दिव्यरूप दिखाया और अर्जुन ने उस रूपको देखकर आश्चर्ययुक्त हो भगवान् से प्रार्थना की' -- यही वृत्तान्त 'एवमुक्त्वा'-- इत्यादि छः श्लोकों से धृतराष्ट्र के प्रति सञ्जय ने कहा --

---

11. 'शक्लृ शक्तौ' (स्वादिगण, 16) = स्वादिगण में पठित परस्मैपदी 'शक्' धातु 'सकना, समर्थ होना, सहना, शक्तियुक्त होना' के अर्थ में होती है । 'स्वादिभ्यः श्नुः' (पाणिनिसूत्र, 3.1.73) = स्वादिगण की धातुओं से तिङ् प्रत्ययों से पूर्व 'श्नु' (नु) विकरण लगता है । जैसे – शक् + श्नु (नु) + ति = 'शक्नोति' -- इत्यादि ।

12. 'दिवादिभ्यः श्यन्' (पाणिनिसूत्र, 3.1.69) = दिवादिगण की धातुओं से तिङ् प्रत्ययों से पूर्व ' श्यन्' (य) विकरण लगता है । यहाँ विकल्प यह किया गया है कि 'शक्यसे' पाठ में स्वादिगण की 'शक्' धातु से लगनेवाले 'श्नु' विकरण के स्थान पर दिवादिगण की धातुओं से लगने वाला 'श्यन् ' विकरण हुआ है अर्थात् यहाँ पदविकरणव्यत्यय है ।

13. धातुरूपरचनापरक निविष्ट जोड = अनुषंगी को 'विकरण' कहते हैं । धातुरूपों की रचना के समय धातु और तिङ् प्रत्ययों के बीच में जोडे जानेवाला गणद्योतक चिह्न 'विकरण' कहलाता है ।

14. 'छान्दस' वैदिक या आर्ष प्रयोग को कहते है ।

15. 'शक विभाषितो मर्षणे' (दिवादिगण, 76) = दिवादिगण में पठित विभाषित = उभयपदी 'शक्' धातु 'मर्षण = सहना, समर्थ होना' के अर्थ में होती है । दिवादिगण की धातुओं से 'श्यन्' विकरण लगता है । जैसे :-- शक् + श्यन् (य) + ति-ते = शक्यति -- शक्यते इत्यादि । प्रकृत में 'शक्यसे' पाठ दिवादिगण में पठित 'शक्' धातु से रचित पाठ ही है – ऐसा साम्प्रदायिक मत है ।

18 एवं नतु मां शक्यसे द्रष्टुमनेन चक्षुषाऽतो दिव्यं ददामि ते चक्षुरित्युक्त्वा ततो दिव्यचक्षुः-प्रदानादनन्तरं हे राजन्धृतराष्ट्र स्थिरो भव श्रवणाय । महान्सर्वोत्कृष्टश्चासौ योगेश्वरश्चेति महायोगेश्वरो हरिर्भक्तानां सर्वक्लेशापहारी भगवान्दर्शनायोग्यमपि दर्शयामास पार्थायैकान्त-भक्ताय परमं दिव्यं रूपमैश्वरम् ॥ 9 ॥

19 तदेव रूपं विशिनष्टि –

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ 10 ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ 11 ॥

20 अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिन्रूपे, अनेकानामद्भुतानां विस्मयहेतूनां दर्शनं यस्मिन्, अनेकानि दिव्यान्याभरणानि भूषणानि यस्मिन्, दिव्यान्यनेकान्युद्यतान्यायुधानि अस्त्राणि यस्मिंस्तत्तथारूपम् ॥ 10 ॥

[सञ्जय ने कहा -- हे राजन् ! महायोगेश्वर हरि अर्थात् भक्तों के सर्वक्लेशापहारी भगवान् ने इस प्रकार कहकर उसके उपरान्त अर्जुन को अपना परम ऐश्वर रूप दिखाया ॥ 9 ॥]

18 'अर्जुन ! तुम मुझको अपने इन चर्मचक्षुओं से तो नहीं देख सकते हो, अत: मैं तुमको दिव्यचक्षु देता हूँ' -- इस प्रकार कहकर तदुपरान्त = दिव्यचक्षु प्रदान करने के अनन्तर – हे राजन्[16] ! हे धृतराष्ट्र ! सुनने के लिए स्थिर हो जाओ -- महायोगेश्वर[17] = जो महान् -- सर्वोत्कृष्ट हैं और योगेश्वर भी हैं उन महायोगेश्वर हरि[18] अर्थात् भक्तों के सब प्रकार के क्लेशों को हरनेवाले भगवान् ने अपने एकान्त--अनन्य भक्त अर्जुन को चर्मचक्षुओं से दर्शन के अयोग्य भी अपना परम दिव्य ऐश्वर रूप दिखाया ॥ 9 ॥

19 उसी रूप के विशेषण कहते हैं --
[जो अनेक मुख और नेत्रोंवाला, अनेक अद्भुत दर्शनोंवाला, अनेक दिव्य आभूषणोंवाला, अनेक दिव्य आयुधों को उठाए हुए, दिव्य माला और वस्त्र धारण किये हुए, दिव्य गन्धका अनुलेपन किये हुए, सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त, देव = द्योतनात्मक, अनन्त और विश्वतोमुख = सब ओर मुखवाला था -- उस रूप को भगवान् ने दिखाया अथवा अर्जुन ने देखा ॥ 10–11 ॥]

20 जिस रूप में अनेक मुख और नेत्र थे, जिसमें अनेक अद्भुत-विस्मय के हेतुओं का दर्शन था, जिसमें अनेक दिव्य आभूषण थे तथा जिसमें अनेक दिव्य आयुध – अस्त्र उठाये हुए थे उस ऐसे रूप को दिखाया -- देखा ॥ 10 ॥

---

16. महायोगेश्वर, हरि-कृष्ण से अनुगृहीत पाण्डवों के साथ आपने सन्धि नहीं की और न कर रहे हो, अत: आप राजनीति से हीन नाममात्र के राजा हो – यह 'हे राजन्' – सम्बोधन से ध्वनित किया गया है ।

17. भगवान् विश्वरूपप्रदर्शन आदि जिस किसी भी प्रकार से पाण्डवों के दु:खों को हरने में अतिसमर्थ हैं – यह 'महायोगेश्वर' शब्द से सूचित किया गया है ।

18. हरत्यविद्यां सकार्यामिति हरि: = जो भक्तों की अविद्या और उसके कार्यों को हरते हैं वे 'हरि' हैं । 'हरि' शब्द से यह कहा गया है कि भगवान् अपने भक्त पाण्डवों के दु:खों का हरण करने में उद्यत – तत्पर हैं ।

21 दिव्यानि माल्यानि पुष्पमयानि रत्नमयानि च तथा दिव्याम्बराणि वस्त्राणि च ध्रियन्ते येन तद्दिव्यमाल्याम्बरधरं, दिव्यो गन्धोऽस्येति दिव्यगन्धस्तदनुलेपनं यस्य तत्, सर्वाश्चर्यमयमनेकाद्भुतप्रचुरं, देवं द्योतनात्मकम्, अनन्तमपरिच्छिन्नं, विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्मिंस्तद्रूपं दर्शयामासेति पूर्वेण संबन्धः । अर्जुनो ददर्शेत्यध्याहारो वा ॥ 11 ॥

22 देवमित्युक्तं विवृणोति –

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ 12 ॥

23 दिवि अन्तरिक्षे सूर्याणां सहस्रस्यापरिमितसूर्यसमूहस्य युगपदुदितस्य युगपदुत्थिता भाः प्रभा यदि भवेत्तदा सा तस्य महात्मनो विश्वरूपस्य भासो दीप्तेः सदृशी तुल्या यदि स्याद्यदि वा न स्यात्ततोऽपि नूनं विश्वरूपस्यैव भा अतिरिच्येतेत्यहं मन्ये, अन्या तूपमा नास्त्येवेत्यर्थः । अत्रा-

---

21 जिससे दिव्य पुष्पमय और रत्नमय मालाएँ तथा दिव्य वस्त्र धारण किये हुए थे उस दिव्यमाल्याम्बरधर को; जिसका दिव्यगन्ध का अनुलेपन था उसको; जो सर्वाश्चर्यमय = अनेक अद्भुतप्राचुर्य से युक्त, देव = द्योतनात्मक, अनन्त = अपरिच्छिन्न था उसको, तथा जिसमें विश्वतः -- सर्वतः अर्थात् सब ओर मुख थे उस रूप को भगवान् ने दिखाया -- यह पूर्व के साथ सम्बन्ध है । अथवा, उस रूप को अर्जुन ने देखा -- यह अध्याहार करना चाहिए ॥ 11 ॥

22 भगवान् के उस रूप को जो 'देव' कहा है उसका विवरण करते हैं –
[आकाश में यदि हजार सूर्यों के एकसाथ उदित होने से उत्थित – उत्पन्न जो प्रभा हो तो कदाचित् वह उस विश्वरूप महात्मा के भास-तेज के सदृश हो सकती है और नहीं भी हो सकती है ॥ 12 ॥]

23 दिवि = अन्तरिक्ष में यदि हजार सूर्यों अर्थात् अपरिमित सूर्यसमूह के एकसाथ उदित होने से एक साथ उत्थित -- प्रकट हुई जो भा-प्रभा हो तो कदाचित् वह उस विश्वरूप महात्मा के भास--दीप्ति के सदृश -- तुल्य हो सकती है अथवा नहीं भी हो सकती है, उस प्रभा से भी निश्चय ही विश्वरूप की ही भा-प्रभा-कान्ति अधिक होगी -- यह मैं मानता हूँ, वस्तुतः उस प्रभा की कोई दूसरी उपमा तो है ही नहीं -- यह अर्थ है । यहाँ अविद्यमान का अध्यवसाय होने से और तदभाव = उपमा के अभाव से उपमाभावपरक होने से अभूतोपमारूपा अतिशयोक्ति[19] उत्प्रेक्षा[20] की व्यञ्जना करती

---

19. 'अध्यवसाये अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः' (अलङ्कारसर्वस्व, सूत्र 23) = अध्यवसाय में यदि अध्यवसित – विषयी की प्रधानता हो तो 'अतिशयोक्ति' अलंकार होता है । 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् = 'यद्यर्थस्य' यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनम् (अर्थादसम्भविनोऽर्थस्य) सा तृतीया' (काव्यप्रकाश, सूत्र 153) = 'यद्यर्थ' के अर्थात् 'यदि' शब्द से अथवा उसके समानार्थक 'चेत् ' शब्द के द्वारा कथन करने में जो कल्पना अर्थात् असम्भव अर्थ की कल्पना है वह तीसरे प्रकार की 'अतिशयोक्ति' होती है । उसमें जब उपमा का ही अभाव होता है तो **'अभूतोपमारूपा अतिशयोक्ति' होती है । शोभाकरमित्र ने अपने 'अलङ्काररत्नाकर' ग्रन्थ में इस अतिशयोक्तिभेद को** 'क्रियातिपत्ति' नामक अलंकार माना है (यद्यर्थोक्तावसम्भाव्यमानस्य क्रियातिपत्तिः, अलङ्काररत्नाकर, 36) ।

20. मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥ (काव्यादर्श, 2.234)

'मन्ये, शङ्के, ध्रुवम्, प्रायः, नूनम् आदि शब्दों से उत्प्रेक्षा की प्रतीति होती है, और इव शब्द से भी उसकी प्रतीति होती है ।

विद्यमानाध्यवसायात्तदभावेनोपमाभावपरादभूतोपमारूपेयमतिशयोक्तिरुत्प्रेक्षां व्यञ्जयन्ती सर्वथा निरुपमत्वमेव व्यनक्ति उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावित्यादिवत् ॥ 12 ॥

24 इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्' इति भगवदाज्ञप्तमप्यनुभूतवानर्जुन इत्याह –

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ 13 ॥

25 एकस्थमेकत्र स्थितं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा देवपितृमनुष्यादिनानाप्रकारैरपश्यद्देवदेवस्य भगवतः तत्र विश्वरूपे शरीरे पाण्डवोऽर्जुनस्तदा विश्वरूपाश्चर्यदर्शनदशायाम् ॥ 13 ॥

26 एवमद्भुतदर्शनेऽप्यर्जुनो न बिभयांचकार, नापि नेत्रे संचचार, नापि संभ्रमात्कर्तव्यं विसस्मार, नापि तस्माद्देशादपससार, किं त्वतिधीरत्वात्तत्कालोचितमेव व्यवजहार महति चित्तक्षोभेऽपीत्याह –

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ 14 ॥

हुई सर्वथा निरुपमत्व को ही व्यक्त करती है, जैसे माघ कवि द्वारा उक्त 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहौ[21]' -- इत्यादि श्लोक में निरुपमत्व व्यक्त किया गया है[22] ॥ 12 ॥

24 'अब इस मेरे शरीर में एक ही स्थान पर स्थित हुए चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् को देखो' – इस प्रकार भगवान् के द्वारा आज्ञप्त = उक्त का अर्जुन ने अनुभव किया – यह सञ्जय कहते हैं :– [तब अर्थात् विश्वरूप आश्चर्य के दर्शन की दशा में पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उस देवों के देव भगवान् कृष्ण के विश्वरूप शरीर में एक ही स्थान पर स्थित अनेक प्रकार से विभक्त हुए सम्पूर्ण जगत् को देखा ॥ 13 ॥]

25 तदा = तब अर्थात् विश्वरूप आश्चर्य के दर्शन की दशा में पाण्डव[23] = पाण्डुपुत्र अर्जुन ने देवों के देव भगवान् के तत्र = विश्वरूप शरीर में एकस्थ = एकत्र – एक ही स्थान पर स्थित अनेकधा = अनेक प्रकार से अर्थात् देव, पितृ, मनुष्य आदि नाना प्रकार से विभक्त हुए सम्पूर्ण जगत् को देखा ॥ 13 ॥

26 ऐसा अद्भुत दर्शन करने पर भी अर्जुन न भयभीत हुए, न उनके नेत्रों में संचार हुआ, न संभ्रम से अपने कर्तव्य को भूले और न उस देश-स्थान से ही हटे, किन्तु उन्होंने अतिधीर = अत्यन्त

---

21. 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ॥
तदोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥ (शिशुपालवध, 3.8)
'आकाश में यदि आकाशगंगा के जल के दो पृथक् प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर बहने लगे तो कदाचित् वह मौक्तिक माला की दो लड़ियों से विभूषित भगवान् कृष्ण के तमालनील वक्ष के सदृश हो सकता है' ।

22. तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार माघ ने भगवान् के वक्षःस्थल पर विभूषित मौक्तिक माला की दो लड़ियों की आकाश में असम्भावित दो गंगा प्रवाहों से उपमा देकर निरुपमत्व ही व्यक्त किया है उसी प्रकार प्रकृत प्रसंग में विश्वरूप महात्मा के तेज की आकाश में असम्भावित हजार सूर्यों के एक साथ उदित होने से उत्थित प्रभा से उपमा देकर और उसके अभाव में अन्य कोई उपमान न कहकर अभूतोपमारूपा अतिशयोक्ति से उत्प्रेक्षा की व्यञ्जना करते हुए भगवद्दीप्ति का निरुपमत्व ही व्यक्त किया है ।

23. यहाँ 'पाण्डव' शब्द से यह ध्वनित किया गया है कि भगवान् के भक्त अर्जुन के पिता पाण्डु अत्यन्त भाग्यशाली थे और ईश्वर के विमुख रहनेवाले दुर्योधन के पिता धृतराष्ट्र अत्यन्त अभाग्यशाली थे ।

27 ततस्तद्दर्शनादनन्तरं विस्मयेनाद्भुतदर्शनप्रभावेनालौकिकचित्तचमत्कारविशेषेणाऽऽविष्टो व्याप्तः। अत एव हृष्टरोमा पुलकितः सन्स प्रख्यातमहादेवसङ्ग्रामादिप्रभावो धनंजयो युधिष्ठिरराजसूय उत्तरगोग्रहे च सर्वात्राज्ञो जित्वा धनमाहृतवानिति प्रथितमहापराक्रमोऽतिधीरः साक्षादग्निरिति वा महातेजस्वित्वात्, देवं तमेव विश्वरूपधरं नारायणं शिरसा भूमिलग्नेन प्रणम्य प्रकर्षेण भक्तिश्रद्धातिशयेन नत्वा नमस्कृत्य कृताञ्जलिः संपुटीकृतहस्त युग्मः सन्नभाषतोक्तवान्। अत्र विस्मयाख्यस्थायिभावस्यार्जुनगतस्याऽऽलम्बनविभावेन भगवता विश्वरूपेणोद्दीपनविभावेनासकृ-

धैर्यवान् होने से चित्त में महान् क्षोभ होने पर भी तत्कालोचित ही व्यवहार किया -- यह सञ्जय कहते हैं --

[तब अर्थात् अद्भुत दर्शन करने के अनन्तर आश्चर्य से युक्त हुए अतएव रोमाञ्चित होकर अर्जुन ने देव = विश्वरूपधर भगवान् को शिर से प्रणाम कर हाथ जोड़कर कहा ।। 14 ।।]

27 ततः = तब अर्थात् अद्भुत दर्शन करने के अनन्तर विस्मय -- आश्चर्य से अर्थात् अद्भुतदर्शन-जनित चित्त के अलौकिक चमत्कारविशेष से आविष्ट = व्याप्त हुए अतएव हृष्टरोमा = पुलकित होकर प्रख्यात महादेवसंग्रामादि प्रभाववाले धनंजय ने = युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में और विराटपुत्र उत्तर के गोग्रहण में सब राजाओं को जीतकर धन एकत्रित किया था -- इस प्रकार प्रथित -- विख्यात महापराक्रमी अतएव अतिधीर अथवा महातेजस्वी होने से साक्षात् अग्नि अर्जुन ने देव अर्थात् उस विश्वरूपधर नारायण देव को ही भूमिलग्न शिर से प्रणाम कर = प्रकर्ष से अर्थात् भक्ति और श्रद्धा के अतिशय से नमस्कार कर कृताञ्जलि हो अर्थात् दोनों हाथ संपुटितकर--जोड़कर कहा । यहाँ विश्वरूप भगवान् आलम्बन विभाव[24]; उनका असकृत् = बार-बार दर्शन-उद्दीपन विभाव [25]; सात्त्विक रोमाञ्च, अञ्जलिकरणरूप नमस्कार-अनुभाव[26] और अनुभाव से आक्षिप्त अथवा धृति, मति, हर्ष, वितर्क आदि -- व्यभिचारी भाव[27] से अर्जुनगत 'विस्मय[28]' संज्ञक स्थायीभाव[29] के परिपोषण के

---

24. 'अर्थान्विभावयन्तीति विभावाः' (भावप्रकाशन) = जो पदार्थों का ज्ञान कराते हैं उन्हें 'विभाव' कहते हैं । वे दो प्रकार के होते हैं -- आलम्बनविभाव और उद्दीपन विभाव । जिसको आलम्बन करके रस की उत्पत्ति होती है उसको 'आलम्बन विभाव' कहते हैं । जैसे -- प्रकृत में विश्वरूप भगवान् को देखकर अर्जुन के मन में 'विस्मय' की उत्पत्ति हुई है, अतएव विश्वरूप भगवान् आलम्बन विभाव हैं ।

25. जिससे रस का उद्दीपन होता है उसको 'उद्दीपन-विभाव' कहते हैं । यहाँ विश्वरूप भगवान् का बार-बार दर्शन करना उद्दीपन विभाव है ।

26. 'विभावितार्थानुभूतिरनुभावः' (भावप्रकाशन) = विभावित अर्थों की अनुभूति 'अनुभाव' कही जाती है । रत्यादि स्थायीभाव की सूचना करनेवाले विकार 'अनुभाव' कहलाते हैं (अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः--दशरूपक) । यहाँ विस्मयसूचक विकार रोमाञ्च होना और हाथ जोड़कर नमस्कार करना -- अनुभाव हैं ।

27. अनवस्थितजन्मानो भूयोभूयः स्वभावतः ।
स्थायिना रसनिष्पत्तौ चरन्तो व्यभिचारिणः ।। (भावप्रकाशन)

'जिनका स्वभावतः बार-बार अस्थायी जन्म होता है, जो स्थायीभाव के साथ रस-निष्पत्ति में विचरण करते हैं -- वे 'व्यभिचारी-भाव' कहे जाते हैं ।'

28. 'विविधः स्मयो हर्ष इति विस्मयः' = विभिन्न प्रकार का आश्चर्य और हर्ष 'विस्मय' कहलाता है । 'विस्मयते विस्माप्यते स्वयं कश्चिद्विस्मापयतीति वा विस्मयः' = जो विस्मय करता है, जिससे विस्मय किया जाता है या कोई स्वयं विस्मय कराता है -- वह 'विस्मय' है (भावप्रकाशन) ।

29. अवस्थिताश्चिरं चित्ते सम्बन्धाद्यानुबन्धिभिः ।
वर्धिता ये रसात्मानः ते स्मृताः स्थायिनो बुधैः ।। (भावप्रकाशन)

तद्दर्शनेनानुभावेन सात्विकरोमहर्षेण नमस्कारेणाञ्जलिकरणेन च व्यभिचारिणा चानुभावाक्षिप्तेन वा धृतिमतिहर्षवितर्कादिना परिपोषात्सवासनानां श्रोतॄणां तादृशश्चित्तचमत्कारोऽपि तद्भेदानध्यवसायात्परिपोषं गतः परमानन्दास्वादरूपेणाद्भुतरसो भवतीति सूचितम् ॥ 14 ॥

28 **यद्भगवता दर्शितं विश्वरूपं तद्भगवद्दत्तेन दिव्येन चक्षुषा सर्वलोकादृश्यमपि पश्याम्यहो मम भाग्यप्रकर्ष इति स्वानुभवमाविष्कुर्वन् –**

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥15॥

29 **पश्यामि चाक्षुषज्ञानविषयी करोमि हे देव तव देहे विश्वरूपे देवान्वस्वादीन्सर्वान्, तथा भूतविशेषाणां स्थावराणां जङ्गमानां च नानासंस्थानानां संघान्समूहान्, तथा ब्रह्माणं चतुर्मुखमी-**

कारण वासनायुक्त श्रोताओं का तादृश चित्तचमत्कार[30] भी तद्भेदानवधारण से परिपुष्ट होकर परमानन्द-आस्वादरूप से अद्भुत-रस[31] होता है -- यह सूचित किया गया है ।। 14 ।।

28 'भगवान् ने जो विश्वरूप दिखाया है उस सर्वलोकादृश्य को भी मैं भगवान् के दिये हुए दिव्य चक्षुओं से देख रहा हूं । अहो ! मेरा कैसा भाग्योदय है' -- इस प्रकार अपने अनुभव का आविष्कार करते हुए अर्जुन ने कहा :--

[अर्जुन ने कहा -- हे देव ! मैं आपके शरीर में समस्त देवों, भूतविशेष = स्थावर और जंगम के अनेक समुदायों, कमलासन पर बैठे हुए ईश ब्रह्मा, समस्त ऋषियों और दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ ।। 15 ।।]

29 हे देव[32] ! मैं आपके विश्वरूप शरीर में वसु आदि समस्त देवों[33] को, तथा भूतविशेषों अर्थात् स्थावरों और जंगमों के अनेक संस्थानों के संघों = समूहों को, तथा कमलासन पर बैठे हुए =

'जो चित्त में चिरकाल तक अवस्थित रहते हैं, जो रसानुबन्धों के सहयोग से वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा जो रसरूप हैं वे विद्वानों द्वारा 'स्थायीभाव' कहे जाते हैं ।

30. 'चित्तचमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः' (साहित्यदर्पण) = विस्मय नामक चित्त का विस्तार 'चित्तचमत्कार' कहलाता है । 'चित्त का विस्तार' स्वाद का एक प्रकार है । काव्य के परिशीलन से सहृदय में विशेष प्रकार के आनन्द का उत्पन्न होना 'स्वाद' कहलाता है । चित्तविस्ताररूप स्वाद की स्थिति वीर तथा अद्भुत रस में होती है (द्रष्टव्य – दशरूपक, 4.43-44) ।

31. विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ।। (सादित्यदर्पण, 3.1)

'सहृदय-हृदय में वासनारूप से विद्यमान रत्यादि स्थायीभाव, जब विभाव, अनुभाव और संचारी – व्यभिचारीभाव के द्वारा अभिव्यक्त हो उठते हैं, तब आस्वादरूप हो जाते हैं और 'रस' कहे जाया करते हैं ।' 'विस्मय' स्थायीभाव स्वरूप 'अद्भुत-रस' कहलाता है । अलौकिक वस्तु या दिव्यजन इसका 'आलम्बन' और उसका बार-बार दर्शन या गुणानुवाद 'उद्दीपन' होता है । रोमाञ्च, गद्गदस्वर आदि इसके 'अनुभाव' होते हैं । वितर्क, हर्ष, धृति आदि इसके 'व्यभिचारीभाव' होते हैं (साहित्यदर्पण) ।

32. भगवान् स्वयंप्रकाश हैं, उनको प्रकाशित करनेवाला दूसरा कोई भी नहीं है – यह स्पष्ट करने के लिये यहाँ 'देव' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

33. यद्यपि देवों का भूतविशेषसंघ में अन्तर्भाव है, किन्तु देवों के उत्कर्ष के कारण उनका पृथक उल्लेख किया गया है ।

शमीशितारं सर्वेषां कमलासनस्थं पृथ्वीपद्ममध्ये मेरुकर्णिकासनस्थं भगवन्नाभिकमलासनस्थमिति वा । तथा -- ऋषींश्च सर्वान्वशिष्ठादीन्ब्रह्मपुत्रान्, उरागांश्च दिव्यानप्राकृतान्वासुकिप्रभृतीन्पश्यामीति सर्वत्रान्वयः ॥ 15 ॥

30 यत्र भगवद्देहे सर्वमिदं दृष्टवान्, तमेव विशिनष्टि--

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वा सर्वतोनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवाऽऽदिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥16॥

31 बाहव उदराणि वक्त्राणि नेत्राणि चानेकानि यस्य तमनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वा त्वां सर्वतः सर्वत्रानन्तानि रूपाणि यस्येति तम् । तव तु पुनर्नान्तमवसानं न मध्यं नाप्यादिं पश्यामि सर्वगतत्वात्, हे विश्वेश्वर हे विश्वरूप संबोधनद्वयमतिसंभ्रमात् ॥ 16 ॥

32 तमेव विश्वरूपं भगवन्तं प्रकारान्तरेण विशिनष्टि --

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतोदीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्षं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ 17 ॥

पृथ्वीरूप पद्म-कमल के मध्य में मेरुकर्णिका के आसन पर बैठे हुए अथवा भगवान् के नाभिकमलरूप आसन पर बैठे हुए सबके ईश = नियामक चतुर्मुख ब्रह्मा[34] को, तथा ब्रह्मा के पुत्र वशिष्ठ आदि समस्त ऋषियों को और वासुकि आदि दिव्य अर्थात् अप्राकृत सर्पों को देख रहा हूँ = चाक्षुषज्ञान का विषय कर रहा हूँ । 'पश्यामि'- इस क्रिया पद का सर्वत्र = सबके साथ अन्वय है ॥ 15 ॥

30 भगवान् के जिस शरीर में यह सब अर्जुन ने देखा उसी शरीर का विशेषण कहते हैं :--
[हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! मैं आपको अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रोंवाला तथा सब ओर से अनन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ । मैं आपके न अन्त को, न मध्य को और न आदि को ही देख रहा हूँ ॥ 16 ॥]

31 जिनके बाहु, उदर, मुख और नेत्र अनेक हैं उन अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रोंवाले आपको मैं सर्वतः = सर्वत्र अनन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ । पुनः मैं आपके तो न अन्त को, न मध्य को और न आदि को ही देख रहा हूँ, क्योंकि आप सर्वगत हैं । हे विश्वेश्वर[35] ! हे विश्वरूप[36] ! -- ये दो सम्बोधन अत्यन्त संभ्रम के कारण कहे गये हैं ॥ 16 ॥

32 उन्हीं विश्वरूप भगवान् के प्रकारान्तर से विशेषण कहते हैं :--
[मैं आपको किरीट-मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त; सब ओर से दीप्तिमान् तेज का पुञ्ज; सब ओर से दीप्त अग्नि और सूर्य के समान द्युति-ज्योतियुक्त; दुर्निरीक्ष और अप्रमेयस्वरूप देख रहा हूँ ॥ 17 ॥]

---

34. यद्यपि ब्रह्मा का देवों में अन्तर्भाव है, किन्तु ब्रह्मा देवों के जनक होने के कारण सब देवों में श्रेष्ठ हैं, अतएव ब्रह्मा का पृथक् उल्लेख किया गया है ।

35. विश्व के आदि, मध्य और अन्तवाले होने पर भी भगवान् आदि, मध्य और अन्तवाले नहीं है, क्योंकि भगवान् विश्वरूप होने पर भी विश्वेश्वररूप हैं-- यह सूचित करने के लिए 'विश्वेश्वर' सम्बोधन का प्रयोग किया गया है ।

36. भगवान् के शरीर में विश्वदर्शन युक्तियुक्त ही है, कारण कि भगवान् विश्वरूप हैं, इसीलिए 'हे विश्वरूप !' सम्बोधन का प्रयोग है ।

33 किरीटगदाचक्रधारिणं च सर्वतोदीप्तिमन्तं तेजोराशिं च । अत एव दुर्निरीक्षं दिव्येन चक्षुषा विना निरीक्षितुमशक्यम् । सयकारपाठे दुःशब्दोऽपह्नववचनः । अनिरीक्ष्यमिति यावत् । दीप्तयोरनलार्कयोर्द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तमप्रमेयमित्थमयमिति परिच्छेत्तुमशक्यं त्वां समन्तात्सर्वतः पश्यामि दिव्येन चक्षुषा । अतोऽधिकारिभेदाद्दुर्निरीक्षं पश्यामीति न विरोधः ॥ 17 ॥

34 एवं तवातर्क्यनिरतिशयैश्वर्यदर्शनादनुमिनोमि –

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ 18 ॥

35 त्वमेवाक्षरं परमं ब्रह्म वेदितव्यं मुमुक्षुभिर्वेदान्तश्रवणादिना । त्वमेवास्य विश्वस्य परं प्रकृष्टं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानमाश्रयः । अत एव त्वमव्ययो नित्यः । शाश्वतस्य नित्यवेदप्रतिपाद्यतयाऽस्य धर्मस्य गोप्ता पालयिता । शाश्वतेति संबोधनं वा । तस्मिन्पक्षेऽऽव्ययो विनाशरहितः । अत एव सनातनश्चिरंतनः पुरुषो यः परमात्मा स एव त्वं मे मतो विदितोऽसि ॥ 18 ॥

36 किंच –

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वा दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ 19 ॥

---

33 मुकुट, गदा और चक्रधारी; सर्वतः = सब ओर से दीप्तिमान् तेज के पुञ्ज अतएव दुर्निरीक्ष = दिव्य चक्षुओं के बिना निरीक्ष -- दर्शन करने के अयोग्य = यकार सहित अर्थात् 'दुर्निरीक्ष्य' -- ऐसा पाठ होने पर 'दुः' शब्द अपह्नव – निषेधवाची है अतएव अनिरीक्ष्य अर्थात् दर्शन के अयोग्य; दीप्त-प्रज्वलित अग्नि और सूर्य की द्युति के समान द्युति -- कान्ति है जिसकी उस अप्रमेय = 'इत्थमयम्'- 'इस प्रकार के ये हैं' -- यह परिच्छेद -- निश्चय करने में अशक्य आपको मैं समन्तात् = सर्वतः = सब ओर से दिव्य चक्षुओं के द्वारा देख रहा हूँ । अतः अधिकारी-भेद के कारण यदि मैं आप दुर्निरीक्ष -- दुर्निरीक्ष्य को भी देख रहा हूँ तो इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ 17 ॥

34 इस प्रकार आपके अतर्क्य और निरतिशय ऐश्वर्य के दर्शन से मैं यह अनुमान करता हूँ कि :-- [आप ही वेदितव्य -- जानने के योग्य परम अक्षर हैं अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस विश्व के परम निधान-आश्रय हैं, आप ही अव्यय -- अविनाशी हैं, शाश्वत धर्म के गोप्ता -- रक्षक हैं और आप ही सनातन पुरुष हैं -- यह मेरा मत है ॥ 18 ॥]

35 आप ही मुमुक्षुओं के द्वारा वेदान्त के श्रवण आदि से वेदितव्य -- ज्ञातव्य -- जानने के योग्य परम अक्षर = परब्रह्म हैं । आप ही इस विश्व के परम -- प्रकृष्ट निधान = जिसमें जगत् निहित है वह निधान अर्थात् आश्रय हैं अतएव आप अव्यय = नित्य हैं तथा शाश्वत = नित्य वेद का प्रतिपाद्य होने से शाश्वत इस धर्म के गोप्ता -- पालयिता -- रक्षक हैं । अथवा 'शाश्वत' -- यह सम्बोधन है । उस पक्ष में अव्यय का अर्थ विनाशरहित होगा । अतएव सनातन = चिरन्तन पुरुष जो परमात्मा है वही आप हैं -- यह मैं मानता अर्थात् जानता हूँ ॥ 18 ॥

36 इसके अतिरिक्त --
[मैं आपको आदि, मध्य और अन्त से रहित; अनन्तवीर्य = अनन्त प्रभाव से युक्त; अनन्तबाहु = अनन्त भुजाओंवाला; चन्द्र और सूर्यरूप नेत्रोंवाला; दीप्त-प्रदीप्त हुताश-अग्निरूप मुखवाला तथा अपने तेज से इस विश्व को संतप्त करते हुए देख रहा हूँ ॥ 19 ॥]

37 आदिरुत्पत्तिर्मध्यं स्थितिरन्तो विनाशस्तद्रहितमनादिमध्यान्तम् । अनन्तं वीर्यं प्रभावो यस्य तम् । अनन्ता बाहवो यस्य तम् । उपलक्षणमेतन्मुखादीनामपि । शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य तम् । दीप्तो हुताशो वक्त्रं यस्य वक्त्रेषु यस्येति वा तम् । स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तं संतापयन्तं त्वा त्वां पश्यामि ॥ 19 ॥

38 प्रकृतस्य भगवद्रूपस्य व्याप्तिमाह –

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ 20 ॥

39 द्यावापृथिव्योरिदमन्तरमन्तरिक्षं हि एव त्वयैवैकेन व्याप्तं दिशश्च सर्वा व्याप्ताः । दृष्ट्वाऽद्भुत-मत्यन्तविस्मयकरमिदमुग्रं दुरधिगमं महातेजस्वित्वात्तव रूपमुपलभ्य लोकत्रयं प्रव्यथितमत्यन्तभीतं जातं हे महात्मन्साधूनामभयदायक । इतः परमिदमुपसंहरेत्यभिप्रायः ॥ 20 ॥

40 अधुना भूभारसंहारकारित्वमात्मनः प्रकटयन्तं भगवन्तं पश्यन्नाह –

अमी हि त्वा सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।

---

37 आदि -- उत्पत्ति, मध्य -- स्थिति और अन्त -- विनाश--इनसे रहित अनादिमध्यान्त; अनन्त वीर्य = प्रभाव है जिनका उन अनन्तप्रभाव; अनन्त भुजाएँ हैं जिनकी उन अनन्तबाहु -- यह मुखादि का भी उपलक्षण है; चन्द्र और सूर्य जिनके नेत्र हैं उन शशिसूर्यनेत्र; दीप्त-प्रदीप्त अग्नि मुख है जिनका अथवा प्रदीप्त अग्नि मुख में है जिनके उन दीप्तहुताशवक्त्र; तथा अपने तेज से इस विश्व को तप्त -- संतप्त करते हुए आपको मैं देख रहा हूँ ।। 19 ।।

38 प्रकृत भगवद्-रूप की व्याप्ति कहते हैं :--
[हे महात्मन् ! यह द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य का सम्पूर्ण आकाश और सब दिशाएँ एक आपसे ही व्याप्त हैं । आपके इस अद्भुत और उग्र रूप को देखकर तीनों लोक प्रव्यथित = अत्यन्त भीत हो रहे हैं ।। 20 ।।]

39 द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य का यह अन्तर = अन्तरिक्ष एकमात्र आपसे ही व्याप्त है और सब दिशाएँ भी आपसे ही व्याप्त हैं । आपके इस अद्भुत = अत्यन्त विस्मयकर और उग्र = महातेजस्वी होने से दुरधिगम रूप को देखकर -- प्राप्त कर तीनों लोक प्रव्यथित = अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं । हे महात्मन[37] ! हे साधुओं को अभयदान देनेवाले आप इससे आगे इस रूप का उपसंहार कीजिए -- यह अभिप्राय है ।। 20 ।।

40 अब अपने भूभार के संहारकारित्व -- नाशकारित्व को प्रकट करते हुए भगवान् को देखते हुए अर्जुन कहते हैं --
[ये देवताओं के समूह आपमें प्रवेश कर रहे हैं, कोई तो भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपकी स्तुति भी कर रहे हैं, तथा महर्षि और सिद्धों के समूह 'स्वस्ति' = 'कल्याण हो' -- यह कहकर पुष्कल = अर्थपूर्ण स्तुतिवाक्यों से आपकी स्तुति कर रहे हैं ।। 21 ।।]

---

37. अक्षुद्र स्वभाव अतएव महात्मा आपका निर्दोषलोकपीडन उचित नहीं है– इस आशय से 'हे महात्मन् !' – यह सम्बोधन है ।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ 21 ॥

41 **अमी हि सुरसंघा वस्वादिदेवगणा भूभारावतारार्थं मनुष्यरूपेणावतीर्णा युध्यमानाः सन्तस्त्वा त्वां विशन्ति प्रविशन्तो दृश्यन्ते । एवमसुरसंघा इति पदच्छेदेन भूभारभूता दुर्योधनादयस्त्वां विशन्तीत्यपि वक्तव्यम् । एवमुभयोरपि सेनयोः केचिद्भीताः पलायनेऽप्यशक्ताः सन्तः प्राञ्जलयो गृणन्ति स्तुवन्ति त्वाम् । एवं प्रत्युपस्थिते युद्ध उत्पातादिनिमित्तान्युपलक्ष्य स्वस्त्यस्तु सर्वस्य जगत इत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघा नारदप्रभृतयो युद्धदर्शनार्थमागता विश्वविनाशपरिहाराय स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिर्गुणोत्कर्षप्रतिपादिकाभिर्वाग्भिः पुष्कलाभिः परिपूर्णार्थाभिः ॥ 21 ॥**

42 **किं चान्यत् –**

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वा विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ 22 ॥

43 **रुद्राश्चाऽऽदित्याश्च वसवो ये च साध्या नाम देवगणा विश्वे तुल्यविभक्तिकविश्वदेव-शब्दाभ्यामुच्यमाना देवगणा अश्विनौ नासत्यदस्रौ मरुत एकोनपञ्चाशद्देवगणा ऊष्मपाश्च पितरो**

41 ये सुरसंघ = वसु आदि देवगण भूभार -- पृथ्वी के भार को उतारने के लिए मनुष्यरूप से अवतीर्ण होकर युद्ध करते हुए आपमें प्रवेश कर रहे हैं -- प्रवेश करते दिखाई दे रहे हैं । इसीप्रकार 'त्वासुरसंघा' -- इस पद का 'त्वा + असुरसंघा' -- ऐसा परच्छेद करने से 'पृथ्वी के भारभूत दुर्योधन आदि असुरसंघ आपमें प्रवेश कर रहे हैं' -- यह भी कहा जा सकता है । इस प्रकार दोनों सेनाओं में से कोई तो भयभीत होकर भागने में भी असमर्थ होते हुए हाथ जोड़कर आपकी स्तुति कर रहे हैं । इसीप्रकार प्रत्युपस्थित -- उपस्थित युद्ध में उत्पातादि निमित्तों को देखकर 'सम्पूर्ण जगत् का कल्याण हो' -- यह कहकर युद्ध देखने के लिए आये हुए नारद आदि महर्षि और सिद्धों के समूह विश्वविनाश के परिहार के लिए पुष्कल = परिपूर्ण अर्थवाली स्तुतियों = गुणों के उत्कर्ष का प्रतिपादन करनेवाली वाणियों से आपकी स्तुति कर रहे हैं ।। 21 ।।

42 इसके अतिरिक्त अन्य --

[जो एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु, साध्य देवगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर-राक्षस और सिद्धगण हैं वे सब ही विस्मित हुए आपको देख रहे हैं ।। 22।।]

43 जो एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु और साध्य[38] नामक देवगण, विश्वे अर्थात् तुल्यविभक्तिक विश्व और देव -- शब्दों से उच्यमान विश्वेदेव[39] नामक देवगण तथा नासत्य और दस्र -- दो अश्विनीकुमार, मरुत् नामक उनचास देवगण, ऊष्मपा[40] = पितृगण तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और

38. साध्य: = साध्यमस्त्यस्येति । अर्शआदित्वादच् । गणदेवताविशेष: = देवों के एक वर्ग का नाम 'साध्य' है । **ये विराट अण्ड से प्रकट हुए हैं । ये योगशक्ति द्वारा प्राणियों पर शासन करते हैं । ये संख्या में बारह हैं – मन,** मन्ता, प्राण, नर, अपान, वीर्यवान्, विनिर्मय, नय, दस, नारायण, वृष और प्रभु ।

39. विश्वेदेव: = विश्वे दीव्यतीति । दिव् + अच् । गणदेवताविशेष: = देवों के एक वर्ग का नाम 'विश्वेदेव' है । ये 'विश्वा' के पुत्र कहे जाते हैं । ये सदा पितरों के साथ गोचर होते हैं अतएव ये श्राद्धदेव कहलाते हैं । ये संख्या में दस हैं -- क्रतु, दक्ष, वसु, सत्य, काम, काल, ध्वनि, रोचक, पुरुरवा और आद्रव ।

40. ऊष्मपा: = ऊष्माणं पिबन्तीत्यूष्मपा: पितर: = जो ऊष्ण – गर्म अन्न को पीते या ग्रहण करते हैं वे ऊष्मपा

गन्धर्वाणां यक्षाणामसुराणां सिद्धानां च जातिभेदानां संघाः समूहा वीक्षन्ते पश्यन्ति त्वा त्वां तादृशाद्भुतदर्शनात्ते सर्व एव विस्मिताश्च विस्मयमलौकिकचमत्कारविशेषमापद्यन्ते च ॥ 22 ॥

44 लोकत्रयं प्रव्यथितमित्युक्तमुपसंहरति—

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ 23 ॥

45 हे महाबाहो ते तव रूपं दृष्ट्वा लोकाः सर्वेऽपि प्राणिनः प्रव्यथितास्तथाऽहं प्रव्यथितो भयेन । कीदृशं ते रूपं महदतिप्रमाणं, बहूनि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्मिंस्तत्, बहवो बाहव ऊरवः पादाश्च यस्मिंस्तत्, बहून्युदराणि यस्मिंस्तत्, बहुभिर्दंष्ट्राभिः करालमतिभयानकं दृष्ट्वैव मत्सहिताः सर्वे लोका भयेन पीडिता इत्यर्थः ॥ 23 ॥

46 भयानकत्वमेव प्रपञ्चयति—

सिद्ध जातिभेदों के संघ = समूह[41] हैं वे सब ही आपको देख रहे हैं और आपके तादृश अद्भुतदर्शन से विस्मित हैं अर्थात् विस्मय = अलौकिक चमत्कारविशेष में पड़े हुए हैं ।। 22 ।।

44 'लोकत्रयं प्रव्यथितम्' = 'तीनों लोक अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं' -- इस प्रकार उक्त कथन का उपसंहार करते हैं :--

[हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले; बहुत हाथ, जंघा और पैरोंवाले; बहुत उदरोंवाले तथा बहुत सी विकराल दाढ़ोंवाले महान् रूप को देखकर सब लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं तथा मैं भी व्यथित हो रहा हूँ ।। 23 ।।]

45 हे महाबाहो[42] ! आपके रूप को देखकर सब लोक अर्थात् सभी प्राणी अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं तथा मैं भी भय से अत्यन्त व्यथित हूँ । कैसा आपका रूप है-- महान्[43] = अतिप्रमाणवाला, जिसमें बहुत मुख और नेत्र हैं, जिसमें बहुत भुजाएँ, जंघाएं और पैर हैं, जिसमें बहुत उदर हैं और जो बहुत दाढ़ों से कराल अर्थात् अत्यन्त भयानक है उस रूप को देखकर ही मेरे सहित सब लोक-प्राणी भय से पीडित हैं -- यह अर्थ है ।। 23 ।।

46 उक्त भगवद्-रूप की भयानकता का विस्तार करते हैं : --

अर्थात् पितर कहलाते हैं । पितरों की एक श्रेणी का नाम 'ऊष्मपा' है । श्रुतिवचन भी है – 'ऊष्मभागा हि पितरः' (कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1.3.10) = 'पितृगण ऊष्म – गर्म अन्न को ही अपने भाग के रूप में ग्रहण करते हैं अर्थात् पितर ऊष्मभागी होते हैं' । स्मृति भी कहती है –

'यावदुष्णं भवेदन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः ।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ।।'

'जब तक अन्न ऊष्म -- गर्म रहता है, जब तक भोजन करते हुए ब्राह्मण मौन होकर भोजन करते हैं और जबतक हविष्य के गुणों का वर्णन नहीं किया जाता है तब तक पितृगण उस अन्न का भोजन करते हैं ।'

41. अर्थात् हाहा – हूहू आदि गन्धर्व, कुबेरादि यक्ष, विरोचनादि असुर और कपिल आदि सिद्ध जातिभेदों के जो समूह हैं ।

42. भगवान् के विश्वरूपदर्शन से अर्जुन के मन में भगवान् के प्रति श्रद्धा की उत्तरोत्तर अधिक वृद्धि हो रही है, यही सूचित करने के लिए अर्जुन ने सम्बोधन किया है – 'हे महाबाहो !' = आपकी बाहु की शक्ति महान् – असीम है, अतः आप अनन्तशक्तिसम्पन्न हो ।

43. महान् अर्थात् आदि, मध्य और अन्त से शून्य है; अतिप्रमाणवाला है ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥24 ॥

47 **न केवलं प्रव्यथित एवाहं त्वां दृष्ट्वा किं तु प्रव्यथितोऽन्तरात्मा मनो यस्य सोऽहं धृतिं धैर्यं देहेन्द्रियादिधारणसामर्थ्यं शमं च मनःप्रसादं न विन्दामि न लभे हे विष्णो । त्वां कीदृशं नभः-स्पृशमन्तरिक्षव्यापिनं दीप्तं प्रज्वलितमनेकवर्णं भयंकरनानासंस्थानयुक्तं व्यात्ताननं विवृतमुखं दीप्तविशालनेत्रं प्रज्वलितविस्तीर्णचक्षुषं त्वां दृष्ट्वा हि एव प्रव्यथितान्तरात्माऽहं धृतिं शमं च न विन्दामीत्यन्वयः ॥ 24 ॥**

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ 25 ॥

48 **दंष्ट्राभिः करालानि विकृतत्वेन भयंकराणि प्रलयकालानलसदृशानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव न तु तानि प्राप्य भयवशेन दिशः पूर्वापरादिविवेकेन न जाने । अतो न लभे च शर्म सुखं त्वद्रूपद-**

[हे विष्णो ! आकाश का स्पृश किये हुए, दीप्त -- प्रदीप्त अनेक वर्णों से युक्त, व्यात्त -- विवृत्त मुखवाले, और दीप्त -- प्रज्वलित विशाल नेत्रोंवाले आपको देखकर ही प्रव्यथित – व्यथित अन्तरात्मा = अन्तःकरवाला मैं धैर्य और शान्ति का अनुभव नहीं कर रहा हूँ ॥ 24 ॥]

47 हे विष्णो[44] ! आपको देखकर न केवल प्रव्यथित -- व्यथित ही मैं, किन्तु व्यथित अन्तरात्मा = मन है जिसका वह मैं अर्थात् पीडितमना मैं धृति = धैर्य अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि को धारण करने के सामर्थ्य और शम – शान्ति = मनःप्रसाद को नहीं पा रहा हूँ । कैसे आपको देखकर – आकाश का स्पर्श किये हुए = अन्तरिक्षव्यापी, दीप्त -- प्रज्वलित अनेक वर्णवाले अर्थात् भयंकर नाना प्रकार के संस्थानों से युक्त, व्यात्तानन अर्थात् विवृत -- खुले हुए मुखवाले और दीप्त विशालनेत्रोंवाले अर्थात् प्रज्वलित विस्तीर्ण चक्षुओंवाले आपको देखकर ही व्यथित -- अन्तरात्मा मैं धैर्य और शम – शान्ति का अनुभव नहीं कर रहा हूँ -- यह अन्वय है ॥ 24 ॥

[आपके दाढ़ों से विकराल -- भयंकर और कालाग्निसदृश मुखों को देखकर ही मैं न तो दिशाओं को जान पा रहा हूँ और न शर्म -- सुख ही पा रहा हूँ, इसलिए हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये ॥ 25 ॥]

48 आपके दाढ़ों से कराल-विकराल अर्थात् विकृतरूप होने से भयंकर और प्रलयकाल की अग्नि के सदृश मुखों को देखकर ही, न कि उनको प्राप्त कर, भयवश मैं दिशाओं के पूर्व--पश्चिमादि भेद को नहीं जान पा रहा हूँ, अतः आपके रूप-स्वरूपदर्शन में भी सुख नहीं पा रहा हूँ । अतः हे देवेश ! हे जगन्निवास[45] ! आप मेरे प्रति प्रसन्न होइये, जिससे कि भय का अभाव होने से मैं आपके

---

44. आपकी व्यापनशीलता मैंने देख ली, अब और अधिक देखने का सामर्थ्य नहीं है – यह सूचित करते हुए अर्जुन ने 'हे विष्णो !' सम्बोधन किया है । अथवा, व्यापनशील आप तो मनोगत विचार को भी जानते हो – इस आशय से उक्त सम्बोधन है । हे विष्णो ! आप व्यापक हैं (बृहत्वात् विष्णुरुच्यते– महाभारत, 5.70.3), आप सब भूतों में रहते हैं और सब भूत आपमें ही प्रवेश करते हैं (विशति सर्वभूतानि विशन्ति सर्वभूतानि अत्रेति वा) अतएव आपसे आक्रान्त देश को त्यागकर अन्यत्र जाना भी सम्भव नहीं है– इस भाव से उक्त सम्बोधन है ।

45. जो स्वयंप्रकाश हैं वे देव हैं और जो अपनी सन्निधि से सबके ऊपर शासन करते हैं वे ईश हैं, अतः जो

र्शनेऽपि । अतो हे देवेश हे जगन्निवास प्रसीद प्रसन्नो भव मां प्रति । यथा भयाभावेन त्वद्दर्शनजं सुखं प्राप्नुयामिति शेषः ॥ 25 ॥

49 अस्माकं जयं परेषां पराजयं च सर्वदा द्रष्टुमिष्टं पश्य मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसीति भगवदादिष्टमधुना पश्यामीत्याह पञ्चभिः –

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ 26 ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ 27 ॥

50 अमी च धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनप्रभृतयः शतं सोदरा युयुत्सुं विना सर्वे त्वां त्वरमाणा विशन्तीत्यग्रेतनेनान्वयः । अतिभयसूचकत्वेन क्रियापदन्यूनत्वमत्र गुण एव । सहैवावनिपालानां शल्यादीनां राज्ञां संघैस्त्वां विशन्ति । न केवलं दुर्योधनादय एव विशन्ति किं तु अजेयत्वेन सर्वैः संभावितोऽपि भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः कर्णस्तथाऽसौ सर्वदा मम विद्वेष्टा सहास्मदीयैरपि परकीयैरिव धृष्टद्युम्नप्रभृतिभिर्योधमुख्यैस्त्वां विशन्तीति संबन्धः ॥ 26 ॥

51 अमी धृतराष्ट्रपुत्रप्रभृतयः सर्वेऽपि ते तव दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि त्वरमाणा विश-

---

दर्शन से होनेवाले सुख को प्राप्त करूँ -- यह अध्याहार करना चाहिए ॥ 25 ॥

49 अपनी जय और शत्रुओं की पराजय जो तुमको सर्वदा देखने में इष्ट - अभीष्ट है, हे गुडाकेश ! मेरे शरीर में देखो और जो कुछ देखना चाहते हो -- यह भगवान् से आदिष्ट इस समय देख रहा हूँ – यह पाँच श्लोकों से कहते हैं :--

[राजाओं के समूहों सहित ही ये सब धृतराष्ट्र के पुत्र आपमें प्रवेश कर रहे हैं । हमारे भी प्रधान योद्धाओं सहित भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य तथा यह सूतपुत्र-कर्ण आपके दाढ़ों से कराल-विकराल भयानक मुखों में शीघ्रता करते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कोई तो अपने चूर्ण हुए मस्तकों सहित आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दिखायी दे रहे हैं ॥ 26-27 ॥

50 ये धृतराष्ट्र के पुत्र = दुर्योधनादि सौ सोदर-सहोदर भाई युयुत्सु को छोड़कर सब शीघ्रता करते हुए आपमें प्रवेश कर रहे हैं -- 'विशन्ति' -- क्रिया आगे के श्लोक से अन्वित है । अत्यन्त भय की सूचक होने से क्रियापद की न्यूनता यहाँ गुण ही है । अवनिपाल अर्थात् शल्यादि राजाओं के समूहों सहित ही ये सब आपमें प्रवेश कर रहे हैं । न केवल दुर्योधन आदि ही प्रवेश कर रहे हैं, अपितु अजेय होने से सबके द्वारा संभावित -- सम्मानित भी भीष्म-पितामह, द्रोणाचार्य और यह सूतपुत्र -- कर्ण, जो मेरा सर्वदा विद्वेषी है, शत्रुवीरों के समान हमारे भी धृष्टद्युम्नादि प्रधान योद्धाओं सहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं -- यह अन्वय है ॥ 26 ॥

51 ये धृतराष्ट्रपुत्र आदि सभी आपके दाढ़ों से कराल -- भयानक मुखों में शीघ्रता करते हुए प्रवेश कर

देवस्वरूप ईश हैं वे 'देवेश' हैं । जो जगत् के आधार हैं, सभी प्राणी जिनको आश्रय कर जीवित रहते हैं वे 'जगन्निवास' हैं । उक्त प्रकार से मैंने आपके देवेशत्व और जगन्निवासत्व का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है जिसके लिए मेरी प्रार्थना थी – यह सूचित करने के लिए सम्बोधनद्वय हैं ।

न्ति । तत्र च केचिच्चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः शिरोभिर्विशिष्टा दशनान्तरेषु विलग्रा विशेषेण संलग्ना दृश्यन्ते मया सम्यगसंदेहेन ॥27॥

52 राज्ञां भगवन्मुखप्रवेशने निदर्शनमाह–

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति ॥28॥

53 यथा नदीनामनेकमार्गप्रवृत्तानां बहवोऽम्बूनां जलानां वेगा वेगवन्तः प्रवाहाः समुद्राभिमुखाः सन्तः समुद्रमेव द्रवन्ति विशन्ति तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितः सर्वतो ज्वलन्ति । अभिविज्वलन्तीति वा पाठः ॥28 ॥

54 अबुद्धिपूर्वकप्रवेशे नदीवेगं दृष्टान्तमुक्त्वा बुद्धिपूर्वकप्रवेशे दृष्टान्तमाह–

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥29॥

55 यथा पतङ्गा शलभाः समृद्धवेगाः सन्तो बुद्धिपूर्वं प्रदीप्तं ज्वलनं विशन्ति नाशाय मरणायैव

रहे हैं । उनमें से कोई तो मुझको सम्यक्रूपेण निस्सन्देह चूर्ण हुए शिरों से विशिष्ट-युक्त आपके दाँतों के बीच में विलग्र -- विशेषरूप से लगे हुए दिखाई दे रहे हैं[46] ॥ 27 ॥

52 राजाओं के भगवान् के मुख में प्रवेश करने में दृष्टान्त कहते हैं :--
[जैसे नदियों के बहुत से जलप्रवाह समुद्र की ओर ही अभिमुख होकर बहते हैं अर्थात् समुद्र में ही प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये नरलोक -- मनुष्यलोक के वीर पुरुष आपके चारों ओर से ज्वलित--प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं ॥ 28 ॥]

53 जिस प्रकार अनेक मार्गों में प्रवृत्त -- प्रवाहित -- बहती हुई नदियों के बहुत से जलों के वेग = वेगवान् प्रवाह समुद्र की ओर अभिमुख होकर समुद्र में ही द्रवित होते हैं-- मिलते हैं अर्थात् प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ये नरलोक के वीरपुरुष आपके अभितः -- सर्वतः = सब ओर से जलते हुए मुखों में प्रवेश कर रहे हैं । अथवा, 'अभितो ज्वलन्ति' के स्थान पर 'अभिविज्वलन्ति' – यह पाठ होने पर भी उक्त अर्थ ही है ॥ 28 ॥

54 अबुद्धिपूर्वक प्रवेश में नदीवेग का दृष्टान्त कहकर बुद्धिपूर्वक प्रवेश में दृष्टान्त कहते हैं :--
[जैसे पतङ्गा अपने नाश के लिए प्रदीप्त -- प्रज्वलित अग्नि में अतिवेग से युक्त हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये दुर्योधन आदि लोक -- प्राणी भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में अतिवेग से युक्त हुए प्रवेश कर रहे हैं ॥ 29 ॥]

55 जिसप्रकार पतङ्गा -- शलभ अतिवेगवान् होकर बुद्धिपूर्वक = जान-बूझकर स्वनाश के लिए अर्थात्

46. नीलकण्ठी व्याख्या के अनुसार अन्वय यह है –'अवनिपालसंघैः सहैव अमी सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्राः त्वां (विशन्ति)। अस्मदीयैरपि योधमुख्यैः सह भीष्मो द्रोणः तथाऽसौ सूतपुत्रः ते दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि त्वरमाणा विशन्ति ।केचित् चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः दशनान्तरेषु विलग्नाः संदृश्यन्ते ।' अतएव भाव यह है – ये पापिष्ठ धृतराष्ट्र के पुत्र आप – भगवान्– त्रैलोक्यशरीर में ही प्रवेश कर रहे हैं अर्थात् ये पापानुरूप भगवद् – शरीर के पायुस्थान में स्थित नरकों को ही जा रहे हैं । भीष्मादि भक्त तो जिससे अग्नि, ब्राह्मण और वेद उत्पन्न हुए हैं एवंरूप आप – भगवान् के मुख में प्रवेश कर रहे हैं – इस प्रकार की वैषम्यगति को सूचित करते के लिए 'धृतराष्ट्रस्य पुत्राः त्वां विशन्ति' और 'भीष्मादयस्ते वक्त्राणि विशन्ति' – यह विभागदर्शन युक्त ही है ।

तथैव नाशाय विशन्ति लोका एते दुर्योधनप्रभृतयः सर्वेऽपि तव वक्त्राणि समृद्धवेगा बुद्धिपूर्वमनायत्या ॥29॥

56 योद्धुकामानां राज्ञां भगवन्मुखप्रवेशप्रकारमुक्त्वा तदा भगवतस्तद्भासां च प्रवृत्तिप्रकारमाह--

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥30 ॥

57 एवं वेगेन प्रविशतो लोकान्दुर्योधनादीन्समग्रान्सर्वान्ग्रसमानोऽन्तः प्रवेशयज्ज्वलद्भिर्वदनैः समन्तात्सर्वतस्त्वं लेलिह्यसे आस्वादयसि तेजोभिर्भाभिरापूर्य जगत्समग्रं यस्मात्त्वं भाभिर्जगदापूरयसि तस्मात्तवोग्रास्तीव्रा भासो दीप्तयः प्रज्वलतो ज्वलनस्येव प्रतपन्ति संन्तापं जनयन्ति हे विष्णो व्यापनशील ॥30॥

58 यस्मादेवं तस्मात्--

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हिं प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥31॥

59 एवमुग्ररूपः क्रूराकारः को भवानित्याख्याहि कथय मे मह्यमत्यन्तानुग्राह्याय । अत एव नमो-

मरण के लिए ही प्रदीप्त -- प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करते हैं, उसीप्रकार ही ये दुर्योधन आदि सभी लोक -- प्राणी अपने नाश के लिए आपके मुखों में अतिवेगवान् होकर अनायत्या = अवश-विवश होने के कारण बुद्धिपूर्वक -- जानबूझकर प्रवेश कर रहे हैं ।। 29 ।।

56 युद्ध की कामना -- इच्छा करनेवाले राजाओं का भगवान् के मुख में प्रवेश के प्रकार को कहकर उस समय भगवान् और उनके भास--तेज की प्रवृत्ति के प्रकार को कहते हैं :--
[आप अपने प्रज्वलित मुखों से समग्र -- सब लोकों को सब ओर से ग्रसते हुए = निगलते हुए चाट रहे हैं । हे विष्णो ! आपका उग्र -- प्रचण्ड भास -- तेज अपने प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् को आपूरित -- व्याप्त करके संतप्त कर रहा है ।। 30 ।।]

57 इस प्रकार वेग से प्रवेश करते हुए दुर्योधन आदि समग्र -- सब लोकों -- प्राणियों को ग्रसते हुए -- निगलते हुए अर्थात् अपने अन्दर प्रवेश कराते हुए अपने प्रज्वलित मुखों से समन्तात् -- सर्वत: = सब ओर से आप चाट रहे हैं -- चबा रहे हैं अर्थात् उनका आस्वादन कर रहे हैं । हे विष्णो ! = हे व्यापनशील ! क्योंकि आप अपने तेज अर्थात् भा -- प्रभा से सम्पूर्ण जगत् को आपूरित = व्याप्त कर रहे हैं, इसलिए आपकी उग्र -- तीव्र प्रभाएँ = दीप्तियाँ प्रज्वलित अग्नि के समान समस्त जगत् को प्रतप्त कर रही हैं -- जगत् में संताप उत्पन्न कर रही हैं ।। 30 ।।

58 क्योंकि ऐसा है, इसलिए : --
[मुझको कहिये -- बताइये कि उग्ररूप आप कौन हैं ? आपको नमस्कार हो । हे देववर ! आप प्रसन्न होइये । मैं आदिस्वरूप आपको विशेषरूप से जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता हूँ ।। 31 ।।]

59 इस प्रकार के उग्ररूप = क्रूर आकारवाले आप कौन हैं[47] ? यह मुझ अत्यन्त अनुग्राह्य -- कृपापात्र

47. मैंने तो पहले आपको शुद्ध सत्त्वप्रधान, सौम्यस्वभावयुक्त, व्यापनशील विष्णुरूप से जाना है, इस समय तमोगुणप्रधान उग्रस्वभाववान् आप कौन है ? -- यह भाव है ।

ऽस्तु ते तुभ्यं सर्वगुरवे हे देववर प्रसीद प्रसादं क्रौर्यत्यागं कुरु । विज्ञातुं विशेषेण ज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं सर्वकारणं, न हि यस्मात्तव सखाऽपि सन्प्रजानामि तव प्रवृत्तिं चेष्टाम् ॥31॥

60 एवमर्जुनेन प्रार्थितो यः स्वयं यदर्था च स्वप्रवृत्तिस्तत्सर्वं त्रिभिः श्लोकैः--

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥32॥

61 कालः क्रियाशक्त्युपहितः सर्वस्य संहर्ता परमेश्वरोऽस्मि भवामीदानीं प्रवृद्धो वृद्धिं गतः । यदर्थं प्रवृत्तस्तच्छृणु-- लोकान्दुर्योधनादीन्समाहर्तुं भक्षयितुं प्रवृत्तोऽहमिहास्मिन्काले । मत्प्रवृत्तिं विना कथमेवं स्यादिति चेन्नेत्याह-- ऋतेऽपि त्वा त्वामर्जुनं योद्धारं विनाऽपि त्वद्व्यापारं विनाऽपि मद्व्यापारेणैव न भविष्यन्ति विनङ्क्ष्यन्ति सर्वे भीष्मद्रोणकर्णप्रभृतयो योद्धुमनर्हत्वेन संभाविता अन्येऽपि येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु प्रतिपक्षसैन्येषु योधा योद्धारः सर्वेऽपि मया हतत्वादेव न भविष्यन्ति । तत्र तव व्यापारोऽकिंचित्कर इत्यर्थः ॥32॥

को कहिये -- बताइये । अतएव सर्वगुरु -- सबके गुरु आपको नमस्कार है[48] । हे देववर[49] ! हे देवश्रेष्ठ ! प्रसन्न होइये, क्रूरता का त्याग कीजिये । मैं आद्य[50] -- सर्वकारण = सबके कारण आपको विशेषरूप से जानना चाहता हूँ, हि -- यस्मात् = क्योंकि आपका सखा होकर भी मैं आपकी प्रवृत्ति - चेष्टा को नहीं जानता हूँ ॥ 31 ॥

60 इस प्रकार अर्जुन के प्रार्थना करने पर 'वे स्वयं जो थे और जिसके लिए अपनी प्रवृत्ति थी' -- वह सब तीन श्लोकों से भगवान् कहते हैं :--

[श्रीभगवान् ने कहा -- मैं लोकों का क्षय -- विनाश करनेवाला प्रवृद्ध -- बढ़ा हुआ काल हूँ । मैं यहाँ लोकों का संहार करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ । जो प्रतिपक्षियों के सेना में अवस्थित-स्थित हुए योद्धा हैं वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तुम्हारे युद्ध न करने पर भी इन सबका विनाश होगा ॥ 32 ॥]

61 मैं क्रियाशक्ति से उपहित काल हूँ, सबका संहर्ता -- संहार करनेवाला परमेश्वर हूँ, इस समय प्रवृद्ध -- वृद्धि को प्राप्त हुआ हूँ अर्थात् बढ़ा हुआ हूँ । जिसके लिए प्रवृत्त हुआ हूँ वह सुनो -- इह = अस्मिन्काले[51] = इस समय मैं दुर्योधन आदि सब लोकों -- प्राणियों का समाहार -- सम्यक् आहार

48. मैं आपको आज्ञा नहीं कर रहा हूँ, अपितु विनम्रतापूर्वक आपसे पूछ रहा हूँ कि उग्ररूप आप कौन है ? -- इस प्रकार के आशय से अर्जुन ने नमस्कार किया है ।

49. देववर -- देवश्रेष्ठ आपकी ही प्रसन्नता मुझको अपेक्षित है, न कि देवताओं की प्रसन्नता अपेक्षित है -- इस आशय से 'देववर !' सम्बोधन है ।

50. आद्य: = आदौ भवः = जो सबके आदि हैं अर्थात् जो सब कारणों के कारण हैं वे 'आद्य' हैं । अथवा, आद्य: = आ -- समन्तात् अत्तुं प्रवृत्तः = जो सब ओर से सबको खाने के लिए प्रवृत्त हैं अर्थात् जो सर्व -- संहारकर्ता हैं वे 'आद्य' हैं ।

51. यदि यहाँ शङ्का हो कि 'इह' का 'अस्मिन्लोके' या 'अस्मिन् संग्रामे' -- यह अर्थ आचार्यों ने क्यों नहीं किया है, तो इसका उत्तर है कि यहाँ प्रसंगत: 'काल' ही प्रकृत है, और वही यहाँ प्रधान है तथा नियम है कि सर्वनाम प्रधान का ही परामर्श करता है, इसीलिए कहा गया है कि 'इस समय मैं कालरूप लोकों के संहार के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ' ।

62 **यस्मादेवम्–**

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥33॥

63 **तस्मात्त्वद्व्यापारमन्तरेणापि यस्मादेते विनङ्क्ष्यन्त्येव तस्मात्त्वमुत्तिष्ठोद्युक्तो भव युद्धाय देवैरपि दुर्जया भीष्मद्रोणादयोऽतिरथा झटित्येवार्जुनेन निर्जिता इत्येवंभूतं यशो लभस्व । महद्भिः पुण्यैरेव हि यशो लभ्यते । अयत्नतश्च जित्वा शत्रून्दुर्योधनादीन्भुङ्क्ष्व स्वोपसर्जनत्वेन भोग्यतां प्रापय समृद्धं राज्यमकण्टकम् । एते च तव शत्रवो मयैव कालात्मना निहताः संहृतायुषस्त्वदीययुद्धात्पूर्वमेव केवलं तव यशोलाभाय रथान्न पातिताः । अतस्त्वं निमित्तमात्रमर्जुनेनैते**

अर्थात् भक्षण करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ । यदि अर्जुन कहे कि मेरी प्रवृत्ति के बिना ऐसा कैसे होगा ? तो भगवान् कहते हैं :-- तुम्हारे बिना भी -- तुम योद्धा अर्जुन के बिना भी अर्थात् तुम्हारे युद्ध व्यापार के बिना भी मेरे व्यापार से ही ये नहीं रहेंगे अर्थात् विनष्ट हो जायेंगे । भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि सब योद्धा जो कि युद्ध करने के योग्य न होने से सम्माननीय हैं तथा अन्य भी योद्धा जो प्रत्यनीक – प्रतिपक्षियों की सेना में अवस्थित -- स्थिर हैं वे सब भी मेरे द्वारा हत -- मारे गये होने से नहीं रहेंगे – नहीं बचेंगे । इसमें तुम्हारा व्यापार अकिञ्चित्कर -- अर्थहीन है – यह अर्थ है ॥ 32 ॥

62 क्योंकि ऐसा है :–
[इसलिए हे सव्यसाचिन् ! हे अर्जुन ! तुम युद्ध के लिए खड़े हो जाओ और शत्रुओं को जीतकर यश प्राप्त करो तथा समृद्धिशाली राज्य का भोग करो । ये सब शूरवीर पहले से ही मेरे द्वारा ही मारे हुए हैं, अत: तुम तो केवल निमित्तमात्र हो जाओ ॥ 33 ॥]

63 इसलिए अर्थात् तुम्हारे व्यापार के बिना भी क्योंकि ये नष्ट होंगे ही, बचेंगे नहीं, इसलिए तुम खड़े हो जाओ अर्थात् युद्ध के लिए तैयार हो जाओ । 'देवताओं से भी दुर्जय – अजेय भीष्म, द्रोण आदि अतिरथों [52] को अर्जुन ने तुरन्त ही जीत लिया' – इस प्रकार का यश प्राप्त करो[53] । यश तो महान् पुण्यों से ही प्राप्त होता है । बिना यत्न के ही दुर्योधन आदि शत्रुओं को जीतकर समृद्ध = अकण्टक राज्य का भोग करो अर्थात् स्वाधीनतापूर्वक उसको अपना भोग्य बनाओ । ये तुम्हारे शत्रु तुम्हारे युद्ध करने से पहले ही मुझ कालात्मा के द्वारा ही मारे हुए हैं -- क्षीणायु किये हुए हैं, केवल तुम्हारे यशलाभ के लिए ही रथ से नहीं गिराये गए हैं । अत: तुम तो केवल निमित्तमात्र हो जाओ[54] अर्थात् 'अर्जुन के द्वारा ये जीते गये हैं' – इस प्रकार की सार्वलौकिक उक्ति के पात्र बन जाओ । हे सव्यसाचिन् ! सव्य = बायें हाथ से भी बाणों को सचित– सन्धान करने का स्वभाव

52. अतिरथ = एक अद्वितीय योद्धा जो अपने रथ में बैठा हुआ ही युद्ध करता है (अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः) ।

53. अर्जुन की ओर से यदि शंका हो कि मेरे बिना भी ये शत्रु नहीं रहेंगे तो फिर भगवान् मुझको युद्ध करने के लिए क्यों कह रहे हैं, तो भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे यशोलाभ के लिए मैं तुमको युद्ध में प्रवृत्त कर रहा हूँ– इसी आशय से यहाँ भगवान् ने कहा है – यश प्राप्त करो ।

54. अर्जुन की यदि शङ्का हो कि ये शत्रु यदि भगवान् के द्वारा मारे हुए ही हैं तो युद्धक्षेत्र में ये कैसे स्थित हैं, तो भगवान् कहते हैं कि तुमको निमित्त बनाने के लिए ही स्थित हैं– इसी आशय से यहाँ भगवान् ने कहा है – तुम तो केवल निमित्तमात्र हो जाओ ।

निर्जिता इति सार्वलौकिकव्यपदेशास्पदं भव हे सव्यसाचिन्सव्येन वामेन हस्तेनापि शरान्सचितुं संधातुं शीलं यस्य तादृशस्य तव भीष्मद्रोणादिजयो नासंभावितस्तस्मात्त्वद्व्यापारानन्तरं मया रथात्पात्यमानेष्वेतेषु तवैव कर्तृत्वं लोकाः कल्पयिष्यन्तीत्यभिप्रायः ॥33॥

64 **ननु द्रोणो ब्राह्मणोत्तमो धनुर्वेदाचार्यो मम गुरुर्विशेषेण च दिव्यास्त्रसंपन्नस्तथा भीष्मः स्वच्छन्दमृत्युर्दिव्यास्त्रसंपन्नश्च परशुरामेण द्वंद्वयुद्धमुपगम्यापि न पराजितस्तथा यस्य पिता वृद्धक्षत्रस्तपश्चरति मम पुत्रस्य शिरो यो भूमौ पातयिष्यति तस्यापि शिरस्तत्कालं भूमौ पतिष्यतीति स जयद्रथोऽपि जेतुमशक्यः स्वयमपि महादेवाराधनपरो दिव्यास्त्रसंपन्नश्च तथा कर्णोऽपि स्वयं सूर्यसमस्तदाराधनेन दिव्यास्त्रसंपन्नश्च वासवदत्तया चैकपुरुषघातिन्या मोघीकर्तुमशक्यया शक्त्या विशिष्टस्तथा कृपाश्वत्थामभूरिश्रवःप्रभृतयो महानुभावाः सर्वथा दुर्जया एवैतेषु सत्सु कथं जित्वा शत्रूनाज्यं भोक्ष्ये कथं वा यशो लप्स्य इत्याशङ्कामर्जुनस्यापनेतुमाह तदाशङ्काविषयान्नामभिः कथयन् –**

है जिसका ऐसे हे सव्यसाचिन्[55] ! तुम्हारे लिए भीष्म, द्रोण आदि पर विजय प्राप्त करना असंभव नहीं है । इसलिए तुम्हारे व्यापार के बाद मेरे द्वारा रथ से इनके गिराये जाने पर लोकजन इस विजय में तुम्हारे ही कर्तृत्व की कल्पना करेंगे – यह अभिप्राय है ।। 33 ।।

64 ब्राह्मणों में उत्तम, धनुर्वेदाचार्य, मेरे गुरु और विशेषरूप से दिव्य अस्त्रों से सम्पन्न द्रोणाचार्य; तथा स्वच्छन्दमृत्यु[56], दिव्यास्त्रों से सम्पन्न और परशुराम के साथ भी द्वन्द्वयुद्ध करने पर अपराजित भीष्म-पितामह; तथा जिसके पिता वृद्धक्षत्र[57] इस उद्देश्य से तपस्या कर रहे हैं कि 'जो मेरे पुत्र का शिर भूमि पर गिरायेगा उसका भी शिर तत्काल भूमि पर गिर जायेगा'; – वह जयद्रथ भी जीतने के योग्य नहीं है, स्वंय भी वह महादेव की आराधना में तत्पर और दिव्यास्त्रों से सम्पन्न है अतएव एवंभूत अजेय जयद्रथ; तथा वासव = इन्द्र की दत्त – दी हुई, एक पुरुष का घात करनेवाली और मोघ -- निष्फल करने में अशक्य -- असंभव शक्ति से विशिष्ट, सूर्य की आराधना से दिव्यास्त्रों से सम्पन्न और स्वयं सूर्यसम कर्ण[58] भी; तथा कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा आदि महानुभाव सर्वथा दुर्जय -- अजेय ही हैं । इन सबके रहते हुए मैं किस प्रकार शत्रुओं को जीतकर

---

55. उक्त सम्बोधन यह सूचित करता है कि 'हे अर्जुन ! तुम तो निमित्तमात्र होकर अपने सव्यसाचित्व को सार्थक करो' ।

56. स्वच्छन्दमृत्यु = स्वेच्छामृत्यु अर्थात् इच्छा के अनुसार मृत्यु को पाना – यह भीष्मपितामह का विशेषण है ।

57. वृद्धक्षत्र = सिन्धुराज जयद्रथ के पिता का नाम है । वृद्धक्षत्र ने दीर्घकाल के बाद जयद्रथ को पुत्ररूप में प्राप्त किया था । जयद्रथ के जन्म के समय एक आकाशवाणी ने यह घोषणा की कि जयद्रथ अपने कुल और शील आदि गुणों के अनुरूप होगा किन्तु अन्त समय संग्रामभूमि में युद्ध करते समय कोई क्षत्रियशिरोमणि शूरवीर उसका शत्रु होकर उसका शिर काट डालेगा । इस आकाशवाणी को सुनकर वृद्धक्षत्र ने यह कहा कि जो कोई उनके पुत्र का शिर काटकर भूमि पर गिरायेगा उसका भी शिर भूमि पर गिरकर टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा – ऐसा कहकर वृद्धक्षत्र जयद्रथ को राज्यसिंहासन पर स्थापित कर स्वयं वन में जाकर तपस्या करने लगे (महाभारत, 7.116) ।

58. कर्ण कन्या कुन्ती के द्वारा दुर्वासा ऋषि को अपनी सेवा से प्रसन्न किये जाने पर फलस्वरूप महर्षि से प्राप्त मन्त्र के द्वारा आहूत सूर्य से उत्पन्न है अतएव वह 'कानीन' अर्थात् कन्याजात और 'सूर्यपुत्र' है । पितासम तेजस्वी होने से स्वयं सूर्यसम है । दोपहर के समय जब कर्ण भगवान् सूर्य की स्तुति करता था तो उस समय बहुत से ब्राह्मण धनयाचना के लिए उसके पास आते थे । उस समय उसके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं थी जो ब्राह्मणों को अदेय हो । एकबार ब्राह्मण का वेश बनाकर इन्द्र ने कर्ण के पास आकर उससे उसका कवच और कुण्डल माँग लिया और बदले में उसको एक अमोघशक्ति प्रदान की थी (महाभारत, 3.310) ।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णंतथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥34 ॥

65 **द्रोणादींस्त्वदाशङ्काविषयीभूतान्सर्वानेव योधवीरान्कालात्मना मया हतानेव त्वं जहि । हतानां हनने को वा परिश्रमः । अतो मा व्यथिष्ठाः कथमेवं शक्ष्यामीति व्यथां भयनिमित्तां पीडां मा गा भयं त्यक्त्वा युध्यस्व, जेतासि जेष्यस्यचिरेणैव रणे सङ्ग्रामे सपत्नान्सर्वानपि शत्रून् ।**

66 **अत्र द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं चेति चकारत्रयेण पूर्वोक्ताजेयत्वशङ्काऽनूद्यते । तथाशब्देन कर्णेऽपि । अन्यानपि योधवीरानित्यत्रापिशब्देन । तस्मात्कुतोऽपि स्वस्य पराजयं वधनिमित्तं पापं च मा शङ्किष्ठा इत्यभिप्रायः ।**

'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हौ ॥'

इत्यत्रेवात्रापि समुदायान्वयानन्तरं प्रत्येकान्वयो द्रष्टव्यः ॥ 34 ॥

67 **द्रोणभीष्मजयद्रथकर्णेषु जयाशाविषयेषु हतेषु निराश्रयो दुर्योधनो हत एवेत्यनुसंधाय जयाशां परित्यज्य यदि धृतराष्ट्रः संधिं कुर्यात्तदा शान्तिरुभयेषां भवेदित्यभिप्रायवांस्ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायाम् –**

राज्य का भोग करूँगा अथवा किस प्रकार यश को पाऊँगा – ऐसी अर्जुन की आशङ्का को निवृत्त करने के लिए उस आशङ्का को विषयगत नामों का उल्लेख करते हुए भगवान् कहते हैं :--
[तुम मेरे द्वारा मारे हुए द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य भी शूरवीर योद्धाओं को मारो, भय से व्यथित मत होओ, युद्ध करो, तुम युद्ध में शत्रुओं को जीतोगे ॥ 34 ॥]

65 कालात्मा -- कालस्वरूप मेरे द्वारा मारे हुए ही, तुम्हारी आशङ्का के विषयीभूत द्रोण आदि सभी शूरवीर योद्धाओं को तुम मारो । हत-मृत-मारे हुओं को मारने में क्या परिश्रम है । अत: व्यथित मत होओ = 'मैं ऐसा कैसे कर सकूँगा' -- इस प्रकार की व्यथा = भयनिमित्तक पीड़ा को मत प्राप्त होओ, भय का त्याग कर युद्ध करो । तुम शीघ्र ही रण-संग्राम में सभी शत्रुओं को जीतोगे ।

66 यहाँ 'द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च' -- तीन चकारों से पूर्वोक्त अजेयत्व की शङ्का का अनुवाद किया गया है ।'तथा' शब्द से कर्ण के भी अजेयत्व का अनुवाद किया गया है । 'अऽन्यानपि योधवीरान्' इसके 'अपि' शब्द से अन्य वीरों के अजेयत्व का अनुवाद है । इस कारण किसी से भी अपनी पराजय और वधनिमित्तक पाप की शङ्का मत करो -- यह अभिप्राय है । 'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन । इषुभि: प्रतियोत्स्यामि पूजार्हौ . . . ॥' (गीता, 2.4) – इस श्लोक के समान यहाँ भी समुदाय का अन्वय करने के पश्चात् प्रत्येक का अन्वय समझना चाहिए ॥ 34 ॥

67 'जयाशा के विषय द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण के हत होने पर – मारे जाने पर निराश्रय दुर्योधन हत ही है' -- ऐसा समझकर और जयाशा का परित्याग कर यदि धृतराष्ट्र सन्धि कर लें तो दोनों-- कौरव और पाण्डवों में शान्ति हो जाय -- ऐसे अभिप्राय से 'तब क्या हुआ' ? -- इसकी अपेक्षा में सञ्जय ने कहा :--
[संजय ने कहा -- केशव भगवान् के इस वचन को सुनकर किरीटी = मुकुटधारी अर्जुन ने हाथ जोडे हुए और काँपते हुए भगवान् को नमस्कार कर फिर भी अत्यन्त भयभीत हुए प्रणाम कर गद्‌गद वाणी से भगवान् कृष्ण से कहा ॥ 35 ॥]

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाऽऽह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ 35 ॥

68 **एतत्पूर्वोक्तं केशवस्य वचनं श्रुत्वा कृताञ्जलिः किरीटीन्द्रदत्तकिरीटः परमवीरत्वेन प्रसिद्धो वेपमानः परमाश्चर्यदर्शनजनितेन संभ्रमेण कम्पमानोऽर्जुनः कृष्णं भक्ताघकर्षणं भगवन्तं नमस्कृत्वा नमस्कृत्य भूयः पुनरप्याहोक्तवान्सगद्गदं भयेन हर्षेण चाश्रुपूर्णनेत्रत्वे सति कफरुद्धकण्ठतया वाचो मन्दत्वसकम्पत्वादिर्विकारः सगद्गदस्तद्युक्तं यथा स्यात्, भीतभीतोऽतिशयेन भीतः सन्पूर्वं नमस्कृत्य पुनरपि प्रणम्यात्यन्तनम्रो भूत्वाऽऽहेति संबन्धः ॥ 35 ॥**

69 **एकादशभिः –**

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ 36 ॥

---

68 केशव[59] = कृष्ण भगवान् के इस = पूर्वोक्त वचन को सुनकर हाथ जोड़े हुए[60] किरीटी[61] = इन्द्र द्वारा प्रदत्त किरीटधारी परमवीररूप से प्रसिद्ध काँपते हुए = परम आश्चर्यदर्शन से उत्पन्न सम्भ्रम से काँपते हुए अर्जुन ने भक्तों के पापों को नष्ट करनेवाले भगवान् कृष्ण को नमस्कार कर फिर भी कहा । गद्गदयुक्त होकर = भय और हर्ष से अश्रुपूर्ण नेत्र होने पर कफ के कारण कण्ठ रुक जाने से जो मन्दत्व, सकम्पत्वादि वाणी को विकार होता है उसको 'गद्गद'. कहते हैं, उससे जिस प्रकार युक्त हो उस प्रकार गद्गदयुक्त होकर भीतभीत = अत्यन्त भयभीत होकर पहले नमस्कार कर फिर भी प्रणाम कर = अत्यन्त नम्र होकर आह[62] = कहा -- इस प्रकार सम्बन्ध है ।। 35 ।।

69 ग्यारह श्लोकों से अर्जुन ने कहा :--

[अर्जुन ने कहा -- हे हृषीकेश ! यह युक्त ही है कि आपकी श्रेष्ठ कीर्ति से सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और आपके प्रति अनुरक्त हो रहा है । राक्षसजन भयभीत हुए दिशाओं में भाग रहे हैं और सब सिद्धसमुदाय नमस्कार कर रहे हैं ।। 36 ।।]

---

59. केशव = क – ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), ईश -- महेश्वर (संहारकर्ता), व -- विष्णु (पालनकर्ता), अत: 'केशव' शब्द से सृष्टि, स्थिति और प्रलयकर्ता को सूचित किया गया है ।

60. कृताञ्जलित्वादि चिह्न से तो यह सूचित होता है कि किरीटी--अर्जुन भगवान् के वचन का उल्लंघन नहीं करेगा ।

61. पूर्वकाल में अर्जुन ने जब दानवों से युद्ध किया था तथा इन्द्र ने अर्जुन के शिर पर सूर्य के समान उज्वल किरीट रख दिया था, अत: तब से ही अर्जुन को 'किरीटी' कहा जाता है ।

62. नीलकण्ठीव्याख्या के अनुसार यहाँ यदि 'आह' – यह पदच्छेद करने पर पुन: 'अर्जुन उवाच' – यह प्रयोग करेंगे तो पुनरुक्तिदोष होगा । अत: 'प्रणम्य अर्जुन उवाच' – यही सम्बन्ध है, न कि 'प्रणम्य आह' । यदि 'आह' क्रिया नहीं है, अपितु प्रसिद्ध अर्थ में अव्यय है तो दोष नहीं होगा । इस प्रसंग में धनपति का कथन कि 'नीलकण्ठ के अनुसार प्रकृत में पुनरुक्तिदोष का आपादान और उसका समाधान अर्थहीन है' – युक्तिपूर्ण है, क्योंकि यहाँ 'तत: स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजय: । प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत । अर्जुन उवाच' – के समान ही प्रयोग है, यह कविशैली है ।

70 स्थान इत्यव्ययं युक्तमित्यर्थे । हे हृषीकेश सर्वेन्द्रियप्रवर्तक यतस्त्वमेवमत्यन्ताद्भुतप्रभावो भक्तवत्सलश्च ततस्तव प्रकीर्त्या प्रकृष्टया कीर्त्या निरतिशयप्राशस्त्यस्य कीर्तनेन श्रवणेन च न केवलमहमेव प्रहृष्यामि किं तु सर्वमेव जगच्चेतनमात्रं रक्षोविरोधि प्रहृष्यति प्रकृष्टं हर्षमाप्नोतीति यत्तत्स्थाने युक्तमेवेत्यर्थः । तथा सर्वं जगदनुरज्यते च तद्विषयमनुरागमुपैतीति च यत्तदपि युक्तमेव । तथा रक्षांसि भीतानि भयाविष्टानि सन्ति दिशो द्रवन्ति गच्छन्ति सर्वासु दिक्षु पलायन्त इति यत्तदपि युक्तमेव । तथा सर्वे सिद्धानां कपिलादीनां संघा नमस्यन्ति चेति यत्तदपि युक्तमेव । सर्वत्र तव प्रकीर्त्येत्यस्यान्वयः स्थान इत्यस्य च । अयं श्लोको रक्षोघ्नमन्त्रत्वेन मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः । स च नारायणाष्टाक्षरसुदर्शनास्त्रमन्त्राभ्यां संपुटितो ज्ञेय इति रहस्यम् ॥ 36 ॥

71 भगवतो हर्षादिविषयत्वे हेतुमाह –

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ 37 ॥

72 कस्माच्च हतोस्ते तुभ्यं न नमेरन्न नमस्कुर्युः सिद्धसंघाः सर्वेऽपि हे महात्मन्परमोदारचित्त हेऽनन्त

70 'स्थाने' -- यह सप्तम्यन्त प्रतिरूपक अव्यय है, यह युक्त = उचित-योग्य अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतएव – यह युक्त – उचित ही है, हे हृषीकेश[63] ! हे सर्वेन्द्रियप्रवर्तक – समस्त इन्द्रियों के प्रवर्तक ! क्योंकि आप अत्यन्त अद्भुत प्रभाववाले हैं और भक्तवत्सल हैं उसी से= आपकी प्रकीर्ति -- प्रकृष्ट कीर्ति से अर्थात् आपके निरतिशय प्राशस्त्य के कीर्तन और श्रवण से न केवल मैं ही हर्षित हो रहा हूँ, अपितु राक्षसों का विरोधी चेतनमात्र सम्पूर्ण ही जगत् प्रहर्षित हो रहा है अर्थात् प्रकृष्ट हर्ष को प्राप्त हो रहा है, जो वह स्थाने[64] = युक्त ही है । तथा सम्पूर्ण जगत् आपके प्रति अनुरक्त हो रहा है अर्थात् भगवद्विषयक अनुराग को प्राप्त हो रहा है, जो वह भी युक्त– उचित ही है । तथा राक्षसजन भयभीत हुए – भय से आविष्ट -- ग्रस्त हुए दिशाओं में द्रवित हो रहे हैं अर्थात् सब दिशाओं में पलायन कर रहे हैं – भाग रहे हैं, जो वह भी युक्त–उचित ही है । तथा कपिलादि सब सिद्धों के समूह आपको जो नमस्कार कर रहें हैं वह भी उचित ही है । 'तव प्रकीर्त्या' और 'स्थाने' – इन पदों का अन्वय सभी के साथ है । यह श्लोक 'रक्षोघ्न[65]मन्त्ररूप से मन्त्रशास्त्र में प्रसिद्ध है तथा इसको नारायणाष्टाक्षर और सुदर्शनास्त्र मन्त्रों से संपुटित समझना चाहिए – यह रहस्य है ॥ 36 ॥

71 भगवान् के हर्षादि और नमस्कार का विषय होने में हेतु कहते हैं :–

[हे महात्मन् ! हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप ब्रह्मा से भी गुरुतर और उसके भी आदिकर्ता हैं; इसके अतिरिक्त जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है वह आप ही हैं, फिर वे आपको नमस्कार क्यों नहीं करें ? ॥ 37 ॥]

72 हे महात्मन् = परम उदारचित्त ! हे अनन्त = सब परिच्छेदों से शून्य ! हे देवेश = हिरण्यगर्भादि

63. हे हृषीकेश = हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशः = हे इन्द्रियों के ईश्वर ! सर्वेन्द्रियनियन्ता–सर्वान्तर्यामी - सर्वसुहृद् – एतदर्थ ही सम्बोधन है ।

64. अथवा, 'स्थाने' 'प्रहृष्यति' का विशेषण = क्रियाविशेषण न होकर, हर्षादि के विषय भगवान् का ही विशेषण = विषयविशेषण है, अतएव अर्थ होगा – भगवान् सम्पूर्ण जगत् के हर्षादि के विषय हैं और सम्पूर्ण जगत् उनके प्रति अनुरक्त है – यह स्थाने = युक्त ही है, क्योंकि वे ईश्वर, सर्वात्मा और सर्वभूतसुहृद् हैं ।

65. रक्षोघ्नः = रक्षो राक्षसं हन्तीति । हन् + टक् = रक्षोघ्नमन्त्रः । यथा सुश्रुते – वेदनारक्षोघ्नैर्धूपैर्धूपयेद्रक्षोघ्नैश्च मन्त्रै रक्षां कुर्वीत (1.5) ।

सर्वपरिच्छेदशून्य हे देवेश हिरण्यगर्भादीनामपि देवानां नियन्तः, हे जगन्निवास सर्वाश्रय । तुभ्यं कीदृशाय ब्रह्मणोऽपि गरीयसे गुरुतरायाऽऽदिकर्त्रे ब्रह्मणोऽपि जनकाय । नियन्तृत्वमुपदेष्टृत्वं जनकत्वमित्यादिरेकैकोऽपि हेतुर्नमस्कार्यताप्रयोजकः किं पुनर्महात्मत्वानन्तत्वजगन्निवासत्वादिनानाकल्याणगुणसमुचित इत्यनाश्चर्यतासूचनार्थं नमस्कारस्य कस्माच्चेति वाशब्दार्थश्चकारः । किं च सत्, विधिमुखेन प्रतीयमानमस्तीति, असन्निषेधमुखेन प्रतीयमानं नास्तीति, अथवा सद्व्यक्तमसदव्यक्तं त्वमेव । तथा तत्परं ताभ्यां सदसद्भ्यां परं मूलकारणं यदक्षरं ब्रह्म तदपि त्वमेव त्वद्भिन्नं किमपि नास्तीत्यर्थः । तत्परं यदित्यत्र यच्छब्दात्प्राक्चकारमपि केचित्पठन्ति । एतैर्हेतुभिस्त्वां सर्वे नमस्यन्तीति न किमपि चित्रमित्यर्थः ॥ 37 ॥

73 भक्त्युद्रेकात्पुनरपि स्तौति –

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ 38 ॥

74 त्वमादिदेवो जगतः सर्गहेतुत्वात्, पुरुषः पूरयिता, पुराणोऽनादिः त्वमस्य विश्वस्य परं निधानं

देवों के भी नियन्ता ! हे जगन्निवास = सबके आश्रय ! सभी सिद्धसमुदाय आपको नमस्कार क्यों नहीं करें ? आप भी कैसे हैं ? आप ब्रह्मा से भी गरीयस् – गुरुतर और ब्रह्मा के भी आदिकर्ता – जनक हैं[66] । नियन्तृत्व, उपदेष्टृत्व, जनकत्व इत्यादि एक-एक हेतु भी नमस्कार्यता का प्रयोजक है, फिर आप महात्मत्व, अनन्तत्व, जगन्निवासत्व आदि कल्याणमय गुणों से युक्त हैं, तो कहना ही क्या है ? – इस प्रकार यह कथन नमस्कार की आश्चर्यशून्यता सूचित करने के लिए है । 'कस्माच्च' -- इसमें चकार 'वा' शब्द के अर्थ में है । इसके अतिरिक्त सत् = विधिमुख से प्रतीयमान 'अस्ति' रूप और असत् = निषेधमुख से प्रतीयमान 'नास्ति'रूप, अथवा सत् – व्यक्तरूप और असत् = अव्यक्तरूप आप ही हैं । तथा उनसे = उन सत् और असत् से परे = उनका मूलकारण जो अक्षर ब्रह्म है वह भी आप ही हैं अर्थात् आपसे भिन्न कुछ भी नहीं है । कोई 'तत्परं यत्' -- यहाँ पर 'यत्' शब्द से पहले चकार भी पढ़ते हैं । इन हेतुओं[67] से सब आपको नमस्कार कर रहे हैं, इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं है -- यह अर्थ है ॥ 37 ॥

73 भक्ति के उद्रेक से फिर भी स्तुति करते हैं :–

[हे अनन्तरूप ! आप आदिदेव हैं, पुरुष हैं, पुराण हैं, आप इस विश्व-जगत् के परम निधान–आश्रय हैं, ज्ञाता हैं, ज्ञेय हैं और परमधाम हैं, यह सम्पूर्ण विश्व आपसे ही व्याप्त है ॥ 38 ॥]

74 जगत् की सृष्टि के कारण होने से आप आदिदेव हैं, पुरुष-पूरयिता-पूरित करनेवाले हैं और पुराण

66. अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा भी गुरु हैं, आप भी गुरु हैं, तथापि आप अतिशय से गुरु हैं अतएव आप ब्रह्मा से गुरुतर हैं । यदि कहें कि सत्यसंकल्पत्वादि गुण मुझमें और ब्रह्मा में समान हैं तो फिर मेरा उनसे अतिशय कैसे है ? तो उत्तर है कि आपका अतिशय इसलिए है कि आपने पञ्चमहाभूत की सृष्टि द्वारा ब्रह्मा की सृष्टि की है अतएव आप ब्रह्मा के आदिकर्ता – आदिकारण- अभिन्ननिमित्तोपादानकारण हैं । 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहित्वाच्च' (ब्रह्मसूत्र, 4.4.17) के अनुसार नित्यसिद्ध ईश्वर आपकी आज्ञा से ही ब्रह्मा आदि सब देवता ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं, न कि वे आपके समान होते हैं । अतएव आप ब्रह्मा से भी गुरुतर और ब्रह्मा के भी आदिकर्ता हैं ।

67. आप महात्मा हो, अनन्त हो, देवेश हो, जगन्निवास हो, ब्रह्मा से गुरुतर हो, ब्रह्मा के भी जनक हो, सत् हो, असत् हो और सदसत् से परे उनके मूलकारण अक्षर ब्रह्म हो – इन नौ हेतुओं से सब आपको नमस्कार कर रहे हैं अथवा करते हैं – इसमें कोई आश्चर्य नहीं है – यह अर्थ है ।

लयस्थानत्वान्निधीयते सर्वमस्मिन्निति । एवं सृष्टिप्रलयस्थानत्वेनोपादानत्वमुक्त्वा सर्वज्ञत्वेन प्रधानं व्यावर्तयन्निमित्ततामाह वेत्ता वेदिता सर्वस्यासि । द्वैतापत्तिं वारयति -- यच्च वेद्यं तदपि त्वमेवासि वेदनरूपे वेदितरि परमार्थसंबन्धाभावेन सर्वस्य वेद्यस्य कल्पितत्वात् । अत एव परं च धाम यत्सच्चिदानन्दघनमविद्यातत्कार्यनिर्मुक्तं विष्णोः परमं पदं तदपि त्वमेवासि । त्वया सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च कारणेन ततं व्याप्तमिदं स्वतःसत्तास्फूर्तिशून्यं विश्वं कार्यं मायिकसंबन्धेनैव स्थितिकाल हेऽनन्तरूपापरिच्छिन्नस्वरूप ॥ 38 ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ 39 ॥

75 **वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः सूर्यादीनामप्युपलक्षणमेतत् । प्रजापतिर्विराड्हिरण्यगर्भश्च, प्रपिता-**

अर्थात् अनादि हैं । लयस्थान होने से आप इस विश्व के परम निधान हैं -- जिसमें सब निहित -- स्थित होता है वह निधान हैं । इस प्रकार सृष्टि और प्रलय के स्थान होने से भगवान् के उपादानत्व -- उपादानकारणत्व को कहकर सर्वज्ञत्व से प्रधान -- प्रकृति की व्यावृत्ति करते हुए उनकी निमित्तता -- निमित्तकारणता को कहते हैं -- आप सबके वेत्ता = वेदिता -- ज्ञाता हैं । इससे द्वैत की आपत्ति हो सकती है अतएव द्वैतापत्ति का वारण करते हैं -- जो कुछ वेद्य -- ज्ञेय है वह भी आप ही हैं, क्योंकि वेदन -- ज्ञान रूप वेदिता -- ज्ञाता में परमार्थ -- यथार्थ सम्बन्ध के अभाव के कारण सब वेद्य -- ज्ञेय कल्पित होता है[68] । अतएव जो परमधाम = विष्णु का अविद्या और उसके कार्य से शून्य सच्चिदानन्दघन परमपद है वह भी आप ही हैं[69] । हे अनन्तरूप ! हे अपरिछिन्नस्वरूप[70] ! स्थितिकाल में यह स्वतःसत्ता-स्फूर्तिशून्य विश्व अर्थात् कार्य मायिकसम्बन्ध से ही सद्रूप और स्फुरणरूप कारण आप ही से व्याप्त है ॥ 38 ॥

[आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति -- ब्रह्मा और प्रपितामह -- ब्रह्मा के भी पिता हैं । आपको हजारों बार नमस्कार, नमस्कार हो । आपको फिर भी बार-बार नमस्कार, नमस्कार हो ॥ 39 ॥]

75 आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चद्रमा-यह सूर्य आदि का भी उपलक्षण[71] है, प्रजापति= विराट्

---

68. प्रकृत प्रसंग में यह प्रश्न उपस्थित होने पर कि भगवान् यदि ज्ञाता और ज्ञेय अर्थात् दृष्टा और दृश्य -- दोनों ही हैं तो द्वैतापत्ति होगी, यह कहा गया है कि ज्ञेय -- दृश्य वस्तु की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं होती है, कारण कि सब दृश्य -- ज्ञेय वस्तु कल्पित अर्थात् मिथ्या होती हैं । अखण्ड अद्वैत परमात्मा ही भ्रान्तिवश ज्ञेय -- दृश्य वस्तुरूप से प्रतीत होता है । अतएव ज्ञानस्वरूप ज्ञाता -- परमात्मा ही एकमात्र पारमार्थिक सत्यवस्तु है, और सब भ्रान्ति द्वारा कल्पित है । इसलिए कल्पित दृश्य वस्तु का अकल्पित पारमार्थिक सद्वस्तुओं के साथ जो सम्बन्ध है वह भी कल्पित -- मिथ्या ही है, अकल्पित या परमार्थ-यथार्थ सम्बन्ध नहीं है । अतएव यहाँ अद्वैतहानि की भी सम्भावना नहीं है ।

69. उक्त प्रसंग में प्रश्न हो सकता है कि मुक्ति के लिए जो ब्रह्मावलम्बन का उपदेश श्रुति में किया गया है वह ब्रह्म क्या उक्त ज्ञाता -- वेत्ता भगवान् से पृथक् है ? इसका उत्तर है कि नहीं, क्योंकि भगवान् ही मोक्षकारण और परमधाम = मोक्षधाम हैं अर्थात् अविद्या और अविद्या के कार्यों से शून्य सच्चिदानन्दघन परमपद = मोक्ष भगवान् ही हैं ।

70. भगवान् देश, काल या वस्तु से परिच्छिन्न -- सीमित नहीं होते हैं अतएव वे अनन्त अर्थात् अपरिच्छिनस्वरूप हैं ।

71. 'थोड़े शब्दों से समष्टि का ज्ञान कराने के लिए जो संकेत होता है उसको उपलक्षण' कहा जाता है ।

महश्च पितामहस्य हिरण्यगर्भस्यापि पिता च त्वम् । यस्मादेवं सर्वदेवात्मकत्वात्त्वमेव सर्वैर्नमस्कार्योऽसि तस्मान्ममापि वराकस्य नमो नमस्ते तुभ्यमस्तु सहस्रकृत्वः, पुनश्च भूयोऽपि पुनरपि नमो नमस्ते । भक्तिश्रद्धातिशयेन नमस्कारेष्वलंप्रत्ययाभावोऽनया नमस्कारावृत्त्या सूच्यते ॥ 39 ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ 40 ॥

76 **तुभ्यं पुरस्तादग्रभागे नमोऽस्तु तुभ्यं पुरो नमः स्तादिति वा । अथशब्दः समुच्चये । पृष्ठतोऽपि तुभ्यं नमः स्तात् । नमोऽस्तु ते तुभ्यं सर्वत एव सर्वासु दिक्षु स्थिताय हे सर्व । वीर्यं शारीरबलं विक्रमः शिक्षा शस्त्रप्रयोगकौशलम् । 'एकं वीर्याधिकं मन्य उतैकं शिक्षयाऽधिकम्' इत्युक्तेर्भीमदुर्योधनयोरन्येषु चैकैकं व्यवस्थितम् । त्वं तु अनन्तवीर्यश्चामितविक्रमश्चेति समस्तमेकं पदम् । अनन्तवीर्येति संबोधनं वा । सर्वं समस्तं जगत्समाप्नोषि सम्यगेकेन सद्रूपेणाऽऽऽप्नोषि सर्वात्मना व्याप्नोषि ततस्तस्मात्सर्वोऽसि त्वदतिरिक्तं किमपि नास्तीत्यर्थः ॥ 40 ॥**

और हिरण्यगर्भ, तथा प्रपितामह = पितामह – हिरण्यगर्भ के भी पिता हैं । क्योंकि इस प्रकार सर्वदेवात्मक होने से आप ही सबके नमस्कार्य हैं इसलिए मुझ वराक-दीन का भी आपको हजारों बार[72] नमस्कार, नमस्कार हो, फिर भी बार-बार नमस्कार, नमस्कार हो । इस नमस्कार की आवृत्ति से भक्ति और श्रद्धा के अतिशय के कारण नमस्कारों में अलंप्रत्यय -- अलंबुद्धि -- पर्याप्त सन्तोष का अभाव सूचित होता है ॥ 39 ॥

[आपको आगे से और पीछे से नमस्कार हो । हे सर्वात्मन् -- सर्वरूप ! आपको सब ओर से ही नमस्कार हो । आप अनन्तवीर्य और अमितविक्रम = असीम पराक्रमवाले हैं । आप सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त किये हुए हैं, इसलिए आप ही सर्वरूप हैं ॥ 40 ॥]

76 आपको पुरस्तात् -- आगे से -- आगे के भाग में नमस्कार है अर्थात् पूर्वभाग -- पूर्वदिशा में तद्रूप से स्थित आपको नमस्कार है । अथवा, 'पुरो नमः स्तात्' -- इस प्रकार अन्वय करके 'आपको पहले नमस्कार हो' । 'अथ'शब्द समुच्चय अर्थ में है । पीछे से भी आपको नमस्कार है । हे सर्वात्मन् ! सब ओर से ही सब दिशाओं में स्थित आपको नमस्कार है[73] । 'वीर्य' शारीरिक बल है और 'विक्रम' शिक्षा -- शस्त्रप्रयोग का कौशल है । 'एकं वीर्याधिकं मन्य उतैकं शिक्षयाऽधिकम्' (श्रीमद्भागवत पुराण, 10.79.26) = 'मैं एक को = भीम को बल में अधिक मानता हूँ और एक

---

72. सहस्रकृत्वः = 'सहस्र' शब्द के साथ 'कृत्वसुच्' तद्धित प्रत्यय होकर 'सहस्रकृत्वः' शब्द निष्पन्न हुआ है, बार-बार नमस्काररूप अनुष्ठान की आवृत्ति को सूचित करने के लिए यहाँ ' कृत्वसुच्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है, नियम है -- 'क्रिया की बार-बार आवृत्ति (गिनना अर्थ) होने में वर्तमान संख्यावाची प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'कृत्वसुच्= 'कृत्वस्' प्रत्यय होता है' (सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् (पाणिनिसूत्र, 5.4.17) । कृत्वोऽर्थक होने से 'सहस्रकृत्वः' अव्यय है ।

73. **नीलकण्ठ ने श्लोकस्थ प्रथम दो पादों का अर्थ किया है–** 'पुरस्तात् = कर्मणामादौ-कर्मानुष्ठान के आदि में, पृष्ठतः = तेषां समाप्तौ -- कर्मानुष्ठान की समाप्ति में और सर्वतः = मध्येऽपि – कर्मानुष्ठान के मध्य में भी आपको नमस्कार है' । किन्तु यहाँ धनपति के अनुसार 'कर्मणाम्' – इस पद का अध्याहार करने के कारण अध्याहारदोष है और 'सर्वतः' इत्यादि के संकोच में कोई प्रमाण भी नहीं है । अतएव भाष्यसम्मत अर्थ ही उपयुक्त है ।

77 यतोऽहं त्वन्माहात्म्यापरिज्ञानादपराधानजस्रमकार्षं ततः परमकारुणिकं त्वां प्रणम्यापराधक्षमां कारयामीत्याह द्वाभ्याम् –

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि ॥ 41 ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ 42 ॥

78 त्वं मम सखा समानवया इति मत्वा प्रसभं स्वोत्कर्षख्यापनरूपेणाभिभवेन यदुक्तं मया तवेदं विश्वरूपं तथा महिमानमैश्वर्यातिशयमजानता । पुंल्लिङ्गपाठ इमं विश्वरूपात्मकं महिमानमजानता । प्रमादाच्चित्तविक्षेपात्प्रणयेन स्नेहेन वाऽपि किमुक्तमित्याह हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ॥ 41 ॥

को = दुर्योधन को शिक्षा में अधिक समझता हूँ' -- इस बलराम की उक्ति के अनुसार भीम और दुर्योधन में तथा अन्यों में एक-एक गुण व्यवस्थित रहता है, किन्तु आप तो अनन्तवीर्य और अपरिमित विक्रमवाले हैं । यहाँ 'अनन्तवीर्यामितविक्रमः' -- यह समासयुक्त एक ही पद है, अथवा इसमें 'अनन्तवीर्य' सम्बोधन है । आप सर्व = समस्त जगत् को समाप्रोषि = सम्यगेकेन सद्रूपेणाऽऽप्रोषि = एक सद्रूप से सम्यक् व्याप्त किये हुए हैं अर्थात् सर्वात्मभाव से व्याप्त किये हुए है[74], इसलिए आप सर्व हैं अर्थात् आपसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ॥ 40 ॥

77 क्योंकि मैंने आपका माहात्म्य न जानने के कारण आपके प्रति निरन्तर = बार-बार अपराध किये हैं, इसलिए परमकारुणिक आपको मैं प्रणाम कर अपने अपराधों को क्षमा कराता हूँ – यह दो श्लोकों से कहते हैं :--

['अपने सखा हो' -- ऐसा मानकर, आपकी इस महिमा को न जानते हुए मैंने प्रमाद या प्रणय -- प्रेम से भी 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' -- इस प्रकार जो कुछ आपसे प्रसभपूर्वक -- हठपूर्वक कहा है तथा अवहास – परिहास के लिए विहार, शय्या, आसन और भोजन में अकेले अथवा उन सखाओं के सामने भी जो आपका असत्कार -- तिरस्कार किया है, हे अच्युत ! वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा कराता हूँ ॥ 41-42 ॥]

78 'आप मेरे सखा हो, समवयस्क हो' -- ऐसा मानकर, आपके इस विश्वरूप तथा महिमा-ऐश्वर्यातिशय को न जानते हुए -- यहाँ पुंल्लिङ्ग पाठ होने पर 'इमं विश्वरूपात्मकं महिमानमजानता[75]' = आपके इस विश्वरूपात्मक माहात्म्य को न जानते हुए मैंने प्रसभपूर्वक -- बलात् = अपने उत्कर्ष के ज्ञापनरूप अभिभव --तिरस्कार से प्रमाद के कारण = चित्त के विक्षेप के कारण अथवा प्रणय – स्नेह के कारण भी जो कहा है सो क्या कहा है -- यह कहते हैं -- 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे[76]' – इस प्रकार जो कहा है ॥ 41 ॥

---

74. जिस प्रकार स्वर्ण अपने कार्य – कुण्डल, हार आदि को बाहर – भीतर से व्याप्तकर स्थित रहता है उसीप्रकार आप भी सर्वभूतात्मा होने के कारण समस्त जगत् को बाहर-भीतर से व्याप्तकर स्थित हैं – यह अभिप्राय है ।

75. भाष्यकार का उल्लेख है कि श्लोकस्थ 'इदं महिमानम्' पाठ में 'इदम्' शब्द नपुंसकलिङ्ग में है और 'महिमानम्' शब्द पुंल्लिङ्ग में है, इस प्रकार दोनों पदों में समान लिङ्ग न होने के कारण यहाँ वैयधिकरण्य सम्बन्ध है, अतएव यहाँ 'महिमानं तवेमम्' – यह पाठ शुद्ध होगा, कारण कि इसमें 'महिमानम्' और 'इमम्' – दोनों पदों में समान लिङ्ग हो जाने से सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है । भाष्यकार का ही मधुसूदन सरस्वती, धनपति आदि ने अनुकरण किया है ।

76. श्लोकस्थ 'हे सखेति' -- पद में जो गुणसन्धि है वह आर्ष है ।

79 यच्चावहासार्थं परिहासार्थं विहारशय्यासनभोजनेषु विहारः क्रीडा व्यायामो वा । शय्या तूलिकाद्यास्तरणविशेषः । आसनं सिंहासनादि भोजनं बहूनां पङ्क्तावशनं तेषु विषयभूतेषु असत्कृतोऽसि मया परिभूतोऽसि एकः सखीन्विहाय रहसि स्थितो वा त्वम् । अथवा तत्समक्षं तेषां सखीनां परिहसतां समक्षं वा, हेऽच्युत सर्वदा निर्विकार, तत्सर्वं वचनरूपमसत्करणरूपं चापराधजातं क्षामये क्षामयामि त्वामप्रमेयमचिन्त्यप्रभावेन निर्विकारेण च परमकारुणिकेन भगवता त्वन्माहात्म्यानभिज्ञस्य ममापराधाः क्षन्तव्या इत्यर्थः ॥ 42 ॥

80 अचिन्त्यप्रभावतामेव प्रपञ्चयति–

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ 43 ॥

81 अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता जनकस्त्वमसि पूज्यश्चासि सर्वेश्वरत्वात् । गुरुश्चासि शास्त्रोपदेष्टा । अतः सर्वैः प्रकारैर्गरीयान्गुरुतरोऽसि । अत एव न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽपि हेऽप्रतिमप्रभाव । यस्य समोऽपि नास्ति द्वितीयस्य परमेश्वरस्याभावात्तस्याधिकोऽन्यः कुतः स्यात्सर्वथा न संभाव्यत एवेत्यर्थः ॥ 43 ॥

79 तथा अवहास -- परिहास के लिए विहार, शय्या, आसन और भोजन में = विहार -- क्रीडा अथवा व्यायाम, शय्या -- तूलिका – रूई आदि के बने गद्दे आदि से युक्त पलंग विशेष, आसन-सिंहासनादि और भोजन -- बहुतों की पंक्ति में बैठकर भोजन करना – इन विषयभूत प्रसंगों में मैंने आपका अकेले में अर्थात् मित्रों को छोड़कर एकान्त में रहने पर, अथवा उनके समक्ष अर्थात् उन परिहास करते हुए मित्रों के सामने जो असत्कार -- परिभव = तिरस्कार किया है । हे अच्युत[77] ! हे सर्वदा निर्विकार ! उन सब वचनरूप और असत्काररूप अपराधों को मैं अप्रमेयस्वरूप[78] आपसे क्षमा कराता हूँ अर्थात् अचिन्त्यप्रभाव, निर्विकार और परमकारुणिक भगवान् आप आपके माहात्म्य को न जाननेवाले मेरे ये अपराध क्षमा करें ।। 42 ।।

80 भगवान् की अचिन्त्य प्रभावता को ही विस्तृत करते हैं :--

[हे अप्रतिमप्रभाव ! हे अचिन्त्यप्रभाव ! आप इस चराचर लोक -- जगत् के पिता, पूज्य, गुरु और गरीयान् -- गुरुतर हैं । तीनों लोकों में आपके समान कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो और कोई कहाँ से हो सकता है ? ।। 43 ।।]

81 हे अप्रतिमप्रभाव ! आप इस चराचर लोक – जगत् के पिता -- जनक हैं, सर्वेश्वर होने से पूज्य हैं और गुरु हैं -- शास्त्रों का उपदेश करनेवाले हैं अत: सब प्रकार से गरीयान् -- गुरुतर हैं । अतएव तीनों लोकों में भी आपके समान कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो कोई दूसरा कहाँ

77. आप तो सर्वदा निर्विकार हो, अतएव अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते हो, अतएव जाने - अनजाने में मेरे द्वारा किये हुए आपके प्रति असत्कार से आपमें किसी प्रकार की विकृति होना संभव नहीं है, अतएव आप अनायास ही मेरे अपराध को क्षमा करोगे–यह मेरा विश्वास है – इस प्रकार के भाव को सूचित करने के लिये ही अर्जुन ने यहाँ भगवान् को 'अच्युत' कहकर सम्बोधन किया है ।

78. पहले अपना सखा और अपना मातुलेय जानकर मैंने आपका असत्कार किया, अब आपको अप्रमेय अर्थात् प्रमाणातीत परमेश्वर समझकर अपने अपराधों के लिए क्षमायाचना कर रहा हूँ – इस आशय से अर्जुन ने यहाँ भगवान् को अप्रमेयस्वरूप कहा है ।

82 **यस्मादेवम्–**

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायाऽर्हसि देव सोढुम् ॥ 44 ॥

83 **तस्मात्प्रणम्य नमस्कृत्य त्वां प्रणिधाय प्रकर्षेण नीचैर्धृत्वा कायं दण्डवद्भूमौ पतित्वेति यावत् । प्रसादये त्वामीशमीड्यं सर्वस्तुत्यमहमपराधी । अतो हे देव पितेव पुत्रस्यापराधं सखेव सख्युरपराधं प्रियः पतिरिव प्रियायाः पतिव्रताया अपराधं ममापराधं त्वं सोढुं क्षन्तुमर्हसि अनन्यशरणत्वान्मम । प्रियायाऽर्हसीत्यत्रेवशब्दलोपः संधिश्च च्छान्दसः ॥ 44 ॥**

84 **एवमपराधक्षमां प्रार्थ्य पुनः प्राग्रूपदर्शनं विश्वरूपोपसंहारेण प्रार्थयते द्वाभ्याम् –**

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ 45 ॥

85 **कदाऽप्यदृष्टपूर्वं पूर्वमदृष्टं विश्वरूपं दृष्ट्वा हृषितो हृष्टोऽस्मि । तद्विकृतरूपदर्शनजेन भयेन च प्रव्यथितं व्याकुलीकृतं मनो मे । अतस्तदेव प्राचीनमेव मम प्राणापेक्षयाऽपि प्रियं रूपं मे दर्शय हे देव हे देवेश हे जगन्निवास प्रसीद प्राग्रूपदर्शनरूपं प्रसादं मे कुरु ॥45॥**

से हो सकता है ? दूसरा परमेश्वर न होने के कारण जिसके समान भी कोई नहीं है उससे अधिक तो कोई दूसरा कहाँ से हो सकता है ? अर्थात् सर्वथा असम्भाव्य ही है ॥ 43 ॥

82 क्योंकि ऐसा है --

[इसलिए मैं अपने शरीर को दण्ड के समान पृथ्वी पर गिराकर प्रणाम करके सर्वस्तुत्य आप ईश्वर को प्रसन्न करता हूँ । हे देव ! जिस प्रकार पुत्र के अपराध को पिता, सखा के अपराध को सखा और प्रिया के अपराध को प्रिय सह लेता है उसी प्रकार आप भी मेरे अपराध को सहन करने के लिए योग्य हैं ॥ 44 ॥]

83 इसलिए अपना शरीर प्रणिधाय -- अत्यन्त नीचा रखकर अर्थात् दण्ड के समान भूमि पर गिरकर आपको प्रणाम- नमस्कार करके मैं अपराधी ईड्य = सर्वस्तुत्य आप ईश्वर को प्रसन्न करता हूँ । अत: हे देव ! पुत्र के अपराध को पिता के समान, सखा के अपराध को सखा के समान, और पतिव्रता प्रिया के अपराध को प्रिय पति के समान आप मेरे अपराध को सहन करने-- क्षमा करने के योग्य हैं, क्योंकि मेरा दूसरा शरण -- आश्रय नहीं है अर्थात् आप ही एकमात्र मेरे आश्रय हैं । 'प्रियायाऽर्हसि' -- यहाँ पर 'इव' शब्द का लोप है और सन्धि छान्दस है ॥ 44 ॥

84 इस प्रकार अपराध के लिए क्षमा की प्रार्थना कर पुनः विश्वरूप के उपसंहारपूर्वक पूर्वरूप का दर्शन कराने के लिए दो श्लोकों से प्रार्थना करते हैं :--

[अदृष्टपूर्व अर्थात् जिसको पहले कभी नहीं देखा ऐसे आपके इस विश्वरूप को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भय से अत्यन्त व्यथित -- व्याकुल भी हो रहा है । हे देव ! आप मुझको अपना वह पूर्वरूप ही दिखाईये । हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये ॥ 45 ॥]

85 अदृष्टपूर्व अर्थात् जिसको पहले कभी नहीं देखा ऐसे आपके इस विश्वरूप को देखकर मैं हर्षित हुआ हूँ और उस विकृत-विकट रूप के दर्शन से उत्पन्न भय से मेरा मन अत्यन्त व्यथित -- व्याकुल

86 तदेव रूपं विवृणोति –

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ 46 ॥

87 कीरीटवन्तं गदावन्तं चक्रहस्तं च त्वां द्रष्टुमिच्छाम्यहं तथैव पूर्ववदेव । अतस्तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन वसुदेवात्मजत्वेन भव हे इदानीं सहस्रबाहो हे विश्वमूर्ते । उपसंहृत्य विश्वरूपं पूर्वरूपेणैव प्रकटो भवेत्यर्थः । एतेन सर्वदा चतुर्भुजादिरूपमर्जुनेन भगवतो दृश्यत इत्युक्तम् ॥ 46 ॥

88 एवमर्जुनेन प्रसादितो भयबाधितमर्जुनमुपलभ्योपसंहृत्य विश्वरूपमुचितेन वचनेन तमाश्वासयंस्त्रिभिः –

श्रीभगवानुवाच
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ 47 ॥

भी है । अत: आप वही प्राचीन ही मेरे प्राणों की अपेक्षा से भी प्रिय रूप मुझको दिखाइये । हे देव[79] ! हे देवेश ! हे जगन्निवास[80] ! आप प्रसन्न होइये अर्थात् आप मुझ पर अपने प्राचीनरूप का दर्शनरूप प्रसाद कीजिये ।। 45 ।।

86 उसी पूर्वरूप का विवरण करते हैं --
[मैं आपको उसीप्रकार ही मुकुट धारण किये हुए, गदाधारी और चक्र हाथ में लिये हुए देखना चाहता हूँ । हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उस ही चतुर्भुजरूप से युक्त होइये ।। 46 ।।]

87 मैं आपको उसी प्रकार ही = पूर्ववत् ही किरीटवान् -- मुकुटधारी, गदावान् -- गदाधारी और चक्र हाथ में लिये हुए देखना चाहता हूँ । अत: आप उस चतुर्भुजरूप से ही अर्थात् वसुदेव के पुत्ररूप से ही युक्त होइये । इस समय आप सहस्रबाहु हैं अतएव हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्ते ! आप अपने इस विश्वरूप का उपसंहार कर पूर्वरूप से ही प्रकट होइये -- यह अर्थ है । इससे यह कहा गया है कि अर्जुन सर्वदा भगवान् का चतुर्भुजादि रूप ही देखते हैं ।। 46 ।।

88 इस प्रकार अर्जुन के द्वारा प्रसन्न किये हुए भय से पीडित अर्जुन को देख विश्वरूप का उपसंहार कर उचित वचन से उसको आश्वासन देते हुए-- ढाढस बँधाते हुए तीन श्लोकों से भगवान् ने कहा :--
[श्रीभगवान् ने कहा -- हे अर्जुन ! मैंने प्रसन्न होकर अपनी योगशक्ति के प्रभाव से तुमको अपना यह परम तेजोमय, विश्वात्मक, अनन्त और आद्य रूप दिखाया है, जिसको तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी ने पहले नहीं देखा है ।। 47 ।।]

79. जिस रूप में आपने विश्वरूप दिखाया है वही मुख्यरूप है, अतएव हे भगवन् ! विश्वरूप के अधिष्ठान होने से अधिष्ठानस्वरूप मुख्यरूप का ही प्रद्योतनमात्र आपका कर्तव्य है, न कि विश्वरूपात्मक उत्पाद्यरूप का प्रदर्शन आपका कर्तव्य है । – यह 'हे देव !' सम्बोधन की गूढाभिसन्धि है । अथवा, श्लोक में प्रयुक्त 'देवरूपम्' – एक पद है, जिसका अर्थ है – द्योतनात्मक रूप ।

80. आप देवेश – देवेश्वर हैं और आप जगन्निवास – जगत् के आश्रय हैं – इस प्रकार आपके स्वरूप का मैंने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है, अत: आपके स्वरूप के ज्ञान के लिए मेरी जिज्ञासा समाप्त हो गई है, अतएव अब मेरे लिए ही इस विश्वरूप का तिरोधान करना उचित ही है – यह सूचित करने के लिए ही 'हे देवेश ! हे जगन्निवास !' – ये दो सम्बोधन हैं । अर्जुन ने 'हे देव ! हे देवेश ! हे जगन्निवास !' – इस प्रकार एक साथ भगवान् को तीन सम्बोधन जो किये हैं, इससे अर्जुन के मन की अतिशय व्याकुलता ही सूचित हो रही है ।

89 हेऽर्जुन मा भैषीः । यतो मया प्रसन्नेन त्वद्विषयकृपातिशयवतेदं विश्वरूपात्मकं परं श्रेष्ठं रूपं तव दर्शितमात्मयोगादसाधारणान्निजसामर्थ्यात् । परत्वं विवृणोति तेजोमयं तेजःप्रचुरं विश्वं समस्तमनन्तमाद्यं च यन्मम रूपं त्वदन्येन केनापि न दृष्टपूर्वं पूर्वं न दृष्टम् ॥ 47 ॥

90 एतद्रूपदर्शनात्मकमतिदुर्लभं मत्प्रसादं लब्ध्वा कृतार्थ एवासि त्वमित्याह –

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ 48 ॥

91 वेदानां चतुर्णामपि अध्ययनैरक्षरग्रहणरूपैः, तथा मीमांसाकल्पसूत्रादिद्वारा यज्ञानां वेदबोधितकर्मणामध्ययनैरर्थविचाररूपैर्वेदयज्ञाध्ययनैः, दानैस्तुलापुरुषादिभिः, क्रियाभिरग्निहोत्रादिश्रौतकर्मभिः, तपोभिः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिरुग्रैः कायेन्द्रियशोषकत्वेन दुष्करैरेवंरूपोऽहं न शक्यो नृलोके मनुष्यलोके द्रष्टुं त्वदन्येन मदनुग्रहहीनेन हे कुरुप्रवीर । शक्योऽहमिति वक्तव्ये विसर्गलोपश्छान्दसः । प्रत्येकं नकाराभ्यासो निषेधदार्ढ्याय । न च क्रियाभिरित्यत्र चकारादनुक्तसाधनान्तरसमुच्चयः ॥ 48 ॥

---

89 हे अर्जुन[81] ! मत डरो, क्योंकि मैंने प्रसन्न होकर = तुम्हारे ऊपर अत्यन्त कृपा कर आत्मयोग से – अपनी योगशक्ति के प्रभाव से = अपने असाधारण सामर्थ्य से तुमको यह विश्वरूपात्मक परम श्रेष्ठ रूप दिखाया है । उस रूप के परत्व – श्रेष्ठत्व का विवरण करते हैं – यह रूप तेजोमय = तेज की प्रचुरता -- अधिकता से युक्त, विश्व अर्थात् समस्त, अनन्त और आद्य है अतएव परम श्रेष्ठ है, जिसको अर्थात् मेरे इस रूप को तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी ने भी पहले नहीं देखा है ॥ 47 ॥

90 मेरा एतद्-रूपदर्शनात्मक अतिदुर्लभ प्रसाद पाकर तुम कृतार्थ ही हो – यह कहते हैं :--
[हे कुरुप्रवीर ! हे कुरुश्रेष्ठ ! मनुष्यलोक में तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा एवंरूप = विश्वरूपात्मक मैं न वेद और यज्ञों के अध्ययनों से देखा जा सकता हूँ, न दानों से, न क्रियाओं से और न उग्र तपों से ही देखा जा सकता हूँ ॥ 48 ॥]

91 हे कुरुप्रवीर[82] ! मनुष्यलोक में तुम्हारे अतिरिक्त मेरे अनुग्रह से हीन-शून्य अन्य कोई भी पुरुष एवंरूप = विश्वरूप मुझको वेद और यज्ञों के अध्ययनों से = चारों वेदों के अक्षरग्रहणरूप अध्ययनों से तथा मीमांसा, कल्पसूत्र आदि द्वारा यज्ञों = वेदबोधित – वेदप्रतिपादित कर्मों के अर्थविचाररूप अध्ययनों से, तुलापुरुष आदि दानों से, क्रियाओं = अग्निहोत्रादि श्रौत कर्मों से और उग्र = शरीर और इन्द्रियों के शोषक होने से दुष्कर कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि तपों से भी नहीं देख सकता है । 'शक्योऽहम्' -- ऐसा कहना उचित है, किन्तु यहाँ विसर्ग का लोप छान्दस है । प्रत्येक में नकार का अभ्यास = पुनः-पुनः कथन निषेध की दृढ़ता के लिए है । 'न च क्रियाभिः' -- यहाँ चकार से अनुक्त दूसरे साधनों का भी समुच्चय है ॥ 48 ॥

---

81. शुद्ध अन्तःकरण न होने से कोई भी भगवान् के इस विश्वरूप का दर्शन करने में समर्थ नहीं होता है, यह विश्वरूपदर्शन भगवत्कृपा अर्थात् ईश्वरप्रसाद से होता है और भगवदनुग्रह शुद्ध अन्तःकरणवाले भक्त पर ही होता है । अर्जुन ने ही सर्वप्रथम भगवान् के इस विश्वरूप का भगवत्कृपा से ही दर्शन किया है, अतएव अर्जुन फलाभिसन्धिरहित होने के कारण शुद्धबुद्धि और भगवान् के भक्त हैं – यह सूचित करने के लिए यहाँ 'अर्जुन' सम्बोधन है ।

82. अन्य कुरु हैं और कोई कुरुवीर हैं, किन्तु तुम मेरे विश्वरूप का दर्शन करने से प्रकर्ष – उत्कर्ष को भी प्राप्त हुए हो, अतएव 'कुरुप्रवीर' हो -- यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

92 एवं त्वदनुग्रहार्थमाविर्भूतेन रूपेणानेन चेत्तवोद्वेगस्तर्हि –

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ 49 ॥

93 इदं घोरमीदृगनेकबाह्वादियुक्तत्वेन भयंकरं रूपं दृष्ट्वा स्थितस्य ते तव या व्यथा भयनिमित्ता पीडा सा मा भूत् । तथा मद्रूपदर्शनेऽपि यो विमूढभावो व्याकुलचित्तत्वमपरितोषः सोऽपि मा भूत्किं तु व्यपेतभीरपगतभयः प्रीतमनाश्च सन्पुनस्त्वं तदेव चतुर्भुजं वासुदेवत्वादिविशिष्टं त्वया सदा पूर्वदृष्टं रूपमिदं विश्वरूपोपसंहारेण प्रकटीक्रियमाणं प्रपश्य प्रकर्षेण भयराहित्येन संतोषेण च पश्य ॥ 49 ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ 50 ॥

94 वासुदेवोऽर्जुनमिति प्रागुक्तमुक्त्वा यथा पूर्वमासीत्तथा स्वकं रूपं किरीटमकरकुण्डलगदाचक्रादियुक्तं चतुर्भुजं श्रीवत्सकौस्तुभवनमालापीताम्बरादिशोभितं दर्शयामास भूयः पुनराश्वासयामास च भीतमेनमर्जुनं भूत्वा पुनः पूर्ववत्सौम्यवपुरनुग्रशरीरो महात्मा परमकारुणिकः सर्वेश्वरः सर्वज्ञ इत्यादिकल्याणगुणाकरः ॥ 50 ॥

---

92 इस प्रकार तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करने के लिए आविर्भूत– आविष्कृत इस रूप से यदि तुमको उद्वेग हो रहा है तो –

[मेरे इस प्रकार के इस घोर -- भयानक रूप को देखकर तुमको व्यथा न हो और विमूढभाव भी न हो । तुम निर्भय होकर प्रसन्न मन से पुनः मेरा यह वही रूप देखो ॥ 49 ॥]

93 मेरे इस प्रकार के इस घोर अर्थात् अनेक बाहुओं आदि से युक्त होने से भयंकर रूप को देखकर स्थित हुए तुमको जो व्यथा = भयजनित पीड़ा हो रही है वह न हो । तथा मेरा रूप देखने पर भी जो विमूढ़भाव = व्याकुलचित्तत्व अर्थात् अपरितोष – असन्तोष हो रहा है वह भी न हो, किन्तु व्यपेतभीः -- अपगतभय अर्थात् भयरहित और प्रसन्नचित्त होकर तुम पुनः वही तुम्हारे द्वारा पहले सदा देखा हुआ, विश्वरूप के उपसंहारद्वारा प्रकट किया हुआ यह[83] वासुदेवत्वादि से विशिष्ट चतुर्भुज रूप प्रपश्य = प्रकर्ष से अर्थात् भयराहित्य और सन्तोष से देखो ॥ 49 ॥

[संजय ने कहा --वासुदेव ने अर्जुन से इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुजरूप को दिखाया और फिर महात्मा ने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत हुए अर्जुन को आश्वासन दिया ॥50॥]

94 वासुदेव ने अर्जुन से इस प्रकार = पूर्वोक्त कहकर जैसा पहले था वैसा ही अपना किरीट, मकराकृति कुण्डल, गदा, चक्र आदि से युक्त चतुर्भुज और श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, पीताम्बर आदि से शोभित रूप दिखाया और फिर महात्मा = परमकारुणिक, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ इत्यादि कल्याणमय गुणों

---

83. भगवान् जो वासुदेवत्वादि से विशिष्ट चतुर्भुजरूप को विश्वरूप के उपसंहार द्वारा प्रकट कर रहे हैं वह अब अर्जुन के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से देखे जाने योग्य है – यह सूचित करने के लिए 'इदम् = यह' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

95 ततो निर्भयः सन् –

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ 51 ॥

96 इदानीं सचेता भयकृतव्यामोहाभावेनाव्याकुलचित्तः संवृत्तोऽस्मि तथा प्रकृतिं भयकृत-व्यथाराहित्येन स्वास्थ्यं गतोऽस्मि । स्पष्टमन्यत् ॥ 51 ॥

97 स्वकृतस्यानुग्रहस्यातिदुर्लभत्वं दर्शयंश्चतुर्भिः–

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ 52 ॥

98 मम यद्रूपमिदानीं त्वं दृष्टवानसि, इदं विश्वरूपं सुदुर्दर्शमत्यन्तं द्रष्टुमशक्यम् । यतो देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं सर्वदा दर्शनकाङ्क्षिणो न तु त्वमिव पूर्वं दृष्टवन्तो न वाऽग्रे द्रक्ष्यन्तीत्यभिप्रायः । दर्शनाकाङ्क्षाया नित्यत्वोक्तेः ॥ 52 ॥

99 कस्माद्देवा एतद्रूपं न दृष्टवन्तो न वा द्रक्ष्यन्ति मद्भक्तिशून्यत्वादित्याह –

के आकर भगवान् ने पुनः = पूर्ववत् सौम्यवपु = अनुग्र शरीर होकर इस भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया ॥ 50 ॥

95 उसके उपरान्त निर्भय होकर --
[अर्जुन ने कहा – हे जनार्दन [84] ! आपका यह सौम्य मानुष रूप देखकर अब मैं शान्तचित्त हुआ हूँ और अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूँ ॥ 51 ॥]

96 अब मैं सचेता = भयकृत व्यामोह का अभाव होने से अव्याकुल -- शान्त चित्त हुआ हूँ तथा प्रकृति = भयकृत व्यथारहित होने से स्वास्थ्य को प्राप्त हो गया हूँ । शेष स्पष्ट है ॥ 51 ॥

97 स्वकृत अनुग्रह के अति दुर्लभत्व को दिखलाते हुए चार श्लोकों से श्रीभगवान् ने कहा --
[हे अर्जुन ! मेरा यह रूप देखना अत्यन्त दुर्लभ है जिसको तुमने देखा है, देवता भी सदा इस रूप के दर्शन की इच्छावाले रहते हैं ॥ 52 ॥]

98 मेरा जो रूप इस समय तुमने देखा है यह विश्वरूप सुदुर्दर्श = देखने के लिये अत्यन्त अशक्य है, क्योंकि देवता भी नित्य-- सर्वदा इस रूप के दर्शन की इच्छावाले रहते हैं । अभिप्राय यह है कि इन्होंने इसको तुम्हारे समान न तो पहले देखा है और न ये आगे ही देखेंगे, कारण कि उनकी दर्शन की आकांक्षा की नित्यता कही गई है ॥ 52 ॥

99 देवताओं ने इस रूप को क्यों नहीं देखा है और ये क्यों नहीं देखेंगे ? मेरी भक्ति से शून्य होने के कारण इन्होंने इसको नहीं देखा है और न ये देखेंगे -- यह कहते हैं :--

---

84. भक्तों के दुःखों का जो अर्दन - नाश करते है वे 'जनार्दन' हैं । भगवान् ने अपने सौम्यरूप के दर्शन से भयभीत अर्जुन का भय और मोह दूर कर अर्जुन को आश्वासन – धीरज दिया इसलिए अर्जुन ने उनको 'जनार्दन' कहकर सम्बोधन किया है ।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ 53 ॥

100 न वेदयज्ञाध्ययनैरित्यादिना गतार्थः श्लोकः परमदुर्लभत्वख्यापनायाभ्यस्तः ॥ 53 ॥

101 यदि वेदतपोदानेज्याभिर्द्रष्टुमशक्यस्त्वं तर्हि केनोपायेन द्रष्टुं शक्योऽसीत्यत आह –

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ 54 ॥

102 साधनान्तरव्यावृत्त्यर्थस्तुशब्दः । भक्त्यैवानन्यया मदेकनिष्ठया निरतिशयप्रीत्यैवंविधो दिव्यरूपधरोऽहं ज्ञातुं शक्यः शास्त्रतो हेऽर्जुन । शक्य अहमिति च्छान्दसो विसर्गलोपः पूर्ववत् । न केवलं शास्त्रतो ज्ञातुं शक्योऽनन्यया भक्त्या किं तु तत्त्वेन द्रष्टुं च स्वरूपेण साक्षात्कर्तुं च शक्यो वेदान्तवाक्यश्रवणमनननिदिध्यासनपरिपाकेण । ततश्च स्वरूपसाक्षात्कारादविद्यातत्कार्यनिवृत्तौ तत्त्वेन प्रवेष्टुं च मद्रूपतयैवाऽऽप्तुं चाहं शक्यो हे परंतप, अज्ञानशत्रुदमनेति प्रवेशयोग्यतां सूचयति ॥ 54 ॥

[तुमने मुझको जैसा देखा है उस प्रकार मैं न तो वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही देखा जा सकता हूँ ॥ 53 ॥]

100 'न वेदयज्ञाध्ययनै:' – इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक से यह श्लोक गतार्थ है । विश्वरूपदर्शन की परम दुर्लभता कहने के लिए इसकी पुनः आवृत्ति कर दी है ॥ 53 ॥

101 यदि आप वेद, तप, दान और यज्ञ से नहीं देखे जा सकते हैं तो फिर किस उपाय से देखे जा सकते हैं ? इस पर कहते हैं –

[हे अर्जुन ! हे परन्तप[85] ! इस प्रकार का मैं तो अनन्य भक्ति से ही जाना, देखा और तत्त्वतः प्राप्त किया जा सकता हूँ ॥ 54 ॥]

102 यहाँ 'तु' शब्द अन्य साधन की व्यावृत्ति के लिए है । हे अर्जुन ! इस प्रकार का दिव्यरूपधारी मैं अनन्य भक्ति[86] = मदेकनिष्ठ – मुझ एक में ही निष्ठ निरतिशय प्रीति से ही शास्त्रद्वारा जाना जा सकता हूँ । 'शक्य अहम्' – यहाँ विसर्ग का लोप पूर्ववत् छान्दस है । अनन्य भक्ति से मैं न केवल शास्त्र द्वारा जाना ही जा सकता हूँ, अपितु तत्वतः देखा भी जा सकता हूँ अर्थात् वेदान्त के वाक्यों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन के परिपाक द्वारा मेरा स्वरूप से साक्षात्कार भी किया जा सकता है । तत्पश्चात् स्वरूप का साक्षात्कार होने से अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति हो जाने पर तत्त्वतः मुझमें प्रवेश भी किया जा सकता है अर्थात् मेरे रूप से ही मुझको प्राप्त भी किया

---

85. 'अर्जुन' शब्द का अर्थ शुद्धबुद्धि है । जीव शुद्धबुद्धि सम्पन्न होने से ही अज्ञानरूप शत्रु का तपन – नाश करने में समर्थ होता है, इसलिए अर्जुन 'परन्तप' है । अज्ञान और उसके कार्य से अपने को मुक्त कर भगवान् को यथार्थरूप से जानने और देखने तथा उनमें प्रवेश करने की सामर्थ्य अर्जुन की है – यह सूचित करने के लिए ही सम्बोधनद्वय है ।

86. जो भक्ति भगवान् के अतिरिक्त अन्यत्र किसी पृथक् वस्तु में कभी भी नहीं होती है वह अनन्यभक्ति है अर्थात् जिस भक्ति के कारण भक्त को समस्त इन्द्रियों द्वारा एक वासुदेव भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है उसको 'अनन्य भक्ति' कहते हैं ।

103 अधुना सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सारभूतोऽर्थो निःश्रेयसार्थिनामनुष्ठानाय पुञ्जीकृत्योच्यते --

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ 55 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ 11 ॥

104 मदर्थं कर्म वेदविहितं करोतीति मत्कर्मकृत् । स्वर्गादिकामनायां सत्यां कथमेवमिति नेत्याह मत्परमः, अहमेव परमः प्राप्तव्यत्वेन निश्चितो न तु स्वर्गादिर्यस्य सः । अत एव मत्प्राप्त्याशया मद्भक्तः सर्वैः प्रकारैर्मम भजनपरः । पुत्रादिषु स्नेहे सति कथमेवं स्यादिति नेत्याह-सङ्गवर्जितः, बाह्यवस्तुस्पृहाशून्यः । शत्रुषु द्वेषे सति कथमेवं स्यादिति नेत्याह-निर्वैरः सर्वभूतेषु अपकारिष्वपि द्वेषशून्यो यः स मामेत्यभेदेन हे पाण्डव । अयमर्थस्त्वया ज्ञातुमिष्टो मयोपदिष्टो नातः परं किंचित्कर्तव्यमस्तीत्यर्थः ॥ 55 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां विश्वरूपदर्शननिरूपणं नामैकादशोऽध्यायः ॥ 11 ॥

जा सकता है हे परन्तप ! हे अज्ञानरूप शत्रु का दमन करनेवाले ! -- इसप्रकार सम्बोधन से भगवान् अर्जुन की अपने में प्रवेश करने की योग्यता को सूचित करते हैं ॥ 54 ॥

103 अब मोक्षार्थियों के अनुष्ठान के लिए सम्पूर्ण गीताशास्त्र का सारभूत अर्थ एकत्रित करके कहा जाता है :--

[हे पाण्डव ! जो मेरे लिए ही कर्म करनेवाला, मुझको ही परम अर्थात् प्राप्तव्य समझनेवाला, मेरा भक्त, सङ्गरहित और समस्त प्राणियों में वैरभाव से रहित होता है वह मुझको ही प्राप्त होता है ॥ 55 ॥]

104 जो मेरे लिए ही वेदविहित कर्म करता है वह 'मत्कर्मकृत' है । स्वर्गादि की कामना रहने पर यह कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं-- नहीं, जो 'मत्परम' है अर्थात् जिसका मैं ही परम = प्राप्तव्यरूप से निश्चित हूँ, न कि स्वर्गादि वह 'मत्परम' है, अतएव मेरी प्राप्ति की आशा से जो 'मेरा भक्त' है अर्थात् सब प्रकार से मेरे भजन में ही लीन रहता है । पुत्रादि में स्नेह रहने पर यह कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं -- नहीं, जो 'सङ्गवर्जित' है अर्थात् बाह्य वस्तुओं के प्रति स्पृहा -- स्नेहशून्य है । शत्रुओं के प्रति द्वेष रहने पर यह कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं -- नहीं, जो 'निर्वैर' है अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति वैरशून्य है, अपना अपकार करनेवालों के प्रति भी द्वेषशून्य है वह मुझको अभेदभाव से प्राप्त होता है, हे पाण्डव ! यह अर्थ तुमको जानना इष्ट था, सो मैंने इसका उपदेश कर दिया, इससे बढ़कर कोई कर्तव्य नहीं है -- यह तात्पर्य है ॥ 55 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का विश्वरूपदर्शन नाम एकादश अध्याय समाप्त होता है ।

अथ द्वादशोऽध्यायः

1 पूर्वाध्यायान्ते---

'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥'

इत्युक्तम् । तत्र मच्छब्दार्थे संदेहः किं निराकारमेव सर्वस्वरूपं वस्तु मच्छब्देनोक्तं भगवता किं वा साकारमिति । उभयत्रापि प्रयोगदर्शनात् ।

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

इत्यादौ निराकारं वस्तु व्यपदिष्टं, विश्वरूपदर्शनानन्तरं च--

'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥'

इति साकारं वस्तु । उभयोश्च भगवदुपदेशयोरधिकारिभेदेनैव व्यवस्थया भवितव्यमन्यथा विरोधात् । तत्रैवं सति मया मुमुक्षुणा किं निराकारमेव वस्तु चिन्तनीयं किं वा साकारमिति स्वाधिकारनिश्चयाय सगुणनिर्गुणविद्ययोर्विशेषबुभुत्सया--

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ 1 ॥

---

1 पूर्व अध्याय के अन्त में 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्त: सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव' -- यह श्लोक कहा है । उसमें 'मत्'शब्द के अर्थ में सन्देह है कि क्या भगवान् ने 'मत्' शब्द से निराकार ही सर्वस्वरूप वस्तु को कहा है अथवा साकार को भी कहा है ? क्योंकि निराकार और साकार -- दोनों ही अर्थो में 'मत्' शब्द का प्रयोग देखा जाता है । जैसे:-- 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ: ।। (गीता, 7.19)- इत्यादि में निराकार वस्तु को 'मत्' शब्द से कहा गया है और विश्वरूपदर्शन के पश्चात् 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा' (गीता, 11.53) -- इस प्रकार उक्त श्लोक में साकार वस्तु को 'मत्' शब्द से कहा गया है । भगवान् के इन दोनों उपदेशों में अधिकारी के भेद से ही व्यवस्था होनी चाहिए, अन्यथा परस्पर विरोध होगा । ऐसी परिस्थिति में मुमुक्षु मुझको निराकार ही वस्तु का चिन्तन करना चाहिए अथवा साकार वस्तु का चिन्तन करना चाहिए -- इस प्रकार अपने अधिकार का निश्चय करने के लिए सगुण और निर्गुण -- दोनों विद्याओं में विशेष -- भेद जानने की इच्छा से अर्जुन ने कहा --

[अर्जुन ने कहा -- हे भगवन् । इस प्रकार जो भक्त निरन्तर योगयुक्त होकर सगुण -- साकाररूप आपकी उपासना करते हैं और जो अक्षर -- अविनाशी, अव्यक्त -- निराकार ब्रह्म की ही उपासना करते हैं -- उन दोनों प्रकार के उपासकों में से कौन अति उत्तम योगवेत्ता हैं ? ।। 1 ।।]

2 **एवं मत्कर्मकृदित्याद्यनन्तरोक्तप्रकारेण सततयुक्ता नैरन्तर्येण भगवत्कर्मादौ सावधानतया प्रवृत्ता भक्ताः साकारवस्त्वेकशरणाः सन्तस्त्वामेवंविधं साकारं ये पर्युपासते सततं चिन्तयन्ति । ये चापि सर्वतो विरक्तास्त्यक्तसर्वकर्माणोऽक्षरं न क्षरत्यश्नुते वेत्यक्षरम् 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' इत्यादिश्रुतिप्रतिषिद्धसर्वोपाधि निर्गुणं ब्रह्म । अत एवाव्यक्तं सर्वकरणागोचरं निराकारं त्वां पर्युपासते तेषामुभयेषां मध्ये के योगवित्तमा अतिशयेन योगविदः, योगं समाधिं विन्दन्ति विदन्तीति वा योगविद उभयेऽपि । तेषां मध्ये के श्रेष्ठा योगिनः केषां ज्ञानं मयाऽनुसरणीयमित्यर्थः ॥ 1 ॥**

3 **तत्र सर्वज्ञो भगवानर्जुनस्य सगुणविद्यायामेवाधिकारं पश्यंस्तं प्रति तां विधास्यति यथाधिकारं तारतम्योपेतानि च साधनानि । अतः प्रथमं साकारब्रह्मविद्यां प्ररोचयितुं स्तुवन्प्रथमाः श्रेष्ठा इत्युत्तरम्--**

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ 2 ॥

4 **मयि भगवति वासुदेवे परमेश्वरे सगुणे ब्रह्मणि मन आवेश्यानन्यशरणतया निरतिशयप्रियतया च प्रवेश्य हिङ्गुलरङ्ग इव जतु तन्मयं कृत्वा ये मां सर्वयोगेश्वराणामीश्वरं सर्वज्ञं समस्तकल्याण-**

2 इसप्रकार अर्थात् 'मत्कर्मकृत्' -- इत्यादि में उक्त प्रकार से सततयुक्त= निरन्तर भगवत्कर्म आदि में सावधान होकर प्रवृत्त जो भक्त साकार वस्तु की एकशरण होकर एवंविध साकार आपकी सब प्रकार उपासना करते हैं = साकाररूप आपका निरन्तर चिन्तन करते हैं और जो सब ओर से विरक्त अतएव सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर अक्षर = जो क्षर -- नश्वर नहीं होता है अथवा जो व्याप्त होता है -- ऐसे अक्षर अर्थात् 'गार्गि । इस उस अक्षर को ही ब्राह्मण अस्थूल, अनणु, अह्रस्व और अदीर्घ कहते हैं' -- इत्यादि श्रुति से समस्त उपाधियों रहित निर्गुण ब्रह्म अतएव अव्यक्त = समस्त इन्द्रियों से अगोचर निराकार आपकी सब प्रकार उपासना करते हैं, उनमें से = दोनों प्रकार के उपासकों में से कौन योगवित्तम = अतिशय से योगविद हैं । यद्यपि दोनों योगविद हैं = योग -- समाधि को विन्दन्ति -- पाते हैं अथवा विदन्ति -- जानते हैं, तथापि उनमें से कौन श्रेष्ठ योगी हैं अर्थात् किनके ज्ञान का मुझको अनुसरण करना चाहिए ॥ 1 ॥

3 उन सगुण और निर्गुण -- दोनों विद्याओं में से सर्वज्ञ भगवान् अर्जुन का सगुणविद्या में ही अधिकार देखते हुए अर्जुन के प्रति सगुणविद्या का विधान करेंगे और अधिकार के अनुसार तारतम्यसहित उसके साधनों का भी निरूपण करेंगे । अतः पहले साकार ब्रह्मविद्या की प्ररोचना -- व्याख्या करने के लिए उसकी स्तुति -- प्रशंसा करते हुए 'उक्त दोनों प्रकार के योगविदों में से प्रथम ही श्रेष्ठ हैं' -- यह उत्तर भगवान् ने कहा --

[श्री भगवान् ने कहा -- हे अर्जुन ! मुझमें ही मन को एकाग्र करके निरन्तर प्रयत्न करते हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए मेरी उपासना करते हैं उनको मैं सर्वोत्तम -- सबसे श्रेष्ठ **योगवेत्ता** मानता हूँ ॥ 2 ॥]

4 मुझ भगवान् वासुदेव परमेश्वर सगुण ब्रह्म में ही मन लगाकर = अनन्यशरणता -- एकनिष्ठता और निरतिशयप्रियता -- अतिशय प्रीति से मन का प्रवेशकर अर्थात् हिङ्गुल -- सिंदूर के रंग में जतु--

गुणनिलयं साकारं नित्ययुक्ताः सततोद्युक्ताः श्रद्धया परया प्रकृष्टया सात्त्विक्योपेताः सन्त उपासते सदा चिन्तयन्ति ते युक्ततमा मे मम मता अभिप्रेताः । ते हि सदा मदासक्तचित्ततया मामेव विषयान्तरविमुखाश्चिन्तयन्तोऽहोरात्राण्यतिवाहयन्ति । अतस्त एव युक्ततमा मता अभिमताः ॥2 ॥

5 **निर्गुणब्रह्मविद्पेक्षया सगुणब्रह्मविदां कोऽतिशयो येन त एव युक्ततमास्तवाभिमता इत्यपेक्षायां तमतिशयं वक्तुं तन्निरूपकान्निर्गुणब्रह्मविदः प्रस्तौति द्वाभ्याम् –**

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ 3 ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ 4 ॥

6 **येऽक्षरं मामुपासते तेऽपि मामेव प्राप्नुवन्तीति द्वितीयगतेनान्वयः । पूर्वेभ्यो वैलक्षण्यद्योतनाय तुशब्दः । अक्षरं निर्विशेषं ब्रह्म वाचक्नवीब्राह्मणे प्रसिद्धं तस्य समर्पणाय सप्त विशेषणानि । अनिर्देश्यं शब्देन व्यपदेष्टुमशक्यं यतोऽव्यक्तंशब्दप्रवृत्तिनिमित्तैर्जातिगुणक्रियासम्बन्धै रहितम् । जातिं गुणं क्रियां सम्बन्धं वा द्वारीकृत्य शब्दप्रवृत्तेर्निर्विशेषे प्रवृत्त्ययोगात् । कुतो जात्यादिराहि-**

लाख के समान मन को तन्मय कर जो नित्ययुक्त = सतत – निरन्तर प्रयत्नशील होकर परा = प्रकृष्ट अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा से युक्त होकर सब योगेश्वरों के ईश्वर, सर्वज्ञ, समस्त कल्याणमय गुणों के आकर, साकार मेरी उपासना करते हैं – मेरा सदा चिन्तन करते हैं वे ही युक्ततम मुझको अभिमत -- अभिप्रेत हैं अर्थात् उनको ही मैं युक्ततम मानता हूँ । क्योंकि वे सदा मुझमें ही आसक्तचित्त रहने के कारण अन्य विषयों से विमुख होकर मेरा ही चिन्तन करते हुए दिन – रात्रि बिताते हैं, इसलिए उनको ही मैं युक्ततम मानता हूँ ॥ 2 ॥

5 निर्गुण ब्रह्मवेत्ताओं की अपेक्षा सगुण ब्रह्मवेत्ताओं में ऐसा क्या अतिशय -- विशेष है जिससे वे ही आपको युक्ततम अभिमत हैं ? -- इस अपेक्षा में उस अतिशय -- विशेष को बतलाने के लिए उसके निरूपक निर्गुण ब्रह्मवेत्ताओं का दो श्लोकों से प्रस्ताव करते हैं :–

[जो जन तो इन्द्रियों के समूह को भलीभाँति नियन्त्रित कर, सर्वत्र समबुद्धि रखकर और समस्त प्राणियों के हित में रत-- तत्पर होकर शब्द से कथन करने के अयोग्य, अव्यक्त, सर्वत्रग -- सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ = अज्ञान और उसके कार्य के अधिष्ठानभूत अतएव निर्विकार, नित्य, अविनाशी निर्गुण -- निर्विशेष ब्रह्म की उपासना करते हैं वे भी मुझको ही प्राप्त करते हैं ॥ 3-4 ॥]

6 जो पुरुष अक्षरब्रह्मरूप मेरी उपासना करते हैं वे भी मुझको ही प्राप्त करते हैं -- इस प्रकार द्वितीय श्लोक के साथ अन्वय है । पूर्व अर्थात् सगुण ब्रह्मवेत्ताओं से वैलक्षण्य -- विलक्षणता सूचित करने के लिए 'तु' शब्द का प्रयोग है । अक्षर = निर्विशेष ब्रह्म, जो बृहदारण्यकोपनिषद् के वाचक्नवी ब्राह्मण में प्रसिद्ध है उसको समर्पित करने के लिए सात विशेषण दिये हैं ।'अनिर्देश्य'= शब्द से कथन करने के लिए अशक्य -- अयोग्य है, क्योंकि 'अव्यक्त' है = शब्दप्रवृत्ति के निमित्त जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध से रहित है, कारण कि जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध को द्वार बनाकार

त्यमत आह सर्वत्रगं सर्वव्यापि सर्वकारणम् । अतो जात्यादिशून्यं परिच्छिन्नस्य कार्यस्यैव जात्यादियोगदर्शनात्, आकाशादीनामपि कार्यत्वाभ्युपगमाच्च । अत एवाचिन्त्यं शब्दवृत्तेरिव मनोवृत्तेरपि न विषयः, तस्या अपि परिच्छिन्नविषयत्वात् । 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेः ।

7 **तर्हि कथं'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इति च श्रुतिः । 'शास्त्रयोनित्वात्' इति सूत्रं च । उच्यते, अविद्याकल्पितसंबन्धेन शब्दजन्यायां बुद्धिवृत्तौ चरमायां परमानन्दबोधरूपे शुद्धे वस्तुनि प्रतिबिम्बितेऽविद्यातत्कार्ययोः कल्पितयोर्निवृत्त्युपपत्तेरुपचारेण**

शब्दप्रवृत्ति होती है[1] और निर्विशेष ब्रह्म में उक्त निमित्तों के न रहने से शब्दप्रवृत्ति नहीं होती है । वह जाति आदि से रहित क्यों है ? इसपर कहते हैं – 'सर्वत्रग'सर्वव्यापी अर्थात् सबका कारण है, अतः जाति आदि से शून्य -- रहित है, क्योंकि परिच्छिन्न कार्य का ही जाति आदि के साथ योग देखा जाता है और आकाशादि भी कार्यरूप स्वीकार किये गए हैं । अतएव 'अचिन्त्य' है = शब्दवृत्ति के समान मनोवृत्ति का भी विषय नहीं है, क्योंकि मनोवृत्ति भी परिच्छिन्नविषयक ही होती है, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' = 'जिससे मन के सहित वाणी उसको न पाकर लौट आती है' ।

7 यदि निर्गुण -- निर्विशेष ब्रह्म मनोवृत्ति का विषय नहीं है तो 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' = 'उस औपनिषद पुरुष को पूँछता हूँ', 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' = 'जो अग्र -- श्रेष्ठ बुद्धि से देखा जाता है' -- ये श्रुतियाँ और 'शास्त्रयोनित्वात्'(ब्रह्मसूत्र, 1.1.3) = 'जो शास्त्रप्रमाणक है' -- यह सूत्र कैसे संगत होंगे ? इसका समाधान है -- अविद्याकल्पित सम्बन्ध से शब्दजन्य चरम-अन्तिम बुद्धिवृत्ति

1. जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध – ये चार शब्दप्रवृत्ति के निमित होते हैं । पदार्थ का प्राणप्रद या जीवनाधायक धर्म 'जाति' होता है (पदार्थस्य प्राणप्रदो धर्मो जाति: – काव्यप्रकाश) । जैसा कि भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय नामक ग्रन्थ में कहा है कि "न हि गौ: स्वरूपेण गौर्नाप्यगौ: गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौ: ' = ' गौ स्वरूपत: न गौ होती है न अ-गौ । 'गोत्व' जाति के सम्बन्ध से ही 'गौ' कहलाती है' । 'जाति' का ही दूसरा नाम सामान्य है । अनुगत – एकाकार प्रतीति का हेतु 'सामान्य' कहलाता है (अनुवृत्तिप्रत्ययहेतु: सामान्यम्) । यह सामान्य नित्य और अनेक में समवेत धर्म होता है (नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यम्) । वस्तु का विशेषाधानहेतु 'गुण' कहलाता है (विशेषाधानहेतुर्गुण: – काव्यप्रकाश), क्योंकि शुक्ल आदि गुणों के कारण ही सत्ताप्राप्त वस्तु अपने सजातीय अन्य पदार्थों से विशेष भिन्नता को प्राप्त होती है । जैसे – गौ के साथ गुणवाचक शुक्ल विशेषण अन्य गौओं की अपेक्षा उसकी विशेषता या भिन्नता को सूचित करता है । साध्यरूप वस्तुधर्म दाल आदि के पकाने में चूल्हा जलाकर बटलोई रखने से लेकर उसके उतारने तक आगे – पीछे किया जानेवाला पूर्वापरीभूत सारा व्यापारकलाप क्रियारूप अर्थात् 'क्रिया' शब्द से वाच्य होता है (साध्य: पूर्वापरीभूतावयव: क्रियारूप:–काव्यप्रकाश) । साक्षात् और परम्परा भेद से 'सम्बन्ध' दो प्रकार का होता हैं । ईश्वर की इच्छा, अथवा वाच्यवाचकभाव के मूल तादात्म्य – सम्बन्ध = साक्षात् – सम्बन्ध का नाम 'शक्ति' है । जिस अर्थ में शब्द की शक्ति होती है वह अर्थ उस शब्द का 'शक्य' कहलाता है । शक्यार्थ – सम्बन्ध को 'लक्षणा' कहते हैं । जैसे – 'गंगायां ग्राम: ' – यहाँ 'गंगा' शब्द की शक्ति प्रवाह में है, इसलिए प्रवाह 'गंगा' शब्द का शक्य है और उस प्रवाह से तीर का संयोग – सम्बन्ध है । इस प्रकार शब्द का अर्थ से जो परम्परा सम्बन्ध है वह 'लक्षणा' कही जाती है । उक्त दोनों सम्बन्धों में से परस्पर साक्षात् – सम्बन्ध तो किसी – किसी का ही होता है, सबका नहीं होता और परस्पर परम्परा – सम्बन्ध तो सभी पदार्थों का सम्भव होता है, जैसे – गोत्व और अश्वत्व का भी परस्पर 'व्यधिकरणता – सम्बन्ध' है । घटाभाव और घट का यद्यपि परस्पर विरोध है तथापि घट में घटाभाव का 'प्रतियोगिता – सम्बन्ध' है और घट का अपने अभाव में 'स्ववृत्ति – प्रतियोगितानिरूपकता – सम्बन्ध' है । इस प्रकार सभी पदार्थो का परस्पर परम्परा – सम्वन्ध सम्भव होता है । इसलिए साक्षात -- सम्बन्ध और परम्परा – सम्बन्ध के भेद से शब्द – वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं -- शक्ति और लक्षणा ।

विषयत्वाभिधानात् । अतस्तत्र कल्पितमविद्यासंबन्धं प्रतिपादयितुमाह--कूटस्थं, यन्मिथ्याभूतं सत्यतया प्रतीयते तत्कूटमिति लोकैरुच्यते । यथा कूटकार्षापणः कूटसाक्षित्वमित्यादौ । अज्ञानमपि मायाख्यं सह कार्यप्रपञ्चेन मिथ्याभूतमपि लौकिकैः सत्यतया प्रतीयमानं कूटं तस्मिन्नाध्यासिकेन संबन्धेनाधिष्ठानतया तिष्ठतीति कूटस्थमज्ञानतत्कार्याधिष्ठानमित्यर्थः । एतेन सर्वानुपपत्तिपरिहारः कृतः । अत एव सर्वविकाराणामविद्याकल्पितत्वात्तदधिष्ठानं साक्षिचैतन्यं निर्विकारमित्याह--अचलं, चलनं विकारः । अचलत्वादेव ध्रुवमपरिणामि नित्यम् । एतादृशं शुद्धं ब्रह्म मां पर्युपासते श्रवणेन प्रमाणगतामसंभावनामपोह्य मननेन च प्रमेयगतामनन्तरं विपरीतभावनानिवृत्तये ध्यायन्ति विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण तैलधारावदविच्छिन्नसमानप्रत्ययप्रवाहेण निदिध्यासनसंज्ञकेन ध्यानेन विषयीकुर्वन्तीत्यर्थः ॥ 3 ॥

8 **कथं पुनर्विषयेन्द्रियसंयोगे सति विजातीयप्रत्ययतिरस्कारोऽत आह--संनियम्य स्वविषयेभ्य उपसंहृत्येन्द्रियग्रामं करणसमुदायम् । एतेन शमदमादिसंपत्तिरुक्ता । विषयभोगवासनायां सत्यां कुत इन्द्रियाणां ततो निवृत्तिस्तत्राऽऽह -- सर्वत्र विषये समा तुल्या हर्षविषादाभ्यां रागद्वेषाभ्यां च रहिता मतिर्येषां सम्यग्ज्ञानेन तत्कारणस्याज्ञानस्यापनीतत्वाद्विषयेषु दोषदर्शनाभ्यासेन स्पृहाया**

में परमानन्दबोधरूप शुद्ध वस्तु के प्रतिबिम्बित होने पर कल्पित अविद्या और उसके कार्यो की निवृत्ति होती है, अतः उपचार से ब्रह्म को शास्त्र या बुद्धि का विषय कहा गया है । इसीलिए उसमें कल्पित अविद्यासम्बन्ध का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं -- वह 'कूटस्थ' है = जो मिथ्याभूत पदार्थ सत्यरूप से प्रतीत होता है वह लोक में 'कूट' कहा जाता है, जैसे -- कूटकार्षापण, कूटसाक्षी इत्यादि शब्द प्रसिद्ध हैं-- कार्यप्रपञ्च सहित मायासंज्ञक अज्ञान भी मिथ्याभूत होते हुए भी लौकिक पुरुषों को सत्यरूप से प्रतीत होता है, अत: 'कूट' है, उसमें आध्यासिक सम्बन्ध से अधिष्ठानरूप से स्थित है जो वह 'कूटस्थ' है अर्थात् वह अज्ञान और उसके कार्य का अधिष्ठान है । इससे सब अनुपपत्तियों का परिहार किया गया है । अतएव सब विकारों के अविद्याकल्पित होने से उनका अधिष्ठान साक्षी -- चैतन्य निर्विकार है -- यह कहते है:-- वह अचल है = चलन विकार है उससे रहित वह अचल -- निर्विकार है । अचल होने से ही ध्रुव = अपरिणामी अर्थात् नित्य है । ऐसे शुद्ध ब्रह्म मेरी जो उपासना[2] करते हैं = श्रवण से प्रमाणगत असम्भावना की निवृत्ति कर और मनन से प्रमेयगत असम्भावना की निवृत्ति कर विपरीतभावना की निवृत्ति के लिए शुद्ध ब्रह्म मेरा जो ध्यान करते हैं अर्थात् विजातीय प्रत्यय के तिरस्कारपूर्वक तैलधारा के समान अविच्छिन्न समान प्रत्यय के प्रवाहरूप निदिध्यासनसंज्ञक ध्यान से शुद्ध ब्रह्म मुझको जो विषय करते हैं ॥ 3 ॥

8 विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग रहने पर विजातीय प्रत्यय-- ज्ञान का तिरस्कार कैसे होता है ? इस शङ्का से कहते हैं -- इन्द्रियग्राम = इन्द्रियों के समूह अर्थात् करणों के समुदाय -- समूह को अपने-- अपने विषयों से संनियम्य = भलीभाँति नियन्त्रित कर = उपसंहृत कर अर्थात हटाकर (विजातीय प्रत्यय का तिरस्कार होता है) । इससे शम -- दम आदि षट्कसम्पत्ति को कहा गया है । विषयभोग की वासना रहने पर इन्द्रियों की उन विषयों से निवृत्ति कैसे होगी ? उसमें कहते

2. 'उपासनं नाम यथाशास्त्रमुपास्यस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत्समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते' = उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि का विषय बनाकर उसके समीप आसन लगाने को अर्थात् तैलधारावत् समान प्रत्ययों--वृत्तियों के प्रवाह से दीर्घकाल तक उसमें स्थित रहने को 'उपासना' कहते हैं ।

निरसनाच्च ते सर्वत्र समबुद्धयः । एतेन वशीकारसंज्ञा वैराग्यमुक्तम् । अत एव सर्वत्राऽऽत्मदृष्ट्या हिंसाकारणद्वेषरहितत्वात्सर्वभूतहिते रताः 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा' इति मन्त्रेण दत्तसर्वभूताभयदक्षिणाः कृतसंन्यासा इति यावत् 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा संन्यासमाचरेत्' इति स्मृतेः । एवंविधाः सर्वसाधनसंपन्नाः सन्तः स्वयं ब्रह्मभूता निर्विचिकित्सेन साक्षात्कारेण सर्वसाधनफलभूतेन मामक्षरं ब्रह्मैव ते प्राप्नुवन्ति, पूर्वमपि मद्रूपा एव सन्तोऽविद्यानिवृत्त्या मद्रूपा एव तिष्ठन्तीत्यर्थः । 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिभ्यः । इहापि च 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतमि'त्युक्तम् ॥ 4 ॥

9 **इदानीमेतेभ्यः पूर्वेषामतिशयं दर्शयन्नाह –**

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ 5 ॥

10 **पूर्वेषामपि विषयेभ्य आहृत्य सगुणे ब्रह्मणि मनआवेशे सततं तत्कर्मपरायणत्वे च परश्रद्धोपेतत्वे च क्लेशोऽधिको भवत्येव । किं तु अव्यक्तासक्तचेतसां निर्गुणब्रह्मचिन्तनपराणां तेषां पूर्वोक्त-**

हैं – जिनकी सर्वत्र-सब विषयों में समान = तुल्य अर्थात् हर्ष–विषाद और राग--द्वेष से रहित मति – बुद्धि रहती है वे सम्यक्--ज्ञान से उस विषमता के कारणभूत अज्ञान का अपनयन – निवारण होने से और विषयों में दोषदर्शन के अभ्यास से स्पृहा – इच्छा का निरसन – उन्मूलन होने से सर्वत्र समबुद्धि होते हैं । इससे वशीकारसंज्ञक वैराग्य कहा गया है । अतएव सर्वत्र आत्मदृष्टि होने से हिंसा के कारणभूत द्वेष से रहित होने के कारण समस्त प्राणियों के हित में रत रहते हैं = 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा' – इस मन्त्र से समस्त प्राणियों को अभयदक्षिणा देकर 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा संन्यासमाचरेत्'– 'समस्त प्राणियों को अभयदान देकर संन्यास ग्रहण करे' -- इस स्मृति के अनुसार कृतसंन्यास अर्थात् संन्यास लिए रहते हैं । इसप्रकार के वे निर्गुणोपासक सब साधनों से सम्पन्न होते हुए स्वयं ब्रह्मभूत होकर सब साधनों के फलभूत निर्विचिकित्स – निःसन्दिग्ध साक्षात्कार से मुझ अक्षर ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं अर्थात् पूर्व में भी मद्रूप ही होते हुए अविद्या की निवृत्ति द्वारा मद्रूप ही रहते हैं, जैसा कि 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' = 'ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है'; 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' = 'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है' – इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है और यहाँ भी = गीता में भी 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गीता, 7.18) = 'ज्ञानी तो आत्मरूप ही रहते हैं -- ऐसा मेरा मत है'-- इस प्रकार कहा ही गया है ॥ 4 ॥

9 अब इन निर्गुणोपासकों से पूर्व--सगुणोपासकों का अतिशय -- विशेष दिखलाते हुए कहते है':–

[उन अव्यक्त = निर्गुण ब्रह्म में आसक्त हुए चित्तवाले उपासकों के साधन में अत्यधिक क्लेश अर्थात् परिश्रम विशेष होता है, क्योंकि देहाभिमानी जीवों से अव्यक्त – निर्गुणब्रह्मविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है ॥ 5॥]

10 पूर्व--सगुणोपासकों को भी मन को विषयों से हटाकर सगुणब्रह्म में लगाने, निरन्तर तत्कर्मपरायण होने और परा – प्रकृष्ट अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा से युक्त होने में क्लेश तो अधिक होता ही है, किन्तु उन अव्यक्त में आसक्त हुए चित्तवाले अर्थात् निर्गुण – ब्रह्मचिन्तनपरायण पूर्वोक्त साधनोंवाले उपासकों को क्लेश -- आयास – परिश्रम अधिकतर = अत्यधिक होता है । इसमें भगवान् स्वयं ही हेतु कहते हैं -- 'अव्यक्ता हि गतिः' = हि = यस्मात् = क्योंकि अव्यक्तविषयक गति = अक्षरा-

साधनवतां क्लेश आयासोऽधिकतरोऽतिशयेनाधिकः । अत्र स्वयमेव हेतुमाह भगवान् -- अव्यक्ता हि गतिः, हि यस्मादक्षरात्मकं गन्तव्यं फलभूतं ब्रह्म दुःखं यथा स्यात्तथा कृच्छ्रेण देहवद्भिर्देहमानिभिरवाप्यते । सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वा गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यानां तेन तेन विचारेण तत्तद्भ्रमनिराकरणे महान्प्रयासः प्रत्यक्षसिद्धस्ततः क्लेशोऽधिकतरस्तेषामित्युक्तम् । यद्यप्येकमेव फलं तथाऽपि ये दुष्करेणोपायेन प्राप्नुवन्ति तदपेक्षया सुकरेणोपायेन प्राप्नुवन्तो भवन्ति श्रेष्ठा इत्यभिप्रायः ॥ 5 ॥

11 **ननु फलैक्ये क्लेशाल्पत्वाधिक्याभ्यामुत्कर्षनिकर्षौ स्यातां, तदेव तु नास्ति निर्गुणब्रह्मविदां हि फलमविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या निर्विशेषपरमानन्दबोधब्रह्मरूपता, सगुणब्रह्मविदां त्वधिष्ठानप्रमाया अभावेनाविद्यानिवृत्त्यभावादैश्वर्यविशेषः कार्यब्रह्मलोकगतानां फलम् । अतः फलाधिक्यार्थमायासाधिक्यं न न्यूनतामापादयतीति चेत् । न, सगुणोपासनया निरस्तसर्वप्रतिबन्धानां विना गुरूपदेशं विना च श्रवणमनननिदिध्यासनाद्यावृत्तिक्लेशं स्वयमाविर्भूतेन वेदान्तवाक्येनेश्वरप्रसादसहकृतेन तत्त्वज्ञानोदयादविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या ब्रह्मलोक एवैश्वर्यभोगान्ते निर्गुणब्रह्मविद्याफलपरमकैवल्योपपत्तेः । 'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति श्रुतेः स प्राप्तहिरण्यगर्भैश्वर्यो भोगान्त एतस्माज्जीवघनात्सर्वजीवसमष्टिरूपात्पराच्छ्रेष्ठाद्धिरण्यगर्भात्परं विलक्षणं श्रेष्ठं च पुरिशयं स्वहृदयगुहानिविष्टं पुरुषं पूर्णं प्रत्यगभिन्नमद्वितीयं परमात्मानमीक्षते स्वयमाविर्भूतेन वेदान्तप्रमाणेन साक्षात्करोति, तावता च मुक्तो भवतीत्यर्थः । तथा च विनाऽपि प्रागुक्तक्लेशेन सगुणब्रह्मविदामीश्वरप्रसादेन निर्गुणब्रह्मविद्याफलप्राप्तिरितीममर्थमाह द्वाभ्याम् --**

त्मक गन्तव्य -- प्राप्तव्य फलभूत ब्रह्म देहवानों -- देहाभिमानियों के द्वारा दुःख से =जैसे हो वैसे बडे कष्ट के साथ प्राप्त किया जाता है । सम्पूर्ण कर्मों का संन्यास -- त्याग करके गुरु के समीप जाकर वेदान्तवाक्यों के उस -- उस विचार से उस -- उस भ्रम का निराकरण करने में महान् प्रयास प्रत्यक्षसिद्ध है -- इसी से 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्' = 'उन निर्गुणोपासकों को अत्यधिक क्लेश होता है' -- कहा गया है । यद्यपि सगुणोपासक और निर्गुणोपासक -- दोनों का प्राप्य फल एक ही है, तथापि जो उस फल को दुष्कर उपाय से प्राप्त करते हैं उनकी अपेक्षा उसका सुकर उपाय से प्राप्त करने वाले श्रेष्ठ होते हैं -- यह अभिप्राय है ॥ 5 ॥

11 शङ्का -- फल एक होने पर क्लेश के अल्पत्व और आधिक्य से उत्कर्ष और निकर्ष हो--यह तो ठीक है किन्तु यहाँ वही तो नहीं है, क्योंकि निर्गुणब्रह्मोपासकों का फल अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति द्वारा निर्विशेष--परमानन्द--बोधब्रह्मरूपता है, जबकि सगुणब्रह्मोपासकों का अधिष्ठान का ज्ञान न होने से अविद्या की निवृत्ति न होने के कारण कार्य--ब्रह्मलोकगत ऐश्वर्यविशेष फल है ; अतः फलाधिक्य के लिए आयासाधिक्य न्यूनता का आपादक नहीं है । उत्तर -- ऐसा नहीं है, क्योंकि सगुणोपासना से जिनके सब प्रतिबन्ध निरस्त हो गये हैं उनको गुरूपदेश के बिना और श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि की आवृत्ति से जन्य क्लेश के बिना ईश्वरप्रसादसहकृत स्वयं -- आविर्भूत वेदान्तवाक्य के द्वारा तत्वज्ञान का उदय हो जाने से अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति होकर ब्रह्मलोक में ऐश्वर्य भोगने के बाद निर्गुणब्रह्मविद्या का फल परम कैवल्य प्राप्त होता है । 'स

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ 6 ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ 7 ॥

12 **तुशब्द उक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थः । ये सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य सगुणे वासुदेवे समर्प्य मत्परा अहं भगवान्वासुदेव एव परः प्रकृष्टः प्रीतिविषयो येषां ते तथा सन्तोऽनन्येनैव योगेन न विद्यते मां भगवन्तं मुक्त्वाऽन्यदालम्बनं यस्य तादृशेनैव योगेन समाधिनैकान्तभक्तियोगापरनाम्ना मां भगवन्तं वासुदेवं सकलसौन्दर्यसारनिधानमानन्दघनविग्रहं द्विभुजं चतुर्भुजं वा समस्तजनमनोमोहिनीं मुरलीमतिमनोहरैः सप्तभिः स्वैरापूरयन्तं वा दरकमलकौमोदकीरथाङ्गसङ्गिपाणिपल्लवं वा नरसिंहराघवादिरूपं वा यथादर्शितविश्वरूपं वा ध्यायन्तश्चिन्तयन्त उपासते समानाकारमविच्छिन्नं चित्तवृत्तिप्रवाहं संतन्वते समीपवर्तितयाऽऽसते तिष्ठन्ति वा तेषां मय्यावेशितचेतसां मयि यथोक्त आवेशितमेकाग्रतया प्रवेशितं चेतो यैस्तेषामहं सततोपासितो भगवान्मृत्युसंसारसागरान्मृत्युयुक्तो यः संसारो मिथ्याज्ञानतत्कार्यप्रपञ्चः स एव**

एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते'-- इस श्रुति के अनुसार वह सगुणब्रह्मोपासक हिरण्यगर्भ के ऐश्वर्य को प्राप्तकर उसका भोग करने के पश्चात् इस जीवघन अर्थात् सर्वजीवसमष्टिरूप पर -- श्रेष्ठ हिरण्यगर्भ से पर = विलक्षण और श्रेष्ठ पुरिशय = स्वहृदयगुहा में निविष्ट -- स्थित पुरुष अर्थात् पूर्ण प्रत्यगभिन्न अद्वितीय परमात्मा को देखता है = स्वयं -- आविर्भूत वेदान्तप्रमाण से उसका साक्षात्कार करता है अर्थात् उसी से ही मुक्त हो जाता है । इस प्रकार पहले कहे हुए क्लेश के विना भी सगुणब्रह्मवेत्ताओं को ईश्वरप्रसाद से निर्गुणब्रह्मविद्या के फल की प्राप्ति होती है -- यही अर्थ दो श्लोकों से कहते हैं:--

[जो भक्तजन तो सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हुए अनन्यभावरूप योग से ही मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, हे पार्थ ! उन मुझमें ही चित्त लगानेवाले भक्तों का मैं शीघ्र ही इस मृत्युरूप संसारसागर से उद्धार करनेवाला होता हूँ ॥ 6-7 ॥]

12 'तु'शब्द उक्त आशङ्का की निवृत्ति के लिए है । जो भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझ सगुण वासुदेव में संन्यास कर = समर्पण कर मत्पर = जिनका मैं भगवान् वासुदेव ही पर -- प्रकृष्ट प्रीति का विषय हूँ वे मत्पर होते हुए अनन्य ही योग से अर्थात् मुझ भगवान् को छोड़कर जिसका अन्य कोई आलम्बन नहीं है वैसे ही योग से -- समाधि से = अपरनामोक्त एकान्तभक्तियोग से सकल--सौन्दर्यसारनिधान, आनन्दघनविग्रह, द्विभुज अथवा चतुर्भुज, समस्त जनों के मन को मोहित करनेवाली मुरली को अतिमनोहर सप्तस्वरों से पूरित करते हुए, अथवा करपल्लवों में शंख, पद्म, कौमोदकी गदा और चक्र लिये हुए, अथवा नृसिंह -- राघव आदि स्वरूप, अथवा यथादर्शित विश्वस्वरूप मुझ भगवान् वासुदेव का ध्यान = चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं अर्थात् समानाकार अविच्छिन्न चित्तवृत्ति के प्रवाह को चलाते हैं अथवा मेरे समीपवर्ती होकर आसते -- तिष्ठन्ति = बैठते हैं, उन मय्यावेशितचेताओं का = यथोक्त मुझमें जिन्होंने अपने चित्त को आवेशित -- आविष्ट -- एकाग्रता

सागर इव दुरुत्तरस्तस्मात्समुद्धर्ता सम्यगनायासेनोदूर्ध्वे सर्वबाधावधिभूते शुद्धे ब्रह्मणि धर्ता धारयिता ज्ञानावष्टम्भदानेन भवामि नचिरात्क्षिप्रमेव तस्मिन्नेव जन्मनि, हे पार्थेति संवोधनमाश्वासार्थम् ॥ 6-7 ॥

13 तदेवमियता प्रबन्धेन सगुणोपासनां स्तुत्वेदानीं विधत्ते –

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ 8 ॥

14 मय्येव सगुणे ब्रह्मणि मनः संकल्पविकल्पात्मकमाधत्स्व स्थापय सर्वा मनोवृत्तीर्मद्विषया एव कुरु । एवकारानुषङ्गेण मय्येव बुद्धिमध्यवसायलक्षणां निवेशय, सर्वा बुद्धिवृत्तीर्मद्विषया एव कुरु, विषयान्तरपरित्यागेन सर्वदा मां चिन्तयेत्यर्थः । ततः किं स्यादित्यत आह – निवसिष्यसि निवत्स्यसि लब्धज्ञानः सन्मदात्मना मय्येव शुद्धे ब्रह्मण्येवात ऊर्ध्वमेतद्देहान्ते न संशयो नात्र प्रतिबन्धशङ्का कर्तव्येत्यर्थः । एव अत ऊर्ध्वमित्यत्र संध्यभावः श्लोकपूरणार्थः ॥ 8 ॥

से प्रवेशित -- प्रविष्ट किया है उनका उनसे निरन्तर उपासित मैं भगवान् मृत्युयुक्त संसारसागर[3] से = मृत्युयुक्त जो संसार अर्थात् मिथ्याज्ञान और उसका कार्यभूत प्रपञ्च है वह ही सागर के समान दुस्तर है उससे नचिरात् = शीघ्र ही अर्थात् उसी जन्म में ज्ञान का आश्रय देकर समुद्धर्ता = सम्यक् -- अनायास ही उत् -- ऊर्ध्व अर्थात् सब बाधाओं के अवधिभूत शुद्ध ब्रह्म में धर्ता -- धारयिता -- धारणा करानेवाला होता हूँ । हे पार्थ[4] ! -- यह सम्बोधन आश्वासन के लिए है ॥ 6-7 ॥

13 इस प्रकार इतने प्रबन्ध से सगुणोपासना की स्तुति कर अब उसके अतिरिक्त साधन का विधान करते हैं:--

[तुम मुझमें ही मन को स्थिर करो, मुझ ही में बुद्धि को लगाओ, इससे तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ 8 ॥]

14 तुम मुझ सगुणब्रह्म में ही अपने संकल्पविकल्पात्मक मन को लगाओ अर्थात् स्थिर करो = तुम अपनी समस्त मनोवृत्तियों को मद्विषयक -- मुझको विषय करनेवाली ही बनाओ । एवकार का आगे भी सम्बन्ध कर 'मय्येव बुद्धिं निवेशय' = मुझमें ही अध्यवसायस्वरूप बुद्धि को लगाओ = समस्त बुद्धिवृत्तियों को मद्विषयक ही करो अर्थात् विषयान्तर का परित्याग कर सर्वदा मद्विषयक -- मेरा ही चिन्तन करो[5] । उससे क्या होगा ? इस पर कहते हैं -- तुम ज्ञान प्राप्त करके 'अत

---

3. आनन्दगिरि के अनुसार 'मृत्यु' का अर्थ है अज्ञान और 'संसार' का अर्थ है अज्ञान का कार्य – इसप्रकार 'मृत्युसंसार'– पद का अर्थ है -- अज्ञान और उसका कार्यप्रपञ्च । मृत्यु = अज्ञान के साथ संसार सर्वदा ही युक्त रहता है, अत: मृत्यु= अज्ञानयुक्त संसार = विश्वप्रपञ्च को 'मृत्युसंसार ' कहते हैं ।

4. 'हे पार्थ! ' – इस सम्बोधन से यह ध्वनित होता है कि जैसे पहले पृथा के पुत्रों की भक्ति से वशीभूत हो भगवान् ने उन पृथापुत्रों को उन – उन संकटों से निकाला था वैसे ही अब भी पृथापुत्र अर्जुन का भगवान् उद्धार करेंगे – यह सम्बोधन अर्जुन के आश्वासनार्थ है ।

5. सगुणब्रह्म के किसी रूप में मन और बुद्धि – दोनों को समाहित करने पर निर्विकल्पक समाधि ही प्राप्त होती है । मन में किसी भी प्रकार का विकल्प न रहने से कल्पनात्मक सगुणब्रह्मस्वरूप का भी अन्तर्ध्यान हो जाता है अर्थात् उस समय दृश्यरूप से किसी भी पदार्थ का वहाँ रहना असम्भव हो जाता है, अत: द्रष्टा अथवा साक्षी आत्मा जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप अद्वितीयब्रह्म है वही प्रकट रहता है और जीव भी उसके साथ एक होकर ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होता है । फलत: सगुणब्रह्मवेत्ताओं को भी ईश्वरप्रसाद से निर्गुणब्रह्मविद्या के फल की ही प्राप्ति होती है – यही यहाँ भगवान् के कहने का अभिप्राय है ।

15 इदानीं सगुणब्रह्मध्यानाशक्तानामशक्तितारतम्येन प्रथमं प्रतिमादौ बाह्ये भगवद्ध्यानाभ्यासस्तदशक्तौ भागवतधर्मानुष्ठानं तदशक्तौ सर्वकर्मफलत्याग इति त्रीणि साधनानि त्रिभिः श्लोकैर्विधत्ते--

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनञ्जय ॥ 9 ॥

16 अथ पक्षान्तरे स्थिरं यथा स्यात्तथा चित्तं समाधातुं स्थापयितुं मयि न शक्नोषि चेत्तत एकस्मिन्प्रतिमादावालम्बने सर्वतः समाहृत्य चेतसः पुनः पुनः स्थापनमभ्यासस्तत्पूर्वको योगः समाधिस्तेनाभ्यासयोगेन मामाप्तुमिच्छ यतस्व हे धनञ्जय बहूञ्शत्रूञ्जित्वा धनमाहृतवानसि राजसूयाद्यर्थमेकं मनःशत्रुं जित्वा तत्त्वज्ञानधनमाहरिष्यसीति न तवाऽऽश्चर्यमिति संबोधनार्थः ॥ 9 ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ 10 ॥

ऊर्ध्वम् = एतद्देहान्ते' = इस देह का अन्त होने पर मदात्मा = मेरे स्वरूप होकर मुझ शुद्ध ब्रह्म मे ही निवास करोगे[6] -- इसमें कोई संशय नहीं है अर्थात् इसमें किसी प्रकार के प्रतिबन्ध -- विघ्न की शङ्का नहीं करनी चाहिए । 'एव अत ऊर्ध्वम्' -- यहाँ सन्धि का अभाव श्लोकपूर्ति के लिए किया है ॥ 8 ॥

15 अब सगुणब्रह्म का ध्यान करने में अशक्त-- असमर्थ पुरुषों की अशक्ति -- असमर्थता के तारतम्य से पहले प्रतिमा आदि बाह्य आलम्बनों में भगवान् के ध्यान का अभ्यास करना, उसमें अशक्त -- असमर्थ होने पर भागवत धर्मों का अनुष्ठान करना, उसमें भी असमर्थ होने पर समस्त कर्मफलों का त्याग करना -- इन तीन साधनों का तीन श्लोकों से विधान करते हैं:--

[हे धनञ्जय ! यदि तुम अपने चित्त को मुझमें स्थिरतापूर्वक नहीं लगा सकते हो तो अभ्यासरूप योग के द्वारा मुझको प्राप्त करने के लिए इच्छा करो -- यत्न करो ॥ 9 ॥]

16 'अथ'शब्द पक्षान्तर में है, अतएव -- यदि तुम अपने चित्त को जैसे हो वैसे स्थिरतापूर्वक मुझमें समाहित -- स्थापित नहीं कर सकते हो तो अभ्यासरूप योग के द्वारा = चित्त को सब ओर से हटाकर प्रतिमा आदि किसी एक आलम्बन में पुनः पुनः स्थापित -- स्थिर करना 'अभ्यास' है, तत्पूर्वक = अभ्यासपूर्वक जो योग -- समाधि है उस अभ्यासयोगके द्वारा मुझको प्राप्त करनेके लिए इच्छा करो -- यत्न करो । हे धनञ्जय[7] ! तुम राजसूयादि कि लिए बहुत से शत्रुओं को जीतकर धन लाये थे, अब मात्र एक -- अकेले मनःशत्रु को जीतकर तत्त्वज्ञानरूप धन ले आओगे -- यह तुम्हारे लिए कोई आश्चर्य नहीं है -- यह उक्त सम्बोधन का अर्थ है ॥9॥

[यदि तुम उक्त अभ्यास करने में असमर्थ हो तो मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्मों में तत्पर हो जाओ । मेरे लिए कर्मों को करते हुए भी तुम मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को ही प्राप्त होगे ॥ 10 ॥]

---

6. श्रुतिवचन भी है --'देहान्ते देवस्तारकं परब्रह्म व्याचष्टे' = 'देह का अन्त होने पर भगवान् महादेव तारक परब्रह्म के मन्त्र का विशेषरूप से उपदेश करते हैं ।'

7. जिस प्रकार अर्जुन अपनी धनुर्विद्या के अभ्यासबल से राजाओं से धन और भीष्मादि से गोधन लाये थे उसी प्रकार वे अपने अभ्यासयोग के द्वारा मुझ भगवान् वासुदेव को भी ग्रहण करने के योग्य हैं -- यही उक्त सम्बोधन से सूचित किया है ।

17 मत्प्रीणनार्थं कर्म मत्कर्म श्रवणकीर्तनादिभागवतधर्मस्तत्परमस्तदेकनिष्ठो भव । अभ्यासासामर्थ्ये मदर्थं भागवतधर्मसंज्ञकानि कर्माण्यपि कुर्वन्सिद्धिं ब्रह्मभावलक्षणां सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेणावाप्स्यसि ॥ 10 ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ 11 ॥

18 अथ बहिर्विषयाकृष्टचेतस्त्वादेतन्मत्कर्मपरत्वमपि कर्तुं न शक्नोषि ततो मद्योगं मदेकशरणत्वमाश्रितो मयि सर्वकर्मसमर्पणं मद्योगस्तं वाऽऽश्रितः सन्यतात्मवान्यतः संयतसर्वेन्द्रिय आत्मवान्विवेकी च सन्सर्वकर्मफलत्यागं कुरु फलाभिसंधिं त्यजेत्यर्थः॥ 11 ॥

19 इदानीमत्रैव साधनविधानपर्यवसानादिमं सर्वकर्मफलत्यागं स्तौति –

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ 12 ॥

20 श्रेयः प्रशस्यतरं हि एव ज्ञानं शब्दयुक्तिभ्यामात्मनिश्चयोऽभ्यासाज्ज्ञानार्थश्रवणाभ्यासात्, ज्ञाना-

---

17 मत्कर्म[8] = मेरी प्रसन्नता के लिए जो कर्म हैं अर्थात् श्रवण, कीर्तन आदि जो भागवत धर्म हैं वे मत्कर्म हैं उन्हीं में परम = एकनिष्ठ हो जाओ । अभ्यास करने का सामर्थ्य न होने पर मेरे लिए भागवतधर्म संज्ञक कर्मों को भी करते हुए तुम सत्त्वशुद्धि – अन्तःकरणशुद्धि और ज्ञानोत्पत्ति द्वारा ब्रह्मभावरूप सिद्धि को ही प्राप्त होओगे ।। 10 ।।

[यदि तुम इसको भी करने में असमर्थ हो तो मुझमें सर्वकर्मसमर्पणरूप योग का आश्रय ले इन्द्रियों को अपने वश में करते हुए विवेकसम्पन्न हो समस्त कर्मफलों का त्याग करो ।।11।।]

18 यदि बाह्य विषयों में आकृष्टचित्त होने के कारण तुम यह मत्कर्मपरत्व भी करने में समर्थ नहीं हो तो मद्योग = एकमात्र मेरी शरणता का ही आश्रय ले, अथवा – मुझमें सर्वकर्मसमर्पणरूप जो मद्योग है उसका आश्रय ले यतात्मवान् = यत अर्थात् समस्त इन्द्रियों को संयत करनेवाला और आत्मवान् = विवेकी होकर समस्त कर्मफलों का त्याग करो अर्थात् फल की अभिलाषा को त्याग दो[9] ।। 11।।

19 अब यहीं सम्पूर्ण साधनों के विधान के पर्यवसान से इस सर्वकर्मफलत्याग की स्तुति करते हैं:–

[अभ्यास से तो ज्ञान ही श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान विशिष्ट है, और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है । कर्मफलों के त्याग से तत्काल ही परम शान्ति होती है ।। 12 ।।]

20 अभ्यास अर्थात् ज्ञान के लिए किये जानेवाले श्रवण के अभ्यास[10] से ज्ञान = शब्द और युक्तियों

---

8. प्रकृत में 'मत्कर्म' से तात्पर्य है – विष्णु के नाम का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी पादसेवा, अर्चना, वन्दना, उनके प्रति दास्य– सख्यभाव तथा आत्मनिवेदन -- यह नवविध भजनात्मक भगवान् की प्रसन्नता के लिए किया गया कर्म । मत्कर्म के अन्तर्गत भगवान् की प्रसन्नता के लिए किये गये एकादशीव्रत, उपवास आदि भी अनुष्ठान सम्मिलित हैं ।

9. मुझको ईश्वर की आज्ञानुसार यथाशक्ति अपने कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, पुनः उन कर्मों का दृष्ट अथवा अदृष्ट फल परमेश्वर के आधीन है – इस प्रकार मुझ भगवान् पर अपना भार आरोपित कर फलासक्ति का परित्याग कर भगवान् की शरण होने से ईश्वरप्रसाद सें तुम कृतार्थ होगे – यह अभिप्राय है ।

10. आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिए वेदान्त के महावाक्यादि का श्रवण करने के पश्चात् उनकी बार – बार आवृत्ति

च्छ्रवणमननपरिनिष्पन्नादपि ध्यानं निदिध्यासनसंज्ञं विशिष्यतेऽतिशयितं भवति साक्षात्काराव्यवहितहेतुत्वात्। तदेवं सर्वसाधनश्रेष्ठं ध्यानं ततोऽप्यतिशयितत्वेनाज्ञकृतः कर्मफलत्यागः स्तूयते।

21 **ध्यानात्कर्मफलत्यागो विशिष्यत इत्यनुषज्यते । त्यागान्नियतचित्तेन पुंसा कृतात्सर्वकर्मफलत्यागाच्छान्तिरुपशमः सहेतुकस्य संसारस्यानन्तरमव्यवधानेन न तु कालान्तरमपेक्षते । अत्र --**

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥'

इत्यादिश्रुतिषु 'प्रजहाति यदा कामान्सर्वानि'नित्यादिस्थितप्रज्ञलक्षणेषु च सर्वकामत्यागस्यामृतत्वसाधनत्वमवगतं, कर्मफलानि च कामास्तत्त्यागोऽपि कामत्यागत्वसामान्यात्सर्वकामत्यागफलेन स्तूयते । यथाऽगस्त्येन ब्राह्मणेन समुद्रः पीत इति, यथा वा जामदग्न्येन ब्राह्मणेन निःक्षत्रा पृथिवी कृतेति ब्राह्मणत्वसामान्यादिदानींतना अपि ब्राह्मणा अपरिमेयपराक्रमत्वेन स्तूयन्ते तद्वत् ॥ 12 ॥

से किया गया आत्मनिश्चय ही श्रेयस्कर -- प्रशस्यतर -- श्रेष्ठ है । श्रवण और मनन से परिनिष्पन्न ज्ञान से भी निदिध्यासनसंज्ञक ध्यान विशिष्ट होता है -- उत्कृष्ट होता है, क्योंकि वह आत्मसाक्षात्कार का अव्यवहित हेतु होता है । इस प्रकार सब साधनों में श्रेष्ठ ध्यान है, उससे भी अतिशय श्रेष्ठ अज्ञकृत कर्मफलत्याग है अतएव उसकी स्तुति की जाती है ।

21 'ध्यानात्कर्मफलत्यागो विशिष्यते-- 'ध्यान से कर्मफलत्याग विशिष्ट है'--इस प्रकार इसका सम्बन्ध है । त्याग से अर्थात् संयतचित्त पुरुष के द्वारा किये गये सर्वकर्मफल के त्याग से अनन्तर = अव्यवधानपूर्वक हेतुसहित संसार की शान्ति हो जाती है[11], तब उसको कालान्तर की अपेक्षा नहीं होती । यहाँ 'जब इसके हृदय में स्थित सभी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं तो वह मर्त्य अमृत हो जाता है और यहीं उसको ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है' -- इत्यादि श्रुतियों में और 'प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्' (गीता, 2.55) = 'जब वह समस्त कामनाओं को त्याग देता है' -- इत्यादि स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में सर्वकर्मत्याग की अमृतत्वसाधनता ज्ञात होती है । कर्मफल काम ही हैं, उनके त्याग की भी कामत्यागत्वसामान्य से सर्वकर्मत्यागफलरूप से स्तुति की जाती है, जैसे अगस्त्य ब्राह्मण ने समुद्र पी लिया था, अथवा जैसे जामदन्य -- परशुराम ब्राह्मण ने पृथ्वी को क्षत्रियविहीन कर दिया था -- इस प्रकार के ब्राह्मणत्वसामान्य से आजकल के ब्राह्मणों की भी अपरिमित पराक्रमता से स्तुति की जाती है ।। 12 ।।

को 'अभ्यास' कहते हैं, जब तक वह अभ्यास 'अहं ब्रह्मास्मि'-- इसप्रकार के अनुभवज्ञान से रहित होता है तबतक आत्मानात्मविवेक न होने के कारण वह अभ्यास अविवेकपूर्वक ही किया जाता है, अतः इस प्रकार के अविवेकपूर्वक **अर्थात् सम्यक् -- ज्ञान से रहित अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान निःसन्देह श्रेष्ठ ही है ।**

11. यहा यह शङ्का हो सकती है -- यदि कर्मफलत्याग से ही परम शान्ति हो सकती है अथवा मोक्षप्राप्ति हो सकती है तो 'तरति शोकमात्मवित्', तमेव विदित्वातिमृत्युमेति', 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं', 'ऋते ज्ञानान्न मोक्षः', 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते', 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति' -- इत्यादि श्रुति--स्मृति वाक्यों में प्रसिद्ध सिद्धान्त ' ज्ञान से ही मुक्ति होती है, परम शान्ति प्राप्त होती है' -- से विरोध होगा । उत्तर है कि इस प्रकार की शंका युक्त नहीं है, क्योंकि 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' -- यह वाक्य कर्मफलत्याग की केवल स्तुति करता है और स्तुति प्रवृत्ति में केवल रुचि उत्पन्न करने के लिए होती है । यहाँ अत्यन्त मन्दबुद्धि मुमुक्षु के लिए चित्तशुद्धि के साधनरूप से ही कर्मफलत्याग का विधान किया गया है । यदि यही मुख्य साधन होता तो भगवान् उसका सर्वप्रथम ही निर्देश करते । ऐसी परिस्थिति में 'मत्कर्मकृत् मत्परमः' -- इत्यादि से जो पाँच साधन कहे हैं वे व्यर्थ होते । इसलिए यहाँ कर्मफलत्याग की केवल स्तुति की गई है । सभी कर्म ब्रह्म में समर्पित होने पर पुनः उन कर्मों और उनके फलों में संकल्प और काम की सम्भावना नहीं रहती है । **काम और संकल्परहित**

22 तदेवं मन्दमधिकारिणं प्रत्यतिदुष्करत्वेनाक्षरोपासननिन्दया सुकरं सगुणोपासनं विधायाशक्तितारतम्यानुवादेनान्यान्यपि साधनानि विदधौ भगवान्वासुदेवः कथं नु नाम सर्वप्रतिबन्धरहितः सन्नुत्तमाधिकारितया फलभूतायामक्षरविद्यायामवतरेदित्यभिप्रायेण साधनविधानस्य फलार्थत्वात् । तदुक्तम् –

'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाऽऽविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥'इति ।

23 भगवता पतञ्जलिना चोक्तं – 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' इति । 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' इति च । तत इतीश्वरप्रणिधानादित्यर्थः । तदेवमक्षरोपासननिन्दा सगुणोपासनस्तुतये न तु हेयतया, उदितहोमविधावनुदितहोमनिन्दावत् 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायात् । तस्मादक्षरोपासका एव परमार्थतो योगवित्तमाः ।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥'

---

22 इस प्रकार मन्द अधिकारी के प्रति अत्यन्त दुष्कर होने से अक्षरोपासना की निन्दा द्वारा सुगम सगुणोपासना का विधान कर अशक्ति -- असामर्थ्य के तारतम्य के अनुवाद से अन्य -- अन्य भी साधनों का भगवान् वासुदेव ने विधान किया, क्योंकि 'कैसे भी वह मन्द अधिकारी सब प्रकार के प्रतिबन्धों से रहित हो उत्तम अधिकारी होकर सब साधनों की फलभूता अक्षरविद्या में उतरे' -- इस अभिप्राय से साधनों का विधान फल के लिए ही होता है । ऐसा ही कहा भी है --
'जो मन्द अधिकारी निर्विशेष परब्रह्म का साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं, वे सविशेष ब्रह्म के निरूपण से अनुगृहीत होते हैं । सगुणब्रह्म के सतत अनुशीलन से जब इनका मन अपने वश में हो जाता है तो वही उपाधि की कल्पना से रहित ब्रह्म साक्षात् आविर्भूत होता है ।'

23 भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है -- 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' (योगसूत्र, 2.45) = 'समाधि की सिद्धि ईश्वरप्रणिधान से होती है' तथा 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (योगसूत्र, 1.29) = 'उस ईश्वरप्रणिधान से प्रत्यक्चेतना का ज्ञान भी होता है और अन्तरायों = विघ्नों का अभाव होता है' । उक्त सूत्रस्थ 'ततः 'शब्द का अर्थ 'ईश्वरप्रणिधानात्'है । इसप्रकार यहाँ अक्षरोपासना की निन्दा सगुणोपासना की स्तुति के लिए है, न कि उसकी हेयता सिद्ध करने के लिए है, ठीक वैसे ही जैसे उदित होमविधि में अनुदित होम की निन्दा होती है इसमें 'निन्दा निन्द्य की निन्दा करने के लिए प्रवृत्त नहीं होती है अपितु विधेय की स्तुति के लिए होती है' --

---

होने को ही चित्तशुद्धि कहते है और चित्तशुद्धि होने पर ईश्वरप्रसाद से एक बार के उपदेशद्वारा ही ज्ञान उदित हो जाता है, फलतः ज्ञान से मोक्षसिद्धि हो जाती है, अव्यवधानपूर्वक सहेतुक संसार की शान्ति हो जाती है । मोक्षसिद्धि = संसारशान्ति के लिए इसप्रकार का उपाय होने के कारण मन्दबुद्धि अधिकारी पुरुष को जो कर्मों से मोक्षसिद्धि हो सकती है उन कर्मों में प्रवृत्त करने के लिए ही कर्मफलत्याग की यहाँ स्तुति की गई है । अतः यहाँ श्रुति – स्मृतिप्रतिपादित आत्मज्ञान के सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है ।

इत्यादिना पुनः पुनः प्रशस्ततमतयोक्तास्तेषामेव ज्ञानं धर्मजातं चानुसरणीयमधिकारमासाद्य त्वयेत्यर्जुनं बुबोधयिषुः परमहितैषी भगवानभेददर्शिनः कृतकृत्यानक्षरोपासकान्प्रस्तौति सप्तभिः--

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ 13 ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ 14 ॥

24 सर्वाणि भूतान्यात्मत्वेन पश्यन्नात्मनो दुःखहेतावपि प्रतिकूलबुद्ध्यभावान्न द्वेष्टा सर्वभूतानां किं तु मैत्रो मैत्री स्निग्धता तद्वान् । यतः करुणः करुणा दुःखितेषु दया तद्वान्सर्वभूताभयदाता परमहंसपरिव्राजक इत्यर्थः । निर्ममो देहेऽपि ममेतिप्रत्ययरहितः । निरहंकारो वृत्तस्वाध्यायादिकृताहंकारान्निष्क्रान्तः । द्वेषरागयोरप्रवर्तकत्वेन समे दुःखसुखे यस्य सः । अत एव क्षमी, आक्रोशनताडनादिनाऽपि न विक्रियामापद्यते ॥ 13 ॥

24 तस्यैव विशेषणान्तराणि-- (संतुष्ट इति)
सततं शरीरस्थितिकारणस्य लाभेऽलाभे च संतुष्ट उत्पन्नालंप्रत्ययः । तथा गुणवल्लाभे विपर्यये

यह न्याय प्रमाण है । इसलिए अक्षरोपासक ही परमार्थतः -- यथार्थतः योगवित्तम हैं । 'ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझको अत्यन्त प्रिय है । आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी – ये सभी उदार हैं, किन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है – ऐसा मेरा मत है' (गीता, 7.17-18)– इत्यादि से पुनः पुनः उस ज्ञानी को ही श्रेष्ठतमरूप से कहा गया है । उन ज्ञानियों का ही ज्ञान और धर्मसमूह अधिकार प्राप्त करके तुम्हारे द्वारा अनुसरणीय है – यह अर्जुन को समझाने की इच्छा से परम हितैषी भगवान् अभेददर्शी कृतकृत्य अक्षरोपासकों की सात श्लोकों से प्रस्तुति – स्तुति करते हैं:--

[जो पुरुष सभी प्राणियों से द्वेष न करनेवाला, उनसे मैत्री रखनेवाला, उनके प्रति करुणा से युक्त, ममता से रहित, अंहकारशून्य, सुख--दु:ख में समान, क्षमावान्, निरन्तर सन्तुष्ट, समाहितचित्त, शरीर और इन्द्रियों को वश में किये हुए, दृढ़ निश्चयवाला और मुझमें मन -- बुद्धि को समर्पित किये हुए है वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।। 13 ।।]

24 समस्त प्राणियों को आत्मभाव से देखते हुए जो अपने दु:ख का हेतु होने पर भी प्रतिकूलबुद्धि न होने के कारण सभी प्राणियों से द्वेष नहीं करता है, किन्तु मैत्र – मैत्री अर्थात् स्निग्धता से युक्त होता है, क्योंकि करुण होता है -- करुणा से युक्त होता है -- दु:खियों के प्रति दया से युक्त होता है अर्थात् समस्त प्राणियों को अभय देनेवाला परमहंस परिव्राजक होता है । जो निर्मम -- ममता रहित अर्थात् देह में भी 'यह मेरा है' -- इस ज्ञान से रहित है, निरहंकार -- अहंकारशून्य अर्थात् वृत्त -- आचरण, स्वाध्याय आदि से जनित अहंकार से निष्क्रान्त -- रहित है, राग और द्वेष – दोनों का अप्रवर्त्तक होने से जिसके लिए सुख और दु:ख समान हैं, अतएव जो क्षमी है अर्थात् आक्रोशन -- डाटने, ताडन -- मारने आदि से भी जो विकार को प्राप्त नहीं होता है ।।13।।

25 उसी के दूसरे विशेषण कहते हैं -- जो सतत --निरन्तर शरीर की स्थिति के कारण की प्राप्ति और

च। सततमिति सर्वत्र संबध्यते। योगी समाहितचित्तः। यतात्मा संयतशरीरेन्द्रियादिसंघातः। दृढः कुतार्किकैरभिभवितुमशक्यतया स्थिरो निश्चयोऽहमस्म्यकर्त्रभोक्तृसच्चिदानन्दाद्वितीयं ब्रह्मेत्यध्यवसायो यस्य स दृढनिश्चयः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः। मयि भगवति वासुदेवे शुद्धे ब्रह्मणि अर्पितमनोबुद्धिः समर्पितान्तःकरणः। ईदृशो यो मद्भक्तः शुद्धाक्षरब्रह्मवित्स मे प्रियः मदात्मत्वात् ॥ 14 ॥

26 **पुनस्तस्यैव विशेषणानि –**

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ 15 ॥

27 **यस्मात्सर्वभूताभयदायिनः संन्यासिनो हेतोर्नोद्विजते न संतप्यते लोको यः कश्चिदपि जनः। तथा लोकान्निरपराधोद्वेजनैकव्रतात्खलजनान्नोद्विजते च यः, अद्वैतदर्शित्वात्परमकारुणिकत्वेन क्षमाशीलत्वाच्च। किंच हर्षः स्वस्य प्रियलाभे रोमाञ्चाश्रुपातादिहेतुरानन्दाभिव्यञ्जकश्चित्तवृत्तिविशेषः, अमर्षः परोत्कर्षासहनरूपश्चित्तवृत्तिविशेषः, भयं व्याघ्रादिदर्शनाधीनश्चि-**

अप्राप्ति में सन्तुष्ट है अर्थात् जिसको अलंप्रत्यय = 'यह बहुत है, अब नहीं चाहिए' – ऐसा ज्ञान उत्पन्न हो गया है, इसी प्रकार गुणयुक्त भिक्षादि वस्तु की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति होने पर भी जिसकी अलंबुद्धि रहती है। 'सततम्' -- इसका सभी के साथ सम्बन्ध है। जो योगी = समाहितचित्त, यतात्मा = शरीर और इन्द्रियादि के समूह का संयम करनेवाला है। जिसका दृढ़ = कुतार्किकों से अभिभूत – पराभूत न हो सकने के कारण स्थिर निश्चय अर्थात् 'मैं अकर्ता, अभोक्ता, सच्चिदानन्द, अद्वितीय ब्रह्म हूँ' – ऐसा अध्यवसाय है वह जो दृढ़निश्चय अर्थात् स्थितप्रज्ञ है तथा मुझ भगवान् वासुदेव में -- शुद्ध ब्रह्म में जिसने अपने मन -- बुद्धि को अर्पित कर दिया है वह जो मुझमें अन्तःकरण को समर्पित करनेवाला मेरा भक्त अर्थात् शुद्ध अक्षरब्रह्म का वेत्ता – उपासक है वह मुझको मेरा आत्मस्वरूप होने के कारण प्रिय है ॥ 14 ॥

26 पुनः उसी के विशेषण कहते हैं:--

[जिससे लोक उद्विग्न नहीं होता है और जो लोक से उद्विग्न नहीं होता है तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से रहित है वह मुझको प्रिय है ॥ 15 ॥]

27 जिससे अर्थात् समस्त प्राणियों को अभय देनेवाले संन्यासीरूप हेतु से लोक = जो कोई भी जन -- मनुष्य उद्विग्न नहीं होता है -- संतप्त नहीं होता है तथा लोक से =जिनका निरपराधी पुरुषों को उद्विग्न करना ही एकमात्र व्रत है ऐसे दुष्टजनों से जो अद्वैतदर्शी, परम कारुणिक और क्षमाशील होने के कारण उद्विग्न नहीं होता है। इसके अतिरिक्त, जो हर्ष = अपना प्रियलाभ होने पर रोमाञ्च, अश्रुपातादि हेतुओं से आनन्द की अभिव्यक्ति करनेवाली चित्तवृत्तिविशेष, अमर्ष =दूसरे के उत्कर्ष को न सहनारूप चित्तवृत्तिविशेष, भय = व्याघ्रादि के दर्शन से होनेवाला त्रासरूप चित्तवृत्तिविशेष, और उद्वेग = 'मैं विजन -- निर्जन वन में सब प्रकार के परिग्रह से शून्य अकेला कैसे जीवित रहूँगा' -- इस प्रकार की व्याकुलतारूप चित्तवृत्तिविशेष अर्थात् इन हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से मुक्त है = अद्वैतदर्शी होने से उनके योग्य न होने के कारण उन्होंने ही स्वयं जिसको त्याग दिया है, न कि उनको त्यागने के लिए जिसने स्वयं कोई व्यापार किया है[12]। चकार से 'मद्भक्तः'--इस

---

12. वह निरहंकार = अहंकारशून्य उपासक दो प्रकार का होता है – समाधिस्थ और व्युत्थित। प्रकृत श्लोक में समाधिस्थ निरहंकार उपासक का लक्षण किया गया है (नीलकण्ठीव्याख्या)।

त्तवृत्तिविशेषस्त्रासः, उद्वेग एकाकी कथं विजने सर्वपरिग्रहशून्यो जीविष्यामीत्येवंविधो व्याकुलतारूपश्चित्तवृत्तिविशेषस्तैर्हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः, अद्वैतदर्शितया तदयोग्यत्वेन तैरेव स्वयं परित्यक्तो न तु तेषां त्यागाय स्वयं व्यापृत इति यावत् । चेन मद्भक्त इत्यनुकृष्यते । ईदृशो मद्भक्तो यः स मे प्रिय इति पूर्ववत् ॥ 15 ॥

28 किं च –

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ 16 ॥

29 निरपेक्षः सर्वेषु भोगोपकरणेषु यदृच्छोपनीतेष्वपि निःस्पृहः । शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौचसंपन्नः । दक्ष उपस्थितेषु ज्ञातव्येषु कर्तव्येषु च सद्य एव ज्ञातुं कर्तुं च समर्थः । उदासीनो न कस्यचिन्मित्रादेः पक्षं भजते यः । गतव्यथः परैस्ताड्यमानस्यापि गता नोत्पन्ना व्यथा पीडा यस्य सः । उत्पन्नायामपि व्यथायामपकर्तृष्वनपकर्तृत्वं क्षमित्वं, व्यथाकारणेषु सत्स्वप्यनुत्पन्नव्यथत्वं गतव्यथत्वमिति भेदः । ऐहिकामुष्मिकफलानि सर्वाणि कर्माणि सर्वारम्भास्तान्परित्यक्तुं शीलं यस्य स सर्वारम्भपरित्यागी संन्यासी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ 16 ॥

30 किं च–

पूर्वश्लोकस्थ पद की अनुवृत्ति होती है, अतएव -- इसप्रकार का जो मेरा भक्त है वह मुझको प्रिय है – यह पूर्ववत् है ।। 15 ।।

28 इसके अतिरिक्त,
[जो सब प्रकार की अपेक्षाओं से रहित, पवित्र, दक्ष – चतुर, उदासीन, व्यथाशून्य, सब आरम्भों का त्यागी अर्थात् समस्त कर्मों का त्याग करनेवाला है वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।। 16 ।।]

29 जो अनपेक्ष -- निरपेक्ष अर्थात् यदृच्छया -- संयोगवश उपनीत -- उपलब्ध भी सब भोगों के उपकरणों -- साधनों में निःस्पृह है, शुचि = बाह्य और आभ्यन्तर शौच से सम्पन्न है[13], दक्ष = ज्ञातव्य और कर्तव्य विषयों के उपस्थित होने पर शीघ्र ही उनको जानने और करने में समर्थ है, उदासीन[14] है अर्थात् जो किसी मित्रादि का भी पक्ष नहीं लेता है । जो गतव्यथ है अर्थात् दूसरों के द्वारा ताडित किये जाने पर भी जिसको व्यथा --पीड़ा गत – उत्पन्न नहीं होती है वह जो गतव्यथ है । उत्पन्न व्यथा – पीड़ा में भी अपकारियों के प्रति अपकार न करना 'क्षमित्व'होता है और व्यथा-पीडा के कारण रहने पर भी व्यथा-पीडा उत्पन्न न होना 'गतव्यथ' होता है-- यह इन दोनों में भेद है । ऐहिक -- लौकिक और आमुष्मिक -- अलौकिक फलवाले सब कर्म 'सर्वारम्भ' हैं उन सर्वारम्भों का परित्याग करनेका जिसका स्वभाव है वह सर्वारम्भपरित्यागी संन्यासी जो मेरा भक्त है वह मुझको प्रिय है[15] ।। 16 ।।

30 इसके अतिरिक्त,

---

13. जो शुचि है अर्थात् मिट्टी, जल आदि निमित्त बाह्य और दया, मार्दव आदि आभ्यन्तर शौच से सम्पन्न है । नीलकण्ठ के अनुसार 'जो पुण्यापुण्य से अलिप्त है'– यह अर्थ है, किन्तु इसमें प्रकरणविरोध है । पुण्यापुण्य नहीं करता है, अतः उनसे अलिप्त है – यह अर्थ होने पर 'शुभाशुभपरित्यागी' – इस उत्तरवर्ती श्लोकस्थ पद की पुनरुक्ति होगी । अतः भाष्योक्त अर्थ ही उचित है ।

14. नीलकण्ठ के अनुसार मान और अपमान में समवृत्ति रखनेवाला 'उदासीन' है । किन्तु यह अर्थ उचित नहीं है, क्योकि 'मानापमानयोः'– इत्यादि से पौनरुक्त्यापत्ति होगी ।

15. प्रकृत श्लोक में व्युत्थित निरहंकार उपासक का लक्षण किया गया है ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ 17 ॥

31 **समदुःखसुख इत्येतद्विवृणोति– यो न हृष्यतीष्टप्राप्तौ, न द्वेष्टि अनिष्टप्राप्तौ, न शोचति प्राप्तेष्टवियोगे, न काङ्क्षति अप्राप्तेष्टसंयोगे । सर्वारम्भपरित्यागीत्येतद्विवृणोति– शुभाशुभे सुखसाधनदुःखसाधने कर्मणी परित्यक्तुं शीलमस्येति शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ 17 ॥**

32 **किं च–**

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ 18 ॥

33 **पूर्वस्यैव प्रपञ्चः । सङ्गविवर्जितश्चेतनाचेतनसर्वविषयशोभनाध्यासरहितः । सर्वदा हर्षविषादशून्य इत्यर्थः । स्पष्टम् ॥ 18 ॥**

[जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न किसी वस्तु की आकांक्षा करता है तथा जो शुभ और अशुभ -- दोनों का परित्यागी है वह भक्तिमान् मुझको प्रिय है ॥ 17 ॥]

31 'समदुःखसुखः' –इसका विवरण करते हैं: -- जो इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर हर्षित नहीं होता है, अनिष्ट की प्राप्ति होने पर द्वेष नहीं करता है[16], प्राप्त इष्ट का वियोग होने पर शोक नहीं करता है और अप्राप्त इष्ट का संयोग होने पर इच्छा नहीं करता है । 'सर्वारम्भपरित्यागी' – इसका विवरण करते हैं: -- सुख के साधनभूत शुभ और दुःख के साधनभूत अशुभ कर्मों का परित्याग करने का जिसका स्वभाव है वह शुभाशुभपरित्यागी[17] जो भक्तिमान् है वह मुझको प्रिय है ॥17॥

32 इसके अतिरिक्त,

[जो शत्रु और मित्र में तथा मान और अपमान में समान है, शीत और उष्ण में एवं सुख और दुःख में समान है[18] तथा सङ्ग – आसक्ति से रहित है ॥ 18 ॥]

33 यह पूर्व का ही प्रपञ्च है । जो सङ्गविवर्जित =चेतन और अचेतन – सभी विषयों में रमणीयता के अध्यास से रहित है अर्थात् सर्वदा हर्ष और विषाद से शून्य है[19] । शेष स्पष्ट है ॥ 18 ॥

16. यहाँ शंका हो सकती है कि 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि पूर्वश्लोक में जब उपासक को 'अद्वेष्टा = द्वेष न करनेवाला' कह दिया गया है तो पुनः ' न देष्टि – ऐसा कहकर पुनरुक्ति क्यों की गई है ? इसका उत्तर है कि 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' – इत्यादि में समस्त प्राणियों के प्रति सामान्य द्वेषाभाव स्वाभाविकरूप से कहा गया है, किन्तु प्रकृत में 'अनिष्ट की प्राप्ति होने पर द्वेष नहीं करता है' – यह विशेषद्वेषाभाव कहा गया है, अतः पुनरुक्ति नहीं है ।

17. यद्यपि पूर्वश्लोकस्थ 'सर्वारम्भपरित्यागी' – इस पद से वेदोक्त नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्मों के अतिरिक्त सभी कर्मों का परित्यागी है – यह कह दिया गया है, तथापि 'सर्व' पद का संकोच न [illegible]
परित्यागी' कहा है ।

18. यहाँ शंका हो सकती है कि पूर्वश्लोक में 'समदुःखसुखः' जब कह दिया गया है तो [illegible]
समः' क्यों कहा है ? इस प्रकार तो पुनरुक्ति होगी । उत्तर है कि 'समदुःखसुखः'-
दुःख का कथन किया गया है, किन्तु यहाँ शीतोष्णनिमित्त सुख– दुःख को कहा गया

19. 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'– इत्यादि श्लोकों से उपासक में द्वेषादिविशेष का अभाव
श्लोक से उपासक की सर्वत्र अर्थात् स्त्री आदि चेतन और चन्दन आदि अचेतन – स[illegible]
कही गई है ।

34 किं च –

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ 19 ॥

35 **निन्दा दोषकथनम् । स्तुतिर्गुणकथनम् । ते दुःखसुखाजनकतया तुल्ये यस्य स तथा । मौनी संयतवाक् । ननु शरीरयात्रानिर्वाहाय वाग्व्यापारोऽपेक्षित एव नेत्याह – संतुष्टो येन केनचित् । स्वप्रयत्नमन्तरेणैव बलवत्प्रारब्धकर्मोपनीतेन शरीरस्थितिहेतुमात्रेणाशनादिना संतुष्टो निवृत्तस्पृहः किं च – अनिकेतो नियतनिवासरहितः । स्थिरा परमार्थवस्तुविषया मतिर्यस्य स स्थिरमतिः । ईदृशो यो भक्तिमान्स से प्रियो नरः । अत्र पुनः पुनर्भक्तेरुपादानं भक्तिरेवापवर्गस्य पुष्कलं कारणमिति द्रढयितुम् ॥ 19 ॥**

36 **अद्वेष्टेत्यादिनाऽक्षरोपासकादीनां जीवन्मुक्तानां संन्यासिनां लक्षणभूतं स्वभावसिद्धं धर्मजात-मुक्तम् । यथोक्तं वार्तिके –**

---

34 इसके अतिरिक्त,
[जो निन्दा और स्तुति में तुल्य -- समान है, जो मौनी, जिस-किसी वस्तु से सन्तुष्ट, अनिकेत और स्थिरमति है वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ।। 19 ।।]

35 दोषकथन 'निन्दा' है और गुणकथन 'स्तुति' है । निन्दा और स्तुति -- ये दोनों दु:ख और सुख के जनक न होने के कारण जिसके लिए तुल्य -- समान हैं वह जो निन्दास्तुति में समान है तथा मौनी = संयतवाक् है । यदि शङ्का हो कि वह संयत -- नियन्त्रितवाक् कैसे होगा ? क्योंकि शरीरयात्रा के निर्वाह के लिए वाग्व्यापार तो अपेक्षित ही होता है, तो उत्तर हैं -- ऐसा नहीं है, वह जो जिस-किसी वस्तु से सन्तुष्ट रहता है अर्थात् अपने प्रयत्न के बिना ही बलवान् प्रारब्ध कर्म से प्राप्त शरीर की स्थिति में हेतुमात्र भोजनादि से सन्तुष्ट रहता है = उससे अतिरिक्त में स्पृहाशून्य रहता है[20] । इसके अतिरिक्त,जो अनिकेत = नियत निवासस्थान से रहित है[21] तथा जिसकी परमार्थवस्तुविषयक मति स्थिर है वह जो स्थिरमति है -- ऐसा जो भक्तिमान् पुरुष है वह मुझको प्रिय है । यहाँ पुनः-पुनः 'भक्ति'शब्द का ग्रहण यह दृढ़ करने के लिए है कि भक्ति ही अपवर्ग -- मोक्ष का पुष्कल -- पूर्ण कारण है ।। 19 ।।

36 'अद्वेष्टा' -- इत्यादि से अक्षरोपासकादि जीवन्मुक्त संन्यासियों का लक्षणभूत स्वभावसिद्ध धर्मसमुदायफल कहा गया है, जैसा कि वार्तिक में कहा है --

---

20. जैसाकि स्मृति कहती है –

'येनकेनचिदाच्छन्नो येनकेनचिदाशितः ।
यत्रक्वचनशायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।'

'जो जिस किसी से शरीर ढ़क लेता है, जिस – किसी से पेट भर लेता है, जहाँ – कहीं सो जाता है उसको देव ब्राह्मण कहते हैं' ।

21. जैसा कि स्मृति कहती है: –

'न कुंड्यां नोदके सङ्गो न चैले न त्रिपुष्करे ।
नागारे नासने नान्ने यस्य वै मोक्षवित्तु सः ।।'

'जिसकी कुण्डी = कमण्डलु, जल, वस्त्र, त्रिपुष्कर तीर्थ, आगार – निवास स्थान, आसन अथवा अन्न में आसक्ति नहीं होती है वह मोक्षविद् होता है'

'उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्येव न तु साधनरूपिणः ॥' इति ।

एतदेव च पुरा स्थितप्रज्ञलक्षणरूपेणाभिहितम् । तदिदं धर्मजातं प्रयत्नेन संपाद्यमानं मुमुक्षोर्मोक्षसाधनं भवतीति प्रतिपादयन्नुपसंहरति –

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ 20 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥12॥

37 ये तु संन्यासिनो मुमुक्षवो धर्मामृतं धर्मरूपममृतत्वसाधनत्वादमृतवदास्वाद्यत्वाद्वेदं यथोक्तमद्वेष्टा सर्वभूतानामित्यादिना प्रतिपादितं पर्युपासतेऽनुतिष्ठन्ति प्रयत्नेन श्रद्दधानाः सन्तो मत्परमा अहं भगवानक्षरात्मा वासुदेव एव परमः प्राप्तव्यो निरतिशया गतिर्येषां ते मत्परमा भक्ता मां निरुपाधिकं ब्रह्म भजमानास्तेऽतीव मे प्रियाः । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' इति पूर्वसूचितस्यायमुपसंहारः ।

38 यस्माद्धर्मामृतमिदं श्रद्धयाऽनुतिष्ठन्भगवतो विष्णोः परमेश्वरस्यातीव प्रियो भवति तस्मादिदं ज्ञानवतः स्वभावसिद्धतया लक्षणमपि मुमुक्षुणाऽऽत्मतत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मज्ञानोपायत्वेन यत्नादनुष्ठेयं विष्णोः परमं पदं जिगमिषुणेति वाक्यार्थः । तदेवं सोपाधिकब्रह्माभिध्यानपरि-

---

'आत्मज्ञान होने पर अद्वेष्टृत्वादि गुण बिना प्रयत्न के ही = स्वयं ही होते हैं, न कि वे आत्मवेत्ता के लिए साधनरूपी 'होते हैं' ।

यही पहले स्थितप्रज्ञलक्षणरूप से कहा है । यह धर्मसमुदाय प्रयत्न से सम्पाद्यमान मुमुक्षु के मोक्ष का साधन होता है-- यह प्रतिपादन करते हुए उपसंहार करते हैं :–

[जो मुझमें श्रद्धा रखनेवाले और मुझको ही परम गति समझनेवाले भक्तजन इस यथोक्त -- उपर्युक्त धर्मरूप अमृत का सब प्रकार से सेवन करते हैं वे मुझको अत्यन्त प्रिय हैं ॥ 20 ॥]

37 जो मुमुक्षु संन्यासी श्रद्धावान् होकर और मत्परम = मैं अक्षरात्मा भगवान् वासुदेव ही जिनका परम प्राप्तव्य -- निरतिशय गति हूँ ऐसे मत्परम होकर इस यथोक्त = 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' – इत्यादि से प्रतिपादित धर्मामृत =धर्मरूप अमृत का, अमृतत्व का साधन होने से अथवा अमृत के समान आस्वाद्य होने से, पर्युपासन अर्थात् प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान करते हैं वे मत्परायण भक्तजन = मुझ निरुपाधिक ब्रह्म का भजन करनेवाले मुझको अत्यन्त प्रिय हैं । यह 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (गीता, 7.17) =' ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझको प्रिय है' – इस पूर्वसूचित का उपसंहार है ।

38 क्योंकि यह धर्मामृत श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान किया जाता हुआ परमेश्वर भगवान् विष्णु को अत्यन्त प्रिय है, इसलिए यह ज्ञानवान् = ज्ञानी का स्वभावसिद्ध लक्षण होने पर भी मुमुक्षु =आत्मतत्त्व-जिज्ञासु अर्थात् विष्णु के परम पद के जिगमिषु पुरुष के द्वारा आत्मज्ञान के उपायरूप से प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठेय है -- यह वाक्यार्थ है । इस प्रकार सोपाधिक -- ब्रह्मध्यान के परिपाक से निरुपाधिक --

पाकान्निरुपाधिकं ब्रह्मानुसंदधानस्याद्वेष्टृत्वादिधर्मविशिष्टस्य मुख्यस्याधिकारिणः श्रवणमनननिदिध्यासनान्यावर्तयतो वेदान्तवाक्यार्थतत्त्वसाक्षात्कारसंभवात्ततो मुक्त्युपपत्तेर्मुक्तिहेतुवेदान्तमहावाक्यार्थान्वययोग्यस्तत्पदार्थोऽनुसंधेय इति मध्यमेन षट्केन सिद्धम् ॥20 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥12॥

ब्रह्म का अनुसन्धान करनेवाले, अद्वेष्टृत्वादि धर्मों से विशिष्ट, श्रवण – मनन – निदिध्यासन का अभ्यास करनवाले मुख्य अधिकारी को वेदान्तवाक्यों के अर्थस्वरूप तत्त्व का साक्षात्कार होना सम्भव है, अतः उससे उसकी मुक्ति उपपन्न होती है, अतएव मुक्ति के हेतुभूत वेदान्त के महावाक्यों के अर्थ में उसका अन्वय हो सकता है, इसीलिए 'तत्' पदार्थ अनुसंधेय – चिन्तनीय है -- यह बीच के छः अध्यायों से सिद्ध होता है ॥ 20 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य -- श्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपीका के हिन्दीभाषानुवाद का भक्तियोग नामक द्वादश अध्याय समाप्त होता है ।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

1 ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति ॥

2 प्रथममध्यमषट्कयोस्तत्त्वंपदार्थावुक्तावुत्तरस्तु षट्को वाक्यार्थनिष्ठः सम्यग्धीप्रधानोऽधुनाऽऽरभ्यते । तत्र –

'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि ॥'

इति प्रागुक्तम् । नचानात्मज्ञानलक्षणान्मृत्योरात्मज्ञानं विनोद्धरणं संभवति । अतो यादृशेनाऽऽत्मज्ञानेन मृत्युसंसारनिवृत्तिर्येन च तत्त्वज्ञानेन युक्ता अद्वेष्टृत्वादिगुणशालिनः संन्यासिनः प्राग्व्याख्यातास्तदात्मतत्त्वज्ञानं वक्तव्यम् । तच्चाद्वितीयेन परमात्मना सह जीवस्याभेदमेव विषयीकरोति । तद्भेदभ्रमहेतुकत्वात्सर्वानर्थस्य ।

3 तत्र जीवानां संसारिणां प्रतिक्षेत्रं भिन्नानामसंसारिणैकेन परमात्मना कथमभेदः स्यादित्याशङ्कायां संसारस्य भिन्नत्वस्य चाविद्याकल्पितानात्मधर्मत्वान्न जीवस्य संसारित्वं भिन्नत्वं चेति वचनीयम् ।

---

1 यदि योगिजन ध्यानाभ्यास[1] के द्वारा वश में किये हुए मन से उस निर्गुण – गुणातीत, निष्क्रिय – क्रियारहित, स्वयंप्रकाश चैतन्यात्मा किसी ज्योति को परम – सर्वोत्कृष्टरूप से देखते हैं तो वे देखें, हमारे तो नेत्रों के चमत्कार के लिए चिरकाल तक वही रहे जो कोई वह नीलतेज – श्यामतेज कालिन्दी – यमुना के बालुकामय तट पर दौड़ता रहता है[2] ।

2 प्रथम और मध्यम षट्कों = छः – छः अध्यायों में क्रमशः 'त्वम्' और 'तत्' = 'जीव' और 'ब्रह्म'– दो पदार्थों को कहा गया है । उत्तर षट्क = अन्तिम छः अध्याय तो 'तत्त्वमसि' – वाक्यार्थनिष्ठ सम्यग्ज्ञानप्रधान है जिसको अब आरम्भ किया जाता है । उसमें – 'मैं उनका इस मृत्युरूप संसारसागर से उद्धार करनेवाला होता हूँ' – यह पहले कहा गया है और अनात्मज्ञानस्वरूप मृत्यु से उद्धार आत्मज्ञान के बिना सम्भव नहीं है, अतः जिस प्रकार के आत्मज्ञान से मृत्युरूप संसारकी निवृत्ति होती है और जिस तत्त्वज्ञान से युक्त अद्वेष्टृत्वादि गुणशाली संन्यासियों की पहले व्याख्या की गई है वह आत्मतत्त्वज्ञान वक्तव्य है । और वह ज्ञान अद्वितीय परमात्मा के साथ जीव के अभेद को ही विषय करता है, क्योंकि सब अनर्थ जीव और ब्रह्म के भेदभ्रम के कारण ही होता है ।

3 उसमें – प्रत्येक क्षेत्र – शरीर में भिन्न संसारी जीवों का असंसारी और एक परमात्मा के साथ अभेद कैसे हो सकता है ? ऐसी शङ्का होने पर 'संसार और भिन्नत्व अविद्याकल्पित अनात्मधर्म होने

---

1. 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (योगसूत्र, 3.2) = 'तत्र – उस प्रदेश अर्थात् ध्येय विषय में प्रत्यय – वृत्ति – ध्येय की आलोचना करनेवाली वृत्ति की एकतानता 'ध्यान' है' । 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' (योगसूत्र, 1.13) = 'तत्र= अभ्यास और वैराग्य में से स्थिति – चित्त की स्थिति – चित्त के वृत्तिरहित होकर शान्त प्रवाह में बहने की स्थिति में पूर्ण सामर्थ्य और उत्साहपूर्वक यत्न करना 'अभ्यास' है' ।

2. यहाँ यद्यपि निर्गुण ज्योति और नील महः = श्याम तेज – दोनों का ऐक्य ध्वनित है, तथापि श्याम तेज= भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण में भक्ति – प्रेमातिशय प्रदर्शित किया गया है ।

तदर्थं देहेन्द्रियान्तःकरणेभ्यः क्षेत्रेभ्यो विवेकेन क्षेत्रज्ञः पुरुषो जीवः प्रतिक्षेत्रमेक एव निर्विकार इति प्रतिपादनाय क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकः क्रियतेऽस्मिन्नध्याये । तत्र ये द्वे प्रकृती भूम्यादिक्षेत्ररूपतया जीवरूपक्षेत्रज्ञतया चापरपरशब्दवाच्ये सप्तमाध्याये सूचिते तद्विवेकेन तत्त्वं निरूपयिष्यन् –

श्री भगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ 1 ॥

4 **इदमिन्द्रियान्तःकरणसहितं भोगायतनं शरीरं हे कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते सस्यस्येवास्मिन्नसकृत्कर्मणः फलस्य निर्वृत्तेः । एतद्यो वेत्ति अहं ममेत्यभिमन्यते तं क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः कृषीवलवत्तत्फलभोक्तृत्वात् । तद्विदः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेकविदः । अत्र चाभिधीयत इति कर्मणि प्रयोगेण क्षेत्रस्य जडत्वात्कर्मत्वं क्षेत्रज्ञशब्दे च द्वितीयां विनैवेतिशब्दमाहरन्स्वप्रकाशत्वात्कर्मत्वाभावमभिप्रैति । तत्रापि क्षेत्रं यैः कैश्चिदप्यभिधीयते न तत्र कर्तृगतविशेषापेक्षा । क्षेत्रज्ञं**

से जीव का संसारित्व और भिन्नत्व नहीं है' – यह वंचनीय है । इसके लिए देह, इन्द्रिय और अन्तःकारणरूप क्षेत्रों से विवेक करके प्रत्येक क्षेत्र -- शरीर में क्षेत्रज्ञ पुरुष -- जीव एक ही और निर्विकार है – यह प्रतिपादन करने के लिए इस अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेक किया जाता है । उसमें – जो दो परा और अपरा शब्द से वाच्य भूमि आदि क्षेत्ररूप से और जीवरूप क्षेत्रज्ञरूप से प्रकृतियाँ सप्तम अध्याय में सूचित की गई हैं उनके विवेकद्वारा तत्त्व का निरूपण करने की इच्छा करते हुए श्रीभगवान् ने कहा –

[हे कौन्तेय ! यह शरीर 'क्षेत्र' है -- ऐसा कहा जाता है । इसको जो जानता है उसको 'क्षेत्रज्ञ' – ऐसा उनको जाननेवाले पुरुष कहते हैं ।।1।।]

4 हे कौन्तेय[3] ! यह इन्द्रिय और अन्तःकरणसहित भोगायतन = भोग का आयतन – स्थानरूप शरीर[4] 'क्षेत्र'[5] है -- ऐसा कहा जाता है, क्योंकि इसमें सस्य = अनाज की खेती के समान बार-बार, कर्म के फल की निर्वृत्ति – प्राप्ति होती रहती है । इसको जो जानता है = इसमें जो 'मैं'-- 'मेरा'

3. जिसप्रकार कुन्ती तुम्हारे प्रादुर्भाव का स्थान होने के कारण क्षेत्ररूप हैं उसीप्रकार आत्मा की अभिव्यक्ति का स्थान होने के कारण इदम् = यह शरीर क्षेत्र है – यह कहने के लिए यहाँ ' कौन्तेय' शब्द से भगवान् ने अर्जुन को सम्बोधित किया है ।

4. शरीर = त्रिगुणात्मिका प्रकृति समस्त प्रकार के कार्य – कारण और विषयरूप में परिणत होती है और पुरुष के भोग और अपवर्ग – मोक्ष की सिद्धि के लिए ही देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि के आकार में संहत होती है वह देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण का संघातरूप ही 'शरीर' है ।

5. क्षेत्र = 'क्षतात् – त्राणात् क्षेत्रम्' = शरीर की तपस्या द्वारा शमदमादि सम्पत्ति से युक्त पुरुष को संसाररूप क्षत – अनर्थ से त्राण प्राप्त होता है, इसलिए शरीर को 'क्षेत्र' कहते हैं । अथवा, 'क्षरणात् क्षेत्रम्' = दीपशिखा के समान शरीर का प्रतिक्षण क्षरण – क्षय होने से शरीर को 'क्षेत्र' कहा जाता है । अथवा, 'क्षिणोत्यात्मानमविद्यया त्रायते च विद्यया क्षेत्रम्' = जो अपने को अविद्या से क्षीण करता है और विद्या से त्राण को प्राप्त होता है वह 'क्षेत्र' है अथवा, 'क्षीयते नश्यति क्षरति अपक्षीयतेऽतोपि क्षेत्रमित्यभिधीयते' = शरीर का क्षय – नाश – क्षरण – अपक्षय होता है, इसलिए भी उसको 'क्षेत्र' कहा जाता है । अथवा, 'क्षेत्रवदस्मिन्कर्मफलं निष्पद्यतेऽतोपि क्षेत्रशब्देनोच्यते' = इस शरीर में क्षेत्र – खेत के समान अर्थात् खेत में बीज वपन करने पर तदनुसार फल प्राप्त होने के समान कर्मानुसार फल का निष्पादन होता है, इसलिए भी उसको 'क्षेत्र' कहा जाता है ।

तु कर्मत्वमन्तरेणैव विवेकिन एवाऽऽहुः स्थूलदृशामगोचरत्वादिति कथयितुं विलक्षणवचन-व्यक्त्यैकत्र कर्तृपदोपादानेन च निर्दिशति भगवान् ॥ 1 ॥

5 एवं देहेन्द्रियादिविलक्षणं स्वप्रकाशं क्षेत्रज्ञमभिधाय तस्य पारमार्थिकं तत्त्वमसंसारिपरमात्मनैक्यमाह –

क्षेत्रज्ञं चापि[6] मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ 2 ॥

6 सर्वक्षेत्रेषु य एकः क्षेत्रज्ञः स्वप्रकाशचैतन्यरूपो नित्यो विभुश्च तमविद्याध्यारोपित-कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसारधर्मं क्षेत्रज्ञमाविद्यकरूपपरित्यागेन मामीश्वरमसंसारिणमद्वितीयब्रह्मानन्दरूपं विद्धि जानीहि हे भारत । एवं च क्षेत्रं मायाकल्पितं मिथ्या । क्षेत्रज्ञश्च परमार्थसत्यस्तद्भ्रमाधिष्ठानमिति क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यज्ज्ञानं तदेव मोक्षसाधनत्वाज्ज्ञानमविद्याविरोधिप्रकाशरूपं मम मतमन्यत्त्वज्ञानमेव तद्विरोधित्वादित्यभिप्रायः ।

– ऐसा अभिमान करता है उसको 'क्षेत्रज्ञ' -- ऐसा तद्विद = क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेक-भेद जानने वाले कहते हैं, क्योंकि कृषीवल -- किसान के समान वह इसके फल का भोक्ता होता है ! यहाँ 'अभिधीयते' --इस कर्मवाच्य के प्रयोग से यह सूचित होता है कि क्षेत्र में जडत्व है अतएव कर्मत्व है तथा 'क्षेत्रज्ञ' शब्द में द्वितीया विभक्ति के बिना 'इति' शब्द के समभिव्याहार से यह अभिप्रेत है कि क्षेत्रज्ञ में स्वप्रकाशत्व है अतएव कर्मत्वाभाव है । उसमें भी 'क्षेत्र' जिन किन्हीं भी पुरुषों द्वारा कहा जा सकता है, वहाँ किसी कर्तृगत विशेषता की अपेक्षा नहीं है । क्षेत्रज्ञ को तो कर्मत्व के बिना ही विवेकीजन ही कहते हैं, क्योंकि स्थूलदृष्टि पुरुषों का वह विषय नहीं है -- यह कहने के लिए विलक्षण वचनाभिव्यक्ति से एक स्थान पर कर्तृपद को ग्रहण करते हुए भगवान् इनका निर्देश करते हैं ॥ 1 ॥

5 इसप्रकार देह और इन्द्रिय आदि से विलक्षण स्वप्रकाश क्षेत्रज्ञ को कहकर उसके पारमार्थिक तत्त्वस्वरूप असंसारी परमात्मा के साथ ऐक्य को कहते हैं --

[हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तुम मुझको जानो । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वह ज्ञान है -- ऐसा मेरा मत है ॥2॥]

6 हे भारत[7] ! सब क्षेत्रों में जो एक स्वप्रकाश, चैतन्यरूप, नित्य और विभु क्षेत्रज्ञ है उस अविद्या से अध्यारोपित -- आरोपित कर्तृत्व -- भोक्तृत्वादि सांसारिक धर्मों से विशिष्ट क्षेत्रज्ञ को अविद्यकरूप

6. श्लोकस्थ 'चापि' = 'च' और 'अपि' – ये दो निपात जीव के अक्षरत्वज्ञान का शरीर से अन्यत्वज्ञान के साथ भिन्नक्रम में समुच्चय करने के लिए हैं । 'न सांख्यवद्दृश्यादन्यमेव क्षेत्रज्ञं विद्धि जानीहि किन्तु मां मदभिन्नं चापि क्षेत्रज्ञं विद्धि' = तुम मुझको सांख्य के समान दृश्य से अन्य को ही क्षेत्रज्ञ नहीं समझो, किन्तु मुझको और मुझसे अभिन्न को भी क्षेत्रज्ञ समझो– यह सम्बन्ध है । अथवा, 'चकार' क्षेत्रज्ञज्ञान का समुच्चय करता है और 'अपि' 'एव' अर्थ में है । 'सर्वक्षेत्रेषु दृष्टारं क्षेत्रज्ञमन्यं विद्धि तं च मामसंसारिणं परमेश्वरमेव विद्धि' = सब क्षेत्रों में दृष्टा क्षेत्रज्ञ अन्य को जानो उसको और मुझको असंसारी परमेश्वर ही समझो ।

7. जिस प्रकार भरतवंश में उद्भव होने के कारण तुम भारत हो उसी प्रकार मुझमें कल्पित क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ – यह ध्वनित करने के लिए ही उक्त सम्बोधन है । अथवा, उत्तम भरतवंश में उद्भव होने के कारण तुम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञज्ञान को ग्रहण करने के योग्य हो – यह सूचित करने के लिए 'भारत' सम्बोधन है ।

7 अत्र जीवेश्वरयोराविद्यको भेदः पारमार्थिकस्त्वभेद इत्यत्र युक्तयो भाष्यकृद्भिर्वर्णिताः । अस्माभिस्तु ग्रन्थविस्तरभयात्प्रागेव बहुधोक्तत्वाच्च नोपन्यस्ताः ॥ 2 ॥

8 संक्षेपेणोक्तमर्थं विवरीतुमारभते –

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ 3 ॥

9 तदिदं शरीरमिति प्रागुक्तं जडवर्गरूपं क्षेत्रं यच्च स्वरूपेण जडदृश्यपरिच्छिन्नादिस्वभावं यादृक्चेच्छादिधर्मकं यद्विकारि यैरिन्द्रियादिविकारैर्युक्तम् । यतश्च कारणाद्यत्कार्यमुत्पद्यत इति शेषः । अथ वा यतः प्रकृतिपुरुषसंयोगाद्भवति । यदिति यैः स्थावरजङ्गमादिभेदैर्भिन्नमित्यर्थः । अत्रानियमेन चकारप्रयोगात्सर्वसमुच्चयो द्रष्टव्यः। स च क्षेत्रज्ञो यः स्वरूपतः स्वप्रकाशचैतन्यानन्दस्वभावः । यत्प्रभावश्च ये प्रभावा उपाधिकृताः शक्तयो यस्य तत्क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं सर्वविशेषणविशिष्टं समासेन संक्षेपेण मे मम वचनाच्छृणु श्रुत्वाऽवधारयेत्यर्थः ॥ 3 ॥

10 कैर्विस्तरेणोक्तस्यायं संक्षेप इत्यपेक्षायां श्रोतृबुद्धिप्ररोचनार्थं स्तुवन्नाह –

के परित्यागद्वारा तुम मुझको = असंसारी, अद्वितीय, ब्रह्मानन्दरूप मुझ ईश्वर को जानो । इसप्रकार क्षेत्र मायाकल्पित है अतएव मिथ्या है और क्षेत्रज्ञ परमार्थ सत्य है, उस क्षेत्रभ्रम का अधिष्ठान है -- इसप्रकार का जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है वही मोक्ष का साधन होने से अविद्याविरोधी प्रकाशरूप ज्ञान है – ऐसा मेरा मत है । इसके अतिरिक्त अन्य ज्ञान तो उसका विरोधी होने के कारण अज्ञान ही है -- यह अभिप्राय है ।

7 यहाँ जीव और ईश्वर का भेद अविद्यक है, पारमार्थिक तो अभेद है -- इसमें अनेक युक्तियाँ भाष्यकार ने दी हैं । हमने तो ग्रन्थ के विस्तार के भय से और पहले ही बहुत प्रकार से कह चुकने के कारण यहाँ उनका पुन: उल्लेख नहीं किया है ॥ 2 ॥

8 संक्षेप से उक्त अर्थ का विवरण करने के लिए आरम्भ करते हैं –
[वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जो विकारी-विकारवाला है और जिससे जो होता है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाववाला है -- वह सब संक्षेप में मुझसे सुनो ॥ 3 ॥]

9 तत् = वह = 'इदं शरीरम्' = 'यह शरीर' -- यह जो पहले कहा है वह जडवर्गरूप क्षेत्र यत् = जो है = स्वरूप से जड़, दृश्य, परिच्छिन्नादि स्वभाववाला है और यादृक् = जैसा = इच्छादि धर्मोंवाला है तथा यद्विकारी = जिन इन्द्रियादि विकारों से युक्त है और जिस कारण से जो कार्य उत्पन्न होता है -- 'उत्पद्यते' श्लोक में नहीं है, इसलिए 'शेषः' कहा है । अथवा, यतः = जिससे = प्रकृति और पुरुष के संयोग से होता है । यत् = जो अर्थात् जिन स्थावर- जंगमादि भेदों से भिन्न है[8] । यहाँ बिना नियम के चकारों का प्रयोग होने से इन सबका समुच्चय समझना चाहिए । वह क्षेत्रज्ञ जो स्वरूपत: स्वप्रकाश, चैतन्य, आनन्दस्वभाव है और जिस प्रभाववाला है अर्थात् जिसकी उपाधिकृत शक्तियाँ जो प्रभाव हैं । वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ – दोनों का सब विशेषणों से विशिष्ट यथार्थ स्वरूप समास – संक्षेप में मुझसे -- मेरे वचन से सुनो अर्थात् सुनकर निश्चय करो ॥ 3 ॥

10 किनके द्वारा विस्तार से उक्त वचन का यह संक्षेप है – ऐसी अपेक्षा होने पर श्रोता की बुद्धि में प्ररोचना-रुचि उत्पन्न करने के लिए स्तुति करते हुए कहते हैं :--

---

8. उक्त अर्थ 'यच्च' – इस पूर्वोक्त शब्द के अर्थ में उक्त और अन्तर्निहित है, इसलिए 'यत्' शब्द का प्रस्तुत अर्थ करने पर 'यत्' शब्द की व्यर्थता सिद्ध होगी, अतएव आचार्यों ने प्रकृत अर्थ 'यत्' का नहीं किया है ।–

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदेश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ 4 ॥

11 **ऋषिभिर्वसिष्ठादिभिर्योगशास्त्रेषु धारणाध्यानविषयत्वेन बहुधा गीतं निरूपितम् । एतेन योगशास्त्रप्रतिपाद्यत्वमुक्तम् । विविधैर्नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मादिविषयैश्छन्दोभिर्ऋगादिमन्त्रै – र्ब्राह्मणैश्च पृथग्विवेकतो गीतम् । एतेन कर्मकाण्डप्रतिपाद्यत्वमुक्तम् । ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव ब्रह्म सूत्र्यते सूच्यते किंचिद्व्यवधानेन प्रतिपाद्यत एभिरिति ब्रह्मसूत्राणि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।' इत्यादीनि तटस्थलक्षणपराण्युपनिषद्वाक्यानि तथा पद्यते ब्रह्म साक्षात्प्रतिपाद्यत एभिरिति पदानि स्वरूपलक्षणपराणि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादीनि तैर्ब्रह्मसूत्रैः पदैश्च हेतुमद्भिः । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्युपक्रम्य 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेत' इति नास्तिकमत-मुपन्यस्य 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेत' इत्यादियुक्तीः प्रतिपाद-**

[यह संक्षेप अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञज्ञान ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है अर्थात् समझाया गया है और विविध छन्दों = वेदमन्त्रों से पृथक्-विवेकपूर्वक कहा गया है तथा विनिश्चित और युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के पदों के द्वारा भी वैसे ही कहा गया है ।।4।।]

11 वसिष्ठादि ऋषियों ने योगशास्त्रों में धारणा और ध्यान के विषयरूप से इसका बहुत प्रकार से गान – निरूपण किया है । इससे इसकी योगशास्त्रप्रतिपाद्यता कही गई है । विविध अर्थात् नित्य – नैमित्तिक, काम्य-कर्मादिविषयक छन्दों = ऋगादि मन्त्रों और ब्राह्मणों द्वारा इसका पृथक् – विवेकपूर्वक गान किया गया है । इससे इसकी कर्मकाण्डप्रतिपाद्यता कही गई है । ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा = जिनके द्वारा ब्रह्म सूत्रित -- सूचित-कुछ व्यवधानपूर्वक प्रतिपादित हो वे 'ब्रह्मसूत्र' हैं – ब्रह्म के तटस्थलक्षण[9]परक 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तैत्तिरीय उपनिषद्, 3.1) -- 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीते हैं और जिसमें जाते हुए लीन हो जाते हैं' – इत्यादि उपनिषद्-वाक्य ब्रह्मसूत्र विवक्षित हैं तथा जिनके द्वारा ब्रह्म पद्यते -- साक्षात्प्रतिपाद्यते -- साक्षात् प्रतिपादित हो वे पद हैं -- ब्रह्म के स्वरूपलक्षण[10]--परक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीय उपनिषद्, 2.1) -- 'ब्रह्म सत्य, ज्ञानरूप और अनन्त है' – इत्यादि उपनिषद्--वाक्य ब्रह्मपद विवक्षित हैं उन ब्रह्मसूत्र और पदों[11] द्वारा हेतुमत् = 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्योपनिषद् 6.2.1) -- 'हे सोम्य ! यह पूर्व में एक, अद्वितीय सत् ही था'-- इसप्रकार उपक्रम कर 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्ञा-

फलतः 'यतो यस्माच्च यत्कार्यमुत्पद्यत इति शेषः' – यही अर्थ किया है । यही अर्थ पूर्वस्थिति में मधुसूदन सरस्वती को भी स्वीकार ही है ।

9. 'स्वरूपान्तराभूतत्वे सति इतरव्यावर्त्तकं तटस्थलक्षणम्' = जो स्वरूप के अन्तर्गत न होने पर भी अन्य से भेद करनेवाला हो उसको 'तटस्थलक्षण' कहते हैं । जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के प्रति ब्रह्म की निमित्तकारणता उसका तटस्थलक्षण है ।

10. 'स्वरूपान्तरभूतत्वे सति अन्यव्यावर्त्तकं स्वरूपलक्षणम्' = जो वस्तु के स्वरूप के अन्तर्गत आ जाता हो और अन्यों से भेद करनेवाला हो उसको 'स्वरूपलक्षण' कहते हैं – जैसे – ' सच्चिदानन्दं ब्रह्म' ।

11. 'ब्रह्मसूत्राणि च पदानि च' -- 'ब्रह्मसूत्र और पद' - इसप्रकार 'ब्रह्मसूत्रपद' में द्वन्द्व समास करने पर धनपति कहते हैं कि यहाँ द्वन्द्व समास नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसमें फल का अभाव रहता है ।

यद्भिर्विनिश्चितैरुपक्रमोपसंहारैकवाक्यतया संदेहशून्यार्थप्रतिपादकैर्बहुधा गीतं च । एतेन ज्ञानकाण्डप्रतिपाद्यत्वमुक्तम् । एवमेतैरतिविस्तरेणोक्तं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं संक्षेपेण तुभ्यं कथयिष्यामि तच्छृण्वित्यर्थः । अथ वा ब्रह्मसूत्राणि तानि पदानि चेति कर्मधारयः । तत्र विद्यासूत्राणि 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादीनि अविद्यासूत्राणि 'न स वेद यथा पशुः ' इत्यादीनि तैर्गीतमिति ॥ 4 ॥

12 **एवं प्ररोचितायार्जुनाय क्षेत्रस्वरूपं तावदाह द्वाभ्याम् –**

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ 5 ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ 6 ॥

13 **महान्ति भूतानि भूम्यादीनि पञ्च । अहंकारस्तत्कारणभूतोऽभिमानलक्षणः । बुद्धिरहं – कारकारणं महत्तत्त्वमध्यवसायलक्षणम् । अव्यक्तं तत्कारणं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकं प्रधानं सर्व-कारणं न कस्यापि कार्यम् । एवकारः प्रकृत्यवधारणार्थः । एतावत्येवाष्टधा प्रकृतिः । चशब्दो**

येत' (छान्दोग्योपनिषद्, 6.2.1) -- 'कोई उसी के विषय में यह कहते हैं कि यह पूर्व में एक अद्वितीय असत् ही था, उस असत् से सत् उत्पन्न होता है' -- इस प्रकार नास्तिक मत का उपन्यास कर 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेत' -- 'हे सोम्य ! ऐसा तो हो ही कैसे सकता है ? असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा ? -- यह कहा' -- इत्यादि युक्तियों का प्रतिपादन करनेवाले तथा विनिश्चित = उपक्रम और उपसंहार की एकवाक्यता से सन्देहरहित अर्थ के प्रतिपादक उपनिषद्-वाक्यों द्वारा इसका बहुत प्रकार से गान किया गया है । इससे इसकी ज्ञानकाण्डप्रतिपाद्यता कही गई है । इसप्रकार इन ऋषियों, वेदमन्त्रों और ब्रह्मसूत्रपदों के द्वारा अतिविस्तारपूर्वक उक्त क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के यथार्थ स्वरूप को मैं तुमसे संक्षेप में कहूँगा, उसको तुम सुनो-- यह अर्थ है । अथवा, 'ब्रह्मसूत्राणि च तानि पदानि' = 'जो ब्रह्मसूत्र हैं वे ही पद हैं' -- इसप्रकार यह कर्मधारय समास है । उसमें 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.7) = 'मैं आत्मा हूँ' -- इसप्रकार उपासना करे' इत्यादि विद्यासूत्र हैं और 'न स वेद यथा पशुः' -- 'जो नहीं जानता वह पशु के समान है' -- इत्यादि अविद्यासूत्र हैं उनसे इसका गान किया गया है ॥ 4 ॥]

12 इसप्रकार प्ररोचित - प्रोत्साहित अर्जुन को दो श्लोकों से क्षेत्र का स्वरूप कहते हैं :--
[महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियों के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुः ख, संघात, चेतना और धृति -- यह संक्षेप में जन्मादि विकारों सहित क्षेत्र कहा गया है ॥ 5-6 ॥]

13 पृथिवी आदि पाँच महाभूत[12], उनका कारणभूत अभिमानस्वरूप अहङ्कार, बुद्धि = अहंकार का कारणभूत अध्यवसायस्वरूप महत्तत्त्व, अव्यक्त = महत्तत्त्व का कारण सत्त्व-रज-तमोगुणात्मक प्रधान -- जो सबका कारण है किसी का कार्य नहीं है । 'एव' शब्द प्रकृति का निश्चय कराने के लिए

12. यहाँ 'महाभूत' शब्द से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध -- इन पाँच तन्मात्राओं का ग्रहण किया गया है । ये सब विकारों में व्यापक होने के कारण महान् हैं तथा भूत भी हैं इसलिए ये 'महाभूत' कहे जाते हैं (महान्ति च तानि सर्वविकारव्यापकत्वाद्भूतानि च सूक्ष्माणि) । स्थूल पंचमहाभूत तो 'इन्द्रियगोचर' शब्द से विवक्षित हैं ।

भेदसमुच्चयार्थः । तदेवं सांख्यमतेन व्याख्यातम् । औपनिषदानां तु अव्यक्तमव्याकृतमनिर्वचनीयं मायाख्या पारमेश्वरी शक्तिः । मम माया दुरत्ययेत्युक्तम् । बुद्धिः सर्गादौ तद्विषयमीक्षणम् । अहंकार ईक्षणानन्तरमहं बहु स्यामिति संकल्पः । तत आकाशादिक्रमेण पञ्चभूतोत्पत्तिरिति । न ह्यव्यक्तमहदहंकाराः सांख्यसिद्धा औपनिषदैरुपगम्यन्तेऽशब्दत्वादिहेतुभिरिति स्थितम् । 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इतिश्रुतिप्रतिपादितमव्यक्तम् । 'तदैक्षत' इतीक्षणरूपा बुद्धिः । 'बहु स्यां प्रजायेय' इतिबहुभवनसंकल्परूपोऽहंकारः । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी ।' इति पञ्च भूतानि श्रौतानि । अयमेव पक्षः साधीयान् ।

14 इन्द्रियाणि दशैकं च श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणाख्यानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणीति तानि एकं च मनः संकल्पविकल्पात्मकं, पञ्च चेन्द्रियगोचराः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्ते बुद्धीन्द्रियाणां ज्ञाप्यत्वेन विषयाः कर्मेन्द्रियाणां तु कार्यत्वेन । तान्येतानि सांख्याश्चतुर्विंशतितत्त्वान्याचक्षते ॥ 5 ॥

है अर्थात् इतनी ही आठ प्रकार की प्रकृति[13] है । 'च' शब्द भेद का समुच्चय करने के लिए है[14]। इसप्रकार सांख्यमत से व्याख्या की गई है । औपनिषदों -- वेदान्तियों के मत में तो 'अव्यक्त' अव्याकृत अनिर्वचनीय 'माया' नाम की परमेश्वर की शक्ति है जिसको पहले 'मम माया दुरत्यया' (गीता, 7.14) -- इसप्रकार कहा गया है । 'बुद्धि' सर्ग के आदि -- आरम्भ में सृष्टिविषयक ईक्षण है । 'अहंकार' ईक्षण के पश्चात् 'अहं बहु स्याम्' = 'मैं बहुत हो जाऊँ' -- ऐसा संकल्प है । उससे आकाशादि क्रम से पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है । सांख्यप्रसिद्ध अव्यक्त, महत्तत्त्व और अहंकार औपनिषदों -- वेदान्तियों को स्वीकार नहीं हैं, क्योंकि सांख्यमत अशब्दत्वादि हेतुओं से निराकृत है -- ऐसा निश्चित है । 'माया को तो प्रकृति जानो और मायावी को महेश्वर जानो' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4.10); 'उन्होंने ध्यानयोग से युक्त होकर अपने गुणों से गूढ़ देवात्मशक्ति को देखा' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1.2)' -- इसप्रकार श्रुतिद्वारा प्रतिपादित 'अव्यक्त' है और 'तदैक्षत' (छान्दोग्योपनिषद्, 6.2.3) = 'उसने इच्छा की' -- इसप्रकार श्रुतिप्रतिपादित ईक्षणरूप 'बुद्धि' है । 'बहु स्यां प्रजायेय' (छान्दोग्योपनिषद् 6.2.3) = 'मैं बहुत हो जाऊँ' -- इस श्रुति के अनुसार बहुत होने का संकल्परूप 'अहंकार' है तथा 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी' (तैत्तिरीयोपनिषद् 2.1) = 'उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई' -- इसप्रकार श्रुति से प्रतिपादित पाँच भूत हैं । यही पक्ष ठीक है ।

14 इन्द्रियाँ दस और एक = ग्यारह हैं = श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राणसंज्ञक पाँच बुद्धि-ज्ञानेन्द्रियाँ है; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ संज्ञक पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, और एक संकल्पविकल्पात्मक मन है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध -- ये पाँच इन्द्रियगोचर हैं = ज्ञाप्य होने के कारण

---

13. 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त' (सांख्यकारिका, 3) -- इस सांख्यकारिका के अनुसार प्रकृति, महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ -- आठ प्रकार की प्रकृति है । इसमें मूलप्रकृति अविकृति ही है, किन्तु अन्य सात प्रकृति हैं तथा विकृति भी हैं ।

14. 'च' शब्द भेद का समुच्चय करने के लिए है अर्थात् आठ प्रकार की प्रकृति में जो भेद है उसके समुच्चय का निर्देश करने के लिए 'च' शब्द का प्रयोग है ।

15 **इच्छा सुखे तत्साधने चेदं मे भूयादिति स्पृहात्मा चित्तवृत्तिः काम इति राग इति चोच्यते । द्वेषो दुःखे तत्साधने चेदं मे मा भूदिति स्पृहाविरोधिनी चित्तवृत्तिः क्रोध इतीर्ष्येति चोच्यते । सुखं निरुपाधीच्छाविषयीभूता धर्मासाधारणकारणिका चित्तवृत्तिः परमात्मसुखव्यञ्जिका । दुःखं निरुपाधिद्वेषविषयीभूता चित्तवृत्तिरधर्मासाधारणकारणिका । संघातः पञ्चमहाभूतपरिणामः सेन्द्रियं शरीरम् । चेतना स्वरूपज्ञानव्यञ्जिका प्रमाणासाधारणकारणिका चित्तवृत्तिर्ज्ञानाख्या । धृतिरवसन्नानां देहेन्द्रियाणामवष्टम्भहेतुः प्रयत्नः । उपलक्षणमेतदिच्छादिग्रहणं सर्वान्तःकरण-**

ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं और कार्य होने के कारण कर्मेन्द्रियों के विषय हैं । इन्हीं को सांख्यवादी चौबीस तत्त्व कहते है[15] ॥ 5 ॥

15 'इच्छा' सुख और उसके साधन में 'यह मुझको प्राप्त हो' -- ऐसी स्पृहारूपा चित्तवृत्तिविशेष है, इसी को काम और राग भी कहा जाता है । 'द्वेष' दु:ख और उसके साधन में 'यह मुझको प्राप्त न हो' -- ऐसी स्पृहाविरोधिनी चित्तवृत्तिविशेष है, इसी को क्रोध और ईर्ष्या भी कहा जाता है । सुख निरुपाधिकी इच्छा[16] की विषयीभूता, धर्म जिसका असाधारण कारण है ऐसी चित्तवृत्तिविशेष है वह परमात्मसुख को अभिव्यक्त -- प्रकाशित करनेवाली है । 'दु:ख' निरुपाधिक द्वेष की विषयीभूता, अधर्म जिसका असाधारण कारण है ऐसी चित्तवृत्तिविशेष है[17] । 'संघात' पञ्चमहाभूतों का परिणाम इन्द्रियों सहित शरीर है[18] । 'चेतना' स्वरूपज्ञान को अभिव्यक्त करनेवाली, प्रमाण जिसका असाधारण कारण है ऐसी, ज्ञान नाम की चित्तवृत्तिविशेष है[19] । 'धृति' अवसन्न- क्षीण हुए देह और इन्द्रियों को धारण करने का हेतुभूत प्रयत्न है । यह इच्छा आदि का ग्रहण अन्त:करण के सभी धर्मों का

---

15. (अ) उक्त महाभूत से लेकर पंचेन्द्रियगोचरपर्यन्त पदार्थ सांख्य के अनुसार चौबीस तत्त्व कहे जाते हैं, जैसा कि सांख्यकारिका से स्पष्ट है--'मूलप्रकृतिरविकृतिमहदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारः' (सांख्यकारिका, 3) । (ब) यह श्लोक तृतीय श्लोक में प्रयुक्त 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च' -- पदों की व्याख्या है ।

16. इच्छा दो प्रकार की होती है -- सोपाधिकी और निरुपाधिकी । 'सोपाधिकी' अन्य-दूसरे की इच्छा के आधीन इच्छा है । जो पुरुष सुख चाहता है वह सुख के साधन द्रव्यादि को चाहता है, क्योंकि इनके बिना वैषयिक सुख नहीं हो सकता है, अतः द्रव्यादि की इच्छा सुख की इच्छा के आधीन है । जो पुरुष वैषयिक सुख नहीं चाहता है, वह वैषयिक सुख के साधन द्रव्यादि को भी नहीं चाहता है जैसे -- वीतराग पुरुष या मुमुक्षु । अतः द्रव्यादि की इच्छा सुख की इच्छा के आधीन होने से 'सोपाधिकी' इच्छा कही जाती है । 'निरुपाधिकी' दूसरे की इच्छा के आधीन इच्छा नहीं है । जैसे - सुख की इच्छा निरुपाधिकी इच्छा है, क्योंकि सुख स्वयं पुरुषार्थी पुरुषों से अर्थ्यमान हैं, अतः सुख दूसरे की इच्छा के आधीन इच्छा का विषय नहीं है । धर्म से ही सुख होता है, क्योंकि धर्म इसका असाधारण कारण है । सुख ब्रह्मस्वरूप है । यहाँ शङ्का हो सकती है कि जब ब्रह्मसुख जन्य ही नहीं है तो फिर धर्म उसका असाधारण कारण कैसे होगा ? इसका उत्तर है कि जिसका धर्म असाधारण कारण है ऐसी तद्-तद्-विषयक चित्तवृत्ति से वैषयिक सुख की अवस्था में परमानन्दमात्रा के लेश की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् ऐसी चित्तवृत्ति परमात्मसुखव्यञ्जिका होती है, साधारणजन उसको विषयगत समझकर विषयजन्य सुख मानते हैं ।

17. दु:ख वृत्तिरूप होने से जन्य ही है, अतः यहाँ चित्तवृत्ति को अभिव्यञ्जिका नहीं कहा है ।

18. यद्यपि लोकायतिक शरीर को चातुर्भौतिक ही मानते हैं तथापि अन्य दार्शनिक उसको पञ्चभौतिक मानते हैं । अतएव यहाँ पंचमहाभूतों के परिणाम सेन्द्रिय शरीर को ही 'संघात' कहा है ।

19. बुद्धि -- अन्त:करणवृत्ति सत्त्वमय होने से शुद्ध और स्वच्छ दर्पण के समान चित्प्रतिबिम्बग्राहिणी होती है, वह अग्नि से तप्त लौहपिण्ड में वह्नित्व -- अग्नित्व के समान स्वयं अचेतन होते हुए भी चेतनत्व को प्राप्त होती है जिससे स्थूलपिण्ड भी चेतन सदृश प्रतीत होता है, वह चिदाभासयुक्त अन्त:करणवृत्ति 'चेतना' कही जाती है । चित् के अन्त:करण में प्रतिबिम्बित होने पर जब जीव 'अन्त:करणवृत्ति भी मैं ही हूँ' -- इसप्रकार का अभिमान करता है और वह चिदाभासयुक्त अन्त:करणवृत्ति जब देहादि संघात को भी चेतना से युक्त कर देती है तब उसको 'चेतना' कहा जाता है (नीलकण्ठीव्याख्या) ।

धर्माणाम् । तथाच श्रुतिः – 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भी-रित्येतत्सर्वं मन एव' इति मृद्घट इतिवदुपादानाभेदेन कार्याणां कामादीनां मनोधर्मत्वमाह । एतत्परिदृश्यमानं सर्वं महाभूतादिधृत्यन्तं जडं क्षेत्रज्ञेन साक्षिणाऽवभास्यमानत्वात्तदनात्मकं क्षेत्रं भास्यमचेतनं समासेनोदाहृदमुक्तम् ।

16 **ननु शरीरेन्द्रियसंघात एव चेतनः क्षेत्रज्ञ इति लोकायतिकाः । चेतना क्षणिकं ज्ञानमेवाऽऽत्मेति सुगताः । इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति नैयायिकाः । तत्कथं क्षेत्रमे – वैतत्सर्वमिति ? तत्राऽऽह – सविकारमिति । विकारो जन्मादिर्नाशान्तः परिणामो नैरुक्तैः पठितः । तत्सहितं सविकारमिदं महाभूतादिधृत्यन्तमतो न विकारसाक्षि स्वोत्पत्तिविनाशयोः स्वेन द्रष्टुमशक्यत्वात् । अन्येषामपि स्वधर्माणां स्वदर्शनमन्तरेण दर्शनानुपपत्तेः स्वनैव स्वदर्शने च कर्तृकर्मविरोधान्निर्विकार एव सर्वविकारसाक्षी । तदुक्तम् –**

नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः ।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः ॥ इति ।

तेन विकारित्वमेव क्षेत्रचिह्नं नतु परिगणनमित्यर्थः ॥ 6 ॥

उपलक्षण है । श्रुति भी कहती है -- 'काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री-लज्जा, धी-बुद्धि, और भी-भय -- ये सब मन ही हैं' -- यहाँ 'मृद्घटः'-- के समान उपादान – कारणरूप अभेद से कामादि कार्यों का मनोधर्मत्व कहा गया है[20] । यह महाभूत से लेकर धृतिपर्यन्त परिदृश्यमान -- अनुभूयमान सम्पूर्ण जड़वर्ग क्षेत्रज्ञ साक्षी के द्वारा प्रकाशमान – प्रकाशित होने के कारण संक्षेप में वह अनात्मभूत क्षेत्र अर्थात् अचेतन भाष्य-प्रकाश्य कहा गया है ।

16 यहाँ शङ्का है -- शरीर और इन्द्रियों का संघात ही चेतन क्षेत्रज्ञ है -- यह लोकायतिक कहते हैं; बौद्ध कहते हैं कि चेतनारूप क्षणिक ज्ञान-विज्ञान ही आत्मा है तथा नैयायिकों का मत है कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख और ज्ञान -- ये आत्मा के लिङ्ग है (न्यायसूत्र, 1.1.10) -- तो फिर यह सब क्षेत्र ही कैसे है ? इस पर कहते हैं -- सविकारमिति । 'विकार' जन्म से लेकर नाशपर्यन्त परिणाम है[21] -- यह निरुक्तकार ने कहा है । यह महाभूत से लेकर धृतिपर्यन्त पदार्थ विकारसहित होने से 'सविकार' है, अत: यह विकारों का साक्षी नहीं है, क्योंकि यह स्वयं अपनी उत्पत्ति और विनाश को नहीं देख सकता है । यह अपना दर्शन हुए बिना अपने अन्य धर्मों का भी दर्शन नहीं कर सकता है, क्योंकि अपने ही द्वारा अपना दर्शन होने में एक ही में कर्ता और कर्म होने का विरोध उपस्थित होगा, अत: निर्विकार ही सब विकारों का साक्षी होता है । कहा भी है –

''विकारों के बिना कोई दु:खी नहीं होता और उक्तन्याय से विकारी में साक्षिता क्या है ? मैं बुद्धि के सहस्रों विकारों का साक्षी हूँ, अत: निर्विकार हूँ'' ।

इसलिए विकारित्व ही क्षेत्र का चिह्न है[22], न कि महाभूत से लेकर धृतिपर्यन्त परिगणना है -- यह तात्पर्य है ॥ 6 ॥

---

20. 'मृद्घटः' – इस पद में मिट्टी और घट को कहा गया है, यहाँ मिट्टी कारण है और घट कार्य है, कारण और कार्य में उपादान-कारणरूप से अभेद मानकर श्रुति में अभेद का व्यवहार किया गया है अर्थात् कामादि को मन ही कहा गया है, किन्तु लोक में 'मृद्धर्म घट है' -- यह जैसे भेदविवक्षा से व्यवहार होता है वैसे ही 'कामादि मनोधर्म हैं' – यह यहाँ व्यवहार किया गया है ।

21. 'जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति' (निरुक्त, प्रथम अध्याय, प्रथम पाद) = विकार के छ: रूप हैं – जन्म लेना, होना, बदलना, बढ़ना, घटना और नाश होना ।

17 एवं क्षेत्रं प्रतिपाद्य तत्साक्षिणं क्षेत्रज्ञं क्षेत्राद्विवेकेन विस्तरात्प्रतिपादयितुं तज्ज्ञानयोग्य – त्वायामानित्वादिसाधनान्याह ज्ञेयं यत्तदित्यतः प्राक्तनैः पञ्चभिः–

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ 7 ॥

18 विद्यमानैरविद्यमानैर्वा गुणैरात्मनः श्लाघनं मानित्वं, लाभपूजाख्यात्यर्थं स्वधर्मप्रकटीकरणं दम्भित्वं, कायवाङ्मनोभिः प्राणिनां पीडनं हिंसा, तेषां वर्जनममानित्वमदम्भित्वमहिंसेत्युक्तम्। परापराधे चित्तविकारहेतौ प्राप्तेऽपि निर्विकारचित्ततया तदपराधसहनं क्षान्तिः, आर्जवमकौटिल्यं यथाहृदयं व्यवहरणं परप्रतारणाराहित्यमिति यावत् । आचार्यो मोक्षसाधनस्योपदेष्टाऽत्र विवक्षितो न तु मनूक्त उपनीयाध्यापकः । तस्य शुश्रूषानमस्कारादिप्रयोगेण सेवनमाचार्योपासनम् । शौचं बाह्यं कायमलानां मृज्जलाभ्यां क्षालनमाभ्यन्तरं च मनोमलानां च रागादीनां विषयदोषदर्शन- रूपप्रतिपक्षभावनयाऽपनयनम् । स्थैर्यं मोक्षसाधने प्रवृत्तस्यानेकविधविघ्नप्राप्तावपि तदपरित्यागेन पुनः पुनर्यत्नाधिक्यम् । आत्मविनिग्रह आत्मनो देहेन्द्रियसंघातस्य स्वभावप्राप्तां मोक्षप्रतिकूले प्रवृत्तिं निरुध्य मोक्षसाधन एव व्यवस्थापनम् ॥ 7 ॥

---

17 इसप्रकार क्षेत्र का प्रतिपादन कर उसके साक्षी क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र से विवेक-भेद के साथ विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करने के लिए 'ज्ञेयं यत्तत्' -- इत्यादि से पूर्व पठित पाँच श्लोकों से उस क्षेत्रज्ञ के ज्ञान की योग्यता के लिए अमानित्वादि साधनों को कहते हैं –

[अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षान्ति-क्षमा, आर्जव, आचार्य की उपासना, शौच, स्थिरता और आत्मनिग्रह ॥ 17 ॥]

18 अपने में विद्यमान अथवा अविद्यमान गुणों से अपनी श्लाघा-प्रशंसा करना 'मानित्व' है; लाभ, पूजा अथवा ख्याति के लिए अपने धर्मों को प्रकट करना 'दम्भित्व' है; शरीर, वाणी और मन से प्राणियों को पीडित करना 'हिंसा' है, उनका वर्जन – छोड़ना अमानित्व, अदम्भित्व और अहिंसा कहे गये हैं । दूसरे के अपराध करने पर चित्त के विकार का हेतु प्राप्त होता है फिर भी निर्विकार चित्त से उसके अपराध को सहना 'क्षान्ति' -- क्षमा है । 'आर्जव' अकुटिलता -- हृदय के अनुसार व्यवहार करना अर्थात् दूसरे को धोखा न देना है । 'आचार्य' यहाँ मोक्ष के साधनों का उपदेष्टा -- उपदेशक विवक्षित है, न कि मनु के द्वारा उक्त उपनीय अध्यापक विवक्षित है[23] । उस विवक्षित आचार्य की शुश्रूषा, नमस्कार आदि के प्रयोग द्वारा सेवा करना 'आचार्योपासन' है । 'शौच' शरीर के मलों को मिट्टी और जल से धोना 'बाह्य' है और मन के रागादि मलों को विषयदोषदर्शनरूप प्रतिपक्षभावना से दूर करना 'आभ्यन्तर' है[24] । 'स्थैर्य' मोक्ष के साधन में प्रवृत्त हुए पुरुष का अनेक प्रकार के विघ्न प्राप्त होने पर भी उसको न त्याग कर पुनः पुनः उसी में अधिक प्रयत्न करना है । 'आत्म-

---

22. यह श्लोक तृतीय श्लोक में निर्दिष्ट 'यद्विकारी' -- पद की व्याख्या है ।

23. 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ (मनुस्मृति, 2.140)

'जो ब्राह्मण शिष्य का उपनयन कर उसको कल्प – यज्ञविद्या और रहस्य-उपनिषद् -- विद्या के साथ वेद पढ़ाता है वह 'आचार्य' कहलाता है ।'

24. स्मृति भी कहती है –

19 किं च –

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ 8 ॥

20 **इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु दृष्टेष्वानुश्रविकेषु वा भोगेषु रागविरोधिन्यस्पृहात्मिका चित्तवृत्तिर्वैराग्यम् । आत्मश्लाघनाभावेऽपि मनसि प्रादुर्भूतोऽहं सर्वोत्कृष्ट इति गर्वोऽहंकारस्तदभावोऽनहंकारः । अयोगव्यवच्छेदार्थ एवकारः । समुच्चयार्थश्चकारः । तेनामानित्वादीनां विंशतिसंख्याकानां समुच्चितो योग एव ज्ञानमिति प्रोक्तं न त्वेकस्याप्यभाव इत्यर्थः । जन्मनो गर्भवासयोनिद्वारनिस्सरणरूपस्य मृत्योः सर्वमर्मच्छेदनरूपस्य जरायाः प्रज्ञाशक्तितेजोनिरोधपरपरिभवादिरूपाया व्याधीनां ज्वरातिसारादिरूपाणां दुःखानामिष्टवियोगानिष्टसंयोगजानामध्यात्माधिभूताधिदैवनिमित्तानां दोषस्य वातपित्तश्लेष्ममलमूत्रादिपरिपूर्णत्वेन कायजुगुप्सितत्वस्य चानुदर्शनं पुनः पुनरालोचनं जन्मादिदुःखान्तेषु दोषस्यानुदर्शनं जन्मादिव्याध्यन्तेषु दुःखरूपदोषस्यानुदर्शनमिति वा । इदं च विषयवैराग्यहेतुत्वेनाऽऽत्मदर्शनस्योपकरोति ॥ 8॥**

विनिग्रह' आत्मा = देह और इन्द्रियों के संघात की स्वभाव से प्राप्त मोक्ष के प्रतिकूल विषय में प्रवृत्ति को रोककर उसको मोक्ष के साधन में ही व्यवस्थित करना है ॥ 7 ॥

19 इसके अतिरिक्त,
[इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार का सर्वथा अभाव तथा जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि में दु:खरूप दोषों को देखना ॥ 8 ॥]

20 इन्द्रियों के विषयों में = दृष्ट = अदिव्य -- ऐहलौकिक अथवा आनुश्रविक = दिव्य -- पारलौकिक शब्दादि भोगों में रागविरोधिनी अस्पृहात्मिका चित्तवृत्ति 'वैराग्य' है । आत्मश्लाघा का अभाव होने पर भी मन में प्रादुर्भूत 'मैं सर्वोत्कृष्ट हूँ- यह गर्व 'अहंकार' है, उसका अभाव 'अनहंकार' है । 'एव ' शब्द अयोग -- असम्बन्ध का व्यवच्छेद करने के लिए है और 'च' शब्द समुच्चय के लिए है । इससे अमानित्वादि बीस गुणों का समुच्चित योग ही ज्ञान है – यह कहा गया है, यह नहीं कि उनमें एक का भी अभाव होगा -- यह अर्थ है । 'जन्म' गर्भवास और योनिद्वार से निस्सरणरूप है; 'मृत्यु' सम्पूर्ण मर्मस्थानों का छेदनरूप है; 'जरा' प्रज्ञा-बुद्धि, शक्ति और तेज का निरोध होना और दूसरों से पराभवादि होना रूप है; 'व्याधि' ज्वर, अतिसार आदिरूप है; 'दु:ख' इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग से उत्पन्न अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव निमित्तक है – इन सभी के दोष = वात, पित्त, कफ, मल-मूत्रादि से परिपूर्ण होने के कारण शरीर में जुगुप्सितता-घृणास्पदता का अनु-दर्शन = पुन: पुन: आलोचन-विचार करना अथवा जन्म से लेकर दु:खपर्यन्त पदार्थों में दोष का दर्शन-विचार करना या जन्म से लेकर व्याधि-पर्यन्त पदार्थों में दु:खरूप दोष का अनुदर्शन -- अनुसन्धान करना[25] । यह विषयों में वैराय का हेतु होने से आत्मदर्शन का उपकार करता है ॥ 8 ॥

'शौचं हि द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥' (अग्निपुराण, 372.17-18)'

'बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का 'शौच' कहा गया है । मिट्टी और जल से प्रक्षालन -- शुद्धि 'बाह्य' है और भावशुद्धि 'आभ्यन्तर' कहा गया है ।

25. अभिप्राय यह है कि दु:ख ही दोष है, उस दु:खरूप दोष का जन्मादि में देखना अर्थात् जन्म दु:ख है, मृत्यु

21 किं च –

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ 9 ॥

22 सक्तिर्ममेदमित्येतावन्मात्रेण प्रीतिः । अभिष्वङ्गस्त्वहमेवायमित्यनन्यत्वभावनया प्रीत्यतिशयोऽन्यस्मिन्सुखिनि दुःखिनि वाऽहमेव सुखी दुःखी चेति । तद्राहित्यमसक्तिरनभिष्वङ्ग इति चोक्तम् । कुत्र सक्त्यभिष्वङ्गौ वर्जनीयावत आह – पुत्रदारगृहादिषु पुत्रेषु दारेषु गृहेषु, आदिग्रहणादन्येष्वपि भृत्यादिषु सर्वेषु स्नेहविषयेष्वित्यर्थः ।

23 नित्यं च सर्वदा च समचित्तत्वं हर्षविषादशून्यमनस्त्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु । उपपत्तिः प्राप्तिः । इष्टोपपत्तिषु हर्षाभावोऽनिष्टोपपत्तिषु विषादाभाव इत्यर्थः । चः समुच्चये ॥ 9 ॥

24 किं च–

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ 10 ॥

---

21 इसके अतिरिक्त,
[पुत्र, स्त्री, गृह आदि में असक्ति = सक्ति – प्रीति का अभाव, उनमें ही अनभिष्वङ्ग = अभिष्वङ्ग-प्रीत्यतिशय– अभिनिवेश न होना तथा इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति होने पर सर्वदा समचित्त रहना ॥ 9 ॥]

22 'सक्ति' 'यह मेरा है' – इतने मात्र से ही प्रीति होना है । 'अभिष्वङ्ग' तो 'मैं ही यह हूँ' – इस प्रकार की अनन्यत्वभावना से प्रीति का अतिशय होना है अर्थात् किसी अन्य के सुखी अथवा दु:खी होने पर मैं ही सुखी और दु:खी हूँ -- ऐसी भावना 'अभिष्वङ्ग' है । सक्ति और अभिष्वङ्ग का अभाव 'असक्ति' और 'अनभिष्वङ्ग' है– ऐसा कहा गया है । ये सक्ति और अभिष्वङ्ग कहाँ वर्जनीय हैं ? इसपर कहते हैं -- 'पुत्रदारगृहादिषु' = पुत्रों में, स्त्रियों में और गृहों में वर्जनीय हैं, 'आदि' शब्द के ग्रहण से अन्य भृत्यादि में भी अर्थात् स्नेह के सब विषयों में भी वर्जनीय हैं ।

23 इष्ट और अनिष्ट की उपपत्ति -- प्राप्ति में नित्य -- सर्वदा समचित्तत्व = हर्ष और विषाद से शून्य चित्तवाला होना । उपपत्ति प्राप्ति है । अर्थ यह है कि इष्ट की प्राप्ति होने पर हर्ष का अभाव होना और अनिष्ट की प्राप्ति होने पर विषाद का अभाव होना । 'च' शब्द समुच्चय अर्थ में है ॥ 9 ॥

24 इसके अतिरिक्त,

दु:ख है, जरा दु:ख है और सब व्याधियाँ दु:ख हैं – इसप्रकार देखने को जन्मादि में दु:खरूप दोष का अनुदर्शन – अनुसंधान करना कहा जाता है (दु:खान्येव दोषो दु:खदोषस्तस्य तस्य जन्मादिषु पूर्ववदनुदर्शनम् – दु:खं जन्म, दु:खं मृत्यु:, दु:खं जरा, दु:खं व्याधय:-- शाङ्करभाष्य) । यहाँ ध्यातव्य है कि ये जन्मादि दु:ख के कारण होने से ही दु:ख हैं, स्वरूप से ही दु:ख नहीं है अर्थात् देह में आत्मबुद्धि जब तक रहती है तब तक ही जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि दु:ख के कारण होते हैं । आत्मा देह से पृथक् है – इसप्रकार तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् जन्मादि पुन: दु:ख देने में समर्थ नहीं होते हैं । अत: वे स्वरूप से दु:ख नहीं हैं, क्योंकि जिसका जो स्वरूप है उसका किसी अवस्था में भी अभाव नहीं हो सकता है । यदि इनका स्वरूप दु:ख होता तो जीवन्मुक्त पुरुष भी इनसे मुक्त नहीं हो सकते थे । इसप्रकार जन्मादि में दु:खरूप दोष के अनुदर्शन से देह, इन्द्रिय और विषय-भोगों में वैराग्य उत्पन्न होता है, उससे आत्मा-परमात्मा के दर्शन के लिए प्रत्यगात्मा में मनसहित सभी इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है, अत: जन्मादि में दु:खरूप दोषानुदर्शन तत्त्वज्ञान का हेतु होने से 'ज्ञान' कहा जाता है ।

25 मयि च भगवति वासुदेवे परमेश्वरे भक्तिः सर्वोत्कृष्टत्वज्ञानपूर्विका प्रीतिः । अनन्ययोगेन नान्यो भगवतो वासुदेवात्परोऽस्त्यतः सः एव नो गतिरित्येवंनिश्चयेनाव्यभिचारिणी केनापि प्रतिकूलेन हेतुना निवारयितुमशक्या । साऽपि ज्ञानहेतुः 'प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्' इत्युक्तेः ।

26 विविक्तः स्वभावतः संस्कारतो वा शुद्धोऽशुचिभिः सर्पव्याघ्रादिभिश्च रहितः सुरधुनी – पुलिनादिश्चित्तप्रसादकरो देशस्तत्सेवनशीलत्वं विवक्तदेशसेवित्वम् । तथा च श्रुतिः –

'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥' इति ।

27 जनानामात्मज्ञानविमुखानां विषयभोगलम्पटतोपदेशकानां संसदि समवाये तत्त्वज्ञानप्रतिकूलायामरतिररमणं साधूनां तु संसदि तत्त्वज्ञानानुकूलायां रतिरुचितैव । तथा चोक्तम्–

'सङ्गः सर्वात्मना हेयः स चेत्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतः सङ्गो हि भेषजम्' इति ॥ 10 ॥

[मुझमें अनन्य-योग से अव्यभिचारिणी भक्ति होना, विविक्त – शुद्ध देश का सेवन करना और जनसंसद = जनसमुदाय में रति-प्रेम का न होना ॥ 10 ॥]

25 मुझ भगवान् वासुदेव परमेश्वर में अनन्ययोग से = 'भगवान् वासुदेव से पर-श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है, अत: वही हमारी गति हैं' – इसप्रकार के निश्चय से अव्यभिचारिणी = किसी भी प्रतिकूल हेतु से निवारण न की जा सकनेवाली भक्ति = सर्वोत्कृष्टत्वरूपज्ञानपूर्वक प्रीति[26] होना । वह प्रीति भी ज्ञान का हेतु है, क्योंकि 'जब तक मुझ वासुदेव में प्रीति नहीं होती तब तक जीव देह के सम्बन्ध से मुक्त नहीं होता है[27]' – ऐसा कहा है ।

26 विविक्त = स्वभावत: अथवा संस्कारत: शुद्ध, सर्प – व्याघ्र आदि अपवित्र जीवों से रहित सुरधुनी – गंगा का पुलिन – तीर आदि चित्त को प्रसन्न करनेवाला देश, उसका सेवन करने का स्वभाव होना 'विविक्तदेशसेवित्व' है । ऐसा श्रुति भी कहती है –

"जो समतल, पवित्र, शर्करा – कङ्कड, अग्नि और बालुका से तथा शब्द और जलाशयादि से रहित, मन के अनुकूल और नेत्रों को पीडित न करनेवाला हो उस गुहा या वायुशून्य स्थान में चित्त को समाहित करे" (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 2.10) ।

27 जनों = आत्मज्ञानविमुख और विषयभोग की लम्पटता के उपदेशक जनों की संसद में अर्थात् तत्त्वज्ञान के प्रतिकूल सभा में अरति = रमण न करना, किन्तु साधुजनों की तत्त्वज्ञान के अनुकूल संसद – सभा में रति - रमण करना उचित ही है । कहा भी है –

---

26. भगवान् सर्वोत्कृष्ट – सबसे उत्कृष्ट अर्थात् सबसे बडे प्रभावशाली हैं – ऐसी ज्ञानपूर्वक प्रीति 'भक्ति' है । अपकृष्ट में प्रीत्यतिशय अनुराग होता है – जैसे लोक में कहा जाता है कि वह स्त्री में, पुत्र में अनुरक्त है । लोक में उत्कृष्टपद सापेक्ष होता है, कहीं-कहीं इसका प्रयोग देखा जाता है, जैसे वह मातृभक्त, पितृभक्त है, किन्तु ईश्वर में उत्कृष्टपद निरपेक्ष होता है, अतः कहा जाता है कि ईश्वर-परमात्मा सबसे उत्कृष्ट है, उससे पर दूसरा कोई नहीं है अतएव ईश्वर में सर्वदैव भक्ति ही होती है और कहा जाता है कि वह ईश्वरभक्त है ।

27. तात्पर्य यह है कि भगवान् में प्रीति होने पर जीव देह से वियुक्त – मुक्त हो जाता है । वस्तुतः देह का संयोग मिथ्याज्ञाननिमित्तक होता है और देह से वियोग तत्त्वज्ञाननिमित्तक होता है, तत्त्वज्ञान भगवान् में भक्ति से प्राप्त होता है तथा शरीर रहने पर भी तत्त्वज्ञानी निवृत्तशरीराध्यास अशरीरी कहलाता है ।

28 किं च –

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति[28] प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ 11 ॥

29 **अध्यात्मज्ञानमात्मानमधिकृत्य प्रवृत्तमात्मानात्मविवेकज्ञानमध्यात्मज्ञानं तस्मिन्नित्यत्वं तत्रैव निष्ठावत्त्वम् । विवेकनिष्ठो हि वाक्यार्थज्ञानसमर्थो भवति । तत्त्वज्ञानस्याहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारस्य वेदान्तवाक्यकरणकस्यामानित्वादिसर्वसाधनपरिपाकफलस्यार्थः प्रयोजनमविद्यातत्कार्यात्मकनिखिलदुःखनिवृत्तिरूपः परमानन्दात्मावाप्तिरूपश्च मोक्षस्तस्य दर्शनमालोचनम् । तत्त्वज्ञानफलालोचने हि तत्साधने प्रवृत्तिः स्यात् । एतदमानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं विंशतिसंख्याकं ज्ञानमिति प्रोक्तं ज्ञानार्थत्वात् । अतोऽन्यथाऽस्माद्विपरीतं मानित्वादि यत्तदज्ञानमिति प्रोक्तं ज्ञानविरोधित्वात् । तस्मादज्ञानपरित्यागेन ज्ञानमेवोपादेयमिति भावः ॥ 11 ॥**

30 **एभिः साधनैर्ज्ञानशब्दितैः किं ज्ञेयमित्यपेक्षायामाह ज्ञेयं यत्तदित्यादिषड्भिः–**

'सङ्ग सर्वात्मना हेय है, यदि उसको न त्यागा जा सके तो सत्पुरुषों का साथ ही करना चाहिए, क्योंकि सत्पुरुषों का सङ्ग भवरोग का औषध है' ॥ 10 ॥

28 इसके अतिरिक्त,
[अध्यात्मज्ञान में नित्यता- नित्य स्थिति या निष्ठा होना और तत्त्वज्ञान के अर्थ-प्रयोजनरूप परमात्मा को सर्वत्र देखना – यह सब ज्ञान है, इससे विपरीत जो है वह अज्ञान है -- ऐसा कहा है ॥ 11 ॥]

29 अध्यात्मज्ञान = आत्मा को अधिकृत करके प्रवृत्त होनेवाला आत्मा और अनात्मा का विवेकरूप ज्ञान 'अध्यात्मज्ञान' है, उसमें नित्यत्व = वहीं निष्ठा होना, क्योंकि विवेकनिष्ठ ही वेदान्तवाक्यों के अर्थ को जानने में समर्थ होता है । तत्त्वज्ञान[29] = वेदान्तवाक्यकरणक – वेदान्तवाक्य ही जिसके कारण हैं और अमानित्वादिसर्वसाधनपरिपाकफलक = अमानित्वादि सब साधनों के परिपाक का जो फल है उस 'अहं ब्रह्मास्मि'= 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इसप्रकार के साक्षात्कार का जो अर्थ = प्रयोजन अर्थात् अविद्या और उसके कार्यभूत सम्पूर्ण दु:ख की निवृत्तिरूप तथा परमानन्दब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्ष है उसका दर्शन – आलोचन, क्योंकि तत्त्वज्ञान के फल का आलोचन -- विचार करने से ही उसके साधन में प्रवृत्ति होगी । यह अमानित्व से लेकर तत्त्वज्ञानार्थदर्शनपर्यन्त' बीस संख्यायुक्त पदार्थ 'ज्ञान' कहा गया है, क्योंकि इसका प्रयोजन ज्ञान है । इससे अन्यथा = विपरीत जो मानित्वादि हैं वे 'अज्ञान' कहे गये हैं, क्योंकि वे ज्ञान के विरोधी हैं । अतः अज्ञान का परित्याग कर ज्ञान ही उपादेय है = ज्ञान का ही ग्रहण करना चाहिए -- यह भाव है ॥ 11 ॥

---

28. श्लोकस्य 'इति' शब्द से यह सूचित कर रहे हैं कि इन पाँच श्लोकों में ज्ञान के जिन साधनों का उल्लेख है वे समाप्त हुए ।

29. (अ) 'तत्' सर्वनाम है और सर्व = सब ब्रह्म है उसका नाम 'तत्' है; उस ब्रह्म का भाव याथात्म्य है उसका ज्ञान 'तत्त्वज्ञान' है (तदिति सर्वनाम, सर्वं च ब्रह्म तस्य नाम तदिति तस्य ब्रह्मणो भावो याथात्म्यं तस्य ज्ञानं तत्त्वज्ञानम्) । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, एकमेवाद्वितीयं, नेह नानास्ति किंचन, वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' – इसप्रकार श्रुति द्वारा उक्त ब्रह्म और जगत् के याथात्म्य का ज्ञान 'तत्त्वज्ञान' है ।
(ब) अमानित्वादि सब साधनों का परिपाक होने पर चित्तशुद्धि होती है, तत्पश्चात् गुरुमुख से 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तमहावाक्यों के श्रवण के फलरूप से 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' – इसप्रकार का जो आत्मसाक्षात्कार होता है उसको ही 'तत्त्वज्ञान' कहते हैं ।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।। 12 ।।

31 **यज्ज्ञेयं मुमुक्षुणा तत्प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण स्पष्टतया वक्ष्यामि । श्रोतुरभिमुखीकरणाय फलेन स्तुवन्नाह -- यद्वक्ष्यमाणं ज्ञेयं ज्ञात्वाऽमृतममृतत्वमश्नुते संसारान्मुच्यत इत्यर्थः । किं तत्, अनादिमत्, आदिमन्न भवतीत्यनादिमत् । परं निरतिशयं ब्रह्म सर्वतोऽनवच्छिन्नं परमात्मवस्तु । अत्रानादीत्येतावतैव बहुव्रीहिणाऽर्थलाभेऽप्यतिशायने नित्ययोगे वा मतुपः प्रयोगः । अनादीति च मत्परमिति च पदं केचिदिच्छन्ति । मत्सगुणाद्ब्रह्मणः परं निर्विशेषरूपं ब्रह्मेत्यर्थः । अहं**

30 'ज्ञान' शब्दित इन साधनों से क्या ज्ञेय है ? – इस अपेक्षा से 'ज्ञेयं यत्तत्' – इत्यादि छः श्लोकों द्वारा कहते हैं[30] :–

[जो ज्ञेय है उसको मैं स्पष्टरूप से कहूँगा, जिसको जानकर जीव अमृतत्व को प्राप्त होता है । वह अनादिमत् परब्रह्म है । वह न सत् है, न असत् है और न किसी शब्द से कहा जाता है ।। 12 ।।]

31 मुमुक्षुजन के द्वारा जो ज्ञेय है उसको मैं प्रकर्ष से = स्पष्टरूप से कहूँगा । श्रोता को अभिमुख करने के लिए फल से स्तुति करते हुए कहते हैं – जिस वक्ष्यमाण ज्ञेय को जानकर जीव अमृत – अमृतत्व को प्राप्त होता है अर्थात् संसार से मुक्त हो जाता है । वह क्या है ? वह अनादिमत्[31] = जो आदिमत् नहीं है वह अनादिमत्, पर– निरतिशय ब्रह्म = सबसे अनवच्छिन्न परमात्मवस्तु है । यहाँ 'अनादि = न आदिर्यस्य तत्' – इतने बहुव्रीहि समास से ही अर्थलाभ होने पर भी अतिशय अथवा नित्ययोग में 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है[32] । कोई 'अनादिमत्परम्' इस पद को 'अनादि' और 'मत्परम्' – इसप्रकार पृथक्-पृथक् कहना चाहते हैं और अर्थ करते हैं – मत् = मुझ सगुण ब्रह्म से परम् = पर निर्विशेषरूप ब्रह्म है[33] । मत्परम् = मैं वासुदेव नाम की परा शक्ति हूँ जिसकी

30. शंका हो सकती है कि अमानित्वादि गुण तो यम और नियम हैं, उनसे ज्ञेय नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि अमानित्वादि किसी भी वस्तु के परिच्छेदक = ज्ञापक नहीं देखे गये हैं और सर्वत्र ही जो ज्ञान जिस वस्तु को विषय करनेवाला होता है वही उसका परिच्छेदक = ज्ञापक होता है, अन्यविषयक ज्ञान से अन्य वस्तु नहीं जानी जाती है जैसे घटविषयक ज्ञान से अग्नि नहीं जानी जाती है । उत्तर है – यह दोष नहीं है, क्योंकि ज्ञान के साधन होने से और उसके सहकारी कारण होने से अमानित्वादि को 'ज्ञान' कहा गया है । अतएव 'ज्ञान' शब्दित अमानित्वादि साधनों से कौन सी यथार्थ वस्तु जानी जाती है अर्थात् क्या ज्ञेय है ? वह यहाँ कहा जा रहा है ।

31. अनादिमत् = आदिरस्यास्तीत्यादिमत् नादिमदनादिमत् = कर्मधारय तत्पुरुष समास है ।

32. प्रकृत में 'अनादि = न आदिर्यस्य तत्' – यह बहुव्रीहि समास नहीं है, किन्तु 'आदिरस्ति अस्य इति आदिमत् न आदिमत् अनादिमत्' – यह कर्मधारय तत्पुरुष समास है । यहाँ कहा जा सकता है – यद्यपि दोनों में अर्थभेद नहीं है तथापि मतुप्ग्रहण दोनों वृत्तियों को मानना व्यर्थ है, क्योंकि बहुव्रीहि समास से ही मतुपर्थ का लाभ हो रहा है और फिर इसमें लाघव भी है, जबकि कर्मधारय समास करने में मतुप्ग्रहण कर्मधारय समास और तद्धित – इसप्रकार दो वृत्तियाँ माननी पड़ती है जिससे गौरव होता है । उत्तर – यह ठीक है कि बहुव्रीहि से लाघव प्राप्त है किन्तु प्रकृत में मत्वर्थीयान्त से अधिक अर्थविशेष की प्रतीति होती है जो बहुव्रीहि से नहीं हो सकती है । अतएव यहाँ मत्वर्थीयान्त पद ही उचित है, जिसमें अतिशय और नित्ययोग में मतुप् प्रत्यय हुआ है ।

33. (अ) श्रीधर स्वामी ने 'अनादिमत्परम्' पद के विकल्प अर्थ में 'अनादि' और 'मत्परम्' -- ये दो पद स्वीकार कर 'मत्परम्' का अर्थ किया है – 'मम विष्णोः परं निर्विशेषं रूपं ब्रह्म, मत्तः सगुणात् ब्रह्मणः परमिति वा' – जो उचित नहीं है, क्योंकि 'परम्' -- विशेषण से ही 'सगुण से पर निर्विशेष ब्रह्म' – की अभिव्यक्ति हो जाने से 'मत्' पद व्यर्थ हो जाता है, और फिर 'मत्तः परतरं नान्यत्' (गीता, 7.7) – इस भगवद्वाक्य से विरोध भी होता है जिसमें यह स्पष्ट विवक्षित है कि श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं उनसे अतिरिक्त पर कोई है ही नहीं है ।

वासुदेवाख्या परा शक्तिर्यस्येति त्वपव्याख्यानं, निर्विशेषस्य ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वेन तत्र शक्तिमत्त्वस्यावक्तव्यत्वात् ।

32 **निर्विशेषत्वमेवाऽऽह – न सत्तन्नासदुच्यते । विधिमुखेन प्रमाणस्य विषयः सच्छब्देनोच्यते । निषेधमुखेन प्रमाणस्य विषयस्त्वसच्छब्देन । इदं तु तदुभयविलक्षणं निर्विशेषत्वात्स्व – प्रकाशचैतन्यरूपत्वाच्च 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।' इत्यादिश्रुतेः । यस्मात्तद्ब्रह्म न सद्भावत्वाश्रयः, नासदभावत्वाश्रयः, अतो नोच्यते केनापि शब्देन मुख्यया वृत्त्या शब्दप्रवृत्ति-हेतूनां तत्रासंभवात् । तद्यथा-गौरश्व इति वा जातितः, पचति पठतीति वा क्रियातः, शुक्लः कृष्ण इति वा गुणतः, धनी गोमानिति वा संबन्धतोऽर्थं प्रत्याययति शब्दः । अत्र क्रियागुणसंबन्धेभ्यो विलक्षणः सर्वोऽपि धर्मो जातिरूप उपाधिरूपो वा जातिपदेन संगृहीतः । यदृच्छाशब्दोऽपि डित्थडपित्थादिर्यं कंचिद्धर्मं स्वात्मानं वा प्रवृत्तिं निमित्तीकृत्य प्रवर्तत इति सोऽपि जातिशब्दः । एवमाकाशशब्दोऽपि तार्किकाणां शब्दाश्रयत्वादिरूपं यं कंचिद्धर्मं पुरस्कृत्य प्रवर्तते । स्वमते तु पृथिव्यादिवदाकाशव्यक्तीनां जन्यानामनेकत्वादाकाशत्वमपि जातिरेवेति सोऽपि जातिशब्दः । आकाशातिरिक्ता च दिङ्नास्त्येव । कालश्च नेश्वरादतिरिच्यते । अतिरेके वा दिक्कालशब्दा-वप्युपाधिविशेषप्रवृत्तिनिमित्तकाविति जातिशब्दादेव । तस्मात्प्रवृत्तिनिमित्तचातुर्विध्याच्चतुर्विध एव**

'मत्परम्' है -- यह तो अपकृष्ट व्याख्यान है, क्योंकि प्रकृत में निर्विशेष ब्रह्म प्रतिपाद्य होने से वहाँ शक्तिमत्त्व अवक्तव्य है ।

32 निर्विशेषत्व को ही कहते हैं -- न सत्तन्नासदुच्यते । विधिमुख से प्रमाण का विषय 'सत्' शब्द से कहा जाता है[34] । निषेधमुख से प्रमाण का विषय तो 'असत्' शब्द से कहा जाता है[35] । यह तो उन सत् और असत् – दोनों से विलक्षण है, क्योंकि निर्विशेष, स्वप्रकाश और चैतन्यरूप है तथा 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' = 'जहाँ से मनसहित वाणी उसको न पाकर लौट आती है'-- इत्यादि श्रुति उक्त अर्थ में प्रमाण है । क्योंकि वह ब्रह्म न सत् = भावत्व का आश्रय है और न असत् = अभावत्व का आश्रय है, अत: वह किसी शब्द से मुख्य वृत्तिद्वारा नहीं कहा जाता है, कारण कि शब्दप्रवृत्ति के हेतु जात्यादि उसमें सम्भव नहीं हैं । जैसे-- 'गौः, अश्वः'-- ये शब्द 'जाति' से; 'पचति, पठति' -- ये शब्द 'क्रिया' से; 'शुक्लः, कृष्णः' – ये शब्द 'गुण' से तथा 'धनी, गोमान्' – ये शब्द सम्बन्ध से अर्थ का ज्ञान कराते हैं । यहाँ क्रिया, गुण और सम्बन्ध से विलक्षण सभी धर्म जातिरूप अथवा उपाधिरूप[36] जाति पद से संगृहीत हैं । डित्थ, डपित्थ आदि

(ब) नीलकण्ठीव्याख्या में 'अनादिमत्परम्' को एक पद मानकर इसका अर्थ किया गया है – 'आदिमत् च ततः परं च आदिमत्परे -- कार्यकारणे ताभ्यामन्यदनादिमत्परम्' = 'आदिमत् और पर = आदिमत्पर = कार्य और कारण उनसे अन्य अनादिमत्पर' – जो उचित नहीं है, क्योंकि इसमें 'पर' पद का पूर्वनिपात हुआ है और कार्यकारणान्यत्व का 'न सत्' – इत्यादि विशेषण में अन्तर्भाव है ।

(स) कोई अन्य भी 'अनादिमत्परम्' को एक पद मानकर इसका अर्थ करते हैं – 'अनादिर्माया तद्वतो मायावच्छिन्नादनाद्यज्ञानवतो जीवात्परं निर्मायमज्ञानकृतजीवत्वोपाधिरहितम्' – जो उचित नहीं है, क्योंकि 'परम्' – इस विशेषण से ही उक्तार्थ का लाभ हो जाने से 'अनादिमत्' पद व्यर्थ हो जाता है ।

34. जैसे घट को प्रत्यक्ष से देखकर कहते हैं – 'यह घट है' ।

35. जैसे प्रत्यक्ष या अनुपलब्धि से घटाभाव को देखकर व्यवहार होता है – 'यहाँ घट नहीं है' ।

36. उप स्वसमीपवर्तिनि स्वधर्ममादधातीत्युपाधिः । प्रयोजकश्चोपाधिः ।

शब्दः । तत्र 'न सत्तन्नासत्' इति जातिनिषेधः क्रियागुणसंबन्धानामपि निषेधोपलक्षणार्थः । 'एकमेवाद्वितीयम्' इति जातिनिषेधस्तस्या अनेकव्यक्तिवृत्तेरेकस्मिन्नसंभवात् । 'निर्गुणं निष्क्रियं शान्तम्' इति गुणक्रियासंबन्धानां क्रमेण निषेधः । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः, इति च । 'अथात आदेशो नेति नेति' इति च सर्वनिषेधः । तस्माद्ब्रह्म न केनचिच्छब्देनोच्यत इति युक्तम् । तर्हि कथं प्रवक्ष्यामीत्युक्तं कथं वा ' शास्त्रयोनित्वात्' इति सूत्रम् । यथाकथंचिल्लक्षणया शब्देन प्रतिपादनादिति गृहाण । प्रतिपादनप्रकारश्च 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' इत्यत्र व्याख्यातः । विस्तरस्तु भाष्ये द्रष्टव्यः ॥ 12 ॥

33 एवं निरुपाधिकस्य ब्रह्मणः सच्छब्दप्रत्ययाविषयत्वादसत्त्वाशङ्कायां नासदित्यनेनापास्तायामपि

यदृच्छा शब्द भी जिस किसी धर्म को अथवा स्वस्वरूप की प्रवृत्ति को निमित्त बनाकर प्रवृत्त होते हैं, अत: वे भी जातिपरक शब्द हैं । इसीप्रकार 'आकाश' शब्द भी तार्किकों के मत में शब्दाश्रयत्वादिरूप जिस किसी धर्म को पुरस्कृत करके प्रवृत्त होता है । अपने वेदान्तमत में तो पृथिवी आदि के समान आकाशरूप व्यक्ति भी जन्य और अनेक है अतएव 'आकाशत्व' भी जाति ही है[37], इसलिए वह भी जातिपरक शब्द है । आकाश से अतिरिक्त दिक् है ही नहीं, काल भी ईश्वर से अतिरिक्त नहीं है । अथवा, ये अतिरिक्त हैं तो 'दिक्' और 'काल' – दोनों शब्द भी उपाधिविशेष के प्रवृत्तिनिमित्तक हैं, अत: वे दोनों जातिपरक शब्द ही हैं । इसलिए शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त चार प्रकार के होने से शब्द भी चार प्रकार के ही है[38] । उसमें 'न सत् है, न असत् है' – यह जातिनिषेध क्रिया, गुण और सम्बन्ध के भी निषेध के उपलक्षणार्थ है । 'एकमेवाद्वितीयम्' – इससे ब्रह्म में जाति का निषेध किया गया है, क्योंकि अनेक व्यक्तियों में रहनेवाली जाति एक में सम्भव नहीं हो सकती है । 'निर्गुणं निष्क्रियं शान्तम्' -- इससे क्रमश: ब्रह्म में गुण, क्रिया और सम्बन्ध का निषेध किया गया है । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' और 'अथात आदेशो नेति नेति' -- इन श्रुतिवाक्यों से ब्रह्म में सबका निषेध किया गया है । इसलिए 'ब्रह्म किसी शब्द से नहीं कहा जाता है' -- यह उचित ही कहा है । तब फिर 'प्रवक्ष्यामि' = 'स्पष्टरूप से कहूँगा' – यह भगवान् ने कैसे कहा है ? अथवा 'शास्त्रयोनित्वात्[39]' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.3) – यह वेदान्तसूत्र कैसे संगत होगा ? जिस-किसी प्रकार लक्षणाद्वारा शब्द से प्रतिपादन करके यह ग्रहण करो – समझो । प्रतिपादन का प्रकार 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' (गीता, 2.29) – इत्यादि में कहा है । विस्तार तो भाष्य में द्रष्टव्य है ।। 12 ।।

33 इसप्रकार 'सत्' शब्द से ज्ञान का विषय न होने के कारण निरुपाधिक ब्रह्म के असत्त्व की आशङ्का

37. 'आत्मन आकाश: सम्भूत:' – इस श्रुति के अनुसार आकाश उत्पन्न होता है । आकाश अनेक है, अतएव 'आकाशत्व' भी जाति है, जबकि न्याय में 'आकाशत्व' जाति नहीं है, क्योंकि 'व्यक्तेरभेद:' = 'व्यक्ति का अभेद' अर्थात् व्यक्ति का एक- होनारूप दोष बाधक है, 'व्यक्त्यभेद' का लक्षण है -- 'स्वाश्रयनिष्ठ-स्वाश्रयप्रतियोगिकभेदाभाव:' – यहाँ दोनों 'स्व' शब्दों से 'आकाशत्व' का ग्रहण है । आकाश अनेक नहीं है, किन्तु एक है, इसलिये आकाश में आकाश का भेद नहीं रहता । यदि यह अनेक होता तो इसमें भेद रहता, किन्तु उसमें अनेकत्व का अभाव है, इसलिए 'आकाशत्व' धर्म में स्वाश्रयनिष्ठ स्वाश्रयप्रतियोगिक भेद' का अभाव ही है ।

38. शब्द की प्रवृत्ति के निमित्त चार प्रकार के हैं -- जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध, अतएव शब्द भी चार प्रकार के ही हैं – जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और सम्बन्धशब्द ।

39. 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.3) -- ब्रह्म की जगत्कारणता की सिद्धि के लिए शास्त्र योनि = प्रमाण अथवा कारण है अर्थात् शास्त्रों में ब्रह्म को ही जगत् के जन्मादि का कारण कहा गया है, अन्य प्रधानादि को कारण नहीं कहा गया है ।

विस्तरेण तदाशङ्कानिवृत्यर्थं सर्वप्राणिकरणोपाधिद्वारेण चेतनक्षेत्रज्ञरूपतया तदस्तित्वं प्रतिपादयन्नाह –

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ 13 ॥

34 **सर्वतः सर्वेषु देहेषु पाणयः पादाश्चाचेतनाः स्वस्वव्यापारेषु प्रवर्तनीया यस्य चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य तत्सर्वतःपाणिपादं ज्ञेयं ब्रह्म। सर्वाचेतनप्रवृत्तीनां चेतनाधिष्ठानपूर्वकत्वात्तस्मिन्क्षेत्रज्ञे चेतने ब्रह्मणि ज्ञेये सर्वाचेतनवर्गप्रवृत्तिहेतौ नास्ति नास्तिताशङ्केत्यर्थः। एवं सर्वतोऽक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य प्रवर्तनीयानि सन्ति तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् । एवं सर्वतः श्रुतयः श्रवणेन्द्रियाणि यस्य प्रवर्तनीयत्वेन सन्ति तत्सर्वतःश्रुतिमत् । लोके सर्वप्राणिनिकाये । एकमेव नित्यं विभु च सर्वमचेतनवर्गमावृत्य स्वसत्तया स्फूर्त्या चाऽऽध्यासिकेन संबन्धेन व्याप्य तिष्ठति निर्विकारमेव स्थितिं लभते, न तु स्वाध्यस्तस्य जडप्रपञ्चस्य दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि संबध्यत इत्यर्थः। यथा च सर्वेषु देहेष्वेकमेव चेतनं नित्यं विभु च न प्रतिदेहं भिन्नं तथा प्रपञ्चितं प्राक् ॥ 13 ॥**

होने पर 'नासत्' = 'वह असत् नहीं है' – इस वाक्य से उसका निराकरण कर देने पर भी विस्तारपूर्वक उस आशङ्का की निवृत्ति के लिए सब प्राणियों में करणरूप उपाधि के द्वारा चेतनक्षेत्रज्ञरूप से उसके अस्तित्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :--

[वह सर्वत: हाथ-पैरों को प्रेरित करनेवाला, सर्वत: नेत्र, शिर और मुख को प्रवृत्त करनेवाला तथा सर्वत: श्रोत्रों को प्रवृत्त करनेवाला ब्रह्म लोक में सम्पूर्ण अचेतनवर्ग को व्याप्त करके स्थित है ॥ 13 ॥

34 सर्वत: = सब देहों में अचेतन हाथ और पैरों को जो चेतन क्षेत्रज्ञ अपने-अपने व्यापारों में प्रवृत्त करनेवाला है वह 'सर्वतःपाणिपाद[40]' ज्ञेय ब्रह्म है, क्योंकि अचेतन की सब प्रवृत्तियाँ चेतन-अधिष्ठानपूर्वक होती हैं अर्थात् सम्पूर्ण अचेतनवर्ग की प्रवृत्ति के हेतुभूत उस चेतन क्षेत्रज्ञ ज्ञेय ब्रह्म में नास्तिता = असत्ता की शंका नहीं होती है । इसीप्रकार सर्वतः – सब देहों में अचेतन नेत्र, शिर और मुखों को जो चेतन प्रवृत्त करनेवाला है वह 'सर्वतोक्षिशिरोमुख[41]' ज्ञेय ब्रह्म है । इसी प्रकार सर्वतः श्रोत्रों = श्रवणेन्द्रियों को जो प्रवृत्त करनेवाला है वह 'सर्वःश्रुतिमत्' है । लोक = सर्वप्राणिसमूह में वह एक, नित्य और विभु ब्रह्म ही सम्पूर्ण अचेतनवर्ग को आवृत करके = अपनी सत्तास्फूर्ति से आध्यासिक सम्बन्ध द्वारा व्याप्त करके स्थित है – निर्विकाररूप से स्थिति प्राप्त किये हुए है, न कि अपने में अध्यस्त जडप्रपञ्च के अणुमात्र भी दोष अथवा गुण से सम्बन्धित है -- यह भाव है[42] । जिस प्रकार सब देहों में एक ही नित्य और विभु चेतन विद्यमान है, प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न नहीं है, उस प्रकार को पूर्व में विस्तारपूर्वक कहा है ॥ 13 ॥

40. यहाँ 'पाणिपाद' शब्द सभी कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण है ।

41. यहाँ 'अक्षि' शब्द से ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उपलक्षित हो रही है ।'शिर' शब्द अनेक देहों को सूचित करने के लिए है ।

42. जिस प्रकार अयस्कान्तमणि = चुम्बक के सान्निध्य में आकर लोहकणसमूह कार्यों में प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार नित्य, अविकारी, उदासीन एक चैतन्य की सत्ता के सान्निध्य में आकर सभी प्राणियों के अचेतन देह और इन्द्रियादि चेतनयुक्त होकर कर्म में प्रवृत्त होते हैं । समस्त देह में एक ही सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही विद्यमान है । अत: वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा समस्त इन्द्रियादि का प्रवर्त्तक होने के कारण उपचार से सर्वतः उसके ही हाथ, पैर, नेत्र, शिर, मुख, श्रोत्र आदि हैं – ऐसा कहा गया है ।

35 **'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' इति न्यायमनुसृत्य सर्वप्रपञ्चाध्यारोपेणानादिमत्परं ब्रह्मेति व्याख्यातमधुना तदपवादेन न सत्तन्नासदुच्यत इति व्याख्यातुमारभते निरुपाधिस्वरूपज्ञानाय**

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ 14 ॥

36 **परमार्थतः सर्वेन्द्रियविवर्जितं तन्मायया सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेषां बहिष्करणानां श्रोत्रादीनामन्तः-करणयोश्च बुद्धिमनसोर्गुणैरध्यवसायसंकल्पश्रवणवचनादिभिस्तत्तद्विषयरूपतयाऽवभासत इव सर्वेन्द्रियव्यापारैर्व्यापृतमिव तज्ज्ञेयं ब्रह्म 'ध्यायतीव लेलायतीव' इतिश्रुतेः । अत्र ध्यानं बुद्धीन्द्रियव्यापारोपलक्षणम् । लेलायनं चलनं कर्मेन्द्रियव्यापारोपलक्षणार्थम् ।**

37 **तथा परमार्थतोऽसक्तं सर्वसंबन्धशून्यमेव, मायया सर्वभृच्च सदात्मना सर्वं कल्पितं धारयति पोषयतीति च सर्वभृत्, निरधिष्ठानभ्रमायोगात् । तथा परमार्थतो निर्गुणं सत्त्वरजस्त-मोगुणरहितमेव, गुणभोक्तृ च गुणानां सत्त्वरजस्तमसां शब्दादिद्वारा सुखदुःखमोहाकारेण परिणतानां भोक्तृ उपलब्धृ च तज्ज्ञेयं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ 14 ॥**

35 'अध्यारोप और अपवाद से निष्प्रपञ्च परब्रह्म का प्रपञ्च-विस्तार किया जाता है' – इस न्याय का अनुसरण कर सम्पूर्ण प्रपञ्च के अध्यारोप द्वारा 'अनादिमत्परं ब्रह्म'– इसकी व्याख्या की गई है । अब उसके अपवाद द्वारा निरुपाधिक स्वरूप के ज्ञान के लिए 'न सत्तन्नसदुच्यते'– इसकी व्याख्या करना आरम्भ करते हैं :–

[वह समस्त इन्द्रियों से रहित होने पर भी समस्त इन्द्रियव्यापारों के विषयरूप से भासता है तथा सर्वसम्बन्धशून्य, सबका भरण करनेवाला, निर्गुण और गुणों का भोक्ता है ॥ 14 ॥]

36 वह ब्रह्म परमार्थतः सब इन्द्रियों से रहित होने पर भी उसकी माया से सर्वेन्द्रियगुणाभास है = श्रोत्रादि बाह्येन्द्रिय तथा बुद्धि और मन अन्तरिन्द्रियों के अध्यवसाय, संकल्प, श्रवण, वचन आदि गुणों द्वारा उस-उस विषयरूप से भासित सा होता है अर्थात् वह ज्ञेय ब्रह्म सब इन्द्रियव्यापारों से व्यापारयुक्त सा है[43], जैसा कि श्रुति कहती है – 'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.3.7) = 'वह ध्यान करता हुआ-सा है, चेष्टा करता हुआ-सा है' । यहाँ 'ध्यान' शब्द ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों का उपलक्षण है[44] और 'लेलायन = चलन' शब्द कर्मेन्द्रियों के व्यापारों का उपलक्षण कराने के लिए है[45] ।

37 इसीप्रकार वह परमार्थतः असक्त = सब सम्बन्धों से शून्य ही है, किन्तु माया से सर्वभृत् है = जो सदात्मना = सद्रूप से सब कल्पित पदार्थों को धारण करता है और उनका पोषण करता है वह

43. यह जो श्रुति है – अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वेताश्वतरोपनिषद् 3.19) = 'वह ईश्वर बिना पैर और हाथ के चलता और ग्रहण करता है, बिना चक्षु के देखता है और बिना कानों के सुनता है' – वह 'सब इन्द्रियरूप उपाधियों के गुणों की अनुरूपता प्राप्त करने में समर्थ ज्ञेय ब्रह्म है' – यह दिखाने के लिए है, न कि 'वह साक्षात् गमनादि क्रिया से युक्त है' -- यह कहने के लिए है । इस मन्त्र का अर्थ तो 'अन्धो मणिमविन्दत्' = 'अन्धे ने मणि प्राप्त की' – इत्यादि मन्त्र के समान अर्थवाद है ।

44. अर्थात् दर्शन, श्रवण, चिन्तन, ध्यान इत्यादि जो कुछ व्यापार ज्ञानेन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय से सम्पादित हो रहा है वह सब आत्मा ही कर रहा है – ऐसा प्रतीत होता है ।

45. अर्थात् कर्मेन्द्रियों से जो कुछ व्यापार किया जाता है उसको भी आत्मा ही कर रहा है – ऐसा प्रतीत होता है ।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ 15 ॥

38 **भूतानां भवनधर्मणां सर्वेषां कार्याणां कल्पितानामकल्पितमधिष्ठानमेकमेव बहिरन्तश्च रज्जुरिव स्वकल्पितानां सर्पधारादीनां सर्वात्मना व्यापकमित्यर्थः । अत एवाचरं स्थावरं चरं च जङ्गमं भूतजातं तदेवाधिष्ठानात्मकत्वात् । कल्पितानां न ततः किंचिद्व्यतिरिच्यत इत्यर्थः । एवं सर्वात्मकत्वेऽपि सूक्ष्मत्वाद्रूपादिहीनत्वात्तदविज्ञेयमिदमेवमिति स्पष्टज्ञानार्हं न भवति । अत एवाऽऽत्मज्ञानसाधनशून्यानां वर्षसहस्रकोट्याऽप्यप्राप्यत्वाद् दूरस्थं च योजनलक्षकोट्यन्तरितमिव तत् । ज्ञानसाधनसंपन्नानां तु अन्तिके च तदत्यव्यवहितमेवाऽऽत्मत्वात् । 'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ 15 ॥**

सर्वभृत् है, क्योंकि अधिष्ठान के बिना भ्रम नहीं होता है[46] । इसीप्रकार वह परमार्थतः निर्गुण = सत्त्व, रज और तमोगुण से रहित ही है तथा गुणों का भोक्ता भी है अर्थात् सुख, दुःख और मोहरूप में परिणत सत्त्व, रज और तमोगुणों के शब्दादि द्वारा भोक्ता-भोग करनेवाला और उपलब्ध करनेवाला ज्ञेय ब्रह्म है ॥ 14 ॥

[वह सब भूतों के बाहर और भीतर है अतएव वही अचर-- स्थावर और चर-जङ्गम भूत भी है । वह सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है तथा दूर में और समीप में भी वही स्थित है ॥ 15 ॥]

38 सब भूतों = उत्पत्तिधर्मवाले कल्पित कार्यों का अकल्पित -- परमार्थसत् अधिष्ठान एक ब्रह्म ही है अतएव वही उनके बाहर और भीतर[47] है अर्थात् उनका सर्वात्मना -- सब प्रकार से व्यापक है जैसे रज्जु अपने में कल्पित सर्प, धारा आदि की सर्वात्मना = सर्वात्मभाव से व्यापक होती है । अतएव अचर = स्थावर और चर = जङ्गम भूतसमूह वही है, क्योंकि अध्यस्त अधिष्ठानात्मक होता है अर्थात् कल्पित पदार्थों का उस अधिष्ठान से अतिरिक्त अपना कुछ नहीं होता है । इसप्रकार सर्वात्मक होने पर भी सूक्ष्मरूप होने के कारण = रूपादिहीन होने के कारण वह अविज्ञेय है अर्थात् 'यही है' -- इसप्रकार के स्पष्ट ज्ञान के योग्य नहीं है, अतएव आत्मज्ञान के साधनों से रहित पुरुषों को हजार-करोड़ वर्षों में भी अप्राप्य होने से वह दूरस्थ है = लाख-करोड़ योजन से अन्तरित -- व्यवहित-सा है । ज्ञान के साधनों से सम्पन्न पुरुषों के तो वह समीप ही है = आत्मस्वरूप होने के

46. अभिप्राय यह है कि जगत् में सब पदार्थ एक सत्-पदार्थ अर्थात् ब्रह्म की सत्ता का आश्रय कर प्रतीत होते हैं, क्योंकि सभी पदार्थ-ज्ञान के साथ सद्बुद्धि = 'यह है, यह है'--इसप्रकार की बुद्धि सर्वदा अनुगत रहती है । मृगतृष्णिका आदि कल्पित = अध्यस्त-मिथ्या होने पर भी आश्रयशून्य नहीं हैं अर्थात् किसी न किसी आश्रय या अधिष्ठान-सत्ता का अवलम्बन करके ही स्थित हैं, अधिष्ठान = सत्ता से अतिरिक्त कल्पित -- अध्यस्त की सत्ता नहीं है, अतएव भ्रम कभी अधिष्ठान के बिना नहीं होता है । अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म ही एकमात्र सद्वस्तु है, अतः समस्त मिथ्या प्रपञ्चरूप भ्रम भी सद्ब्रह्म में कल्पित है । जगत् -- प्रपञ्चरूप भ्रम उसके अधिष्ठानभूत ब्रह्म की सत्ता से ही सत्तावान् और प्रकाश से प्रकाशित होता है, इसीलिए ज्ञेय ब्रह्म को 'सर्वभृत्' कहा है ।

47. (अ) त्वक्पर्यन्त देह अविद्या द्वारा आत्मरूप से कल्पित होता है उस देह की अपेक्षा से उसको ही अवधि -- सीमा मानकर ज्ञेय को उसके 'बहिः -- बाहर' कहते हैं । इसीप्रकार प्रत्यगात्मा -- अन्तरात्मा की अपेक्षा से देह को ही अवधि -- सीमा मानकर ज्ञेय को उसके 'अन्तः -- भीतर' व्याप्त कहा जाता है (शाङ्करभाष्य) ।
(ब) भूतों = प्राणियों की ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच स्थूलभूत -- केवल विकाररूप होने से व्यवहित होने के कारण 'बहिः' कहे जाते हैं । महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ -- ये व्यक्त प्रकृतिरूप होने से संनिहित होने के कारण 'अन्तः' कहलाते हैं (नीलकण्ठीव्याख्या) ।

39 **यदुक्तमेकमेव सर्वमावृत्य तिष्ठतीति तद्विवृणोति प्रतिदेहमात्मभेदवादिनां निरासाय –**

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ 16 ॥

40 **भूतेषु सर्वप्राणिषु अविभक्तमभिन्नमेकमेव तत्, न तु प्रतिदेहं भिन्नं व्योमवत्सर्वव्यापकत्वात् । तथाऽपि देहतादात्म्येन प्रतीयमानत्वात्प्रतिदेहं विभक्तमिव च स्थितम् । औपाधिकत्वेनापारमार्थिको व्योम्नीव तत्र भेदावभास इत्यर्थः । ननु भवतु क्षेत्रज्ञः सर्वव्यापक एकः, ब्रह्म तु जगत्कारणं ततो भिन्नमेवेति नेत्याह भूतभर्तृ च भूतानि सर्वाणि स्थितिकाले बिभर्तीति तथा प्रलयकाले ग्रसिष्णु ग्रसनशीलमुत्पत्तिकाले प्रभविष्णु च प्रभवनशीलं सर्वस्य । यथा रज्ज्वादिः सर्पादिर्मायाकल्पितस्य । तस्माद्यज्जगतः स्थितिलयोत्पत्तिकारणं ब्रह्म तदेव क्षेत्रज्ञं प्रतिदेहमेकं ज्ञेयं न ततोऽन्यदित्यर्थः ॥16 ॥**

कारण अव्यवहित ही है । जैसा कि 'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्' = 'वह दूर से भी दूर है और समीप भी है, क्योंकि ज्ञानियों के लिए तो वह यहाँ हृदय-गुहा में ही छिपा हुआ है' – इत्यादि श्रुतियों से भी सिद्ध है ॥ 15 ॥

39 जो कहा कि 'एकमेव सर्वमावृत्य तिष्ठति' = 'वह एक ही सबको आवृत-व्याप्त करके स्थित है' उसका प्रत्येक देह में आत्माओं को भिन्न माननेवाले प्रतिदेहात्मभेदवादियों के मत का निराकरण करने के लिए विवरण करते हैं :--

[वह सब प्राणियों में अविभक्त होने पर भी विभक्त-सा स्थित है । उसको सब भूतों का भर्ता – भरण करनेवाला, ग्रास-संहार करनेवाला और उत्पत्ति करनेवाला जानना चाहिए ॥ 16 ॥]

40 सब भूतों में = सब प्राणियों में वह अविभक्त = अभिन्न अर्थात् एक ही है, न कि प्रत्येक देह में भिन्न है, क्योंकि वह आकाश के समान सर्वव्यापक है[48] । तथापि देह के तादात्म्य[49] से प्रतीयमान होने के कारण प्रत्येक देह में वह विभक्त-सा स्थित है अर्थात् उसमें भेदावभास -- भेदभान औपाधिक होने के कारण अपारमार्थिक -- मिथ्या है जैसे आकाश में प्रतीयमान घटाकाश -- मठाकाशरूप आकाशभेद का भान औपाधिक होने के कारण मिथ्या है । अच्छा, क्षेत्रज्ञ सर्वव्यापक, एक है; ब्रह्म तो जगत् का कारण है अतएव उससे भिन्न ही है, तो कहते हैं -- नहीं, वह भूतभर्तृ है = वह स्थितिकाल में सब भूतों का भरण करता है तथा प्रलयकाल में सबका ग्रसिष्णु = ग्रसनशील है और उत्पत्तिकाल में सबका प्रभविष्णु = प्रभवनशील है, जैसे मायाकल्पित सर्पादि की उत्पत्ति आदि के कारण रज्जु आदि हैं । इसलिए जो ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है वही क्षेत्रज्ञ है, वह एक ही ज्ञेय प्रत्येक देह में स्थित है अर्थात् वह उससे अन्य-भिन्न नहीं है ॥ 16 ॥

---

48. वह ज्ञेय ब्रह्म अविभक्त है, प्रत्येक देह में अविभक्त = विभागशून्य है, आकाश के समान एक है । उसका भेद मानने में कोई प्रमाण नहीं है और उसको भिन्नरूप मानने पर तो उसमें घट के समान अनात्मत्व होगा । श्रुति भी कहती है – 'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किंचन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' – इत्यादि । अतः 'आत्मा प्रत्येक देह में भिन्न है' – यह सांख्यमत श्रुति – स्मृतिविरुद्ध है और आदर्तव्य नहीं है ।

49. 'अहं गौरः, कृशः, स्थूलः' – इत्यादि प्रतीतियाँ लोक में प्रसिद्ध हैं । गौरत्वादि देह के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं हैं, तथापि देह के तादात्म्य से आत्मा में व्यपदिष्ट होते हैं । धर्मी के तादात्म्याध्यास के विना धर्म विनिमय नहीं होता है, अतः देहतादात्म्याध्यासनिबन्धन गौरत्वादि के समान उस ब्रह्म में भेद का भान होता है – यह अभिप्राय है ।

41 ननु सर्वत्र विद्यमानमपि तन्नोपलभ्यते चेत्तर्हि जडमेव स्यात्, न स्यात्स्वयंज्योतिषोऽपि तस्य रूपादिहीनत्वेनेन्द्रियाद्यग्राह्यत्वोपपत्तेरित्याह –

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ 17 ॥

42 तज्ज्ञेयं ब्रह्म ज्योतिषामवभासकानामादित्यादीनां बुद्ध्यादीनां च बाह्यानामान्तराणामपि ज्योतिरवभासकं चैतन्यज्योतिषो जडज्योतिरवभासकत्वोपपत्तेः। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। वक्ष्यति च – 'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादि।

43 स्वयंजडत्वाभावेऽपि जडसंसृष्टं स्यादिति नेत्याह - तमसो जडवर्गात्परमविद्यातत्कार्याभ्यामपारमार्थिकाभ्यामसंस्पृष्टं पारमार्थिकं तद्ब्रह्म सदसतोः संबन्धायोगात् । उच्यते 'अक्षरात्परतः परः' इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मवादिभिश्च । तदुक्तम् -

'निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विकारिणा ।
आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते ॥'

'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इति श्रुतेश्च । आदित्यवर्णमिति स्वभाने प्रकाशान्तरानपेक्षं

---

41 यदि यह शंका हो कि सर्वत्र विद्यमान होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं होती है तो वह जड़ ही होगा, तो इसका उत्तर है कि वह जड़ नहीं है, क्योंकि स्वयंप्रकाश होने पर भी रूपादिहीन होने के कारण उसका इन्द्रियादि से ग्रहण नहीं होता है जो उचित ही है -- यह कहते हैं:--

[वह ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति है और तम = जडवर्ग से परे कहा जाता है । वह ज्ञानस्वरूप, ज्ञेय और ज्ञान के साधनों द्वारा गम्य-प्राप्य तथा सबके हृदय में विशेषरूप से स्थित है ॥ 17 ॥]

42 वह ज्ञेय ब्रह्म ज्योतियों = आदित्य आदि बाह्य और बुद्धि आदि आन्तर अवभासकों-प्रकाशकों का भी ज्योति = अवभासक – प्रकाशक है, क्योंकि चैतन्यज्योति का जडज्योतियों का अवभासक – प्रकाशक होना उचित ही है । 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3.12-9) = 'जिससे तेज से प्रदीप्त सूर्य तपता है', 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.14) = 'उसके प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है'-- इत्यादि श्रुतियों से भी यही सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त, भगवान् स्वयं आगे यही 'यदादित्यगतं तेज:' (गीता, 15.12) -- इत्यादि से कहेंगे ।

43 वह स्वयं जड़ न होने पर भी जड़ से संसृष्ट-संयुक्त होगा -- इस पर कहते हैं-- नहीं, वह तम = जडवर्ग से परे है = वह पारमार्थिक – सत्य ब्रह्म अपारमार्थिक -- मिथ्या अविद्या और उसके कार्यों से असंस्पृष्ट -- असंयुक्त है, क्योंकि सत् -- वर्तमान और असत्- अवर्तमान का सम्बन्ध नहीं हो सकता है । 'अक्षरात्परत: पर:' = 'वह अक्षर प्रकृति से परे है और अक्षरसंज्ञक जीव से भी परे है ' -- इत्यादि श्रुतियों और ब्रह्मवादियों के द्वारा भी यही कहा गया है । कहा भी है --

"निसङ्ग और कूटस्थ आत्मा का सङ्गयुक्त और विकारी अनात्मा के साथ योग = सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है" ।

"आदित्यवर्णं तमस: परस्तात्' = 'वह परब्रह्म आदित्य-सूर्य के समान प्रकाशवाला और अज्ञान से परे है' -- यह श्रुति भी यही कहती है । यहाँ 'आदित्यवर्णम्' का अर्थ है -- जो अपने भान-प्रकाशन में दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता है अर्थात् सबका प्रकाशक है वह आदित्य-सूर्य है, सूर्य के समान वह ब्रह्म है अर्थात् वह ब्रह्म भी स्वयंप्रकाश और सर्वप्रकाशक है ।

सर्वस्य प्रकाशकमित्यर्थः ।

44 **यस्मात्तत्स्वयंज्योतिर्जडासंस्पृष्टमत एव तज्ज्ञानं प्रमाणजन्यचेतोवृत्त्यभिव्यक्तसंविद्रूपम् । अत एव तदेव ज्ञेयं ज्ञातुमर्हमज्ञातत्वाज्जडस्याज्ञातत्वाभावेन ज्ञातुमनर्हत्वात् । कथं तर्हि सर्वैर्न ज्ञायते तत्राऽऽह--ज्ञानगम्यं पूर्वोक्तेनामानित्वादिना तत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तेन साधनकलापेन ज्ञानहेतुतया ज्ञानशब्दितेन गम्यं प्राप्यं न तु तद्विनेत्यर्थः । ननु साधनेन गम्यं चेत्तत्किं देशान्तरव्यवहितं नेत्याह—हृदि सर्वस्य विष्ठितं सर्वस्य प्राणिजातस्य हृदि बुद्धौ विष्ठितं सर्वत्र सामान्येन स्थितमपि विशेषरूपेण तत्र स्थितमभिव्यक्तं जीवरूपेणान्तर्यामिरूपेण च, सौरं तेज इवाऽऽदर्शसूर्यकान्तादौ । अव्यवहितमेव वस्तुतो भ्रान्त्या व्यवहितमिव सर्वभ्रमकारणाज्ञाननिवृत्त्या प्राप्यत इवेत्यर्थः ॥ 17 ॥**

45 **उक्तं क्षेत्रादिकमधिकारिणं फलं च वदन्नुपसंहरति –**

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ 18 ॥

46 **इति अनेन पूर्वोक्तेन प्रकारेण क्षेत्रं महाभूतादिधृत्यन्तं तथा ज्ञानममानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं ज्ञेयं चानादिमत्परं ब्रह्म विष्ठितमित्यन्तं श्रुतिभ्यः स्मृतिभ्यश्चाऽऽकृष्य त्रयमपि मन्दबुद्ध्यनुग्रहाय**

44 क्योंकि वह ब्रह्म स्वयंज्योति = स्वयंप्रकाश और जडवर्ग से असंस्पृष्ट = असम्बद्ध है, इसलिए वह ज्ञान = प्रमाणजन्य चित्तवृत्ति में अभिव्यक्त संवित्स्वरूप है । अतएव वही ज्ञेय है = जानने के योग्य है, क्योंकि वह अज्ञात है; जड़ जानने के योग्य नहीं है, क्योंकि उसमें अज्ञातत्व का अभाव है । यदि ब्रह्म ज्ञेय है तो वह सबको ज्ञात क्यों नहीं होता है ? इस पर कहते हैं-- वह ज्ञानगम्य है = पूर्वोक्त ज्ञान के हेतु होने के कारण 'ज्ञान'-- शब्दित अमानित्व से लेकर तत्त्वज्ञानार्थदर्शनपर्यन्त साधनकलाप से गम्य- प्राप्य है, न कि उनके बिना गम्य है-- यह अर्थ है । यदि वह ब्रह्म साधन से गम्य-प्राप्य है तो क्या वह देशान्तर से व्यवहित है ? इस पर कहते है-- नहीं, वह सबके हृदय में विशेषरूप से स्थित है = समस्त प्राणिसमूह के हृदय में-बुद्धि में विष्ठित[50] है-- सर्वत्र सामान्यरूप से स्थित होने पर भी वहाँ विशेषरूप से स्थित है-- जीवरूप से और अन्तर्यामीरूप से अभिव्यक्त है, जैसे सूर्य का तेज सर्वव्यापक होने पर भी दर्पण, सूर्यकान्तामणि आदि में विशेषरूप से अभिव्यक्त होता है । वस्तुतः अव्यवहित ही वह भ्रान्ति से व्यवहित-सा प्रतीत होता है, सब भ्रमों के कारण अज्ञान की निवृत्ति से वह प्राप्त-सा हो जाता है-- यह अर्थ है ।। 17 ।।

45 क्षेत्रादि को कह दिया, अब अधिकारी और फल को कहते हुए उपसंहार करते हैं :--
[इसप्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय को संक्षेप में कहा गया, मेरा भक्त इसको जानकर मेरे भावरूप मोक्ष को प्राप्त करने के योग्य हो जाता है ।। 18 ।।]

46 इति - इसप्रकार = इस पूर्वोक्त प्रकार से महाभूतों से लेकर धृतिपर्यन्त 'क्षेत्र', अमानित्व से लेकर तत्त्वज्ञानार्थदर्शनपर्यन्त 'ज्ञान' और 'अनादिमत्परं ब्रह्म' से लेकर 'विष्ठितम्[51]' पर्यन्त 'ज्ञेय' -- इन

50. नीलकण्ठीव्याख्या और श्रीधरीव्याख्या में 'विष्ठितम्' के स्थान पर 'धिष्ठितम्' -- पाठ भी प्राप्त होता है, वह भाष्यकार आदि के द्वारा स्वीकार नहीं किये जाने के कारण अपपाठ ही है ।

51. श्रीधरस्वामी और मधुसूदनसरस्वती ने 'ज्ञेय सम्बन्धी ग्रन्थ को 'अनादिमत्परं ब्रह्म' से लेकर 'विष्ठितम्' पर्यन्त ग्रहण किया है, जबकि भाष्यकार ने 'ज्ञेयं यत्तद्' से लेकर 'तमसः परमुच्यते' पर्यन्त ग्रहण किया है, अतएव भाष्योत्कर्षदीपिकाकार धनपति ने कहा है कि आदि के ग्रन्थ में अनापत्ति होते हुए भी अन्तिम ग्रन्थ 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'– में आपत्ति है अतएव आदर्तव्य नहीं है, कारण कि ज्ञानादि से ज्ञेयप्रवचनपरता होने पर विरसता होगी ।

मया संक्षेपेणोक्तम् । एतावानेव हि सर्वो वेदार्थो गीतार्थश्च । अस्मिंश्च पूर्वाध्यायोक्तलक्षणो मद्भक्त एवाधिकारीत्याह—मद्भक्तो मयि भगवति वासुदेवे परमगुरौ समर्पितसर्वात्मभावो मदेकशरणः स एतद्यथोक्तं क्षेत्रं ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञाय विवेकेन विदित्वा मद्भावाय सर्वानर्थशून्यपरमानन्दभावाय मोक्षायोपपद्यते मोक्षं प्राप्तुं योग्यो भवति ।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥' इति श्रुतेः ।

तस्मात्सर्वदा मदेकशरणः सन्नात्मज्ञानसाधनान्येव परमपुरुषार्थलिप्सुरनुवर्तेत तुच्छविषयभोगस्पृहां हित्वेत्यभिप्रायः ॥ 18 ॥

47 तदनेन ग्रन्थेन तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्चेत्येतद्व्याख्यातमिदानीं 'यद्विकारि यतश्च यत् । स च यो यत्प्रभावश्च' इत्येतावद्व्याख्यातव्यम् । तत्र प्रकृतिपुरुषयोः संसारहेतुत्वकथनेन यद्विकारि यतश्च यदिति प्रकृतिमित्यादिद्वाभ्यां प्रपञ्च्यते । स च यो यत्प्रभावश्चेति तु पुरुष इत्यादिद्वाभ्यामिति विवेकः । तत्र सप्तम ईश्वरस्य द्वे प्रकृती परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे उपन्यस्यैतद्योनीनि भूतानीत्युक्तम्, तत्रापरा प्रकृतिः क्षेत्रलक्षणा परा तु जीवलक्षणेति तयोरनादित्वमुक्त्वा तदुभययोनित्वं भूतानामुच्यते –

तीनों को मैंने मन्दबुद्धि पुरुषों पर अनुग्रह करने के लिए श्रुतियों और स्मृतियों से ग्रहण करके संक्षेप में कहा है । इतना ही सम्पूर्ण वेदार्थ और गीतार्थ है । इसमें पूर्वअध्यायोक्त लक्षणवाला मेरा भक्त ही अधिकारी है – यह कहते हैं :– मेरा भक्त = मुझ परम गुरु भगवान् वासुदेव में जिसने अपने सर्वात्मभाव को समर्पित कर दिया है अर्थात् जो एकमात्र मेरी ही शरण है वह मेरा भक्त इस यथोक्त-पूर्वोक्त क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय को विज्ञाय – जानकर = विवेकपूर्वक जानकर मद्भाव – मेरे भाव = सब अनर्थों-दु:खों से रहित परमानन्दभाव अर्थात् मोक्ष के लिए उपपन्न होता है = मोक्ष प्राप्त करने के योग्य होता है । जैसा कि श्रुति कहती है –

"जिसकी देव में परा – उत्कृष्ट भक्ति है और जैसी भक्ति देव में है वैसी ही भक्ति गुरु में है उस महात्मा को ही ये कथित अर्थ प्रकाशित होते हैं" (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.23) ।

इसलिए सर्वदा मदेकशरण होकर परमपुरुषार्थ -- मोक्षलाभ की इच्छावाले पुरुष को तुच्छ विषयभोगों की इच्छा छोड़कर आत्मज्ञान के साधनों का ही अनुवर्तन करना चाहिए -- यह अभिप्राय है ॥ 18 ॥

47 इसप्रकार इस ग्रन्थ से 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च' = 'वह क्षेत्र जो है और जैसा है' – इसकी व्याख्या की गयी है, अब 'यद्विकारि यतश्च यत् । स च यो यत्प्रभावश्च' = 'जो विकारी है और जिससे जो होता है तथा वह क्षेत्रज्ञ जो है और जिस प्रभाववाला है' -- इसकी व्याख्या करनी है । उसमें 'प्रकृति और पुरुष – ये दोनों संसार के हेतु हैं' -- इस कथन द्वारा 'यद्विकारि यतश्च यत्' -- यह 'प्रकृतिम्' - इत्यादि दो श्लोकों से विस्तारपूर्वक कहते हैं । 'स च यो यत्प्रभावश्च' – यह तो 'पुरुष:' इत्यादि दो श्लोकों से कहेंगे -- यह विवेक है । उसमें भी सप्तम अध्याय में ईश्वर की परा और अपरा भेद से दो प्रकृतियाँ हैं जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ स्वरूप हैं उनका उपन्यास कर 'एतद्योनीनि भूतानि' (गीता, 7.6) = 'ये ही समस्त भूतों की योनि हैं' -- यह कहा गया है; उनमें 'अपरा प्रकृति क्षेत्ररूपा और परा प्रकृति जीव-क्षेत्रज्ञरूपा है' -- इस प्रकार उन दोनों के अनादित्व को कहकर भूतों की ये दोनों योनियाँ है -- यह कहते हैं :--

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ 19 ॥

48 **प्रकृतिर्मायाख्या त्रिगुणात्मिका पारमेश्वरी शक्तिः क्षेत्रलक्षणा या प्रागपरा प्रकृतिरित्युक्ता । या तु परा प्रकृतिर्जीवाख्या प्रागुक्ता स इह पुरुष इत्युक्त इति न पूर्वापरविरोधः । प्रकृतिं पुरुषं चोभावपि अनादी एव विद्धि, न विद्यत आदिः कारणं ययोस्तौ । तथा प्रकृतेरनादित्वं सर्वजगत्कारणत्वात् । तस्या अपि कारणसापेक्षत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । पुरुषस्यानादित्वं तद्धर्माधर्मप्रयुक्तत्वात्कृत्स्नस्य जगतः, जातस्य हर्षशोकभयसंप्रतिपत्तेः । अन्यथा कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । यतः प्रकृतिरनादिरतस्तस्या भूतयोनित्वमुक्तं प्रागुपपद्यत इत्याह--विकारांश्च षोडश पञ्च महाभूतान्येकादशेन्द्रियाणि च गुणांश्च सत्त्वरजस्तमोरूपान्सुखदुःखमोहान्प्रकृतिसंभवानेव प्रकृतिकारणकानेव विद्धि जानीहि ॥ 19 ॥**

49 **विकाराणां प्रकृतिसंभवत्वं विवेचयन्पुरुषस्य संसारहेतुत्वं दर्शयति--**

[प्रकृति और पुरुष -- इन दोनों को ही तुम अनादि जानो तथा विकारों और गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुए जानो ॥ 19 ॥]

48 प्रकृति माया नाम की परमेश्वर की त्रिगुणात्मिका शक्ति है, यह क्षेत्ररूपा है जो पहले अपरा प्रकृति कही गई है । जो तो जीव नाम की परा प्रकृति है जिसको पहले कहा गया है वह यहाँ 'पुरुष' कही गई है -- इस प्रकार पूर्वापर में कोई विरोध नहीं है । प्रकृति और पुरुष -- इन दोनों को भी[52] तुम अनादि ही जानो, नहीं है आदि -- कारण जिन दोनों का वे दोनों अनादि हैं[53] । सम्पूर्ण जगत् का कारण होने से प्रकृति का अनादित्व है, क्योंकि उसको भी कारणसापेक्ष मानने पर तो अनवस्था का प्रसंग होगा । पुरुष का अनादित्व उसके धर्म और अधर्म से ही सम्पूर्ण जगत् की प्रवृत्ति होने के कारण है, क्योंकि इन्हीं से उत्पन्न होनेवाले जीव को हर्ष, शोक और भय की प्राप्ति होती है, अन्यथा कृतहानि और अकृताभ्यागम का प्रसंग उपस्थित होगा । क्योंकि प्रकृति अनादि है, अत: उसको जो पहले भूतों की योनि -- कारण कहा गया है वह उचित ही है -- यह कहते हैं :-- विकारों = पञ्च महाभूत और ग्यारह इन्द्रियाँ -- इन सोलह विकारों को और गुणों = सत्त्व, रज और तमोरूप सुख, दुःख और मोह को प्रकृतिसंभव = प्रकृति से उत्पन्न हुए जानो अर्थात् प्रकृति ही इनका कारण है -- यह जानो ॥ 19 ॥

49 'विकार प्रकृति से उत्पन्न होते हैं' -- इसका विवेचन करते हुए पुरुष के संसारहेतुत्व = संसारकारणत्व को दिखलाते हैं :--

---

52. श्लोकस्थ 'उभावपि' -- शब्द यह दृढ़तापूर्वक कहने के लिए है कि प्रकृति और पुरुष -- दोनों में ही अनादित्व है, किसी एक में भी सादित्व नहीं है ।

53. कोई अन्य श्लोकस्थ 'अनादी' पद का 'न आदी' = 'कारण नहीं है' -- इसप्रकार तत्पुरुष समास करते हैं, क्योंकि उससे ईश्वर का जगत्कारणत्व सिद्ध होता है । उनके अनुसार यदि प्रकृति और पुरुष को नित्य माना जाय तो जगत् उन्हीं के द्वारा स्रष्ट माना जायेगा और जगत्सृष्टि व्यापार में ईश्वर का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होगा । इसप्रकार उक्त व्याख्या उचित नहीं है, क्योंकि उनके मतानुसार प्रकृति और पुरुष के अनादि = न आदि = कारण नहीं होने पर वह ईश्वर कार्य होगा और प्रकृति और पुरुष की उत्पत्ति से पूर्व ईशितव्य का अभाव होने के कारण ईश्वर के अनीश्वरत्व का प्रसंग होगा, संसार बिना निमित्त के उत्पन्न होने पर उसके अन्त के अभाव का प्रसंग होगा, शास्त्र की व्यर्थता का प्रसंग होगा और बन्ध-मोक्ष के अभाव का प्रसंग होगा । अत: 'अनादी' शब्द में नञ् तत्पुरुष समास न करके बहुव्रीहि समास करना ही युक्तियुक्त है ।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ 20 ॥

50 **कार्यं शरीरं करणानीन्द्रियाणि तत्स्थानि त्रयोदश देहारम्भकाणि भूतानि विषयाश्चेह कार्यग्रहणेन गृह्यन्ते । गुणाश्च सुखदुःखमोहात्मकाः करणाश्रयत्वात्करणग्रहणेन गृह्यन्ते । तेषां कार्यकरणानां कर्तृत्वे तदाकारपरिणामे हेतुः कारणं प्रकृतिरुच्यते महर्षिभिः । कार्यकारणेति दीर्घपाठेऽपि स एवार्थः । एवं प्रकृतेः संसारकारणत्वं व्याख्याय पुरुषस्यापि यादृशं तत्तदाह—पुरुषः क्षेत्रज्ञः परा प्रकृतिरिति प्राग्व्याख्यातः । स सुखदुःखानां सुखदुःखमोहानां भोग्यानां सर्वेषामपि भोक्तृत्वे वृत्त्युपरक्तोपलम्भे हेतुरुच्यते ॥ 20 ॥**

51 **यत्पुरुषस्य सुखदुःखभोक्तृत्वं संसारित्वमित्युक्तं तस्य किं निमित्तमित्युच्यते –**

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ 21 ॥

52 **प्रकृतिर्माया तां मिथ्यैव तादात्म्येनोपगतः प्रकृतिस्थो हि एव पुरुषो भुङ्क्त उपलभते प्रकृतिजान्गुणान् । अतः प्रकृतिजगुणोपलम्भहेतुषु सदसद्योनिजन्मसु सद्योनयो देवाद्यास्तेषु हि सात्त्विकमिष्टं**

[कार्य और करणों के कर्तृत्व में हेतु – कारण 'प्रकृति' कही जाती है तथा सुख और दु:खों के भोक्तृत्व में हेतु 'पुरुष' कहा जाता है ॥ 20 ॥]

50 'कार्य' शरीर है और 'करण' उस शरीर में स्थित तेरह इन्द्रियाँ हैं । देह के आरम्भक भूत और विषयों का ग्रहण यहाँ 'कार्य' के ग्रहण से होता है तथा सुख, दु:ख और मोहरूप गुण करणों के आश्रित होने के कारण 'करण' के ग्रहण से ग्रहण किये जाते हैं । उन कार्य और करणों के कर्तृत्व = तदाकार परिणाम में हेतु = कारण महर्षियों ने 'प्रकृति' को कहा है । यहाँ 'कार्यकारण[54]' – इसप्रकार दीर्घ पाठ होने पर भी वही अर्थ होगा । इसप्रकार प्रकृति के संसारकारणत्व की व्याख्या कर जिसप्रकार पुरुष का भी संसारकारणत्व है उसको कहते हैं :-- पुरुष क्षेत्रज्ञ है, परा प्रकृति है-- यह पहले कह चुके हैं । वह सुख और दु:खों के = सुख, दु:ख और मोह -- इन सभी भोग्यों के भोक्तृत्व में अर्थात् वृत्त्युपरक्तोपलम्भ[55] में हेतु कहा जाता है ॥ 20 ॥

51 जो पुरुष का सुखदु:खभोक्तृत्व और संसारित्व कहा गया है उसका क्या निमित्त-कारण है -- यह कहते हैं :--

[पुरुष प्रकृति में स्थित होकर ही प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों का भोग करता है । यह गुणों का सङ्ग ही इसके अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है ॥ 21 ॥]

52 प्रकृति माया है उसको मिथ्या ही तादात्म्य=तादात्म्याध्यास से प्राप्त हुआ प्रकृतिस्थ अर्थात् प्रकृति में

54. सांख्य-मत के अनुसार पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन (अन्त:करण) और पृथिवी, जलादि पाँच स्थूल भूत -- ये सोलह विकार को 'कार्य' कहा जाता है तथा पाँच तन्मात्राएँ, अहंकार और बुद्धि (महत्) – ये सात प्रकृति और विकृति 'कारण' हैं । इसप्रकार ये तेईस तत्त्व 'कार्य-कारण' कहे जाते हैं – इन कार्य-कारणों के कर्तृत्व में हेतु-कारण 'प्रकृति' कही जाती है ।

55. पुरुष = आत्मा – क्षेत्रज्ञ यद्यपि भोक्ता नहीं है, तथापि 'अहं भोक्ता' – इत्याकारक जो मनोवृत्ति होती है उससे उपरक्त – रूपित उपलम्भ -- प्रत्यक्ष में हेतु-कारण 'पुरुष' को कहा गया है ।

फलं भुज्यते । असद्योनयः पश्वाद्यास्तेषु हि तामसमनिष्टं फलं भुज्यते । सदसद्योनयो धर्माधर्ममिश्रत्वाद् ब्राह्मणाद्या मनुष्यास्तेषु हि राजसं मिश्रं फलं भुज्यते । अतस्तत्रास्य पुरुषस्य गुणसङ्गः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकप्रकृतितादात्म्याभिमान एव कारणम् । न त्वसङ्गस्य तस्य स्वतः संसार इत्यर्थः । अथवा गुणसङ्गो गुणेषु शब्दादिषु सुखदुःखमोहात्मकेषु सङ्गोऽभिलाषः काम इति यावत् । स एवास्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं 'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' इति श्रुतेः । अस्मिन्नपि पक्षे मूलकारणत्वेन प्रकृतितादात्म्याभिमानो द्रष्टव्यः ॥ 21 ॥

53 **तदेवं प्रकृतिमिथ्यातादात्म्यात्पुरुषस्य संसारो न स्वरूपेणेत्युक्तं, कीदृशं पुनस्तस्य स्वरूपं यत्र न संभवति संसार इत्याकाङ्क्षायां तस्य स्वरूपं साक्षान्निर्दिशन्नाह –**

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ 22 ॥

स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों का भोग करता है – उनको प्राप्त करता है[56] । अत: प्रकृतिजनित गुणों की उपलब्धि का हेतु सदसत् योनियों में जन्म लेना है । देवादि सद्योनियाँ हैं, उनमें वह सात्त्विक – सत्त्वगुणोत्पन्न इष्ट फल का भोग करता है । पशु आदि असद्योनियाँ हैं, उनमें वह तामस = तमोगुणोत्पन्न अनिष्ट फल का भोग करता है । तथा धर्माधर्म से मिश्रित होने के कारण ब्राह्मणादि मनुष्य सदसद् योनियाँ है, उसमें वह राजस -- रजोगुणोत्पन्न मिश्र फल को भोगता है । अत: उसमें = संसारप्राप्ति में अस्य[57] = इस पुरुष का गुणसङ्ग[58] = सत्त्व, रज और तमोगुणात्मिका प्रकृति से तादात्म्याभिमान ही कारण है, न कि असङ्ग उस पुरुष को स्वत: संसार की प्राप्ति होती है -- यह अर्थ है । अथवा, गुणसङ्ग = गुणों में अर्थात् सुख-दु:ख-मोहात्मक शब्दादि विषयों में जो सङ्ग = अभिलाषा अर्थात् काम है वह इस पुरुष के सद्-असद् योनियों में जन्म लेने का कारण है । जैसा कि श्रुति कहती है -- 'वह जैसी कामनावाला होता है वैसी देवाराधना करता है, जैसी देवताराधना करता है वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.5)' । इस पक्ष में भी मूलकारण प्रकृतितादात्म्याभिमान ही समझना चाहिए ॥ 21 ॥

53 इस प्रकार 'प्रकृति के मिथ्या तादात्म्य से ही पुरुष को संसार प्राप्त होता है, स्वरूप से नहीं'-- यह कहा । पुन: उसका स्वरूप कैसा है जिसमें संसार का होना संभव नहीं है ? -- ऐसी आकांक्षा होने पर उसके स्वरूप का साक्षात् निर्देश करते हुए कहते हैं :--

[इस देह में रहनेवाला पुरुष पर = प्रकृति के गुणों से असंसृष्ट ही है; वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा -- इन शब्दों से कहा जाता है ॥ 22 ॥]

56. प्रकृतिस्थ पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए सुख, दु:ख और मोहरूप से अभिव्यक्त गुणों का 'मैं सुखी हूँ, दु:खी हूँ, मूढ़ हूँ, पण्डित हूँ' – इसप्रकार मानता हुआ भोग करता है ।

57. अथवा, 'अस्य' शब्द का अर्थ 'संसारस्य' भी हो सकता है अर्थात् यहाँ 'संसार' पद का अध्याहार करके यह अर्थ करना चाहिए – सदसत् योनियों में जन्म लेकर जो संसार की प्राप्ति होती है उस संसार का कारण गुणसङ्ग है ।

58. अविद्यैक्याध्यास के कारण सुख-दु:ख-मोहात्मक गुणों को भोगते हुए उनमें जो आत्मभावरूप सङ्ग अर्थात् 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' -- इसप्रकार आसक्ति होती है वह 'गुणसङ्ग' है ।

54 अस्मिन्प्रकृतिपरिणामे देहे जीवरूपेण वर्तमानोऽपि पुरुषः परः प्रकृतिगुणासंसृष्टः परमार्थतोऽसंसारी स्वेन रूपेणेत्यर्थः। यत उपद्रष्टा यथर्त्विग्यजमानेषु यज्ञकर्मव्यापृतेषु तत्समीपस्थोऽन्यः स्वयमव्यापृतो यज्ञविद्याकुशलत्वादृत्विग्यजमानव्यापारगुणदोषाणामीक्षिता तद्वत्कार्यकरणव्यापारेषु स्वयमव्यापृतो विलक्षणस्तेषां कार्यकरणानां सव्यापाराणां समीपस्थो द्रष्टा न तु कर्ता पुरुषः 'स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः।

55 अथवा देहचक्षुर्मनोबुद्ध्यात्मसु द्रष्टृषु मध्ये बाह्यान्देहादीनपेक्ष्यात्यव्यवहितो द्रष्टाऽऽत्मा पुरुष उपद्रष्टा। उपशब्दस्य सामीप्यार्थत्वात्तस्य चाव्यवधानरूपस्य प्रत्यगात्मन्येव पर्यवसानात्। अनुमन्ता च कार्यकरणप्रवृत्तिषु स्वयमप्रवृत्तोऽपि प्रवृत्त इव संनिधिमात्रेण तदनुकूलत्वादनुमन्ता। अथवा स्वव्यापारेषु प्रवृत्तान्देहेन्द्रियादीन्न निवारयति कदाचिदपि तत्साक्षिभूतः पुरुष इत्यनुमन्ता, 'साक्षी चेता' इति श्रुतेः। भर्ता देहन्द्रियमनोबुद्धीनां संहतानां चैतन्याभासविशिष्टानां स्वसत्तया स्फुरणेन

---

54 इस = प्रकृति के परिणामस्वरूप देह में जीवस्वरूप से वर्तमान भी पुरुष पर अर्थात् प्रकृति के गुणों से असंसृष्ट - असंस्पृष्ट - असम्बद्ध है = वस्तुत: अपने स्वरूप से असंसारी है, क्योंकि वह उपद्रष्टा है। जैसे ऋत्विज्[59] और यजमान[60] के यज्ञकर्मों में व्यापृत -- संलग्न रहते समय उनके समीप में स्थिति एक अन्य याजक[61]- ब्रह्मा स्वयं यागव्यापारशून्य भी यज्ञविद्या में कुशल होने के कारण ऋत्विज् और यजमान के व्यापार के गुण-दोषों का साक्षी रहता है वैसे ही कार्य = शरीर और करण= इन्द्रियों के व्यापारों में स्वयं व्यापाररहित भी उनसे विलक्षण पुरुष उनके समीप रहकर उन शरीर और इन्द्रियों के व्यापारों का दृष्टा – साक्षी रहता है, न कि उनका कर्ता होता है। ऐसा श्रुति भी कहती है - 'वह वहाँ जो कुछ देखता है उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है' – इत्यादि।

55 अथवा, देह, चक्षु, मन, बुद्धि और आत्मा - जीवरूप दृष्टाओं के मध्य में बाह्य देहादि की अपेक्षा अत्यन्त अव्यवहित – व्यवधानशून्य द्रष्टात्मा पुरुष उपद्रष्टा है[62]। 'उप' शब्द का 'सामीप्य' अर्थ है, अतः अव्यवधानरूप उस सामीप्य का प्रत्यगात्मा में ही पर्यवसान होता है। वह अनुमन्ता [63] है अर्थात् कार्य - शरीर और करण - इन्द्रियों की प्रवृत्तियों में स्वयं अप्रवृत्त भी सन्निधिमात्र से प्रवृत्त के समान उनके अनुकूल होने के कारण अनुमन्ता है। अथवा, अपने व्यापारों में प्रवृत्त हुए देह, इन्द्रियादि को उनका साक्षिभूत पुरुष कदापि - कभी रोकता नहीं है - इस प्रकार अनुमन्ता है, श्रुति भी कहती है - 'साक्षी चेता' (श्वेताश्वतरोपनिषद् 6.11) = वह साक्षी और चेता है'। भर्ता है =

---

59. जो ऋतुकालयाजी होता है अर्थात् ऋतु में यज्ञ करता है वह याज्ञिक – पुरोहित 'ऋत्विक्' कहा जाता है। मनुस्मृति में कहा है :–

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान्।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते॥ (मनुस्मृति 2.143)

'जो ब्राह्मण जिसकी ओर से वरण लेकर अग्न्याधान = अग्नि की स्थापना, पाकयज्ञ, अग्निष्टोम आदि यज्ञों को करता है वह उसका 'ऋत्विक्' कहा जाता है'

60. कोई भी व्यक्ति , जो स्वयं यज्ञ करता है, यज्ञ का व्ययभार वहन करता है अथवा ऋत्विक् या पुरोहित की दक्षिणा चुकाता है, 'यजमान' कहलाता है।

61.याजक ऋत्विक् का पर्याय है। ऋग्वेद के अनुसार इसको 'ब्रह्मा' कहा गया है।

62. जिससे पर अन्य कोई अन्तरतम दृष्ध नहीं हो सकता है वह अतिशय समीप रहकर द्रष्टा-देखनेवाला होने के कारण 'उपद्रष्टा' है। अथवा, यज्ञ के उपद्रष्टा के समान सबका अनुभव करनेवाला होने से आत्मा 'उपद्रष्टा' है।

63. अन्त:करण और इन्द्रियादि का परितोष के साथ अनुमोदन – अनुमनन करनेवाला 'अनुमन्ता' है।

च धारयिता पोषयिता च । भोक्ता बुद्धेः सुखदुःखमोहात्मकान्प्रत्ययान्स्वरूपचैतन्येन प्रकाशयतीति निर्विकार एवोपलब्धा । महेश्वरः सर्वात्मत्वात्स्वतन्त्रत्वाच्च महानीश्वरश्चेति महेश्वरः । परमात्मा देहादिबुद्ध्यान्तानामविद्ययाऽऽत्मत्वेन कल्पितानां परमः प्रकृष्ट उपद्रष्टृत्वादिपूर्वोक्तविशेषण-विशिष्ट आत्मा परमात्मा इति अनेन शब्देनापि उक्तः कथितः श्रुतौ । चकारादुपद्रष्टेत्यादिशब्दैरपि स एव पुरुषः परः । 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' इत्यग्रेऽपि वक्ष्यते ॥ 22 ॥

56 **तदेवं स च यो यत्प्रभावश्चेति व्याख्यातमिदानीं यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुत इत्युक्तमुपसंहरति –**

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ 23 ॥

57 **य एवमुक्तेन प्रकारेण वेत्ति पुरुषमयमहमस्मीति साक्षात्करोति प्रकृतिं चाविद्यां गुणैः स्वविकारैः सह मिथ्याभूतामात्मविद्यया बाधितां वेत्ति निवृत्ते ममाज्ञानतत्कार्ये इति, स सर्वथा प्रारब्धकर्मवशादिन्द्रवद्विधिमतिक्रम्य वर्तमानोऽपि भूयो न जायते पतितेऽस्मिन्विद्वच्छरीरे पुनर्देहग्रहणं न करोति । अविद्यायां विद्यया नाशितायां तत्कार्यासंभवस्य बहुधोक्तत्वात् 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' इति न्यायात् । अपिशब्दाद्विधिमनतिक्रम्य वर्तमानः स्ववृत्तस्थो भूयो न जायत इति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ 23 ॥**

चैतन्याभासविशिष्ट चैतन्यप्रतिविशिष्ट चित्तप्रतिफलितचैतन्यविशिष्ट और संहत देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को अपनी सत्ता और स्फूर्ति से धारणकरनेवाला और पोषण करनेवाला है । भोक्ता है = बुद्धि के सुख-दुःख--मोहात्मक प्रत्ययों - ज्ञानों को अपने स्वरूप चैतन्य से प्रकाशित करता है - इस प्रकार निर्विकार ही उनको उपलब्ध करनेवाला है । महेश्वर है = सर्वात्मा और स्वतन्त्र होने के कारण महान् है और ईश्वर है - इस प्रकार महेश्वर है । परमात्मा है = अविद्या के कारण आत्मरूप से कल्पित देह से लेकर बुद्धिपर्यन्त सबका परम - प्रकृष्ट = उपद्रष्टृत्वादि पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट आत्मा है, इसलिए 'परमात्मा' - इस शब्द से भी श्रुति में भी कहा गया है । 'चकार' से उपद्रष्टा इत्यादि शब्दों से भी वही पुरुष पर कहा गया है । 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (गीता, 15.17) - इत्यादि से आगे भी यही कहेंगे ॥ 22 ॥

56 इस प्रकार 'स च यो यत्प्रभावश्च' = 'वह क्षेत्रज्ञ जो है और जिस प्रभाववाला है' – इसकी व्याख्या हो गई । इस समय 'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते' = 'जिसको जानकर पुरुष अमृतत्व को प्राप्त होता है' – यह जो कहा गया है उसका उपसंहार करते हैं :-

[जो मनुष्य इसप्रकार गुणों सहित पुरुष और प्रकृति को जानता है वह सर्वथा – सब प्रकार से वर्तमान – वर्तता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता है ॥ 23 ॥]

57 जो इसप्रकार = उक्त प्रकार से पुरुष को जानता है = 'यह मैं हूँ' -- इसप्रकार उसका साक्षात्कार करता है तथा प्रकृति अर्थात् अविद्या को; जो गुणों = अपने विकारों सहित मिथ्याभूत है, 'मेरा अज्ञान और उसका कार्य -- ये दोनों निवृत्त हो गये' -- इसप्रकार की आत्मविद्या से बाधित है; जानता है वह सर्वथा -- सब प्रकार अर्थात् प्रारब्धकर्मवश इन्द्र के समान विधि का अतिक्रमण --

58 अत्राऽऽत्मदर्शने साधनविकल्पा इमे कथ्यन्ते -

ध्यानेनाऽऽत्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन(ण) चापरे ॥ 24 ॥

59 इह हि चतुर्विधा जनाः केचिदुत्तमाः केचिन्मध्यमाः केचिन्मन्दाः केचिन्मन्दतरा इति । तत्रोत्तमानामात्मज्ञानसाधनमाह - ध्यानेन विजातीयप्रत्ययानन्तरितेन सजातीयप्रत्ययप्रवाहेण श्रवणमननफलभूतेनाऽऽत्मचिन्तनेन निदिध्यासनशब्दोदितेनाऽऽत्मनि बुद्धौ पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति आत्मानं प्रत्यक्चेतनमात्मना ध्यानसंस्कृतेनान्तःकरणेन केचिदुत्तमा योगिनः । मध्यमानामात्मज्ञानसाधनमाह - अन्ये मध्यमाः सांख्येन योगेन निदिध्यासनपूर्वभाविना श्रवणमननरूपेण नित्यानित्यविवेकादिपूर्वकेणेमे गुणत्रयपरिणामा अनात्मानः सर्वे मिथ्याभूतास्तत्साक्षिभूतो नित्यो विभुर्निर्विकारः सत्यः समस्तजडसंबन्धशून्य आत्माऽहमित्येवं वेदान्तवाक्यविचारजन्येन चिन्तनेन, पश्यन्त्यात्मानमात्मनीति वर्तते। ध्यानोत्पत्तिद्वारेणेत्यर्थः।

उल्लंघन करके वर्तमान रहते हुए भी फिर जन्म नहीं लेता है = इस विद्वद्शरीर का पतन होने पर पुनः देहग्रहण नहीं करता है, क्योंकि विद्या – ज्ञान से अविद्या को नष्ट कर दिये जाने पर उसके कार्य का असम्भव हो जाना बहुत प्रकार से कहा गया है । इसमें 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.13) = 'उस ब्रह्म का अधिगम – अनुभव होने पर उत्तर के अघ का अश्लेष और पूर्व के अघ का विनाश होता है, क्योंकि उसके व्यपदेश-कथन से यह समझा जाता है' – यह ब्रह्मसूत्र न्याय भी है । 'अपि' शब्द से यह अभिप्राय है कि विधि का उल्लंघन न करके वर्तमान अपने वृत्त – आचरण में स्थित फिर जन्म नहीं लेता है – इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ 23 ॥

58 यहाँ आत्मदर्शन में ये साधनों के विकल्प कहे जाते हैं :–
[कोई जन ध्यान द्वारा अन्त:करण से अपनी बुद्धि में आत्मा का साक्षात्कार करते हैं, अन्य कोई सांख्यरूप योग से और कोई अन्य कर्मयोग से उसका साक्षात्कार करते हैं ॥ 24 ॥]

59 इस लोक में चार प्रकार के मनुष्य हैं – कोई उत्तम हैं, कोई मध्यम हैं, कोई मन्द हैं और कोई मन्दतर हैं । उनमें उत्तमों के आत्मज्ञान के साधन को कहते हैं – कोई उत्तम योगी ध्यान[64] से = विजातीय प्रत्यय से रहित सजातीय प्रत्यय के प्रवाह से अर्थात् श्रवण और मनन के फलभूत 'निदिध्यासन' शब्द से उदित - कथित आत्मचिन्तन द्वारा आत्मा से = ध्यान-संस्कृत अन्त:करण से आत्मा में[65] = बुद्धि में आत्मा को = प्रत्यक्चेतन को देखते हैं – उसका साक्षात्कार करते हैं । मध्यमों के आत्मज्ञान के साधन को कहते हैं – अन्य मध्यम सांख्यरूप योग से = नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपूर्वक निदिध्यासन से पूर्वभावी-पूर्ववर्ती श्रवण और मननरूप 'ये तीनों गुणों

64. शब्दादि विषयों से श्रोत्रादि इन्द्रियों का मन में उपसंहार करके और मन का प्रत्यक्- चेतनस्वरूप आत्मा में निरोध करके जो एकाग्रभाव से चिन्तन होता रहता है उसको 'ध्यान' कहते हैं । तथा 'ध्यायतीव बको ध्यायतीव पृथिवी ध्यायन्तीव पर्वता:' (छान्दोग्योपनिषद् 7.6.1) = 'जैसे बक – बगुला ध्यान करता है, जैसे पृथिवी ध्यान करती है, जैसे पर्वत ध्यान करते हैं' – इस श्रुति में दी गयी उपमाओं के ग्रहण से किसी विषय का अवलम्बन कर तैलधारा के समान अविच्छिन्न भाव से प्रवाहित प्रत्यय-ज्ञान का प्रवाह 'ध्यान' विवक्षित होता है ।
65. श्रीधरस्वामी ने 'आत्मनि = देहे' – अर्थ किया है जो कि प्रकृत प्रसंगानुकूल अर्थ की अपेक्षा से सामञ्जस्य के लिए चिन्त्य है ।

60 मन्दानां ज्ञानसाधनमाह--कर्मयोगेनेश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणेन फलाभिसंधिरहितेन तत्तद्वर्णाश्रमोचितेन वेदविहितेन कर्मकलापेन चापरे मन्दाः, पश्यन्त्यात्मानमात्मनीति वर्तते। सत्त्वशुद्ध्या श्रवणमननध्यानोत्पत्तिद्वारेणेत्यर्थः ॥24॥

61 मन्दतराणां ज्ञानसाधनमाह –

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चा[66]तितरन्त्येव[67] मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ 25॥

62 अन्ये तु मन्दतराः, तुशब्दः पूर्वश्लोकोक्तत्रिविधाधिकारिवैलक्षण्यद्योतनार्थः। एषूपायेष्वन्यतरेणाप्येवं यथोक्तमात्मानमजानन्तोऽन्येभ्यः कारुणिकेभ्य आचार्येभ्यः श्रुत्वेदमेवं चिन्तयतेत्युक्ता उपासते श्रद्दधानाः सन्तश्चिन्तयन्ति तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं संसारं श्रुतिपरायणाः स्वयं विचारासमर्था अपि श्रद्दधानतया गुरूपदेशश्रवणमात्रपरायणाः। तेऽपीत्यपिशब्दाद्ये स्वयं विचारसमर्थास्ते मृत्युमतितरन्तीति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ 25 ॥

के परिणामभूत आत्मा से भिन्न सब अनात्म पदार्थ मिथ्याभूत हैं, इनका साक्षिभूत नित्य, विभु निर्विकार, सत्य, समस्त जड़वर्ग के सम्बन्ध से शून्य आत्मा 'मैं' हूँ-- इसप्रकार वेदान्तवाक्यविचारजन्य चिन्तन से अर्थात् ध्यानोत्पत्ति द्वारा आत्मा में=बुद्धि में आत्मा= प्रत्यक्चेतन को देखते हैं – उसका साक्षात्कार करते हैं। यहाँ 'पश्यन्त्यात्मानमात्मनि'-- इन पदों की अनुवृत्ति है।

60 मन्दों के ज्ञान के साधन को कहते हैं :-- कोई मन्द कर्मयोग से = ईश्वरार्पणबुद्धि से क्रियमाण फलाभिसन्धि-फलाशारहित उस-उस वर्णाश्रमोचित वेदविहित कर्मकलाप से अर्थात् सत्त्वशुद्धि-चित्तशुद्धि से श्रवण, मनन और निदिध्यासन की उत्पत्तिद्वारा आत्मा में आत्मा को देखते हैं -- उसका साक्षात्कार करते हैं। यहाँ भी 'पश्यन्त्यात्मानमात्मनि' -- इन पदों की अनुवृत्ति है ॥ 24 ॥

61 मन्दतरों के ज्ञान के साधन को कहते हैं :--
[अन्य जन तो इसप्रकार आत्मा को न जानते हुए दूसरों से सुनकर ही उपासना करते हैं। वे श्रवणपरायण जन भी मृत्युरूप संसार को पार कर ही लेते हैं ॥ 25 ॥]

62 अन्य -- मन्दतर तो, यहाँ 'तु' शब्द पूर्वश्लोक में उक्त त्रिविध अधिकारियों से विलक्षणता सूचित करने के लिए है, इन उपायों में से किसी भी उपाय से एवम् -- इसप्रकार = यथोक्त आत्मा को न जानते हुए अन्यों -- दूसरों से = करुणामय आचार्यों से सुनकर = उनके 'इसका इसप्रकार चिन्तन करो' -- ऐसा कहने पर श्रद्धा रखकर उपासना -- चिन्तन करते हैं। श्रुतिपरायण[68] अर्थात् स्वयं विचार करने में असमर्थ भी श्रद्धायुक्त होने के कारण मात्र गुरु के उपदेशश्रवण में परायण -- तत्पर रहनेवाले वे जन भी मृत्यु अर्थात् संसार को पार कर ही लेते हैं। यहाँ 'तेऽपि' – में से 'अपि' शब्द से अभिप्राय यह है कि जो स्वयं विचार करने में समर्थ होते हैं वे मृत्युरूप संसार को पार कर लेते हैं -- इसमें तो कहना ही क्या है ॥ 25 ॥

66. श्लोकस्थ चकार पूर्वोक्त के समुच्चय के लिए है।

67. 'एव' शब्द से यह दृढ़ होता है कि वे मन्दतरजन यद्यपि मुक्तिक्रम से शून्य हैं तथापि उनके भी मोक्ष में कोई संशय नहीं है।

68. श्रुतिपरायणाः श्रुतिः श्रवणं परमयनं गमनं मोक्षमार्गप्रवृतौ परं साधनं येषां ते श्रुतिपरायणाः = जिनके मत में श्रवण करना ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के लिए परम अयन-गमन-साधन है वे "श्रुतिपरायण" कहे जाते हैं। अभिप्राय यह है कि वे स्वयं विवेकरहित होते हुए भी केवल गुरु के उपदेश को ही प्रमाण मानते हैं अतएव गुरूपदेशश्रवण-मात्रपरायण होते हैं।

63 संसारस्याऽऽविद्यकत्वाद्विद्यया मोक्ष उपपद्यत इत्येतस्यार्थस्यावधारणाय संसारतन्निवर्तकज्ञानयोः प्रपञ्चः क्रियते यावदध्यायसमाप्ति । तत्र कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मस्वित्येतत्प्रागुक्तं विवृणोति—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ 26 ॥

64 यावत्किमपि सत्त्वं वस्तु संजायते स्थावरं जङ्गमं वा तत्सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्, अविद्यातत्कार्यात्मकं जडमनिर्वचनीयं सदसत्त्वं दृश्यजातं क्षेत्रं तद्विलक्षणं तद्भासकं स्वप्रकाशपरमार्थसच्चैतन्यमसङ्गोदासीनं निर्धर्मकमद्वितीयं क्षेत्रज्ञं तयोः संयोगो मायावशादितरेतराविवेकनिमित्तो मिथ्यातादात्म्याध्यासः सत्यानृतमिथुनीकरणात्मकः, तस्मादेव संजायते तत्सर्वं कार्यजातमिति विद्धि हे भरतर्षभ । अतः स्वरूपाज्ञाननिबन्धनः संसारः स्वरूपज्ञानाद्विनष्टुमर्हति स्वप्नादिवदित्यभिप्रायः ॥ 26 ॥

---

63 संसार अविद्यक – अविद्याकल्पित है, अत: विद्या – आत्मज्ञानरूपविद्या से मोक्ष प्राप्त होता है – इस अर्थ का अवधारण-निर्धारण-निश्चय करने के लिए इस अध्याय की समाप्तिपर्यन्त संसार और उसके निवर्तक ज्ञान का विस्तारपूर्वक विवेचन किया जाता है । उसमें 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इस पूर्वोक्त का विशेषरूप से विवरण करते हैं :–

[हे भरतर्षभ ! हे भरतवंशश्रेष्ठ ! हे अर्जुन ! जो कुछ भी स्थावर अथवा जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है उसको तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुई समझो ॥ 26 ॥]

64 हे भरतर्षभ – हे भरतकुलश्रेष्ठ । यावत् – किमपि = जो कुछ भी स्थावर अथवा जङ्गम सत्त्व = वस्तु उत्पन्न होती है उस सबको तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न हुई जानो = अविद्या और उसका कार्यरूप जो जड, अनिर्वचनीय[69] और सत्-असतरूप दृश्यसमूह है वह 'क्षेत्र' है; उससे विलक्षण उसका भासक स्वप्रकाश परमार्थस्वरूप जो सत्, चैतन्य, असङ्ग, उदासीन, निर्धर्मक और अद्वितीय है वह 'क्षेत्रज्ञ' है; उन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग[70] = मायावश एक-दूसरे के अविवेक से होनेवाला सत्यानृतमिथुनीकरणात्मक = सत्य–चैतन्यस्वरूप आत्मा और अनृत – अनित्य शरीरादि – दोनों का मिश्रीकरणरूप जो मिथ्या तादात्म्याध्यास है उसी से वह सब कार्यसमूह उत्पन्न हुआ है – यह तुम जानो । अत: स्वरूप के अज्ञान से होनेवाला संसार स्वरूप के ज्ञान से = स्वरूपसाक्षात्कार से विनाश के योग्य है, जैसे स्वप्न में उत्पन्न हुआ पदार्थसमूह जाग्रदावस्था में विनाश के योग्य होता है – यह अभिप्राय है ॥ 26 ॥

---

69. यदि सत् स्यात् न बाध्येत, यदि असत्स्यात् प्रत्यक्षतया न भासेत, किन्तु बाध्यते प्रत्यक्षतया भासते च तस्मान्न सत् नासत् किन्तु उभयविलक्षणमनिर्वचनीयम् = यदि सत् होता तो बाधित नहीं होता, यदि असत् होता तो प्रत्यक्षरूप से भासित नहीं होता, किन्तु बाधित होता है और प्रत्यक्षरूप से भासित भी होता है, इसलिए जो न सत् है और न असत् है, किन्तु सत् और असत् – दोनों से विलक्षण है वह 'अनिर्वचनीय' है ।

70. क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बीच रज्जु और घट के समान दो सावयव द्रव्यों के बीच होने वाला 'संयोग' सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि क्षेत्र सावयव है और क्षेत्रज्ञ आकाशवत् स्वरूपत: निरवयव है । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में पट और तन्तु के समान दो अयुतसिद्ध पदार्थों में होनेवाला 'समवाय' सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि दोनों में अयुतसिद्धता का अभाव है और दोनों में इतरेतरकार्यकारणभाव स्वीकार नहीं है । तम और प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बीच तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं है । रज्जु, शुक्ति आदि का उनमें अध्यारोपित सर्प, रजत आदि के साथ उनके विवेकज्ञान के अभाव के कारण होनेवाले संयोग के समान तम और प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले युष्मत् और अस्मत् – प्रत्ययों से गोचर विषय और विषयीरूप क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बीच क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप-विवेकज्ञान के अभाव के कारण होनेवाला परस्परधर्माध्यासस्वरूप संयोग संभव है ।

65 **एवं संसारमविद्यात्मकमुक्त्वा तन्निवर्तकविद्याकथनाय य एवं वेत्ति पुरुषमिति प्रागुक्तं विवृणोति--**

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ 27 ॥

66 **सर्वेषु भूतेषु भवनधर्मकेषु स्थावरजङ्गमात्मकेषु प्राणिषु अनेकविधजन्मादिपरिणामशीलतया गुणप्रधानभावापत्त्या च विषमेषु अत एव चञ्चलेषु प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा नापरिणम्य क्षणमपि स्थातुमीशते । अत एव परस्परबाध्यबाधकभावापन्नेषु एवमपि विनश्यत्सु दृष्टनष्टस्वभावेषु मायागन्धर्वनगरादिप्रायेषु समं सर्वत्रैकरूपं प्रतिदेहमेकं जन्मादिपरिणामशून्यतया च तिष्ठन्तमपरिणममानं परमेश्वरं सर्वजडवर्गसत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन बाध्यबाधकभावशून्यं सर्वदोषानास्कन्दितमविनश्यन्त दृष्टनष्टप्रायसर्वद्वैतबाधेऽप्यबाधितम् । एवं सर्वप्रकारेण जडप्रपञ्चविलक्षणमात्मानं विवेकेन यः शास्त्रचक्षुषा पश्यति स एव पश्यत्यात्मानं जाग्रद्बोधेन स्वप्नभ्रमं बाधमान इव । अज्ञस्तु स्वप्नदर्शीव भ्रान्त्या विपरीतं पश्यन्न पश्यत्येव, अदर्शनात्मकत्वाद्भ्रमस्य । न हि रज्जुं सर्पतया पश्यन्पश्यतीति व्यपदिश्यते, रज्ज्वदर्शनात्मकत्वा-**

65 इसप्रकार अविद्यात्मक – अज्ञानात्मक संसार को कहकर उसकी निवर्तक विद्या-ज्ञान के कथन के लिए 'य एवं वेत्ति पुरुषम्' – इस पूर्वोक्त वाक्य का विवरण करते हैं :–
[जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में नाशरहित, समभाव से स्थित परमेश्वर को देखता है वही वस्तुतः देखता है ॥ 27 ॥]

66 सब भूतों में = उत्पत्तिधर्मवाले स्थावर--जंगमरूप सब प्राणियों में; जो अनेक प्रकार के जन्मादि[71] परिणामवाले होने से और गुण-प्रधानभाव[72] की आपत्ति-प्राप्ति होने से विषम हैं अतएव चञ्चल हैं, क्योंकि पदार्थ प्रत्येक क्षण में परिणामवाले होते हैं, वे बिना परिणाम के क्षण भर भी नहीं रह सकते हैं, अतएव जो परस्पर बाध्य-बाधकभाव को प्राप्त हैं, इसप्रकार के भी जो विनाशशील हैं = दृष्टनष्टस्वभाव[73] हैं अर्थात् मायागन्धर्वनगरादि के समान हैं; उनमें सम = सर्वत्र एकरूप -- प्रत्येक देह में एक जन्मादि परिणाम से रहित अतएव स्थितपरिणामातीत परमेश्वर को = सम्पूर्ण जड़वर्ग को सत्ता और स्फूर्ति देनेवाला होने से बाध्य-बाधकभाव से शून्य, सब दोषों से अस्पृष्ट, विनष्ट न होनेवाले अर्थात् सम्पूर्ण दृष्टनष्टप्राय द्वैत का बाध होने पर भी अबाधित-बाधित न होनेवाले एवं सबप्रकार जडप्रपञ्च से विलक्षण आत्मा को जो पुरुष शास्त्रदृष्टि से विवेकपूर्वक देखता है, जाग्रत्-ज्ञान से स्वप्न-ज्ञान का बाध करनेवाले पुरुष के समान वही आत्मा को देखता है । अज्ञानी पुरुष तो स्वप्न देखनेवाले के समान भ्रान्तिवश विपरीत देखते हुए 'नहीं ही देखता है', क्योंकि भ्रम अदर्शनात्मक होता है । लोक में यह व्यवहार नहीं होता कि रज्जु को सर्परूप से देखते हुए 'देखता है', क्योंकि

71. जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय और विनाश ।
72. सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के परिणाम होते हैं । सात्त्विक-परिणाम में सत्त्वगुण प्रधान होता है तथा रजोगुण और तमोगुण गुणभूत रहते हैं । राजसपरिणाम में रजोगुण प्रधान होता है तथा सत्त्व और तमोगुण गुणभूत रहते हैं । इसीप्रकार तामसपरिणाम में तमोगुण प्रधान होता है तथा सत्त्व और रजोगुण गुणभूत रहते हैं – इसप्रकार 'गुण-प्रधानभाव' कहलाता है ।
73. दृष्टनष्टस्वभाव दृष्टकालिक स्वभाव है, दृष्टस्वरूप का कालान्तर में नाश हो जाता है । जैसे ऐन्द्रजालिक मायागन्धर्वनगर आकाश में दृष्टिगोचर होकर नष्ट हो जाता है ।

त्सर्पदर्शनस्य । एवंभूतान्यानुपरक्तशुद्धात्मदर्शनात्तददर्शनात्मिकाया अविद्याया निवृत्तिस्ततस्तत्कार्यसंसारनिवृत्तिरित्यभिप्रायः । अत्राऽऽत्मानमितिविशेष्यलाभो विशेषणमर्यादया । परमेश्वरमित्येव वा विशेष्यपदम् । विषमत्वचञ्चलत्वबाध्यबाधकरूपत्वलक्षणं जडगतं वैधर्म्यं समत्वतिष्ठत्त्वपरमेश्वरत्वरूपात्मविशेषणवशादर्थात्प्राप्तमन्यत्कण्ठोक्तमिति विवेकः ॥ 27 ॥

67 तदेतदात्मदर्शनं फलेन स्तौति रुच्युत्पत्तये -

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ 28 ॥

68 समवस्थितं जन्मादिविनाशान्तभावविकारशून्यतया सम्यक्तयाऽवस्थितमित्यविनाशित्वलाभः । अन्यत्प्राग्व्याख्यातम् । एवं पूर्वोक्तविशेषणमात्मानं पश्यन्नयमहमस्मीति शास्त्रदृष्ट्या साक्षात्कुर्वन्न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानम् । सर्वो ह्यज्ञः परमार्थसन्तमेकमकर्त्रभोक्तृपरमानन्दरूपमात्मानमविद्यया सति भात्यपि वस्तुनि नास्ति न भातीतिप्रतीतिजननसमर्थया स्वयमेव तिरस्कुर्वन्नसन्तमिव करोतीति हिनस्त्येव तम् । तथाऽविद्ययाऽऽत्मत्वेन परिगृहीतं देहेन्द्रियसंघातमात्मानं पुरातनं हत्वा नवमादत्ते कर्मवशादिति हिनस्त्येव तम् । अत उभयथाऽप्यात्महैव सर्वोऽप्यज्ञः, यमधिकृत्येयं शकुन्तलावचनरूपा स्मृतिः -

'किं तेन न कृतं पापं चोरेणाऽऽत्मापहारिणा ।
योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ॥' इति ।

रज्जु में सर्प को देखना तो रज्जु को न देखना ही है ।एवंभूत अन्यसंसर्गशून्य शुद्ध आत्मा के दर्शन से उसकी अदर्शनात्मिका अविद्या की निवृत्ति होती है और इससे उसके कार्य संसार की निवृत्ति होती है -- यह अभिप्राय है । यहाँ 'आत्मानम्' – इस विशेष्य पद की प्राप्ति विशेषणों की मर्यादा से हो जाती है । अथवा, 'परमेश्वरम्' -- यह पद ही विशेष्य है । समत्व, तिष्ठत्त्व-स्थितत्व और परमेश्वरत्वरूप आत्मा के विशेषणों से जड़वर्गगत विषमत्व, चञ्चलत्व और बाध्य-बाधकत्वरूप वैधर्म्यों की अर्थतः प्राप्ति हो जाती है, अन्य सब कण्ठ से कह दिया है -- यह विवेक है ॥ 27 ॥

67 अब रुचि उत्पन्न करने के लिए इस आत्मदर्शन की फलप्रदर्शन से स्तुति करते हैं :--
[वह पुरुष सब में समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा अपना नाश नहीं करता है, इससे वह परम गति को प्राप्त होता है ॥ 28 ॥]

68 समवस्थित = जन्म से लेकर विनाशपर्यन्त – षड्भावविकारों से शून्य होने के कारण सम्यक्-रूप से अवस्थित – इसप्रकार आत्मा का अविनाशित्व प्राप्त होता है । अन्य विशेषणों की व्याख्या पहले हो चुकी है । इसप्रकार पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट आत्मा को देखता हुआ = 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इसप्रकार शास्त्रदृष्टि से साक्षात्कार करता हुआ वह पुरुष आत्मना = अपने द्वारा आत्मानम् = अपने को नष्ट नहीं करता है । सब अज्ञानी पुरुष परमार्थसत्, एक, अकर्ता, अभोक्ता, परमानन्दरूप आत्मा का सत्ता और भाव से युक्त वस्तु में भी 'नहीं है, नहीं भासता है' -- इसप्रकार की प्रतीति को उत्पन्न करने में समर्थ अविद्या द्वारा स्वयं ही तिरस्कार करते हुए उसको असत्-सा कर देते हैं -- उसका हनन ही करते हैं । इसीप्रकार अविद्यावश आत्मरूप से ग्रहण किये हुए देहेन्द्रियसंघातरूप पुरातन आत्मा का हनन कर कर्मवश नवीन आत्मा को ग्रहण करते हैं -- इसप्रकार

श्रुतिश्च -

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः ॥' इति ।

असुर्या असुरस्य स्वभूता आसुर्या संपदा भोग्या इत्यर्थः । आत्महन इत्यनात्मन्यात्माभिमानिन इत्यर्थः । अतो य आत्मज्ञः सोऽनात्मन्यात्माभिमानं शुद्धात्मदर्शनेन बाधते । अतः स्वरूपलाभान्न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् । तत आत्महननाभावादविद्यातत्कार्यनिवृत्तिलक्षणां मुक्तिमधिगच्छतीत्यर्थः ॥ 28 ॥

69 ननु शुभाशुभकर्मकर्तारः प्रतिदेहं भिन्ना आत्मानो विषमाश्च तत्तद्विचित्रफलभोक्तृत्वेनेति कथं सर्वभूतस्थमेकमात्मानं समं पश्यन्न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानमित्युक्तमत आह -

प्रकृत्यैव[74] च[75] कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ 29 ॥

70 कर्माणि वाङ्मनःकायारभ्याणि सर्वशः सर्वैः प्रकारैः प्रकृत्यैव देहेन्द्रियसंघाताकारपरिणतया सर्वविकारकारणभूतया त्रिगुणात्मिकया भगवन्माययैव क्रियमाणानि न तु पुरुषेण सर्वविकार-

उसका हनन ही करते हैं । अत: सभी अज्ञानी दोनों प्रकार से भी आत्महा -- आत्महन्ता ही हैं, जिनको लक्ष्य करके यह शकुन्तला के वचनरूप स्मृति है :--

"जो अन्य प्रकार के आत्मा को अन्य स्वरूपवाला समझता है उस आत्मापहारी चोर ने क्या पाप नहीं किया ?" (महाभारत)

श्रुति भी कहती है --

"जो कोई भी आत्महन्ता जन हैं वे मरकर उन लोकों में जाते हैं जो 'असुर्या' नामवाले और घोर अन्धकार से आवृत हैं" (ईशावास्योपनिषद् 3) ।

असुर्या = असुरों की निज संपत्ति -- आसुर्या सम्पत्ति से भोग के योग्य लोक 'असुर्या' लोक है । 'आत्महन:' का अर्थ-अनात्म पदार्थों में आत्मा का अभिमान रखनेवाले जन हैं । अत: जो आत्मज्ञानी है वह शुद्ध आत्मा के दर्शन से अनात्मा में आत्माभिमान का बाध कर देता है । अत: स्वरूपलाभ होने के कारण वह अपने द्वारा अपना नाश नहीं करता है, इससे परमगति को प्राप्त होता है अर्थात् उस आत्महनन के अभाव से अविद्या और उसके कार्य की निवृत्तिस्वरूप मुक्ति को प्राप्त होता है ।। 28 ।।

69 शुभ और अशुभ कर्म करनेवाले पुरुष प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न आत्मावाले और उस-उस विचित्र फल के भोक्ता होने से विषम स्वभाववाले हैं, तो फिर यह कैसे कहा कि सब भूतों में स्थित एक ही आत्मा को समानरूप से देखता हुआ आत्मज्ञ पुरुष अपने द्वारा अपना नाश नहीं करता है ? -- इसपर कहते हैं :--

[जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार प्रकृति द्वारा ही किये हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है वह वस्तुत: देखता है ।। 29 ।।]

70 जो विवेकी पुरुष वाणी, मन और शरीर से होनेवाले सम्पूर्ण कर्मों को सर्वश: = सब प्रकार प्रकृति

74. 'एव' शब्द निश्चय के अर्थ में है ।

75. 'च' शब्द समुच्चय अर्थ में है अर्थात् कार्य और कारणरूप में जो कुछ दिखाई देते हैं वे सभी 'प्रकृति-परिणाम' हैं-- इसप्रकार प्रकृति के सब कार्यों को एकत्रित करके दिखाने के लिए ही चकार का प्रयोग हुआ है ।

शून्येन यो विवेकी पश्यति, एवं क्षेत्रेण क्रियमाणेष्वपि कर्मसु आत्मानं क्षेत्रज्ञमकर्तारं सर्वोपाधिविवर्जितमसङ्गमेकं सर्वत्र समं यः पश्यति, तथाशब्दः पश्यतीतिक्रियाकर्षणार्थः, स पश्यति स परमार्थदर्शीति पूर्ववत् । सविकारस्य क्षेत्रस्य तत्तद्विचित्रकर्मकर्तृत्वेन प्रतिदेहं भेदेऽपि वैषम्येऽपि न (च) निर्विशेषस्याकर्तुराकाशस्येव न भेदे प्रमाणं किंचिदात्मन इत्युपपादितं प्राक् ॥ 29 ॥

71 **तदेवमापाततः क्षेत्रभेददर्शनमभ्यनुज्ञाय क्षेत्रज्ञभेददर्शनमपाकृतमिदानीं तु क्षेत्रभेदर्शनमपि मायिकत्वेनापाकरोति -**

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ 30 ॥

72 **यदा यस्मिन्काले भूतानां स्थावरजङ्गमानां सर्वेषामपि जडवर्गाणां पृथग्भावं पृथक्त्वं परस्परभिन्नत्वमेकस्थमेकस्मिन्नेवाऽऽत्मनि सद्रूपे स्थितं कल्पितं कल्पितस्याधिष्ठानादनतिरेकात्सद्रूपात्मस्वरूपादनतिरिक्तमनुपश्यति शास्त्राचार्योपदेशमनु स्वयमालोचयति आत्मैवेदं सर्वमिति । एवमपि मायावशात्तत एकस्मादात्मन एव विस्तारं भूतानां पृथग्भावं च स्वप्नमायावदनुपश्यति, ब्रह्म संपद्यते तदा सजातीयविजातीयभेददर्शनाभावाद्ब्रह्मैव सर्वानर्थशून्यं भवति तस्मिन्काले ।**

द्वारा ही = देह और इन्द्रियों के संघात के आकार में परिणत, सब विकारों की कारणभूत, त्रिगुणात्मिका भगवान् की माया से ही किये हुए, न कि सब विकारों से शून्य पुरुष द्वारा किये हुए, देखता है; इसी प्रकार क्षेत्र के द्वारा क्रियमाण कर्मों में भी आत्मा को = क्षेत्रज्ञ को अकर्ता = समस्त उपाधियों से रहित, असङ्ग, एक, सर्वत्र समानरूप से देखता है । यहाँ 'तथा' शब्द 'पश्यति' – इस क्रिया के आकर्षण के लिए है । वही देखता है = वही परमार्थदर्शी है पूर्ववत् ही है । सविकार क्षेत्र का उन-उन विचित्र कर्मों के कर्तृत्व से प्रत्येक देह में भेद और वैषम्य होने पर भी आकाश के समान निर्विशेष और अकर्ता आत्मा के भेद में कोई प्रमाण नहीं है – यह पहले कहा जा चुका है ।। 29 ।।

71 इसप्रकार आपाततः क्षेत्रभेददर्शन का अनुमोदन कर क्षेत्रज्ञ-आत्मा के भेददर्शन का निराकरण किया । अब क्षेत्रभेददर्शन भी मायिक है अतएव क्षेत्रभेदज्ञान का निराकरण करते हैं :--

[यह पुरुष जिस समय स्थावर और जङ्गम भूतों के पृथग्भाव को एक आत्मा में ही स्थित देखता है और उसी से ही उन सबके विस्तार को देखता है उस समय वह ब्रह्म हो जाता है ।। 30 ।।]

72 यह पुरुष यदा -- यस्मिन्काले = जिस समय स्थावर -- जङ्गम सभी भूतों के = जड़वर्ग के पृथग्भाव = पृथक्त्व अर्थात् परस्पर भिन्नत्व को एकस्थ = एक ही सद्रूप आत्मा में स्थित -- कल्पित देखता है, क्योंकि कल्पित पदार्थ अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता है, अतः सद्रूप आत्मस्वरूप से अभिन्न-भेदरहित देखता है अर्थात् शास्त्र और आचार्य के उपदेश के अनुसार 'यह सब आत्मा ही है' -- इसप्रकार स्वयं आलोचना करता है । ऐसा होने पर भी मायावश उस एक आत्मा से ही भूतों का विस्तार[76] = पृथग्भाव स्वाप्निक -- मायिक पदार्थों के विस्तार के समान देखता है, तदा -- तस्मिन्काले = उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त होता है = सजातीय विजातीय और स्वगत भेददर्शन -- भेदज्ञान न रहने से सब अनर्थों -- दुःखों से रहित ब्रह्म ही हो जाता है[77] । श्रुति भी कहती है :--

---

76. सर्वप्रपञ्चविस्तारपरक श्रुति है – 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, तदैक्षत, तत्तेजोऽसृजत' – इति ।

77. 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति श्रुतेः ।

'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥' इति श्रुतेः ।

प्रकृत्यैव चेत्यत्राऽऽत्मभेदो निराकृतः, यदा भूतपृथग्भावमित्यत्र त्वनात्मभेदोऽपीति विशेषः ॥30॥

73 आत्मनः स्वतोऽकर्तृत्वेऽपि शरीरसंबन्धोपाधिकं कर्तृत्वं स्यादित्याशङ्कामपनुदन्यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यतीत्येतद्विवृणोति –

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ 31 ॥

74 अयमपरोक्षः परमात्मा परमेश्वराभिन्नः प्रत्यगात्माऽव्ययो न व्येतीत्यव्ययः सर्वविकारशून्य इत्यर्थः। तत्र व्ययो द्वेधा धर्मिस्वरूपस्यैवोत्पत्तिमत्तया वा धर्मिस्वरूपस्यानुत्पाद्यत्वेऽपि धर्माणामेवोत्पत्त्यादिमत्तया वा । तत्राऽऽद्यमपाकरोति - अनादित्वादिति । आदिः प्रागसत्त्वावस्था । सा च नास्ति सर्वदा सत आत्मनः। अतस्तस्य कारणाभावाज्जन्माभावः । न ह्यनादेर्जन्म संभवति । तदभावे च तदुत्तरभाविनो भावविकारा न संभवन्त्येव । अतो न स्वरूपेण व्येतीत्यर्थः ।

75 द्वितीयं निराकरोति–निर्गुणत्वादिति । निर्धर्मकत्वादित्यर्थः । न हि धर्मिणमविकृत्य कश्चिद्धर्म उपैत्यपैति वा धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यादयं तु निर्धर्मकोऽतो न धर्मद्वाराऽपि व्येतीत्यर्थः ।'अविनाशी

"जिस समय ज्ञानी के लिए सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं उस समय उस एकत्व देखनेवाले को क्या मोह और क्या शोक रहता है ?' (ईशावास्योपनिषद्, 7) ।

'प्रकृत्यैव च' – इत्यादि में आत्मभेद का निराकरण किया है । 'यदा भूतपृथग्भावम्' -- इत्यादि में तो अनात्मजडवर्ग के भेद का भी निराकरण किया है -- यह विशेष-भेद है ।। 30 ।।

73 यद्यपि आत्मा में स्वत: कर्तृत्व नहीं है तथापि शरीर के सम्बन्ध से औपाधिक कर्तृत्व तो उसमें हो ही सकता है -- इस आशङ्का की निवृत्ति करते हुए 'य: पश्यति तथाऽत्मानमकर्तारं स पश्यति' -- इसका विवरण करते हैं :--

[हे कौन्तेय ! अनादि होने से और निर्गुण -- गुणातीत होने से यह अव्यय -- अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित हुआ भी न तो कर्म करता है और न उसके फल से ही लिप्त होता है ।। 31 ।।]

74 यह = अपरोक्ष परमात्मा = परमेश्वर से अभिन्न प्रत्यगात्मा 'अव्यय' है । जिसका व्यय -- अपचय नहीं होता है उसको 'अव्यय' कहते हैं अर्थात् सब विकारों से शून्य 'अव्यय' है । उसमें धर्मिस्वरूप की ही उत्पत्तिमत्ता से, अथवा, धर्मिस्वरूप के अनुत्पाद्य होने पर भी धर्मों की ही उत्पत्त्यादिमत्ता से 'व्यय[78]' दो प्रकार का होता है । उनमें प्रथम का निराकरण करते हैं -- 'अनादित्वात्' = 'आदि' प्रागसत्त्वास्था है और वह प्रागसत्त्वावस्था सर्वदा सत्स्वरूप आत्मा में नहीं हैं, अत: कारणाभाव से उसके जन्म का अभाव है, क्योंकि अनादि का जन्म सम्भव नहीं है; तथा जन्म का अभाव होने से उत्तरवर्ती भावविकार भी उसमें सम्भव ही नहीं है, अतः वह परमात्मा स्वरूप से व्ययी-विकारी नहीं है ।

78. 'व्यय' तीन प्रकार का होता है – स्वभावत:, अवयवद्वारक तथा गुणद्वारक । 'स्वभावत: = स्वत:' व्यय तो परब्रह्म में सम्भव ही नहीं है – यह कहने के लिए ही वह 'परमात्मा' है – यह कहा गया है । 'अवयवद्वारक' व्यय भी ब्रह्म में सम्भव नहीं है, क्योंकि वह 'अनादि' है । घटादि आदिमान् होते हैं, क्योंकि वे सावयव हैं, अत: उनमें 'अवयवद्वारक' व्यय देखा जाता है, आत्मा तो अनादिमान् होने से निरवयव ही है, अत: उसमें उक्त व्यय संभव नहीं है । 'गुणद्वारक' व्यय भी ब्रह्म में सम्भव नहीं है, क्योंकि सगुण गुणद्वारक व्यय से व्ययी होता है, यह तो निर्गुण है, अतएव इसमें उक्त व्यय सम्भव नहीं है ।

वा 'अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' इति श्रुतेः । यस्मादेष जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीत्येवं षड्भावविकारशून्य आध्यासिकेन संबन्धेन शरीरस्थोऽपि तस्मिन्कुर्वत्ययमात्मा न करोति, यथाऽऽध्यासिकेन संबन्धेन जलस्थः सविता तस्मिंश्चलत्यपि न चलत्येव तद्वत् । यतो न करोति किंचिदपि कर्म, अतः केनापि कर्मफलेन न लिप्यते । यो हि यत्कर्म करोति स तत्फलेन लिप्यते न त्वयमकर्तृत्वादित्यर्थः । इच्छा द्वेषः सुखं दुःखमित्यादीनां क्षेत्रधर्मत्वकथनात्, प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानीति मायाकार्यत्वव्यपदेशाच्च । अत एव परमार्थदर्शिनां सर्वकर्माधिकार-निवृत्तिरिति प्राग्व्याख्यातम् । एतेनाऽऽत्मनो निर्धर्मकत्वकथनात्स्वगतभेदोऽपि निरस्तः । प्रकृत्यैव च कर्माणीत्यत्र सजातीयभेदो निवारितः, यदा भूतपृथग्भावमित्यत्र विजातीयभेदः, अनादित्वान्निर्गुणत्वादित्यत्र स्वगतो भेद इत्यद्वितीयं ब्रह्मैवाऽऽत्मेति सिद्धम् ॥ 31 ॥

76 शरीरस्थोऽपि तत्कर्मणा न लिप्यते स्वयमसङ्गत्वादित्यत्र दृष्टान्तमाह—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ 32 ॥

75 द्वितीय का निराकरण करते हैं :-- 'निर्गुणत्वात्' = 'निर्धर्मकत्वात्' । कोई धर्म धर्मी को बिना विकृत किये न आता है और न जाता है, क्योंकि धर्म और धर्मी का तादात्म्य सम्बन्ध है । यह आत्मा तो निर्धर्मक है, अत: धर्मद्वारा भी व्यय-क्षीण – विनष्ट नहीं होता है -- यह अर्थ है । श्रुति भी कहती है -- 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' (बृहदारण्यक 5.14) = 'अरे ! यह आत्मा अविनाशी है, क्योंकि इसका कोई भी धर्म उच्छिन्न होनेवाला नहीं हैं । क्योंकि यह जायते = जन्म, अस्ति = अस्तित्व, वर्धते = वृद्धि, विपरिणमते = परिणाम, अपक्षीयते = अपक्षय, तथा विनश्यति = विनाश -- इन छः भावविकारों से शून्य है, इसलिए आध्यासिक सम्बन्ध से शरीर में स्थित हुआ भी उस शरीर के कर्म करने पर भी यह आत्मा उसीप्रकार कर्म नहीं करता है जैसे आध्यासिक सम्बन्ध से जल में स्थित हुआ भी सूर्य उस जल के हिलने-डुलने पर भी हिलता-डुलता ही नहीं है । क्योंकि यह कोई भी कर्म नहीं करता है, इसलिए यह आत्मा किसी कर्मफल से भी लिप्त नहीं होता है, कारण कि जो पुरुष जिस कर्म को करता है वह उस कर्म के फल से लिप्त भी होता है, किन्तु यह आत्मा अकर्त्ता होने से लिप्त नहीं होता है -- यह अर्थ है । पुनः कारण है कि इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख -- इत्यादि को भी क्षेत्र का ही धर्म कहा है तथा 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि' -- इसप्रकार कर्मों को माया का कार्य बताया है । अतएव परमार्थदर्शियों के लिए सब कर्मों के अधिकार से निवृत्ति हो जाती है -- यह पहले कहा जा चुका है । इससे आत्मा के निर्धर्मक होने के कारण उसके स्वगतभेद का भी निराकरण हो जाता है । 'प्रकृत्यैव च कर्माणि' -- यहाँ सजातीयभेद का निराकरण किया है, 'यदा भूतपृथग्भावम्' -- यहाँ विजातीयभेद का निरास किया है तथा 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' -- स्वगतभेद की निवृत्ति की है -- इसप्रकार अद्वितीय ब्रह्म ही आत्मा है -- यह सिद्ध होता है ॥ 31 ॥

76 शरीर में स्थित हुआ भी यह आत्मा उसके कर्म से लिप्त नहीं होता है कारण वह स्वयं असङ्ग = सङ्गरहित है -- इसमें दृष्टान्त देते हैं :--

[जिसप्रकार सर्वगत = सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता है उसीप्रकार देह में सर्वत्र अवस्थित हुआ भी आत्मा उसके कर्म से लिप्त नहीं होता है ॥ 32 ॥]

77 सौक्ष्म्यादसङ्गस्वभावत्वादाकाशं सर्वगतमपि नोपलिप्यते पङ्कादिभिर्यथेति दृष्टान्तार्थः । स्पष्टमितरत् ॥ 32 ॥

78 न केवलमसङ्गस्वभावत्वादात्मा नोपलिप्यते प्रकाशकत्वादपि प्रकाश्यधर्मैर्न लिप्यते इति सदृष्टान्तमाह -

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ 33 ॥

79 यथा रविरेक एव कृत्स्नं सर्वमिमं लोकं देहेन्द्रियसंघातं रूपवद्वस्तुमात्रमिति यावत् प्रकाशयति न च प्रकाश्यधर्मैर्लिप्यते न वा प्रकाश्यभेदाद्भिद्यते, तथा क्षेत्री क्षेत्रज्ञ एक एव कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति हे भारत । अत एव न प्रकाश्यधर्मैर्लिप्यते न वा प्रकाश्यभेदाद्भिद्यत इत्यर्थः ॥

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥'

इति श्रुतेः ॥ 33 ॥

80 इदानीमध्यायार्थं सफलमुपसंहरति–

---

77 सूक्ष्म[79] होने के कारण अर्थात् असङ्ग स्वभाववाला होने के कारण जिसप्रकार सर्वगत भी आकाश पङ्कादि से लिप्त नहीं होता है -- यह दृष्टान्त का अर्थ है । शेष स्पष्ट है ॥ 32 ॥

78 न केवल असङ्गस्वभाववाला होने से ही आत्मा लिप्त नहीं होता है, अपितु प्रकाशक होने से भी वह प्रकाश्य के धर्मों से लिप्त नहीं होता है -- यह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :--

[जिसप्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है उसीप्रकार हे भारत ! एक ही क्षेत्री -- क्षेत्रज्ञ पुरुष सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है ॥ 33 ॥]

79 जिसप्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को = देह और इन्द्रियों के संघात को अर्थात् रूपवान् वस्तुमात्र को प्रकाशित करता है, किन्तु प्रकाश्य के धर्मों से लिप्त नहीं होता है अथवा प्रकाश्य के भेदों से भिन्न नहीं होता है, उसीप्रकार हे भारत[80] ! क्षेत्री =क्षेत्रज्ञ एक ही सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है, अतएव वह प्रकाश्य के धर्मों से लिप्त नहीं होता है अथवा प्रकाश्य के भेदों से भिन्न होता है -- यह अर्थ है । श्रुति भी कहती है :--

"जिसप्रकार सम्पूर्ण लोक का नेत्र सूर्य नेत्रसम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता है, उसीप्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा लोक के दु:ख से लिप्त नहीं होता है, क्योंकि वह उससे बाहर है" ।

80 अब फलसहित अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं :--

---

79. जिसप्रकार एक ही 'भरत' अपने नाम से आप अर्जुनादि भरतवंशियों को प्रकाशित करते हैं उसीप्रकार वह एक अद्वितीय ब्रह्म सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है--यह सूचित करते हुए ही भगवान् ने अर्जुन को हे भारत ! – सम्बोधन से सम्बोधित किया है । अथवा, तुम अर्जुन = शुद्धबुद्धि हो, अतः तुम्हारा चित्त सर्वदा ही 'भा' में = स्वप्रकाश और सर्वप्रकाशक आत्मा में 'रत' है । अत: आत्मा का जो स्वरूपदृष्टान्त उक्त है उसको तुम अनायास ही समझ जाओगे – यह आश्वासन देने के लिए भगवान् ने अर्जुन को यहाँ 'भारत' शब्द से सम्बोधित किया है ।

80. यहाँ 'सूक्ष्म' शब्द का अर्थ 'अप्रतिहत स्वभाव' है अर्थात् वह आत्मा स्वभाव से ही किसी से बद्ध नहीं होता है (आनन्दगिरिटीका) ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ 34 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ 13 ॥

81 क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः प्राग्व्याख्यातयोरेवमुक्तेन प्रकारेणान्तरं परस्परवैलक्षण्यं जाड्यचैतन्य-विकारित्वनिर्विकारित्वादिरूपं ज्ञानचक्षुषा शास्त्राचार्योपदेशजनितात्मज्ञानरूपेण चक्षुषा ये विदुर्भूतप्रकृतिमोक्षं च भूतानां सर्वेषां प्रकृतिरविद्या मायाख्या तस्याः परमार्थात्मविद्यया मोक्षमभावगमनं च ये विदुर्जानन्ति यान्ति ते परं परमार्थात्मवस्तुस्वरूपं कैवल्यं, न पुनर्देहमाददत इत्यर्थः । तदेवममानित्वादिसाधननिष्ठस्य क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकविज्ञानवतः सर्वानर्थनिवृत्त्या परमपुरुषार्थसिद्धिरिति सिद्धम् ॥ 34 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेको नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ 13 ॥

[जो जन इसप्रकार ज्ञानचक्षुओं द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर तथा सब भूतों की कारणभूता माया की निवृत्ति के विषय में जानते हैं वे परम पद को प्राप्त होते हैं ॥ 34 ॥]

81 इसप्रकार = उक्त प्रकार से पूर्वव्याख्यात क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर = जाड्य-चैतन्य, विकारित्व – निर्विकारित्वरूप परस्पर वैलक्षण्य – भेद को ज्ञानचक्षुओं से =शास्त्र और आचार्य के उपदेश से उत्पन्न हुए आत्मज्ञानरूप चक्षुओं से जो जानते हैं तथा भूतप्रकृतिमोक्ष को = सम्पूर्ण भूतों की प्रकृतिभूता – कारणभूता जो माया नाम की अविद्या है उसके परमार्थभूता आत्मविद्या से मोक्ष = अभावगमन को जो जानते हैं वे पर अर्थात् परमार्थ आत्मवस्तुस्वरूप कैवल्य को प्राप्त होते हैं अर्थात् पुनः वे देह ग्रहण नहीं करते हैं । इसप्रकार उस अमानित्वादि-तत्त्वज्ञानसाधनों में निष्ठ, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विवेकज्ञान से युक्त पुरुष को सब अनर्थों-दुःखों की निवृत्तिपूर्वक परमपुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि - प्राप्ति होती है – यह सिद्ध हुआ ॥ 34 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक त्रयोदश अध्याय समाप्त होता है ।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

1 पूर्वाध्याये –

'यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि ॥'

इत्युक्तं तत्र निरीश्वरसांख्यमतनिराकरणेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्येश्वराधीनत्वं वक्तव्यम् । एवं 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इत्युक्तं तत्र कस्मिन्गुणे कथं सङ्गः के वा गुणाः कथं वा ते बध्नन्तीति वक्तव्यम् । तथा 'भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्' इत्युक्तं तत्र भूतप्रकृति-शब्दितेभ्यो गुणेभ्यः कथं मोक्षणं स्यान्मुक्तस्य च किं लक्षणमिति वक्तव्यं, तदेतत्सर्वं विस्तरेण वक्तुं चतुर्दशोऽध्याय आरभ्यते । तत्र वक्ष्यमाणमर्थं द्वाभ्यां स्तुवञ्श्रोतॄणां रुच्युत्पत्तये -

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ 1 ॥

2 ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं परमात्मज्ञानसाधनं परं श्रेष्ठं परवस्तुविषयत्वात् । कीदृशं तत्, ज्ञानानां ज्ञानसाधनानां बहिरङ्गाणां यज्ञादीनां मध्य उत्तममुत्तमफलत्वात्, न त्वमानित्वादीनां तेषामन्त-

1 पूर्व अध्याय में 'जो कुछ भी स्थावर अथवा जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है उसको तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न हुई समझो' -- यह कहा, वहाँ निरीश्वर सांख्यमत[1] के निराकरण से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग ईश्वर के अधीन है -- यह वक्तव्य है । इसीप्रकार 'गुणों का सङ्ग ही इस पुरुष अथवा इस संसार के सत् और असत् योनियों में जन्म लेने का कारण है' -- यह कहा, वहाँ किस गुण में कैसे सङ्ग होता है, अथवा गुण कौन-कौन से हैं, अथवा वे गुण कैसे बाँधते हैं – यह वक्तव्य है । इसी प्रकार 'जो भूतप्रकृतिमोक्ष को जानते हैं वे परम पद को प्राप्त होते हैं' – यह कहा, वहाँ भूतप्रकृतिशब्दित गुणों से कैसे मोक्षण होगा और उनसे मुक्त हुए पुरुष का क्या लक्षण है -- यह वक्तव्य है – इसप्रकार यह सब विस्तारपूर्वक कहने के लिए चौहदवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है । उसमें श्रोताओं की रुचि उत्पन्न करने के लिए वक्ष्यमाण अर्थ की दो श्लोकों से स्तुति करते हुए भगवान् कहते हैं :--
[श्रीभगवान् बोले:-- मैं पुन: ज्ञानों में भी अति उत्तम परम ज्ञान को तुमसे कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजनों ने इस देहबन्धन से मोक्षसंज्ञक परम सिद्धि प्राप्त की थी ॥ 1 ॥]

2 जिससे जाना जाता है वह 'ज्ञान[2]' अर्थात् परमात्मज्ञान का साधन[3] पर – श्रेष्ठ है, क्योंकि वह

---

1. निरीश्वर सांख्य के मतानुसार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ = प्रकृति और पुरुष का संयोग स्वतन्त्ररूप से होकर सृष्टि का कारण होता है ।

2. 'ज्ञानम्' – इस पद में 'ल्युट्' प्रत्यय है, 'ल्युट्' प्रत्यय करण और भाव अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतएव 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' = 'जिससे जाना जाता है वह 'ज्ञान' है' – यह करणव्युत्पत्ति होती है और 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' = 'ज्ञप्ति-बोध ज्ञान है' – यह भावव्युत्पत्ति होती है । प्रकृत में भावव्युत्पत्ति इष्ट नहीं है, किन्तु करणव्युत्पत्ति इष्ट है, क्योंकि भावव्युत्पत्ति करने पर मात्र 'बोधस्वभाव' ज्ञान ही ग्रहण होगा 'अबोधस्वभाव' को ज्ञान नहीं कह सकेंगे, अत: 'बोधस्वभाव' और 'अबोधस्वभाव' – दोनों को ज्ञान कह सकें, एतदर्थ करणव्युत्पत्ति को ही यहाँ स्वीकार करना उचित है, फलत: इससे ज्ञान = साधन का सुख से लाभ होता है ।

3. परमात्मज्ञानसाधन दो प्रकार के हैं – बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग । 'बहिरङ्ग' साधन परम्परा सम्बन्ध से साधन कहलाते

रङ्गत्वेनोत्तमफलत्वात् । परमित्यनेनोत्कृष्टविषयत्वमुक्तम् । उत्तममित्यनेन तूत्कृष्टफलत्वमिति भेदः। ईदृशं ज्ञानमहं प्रवक्ष्यामि भूयः पुनः पूर्वेष्वध्यायेष्वसकृदुक्तमपि यज्ज्ञानं ज्ञात्वाऽनुष्ठाय मुनयो मननशीलाः संन्यासिनः सर्वे परां सिद्धिं मोक्षाख्यामितो देहबन्धनाद्गताः प्राप्ताः ॥ 1 ॥

3 **तस्याः सिद्धेरैकान्तिकत्वं दर्शयति–**

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ 2 ॥

4 **इदं यथोक्तं ज्ञानं ज्ञानसाधनमुपाश्रित्यानुष्ठाय मम परमेश्वरस्य साधर्म्यं मद्रूपतामत्यन्ताभेदेनाऽऽगताः प्राप्ताः सन्तः सर्गेऽपि हिरण्यगर्भादिषूत्पद्यमानेष्वपि नोपजायन्ते । प्रलये ब्रह्मणोऽपि विनाशकाले न व्यथन्ति च न व्यथन्ते न च लीयन्त इत्यर्थः ॥ 2 ॥**

परवस्तुविषयक -- परब्रह्मविषयक है । वह कैसा है ? ज्ञानों = यज्ञादि बहिरङ्ग ज्ञानसाधनों में उत्तम है, क्योंकि उसका फल उत्तम है; न कि अमानित्वादि ज्ञानों में उत्तम है, क्योंकि वे अमानित्वादि तो अन्तरङ्गरूप होने से उत्तम-फलवाले[4] हैं । 'परम्[5]' -- इस शब्द से ज्ञानसाधन की उत्कृष्टविषयता कही गई है । 'उत्तमम्[6]' -- इस शब्द से तो ज्ञानसाधन की उत्कृष्टफलता कही गई है-- यह भेद है । इसप्रकार के ज्ञान को मैं पुन: कहूँगा, यद्यपि पूर्व के अध्यायों में इसको बार-बार कहा गया है । जिस ज्ञान को जानकर अर्थात् जिस ज्ञान का अनुष्ठान कर सब मुनिजन = मननशील संन्यासीजन इत: -- यहाँ से अर्थात् देहबन्धन से मोक्षसंज्ञक परम सिद्धि को प्राप्त हुये थे ॥ 1 ॥

3 उस मोक्षसंज्ञक सिद्धि की ऐकान्तिकता दिखलाते हैं :--

[इस ज्ञान को आश्रय करके = धारण करके मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए पुरुष सर्ग होने पर भी उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलयकाल में भी व्यथित -- लीन नहीं होते हैं ॥ 2 ॥]

4 इस -- यथोक्त ज्ञान = ज्ञानसाधन का आश्रय ग्रहण कर = अनुष्ठान कर मुझ परमेश्वर के साधर्म्य[7] = अत्यन्त अभेद से मद्रूपता को प्राप्त हुए पुरुष सर्ग होने पर भी = हिरण्यगर्भादि के उत्पन्न होने

हैं और 'अन्तरङ्ग' साधन तो साक्षात्सम्बन्ध से साधन होते हैं । पूर्वमीमांसा में ये क्रमश: सन्निपत्योपकारक और आरादुपकारक कहे जाते हैं । 'बहिरङ्ग' साधन यज्ञादि कर्म हैं, कारण कि शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्म के अनुष्ठान से चित्तशुद्धि होती है, तदुपरान्त विविदिषा – जिज्ञासा – ब्रह्मजिज्ञासा होती है, तत्पश्चात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि से जिज्ञासु को ज्ञान प्राप्त होकर मोक्षलाभ होता है । यज्ञादि कर्म साक्षात् भाव से ज्ञानोत्पत्ति में समर्थ नहीं है, किन्तु परम्परा सम्बन्ध से विविदिषा द्वारा तत्त्वज्ञानलाभ में सहायक होते हैं, अत: ये ज्ञान के बहिरङ्गसाधन हैं । 'अन्तरङ्ग' – साधन तो अमानित्वादि ही हैं, क्योंकि ये साक्षात्भाव से तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करते हैं ।

4. प्रकृत में यज्ञादि बहिरङ्ग ज्ञानसाधनों में जो उत्तम ज्ञान है वही कहना इष्ट है, न कि अमानित्वादि अन्तरङ्गसाधनों में परमात्मसाक्षात्कारसाधनरूप ज्ञान, जो कि पूर्व के अध्यायों में बार-बार कहा जा चुका भी है, इष्ट है, क्योंकि वह ब्रह्म का सूक्ष्मरूप होने से दुर्बोध्य है ।

5. उक्त ज्ञान का विषय परमात्मा उत्कृष्ट होने के कारण इसको 'परमज्ञान' कहा है अर्थात् 'परम्' शब्द से ज्ञानसाधन की उत्कृष्टविषयता को कहा है ।

6. उक्त ज्ञान का फल मोक्ष उत्कृष्ट होने के कारण इसको 'उत्तम-ज्ञान' कहा है अर्थात् 'उत्तम' शब्द से ज्ञानसाधन की उत्कृष्टफलता को कहा है ।

7. यहाँ 'साधर्म्य' का अर्थ समानधर्मता नहीं है, क्योंकि गीताशास्त्र में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को स्वीकार नहीं किया गया है, और फिर प्रस्तुत ज्ञानफल को छोड़कर अप्रस्तुत ध्यानफल को स्वीकार करने का प्रसंग होगा ।

5 **तदेवं प्रशंसया श्रोतारमभिमुखीकृत्य परमेश्वराधीनयोः प्रकृतिपुरुषयोः सर्वभूतोत्पत्तिं प्रति हेतुत्वं न तु सांख्यसिद्धान्तवत्स्वतन्त्रयोरितीमं विवक्षितमर्थमाह द्वाभ्याम् -**

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ 3 ॥

6 **सर्वकार्यापेक्षयाऽधिकत्वात्कारणं महत्, सर्वकार्याणां वृद्धिहेतुत्वरूपाद् बृंहणत्वाद्ब्रह्म, अव्याकृतं प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका माया महद्ब्रह्म । तच्च ममेश्वरस्य योनिर्गर्भाधानस्थानं तस्मिन्महति ब्रह्मणि योनौ गर्भं सर्वभूतजन्मकारणमहं 'बहु स्यां प्रजायेय' इतीक्षणरूपं संकल्पं दधामि धारयामि तत्संकल्पविषयीकरोमीत्यर्थः । यथा हि कश्चित्पिता पुत्रमनुशयिनं व्रीह्याद्याहाररूपेण स्वस्मिँल्लीनं शरीरेण योजयितुं योनौ रेतःसेकपूर्वकं गर्भमाधत्ते । तस्माच्च गर्भाधानात्स पुत्रः शरीरेण युज्यते । तदर्थं च मध्ये कललाद्यवस्था भवन्ति । तथा प्रलये मयि लीनमविद्याकामकर्मानुशयवन्तं क्षेत्रज्ञं सृष्टिसमये भोग्येन क्षेत्रेण कार्यकरणसंघातेन योजयितुं चिदाभासाख्यरेतःसेकपूर्वकं मायावृत्तिरूपं गर्भमहमादधामि । तदर्थं च मध्य आकाशवायुतेजोजलपृथिव्याद्युत्पत्त्यवस्थाः । ततो गर्भाधानात्संभव उत्पत्तिः सर्वभूतानां हिरण्यगर्भादीनां भवति हे भारत न त्वीश्वरकृतगर्भाधानं विनेत्यर्थः ॥ 3 ॥**

पर भी उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय = ब्रह्मा का विनाशकाल आने पर भी व्यथित नहीं होते हैं अर्थात् लीन नहीं होते हैं ॥ 2 ॥

5 इसप्रकार की प्रशंसा से श्रोता को श्रवणोन्मुख कर 'परमेश्वर के ही अधीन प्रकृति और पुरुष की सब भूतों की उत्पत्ति के प्रति हेतुता -- कारणता है, न कि सांख्यसिद्धान्त के अनुसार स्वतंत्र प्रकृति और पुरुष सर्वभूतोत्पत्ति के कारण हैं' -- यह विवक्षित अर्थ दो श्लोकों से कहते हैं :--

[हे भारत ! महद्ब्रह्म ही मेरी योनि है, उसमें ही मैं गर्भ स्थापित करता हूँ और उसी से सब भूतों की उत्पत्ति होती है ॥ 3 ॥]

6 सब कार्यों की अपेक्षा अधिक होने से कारण 'महत्[8]' है, सब कार्यों की वृद्धिहेतुत्वरूप बृंहण होने से 'ब्रह्म' है, अत: अव्याकृत, प्रकृति = त्रिगुणात्मिका माया 'महद्ब्रह्म' है । वही मुझ ईश्वर की योनि = गर्भाधान का स्थान है । उस महद्ब्रह्मरूप योनि में गर्भ = सब भूतों के जन्म का कारण मैं 'बहु स्यां प्रजायेय' = 'मैं बहुत हो जाऊँ' -- इस ईक्षणगुण संकल्प को धारण करता हूँ अर्थात् उसको संकल्प का विषय करता हूँ । जैसे कोई पिता व्रीहि-धान आदि आहार के रूप से अपने में लीन अनुशयी[9] पुत्र को शरीर से युक्त करने के लिए योनि में वीर्यसेचनपूर्वक गर्भ का आधान करता है और उस गर्भाधान से वह पुत्र शरीर से युक्त हो जाता है और शरीरार्थ ही मध्य में कललादि अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही प्रलय के समय मुझमें लीन अविद्या, काम, कर्म और अनुशय से युक्त क्षेत्रज्ञ सृष्टि के समय भोग्यरूप क्षेत्र = कार्यकरणसंघात -- देह और इन्द्रियों के संघात से

8. श्रीधरस्वामी के अनुसार देश और काल से परिच्छिन्न न होने के कारण प्रकृति 'महत्' है ।

9. स्वल्पपुण्य जो स्वर्ग में भोगने के योग्य नहीं है उसको 'अनुशय' कहते हैं, इसके साथ पूर्वजन्मकृत कर्मराशि 'अनुशय' है, 'अनुशयाः अस्य सन्ति = अनुशय + इनि = अनुशयिन्' = अनुशयोंवाला 'अनुशयी' कहलाता है । 'अनुशयी' वह कहा जाता है जो शुभ कर्मों से चन्द्रलोक जाकर, स्वर्गसुख का उपभोग कर पुण्यों के क्षीण होने पर पुनः कर्मफल भोगने के लिए पुरुष, स्त्री आदि रूप से मृत्युलोक में आता है । वह अनुशयी अन्न में रहता है, अन्न को पुरुष खाता है, अत: वह आहाररूप से पुरुष में लीन रहता है ।

7 ननु कथं सर्वभूतानां ततः संभवो देवादिदेहविशेषाणां कारणान्तरसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह —

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ 4 ॥

8 देवपितृमनुष्यपशुमृगादिसर्वयोनिषु या मूर्तयो जरायुजाण्डजोद्भिज्जादिभेदेन विलक्षणविविध-संस्थानास्तनवः संभवन्ति हे कौन्तेय तासां मूर्तीनां तत्तत्कारणभावापन्नं महद्ब्रह्मैव योनिर्मातृस्थानीया, अहं परमेश्वरो बीजप्रदो गर्भाधानस्य कर्ता पिता । तेन महतो ब्रह्मण एवावस्थाविशेषाः कारणान्तराणीति युक्तमुक्तं संभवः सर्वभूतानां ततो भवतीति ॥ 4 ॥

9 तदेवं निरीश्वरसांख्यनिराकरणेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्येश्वराधीनत्वमुक्तम् । इदानीं कस्मिन्गुणे कथं सङ्गः के वा गुणाः कथं वा ते बध्नन्तीत्युच्यते सत्त्वमित्यादिनान्यमित्यतः प्राक्चतुर्दशभिः—

संयुक्त करने के लिए चिदाभाससंज्ञक वीर्यसेचनपूर्वक मायावृत्तिरूप गर्भ का मैं आधान करता हूँ और उसके लिए मध्य में आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी आदि की उत्पत्ति की अवस्थाएँ होती हैं और उस गर्भाधान से हिरण्यगर्भादि सब भूतों की उत्पत्ति होती है । हे भारत[10] ! तात्पर्य यह है कि ईश्वरकृत गर्भाधान के बिना उक्त उत्पत्ति नहीं होती है ॥ 3 ॥

7 सब भूतों की उत्पत्ति उससे ही कैसे होती है, क्योंकि देवादि देहविशेषों की उत्पत्ति तो किसी अन्य कारण से भी हो सकती है – ऐसी आशङ्का करके कहते हैं :–
[हे कौन्तेय ! सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ सम्भव होती हैं उन सबकी योनि महद्ब्रह्म ही है और मैं बीज को स्थापन करनेवाला पिता हूँ ॥ 4 ॥]

8 देवता, पितर, मनुष्य, पशु, मृगादि सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ = जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्जादि भेद से विलक्षण विविध संस्थान अर्थात् शरीर सम्भव होते हैं, हे कौन्तेय ! उन मूर्तियों की योनि = मातृस्थानीया – माता उस-उस कारणभाव को प्राप्त महद्ब्रह्म ही है और मैं परमेश्वर बीज को स्थापन करनेवाला = गर्भाधान का कर्ता पिता हूँ । इसप्रकार महद्ब्रह्म की अवस्थाविशेष ही अन्य कारण हैं, अतः यह ठीक ही कहा है कि सब भूतों की उत्पत्ति उससे ही होती है ॥ 4 ॥

9 इसप्रकार निरीश्वर सांख्यमत के निराकरण द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग की ईश्वराधीनता को कहा, अब किस गुण में कैसे सङ्ग होता है, अथवा गुण कौन-कौन से हैं, अथवा वे गुण पुरुष को कैसे बाँधते है – यह 'सत्त्वम्' – इत्यादि से लेकर 'नान्यम्' -- इससे पूर्वतक चौदह श्लोकों से कहा जाता है :–
[हे महाबाहो[11] ! सत्त्व, रज और तम -- ये गुण प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले हैं । ये ही इस अव्यय – अविनाशी – निर्विकार देही को देह में बाँधते हैं ॥ 5 ॥]

10. जिसप्रकार पिता आदि से उत्पन्न हुए भी अर्जुनादि भरत से उद्भव होने के कारण 'भारत' कहलाते हैं उसीप्रकार उस-उस कारण से उत्पन्न हुए भी देवादि ईश्वरकृत गर्भाधान से सम्भव होते हैं – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

11. 'महान्तौ समर्थौ वा जानुप्रलम्बौ बाहू यस्य स महाबाहुस्तस्य संबोधनं हे महाबाहो' ! = महान् अथवा समर्थ आजानु बाहुएँ हैं जिसकी वह महाबाहु है, उसका सम्बोधन है – हे महाबाहो ! 'अहमव्ययः' = 'मैं अव्यय हूँ' – यह ज्ञान ही गुणकृत बन्धन से मुक्ति का साधन है, न कि 'महाबाहुरहम्' -- 'मैं महाबाहु हूँ' – यह अभिमान ज्ञान है, क्योंकि यहाँ बाहुओं की सामर्थ्य अनुपयोगी है प्रत्युत देहाभिमान बन्धन का साधन है – यह बतलाने के लिए भगवान् का उक्त सम्बोधन है ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ 5 ॥

10 सत्त्वं रजस्तम इत्येवंनामानो गुणा नित्यपरतन्त्राः पुरुषं प्रति सर्वेषामचेतनानां चेतनार्थत्वात्, न तु वैशेषिकाणां रूपादिवद्द्रव्याश्रिताः । न च गुणगुणिनोरन्यत्वमत्र विवक्षितं गुणत्रयात्मकत्वात्प्रकृतेः । तर्हि कथं प्रकृतिसंभवा इति, उच्यते - त्रयाणां गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिर्माया भगवतस्तस्याः सकाशात्परस्पराङ्गाङ्गिभावेन वैषम्येण परिणताः प्रकृतिसंभवा इत्युच्यन्ते । ते च देहे प्रकृतिकार्ये शरीरेन्द्रियसंघाते देहिनं देहतादात्म्याध्यासापन्नं जीवं परमार्थतः सर्वविकारशून्यत्वेनाव्ययं निबध्नन्ति निर्विकारमेव सन्तं स्वविकारवत्तयोपदर्शयन्तीव भ्रान्त्या जलपात्राणीव दिवि स्थितमादित्यं प्रतिबिम्बाध्यासेन स्वकम्पादिमत्तया । यथा च पारमार्थिको बन्धो नास्ति तथा व्याख्यातं प्राक् - 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' इति ॥ 5 ॥

11 तत्र को गुणः केन सङ्गेन बध्नातीत्युच्यते -

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ 6 ॥

12 तत्र तेषु गुणेषु मध्ये सत्त्वं प्रकाशकं चैतन्यस्य तमोगुणकृतावरणतिरोधायकं निर्मलत्वात्स्वच्छ-

---

10 सत्त्व, रज और तम -- इसप्रकार के नामवाले गुण पुरुष के प्रति नित्य परतन्त्र हैं, क्योंकि सब अचेतन पदार्थ चेतन के लिए होते हैं, न कि वैशेषिकों के रूपादि के समान द्रव्य के आश्रित हैं[12], और न यहाँ गुण और गुणी का अन्यत्व- भेद भी विवक्षित है, क्योंकि प्रकृति गुणत्रयात्मक है[13] । तो फिर ये गुण 'प्रकृतिसम्भवाः' = 'प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले' कैसे कहे जाते हैं ? तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है, वही भगवान् की माया है, उसके सकाश से परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से विषमरूप से परिणत हुए ये गुण प्रकृतिसम्भव -- प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले कहे जाते हैं । वे गुण देह = प्रकृति के कार्य देहेन्द्रियसंघात में देही = देह के तादात्म्याध्यास से युक्त जीव को -- परमार्थतः सब विकारों से शून्य होने से अव्यय देही को बाँधते हैं = निर्विकार ही उसको भ्रान्तिवश अपनी विकारवत्ता से युक्त दिखलाते-से हैं, जैसे जल के पात्र आकाश में स्थित सूर्य को प्रतिबिम्ब के अध्यास द्वारा अपनी कम्पादिमत्ता से युक्त दिखलाते-से हैं । जीव का यह बन्धन जिसप्रकार पारमार्थिक नहीं है उसप्रकार उसकी व्याख्या पहले 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गीता, 13.31) -- इस श्लोक में की जा चुकी है ॥ 5 ॥

11 उनमें कौन गुण किस सङ्ग से जीव को बाँधते हैं -- यह कहा जाता है :--

[उनमें सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और अनामय = सुख का व्यञ्जक होता है । हे अनघ ! हे निष्पाप ! वह इस जीव को सुखसङ्ग और ज्ञानसङ्ग से बाँधता है ॥ 6 ॥]

12 तत्र = उनमें अर्थात् उन गुणों में सत्त्वगुण निर्मल = स्वच्छ होने के कारण चैतन्य का प्रकाशक =

---

12. सत्त्वादि तीनों गुण वैशेषिकाभिमत रूपादि गुणों के समान द्रव्याश्रित नहीं हैं, उनसे सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि सत्त्वादि में संयोग और विभाग नामक धर्म हैं, संयोगादि धर्मों को धारण करना द्रव्य के लिए सम्भव है, गुणों के लिए नहीं है । अतः सत्त्वादि द्रव्य ही हैं, द्रव्याश्रित गुण नहीं हैं । (सत्त्वादीनि द्रव्याणि न वैशेषिका गुणाः संयोगविभागवत्त्वात् -- सांख्यप्रवचनभाष्य, 1.61) ।

13. यहाँ गुण और गुणी का भेद भी नहीं है, क्योंकि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, त्रिगुणवती नहीं है ।

त्वाच्चिद्बिम्बग्रहणयोग्यत्वादिति यावत् । न केवलं चैतन्याभिव्यञ्जकं किंतु अनामयम् । आमयो दुःखं तद्विरोधि सुखस्यापि व्यञ्जकमित्यर्थः । तद्बध्नाति सुखसङ्गेन च देहिनं हेऽनघाव्यसन । सर्वत्र संबोधनानामभिप्रायः प्रागुक्तः स्मर्तव्यः । अत्र सुखज्ञानशब्दाभ्यामन्तःकरणपरिणामौ तद्व्यञ्जकावुच्येते । 'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः' इति सुखचेतनयो-रपीच्छादिवत्क्षेत्रधर्मत्वेन पाठात् । तत्रान्तःकरणधर्मस्य सुखस्य ज्ञानस्य चाऽऽत्मन्यध्यासः सङ्गोऽहं-सुख्यहं जान इति च । न हि विषयधर्मो विषयिणो भवति । तस्मादविद्यामात्रमेतदिति शतश उक्तं प्राक् ॥ 6 ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ 7 ॥

13 **रज्यते विषयेषु पुरुषोऽनेनेति रागः कामो गर्धः स एवाऽऽत्मा स्वरूपं यस्य धर्मधर्मिणो-स्तादात्म्यात्तद्रागात्मकं रजो विद्धि । अत एवाप्राप्ताभिलाषस्तृष्णा, प्राप्तस्योपस्थितेऽपि विनाशे**

तमोगुणकृत चैतन्य के आवरण का तिरोधायक -- तिरोधान करनेवाला है, क्योंकि वह चित् के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ है । सत्त्वगुण न केवल चेतन का अभिव्यञ्जक ही है, किन्तु अनामय = आमय दु:ख है उसका विरोधी अनामय भी है अर्थात् सुख का भी व्यञ्जक है[14] । हे अनघ[15] ! हे अव्यसन । हे निष्पाप ! वह सत्त्वगुण सुखसङ्ग से देही को बाँधता है । सर्वत्र प्रागुक्त सम्बोधनों का अभिप्राय स्मरण रखना चाहिए । यहाँ 'सुख और ज्ञान' -- शब्दों से उनके व्यञ्जक अन्त:करण के परिणाम कहे गये हैं, क्योंकि 'इच्छा द्वेष: सुखं दु:खं संघातश्चेतना धृति:' (गीता, 13.6) -- इसमें इच्छादि के समान सुख और चेतना को भी क्षेत्र के धर्मरूप से ही कहा गया है । उसमें अन्त:करण के धर्म सुख और ज्ञान का 'अहं सुखी, अहं जाने'='मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानवान् हूँ'-- इसप्रकार आत्मा में अध्यास 'सङ्ग' है, क्योंकि विषय का धर्म विषयी का धर्म नहीं होता है[16] । इसलिए यह अविद्यामात्र है -- यह पहले सैकड़ों बार कह चुके हैं ॥ 6 ॥

[हे कौन्तेय ! तृष्णा और सङ्ग के उत्पत्तिस्थानरूप रजोगुण को तुम रागात्मक जानो । वह देही को कर्मसङ्ग से बाँधता है ॥ 7 ॥]

13 जिससे पुरुष विषयों में रञ्जित होता है उसको राग -- काम अर्थात् गर्ध[17] कहते हैं वही है आत्मा

14. 'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्' (सांख्यकारिका, 13) = सत्त्वगुण लघु-हल्का है अतएव प्रकाशक -- प्रकाश करनेवाला है, वह प्रीत्यात्मक -- सुखात्मक-सुखरूप है ।

15. हे अनघ ! यह सम्बोधन 'सुखादिव्यवसनाभाव सम्पत्ति से सत्त्वप्रयुक्त बन्धन सम्भव नहीं है' -- यह सूचित करता है ।

16. यहाँ शङ्का हो सकती है कि 'अहं सुखी', 'अहं जाने' -- इसप्रकार की प्रतीतियों से तो सुख और ज्ञान आत्मा के ही धर्म सिद्ध होते हैं-- ऐसा नैयायिक कहते हैं, तो यही मत क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है ? इसका उत्तर है कि सुख और ज्ञान अन्त:करण के धर्म हैं, आत्मा के नहीं हैं, आत्मा में तो वे अध्यस्त होते हैं, क्योंकि विषय के धर्म विषयी के धर्म नहीं होते हैं, विषय जडवर्ग है और विषयी आत्मा-चेतन है, अत: जड़ के धर्म चेतन के धर्म नहीं हो सकते हैं, अन्यथा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ -- दोनों में वैलक्षण्य-भङ्ग होगा ।

17. यहाँ 'राग' शब्द कामपरक है, किन्तु 'काम' कन्दर्पबोधक भी है, अतएव उसकी व्यावृत्ति के लिए पुन: 'गर्ध' कहा है जो कि 'गृधु अभिकांक्षायाम्' (दिवादिगण, 132) = 'गृध्' धातु से 'घञ्' अथवा 'अच्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है । यह स्पृहात्मक -- इच्छात्मक है ।

संरक्षणाभिलाष आसङ्गस्तयोस्तृष्णासङ्गयोः संभवो यस्मात्तद्रजो निबध्नाति हे कौन्तेय कर्मसङ्गेन कर्मसु दृष्टादृष्टार्थेषु अहमिदं करोम्येतत्फलं भोक्ष्य इत्यभिनिवेशविशेषेण देहिनं वस्तुतोऽकर्तारमेव कर्तृत्वाभिमानिनं रजसः प्रवृत्तिहेतुत्वात् ॥ 7 ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ 8 ॥

14 **तुशब्दः सत्त्वरजोपेक्षया विशेषद्योतनार्थः । अज्ञानादावरणशक्तिरूपादुद्भूतमज्ञानजं तमो विद्धि । अतः सर्वेषां देहिनां मोहनमविवेकरूपत्वेन भ्रान्तिजनकम् । प्रमादेनाऽऽलस्येन निद्रया च तत्तमो निबध्नाति, देहिनमित्यनुषज्यते, हे भारत । प्रमादो वस्तुविवेकासामर्थ्यं सत्त्वकार्यप्रकाशविरोधी । आलस्यं प्रवृत्त्यसामर्थ्यं रजःकार्यप्रवृत्तिविरोधि । उभयविरोधिनी तमोगुणालम्बना वृत्तिर्निद्रेति विवेकः ॥ 8 ॥**

= स्वरूप जिसका उस रजोगुण को तुम धर्म और धर्मी के तादात्म्य के कारण रागात्मक समझो । अतएव अप्राप्त की अभिलाषा-इच्छारूप 'तृष्णा' है और प्राप्त का विनाश उपस्थित होने पर भी उसको बचाने की अभिलाषा-इच्छारूप 'आसङ्ग' है, उन तृष्णा और आसङ्ग का सम्भव-उद्भव-जन्म होता है जिससे वह तृष्णासङ्गसमुद्भव रजोगुण हे कौन्तेय ! देही को = वस्तुत: अकर्ता ही कर्तृत्वाभिमानी को कर्मसङ्ग से = दृष्ट और अदृष्ट कर्मों में 'अहमिदं करोमि' = 'मैं यह कर्म करता हूँ', 'एतत्फलं भोक्ष्ये' = 'मैं यह फल भोगूँगा' -- इसप्रकार के अभिनिवेश-विशेष से बाँधता है, क्योंकि रजोगुण ही प्रवृत्ति का हेतु है ॥ 7 ॥

[हे भारत ! तमोगुण को तो तुम अज्ञान से उत्पन्न हुआ और सब देहधारियों को मोहनेवाला जानो । वह प्राणियों को प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बाँधता है ॥ 8 ॥]

14 यहाँ 'तु' शब्द 'सत्त्व और रजोगुण की अपेक्षा तमोगुण विशेष-भिन्न है' – यह द्योतित करने के लिए है । तमोगुण को तुम अज्ञानज = आवरणशक्तिरूप[18] अज्ञान से उत्पन्न हुआ समझो । इसी से वह सब देहधारियों को मोहनेवाला[19] -- मोहक अर्थात् अविवेकरूप, होने से भ्रान्तिजनक है । हे भारत ! वह तमोगुण देही को प्रमाद -- अनवधानता, आलस्य और निद्रा से बाँधता है । यहाँ 'देहिनम्' -- अनुषक्त-सम्बद्ध है । 'प्रमाद[20]' वस्तु के विवेक की असमर्थता को कहते हैं, यह सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश का विरोधी है । 'आलस्य[21]' प्रवृत्ति की असमर्थता को कहते हैं, यह रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति का विरोधी है । तमोगुण का आलम्बन करनेवाली वृत्ति 'निद्रा[22]' है, यह सत्त्व के प्रकाश और रजोगुण की प्रवृत्ति -- दोनों की ही विरोधिनी है -- यह विवेक है ॥ 18 ॥

---

18. जो स्वयं परिच्छिन्न होते हुए भी अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप को उसीप्रकार आच्छादित कर देती है जिसप्रकार एक छोटा-सा मेघ का टुकडा अनेक योजन सूर्य को भी ढक लेता है वह अज्ञान की 'आवरणशक्ति है ।

19. 'मोहनं हिताहितादिविवेकप्रतिबन्धकम्' = हिताहितादि के विवेक का प्रतिबन्धक 'मोहन' है ।

20. कार्यान्तर में आसक्ति रहने के कारण चिकीर्षित कर्तव्य न करना 'प्रमाद' है । वस्तुविवेकासामर्थ्यस्वरूप प्रमाद तो उपेक्षणीय है, क्योंकि उक्त अर्थ 'मोहन' के लक्षण में अन्तर्निहित है ।

21. 'निरीहतयोत्साहप्रतिबन्धस्त्वालस्यम्' = निरीहता के कारण कर्म करने के उत्साह के अभाव को 'आलस्य' कहते हैं ।

22. चित्त का अवसादरूप लय 'निद्रा' है (निद्रा चित्तस्यावसादो लय: – श्रीधरीटीका) ।

15 उक्तानां मध्ये कस्मिन्कार्ये कस्य गुणस्योत्कर्ष इति तत्राऽऽह -

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ 9 ॥

16 सत्त्वमुत्कृष्टं सत्सुखे सञ्जयति दुःखकारणमभिभूय सुखे संश्लेषयति । सर्वत्र देहिनमित्यनुषज्यते । एवं रज उत्कृष्टं सत्सुखकारणमभिभूय कर्मणि, सञ्जयतीत्यनुषज्यते । तमस्तु प्रमादबलेनोत्पद्यमानमपि सत्त्वकार्यं ज्ञानमावृत्याऽऽच्छाद्य प्रमादे प्राप्तज्ञायमानताकस्याप्यज्ञाने सञ्जयति उतापि प्राप्तकर्तव्यताकस्याप्यकरण आलस्ये तामस्यां च निद्रायां सञ्जयतीत्यर्थः ॥ 9 ॥

17 उक्तं कार्यं कदा कुर्वन्ति गुणा इत्युच्यते--

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैवं तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ 10 ॥

18 रजस्तमश्च युगपदुभावपि गुणावभिभूय सत्त्वं भवत्युद्भवति वर्धते यदा तदा स्वकार्यं प्रागुक्तमसाधारण्येन करोतीति शेषः । एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयमभिभूयोद्भवति यदा

---

15 उक्त गुणों के मध्य में किस कार्य में किस गुण का उत्कर्ष है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं :-- [हे भारत[23] ! सत्त्वगुण जीव को सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में लगाता है और तमोगुण तो ज्ञान को आवृत करके उसको प्रमाद में भी लगाता है ।। 9 ।]

16 सत्त्वगुण उत्कृष्ट होकर देही – जीव को सुख में लगाता है अर्थात् दु:ख के कारण को अभिभूत कर – दबाकर सुख में संलग्न करता है । यहाँ सर्वत्र 'देहिनम्' – अनुषिक्त संबद्ध है । इसीप्रकार रजोगुण उत्कृष्ट होकर सुख के कारण को दबाकर कर्म में लगाता है – यहाँ 'सञ्जयति' -- संबद्ध है । तमोगुण तो उत्पद्यमान भी सत्त्वगुण के कार्य ज्ञान को प्रमाद के बल से आवृत -- आच्छादित करके प्रमाद में = जिसका ज्ञान अवश्य प्राप्त है उसके अज्ञान में लगाता है, यहाँ 'उत' शब्द 'अपि' अर्थ में प्रयुक्त है अतएव आलस्यादि भी गृहीत है, वह तमोगुण जिसकी कर्तव्यता अवश्य प्राप्त है उसके अकरणरूप आलस्य में और तामसी निद्रा में भी लगाता है -- यह अर्थ है ।। 9 ।।

17 उक्त कार्य को गुण कब करते हैं -- यह कहते हैं :-- [हे भारत[24] ! रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर -- दबाकर सत्त्वगुण होता है अर्थात् बढ़ता है तो वह अपना कार्य करने में समर्थ होता है । इसीप्रकार सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करता है तथा सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करने में समर्थ होता है ।। 10 ।।]

18 रजोगुण और तमोगुण – दोनों ही गुणों को एकसाथ अभिभूत कर – दबाकर सत्त्वगुण जब होता है अर्थात् उसका उद्भव होता है = वह बढ़ता है तब वह असाधारणतापूर्वक प्रागुक्त सुखादि अपने कार्य को करता है । यहाँ 'यदा तदा स्वकार्यं प्रागुक्तमसाधारण्येन करोति'-- इसका अध्याहार है ।

---

23. भरत वंश में उत्पन्न हुए तुम अपने कर्म और कर्मफल में आसक्त नहीं हो यह आश्चर्य है – यह ध्वनित करने के लिए अर्जुन को भगवान् का उक्त सम्बोधन है ।

24. 'हे भारत !' यह सम्बोधन करते हुए भगवान् सूचित करते हैं कि अर्जुन ने भा = आभा – प्रकाश = ब्रह्मविद्या में रत होकर रजोगुण और तमोगुण की तिरोधायिका सत्त्वगुण की वृद्धि का सम्पादन किया है ।

तदा स्वकार्यं प्रागुक्तं करोति । तथा तद्वदेव तमोऽपि सत्त्वं रजश्चेत्युभावपि गुणावभिभूयोद्भवति यदा तदा स्वकार्यं प्रागुक्तं करोतीत्यर्थः ॥ 10 ॥

19 **इदानीमुद्भूतानां तेषां लिङ्गान्याह त्रिभिः--**

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ 11 ॥

20 **अस्मिन्नात्मनो भोगायतने देहे सर्वेष्वपि द्वारेषूपलब्धिसाधनेषु श्रोत्रादिकरणेषु यदा प्रकाशो बुद्धिपरिणामविशेषो विषयाकारः स्वविषयावरणविरोधी दीपवत्, तदेव ज्ञानं शब्दादिविषय उपजायते तदाऽनेन शब्दादिविषयज्ञानाख्यप्रकाशेन लिङ्गेन प्रकाशात्मकं सत्त्वं विवृद्धमुद्भूतमिति विद्याज्जानीयात् । उतापि सुखादिलिङ्गेनापि जानीयादित्यर्थः ॥ 11 ॥**

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ 12 ॥

21 **महति धनागमे जायमानेऽप्यनुक्षणं वर्धमानस्तदभिलाषो लोभः स्वविषयप्राप्त्यनिवर्त्य इच्छाविशेष इति यावत् । प्रवृत्तिर्निरन्तरं प्रयतमानता । आरम्भः कर्मणां बहुवित्तव्ययायासकराणां काम्यनिषि-**

इसीप्रकार रजोगुण भी सत्त्वगुण और तमोगुण -- दोनों गुणों को अभिभूत कर जब होता है --बढ़ता है तब वह प्रागुक्त कर्मादि अपने कार्य को करता है । इसीप्रकार जब तमोगुण भी सत्त्वगुण और रजोगुण -- दोनों गुणों को अभिभूत कर होता है -- बढ़ता है तब वह प्रागुक्त ज्ञानावरणादि अपने कार्य को करता है[25] -- यह अभिप्राय है ।। 10 ।।

19 अब उन उद्‌भूत -- प्रवृद्ध गुणों के चिह्नों को तीन श्लोकों से कहते हैं :--
[जिस समय इस देह में तथा सब द्वारों = अन्त:करण और इन्द्रियों में प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न होता है उस समय सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है -- ऐसा जानो ।। 11 ।।]

20 इस अपने भोगायतन देह में तथा सब द्वारों में = उपलब्धि के साधन श्रोत्रादि करणों -- इन्द्रियों में जब प्रकाश = दीपक के समान अपने विषय के आवरण का विरोधी विषयाकार बुद्धिपरिणामविशेष, वही ज्ञान = शब्दादि विषयक प्रकाश उत्पन्न होता है[26]; तब इस शब्दादिविषयक ज्ञानसंज्ञक प्रकाशरूप लिङ्ग -- चिह्न से यह जानो कि प्रकाशात्मक सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है । 'उत' का प्रयोग 'अपि' अर्थ में हुआ है अतएव 'सुखादि लिङ्ग-चिह्न से भी यह जानो कि सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है' -- यह अर्थ है ।। 11 ।।

[हे भरतर्षभ ! हे भरतकुलश्रेष्ठ ! रजोगुण की वृद्धि होने पर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा -- ये चिह्न उत्पन्न होते हैं ।। 12 ।।]

21 महान् धनागम होने पर भी धन के लिए प्रतिक्षण बढ़ती हुई अभिलाषा 'लोभ' है । अपने विषय की प्राप्ति से भी निवृत्त न होनेवाली इच्छाविशेष 'लोभ' है । 'प्रवृत्ति' निरन्तर प्रयत्न करते रहना

25. 'अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च' (सांख्यकारिका, 12) = ये सत्त्वादि गुण एक दूसरे के अभिभावक, आश्रय बननेवाले, उत्पादक -- परिणाम सहकारी और सहचारी हैं ।

26. भाव यह है कि घट और चक्षु का संयोग होने पर चक्षु द्वारा बुद्धि घटदेश में जाकर घटाकार में परिणत होती है वह बुद्धिपरिणामविशेष ज्ञान है और वही विषय-प्रकाश है उसी में विषय प्रकाशित होता है ।

द्धलौकिकमहागृहादिविषयाणां व्यापाराणामुद्यमः । अशम इदं कृत्वेदं करिष्यामीतिसंकल्पप्रवाहानुपरमः । स्पृहोच्चावचेषु परधनेषु दृष्टमात्रेषु येन केनाप्युपायेनोपादित्सा । रजसि रागात्मके विवृद्ध एतानि रागात्मकानि लिङ्गानि जायन्ते हे भरतर्षभ । एतैर्लिङ्गैर्विवृद्धं रजो जानीयादित्यर्थः ॥ 12 ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ 13 ॥

22 अप्रकाशः सत्यप्युपदेशादौ बोधकारणे सर्वथा बोधायोग्यत्वम् । अप्रवृत्तिश्च सत्यप्यग्निहोत्रं जुहुयादित्यादौ प्रवृत्तिकारणे जनितबोधेऽपि शास्त्रे सर्वथा तत्प्रवृत्त्ययोग्यत्वम् । प्रमादस्तत्कालकर्तव्यत्वेन प्राप्तस्यार्थस्यानुसंधानाभावः । मोह एव च मोहो निद्रा विपर्ययो वा । चौ समुच्चये । एवकारो व्यभिचारवारणार्थः । तमस्येव विवृद्ध एतानि लिङ्गानि जायन्ते हे कुरुनन्दन ! अत एतैर्लिङ्गैरव्यभिचारिभिर्विवृद्धं तमो जानीयादित्यर्थः ॥ 13 ॥

23 इदानीं मरणसमये विवृद्धानां सत्त्वादीनां फलविशेषमाह द्वाभ्याम् –

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ 14 ॥

है । 'आरम्भ' अधिक धनव्यय और प्रयत्नसाध्य-परिश्रमसाध्य काम्य, निषिद्ध, लौकिक महागृहादि विषयक व्यापाररूप कर्मों में उद्यम – उद्योग करना है । 'इदं कृत्वेदं करिष्यामि' = 'यह करकर यह करूँगा' – इसप्रकार के संकल्पप्रवाह का न रुकना 'अशम' है । दूसरों के अधिक या कम धन को देखते ही जिस-किसी उपाय से उसको प्राप्त करने की इच्छा 'स्पृहा' है । हे भरतर्षभ[27] ! हे भरतवंशश्रेष्ठ ! ये रागात्मक लिङ्ग-चिह्न रागात्मक रजोगुण की वृद्धि होने पर उत्पन्न होते हैं अर्थात् इन लिङ्गों-चिह्नों से प्रवृद्ध रजोगुण समझो ।। 12 ।।

[हे कुरुनन्दन ! तमोगुण की ही वृद्धि होने पर अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह – ये चिह्न उत्पन्न होते हैं ।। 13 ।।]

22 'अप्रकाश' बोध-ज्ञान के कारणभूत उपदेशादि के रहने पर भी सर्वथा बोध-ज्ञान की अयोग्यता बनी रहना है । 'अप्रवृत्ति' प्रवृत्ति के कारणभूत 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' – इत्यादि वाक्य से जनित शास्त्रबोध के रहने पर भी उसमें सर्वथा प्रवृत्ति की अयोग्यता रहना है । तत्काल कर्त्तव्यरूप से प्राप्त अर्थ-पदार्थ का अनुसन्धान न होना 'प्रमाद' है । 'मोह' निद्रा अथवा विपर्यय है । यहाँ दो चकार समुच्चय के लिए हैं । 'एव' शब्द व्यभिचार का निवारण करने के लिए है अर्थात् ये चिह्न सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर नहीं होते हैं, किन्तु 'तमस्येव प्रवृद्धे' = तमोगुण की ही वृद्धि होने पर उत्पन्न होते हैं, अतः हे कुरुनन्दन[28] ! इन अव्यभिचारी लिङ्गों से बढ़े हुए तमोगुण को जानो ।। 13 ।।

23 अब मरने के समय बढ़े हुए सत्त्वादि का फलविशेष दो श्लोकों से कहते हैं :–
[जब देहधारी जीव सत्त्वगुण की प्रवृद्धि में प्रलय-मृत्यु को प्राप्त होता है तब तो वह हिरण्यगर्भादि की उपासना करनेवालों के अमल-निर्मल = मलरहित अर्थात् दिव्य लोकों को प्राप्त होता है ।। 14 ।।]

---

27. सभी भरतवंशियों में श्रेष्ठ तुम रजोगुण के चिह्नों का आश्रय लेने के योग्य नहीं हो – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

28. तुम तो उत्तम सात्त्विक वंश में उत्पन्न हुए हो अतएव तमोगुण के चिह्नों का आश्रय ग्रहण करने के योग्य नहीं हो – यह सूचित करने के लिए 'हे कुरुनन्दन !' सम्बोधन है ।

24 सत्त्वे प्रवृद्धे सति यदा प्रलयं मृत्युं याति प्राप्नोति देहभृद्देहाभिमानी जीवः, तदोत्तमा ये हिरण्यगर्भादयस्तद्विदां तदुपासकानां लोकान्देवसुखोपभोगस्थानविशेषानमलान्रजस्तमो-मलरहितान्प्रतिपद्यते प्राप्नोति ॥ 14 ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ 15 ॥

25 रजसि प्रवृद्धे सति प्रलयं मृत्युं गत्वा प्राप्य कर्मसङ्गिषु श्रुतिस्मृतिविहितप्रतिषिद्धकर्मफलाधिकारिषु मनुष्येषु जायते। तथा तद्वदेव तमसि प्रवृद्धे प्रलीनो मृतो मूढयोनिषु पश्वादिषु जायते ॥ 15 ॥

26 इदानीं स्वानुरूपकर्मद्वारा सत्त्वादीनां विचित्रफलतां संक्षिप्याऽऽह–

कर्मणः सुकृतस्याऽऽहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ 16 ॥

27 सुकृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणो धर्मस्य सात्त्विकं सत्त्वेन निर्वृत्तं निर्मलं रजस्तमोमलामिश्रितं सुखं फलमाहुः परमर्षयः । रजसो राजसस्य तु कर्मणः पापमिश्रस्य पुण्यस्य फलं राजसं दुःखं दुःखबहुलमल्पं सुखं कारणानुरूप्यात्कार्यस्य । अज्ञानमविवेकप्रायं दुःखं तामसं तमसस्तामसस्य कर्मणोऽधर्मस्य फलम् । आहुरित्यनुषज्यते । सात्त्विकादिकर्मलक्षणं च नियतं सङ्गरहित-मित्यादिनाऽष्टादशे वक्ष्यति । अत्र रजस्तमःशब्दौ तत्कार्ये कर्मणि प्रयुक्तौ कार्यकारणयोरभे-

24 जब देहधारी = देहाभिमानी जीव सत्त्वगुण के प्रवृद्ध होने पर प्रलय = मृत्यु को प्राप्त होता है तब वह उत्तम जो हिरण्यगर्भादि हैं उनके वेत्ताओं के = उनके उपासकों के अमल = रजोगुण और तमोगुणरूप मल से रहित लोकों को = देवताओं के सुखोपभोग के योग्य स्थानविशेषों को प्राप्त होता है ॥ 14 ॥
[रजोगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त कर वह देहधारी जीव कर्मासक्त जीवों में उत्पन्न होता है तथा तमोगुण की प्रवृद्धि में प्रलीन-मृत्यु को प्राप्त हुआ जीव पशु आदि मूढ़ योनियों में जन्म लेता है ॥ 15 ॥]

25 रजोगुण की प्रवृद्धि होने पर प्रलय = मृत्यु को प्राप्त होकर वह देहधारी जीव कर्मसङ्गी = श्रुति और स्मृति द्वारा विहित एवं निषिद्ध कर्मफल के अधिकारी मनुष्यों में जन्म लेता है तथा उसीप्रकार तमोगुण की वृद्धि होने पर प्रलीन -- मृत जीव पशु आदि मूढ़ योनियों में जन्म लेता है ॥ 15 ॥

26 अब अपने अनुरूप कर्म द्वारा सत्त्वादि गुणों की विचित्रफलता को संक्षेप में कहते हैं :--
[महर्षियों ने सुकृत -- सात्त्विक कर्म का सात्त्विक और निर्मल फल कहा है तथा राजस कर्म का तो फल दु:ख और तामस कर्म का फल अज्ञान कहा है ॥ 16 ॥]

27 सुकृत = सात्त्विक कर्म अर्थात् धर्म का फल महर्षियों ने सात्त्विक = सत्त्वगुण से निर्वृत्त – निष्पन्न और निर्मल = रजोगुण और तमोगुणरूप मल से अमिश्रित -- न मिला हुआ अर्थात् सुख कहा है। रजसः = राजस = पापमिश्रित पुण्य कर्म का फल राजस = दु:ख अर्थात् दु:ख की बहुलता से युक्त अल्पसुख कहा है, क्योंकि कार्य कारण के ही अनुरूप हुआ करता है। तमस: = तामस कर्म अर्थात् अधर्म का फल अज्ञान = अविवेकप्राय तामस दु:ख कहा है । यहाँ 'आहु:'-- यह क्रियापद अनुषिक्त-सम्बद्ध है। सात्त्विकादि कर्मों के लक्षण 'नियतं सङ्गरहितम्' -- इत्यादि से अठारहवें अध्याय में कहेंगे। यहाँ 'रज:' और 'तम:'-- ये दोनों शब्द उनके कार्यभूत कर्मों में प्रयुक्त हुए हैं, क्योंकि कार्य और कारण में अभेद का उपचार होता है। 'गोभि: श्रीणीत मत्सरम्' = 'गो-दुग्ध से मत्सर

दोपचारात् 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' इत्यत्र यथा गोशब्दस्तत्प्रभवे पयसि, यथा वा 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' इत्यत्र धान्यशब्दस्तत्प्रभवे तण्डुले । तत्र पयस्तण्डुलयोरिवात्रापि कर्मणः प्रकृतत्वात् ॥ 16 ॥

28 एतादृशफलवैचित्र्ये पूर्वोक्तमेव हेतुमाह –

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ 17 ॥

29 सर्वकरणद्वारकं प्रकाशरूपं ज्ञानं सत्त्वात्संजायते । अतस्तदनुरूपं सात्त्विकस्य कर्मणः प्रकाशबहुलं सुखं फलं भवति । रजसो लोभो विषयकोटिप्राप्त्याऽपि निवर्तयितुमशक्योऽभिलाषविशेषो जायते । तस्य च निरन्तरमुपचीयमानस्य पूरयितुमशक्यस्य सर्वदा दुःखहेतुत्वात्तत्पूर्वकस्य राजसस्य कर्मणो दुःखं फलं भवति । एवं प्रमादमोहौ तमसः सकाशाद्भवतो जायेते । अज्ञानमेव च भवति । एवकारः प्रकाशप्रवृत्तिव्यावृत्त्यर्थः । अतस्तामसस्य कर्मणस्तामसमज्ञानादिप्रायमेव फलं भवतीति युक्तमेवेत्यर्थः । अत्र चाज्ञानमप्रकाशः । प्रमादो मोहश्चाप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्चेत्यत्र व्याख्यातौ ॥ 17 ॥

30 इदानीं सत्त्वादिवृत्तस्थानां प्रागुक्तमेव फलमूर्ध्वमध्याधोभावेनाऽऽह–

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ 18 ॥

पकाओ– इत्यादि में जैसे – 'गो' शब्द उसके कार्य अर्थात् उससे प्राप्त होने वाले 'दुग्ध' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' = 'तुम धान्य – चावल हो, देवताओं को तृप्त करो' – इत्यादि में जैसे -- 'धान्य' शब्द उससे उत्पन्न होनेवाले 'चावल' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । कारण कि वहाँ जैसे दुग्ध और चावल प्रकरण प्राप्त हैं वैसे ही यहाँ कर्म भी प्रकृत -- प्रकरण प्राप्त है ।। 16 ।।

28 इसप्रकार की फलविचित्रता में पूर्वोक्त हेतु ही कहते हैं :–
[सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ ही उत्पन्न होता है तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान ही होता है ।। 17 ।।]

29 समस्त इन्द्रियोंरूप द्वारवाला प्रकाशरूप ज्ञान सत्त्वगुण से उत्पन्न होता है । अत: उसके अनुरूप सात्त्विक कर्म का फल प्रकाशबहुल सुख होता है । रजोगुण से लोभ = करोड़ों विषयों की प्राप्ति से भी निवृत्ति करने में अशक्य -- असंभव अभिलाषा-इच्छा-विशेष का जन्म होता है और उसके निरन्तर बढ़ते रहने से उसकी पूर्ति करना संभव न होने से, सर्वदा दु:ख का हेतु होने के कारण लोभपूर्वक होनेवाले राजस कर्म का फल दु:ख होता है । इसीप्रकार प्रमाद और मोह तमोगुण से होते हैं तथा इससे अज्ञान ही होता है । यहाँ 'एव' शब्द सात्त्विक प्रकाश और राजसी प्रवृत्ति की व्यावृत्ति के लिए है, अत. तामस कर्म का तामस अज्ञानादिप्राय ही फल होता है अर्थात् यह उचित ही है । यहाँ अज्ञान अप्रकाश है । प्रमाद और मोह -- इन दोनों की व्याख्या 'अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च' -- इत्यादि में की जा चुकी है ।। 17 ।।

30 अब सत्त्वादि -- सात्त्विकादि आचरणों में स्थित पुरुषों का पूर्वोक्त ही फल ऊर्ध्व, मध्य और अधोभाव से कहते हैं :--

31 अत्र तृतीये गुणे वृत्तशब्दप्रयोगादाद्ययोरपि वृत्तमेव विवक्षितम् । तेन सत्त्वस्थाः सत्त्ववृत्ते शास्त्रीये ज्ञाने कर्मणि च निरता ऊर्ध्वं सत्यलोकपर्यन्तं देवलोकं गच्छन्ति ते देवेषूत्पद्यन्ते ज्ञानकर्मतारतम्येन। तथा मध्ये मनुष्यलोके पुण्यपापमिश्रे तिष्ठन्ति न तूर्ध्वं गच्छन्त्यधो वा मनुष्येषूत्पद्यन्ते राजसा रजोगुणवृत्ते लोभादिपूर्वके राजसे कर्मणि निरताः । जघन्यगुणवृत्तस्था जघन्यस्य गुणद्वयापेक्षया पश्चाद्भाविनो निकृष्टस्य तमसो गुणस्य वृत्ते निद्रालस्यादौ स्थिता अधो गच्छन्ति पश्वादिषूत्पद्यन्ते । कदाचिज्जघन्यगुणवृत्तस्थाः सात्त्विका राजसाश्च भवन्त्यत आह - तामसाः सर्वदा तमःप्रधानाः । इतरेषां कदाचित्तद्वृत्तस्थत्वेऽपि न तत्प्रधानतेति भावः ॥ 18 ॥

32 अस्मिन्नध्याये वक्तव्यत्वेन प्रस्तुतमर्थत्रयम् । तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्येश्वराधीनत्वं के वा गुणाः कथं वा ते बध्नन्तीत्यर्थद्वयमुक्तम् । अधुना तु गुणेभ्यः कथं मोक्षणं मुक्तस्य च किं लक्षणमिति वक्तव्यमवशिष्यते । तत्र मिथ्याज्ञानात्मकत्वाद् गुणानां सम्यग्ज्ञानात्तेभ्यो मोक्षणमित्याह –

[सत्त्वगुण में स्थित पुरुष ऊर्ध्व लोकों को जाते हैं, रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्य के लोकों में रहते हैं और जघन्य अर्थात् पश्चाद्भावी निकृष्ट तमोगुण के आचरण में स्थित तामस पुरुष अधोलोकों को जाते हैं ॥ 18 ॥]

31 यहाँ तृतीय गुण के साथ 'वृत्त' शब्द का प्रयोग होने से प्रथम दो गुणों अर्थात् सत्त्वगुण और रजोगुण के साथ भी 'वृत्त' शब्द विवक्षित ही है । अत: सत्त्वस्थ = सत्त्ववृत्त – सात्त्विक आचरण अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान और कर्म में स्थित – निरत-रत पुरुष ऊर्ध्व लोक अर्थात् सत्यलोकपर्यन्त देवलोक को जाते हैं, वे ज्ञान और कर्म के तारतम्य से देवताओं में उत्पन्न होते हैं । तथा राजस = रजोगुण के वृत्त-आचरण अर्थात् लोभादिपूर्वक राजस कर्म में स्थित -- निरत -- तत्पर पुरुष मध्य के लोक अर्थात पुण्य और पाप से मिश्रित मनुष्यलोक में रहते हैं, न कि ऊर्ध्व लोक को जाते हैं, अथवा अधोलोक को जाते हैं, अपितु मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं । तथा जघन्यगुणवृत्तस्थ = जघन्य अर्थात् सत्त्वगुण और रजोगुण की अपेक्षा पश्चाद्भावी निकृष्ट तमोगुण के वृत्त – आचरण निद्रा, आलस्यादि में स्थित पुरुष अधोगति को प्राप्त होते हैं -- अधोलोक को जाते हैं = पशु आदि योनियों में उत्पन्न होते हैं । सात्त्विक और राजस पुरुष कदाचित् जघन्यगुणवृत्तस्थ होते हैं तो इसपर कहते हैं -- 'तामसा:[29]' अर्थात् जो सर्वदा तमःप्रधान हैं वे अधोगति को प्राप्त होते हैं । भाव यह है कि अन्य सात्त्विक और राजस पुरुषों की कदाचित् तामस आचरण में स्थिति होने पर भी उनमें तम:प्रधानता नहीं होती है ॥ 18 ॥

32 इस अध्याय में वक्तव्यरूप से तीन अर्थ प्रस्तुत हुए हैं । उनमें से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग की ईश्वराधीनता तथा गुण कौन-कौन से हैं और वे गुण पुरुष को कैसे बाँधते हैं – ये दो अर्थ कहे जा चुके हैं । अब तो 'गुणों से कैसे मोक्ष होगा और उनसे मुक्त हुए पुरुष का क्या लक्षण है' -- यह वक्तव्य ही अवशिष्ट है । उसमें 'गुण मिथ्याज्ञानस्वरूप है, अत: सम्यग्ज्ञान द्वारा उनसे मोक्ष हो सकता है' – यह कहते हैं :–

29. श्लोकस्थ 'तामसा:' – यह विशेषण सात्त्विक और राजस पुरुषों की व्यावृत्ति करने के लिए है । सात्त्विक और राजस पुरुष भी कदाचित् जघन्यगुणवृत्तस्थ हो जाते हैं तो वे अधोगति को प्राप्त नहीं होते हैं, केवल 'तामसा:' अर्थात् जो सर्वदा तम:प्रधान हैं वे ही अधोगति को प्राप्त होते हैं, कारण कि सात्त्विक और राजस पुरुषों की कदाचित् जघन्यगुणवृत्त में स्थिति होने पर भी उनमें तम:प्रधानता नहीं होती हैं ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ 19 ॥

33 **गुणेभ्यः कार्यकरणविषयाकारपरिणतेभ्योऽन्यं कर्तारं यदा द्रष्टा विचारकुशलः सन्नानुपश्यति विचारमनु न पश्यति गुणा एवान्तःकरणबहिष्करणशरीरविषयभावापन्नाः सर्वकर्मणां कर्तार इति पश्यति । गुणेभ्यश्च तत्तदवस्थाविशेषेण परिणतेभ्यः परं गुणतत्कार्यासंस्पृष्टं तद्भासकमादित्यमिव जलतत्कम्पाद्यसंस्पृष्टं निर्विकारं सर्वसाक्षिणं सर्वत्र समं क्षेत्रज्ञमेकं वेत्ति । मद्भावं मद्रूपतां स द्रष्टाऽधिगच्छति ॥ 19 ॥**

34 **कथमधिगच्छतीत्युच्यते -**

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ 20 ॥

35 **गुणानेतान्मायात्मकांस्त्रीन्सत्त्वरजस्तमोनाम्नो देहसमुद्भवान्देहोत्पत्तिबीजभूतानतीत्य जीवन्नेव तत्त्वज्ञानेन बाधित्वा जन्ममृत्युजरादुःखैर्जन्मना मृत्युना जरया दुःखैश्चाऽऽध्यात्मिकादिभिर्मायामयैर्विमुक्तो जीवन्नेव तत्संबन्धशून्यः सन्विद्वानमृतं मोक्षं मद्भावमश्नुते प्राप्नोति ॥ 20 ॥**

[जब द्रष्टा सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण -- इन तीन गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है और गुणों से परे क्षेत्रज्ञ को जानता है तब वह मद्भाव = मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ 19 ॥]

33 जब पुरुष द्रष्टा = विचारकुशल होकर देह, इन्द्रिय और विषय के आकार में परिणत गुणों से भिन्न अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है -- विचारपूर्वक नहीं देखता है, किन्तु 'अन्त:करण, बहिष्करण -- इन्द्रिय, शरीर, और विषय के स्वरूप को प्राप्त कर गुण ही सब कर्मों के कर्ता हैं' -- ऐसा देखता है । उस-उस अवस्थाविशेष में परिणत गुणों से परे = जल और उसके कम्पादि से असंस्पृष्ट किन्तु उनके प्रकाशक सूर्य के समान गुण और उनके कार्यों से असंस्पृष्ट किन्तु उनके भासक -- प्रकाशक निर्विकार, सर्वसाक्षी, सर्वत्र समान, एक-अद्वितीय क्षेत्रज्ञ को जानता है । तब वह द्रष्टा -- विचारकुशल मद्भावं = मद्रूपता -- मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है[30] ॥ 11 ॥

34 कैसे प्राप्त होता है -- यह कहते हैं :--
[देही जीव देह की उत्पत्ति के बीजभूत इन सत्त्वादि तीन गुणों को पार करके जन्म, मृत्यु और जरारूप दु:खों से विमुक्त होकर अमृतत्व को प्राप्त होता है ॥ 20 ॥]

35 विद्वान् देही जीव देहसमुद्भव = देहोत्पत्ति के बीजभूत इन सत्त्व, रज और तम: संज्ञक तीन मायात्मक गुणों को पार करके = जीवित रहते हुए ही तत्त्वज्ञान से बाधित करके जन्म, मृत्यु और जरारूप दु:खों से जन्म, मृत्यु और जरावस्था से होनेवाले आध्यात्मिकादि मायामय दु:खों से विमुक्त होकर = जीवित रहते हुए ही उनके सम्बन्ध से शून्य होकर अमृत = मोक्ष अर्थात् मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है[31] ॥ 20 ॥

30. वह द्रष्टा पुरुष ब्रह्म रूपता को प्राप्त कर जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त होता है ।
31. विद्वान् द्रष्टा पुरुष आयु तक जीवन्मुक्त का आनन्द प्राप्त करता है तथा देहपात के पश्चात् परमानन्दस्वरूप कैवल्य -- मोक्ष को प्राप्त होता है ।

36 गुणानेतानतीत्य जीवन्नेवामृतमश्नुत इत्येतच्छ्रुत्वा गुणातीतस्य लक्षणं चाऽऽचारं च गुणातीतत्वोपायं च सम्यग्बुभुत्समानः -

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ 21 ॥

37 एतान्गुणानतीतो यः स कैर्लिङ्गैर्विशिष्टो भवति। यैर्लिङ्गैः स ज्ञातुं शक्यस्तानि मे ब्रूहीत्येकः प्रश्नः। प्रभुत्वाद् भृत्यदुःखं भगवतैव निवारणीयमिति सूचयन्संबोधयति - प्रभो इति। क आचारोऽस्येति किमाचारः। किं यथेष्टचेष्टः किं वा नियन्त्रित इति द्वितीयः प्रश्नः। कथं च केन च प्रकारेणैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्ततेऽतिक्रामतीति गुणातीतत्वोपायः क इति तृतीयः प्रश्नः॥21॥

38 स्थितप्रज्ञस्य का भाषेत्यादिना पृष्टमपि प्रजहाति यदा कामानित्यादिना दत्तोत्तरमपि पुनः प्रकारान्तरेण बुभुत्समानः पृच्छतीत्यवधाय प्रकारान्तरेण तस्य लक्षणादिकं पञ्चभिः श्लोकैः —

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ 22 ॥

36 'गुणानेतानतीत्य जीवन्नेवामृतमश्नुते' = 'विद्वान् देही इन सत्त्वादि तीन गुणों को पार करके जीवित रहते हुए ही अमृतत्व -- मोक्ष को प्राप्त होता है' -- यह सुनकर गुणातीत का लक्षण, उसका आचरण और गुणातीत होने का उपाय -- इनको सम्यक् प्रकार से जानने की इच्छा से अर्जुन ने कहा :--

[अर्जुन ने कहा -- हे प्रभो ! इन सत्त्वादि तीन गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन-किन लिङ्गों -- लक्षणों से युक्त होता है ? उसका क्या आचरण होता है ? और वह किस प्रकार अर्थात् किस उपाय से इन तीन गुणों से अतीत होता है ? ॥ 21 ॥]

37 जो पुरुष इन सत्त्वादि तीन गुणों से अतीत हुआ होता है वह किन लिङ्गों[32] -- लक्षणों से विशिष्ट होता है ? अर्थात् जिन लक्षणों से वह जाना जा सकता है उन लक्षणों को मुझसे कहिए -- यह एक प्रश्न है। प्रभु-समर्थ-ईश्वर होने के कारण भृत्य -- सेवक का दु:ख भगवान् के द्वारा ही निवारणीय है = भगवान् को ही दूर करना चाहिए -- यह सूचित करते हुए अर्जुन 'हे प्रभो !' -- यह सम्बोधन करते हैं। 'क आचारोऽस्येति किमाचार:' = उसका क्या आचरण होता है ? क्या वह यथेष्ट चेष्टा करनेवाला होता है ? अथवा, क्या वह नियत चेष्टावान् होता है ? -- यह द्वितीय प्रश्न है। वह कैसे और किसप्रकार से इन तीन गुणों से अतीत होता है ? अर्थात् गुणातीत होने का उपाय क्या है ? -- यह तृतीय प्रश्न है ॥ 21 ॥

38 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (गीता, 2.54) इत्यादि से पृष्ट भी और 'प्रजहाति यदा कामान्' (गीता, 2.55) इत्यादि से दत्तउत्तर -- कृतसमाधान भी पुन: प्रकारान्तर से जिज्ञासु अर्जुन पूछ रहा है -- यह जानकर प्रकारान्तर से भगवान् उस गुणातीत के लक्षणादि को पाँच श्लोकों से कहते हैं :--

32. 'लीनमज्ञातविषयं गमयति ज्ञापयति इति लिङ्गम्' = जिससे अज्ञात विषय ज्ञात होता है वह 'लिङ्ग' या 'लक्षण' या 'चिह्न' कहलाता है।

39 यस्तावत्कैर्लिङ्गैर्युक्तो गुणातीतो भवतीति प्रश्नस्तस्योत्तरं शृणु - प्रकाशं च सत्त्वकार्यं प्रवृत्तिं च रजःकार्यं मोहं च तमःकार्यम् । उपलक्षणमेतत् । सर्वाण्यपि गुणकार्याणि यथायथं संप्रवृत्तानि स्वसामग्रीवशादुद्भूतानि सन्ति दुःखरूपाण्यपि दुःखबुद्ध्या यो न द्वेष्टि । तथा विनाशसामग्री-वशान्निवृत्तानि तानि सुखरूपाण्यपि सन्ति सुखबुद्ध्या न काङ्क्षति न कामयते स्वप्नवन्मिथ्यात्वनिश्चयात् । एतादृशद्वेषरागशून्यो यः स गुणातीत उच्यत इति चतुर्थश्लोक-गतेनान्वयः । इदं च स्वात्मप्रत्यक्षं लक्षणं स्वार्थमेव न परार्थम् । न हि स्वाश्रितौ द्वेषतदभावौ रागतदभावौ च परः प्रत्येतुमर्हति ॥ 22 ॥

[श्रीभगवान् ने कहा -- हे पाण्डव ! जो पुरुष प्रवृत्त हुए प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह में दु:खबुद्धि द्वारा उनसे द्वेष नहीं करता है और निवृत्त हुए प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह में सुखबुद्धि द्वारा उनकी आकांक्षा नहीं करता है वह 'गुणातीत' कहलाता है ॥ 22 ॥]

39 'गुणातीत किन लिङ्गों -- लक्षणों से युक्त होता है' ? तुम्हारा यह जो प्रथम प्रश्न है उसका उत्तर सुनोः-- प्रकाश सत्त्वगुण का कार्य है, प्रवृत्ति रजोगुण का कार्य है और मोह तमोगुण का कार्य है । प्रकाशादि शब्द यहाँ उपलक्षण मात्र हैं । सभी गुणकार्य जैसे-जैसे प्रवृत्त होते हैं स्वसामग्रीवश उद्भूत -- अभिव्याप्त होते हैं अतएव दु:खरूप भी होते हैं, फिर भी जो दु:खबुद्धि द्वारा उनसे द्वेष नहीं करता है । तथा विनाशसामग्रीवश ये निवृत्त होते हैं अतएव सुखरूप होते हैं, उन निवृत्त हुए सुखरूप गुणकार्यों की जो सुखबुद्धि से आकांक्षा -- कामना नहीं करता है, क्योंकि उसने उनको स्वप्न के समान मिथ्या मान रखा है[33] । इसप्रकार के द्वेष और राग से जो शून्य होता है वह 'गुणातीत' कहा जाता है -- इसप्रकार इसका चतुर्थ श्लोक = पच्चीसवें श्लोक के 'गुणातीतः स उच्यते' -- इस वाक्य के साथ अन्वय है । यह गुणातीत का लक्षण[34] स्वात्मप्रत्यक्ष -- अपने आप को प्रत्यक्ष होनेवाला अर्थात् गुणातीत को प्रत्यक्ष होनेवाला लक्षण है अतएव स्वार्थ -- अपने लिए अर्थात् गुणातीत के लिए ही है, परार्थ -- किसी दूसरे के लिए नहीं है, क्योंकि स्वाश्रित -- अपने में रहनेवाले द्वेष और उसके अभाव तथा राग और उसके अभाव को कोई दूसरा नहीं जान सकता है ॥ 22 ॥

33. अभिप्राय यह है कि सत्त्व, रज और तम – इन तीन गुणों के कार्य जैसे-जैसे प्रवृत्त होते हैं – स्वभाववश अपने आप प्राप्त होते हैं, स्वसामग्रीवश विषयरूप से उद्भूत – अभिव्याप्त होते हैं अतएव दु:खरूप होते हैं । 'मुझमें तामसभाव उत्पन्न हो गया है, उससे मैं मोहित हूँ' तथा 'दु:खात्मिका राजसी प्रवृत्ति मुझमें उत्पन्न हो गई है, अत: मैं राजसभाव से कर्म में प्रवृत्त हूँ तथा स्वरूप से विचलित हूँ, इसप्रकार अपनी स्वरूपस्थिति से विचलित होने के कारण मुझको बडा कष्ट है', तथा 'प्रकाशात्मा सात्त्विक गुण मुझको विवेकित्व प्रदान करके और सुख में नियुक्त करके बाँधता है' – इसप्रकार साधारण मनुष्य अतत्त्वदर्शी होने के कारण उन गुणकार्यों को उद्भूत देखकर उनसे द्वेष करता है अर्थात् दु:खबुद्धि से उन सबका परिहार करने के लिए इच्छा करता है, किन्तु गुणातीत पुरुष उनके प्रवृत्त होने पर दु:खबुद्धि द्वारा उनसे द्वेष नहीं करता है । जब ये गुणकार्य उद्भूत होकर निवृत्त – अदर्शनप्राप्त हो जाते हैं तब अज्ञानी पुरुष सुखबुद्धि से उनको 'ये पुन: उद्भूत हों' – ऐसा चाहता है, किन्तु गुणातीत पुरुष उनके निवृत्त होने पर भी उनकी सुखबुद्धि से आकांक्षा-इच्छा नहीं करता है, क्योंकि उसने उनको स्वप्न के समान मिथ्या मान रखा है ।

34. लक्षण दो प्रकार के होते हैं – स्वार्थ और परार्थ । जो मात्र अपने अनुभव से गम्य होता है वह 'स्वार्थ' लक्षण होता है, जैसे -- भूख-प्यास लगने पर खाना-पीना हितकर है । यह अपने में अपने ही से ज्ञात होता है, दूसरे के द्वारा अनुभव इसका नहीं किया जाता है । जो लक्षण दूसरों के लिए होता है वह 'परार्थ' होता है । जैसे – 'गन्धवती पृथिवी' – यह लक्षण सभी के लिए होता है । गन्ध पदार्थ का प्रत्यक्ष सबको होता है । प्रकृत

40 एवं लक्षणमुक्त्वा गुणातीतः किमाचार इति द्वितीयप्रश्नस्य प्रतिवचनमाह त्रिभिः -

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ 23 ॥

41 यथोदासीनो द्वयोर्विवदमानयोः कस्यचित्पक्षमभजमानो न रज्यति न वा द्वेष्टि तथाऽयमात्मविद्रागद्वेषशून्यतया स्वस्वरूप एवाऽऽसीनो गुणैः सुखदुःखाद्याकारपरिणतैर्यो न विचाल्यते न प्रच्याव्यते स्वरूपावस्थानात्, किं तु गुणा एवैते देहेन्द्रियविषयाकारपरिणताः परस्परस्मिन्वर्तन्ते । मम त्वादित्यस्येवैतत्सर्वभासकस्य न केनापि भास्यधर्मेण संबन्धः । स्वप्नवन्मायामात्रश्चायं भास्यप्रपञ्चो जडः स्वयंज्योतिःस्वभावस्त्वहं परमार्थसत्यो निर्विकारो द्वैतशून्यश्चेत्येवं निश्चित्य यः स्वरूपेऽवतिष्ठत्यवतिष्ठते । यो न तिष्ठतीति वा पाठस्तत्र नुः पृथक्कार्यः । नेङ्गते न तु व्याप्रियते कुत्रचित् ।गुणातीतः स उच्यत इति तृतीयगतेनान्वयः ॥ 23 ॥

40 इसप्रकार गुणातीत का लक्षण कहकर 'गुणातीत कैसे आचरणवाला होता है' – इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर तीन श्लोकों से कहते हैं :--

[जो पुरुष उदासीन के समान अपने स्वरूप में आसीन-स्थित रहकर गुणों के द्वारा चलायमान नहीं होता है तथा 'गुण ही गुणों में वर्तते हैं' -- ऐसा समझकर अपने स्वरूप में स्थित रहता है – किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता है वह 'गुणातीत' कहा जाता है ॥ 23 ॥]

41 जैसे कोई उदासीन पुरुष = किन्हीं दो विवाद करनेवाले पुरुषों में से किसी का भी पक्ष न लेनेवाला पुरुष न राग करता है और न द्वेष करता है, वैसे ही यह आत्मवित् राग और द्वेष से शून्य होने के कारण अपने स्वरूप में ही उदासीन -- स्थित रहकर सुख-दु:खादि के आकार में परिणत गुणों से जो विचलित नहीं किया जाता है -- स्वरूपावस्थान होने से प्रच्युत नहीं किया जाता है; किन्तु 'ये गुण ही देह, शरीर और विषय के आकार में परिणत होकर परस्पर -- एक दूसरे में वर्तते हैं, मेरा तो इन सबके भासक-प्रकाशक सूर्य के समान किसी भी भास्य-प्रकाश्य वस्तु के धर्म के साथ सम्बन्ध नहीं है, स्वप्न के समान मायामात्र यह भास्य-प्रकाश्य प्रपञ्च जड है, स्वयंज्योतिःस्वभाव -- स्वयंप्रकाशस्वरूप मैं तो परमार्थसत्य, निर्विकार और द्वैतशून्य हूँ' -- ऐसा निश्चय कर जो स्वरूप में अवस्थित रहता है । अथवा, 'योऽनुतिष्ठति' -- पाठ भी है, वहाँ 'नु' को पृथक् कर 'यो नु तिष्ठति' -- पाठ समझना चाहिए[35] । जो किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता है = कहीं भी व्यापारयुक्त नहीं होता है, वह 'गुणातीत' कहा जाता है -- इसप्रकार इसका तृतीय श्लोक = पच्चीसवें श्लोक के साथ अन्वय है ॥ 23 ॥

में राग-द्वेष आत्मगत हैं, अतः वे मानसप्रत्यक्ष के विषय हैं, राग-द्वेषाभाव भी मानसप्रत्यक्षगम्य हैं । अन्यदीय मानसप्रत्यक्षगम्य राग-द्वेष और उसके अभाव को अन्य नहीं जान सकता है । इसीलिए कहा है – गुणातीत का लक्षण स्वात्मप्रत्यक्ष होने से स्वार्थ ही है ।

35. 'समवप्रविभ्यः स्थः' (पाणिनिसूत्र, 1.3.22) = 'सम्, अव, प्र और वि उपसर्ग पहले होने पर 'स्था' धातु आत्मनेपदी होती है' – इस सूत्र के अनुसार 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'स्था' धातु का रूप 'अवतिष्ठते' होगा, अतः प्रकृत में 'अवतिष्ठते' – यह पाठ ही शुद्ध होगा, किन्तु श्लोक में छन्दोभंग के भय से 'योऽवतिष्ठते' – इस आत्मनेपद के स्थान पर 'योऽवतिष्ठति' – इस परस्मैपद का प्रयोग किया गया है । अथवा, 'योऽवतिष्ठति' – यह परस्मैपद का प्रयोग आर्ष है । अथवा, 'योऽनुतिष्ठति' – यह पाठान्तर भी है । वहाँ 'नु' पृथक् कर 'यो नु तिष्ठति' पाठ समझना चाहिए, क्योंकि प्रकृत में 'तिष्ठति' के साथ स्वयं का ही सम्बन्ध ईप्सित है, 'नु' का वही सम्बन्ध है, 'नु' का सम्बन्ध हटने पर अनुष्ठान की प्रतीति होती है वह शरीरादि साध्य है । इसके अतिरिक्त 'नेङ्गते'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ 24 ॥

42 **समे दुःखसुखे द्वेषरागशून्यतयाऽनात्मधर्मतयाऽनृततया च यस्य स समदुःखसुखः । कस्मादेवं यस्मात्स्वस्थः स्वस्मिन्नात्मन्येव स्थितो द्वैतदर्शनशून्यत्वात् । अत एव समानि हेयोपादेय-भावरहितानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य स तथा । लोष्टः पांसुपिण्डः । अत एव तुल्ये प्रियाप्रिये सुखदुःखसाधने यस्य हितसाधनत्वाहितसाधनत्वबुद्धिविषयत्वाभावेनोपेक्षणीयत्वात् । धीरो धीमान्धृतिमान्वा । अत एव तुल्ये निन्दात्मसंस्तुती दोषकीर्तनगुणकीर्तने यस्य स गुणातीत उच्यत इति द्वितीयगतेनान्वयः ॥ 24 ॥**

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ 25 ॥

43 **मानः सत्कार आदरापरपर्यायः । अपमानस्तिरस्कारोऽनादरापरपर्यायः । तयोस्तुल्यो हर्षविषादशून्यः । निन्दास्तुती शब्दरूपे मानापमानौ तु शब्दमन्तरेणापि कायमनोव्यापार-विशेषाविति भेदः । अत्र पकारवकारयोः पाठविकल्पेऽप्यर्थः स एव । तुल्यो मित्रारिपक्षयोः,**

[जो पुरुष दु:ख और सुख में समान, स्वस्थ = अपने में – अपने स्वरूप में स्थित; लोष्ट -- मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण में समान दृष्टिवाला, प्रिय और अप्रिय के प्रति समान, धैर्यवान् तथा अपनी स्तुति और निन्दा में समान है वह 'गुणतीत' कहा जाता है ॥ 24 ॥]

42 द्वेष और राग से शून्य होने के कारण, अनात्म धर्म होने से -- आत्मधर्म न होने से और अनृत -- असत्य -- मिथ्या होने से समान हैं दु:ख और सुख जिसके लिए वह 'समदु:खसुख' है । ऐसा क्यों है ? क्योंकि 'स्वस्थ' है = द्वैतदर्शनशून्य होने से -- द्वैत दर्शन न होने से स्वस्मिन् -- आत्मनि = अपने आत्मा में ही स्थित है । अतएव लोष्ट -- ढेला, पत्थर और स्वर्ण समान = हेयोपादेयभावरहित हैं जिसके लिए वह 'समलोष्टाश्मकाञ्चन' है । लोष्ट मिट्टी के पिण्ड को कहते हैं । अतएव प्रिय और अप्रिय = सुख और दु:ख के साधन समान हैं जिसके लिए वह हितसाधनत्व, अहितसाधनत्व और बुद्धिविषयत्व के अभाव से उपेक्षणीय होने के कारण धीर = धीमान्-बुद्धिमान् अथवा धैर्यवान् है । अतएव निन्दा और आत्मस्तुति अर्थात् दोषकीर्तन और गुणकीर्तन भी समान हैं जिसके लिए वह 'गुणातीत' कहा जाता है-- इसप्रकार इसका द्वितीय श्लोक = पच्चीसवें श्लोक के साथ अन्वय है ॥ 24 ॥

[जो पुरुष मान और अपमान में समान, मित्र और शत्रु -- दोनों ही पक्षों में समान और सम्पूर्ण आरम्भों का परित्यागी होता है वह 'गुणातीत' कहलाता है ॥ 25 ॥]

43 'मान' सत्कार है, इसका दूसरा पर्याय 'आदर' है । 'अपमान' तिरस्कार है, इसका दूसरा पर्याय 'अनादर' है । उन मान और अपमान -- दोनों में जो तुल्य है अर्थात् हर्षविषादशून्य है[36] । निन्दा

से यहाँ अनुष्ठान-चेष्टा-व्यापार का प्रतिषेध किया गया है, अत: उक्त पाठान्तर में 'नु' को पृथक् करना ही उचित है । अथवा, 'योऽनुतिष्ठति' पाठ ग्रहण करने पर अर्थ होगा – जो सब गुणकार्यों के मिथ्यात्व का निरूपण करने के अनु = अनन्तर – पश्चात् बाधितानुवृत्ति से अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है' ।

36. जो मान-सत्कार-आदर प्राप्त होने पर हर्ष नहीं करता है और अपमान-तिरस्कार-अनादर प्राप्त होने पर विषाद नहीं करता है अर्थात् दोनों अवस्थाओं में समभाव से रहता है अथवा निर्विकार ही रहता है वह 'गुणातीत' कहलाता है ।

मित्रपक्षस्येवारिपक्षस्यापि द्वेषाविषयः स्वयं तयोरनुग्रहनिग्रहशून्य इति वा । सर्वारम्भपरित्यागी, आरभ्यन्त इत्यारम्भाः कर्माणि तान्सर्वान्परित्यक्तुं शीलं यस्य स तथा, देहयात्रामात्रव्यतिरेकेण सर्वकर्मपरित्यागीत्यर्थः । उदासीनवदासीन इत्याद्युक्तप्रकाराचारो गुणातीतः स उच्यते । यदुक्तमुपेक्षकत्वादि तद्विद्योदयात्पूर्वं यत्नसाध्यं विद्याधिकारिणा साधनत्वेनानुष्ठेयमुत्पन्नायां तु विद्यायां जीवन्मुक्तस्य गुणातीतस्योक्तं धर्मजातमयत्नसिद्धं लक्षणत्वेन तिष्ठतीत्यर्थः ॥ 25 ॥

44 **अधुना कथमेतान्गुणानतिवर्तत इति तृतीयप्रश्नस्य प्रतिवचनमाह –**

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ 26 ॥

45 **चस्त्वर्थः । मामेवेश्वरं नारायणं सर्वभूतान्तर्यामिणं मायया क्षेत्रज्ञतामागतं परमानन्दघनं भगवन्तं वासुदेवमव्यभिचारेण परमप्रेमलक्षणेन भक्तियोगेन द्वादशाध्यायोक्तेन यः सेवते सदा चिन्तयति**

और स्तुति – ये दोनों शब्दरूप हैं, किन्तु मान और अपमान – ये दोनों शब्द के बिना भी शरीर और मन के व्यापार विशेष है – यह भेद है[37] । यहाँ पकार और वकार अर्थात् अपमान और अवमान का पाठ विकल्प होने पर भी अर्थ वही है । जो मित्र और शत्रु -- दोनों पक्षों में समान है अर्थात् मित्रपक्ष के समान शत्रुपक्ष के भी द्वेष का विषय नहीं है, अथवा स्वयं ही दोनों पक्षों के प्रति अनुग्रह और निग्रह से शून्य है । जो सर्वारम्भपरित्यागी है = जिनका आरम्भ किया जाता है वे 'आरम्भ' हैं अर्थात् कर्म हैं उन सब कर्मों का प्ररित्याग करने का स्वभाव जिसका है वह 'सर्वारम्भपरित्यागी' है अर्थात् देहयात्रामात्र के अतिरिक्त सब कर्मों का परित्यागी है । 'उदासीनवदासीनः' – इत्यादि से उक्त प्रकार के आचरणोंवाला जो पुरुष है वह 'गुणातीत' कहलाता है । यहाँ जो उपेक्षकत्वादि लक्षण उक्त हैं वे ज्ञानोदय से पूर्व यत्नसाध्य हैं, अतः ज्ञानाधिकारी को साधनरूप से उनका अनुष्ठान करना चाहिए, ज्ञान उत्पन्न होने पर तो गुणातीत जीवन्मुक्त के उक्त धर्मसमूह अयत्नसिद्ध = प्रयत्न के बिना सिद्ध -- स्वतः सिद्ध लक्षण रूप से रहते हैं – यह अर्थ है ॥ 25 ॥

44 अब 'वह गुणातीत कैसे और किसप्रकार से इन गुणों का अतिक्रमण – लंघन करता है' – इस तृतीय प्रश्न का उत्तर कहते हैं :--

[जो पुरुष तो अव्यभिचारी भक्तियोग से मेरा सेवन करता है वह इन गुणों का सम्यक् प्रकार से अतिक्रमण – उल्लंघन कर ब्रह्मभाव -- मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग्य होता है ॥ 26 ॥]

45 यहाँ चकार 'तु' शब्द के अर्थ में है[38] । जो तो ईश्वर, नारायण, सर्वभूतान्र्तयामी, माया से क्षेत्रज्ञता

---

37. यहाँ शङ्का हो सकती है कि पूर्व श्लोक में 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' कहकर पुनः यहाँ 'मानापमानयोः तुल्यः' कहने से पुनरुक्तिदोष है, क्योंकि इन दोनों पदों का अर्थ तो एक ही प्रतीत होता है । इसका समाधान है कि नहीं, दोनों पदों का अर्थ एक न होने से यहाँ कोई पुनरुक्तिदोष नहीं है । निन्दा और स्तुति – ये दोनों शब्दरूप हैं, जबकि मान और अपमान – ये दोनों शब्द के बिना भी शरीर और मन के व्यापारविशेष हैं । यदि वाग्व्यापार से मान और अपमान किया जाता है तो वह निन्दा और स्तुति में ही अन्तर्भूत होगा, इसीलिए मान और अपमान को वाणी का व्यापार न कहकर शरीर और मन का व्यापारविशेष कहा है । इसप्रकार शब्दात्मक और क्रियात्मक भेद से दोनों भिन्न हैं ।

38. यहाँ 'च' शब्द 'तु' = 'किन्तु' के अर्थ में है अर्थात् जो ज्ञानमार्ग का अवलम्बन कर साधन करते हैं वे बहु प्रयत्न से गुणातीत होकर जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त होते हैं, किन्तु मेरा अव्यभिचारी – अनन्य भक्त मेरे अनुग्रह से ही उसी अवस्था को प्राप्त होता है – यह सूचित करने के लिए 'च' शब्द का 'तु' अर्थ में प्रयोग है ।

स मद्भक्त एतान्प्रागुक्तान्गुणान्समतीत्य सम्यगतिक्रम्याद्वैतदर्शनेन बाधित्वा ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभवनाय मोक्षाय कल्पते समर्थो भवति । सर्वदा भगवच्चिन्तनमेव गुणातीतत्वोपाय इत्यर्थः ॥ 26 ॥

46 अत्र हेतुमाह –

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ 27 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ 14 ॥

47 ब्रह्मणस्तत्पदवाच्यस्य सोपाधिकस्य जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतोः प्रतिष्ठा पारमार्थिकं निर्विकल्पकं सच्चिदानन्दात्मकं निरुपाधिकं तत्पदलक्ष्यमहं निर्विकल्पको वासुदेवः प्रतितिष्ठत्यत्रेति प्रतिष्ठा कल्पितरूपरहितमकल्पितं रूपम् । अतो यो मामनुपाधिकं ब्रह्म सेवते स ब्रह्मभूयाय कल्पत इति युक्तमेव ।

48 कीदृशस्य ब्रह्मणः प्रतिष्ठाऽहमित्याकाङ्क्षायां विशेषणानि– अमृतस्य विनाशरहितस्य, अव्ययस्य विपरिणामरहितस्य च, शाश्वतस्यापक्षयरहितस्य च, धर्मस्य ज्ञाननिष्ठालक्षणधर्मप्राप्यस्य, सुखस्य

को प्राप्त, परमानन्दघन, भगवान् वासुदेव मेरा अव्यभिचार = परमप्रेमस्वरूप भक्तियोग[39] से, जो बारहवें अध्याय में कहा गया है, सेवन करता है = सदा चिन्तन करता है वह मेरा भक्त इन प्रागुक्त सभी गुणों का सम्यक् प्रकार से अतिक्रमण कर = अद्वैतदर्शन से इनका बाध कर ब्रह्मभूय = ब्रह्मभवन-ब्रह्मभाव[40] अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग्य = समर्थ होता है । तात्पर्य यह है कि सर्वदा भगवान् का चिन्तन करना ही गुणातीत होने का उपाय है ॥ 26 ॥

46 इसमें हेतु कहते हैं :–
[क्योंकि मैं अव्यय– अविनाशी, अमृत – अविकारी, शाश्वत – नित्य, धर्मस्वरूप, सुखस्वरूप और ऐकान्तिक – अव्यभिचारी ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ ॥ 27 ॥]

47 मैं जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के हेतुभूत, तत्पदवाच्य सोपाधिक ब्रह्म की प्रतिष्ठा अर्थात् पारमार्थिक, निर्विकल्पक, सच्चिदानन्दात्मक निरुपाधिकरूप हूँ अतएव तत्पदलक्ष्यार्थ निर्विकल्पक वासुदेव प्रतिष्ठा = जिसमें वह प्रतिष्ठित है ऐसा कल्पितरूपरहित अकल्पितरूप हूँ । अत: जो निरुपाधिक ब्रह्मरूप मेरा सेवन करता है वह ब्रह्मभूय -- ब्रह्मभाव को प्राप्त करने के लिए योग्य होता है -- यह उचित ही है ।

48 मैं कीदृश– किस प्रकार से ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ – यह आकाङ्क्षा होने पर उसके ये विशेषण हैं–

39. भक्ति का अर्थ है परमप्रेम, उस परमप्रेम से ही भगवान् के साथ योग होता है अर्थात् जीव और ब्रह्म के एकत्व का अनुभव होता है, अतएव यह 'भक्तियोग' कहलाता है । अथवा, भक्ति ही कैवल्यप्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट योग अर्थात् उपाय है, इसलिए भी 'भक्तियोग' कहा जाता है ।

40. 'भाव: स्याद्भवनं भूतिरथ भावयतीति वा' (भावप्रकाशन, प्रथम अधिकार) = 'भाव' भावन = भावित होना अर्थात् जीव और ब्रह्म की एकतानता है । भूति = भवन = जो होता है अर्थात् जिसकी स्थिति – सत्ता है वह 'भाव' है । अथवा, 'भावयति' = जो भावित करता है – व्याप्त करता है वह 'भाव' है । इसीप्रकार 'भूयम्' = होने की स्थिति भी 'भाव' है । अतएव ब्रह्मभूय – ब्रह्मभवन – ब्रह्मभाव समानार्थक ही हैं ।

परमानन्दरूपस्य । सुखस्य विषयेन्द्रियसंयोगजत्वं वारयति— ऐकान्तिकस्याव्यभिचारिणः सर्वस्मिन्देशे काले च विद्यमानस्यैकान्तिकसुखरूपस्येत्यर्थः । एतादृशस्य ब्रह्मणो यस्मादहं वास्तवं स्वरूपं तस्मान्मद्भक्तः संसारान्मुच्यत इति भावः । तथा चोक्तं ब्रह्मणा भगवन्तं श्रीकृष्णं प्रति—

'एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥' इति।

अत्र सर्वोपाधिशून्य आत्मा ब्रह्म त्वमित्यर्थः । शुकेनापि स्तुतिमन्तरेणैवोक्तम् —

'सर्वेषामेव वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः ।
तस्यापि भगवान्कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥' इति ।

सर्वेषामेव कार्यवस्तूनां भावार्थः सत्तारूपः परमार्थो भवति कार्याकारेण जायमाने सोपाधिके ब्रह्मणि स्थितः कारणसत्तातिरिक्तायाः कार्यसत्ताया अनभ्युपगमात् । तस्यापि भवतः कारणस्य सोपाधिकस्य ब्रह्मणो भावार्थः सत्तारूपोऽर्थो भगवान्कृष्णः सोपाधिकस्य निरुपाधिके कल्पितत्वात्, कल्पितस्य चाधिष्ठानानतिरेकात्, भगवतः कृष्णस्य च सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वेन परमार्थसत्यनिरुपाधिब्रह्मरूपत्वात् । अतः किमतद्वस्तु तस्माच्छ्रीकृष्णादन्यद्वस्तु पारमार्थिकं किं निरूप्यतां तदेवैकं पारमार्थिकं नान्यत्किमपीत्यर्थः । तदेतदिहाप्युक्तं ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमिति ।

अमृत = विनाशरहित, अव्यय = विपरिणामरहित, शाश्वत = अपक्षयरहित, धर्म[41] = ज्ञाननिष्ठारूप धर्म से प्राप्य, सुख = परमानन्दरूप; विषय और इन्द्रिय के संयोग से जन्य सुख की व्यावृत्ति के लिए – ऐकान्तिक = अव्यभिचारी अर्थात् सब देश और काल में विद्यमान ऐकान्तिकसुखरूप – एवंरूप-एतादृश -- इसप्रकार के ब्रह्म का जिस कारण मैं वास्तविक स्वरूप हूँ उस कारण से मेरा भक्त संसार से मुक्त होता है -- यह भाव है । इसीप्रकार ब्रह्मा ने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति कहा है :--

"आप पुराण पुरुष, सत्य, स्वयंज्योति – स्वयंप्रकाश, अनन्त, सबके आदि-आद्य, नित्य, अक्षर, नित्यसुखस्वरूप, निरञ्जन, पूर्ण, अद्वय, उपाधियों से मुक्त = निरुपाधि, अमृत – अविनाशी, एकमात्र आत्मा ही हैं ।"

यहाँ तात्पर्य यह है कि आप सब उपाधियों से शून्य आत्मा अर्थात् ब्रह्म हैं । शुकदेव ने स्तुतिमन्तरेण[42] = स्तुति के बिना ही कहा है :--

"सब वस्तुओं के ही भावार्थ = सत्तारूप पारमार्थिक तत्त्व आप सोपाधिक ब्रह्म में स्थित हैं और उसका भी पारमार्थिक तत्त्व भगवान् कृष्ण हैं, अतः उनसे भिन्न कौन सी वस्तु है – बताओ ।"

तात्पर्य यह है कि सब कार्यवस्तुओं के ही भावार्थ = सत्तारूप परमार्थ आप में = कार्यरूप में उत्पन्न हुए सोपाधिक ब्रह्म में स्थित है, क्योंकि कारणसत्ता से अतिरिक्त कार्यसत्ता स्वीकार नहीं की गई है । उस आप कारणभूत सोपाधिक ब्रह्म का भी भावार्थ = सत्तारूप अर्थ भगवान् कृष्ण हैं, क्योंकि सोपाधिक निरुपाधिक में कल्पित होता है और कल्पित वस्तु अधिष्ठान से अतिरिक्त नहीं होता है तथा भगवान् कृष्ण सब कल्पनाओं के अधिष्ठान होने से परमार्थ सत्य निरुपाधिक ब्रह्मरूप ही हैं ।

41. यहाँ 'धर्म' शब्द ज्ञाननिष्ठास्वरूप धर्म से प्राप्यपरक है, मीमांसा में उक्त धर्मपरक नहीं है, अन्यथा स्वर्गादि के समान मोक्ष भी कर्मफल होने से अनित्य होगा ।

42. स्तावक वाक्य का स्वार्थ प्रमाण नहीं होता है, अतः प्रकृत में 'स्तुतिमन्तरेण' वास्तविकार्थ का निरूपणपरक है ।

49 अथवा त्वद्भक्तस्त्वद्भावमाप्नोतु नाम कथं नु ब्रह्मभावाय कल्पते ब्रह्मणः सकाशात्तवान्यत्वादित्या-शङ्क्याऽऽह–ब्रह्मणो हीति । ब्रह्मणः परमात्मनः प्रतिष्ठा पर्याप्तिरहमेव नतु मद्भिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः । तथाऽमृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य चाव्ययस्य सर्वथाऽनुच्छेद्यस्य च प्रतिष्ठाऽहमेव । मय्येव मोक्षः पर्यवसितो मत्प्राप्तिरेव मोक्ष इत्यर्थः । तथा शाश्वतस्य नित्यमोक्षफलस्य धर्मस्य ज्ञाननिष्ठालक्षणस्य च पर्याप्तिरहमेव । ज्ञाननिष्ठालक्षणो धर्मो मय्येव पर्यवसितो न तेन मद्भिन्नं किंचित्प्राप्यमित्यर्थः । तथैकान्तिकस्य सुखस्य च पर्याप्तिरहमेव परमानन्दरूपत्वान्न मद्भिन्नं किंचित्सुखं प्राप्यमस्तीत्यर्थः । तस्माद्युक्तमेवोक्तं मद्भक्तो ब्रह्मभूयाय कल्पत इति ॥ 27 ॥

50 पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति । सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां प्रकृतिगुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ 14 ॥

अतः कौन सी वस्तु है जो वह नहीं है अर्थात् श्रीकृष्ण से भिन्न पारमार्थिक वस्तु कौन सी है -- कहो, वही एक पारमार्थिक वस्तु है, उससे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है । तब यह यहाँ भी कहा गया है -- 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' = 'मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ' ।

49 अथवा, 'आपका भक्त त्वद्भाव = आपके भाव को भले ही प्राप्त करे, वह ब्रह्मभाव = मोक्ष के लिए कैसे योग्य-समर्थ होता है, क्योंकि आप तो ब्रह्म से भिन्न ही हैं' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका होने पर भगवान् कहते हैं – 'ब्रह्मणो हि' -- इत्यादि । ब्रह्म = परमात्मा की प्रतिष्ठा = पर्याप्ति – पर्यवसान मैं ही हूँ, न कि मुझसे भिन्न ब्रह्म है -- यह अर्थ है। इसीप्रकार अमृत = अमृतत्व – मोक्ष और अव्यय = सर्वथा अनुच्छेद्य की प्रतिष्ठा मैं ही हूँ । मुझमें ही मोक्ष पर्यवसित होता है अर्थात् मेरी प्राप्ति ही मोक्ष है । इसीप्रकार शाश्वत = नित्यमोक्षरूप फल और ज्ञाननिष्ठारूप धर्म की पर्याप्ति मैं ही हूँ अर्थात् ज्ञाननिष्ठारूप धर्म मुझमें ही पर्यवसित होता है, अतः मुझसे भिन्न कोई अन्य प्राप्तव्य वस्तु नहीं है – यह अर्थ है । इसीप्रकार ऐकान्तिक सुख की पर्याप्ति भी मैं ही हूँ, क्योंकि मैं परमानन्दरूप हूँ । भाव यह है कि मुझसे भिन्न कोई अन्य सुख प्राप्तव्य नहीं है । अतः उचित ही कहा है कि मेरा भक्त ब्रह्मभूय – ब्रह्मभाव को प्राप्त करने के लिए योग्य-- समर्थ होता है ॥ 27 ॥

50 जिसने नमन् = झुके हुए – शिथिल हुए कल्पित बन्ध = संसारबन्ध को निवृत्त कर दिया है उस नराकृति परब्रह्म, सौन्दर्य के सारसर्वस्व नन्दनन्दनरूप तेज- श्यामतेज की मैं वन्दना करता हूँ ।

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का गुणत्रयविभागयोग नामक चतुर्दश अध्याय समाप्त होता है ।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

1 **पूर्वाध्याये भगवता संसारबन्धहेतून्गुणान्व्याख्याय तेषामत्ययेन ब्रह्मभावो मोक्षो मद्भजनेन लभ्यत इत्युक्तम् -**

"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते । इति ॥"

तत्र मनुष्यस्य तव भक्तियोगेन कथं ब्रह्मभाव इत्याशङ्कायां स्वस्य ब्रह्मरूपताज्ञापनाय सूत्रभूतोऽयं श्लोको भगवतोक्तः -

"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च । इति ॥'

अस्य सूत्रस्य वृत्तिस्थानीयोऽयं पञ्चदशोऽध्याय आरभ्यते, भगवतः श्रीकृष्णस्य हि तत्त्वं ज्ञात्वा तत्प्रेमभजनेन गुणातीतः सन्ब्रह्मभावं कथमाप्नुयाल्लोक इति ।

2 **तत्र ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमित्यादिभगवद्वचनमाकर्ण्य मम तुल्यो मनुष्योऽयं कथमेवं वदतीति विस्मयाविष्टमतिभयाल्लज्जया च किंचिदपि प्रष्टुमशक्नुवन्तमर्जुनमालक्ष्य कृपया स्वस्वरूपं विवक्षुः--**

---

1 पूर्व अध्याय में भगवान् ने संसार के बन्धन के हेतु सत्त्वादि तीन गुणों की व्याख्या कर उनके अतीत से मेरे भजन द्वारा ब्रह्मभाव -- मोक्ष प्राप्त होता है -- यह कहा :--

"जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोग से मेरा सेवन करता है वह इन सत्त्वादि तीन गुणों का सम्यक् -- प्रकार से अतिक्रमण -- उल्लंघन कर ब्रह्मभूय = ब्रह्मभाव-मोक्ष को प्राप्त करने के लिए योग्य -- समर्थ होता है" ।

वहाँ 'मनुष्य आपके भक्तियोग से ब्रह्मभाव को कैसे प्राप्त होता है' -- ऐसी आकांक्षा होने पर अपनी ब्रह्मरूपता ज्ञापित करने के लिए भगवान् ने सूत्र[1]भूत यह श्लोक कहा --

'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (गीता, 14.27)

मैं अव्यय - अविनाशी, अमृत - अविकारी, शाश्वत - नित्य, धर्मस्वरूप, सुखस्वरूप और अव्यभिचारी ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ' ।

अब इस सूत्र का वृत्ति[2]स्थानीय यह पन्द्रहवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है, इसलिए कि लोक भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानकर उनके प्रेमभजन से गुणातीत होकर ब्रह्मभाव को किसी प्रकार प्राप्त करे ।

2 उसमें 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' = 'मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ' -- इत्यादि भगवान् के वचन सुनकर 'यह तो मेरे समान मनुष्य ही हैं, ऐसा कैसे कहते हैं' -- इस विस्मय-आश्चर्य से आविष्ट-आकुल होकर अत्यन्त भय और लज्जा के कारण कुछ भी न पूछ सकते हुए अर्जुन को समझकर कृपापूर्वक उसको अपना स्वरूप बतलाने की इच्छा से भगवान् ने कहा :--

---

1. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

2. सूत्रस्यार्थविवरणं वृत्तिः ।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ 1 ॥

3 **तत्र विरक्तस्यैव संसाराद्भगवत्तत्त्वज्ञानेऽधिकारो नान्यथेति पूर्वाध्यायोक्तं परमेश्वराधीनप्रकृतिपुरुषसंयोगकार्यं संसारं वृक्षरूपकल्पनया वर्णयति वैराग्याय प्रस्तुतगुणातीतत्वोपायत्वात्तस्य -**

4 **ऊर्ध्वमुत्कृष्टं मूलं कारणं स्वप्रकाशपरमानन्दरूपत्वेन नित्यत्वेन च ब्रह्म । अथवोर्ध्वं सर्वसंसारबाधेऽप्यबाधितं सर्वसंसारभ्रमाधिष्ठानं ब्रह्म तदेव मायया मूलमस्येत्यूर्ध्वमूलम् । अध इत्यर्वाचीनाः कार्योपाधयो हिरण्यगर्भाद्या गृह्यन्ते । ते नानादिक्प्रसृतत्वाच्छाखा इव शाखा अस्येत्यधःशाखम् । आशुविनाशित्वेन च श्वोऽपि स्थातेति विश्वासानर्हमश्वत्थं मायामयं संसारवृक्षमव्ययमनाद्यनन्तदेहादिसंतानाश्रयमात्मज्ञानमन्तरेणानुच्छेद्यमनन्तमव्ययमाहुः श्रुतयः स्मृतयश्च । श्रुतयस्तावत् - 'ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' इत्याद्याः कठवल्लीषु पठिताः । अर्वाञ्चो निकृष्टाः कार्योपाधयो महदहंकारतन्मात्रादयो वा शाखा अस्येत्यर्वाक्शाख इत्यधःशाखपदसमानार्थं, सनातन इत्यव्ययपदसमानार्थम् ।**

[श्रीभगवान् ने कहा :-- जिसका ऊर्ध्व – ऊपर की ओर मूल है और अध: – नीचे की ओर शाखाएँ हैं तथा छन्द जिसके पत्ते हैं उस संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष को श्रुति और स्मृतियाँ अव्यय-अविनाशी कहती हैं । जो उसको जानता है वह वेदवित् है ॥ 1 ॥]

3 वहाँ संसार से विरक्त पुरुष का ही भगवान् के तत्त्वज्ञान में अधिकार है, अन्यथा नहीं -- इस पूर्व अध्याय में उक्त ईश्वराधीन प्रकृति और पुरुष के संयोग के कार्य संसार का वृक्षरूप की कल्पना से वैराग्योत्पत्ति के लिए वर्णन करते हैं, क्योंकि वह प्रस्तुत गुणातीतत्व का उपाय है ।

4 ऊर्ध्व = उत्कृष्ट मूल कारण = स्वप्रकाशपरमानन्दरूप होने से और नित्य होने से ब्रह्म है । अथवा, ऊर्ध्व = सम्पूर्ण संसार का बाध होने पर भी अबाधित, सम्पूर्ण संसाररूप भ्रम का अधिष्ठान ब्रह्म है वही माया द्वारा इस जगत् का मूल है अतएव 'ऊर्ध्वमूल' है । 'अध:' – इससे अर्वाचीन हिरण्यगर्भादि कार्योपाधियाँ ग्रहण की जाती हैं । वे अनेक दिशाओं में फैली हुई हैं, अत: शाखाओं के समान इसकी शाखाएँ हैं अतएव यह 'अध:शाख' है । आशुविनाशी – शीघ्र विनाशी होने से यह श्व: = कल-सुबह भी स्थित रहनेवाला नहीं है, अत: यह विश्वास के अयोग्य -- अविश्वसनीय अश्वत्थ[3] मायामय संसारवृक्ष अव्यय = अनादि और अनन्त देहादिसंतान का आश्रय, आत्मज्ञान के बिना अनुच्छेद्य – उच्छिन्न न होनेवाला – अनन्त अर्थात् अव्यय-अविनाशी है -- ऐसा श्रुति और स्मृतियाँ कहती हैं । श्रुतियाँ हैं – 'ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख: एषोऽश्वत्थ: सनातन:' = 'ऊर्ध्व मूलवाला और अर्वाक् शाखाओंवाला यह अश्वत्थ सनातन है' -- इत्यादि कठवल्ली में पठित है । इसकी महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ आदि कार्योपाधियाँ अर्वाक् -- निकृष्ट शाखाएँ हैं अतएव यह 'अर्वाक्शाख' है -- यह प्रकृत में उक्त 'अध:शाखम्' पद के समान अर्थवाला है और यहाँ 'सनातन' पद प्रकृत में उक्त 'अव्यय' पद के समान अर्थवाला है ।

---

3. न श्वस्तिष्ठति – इति अश्वत्थम् ।

5 **स्मृतयश्च -**

"अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः ।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः ॥
महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा ।
धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः ॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।
एतद्ब्रह्मवनं चास्य ब्रह्माऽऽचरति साक्षिवत् ।
एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना ।
ततश्चाऽऽत्मगतिं प्राप्य तस्मान्नाऽऽवर्तते पुनः । इत्यादयः'

6 **अव्यक्तमव्याकृतं मायोपाधिकं ब्रह्म तदेव मूलं कारणं तस्मात्प्रभवो यस्य स तथा । तस्यैव मूलस्याव्यक्तस्यानुग्रहादतिदृढत्वादुत्थितः संवर्धितः । वृक्षस्य हि शाखाः स्कन्धादुद्भवन्ति । संसारस्य च बुद्धेः सकाशान्नानाविधाः परिणामा भवन्ति । तेन साधर्म्येण बुद्धिरेव स्कन्धस्तन्मयस्तत्प्रचुरोऽयम् । इन्द्रियाणामन्तराणि च्छिद्राण्येव कोटराणि यस्य स तथा । महान्ति**

---

5 इसीप्रकार स्मृतियाँ हैं –
"इस संसारवृक्ष का मूल अव्यक्त है, अव्यक्तरूप ब्रह्म से ही यह संसार उत्पन्न हुआ है, उसी के अनुग्रह से उत्थित – वर्धित हुआ है । बुद्धि इस संसारवृक्ष की शाखा – प्रधान शाखा – स्कन्धमय है, इन्द्रियाँ इसके अन्दर के कोटर हैं, पंचमहाभूत इसकी विशाखाएँ – विविध शाखाएँ हैं, शब्दादि पंचविषय इसके पत्ते हैं, धर्म और अधर्म इसके सुन्दर पुष्प हैं, सुख और दु:ख इसके फल हैं । यह ब्रह्मवृक्ष सनातन है, सब भूतों का आजीव्य – जीविकानिर्वाह का आश्रय है । यह ब्रह्मवन है अर्थात् जीवरूपी ब्रह्म का वन है, किन्तु ब्रह्म सदा ही साक्षीवत् इसमें अवस्थित रहता है । इस संसारवृक्ष का ज्ञानरूपी श्रेष्ठ खड्ग द्वारा छेदन – भेदन करके अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- ऐसे अत्यन्त सुदृढ़ ज्ञानखड्ग से उसको समूल काटकर आत्मा में गति – रतिलाभ करके उस आत्मस्वरूप मोक्षपद से पुन: संसार में आवृत्ति नहीं होती" – इत्यादि ।

6 अव्यक्त = अव्याकृत अर्थात् मायोपाधिक ब्रह्म है, वही जिसका मूल -- कारण है, उसी से जिसका प्रभव -- जन्म होता है वह 'अव्यक्तमूलप्रभव' है । उस मूल अव्यक्त के ही अनुग्रह से अत्यन्त दृढ़ होने के कारण यह उत्थित – संवर्धित हुआ है । क्योंकि वृक्ष की शाखाएँ स्कन्ध[4] से ही उत्पन्न होती है और संसार के अनेक प्रकार के परिणाम बुद्धि से ही होते हैं, इसलिए इस साधर्म्य से बुद्धि ही स्कन्धमय है । 'स्कन्ध' शब्द से 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पाणिनिसूत्र, 5.4.21) – इस सूत्र के अनुसार प्राचुर्य अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय होकर 'स्कन्धमय' शब्द निष्पन्न हुआ है, अत: 'स्कन्धमय: = स्कन्धस्तन्मयस्तत्प्रचुरोऽयम्' = 'स्कन्धमय' का अर्थ स्कन्धप्रचुर है । इन्द्रियों के अन्तर -- छिद्र ही जिसके कोटर[5] हैं वह ऐसा है । आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त महाभूत जिसकी विविध शाखाएँ

---

4. 'अस्त्री प्रकाण्ड: स्कन्ध: स्यान्मूलाच्छाखावधिस्तरो:' (अमरकोश, 2.4.10) = 'प्रकाण्ड और स्कन्ध वृक्ष की शाखाओं के मूल-जड़ के नाम हैं' – इस कोश के अनुसार वृक्ष में जहाँ से शाखाएँ निकलती हैं – उत्पन्न होती हैं उसको 'स्कन्ध' कहते हैं ।

5. 'निष्कुह: कोटरं वा ना' (अमरकोश, 2.4.13) – द्वे वृक्षादिरन्ध्रस्य (रामाश्रमी) = 'निष्कुह और कोटर वृक्ष के रन्ध्र-छिद्र के नाम हैं' -- इस कोश के अनुसार वृक्ष में जो छिद्र होते हैं वे 'कोटर' कहलाते हैं ।

भूतान्याकाशादीनि पृथिव्यन्तानि विविधाः शाखा यस्य विशाखः स्तम्भो यस्येति वा । आजीव्य उपजीव्यः । ब्रह्मणा परमात्मनाऽधिष्ठितो वृक्षो ब्रह्मवृक्षः । आत्मज्ञानं विना छेत्तुमशक्यतया सनातनः । एतद्ब्रह्मवनमस्य ब्रह्मणो जीवरूपस्य भोग्यं वननीयं संभजनीयमिति वनं ब्रह्म साक्षिवदाचरति न त्वेतत्कृतेन लिप्यत इत्यर्थः । एतद्ब्रह्मवनं संसारवृक्षात्मकं छित्त्वा च भित्त्वा चाहं ब्रह्मास्मीत्यतिदृढज्ञानखड्गेन समूलं निकृत्येत्यर्थः आत्मरूपां गतिं प्राप्य तस्मादात्मरूपान्मोक्षान्नाऽऽवर्तत इत्यर्थः । स्पष्टमितरत् ।

7 **अत्र च गङ्गातरङ्गनुद्यमानोत्तुङ्गतत्तीरतिर्यङ्निपतितमर्धोन्मूलितं मारुतेन महान्तमश्वत्थमुपमानीकृत्य जीवन्तमियं रूपककल्पनेति द्रष्टव्यम् । तेन नोर्ध्वमूलत्वाधःशाखत्वाद्यनुपपत्तिः । यस्य मायामयस्याश्वत्थस्य च्छन्दांसि च्छादनात्तत्त्ववस्तुप्रावरणात्संसारवृक्षरक्षणाद्वा कर्मकाण्डानि ऋग्यजुःसामलक्षणानि पर्णानीव पर्णानि, यथा वृक्षस्य परिरक्षणार्थानि पर्णानि भवन्ति तथा संसारवृक्षस्य परिरक्षणार्थानि कर्मकाण्डानि धर्माधर्मतद्धेतुफलप्रकाशनार्थत्वात्तेषाम् । यस्तं यथाव्याख्यातं समूलं संसारवृक्षं मायामयमश्वत्थं वेद जानाति स वेदवित्कर्मब्रह्माख्यवेदार्थवित्स एवेत्यर्थः । संसारवृक्षस्य हि मूलं ब्रह्म हिरण्यगर्भादयश्च जीवाः शाखास्थानीयाः । स च संसारवृक्षः स्वरूपेण विनश्वरः प्रवाहरूपेण चानन्तः । स च वेदोक्तैः कर्मभिः सिच्यते ब्रह्मज्ञानेन**

हैं, अथवा जिसके विशाख-शाखाहीन स्तम्भ - स्कन्ध है वह 'महाभूतविशाख' है । यह ब्रह्मवृक्ष है = ब्रह्म-परमात्मा से अधिष्ठित वृक्ष है जो सब भूतों का आजीव्य - उपजीव्य है । यह आत्मज्ञान के बिना छेदन के योग्य न हो सकने से सनातन है । यह ब्रह्मवन[6] है -- इस जीवरूप ब्रह्म का भोग्य = वननीय – संभजनीय[7] है – इसप्रकार वन में ब्रह्म साक्षी के समान आचरण करता है, न कि इसके द्वारा किये हुए व्यापारों से लिप्त होता है । इस संसारवृक्षात्मक ब्रह्मवन का छेदन-भेदन कर अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' – ऐसे अत्यन्त सुदृढ़ ज्ञानखड्ग से समूल काटकर आत्मस्वरूपा गति को प्राप्त करके उस आत्मस्वरूप मोक्षपद से फिर नहीं लौटता – यह अर्थ है । शेष सब स्पष्ट है ।

7 यहाँ यह समझना चाहिए कि गंगा की तरंगों से नुद्यमान -- ताडित ऊँचे तीर से तिर्यक्– तिरछे निपतित -- पतित – गिरे हुए, वायु के वेग से अर्धोन्मूलित – आधे उखाड़े हुए हरे-भरे महान् विशाल अश्वत्थ-वृक्ष को उपमान बनाकर यह रूपक[8] की कल्पना की है, अतः इसके ऊर्ध्वमूल और अध:शाख होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है । इस मायामय अश्वत्थ के छन्द[9] = छादन अर्थात् तत्त्ववस्तु का आवरण करने से अथवा संसारवृक्ष का संरक्षण करने से ऋग्यजु:सामरूप कर्मकाण्ड पत्तों के समान पत्ते हैं । जिसप्रकार वृक्ष के परिरक्षण – संरक्षण के लिए पत्ते होते हैं उसीप्रकार संसारवृक्ष के परिरक्षण -- संरक्षण के लिए कर्मकाण्ड हैं, क्योंकि वे धर्माधर्म और उनके हेतु तथा

6. वनम् = 'वन संभक्तौ' (भ्वादिगण, 313) -- 'वन्' धातु से 'पचाद्यच्' (पाणिनिसूत्र, 3.1.134) -- 'अच्' प्रत्यय होकर 'वनम्' शब्द निष्पन्न हुआ है ।

7. 'वन' शब्द 'वन संभक्तौ' से निष्पन्न हुआ है, इसलिए यहाँ 'वननीय' का पर्याय 'संभजनीय' प्रयुक्त है ।

8. जहाँ उपमान और उपमेय का, जिनका कि भेद प्रसिद्ध है, अत्यन्त सादृश्य के कारण जो अभेदवर्णन किया जाता है वह 'रूपक' कहा जाता है (तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो: – काव्यप्रकाश, दशम उल्लास) ।

9. यहाँ 'छन्दस्'- 'छन्द:' शब्द को सम्भवत: 'पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छद: पुमान्' (अमरकोश, 2.4.14)-- इस कोश के अनुसार 'पर्णम्' के पर्याय 'छद:' शब्द के साम्य से 'पर्ण' के अर्थ में ग्रहण किया प्रतीत होता है । किन्तु 'पर्ण' का वाचक शब्द 'छद:' तो अकारान्त और पुँल्लिङ्ग है, जबकि 'छन्दस्' शब्द 'गायत्रीप्रमुखं छन्द'

च छिद्यत इत्येतावानेव हि वेदार्थः। यश्च वेदार्थवित्स एव सर्वविदिति समूलवृक्षज्ञानं स्तौति स वेदविदिति ॥ 1 ॥

8 **तस्यैव संसारवृक्षस्यावयवसंबन्धिन्यपरा कल्पनोच्यते -**

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ 2 ॥

9 **पूर्वं हिरण्यगर्भादयः कार्योपाधयो जीवाः शाखास्थानीयत्वेनोक्ता इदानीं तु तद्गतो विशेष उच्यते। तेषु ये कपूयचरणा दुष्कृतिनस्तेऽधः पश्वादियोनिषु प्रसृता विस्तारं गताः। ये तु रमणीयचरणाः सुकृतिनस्त ऊर्ध्वं देवादियोनिषु प्रसृता अतोऽधश्च मनुष्यत्वादारभ्य विरिञ्चिपर्यन्तमूर्ध्वं च तस्मादेवाऽऽरभ्य सत्यलोकपर्यन्तं प्रसृतास्तस्य संसारवृक्षस्य शाखाः। कीदृश्यस्ता गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिर्देहेन्द्रियविषयाकारपरिणतैर्जलसेचनैरिव प्रवृद्धाः स्थूलीभूताः। किं च विषयाः शब्दादयः प्रवालाः पल्लवाइव यासां संसारवृक्षशाखानां तास्तथा शाखाग्रस्थानीयाभिरिन्द्रियवृत्तिभिः**

फल के प्रकाशन के लिए होते हैं। जो इसप्रकार व्याख्यात उस मूलसहित संसारवृक्ष को अर्थात् मायामय अश्वत्थ को जानता है वह वेदविद् होता है अर्थात् कर्मब्रह्मसंज्ञक वेद के अर्थ को जाननेवाला वही होता है, क्योंकि संसारवृक्ष का मूल ब्रह्म है और हिरण्यगर्भादि जीव उसके शाखास्थानीय हैं। वह संसारवृक्ष स्वरूप से विनश्वर है और प्रवाहरूप से अनन्त हैं। वह वेदोक्त कर्मों से सींचा जाता है और ब्रह्मज्ञान से उसका छेदन – विनाश किया जाता है – इतना ही वेद का अर्थ है। जो वेदार्थवित् है वही सर्ववित्-सर्वज्ञ है – इसप्रकार 'स वेदवित्' = 'वह वेदवित् है' -- इससे मूलसहित संसारवृक्ष के ज्ञान की भगवान् स्तुति – प्रंशसा करते हैं ॥ 1 ॥

8 उसी संसारवृक्ष के अवयवों से सम्बन्ध रखनेवाली एक दूसरी कल्पना करते हैं :–
[उस संसारवृक्ष की गुणों से प्रवृद्ध - बढ़ी हुई और विषयरूप प्रवालों -- कोपलोंवाली शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोक -- मनुष्यदेह में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सर्वत्र फैल रही हैं ॥ 2 ॥]

9 पूर्व की कल्पना में हिरण्यगर्भादि कार्योपाधिक जीव शाखास्थानीयरूप से कहे गये हैं – अब तद्गत विशेष -- भेद कहा जाता है। उनमें जो कपूयचरण = दुष्कर्म करनेवाले हैं वे पशु आदि अध: -- निम्न योनियों में प्रसृत -- विस्तार को प्राप्त हुए हैं। जो तो रमणीयचरण = शुभ कर्म करनेवाले हैं वे देवादि ऊर्ध्व -- उच्च योनियों में प्रसृत – विस्तार को प्राप्त हुए हैं। अत: उस संसारवृक्ष की शाखाएँ अध: = नीचे की ओर = मनुष्यलोक से लेकर विरिञ्चि – ब्रह्मलोकपर्यन्त और ऊर्ध्व = ऊपर की ओर = उस मनुष्यलोक से ही लेकर सत्यलोकपर्यन्त प्रसृत -- विस्तार को प्राप्त हुई हैं -- फैली हुई हैं। वे शाखाएँ कैसी हैं ? देह, इन्द्रिय और विषय के आकार में परिणत सत्त्व, रज और तम -- इन गुणों से जल से सींची हुई के समान प्रवृद्ध – बढ़ गई हैं – स्थूल हो गई हैं। इसके अतिरिक्त, जिन संसारवृक्ष की शाखाओं के शब्दादि विषय प्रवाल = पल्लवों के समान हैं वे

(अमरकोश, 2.7.2)-- इस कोश के अनुसार सान्त और नपुंसकलिङ्ग है– इसप्रकार 'छन्दस्' शब्द 'छदः' शब्द से भिन्न है, तो फिर प्रकृत में 'छन्दस्' शब्द से 'पर्ण' अर्थ कैसे किया है ? इसका समाधान यह है कि प्रकृत में 'छन्दस्' शब्द यौगिकार्थपरक है, रूढ्यर्थपरक नहीं है, अतएव 'छन्दांसि च्छादनात् पर्णानि = छन्द छादन अर्थात् तत्त्ववस्तु का आवरण करने से छद अर्थात् पर्ण है-- यह अर्थ किया है।

संबन्धाद्रागाधिष्ठानत्वाच्च । किं च अधश्च चशब्दादूर्ध्वं च मूलान्यवान्तराणि तत्तद्भोगजनितराग-द्वेषादिवासनालक्षणानि मूलानीव धर्माधर्मप्रवृत्तिकारकाणि तस्य संसारवृक्षस्यानुसंततानि अनुस्यूतानि । मुख्यं तु मूलं ब्रह्मैवेति न दोषः । कीदृशान्यवान्तरमूलानि कर्म धर्माधर्मलक्षणमनुबन्धुं पश्चाज्जनयितुं शीलं येषां तानि कर्मानुबन्धीनि । कुत्र मनुष्यलोके मनुष्यश्चासौ लोकश्चेत्यधिकृतो ब्राह्मण्यादिविशिष्टो देहो मनुष्यलोकस्तस्मिन्बाहुल्येन कर्मानुबन्धीनि । मनुष्याणां हि कर्माधिकारः प्रसिद्धः ॥ 2 ॥

10 यस्त्वयं संसारवृक्षो वर्णितः -

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ 3 ॥

11 इह संसारे स्थितैः प्राणिभिरस्य संसारवृक्षस्य यथा वर्णितमूर्ध्वमूलत्वादि तथा तेन प्रकारेण रूपं नोपलभ्यते स्वप्नमरीच्युदकमायागन्धर्वनगरवन्मृषात्वेन दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्तस्य । अत एव तस्यान्तोऽवसानं नोपलभ्यते । एतावता कालेन समाप्तिं गमिष्यतीति अपर्यन्तत्वात् । न चा-स्याऽऽदिरुपलभ्यते । इत आरभ्य प्रवृत्त इति अनादित्वात् । न च संप्रतिष्ठा स्थितिर्मध्यमस्यो-पलभ्यते । आद्यन्तप्रतियोगिकत्वात्तस्य । यस्मादेवंभूतोऽयं संसारवृक्षो दुरुच्छेदः सर्वानर्थकरश्च

'विषयप्रवाल[10]' हैं, क्योंकि इनका शाखाग्रस्थानीय इन्द्रियों की वृत्तियों के सम्बन्ध है और ये ही राग के अधिष्ठान हैं । इनके अतिरिक्त, श्लोक के तृतीय चरण में प्रयुक्त 'अधश्च' पद के 'च' शब्द से 'ऊर्ध्व' भी ग्रहण होता है, अतएव उस संसारवृक्ष की धर्माधर्म की प्रवृत्तिकारक उस-उस भोग से जनित राग-द्वेषादि वासनारूप अवान्तर जड़ें जड़ों के समान फैली हुई हैं । मुख्यमूल तो ब्रह्म ही है, अत: अवान्तर मूलों -- जड़ों के रहने में कोई दोष नहीं है । ये अवान्तर मूलें – जड़ें कैसी हैं ? जिनका धर्माधर्मरूप कर्म को पीछे उत्पन्न करने का स्वभाव है वे मूलें – जड़ें 'कर्मानुबन्धिनी' हैं । ये कहाँ हैं ? मनुष्यलोक में = जो मनुष्य है और लोक है ऐसा ब्राह्मणत्वादि-विशिष्ट देह मनुष्यलोक है उसमें बहुलता से ये कर्मानुबन्धिनी मूलें -- जड़ें फैली हुई हैं, क्योंकि मनुष्यों का कर्माधिकार प्रसिद्ध है ॥ 2 ॥

10 जो यह संसारवृक्ष का वर्णन किया गया है --

[संसार में इसका ऐसा रूप दिखाई नहीं देता है तथा न तो इसका अन्त है, न आदि है और न संप्रतिष्ठा ही है । जिसकी जड़ें अत्यन्त जम गई हैं ऐसे इस अश्वस्थ वृक्ष को सुदृढ़ असङ्गशस्त्र से काट कर (उस पद की खोज करनी चाहिए) ॥ 3 ॥]

11 इह = संसार में स्थित प्राणियों को इस संसारवृक्ष का जैसा ऊर्ध्वमूलत्वादिरूप से वर्णन किया है वैसा रूप दिखाई नहीं देता है, क्योंकि उसका स्वरूप स्वप्न, मरीच्युदक -- मरुभूमि में सूर्य की मरीचियों--किरणों से प्रतीयमान जल--मरुमरीचिका -- मृगमरीचिका -- मृगतृष्णा, मायागन्धर्वनगर के समान मिथ्या होने से देखने के बाद ही नष्ट हो जाता है अर्थात् वह प्रातिभासिकस्वरूप है । अतएव उसका अन्त-अवसान दिखाई नहीं देता है, क्योंकि 'इतने समय में यह समाप्त हो जायेगा' --इसप्रकार

---

10. यहाँ विषयों को प्रवाल कहा है, इसलिए कि शाखाग्र--प्रवाल– कोपल– नई पत्ती रक्त-लाल होती है और विषयों के प्रति रागात्मक इन्द्रियवृत्तियाँ रजोगुणप्राधान्य से रक्त–लाल होती हैं अतएव विषय राग के अधिष्ठान हैं ।

तस्मादनाद्यज्ञानेन सुविरूढमूलमत्यन्तबद्धमूलं प्रागुक्तमश्वत्थमेनमसङ्गशस्त्रेण सङ्गः स्पृहाऽसङ्गः सङ्गविरोधि वैराग्यं पुत्रवित्तलोकैषणात्यागरूपं तदेव शस्त्रं रागद्वेषमयसंसारविरोधित्वात्, तेनासङ्गशस्त्रेण दृढेन परमात्मज्ञानौत्सुक्यदृढीकृतेन पुनःपुनर्विवेकाभ्यासनिशितेन छित्त्वा समूलमुद्धृत्य वैराग्यशमदमादिसंपत्त्या सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वेत्येतत् ॥ 3 ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाऽऽद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ 4 ॥

12 **ततो गुरुमुपसृत्य ततोऽश्वत्थादूर्ध्वं व्यवस्थितं तद्वैष्णवं पदं वेदान्तवाक्यविचारेण परिमार्गितव्यं मार्गयितव्यमन्वेष्टव्यं 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इति श्रुतेः । तत्पदं श्रवणादिना ज्ञातव्यमित्यर्थः । किं तत्पदं यस्मिन्पदे गताः प्रविष्टा ज्ञानेन न निवर्तन्ति नाऽऽवर्तन्ते भूयः पुनः संसाराय । कथं तत्परिमार्गयितव्यमित्याह - यः पदशब्देनोक्तस्तमेव चाऽऽद्यमादौ भवं पुरुषं येनेदं सर्वं पूर्णं तं पुरिषु पूर्षु वा शयानं प्रपद्ये शरणं गतोऽस्मीत्येवं तदेकशरणतया तदन्वेष्टव्यमित्यर्थः । तं कं पुरुषं यतो यस्मात्पुरुषात्प्रवृत्तिर्मायामयसंसारवृक्षप्रवृत्तिः पुराणी चिरंतन्यनादिरेषा प्रसृता निःसृतैन्द्रजालिकादिव मायाहस्त्यादि तं पुरुषं प्रपद्य इत्यन्वयः ॥ 4 ॥**

इसकी कोई सीमा नहीं है अर्थात् वह अनन्त है । इसका आदि भी दिखाई नहीं देता है, क्योंकि 'यहाँ से आरम्भ करके प्रवृत्त हुआ है' -- इसप्रकार इसका आदि नहीं है अर्थात् वह अनादि है । इसकी संप्रतिष्ठा अर्थात् मध्य की स्थिति भी नहीं दिखाई देती है, क्योंकि वह आदिप्रतियोगिक और अन्तप्रतियोगिक है । क्योंकि एवंभूत यह संसारवृक्ष दुरुच्छेद -- दुःख से भी उच्छेद -- नाश करने के अयोग्य है और सब प्रकार के अनर्थों को करनेवाला -- सब प्रकार के दुःखों को देनेवाला है, इसलिए अनादि अज्ञान से सुविरुढमूल = अत्यन्त बद्ध मूल इस प्रागुक्त अश्वत्थवृक्ष को असङ्गशस्त्र = सङ्ग -- स्पृहा है, सङ्ग का विरोधी असङ्ग -- पुत्र, वित्त और लोकसम्बन्धी तीनों एषणाओं का त्यागरूप वैराग्य है वही राग-द्वेषमय संसार का विरोधी होने से शस्त्र है, उस दृढ़ = परमात्मज्ञान के औत्सुक्य से दृढ़ीकृत, पुनः-पुनः विवेक के अभ्यास से निशित -- पैनाये हुए असङ्गशस्त्र से काटकर = मूलसहित उखाड़कर अर्थात् वैराग्य और शम-दमादि षट्सम्पत्ति द्वारा सब कर्मों का संन्यास-त्याग करके (उस पद की खोज करनी चाहिए) ॥ 3 ॥

[तदनन्तर उस पद की खोज करनी चाहिए, जहाँ गये हुए पुरुष पुनः लौटकर नहीं आते हैं । मैं उस ही आद्य पुरुष की शरण जाता हूँ जिससे इस पुरातन संसारवृक्ष की अनादि प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है ॥ 4 ॥]

12 ततः = तदनन्तर -- गुरु के समीप जाकर उस अश्वत्थवृक्ष से ऊपर व्यवस्थित उस वैष्णव पद की वेदान्तवाक्यों के विचार द्वारा खोज करनी चाहिए -- उसका अन्वेषण करना चाहिए, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' = 'वह अन्वेषण के योग्य है, वह जिज्ञासा करने के योग्य है' -- इस श्रुति के अनुसार वह पद श्रवणादि के द्वारा ज्ञातव्य है -- यह इसका तात्पर्य है । वह पद क्या है ? जिस पद पर ज्ञान द्वारा पहुँचकर अर्थात् जिसमें प्रवेशकर पुनः संसार को नहीं लौटते हैं । उस पद की किस प्रकार खोज करनी चाहिए ? वह कहते हैं -- जो 'पद' शब्द से कहा गया है उसी आद्य = आदि में होनेवाले पुरुष की = जिसने कि इस सबको पूरित किया हुआ है ऐसे उस 'पुरिषु पूर्षु वा शयानम्' -- पुरियों अथवा शरीरों में शयन करनेवाले पुरुष की मैं शरण जाता हूँ -- इसप्रकार एकमात्र उस पुरुष की ही शरण होकर उस पद का अन्वेषण करना

13 परिमार्गणपूर्वकं वैष्णवं पदं गच्छतामङ्गान्तराण्याह –

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ॥
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ 5 ॥

14 मानोऽहंकारो गर्वः, मोहस्त्वविवेको विपर्ययो वा, ताभ्यां निष्क्रान्ता निर्मानमोहाः, तौ निर्गतौ येभ्यस्ते वा । तथाऽहंकाराविवेकाभ्यां रहिता इति यावत् । जितसङ्गदोषाः प्रियाप्रियसंनिधावपि रागद्वेषवर्जिता इति यावत् । अध्यात्मनित्याः परमात्मस्वरूपालोचनतत्पराः, विनिवृत्तकामा विशेषतो निरवशेषेण निवृत्ताः कामा विषयभोगा येषां ते विवेकवैराग्यद्वारा त्यक्तसर्वकर्माण इत्यर्थः । द्वंद्वैः शीतोष्णक्षुत्पिपासादिभिः सुखदुःखसंज्ञैः सुखदुःखहेतुत्वात्सुखदुःखनामकैः सुखदुःख-सङ्गैरिति पाठान्तरे सुखदुःखाभ्यां सङ्गः संबन्धो येषां तैः सुखदुःखसङ्गैर्द्वन्द्वैर्विमुक्ताः परित्यक्ताः, अमूढा वेदान्तप्रमाणसंजातसम्यग्ज्ञाननिवारितात्माज्ञानास्तदव्ययं यथोक्तं पदं गच्छन्ति ॥ 5 ॥

15 तदेव गन्तव्यं पदं विशिनष्टि–

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ 6 ॥

चाहिए – यह अर्थ है । उस किस पुरुष की शरण होकर खोज करनी चाहिए ? जिस पुरुष से यह पुराणी-चिरंतनी-सनातन-अनादि प्रवृत्ति=मायामय संसारवृक्ष की प्रवृत्ति प्रसृत-- विस्तार को प्राप्त हुई है-- निकली है, जैसे ऐन्द्रजालिक से मायामय हाथी आदि निकलते हैं, उस पुरुष की मैं शरण जाता हूँ – यह इसका अन्वय है ॥ 4 ॥

13 अन्वेषणपूर्वक वैष्णव पद को प्राप्त करनेवालों के अन्य अङ्ग भी कहते हैं –
[जो मान और मोह से रहित, सङ्गजनित दोष को जीते हुए, निरन्तर अध्यात्मविचार में तत्पर, विषयभोगों से निवृत्त और सुख-दु:खसंज्ञक द्वन्द्वों से विमुक्त हैं वे विद्वान् पुरुष उस अव्यय -- अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं ॥ 5 ॥]

14 'मान' अहंकार अथवा गर्व है, 'मोह' तो अविवेक या विपर्यय है– उन मान और मोह से जो निष्क्रान्त– निकले हुए हैं अथवा जिनसे ये मान और मोह-- दोनों निकले हुऐ हैं वे 'निर्मानमोह' हैं । इसप्रकार जो अहंकार और अविवेक से रहित हैं । जितसङ्गदोष अर्थात् प्रिय और अप्रिय की सन्निधि में भी राग और द्वेष से रहित हैं । अध्यात्मनित्य = परमात्मा के स्वरूप की आलोचना करने में तत्पर है । विनिवृत्तकाम = विशेषत:, निरवशेषरूप से जिनके काम-- विषयभोग निवृत्त हो गये हैं वे --अर्थात् जो विवेक – वैराग्य द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करनेवाले हैं । जो सुख-दु:खसंज्ञक = सुख-दु:ख के हेतु होने से सुख-दु:ख नामक शीतोष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्द्वों से विमुक्त हैं । यदि सुख-दु:खसङ्गैः'-- यह पाठान्तर है, तो जिनका सुख और दु:ख से सङ्ग-- सम्बन्ध है उन सुखदु:खसङ्ग द्वन्द्वों से जो विमुक्त -- परित्यक्त हैं । इसप्रकार जो अमूढ़ हैं अर्थात् वेदान्त -- प्रमाण से समुत्पन्न सम्यग्ज्ञान से जिनका आत्माज्ञान दूर हो गया है वे विद्वान् उस अव्यय – अविनाशी यथोक्त पद को प्राप्त होते हैं ॥ 5 ॥

15 उस ही गन्तव्य पद को विशेषरूप से कहते हैं :--
[जिस पद को प्राप्त होकर योगिजन पुन: संसार में नहीं लौटते हैं उस पद को न तो सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा प्रकाशित करता है और न अग्नि ही प्रकाशित करता है वही मेरा परम धाम - स्वयंप्रकाश पद है ॥ 6 ॥]

16 **यद्वैष्णवं पदं गत्वा योगिनो न निवर्तन्ते तत्पदं सर्वावभासनशक्तिमानपि सूर्यो न भासयते। सूर्यास्तमयेऽपि चन्द्रो भासको दृष्ट इत्याशङ्क्याऽऽह - न शशाङ्कः। सूर्याचन्द्रमसोरुभयोरप्यस्तमयेऽग्निः प्रकाशको दृष्ट इत्याशङ्क्याऽऽह - न पावकः। भासयत इत्युभयत्राप्यनुषज्यते। कुतः सूर्यादीनां तत्र प्रकाशनासामर्थ्यमित्यत आह - तद्धाम ज्योतिः स्वयंप्रकाशमादित्यादिसकलजडज्योतिरवभासकं परमं प्रकृष्टं मम विष्णोः स्वरूपात्मकं पदम्। न हि यो यद्भास्यः स स्वभासकं तं भासयितुमीष्टे। तथा च श्रुतिः -**

" न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। इति ॥

17 **एतेन तत्पदं वेद्यं न वा, आद्ये वेद्यभिन्नवेदितृसापेक्षत्वेन द्वैतापत्तिर्द्वितीये त्वपुरुषार्थत्वापत्तिरित्यपास्तम्। अवेद्यत्वे सत्यपि स्वयमपरोक्षत्वात्। तत्रावेद्यत्वं सूर्याद्यभास्यत्वेनात्रोक्तं, सर्वभासकत्वेन तु स्वयमपरोक्षत्वं यदादित्यगतं तेज इत्यत्र वक्ष्यति। एवमुभाभ्यां श्लोकाभ्यां श्रुतेर्दलद्वयं व्याख्यातमिति द्रष्टव्यम् ॥ 6 ॥**

---

16 जिस वैष्णव पद को प्राप्त होकर योगिजन पुन: संसार में नहीं लौटते हैं उस पद को सबको प्रकाशित करने की शक्तिवाला भी सूर्य प्रकाशित नहीं करता है। सूर्य के अस्त होने पर भी चन्द्रमा प्रकाशक देखा गया है -- यह आशंका करके कहते हैं -- उसको चन्द्रमा भी प्रकाशित नहीं करता है। सूर्य और चन्द्रमा -- दोनों के अस्त होने पर भी अग्नि प्रकाशक देखा गया है -- यह आशंका करके कहते हैं -- उसको अग्नि भी प्रकाशित नहीं करता है। 'भासयते' -- यह क्रिया-पद 'शशाङ्कः' और 'पावक:' -- इन दोनों पदों के साथ अनुषिक्त -- सम्बद्ध है। उस पद के प्रकाशन में सूर्यादि का असामर्थ्य क्यों है ? इस पर कहते हैं -- वह धाम = ज्योति -- स्वयंप्रकाश अर्थात् सूर्यादि सब जड़ ज्योतियों का प्रकाशक है अतएव परम -- प्रकृष्ट मुझ विष्णु का स्वरूपभूत पद है। निश्चय ही जो जिसका भास्य -- प्रकाश्य होता है वह अपने उस भासक -- प्रकाशक को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं हो सकता है। इसीप्रकार श्रुति भी कहती है :--

"वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और तारे ही प्रकाशित होते हैं और न ये बिजलियाँ ही चमकती हैं, फिर यह अग्नि तो प्रकाशित हो ही कहाँ सकता है ? उस ही के प्रकाशित होने से ये सब प्रकाशित होते हैं और उसके ही प्रकाश से यह सब प्रपञ्च प्रकाशित हो रहा है" (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.14)।

17 इससे 'वह पद वेद्य है अथवा नहीं है ? यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करते हैं तो वेद्य से भिन्न उसके वेत्ता की अपेक्षा होने से द्वैतापत्ति होगी। यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार करते हैं तो वह पद – मोक्ष अपुरुषार्थरूप हो जायेगा' -- इन दोनों शंकाओं का निराकरण हो जाता है, क्योंकि अवेद्यरूप होने पर भी वह स्वयं अपरोक्षरूप है। उसमें अवेद्यत्व यहाँ सूर्यादि के द्वारा अभास्य – अप्रकाश्य होने से कहा गया है, सर्वभासक -- सर्वप्रकाशक होने से तो वह स्वयं अपरोक्षरूप है -- यह 'यदादित्यगतं तेज:' (गीता, 15.12) इत्यादि में कहेंगे। इसप्रकार इन दो श्लोकों से श्रुति के दो दलों की व्याख्या की गई है -- यह समझना चाहिए ॥ 6 ॥

18 ननु यद्गत्वा न निवर्त्तन्त इत्युक्तं यदि गच्छन्ति तर्ह्यावर्तन्त एव स्वर्गवत् । अथ नाऽऽवर्तन्ते तर्हि न गच्छन्ति । तेन गत्वेति न निवर्तन्त इति च परस्परविरुद्धम् ।

"सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥"

इति हि शास्त्रे लोके च प्रसिद्धम् । अनात्मप्राप्तिः पुनरावृत्तिपर्यवसाना न त्वात्मप्राप्तिरिति चेत्, न, सुषुप्तौ 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' इतिश्रुतिप्रतिपादिताया अप्यात्मप्राप्तेः पुनरावृत्तिपर्यन्तत्वदर्शनात् । अन्यथा सुषुप्तस्य मुक्तत्वेन पुनरुत्थानं न स्यात् । तस्मादात्मप्राप्तौ गत्वेति नोपपद्यते । तस्यौपचारिकत्वेऽप्यनिवृत्तिर्नोपपद्यत इति ।

19 एवं प्राप्ते ब्रूमः । गन्तुर्जीवस्य गन्तव्यब्रह्माभिन्नत्वाद्गत्वेत्यौपचारिकम् । अज्ञानमात्रव्यवहितस्य तस्य ज्ञानमात्रेणैव प्राप्तिव्यपदेशात् । यदि ब्रह्मणः प्रतिबिम्बो जीवस्तदा यथा जलप्रतिबिम्बितसूर्यस्य जलापाये बिम्बभूतसूर्यगमनं ततोऽनावृत्तिश्च, यदि च बुद्ध्यवच्छिन्नो ब्रह्मभागो जीवस्तदा यथा घटाकाशस्य घटापाये महाकाशं प्रति गमनं ततोऽनावृत्तिश्च, तथा जीवस्याप्युपाध्यपाये निरुपाधिस्वरूपगमनं ततोऽनावृत्तिश्चेत्युपचारादुच्यते । एकस्वरूपत्वाद्भेदभ्रमस्य चोपाधिनिवृत्त्या

---

18 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' = 'जहाँ जाकर पुन: लौटते नहीं हैं' – यह जो कहा है, उसमें शंका यह है कि यदि जाते हैं तो लौटते ही हैं – जैसे स्वर्ग जाकर लौटते ही हैं; और यदि नहीं लौटते हैं तो जाते नहीं हैं, इसलिए 'गत्वा' -- 'जाकर' और 'न निवर्तन्ते' -- 'नहीं लौटते हैं' – ये दोनों कथन तो परस्पर विरुद्ध हैं, क्योंकि शास्त्र और लोक में यह प्रसिद्ध है :--
''समस्त संग्रहों का अन्त विनाश है, लौकिक उन्नतियों का अन्त पतन है, संयोग का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण है'' (बाल्मीकि - रामायण, अयोध्याकाण्ड, 105.16)'' ।
यदि यह कहें कि अनात्मप्राप्ति का ही परिणाम पुनरावृत्ति है, आत्मप्राप्ति का नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'हे सोम्य ! उस समय वह सत् से संपन्न होता है' -- इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित सुषुप्ति में होनेवाली आत्मप्राप्ति का भी पुनरावृत्ति में परिणाम होना देखा जाता है, अन्यथा सुषुप्त पुरुष भी मुक्त हो जाने से पुन: प्रबुद्धावस्था में न आवे । अत: आत्मप्राप्ति में 'गत्वा' - 'जाकर' -- यह कहना सर्वथा उपपन्न -- उचित नहीं है । यदि 'गत्वा' - 'जाकर' -- यह औपचारिक-लाक्षणिक है, तो भी 'अनिवृत्ति' -- 'नहीं लौटना' कहना उचित नहीं है ।

19 इसप्रकार शंका होने पर हम यह कहते हैं :-- गन्ता जीव गन्तव्य ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण 'गत्वा' - 'जाकर' -- यह कहना औपचारिक है, क्योंकि अज्ञानमात्र से व्यवहित वह ब्रह्म ज्ञानमात्र से ही प्राप्त होता है -- ऐसा कहा जाता है[11] । यदि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है तो जैसे जल में प्रतिबिम्बित सूर्य का जल न रहने पर बिम्बभूतसूर्य को जाना -- प्राप्त होना और वहाँ से अनावृत्ति -- न लौटना है; यदि जीव बुद्धि से अवच्छिन्न ब्रह्म का भाग -- अंश है तो जैसे घटाकाश का घट न रहने पर = घट का नाश होने पर महाकाश के प्रति गमन-जाना-प्राप्त होना और वहाँ से अनावृत्ति

11. जैसे गले में पहना हुआ हार अज्ञात दशा में अप्राप्त अर्थात् न पहना हुआ सा प्रतीत होता है, ज्ञात दशा में प्राप्त-- पहने हुए के समान मानकर 'हार पा गया ' – इसप्रकार औपचारिक प्राप्ति का व्यवहार होता है, जबकि अज्ञात दशा में भी तो हार प्राप्त ही था अप्राप्त नहीं था, वैसे ही अज्ञान से व्यवहित – आवृत ब्रह्म अप्राप्त सा प्रतीत होता है, ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर प्राप्त के समान प्रतीत होता है, अत: प्राप्ति औपचारिक है ।

निवृत्तेः । सुषुप्तौ तु अज्ञाने स्वकारणे भावनाकर्मपूर्वप्रज्ञासहितस्यान्तःकरणस्य जीवोपाधेः सूक्ष्मरूपेणावस्थानात्तत एवाज्ञानात्पुनरुद्भवः संभवति । ज्ञानादज्ञाननिवृत्तौ तु कारणाभावात्कुतः कार्योदयः स्यादज्ञानप्रभवत्वादन्तःकरणाद्युपाधीनाम् । तस्माज्जीवस्याहं ब्रह्मास्मीति-वेदान्तवाक्यजन्यसाक्षात्कारादहं न ब्रह्मेत्यज्ञाननिवृत्तिर्गत्वेत्युच्यते । निवृत्तस्य चानाद्यज्ञानस्य पुनरुत्थानाभावेन तत्कार्यसंसाराभावो न निवर्तन्त इत्युच्यत इति न कोऽपि विरोधः ।

20 **जीवस्य तु पारमार्थिकं स्वरूपं ब्रह्मैवेत्यसकृदावेदितम् । तदेतत्सर्वं प्रतिपाद्यत उत्तरेण ग्रन्थेन । तत्र जीवस्य ब्रह्मरूपत्वादज्ञाननिवृत्त्या तत्स्वरूपं प्राप्तस्य ततो न प्रच्युतिरिति प्रतिपाद्यते ममैवांश इति श्लोकार्धेन । सुषुप्तौ तु सर्वकार्यसंस्कारसहिताज्ञानसत्त्वात्ततः पुनः संसारो जीवस्येति मनःषष्ठानीति श्लोकार्धेन प्रतिपाद्यते । ततस्तस्य वस्तुतोऽसंसारिणोऽपि मायया संसारं प्राप्तस्य मन्दमतिभिर्देहतादात्म्यं प्रापितस्य देहाद्व्यतिरेकः प्रतिपाद्यते शरीरमित्यादिना श्लोकार्धेन । श्रोत्रं चक्षुरित्यादिना तु यथायथं स्वविषयेष्विन्द्रियाणां प्रवर्तकस्य तस्य तेभ्यो व्यतिरेकः प्रतिपाद्यते । एवं देहेन्द्रियादिविलक्षणमुत्क्रान्त्यादिसमये स्वात्मरूपत्वात्किमिति सर्वे न पश्यन्तीत्याशङ्कायां विषयविक्षिप्तचित्ता दर्शनयोग्यमपि तं न पश्यन्तीत्युत्तरमुच्यते - उत्क्रामन्तमित्यादिना श्लोकेन । तं ज्ञानचक्षुषः पश्यन्तीति विवृतं यतन्तो योगिन इति श्लोकार्धेन । विमूढा नानुपश्यन्तीत्येतद्विवृतं यतन्तोऽपीति श्लोकार्धेनेति पञ्चानां श्लोकानां संगतिः । इदानीमक्षराणि व्याख्यास्यामः -**

-- न लौटना है, वैसे ही जीव का उपाधि की निवृत्ति होने पर = उपाधि न रहने पर निरुपाधिक स्वरूप में गमन-जाना अर्थात् उसको प्राप्त होना और वहाँ से अनावृत्ति -- न लौटना है -- ये सब उपचार से कहे जाते हैं, क्योंकि जीव और ब्रह्म -- दोनों के एकस्वरूप होने के कारण उनमें भेद का भ्रम उपाधि की निवृत्ति से निवृत्त हो जाता है । सुषुप्ति में तो जीव का उपाधिभूत भावना, कर्म और पूर्व-प्रज्ञा सहित अन्त:करण अपने कारण अज्ञान में सूक्ष्मरूप से रहने के कारण उस ही अज्ञान से पुन: उत्पन्न-प्रकट हो सकता है, किन्तु ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर कारण का अभाव होने से कार्य का उदय कहाँ से हो सकता है, क्योंकि अन्त:करण आदि उपाधियों का उदय तो अज्ञान से ही होता है । अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इस वेदान्तवाक्यजन्य साक्षात्कार से 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' -- इत्याकारक जीव के अज्ञान की निवृत्ति ही 'गत्वा' - 'जाकर' -- इस पद से कही जाती है और निवृत्त हुए अनादि अज्ञान का पुन: उत्थान न होने के कारण उसके कार्यभूत संसार का अभाव 'न निवर्तन्ते' -- 'नहीं लौटते' - इस पद से कहा जाता है । इसप्रकार 'गत्वा न निवर्तन्ते' -- 'जाकर नहीं लौटते' -- इन पदों में कोई विरोध नहीं है ।

20 जीव का पारमार्थिक स्वरूप तो ब्रह्म ही है -- यह बार-बार कह चुकें हैं । यह सब उत्तर ग्रन्थ से प्रतिपादित करते हैं । उसमें, ब्रह्मस्वरूप होने के कारण अज्ञान की निवृत्ति से उस स्वरूप को प्राप्त हुए जीव का उससे पतन नहीं होता है -- यह 'ममैवांश:' -- इस श्लोकार्ध से प्रतिपादित करते हैं । सुषुप्ति में तो सर्वकार्यसंस्कारसहित अज्ञान के रहने के कारण उससे जीव को पुनः संसार होता है -- यह 'मन:षष्ठानि' -- इस श्लोकार्ध से प्रतिपादित करते हैं । तदुपरान्त, वस्तुत: वह असंसारी जीव भी माया से संसार को प्राप्त हुआ और मन्दमति पुरुषों द्वारा देह के तादात्म्य को प्राप्त कराया हुआ देह से सर्वथा भिन्न है -- यह 'शरीरम्' इत्यादि श्लोकार्ध से प्रतिपादित करते हैं । 'श्रोत्रं चक्षु:' -- इत्यादि से तो 'यथायोग्य अपने-अपने विषयों में इन्द्रियों का प्रवर्तक वह जीव उन इन्द्रियों से भिन्न है' --

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ 7 ॥

21 ममैव परमात्मनोंऽशो निरंशस्यापि मायया कल्पितः सूर्यस्येव जले नभस इव च घटे मृषाभेदवानंश इवांशो जीवलोके संसारे, स च प्राणधारणोपाधिना जीवभूतः कर्ता भोक्ता संसारीति मृषैव प्रसिद्धिमुपागतः सनातनो नित्य उपाधिपरिच्छेदेऽपि वस्तुतः परमात्मस्वरूपत्वात् । अतो ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्या स्वस्वरूपं ब्रह्म प्राप्य ततो न निवर्तन्त इति युक्तम् ।

22 एवंभूतोऽपि सुषुप्तात्कथमावर्तत इत्याह - मनः षष्ठं येषां तानि श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि पञ्चेन्द्रियाणीन्द्रस्याऽऽत्मनो विषयोपलब्धिकरणतया लिङ्गानि जाग्रत्स्वप्नभोगजनककर्मक्षये प्रकृतिस्थानि प्रकृतावज्ञाने सूक्ष्मरूपेण स्थितानि पुनर्जाग्रद्भोगजनककर्मोदये भोगार्थं कर्षति कूर्मोऽङ्गानीव प्रकृतेरज्ञानादाकर्षति विषयग्रहणयोग्यतयाऽऽविर्भावयतीत्यर्थः । अतो ज्ञानादनावृत्तावप्यज्ञानादावृत्तिर्नानुपपन्नेति भावः ॥ 7 ॥

इसका प्रतिपादन करते हैं । इसीप्रकार, देह – इन्द्रिय आदि से विलक्षण उस जीव को उत्क्रान्ति आदि समय में स्वात्मरूप होने से सब क्यों नहीं देखते हैं ? -- ऐसी आशंका होने पर 'विषयों के चिन्तन से विक्षिप्त चित्तवाले पुरुष दर्शन के योग्य भी उस जीव को नहीं देखते हैं' – यह उत्तर 'उत्क्रामन्तं स्थितम्' इत्यादि श्लोक से कहते हैं । उस जीव को ज्ञानचक्षुवाले पुरुष ही देखते हैं -- यह 'यतन्तो योगिनः' -- इस श्लोकार्ध से कहा है । मूढ़जन उसको नहीं देख पाते हैं -- इसका विवरण 'यतन्तोऽपि' – इस श्लोकार्ध से करते हैं – इसप्रकार पाँच श्लोकों की संगति है । अब अक्षरों की व्याख्या करेंगे :--

[जीवलोक में मेरा ही अंश सनातन जीवभूत -- जीवरूप है, जो प्रकृति -- अज्ञान में स्थित मनः-- षष्ठ सहित पाँचों इन्द्रियों को खींचता है ॥ 7 ॥]

21 जिसप्रकार सूर्य का जल में और आकाश का घट में मिथ्या भेदवान् अंश रहता है उसीप्रकार मुझ निरंश[12] भी परमात्मा का जीवलोक में -- संसार में माया से कल्पित मिथ्या भेदवान् अंश है और वही प्राणधारणरूप उपाधि से जीवभूत[13] -- जीव स्वरूप है, 'कर्ता, भोक्ता, संसारी' – इसप्रकार की मिथ्या ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है, उपाधि का परिच्छेद रहने पर भी वस्तुतः परमात्मस्वरूप होने के कारण सनातन-नित्य है । अतः ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर अपने स्वरूपभूत ब्रह्म को प्राप्त कर उससे निवृत्त नहीं होता है -- लौटता नहीं है – यह युक्तियुक्त है ।

22 एवंभूत भी वह सुषुप्ति अवस्था से कैसे लौट आता है -- इस पर कहते हैं :-- यह जीव मन जिनमें छठा है उन श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राणसंज्ञक पाँच इन्द्रियों को; जो इन्द्र अर्थात् आत्मा की विषयोपलब्धि का करण-साधन होने से उसकी लिङ्ग -- चिह्न हैं तथा जाग्रत् और स्वप्न के भोगजनक कर्मों का क्षय होने पर प्रकृतिस्थ = प्रकृति अर्थात् अज्ञान में सूक्ष्मरूप से स्थित रहती हैं; जाग्रत्-भोगजनक कर्म का उदय होने पर पुनः भोग के लिए खींचता है, जैसे कछुआ अपने में

---

12. परमात्मा निरंश -- निरवयव है, अन्यथा सावयव होने से वह अनित्य हो जायेगा और द्वैतापत्ति होने से अद्वैतश्रुतिविरोध भी होगा ।

13. 'जीव प्राणधारणे' (भ्वादिगण, 379) – इसके अनुसार 'जीव्' धातु से भी प्राणधारण जीव की उपाधि प्रतीत होती है ।

23 कस्मिन्काले कर्षतीत्युच्यते -

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाऽऽशयात् ॥ 8 ॥

24 यद्यदोत्क्रामति बहिर्निर्गच्छतीश्वरो देहेन्द्रियसंघातस्य स्वामी जीवस्तदा यतो देहादुत्क्रामति ततो मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कर्षतीति द्वितीयपादस्य प्रथममन्वय उत्क्रमणोत्तरभावित्वाद्गमनस्य । न केवलं कर्षत्येव किं तु यद्यदा च पूर्वस्माच्छरीरान्तरमवाप्नोति तदैतानि मनःषष्ठानीन्द्रियाणि गृहीत्वा संयात्यपि सम्यक्पुनरागमनराहित्येन गच्छत्यपि । शरीरे सत्येवेन्द्रियग्रहणे दृष्टान्तः - आशयात्कुसुमादेः स्थानाद्गन्धान्गन्धात्मकान्सूक्ष्मानंशान्गृहीत्वा यथा वायुर्याति तद्वत् ॥ 8 ॥

25 तान्येवेन्द्रियाणि दर्शयन्यदर्थं गृहीत्वा गच्छति तदाह–

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ 9 ॥

संकोचित अंगों को अपने शरीर से बाहर निकालता है वैसे ही अज्ञानरूप प्रकृति -- उपादान कारण से उक्त इन्द्रियों को जीव खींचता है अर्थात् विषयग्रहणयोग्य बनाकर उनको वह प्रादुर्भूत -- प्रकट करता है । अतः ज्ञान से अनावृत्ति होने पर भी अज्ञान से पुनरावृत्ति होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है – यह भाव है ॥ 7 ॥

23 किस समय खींचता है – यह कहते हैं :--
[जिस समय देह और इन्द्रियों का ईश्वर -- स्वामी जीव एक शरीर से उत्क्रमण करता है उस समय वह इन्द्रियों को खींचता है – इतना ही नहीं, अपितु जिस देह को ग्रहण करता है उसमें वायु जैसे आशय से गन्ध को लेकर जाता है वैसे ही इन्द्रियों को लेकर जाता भी है ॥ 8 ॥]

24 जिस समय ईश्वर[14] = देह और इन्द्रियों के संघात का स्वामी जीव उत्क्रमण करता है – शरीर से बाहर निकलता है उस समय वह जिस देह से उत्क्रमण करता है – निकलता है उस देह से मन है छठवाँ जिनमें उन मन सहित पाँचों इन्द्रियों को खींचता है -- इसप्रकार पूर्व श्लोक के द्वितीय पाद के साथ अन्वय है – क्योंकि गमन तो उत्क्रमण के बाद ही होगा । वह केवल खींचता ही नहीं है, अपितु जिस समय वह पूर्व शरीर से भिन्न दूसरा शरीर ग्रहण करता है उस समय वह उसमें मन जिनमें छठवाँ है उन मन सहित पाँचों इन्द्रियों को लेकर सम् = सम्यक् अर्थात् पुनरागमन के अभावपूर्वक याति -- गच्छति = जाता भी है । शरीर रहते ही इन्द्रियग्रहण में दृष्टान्त है -- जैसे आशय = पुष्पादि के स्थान से वायु गन्ध[15] को = गन्धात्मक सूक्ष्म अंशों को लेकर जाता है वैसे ही जीव भी जाता है ॥ 8 ॥

25 उन इन्द्रियों को ही दिखलाते हुए जिस लिए उनको लेकर वह जीव जाता है वह कहते हैं :–

14. 'स्वामी त्वीश्वरः पतिरीशिता अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः' (अमरकोश, 3.1.10-11) – इस कोश के अनुसार यहाँ 'ईश्वर' शब्द स्वामीपरक है ।

15. वायु पुष्पादि से गन्ध को कैसे ले जा सकता है ? कारण कि नैयायिकों के अनुसार गुण-गुणी में समवाय सम्बन्ध होता है, समवाय सम्बन्ध नित्य होता है अतएव 'पुष्पादि' गुणी से 'गन्ध' गुण पृथक् नहीं हो सकता है, इसीप्रकार वेदान्तमत में भी गुण-गुणी में तादात्म्य सम्बन्ध होता है अतएव पुष्पादि से गन्ध को पृथक् नहीं किया जा सकता है । इस आशंका से ही प्रकृत में कहा है – वायु पुष्पादि से गन्ध को अर्थात् गन्धात्मक सूक्ष्म अंशो को लेकर जाता है ।

26 श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च, चकारात्कर्मेन्द्रियाणि प्राणं च मनश्च षष्ठमधिष्ठायैवाऽऽश्रित्यैव विषयाञ्शब्दादीनयं जीव उपसेवते भुङ्क्ते ॥ 9 ॥

27 एवं देहगतं दर्शनयोग्यमपि देहात् -

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ 10 ॥

28 उत्क्रामन्तं देहान्तरं गच्छन्तं पूर्वस्मात्, स्थितं वाऽपि तस्मिन्नेव देहे, भुञ्जानं वा शब्दादीन्विषयान्, गुणान्वितं सुखदुःखमोहात्मकैर्गुणैरन्वितम् । एवं सर्वास्ववस्थासु दर्शनयोग्यमप्येनं विमूढा दृष्टादृष्टविषयभोगवासनाकृष्टचेतस्तयाऽऽत्मानात्मविवेकायोग्या नानुपश्यन्ति । अहो कष्टं वर्तत इत्यज्ञाननुक्रोशति भगवान् । ये तु प्रमाणजनितज्ञानचक्षुषो विवेकिनस्त एव पश्यन्ति ॥ 10 ॥

29 पश्यन्ति ज्ञानचक्षुष इत्येतद्विवृणोति -

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ 11 ॥

[यह जीव श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, रसना, घ्राण, समस्त कर्मेन्द्रिय, प्राण और मन – इनका ही आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है ॥ 9 ॥]

26 श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, रसना और घ्राण तथा चकार से समस्त कर्मेन्द्रिय और प्राण तथा षष्ठ मन – इन सबका अधिष्ठान-- आश्रय लेकर ही यह जीव शब्दादि विषयों का सेवन – भोग करता है ॥ 9 ॥

27 इसप्रकार देहगत – देह में स्थित, दर्शन के योग्य भी देह से –
[देहान्तर में जाते हुए अथवा पूर्व ही शरीर में रहते हुए अथवा भोग करते हुए इस गुणान्वित जीव को मूढजन नहीं देखते हैं, ज्ञानचक्षुवाले पुरुष ही देखते हैं ॥ 10 ॥]

28 उत्क्रमण करते हुए = पूर्व देह से देहान्तर में जाते हुए, अथवा पूर्व ही शरीर में रहते हुए भी, अथवा शब्दादि विषयों का भोग करते हुए इस गुणान्वित = सुख-दु:ख-मोहात्मक गुणों से युक्त और इसप्रकार सभी अवस्थाओं में दर्शन के योग्य भी जीव को विमूढ़ = दृष्ट और अदृष्ट विषयभोगों की वासनाओं से आकृष्टचित्त होने के कारण आत्मा और अनात्मा का विवेक करने में अयोग्य -- असमर्थ जन नहीं देखते हैं, अहो ! यह कैसा कष्ट है[16] – इसप्रकार भगवान् अज्ञों पर अनुकम्पा करते हैं । जो तो प्रमाणजनित ज्ञानरूप चक्षुवाले विवेकीजन हैं वे ही उक्त जीव को देखते हैं ॥ 10 ॥

29 'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' = 'ज्ञानचक्षुवाले पुरुष ही देखते हैं' -- इसका विवरण करते हैं :-
[ध्यानादि से यत्न करनेवाले योगिजन इस जीव को आत्मा -- अन्त:करण में अवस्थित देखते हैं, किन्तु अकृतात्मा – अशुद्ध चित्तवाले अचेता -- विवेकशून्य पुरुष यत्न करते हुए भी इसको नहीं देखते हैं ॥ 11 ॥]

---

16. यहाँ भगवान् 'अहो' शब्द से आश्चर्य प्रकट करते हैं और 'कष्ट' शब्द से दु:ख सूचित करते हैं अथवा 'कष्ट' शब्द से दु:खद आश्चर्य प्रकट करते हैं । प्रकृत में भगवान् दु:खद आश्चर्य ही प्रकट करते हैं, आश्चर्य और दु:ख प्रकट नहीं करते हैं । अतएव अज्ञों पर अनुकम्पा करते हैं ।

30 आत्मनि स्वबुद्धाववस्थितं प्रतिफलितमेनमात्मानं यतन्तो ध्यानादिभिः प्रयतमाना योगिन एव पश्यन्ति। चोऽवधारणे। यतमाना अप्यकृतात्मानो यज्ञादिभिरशोधितान्तःकरणा अत एवाचेतसो विवेकशून्या नैनं पश्यन्तीति विमूढा नानुपश्यन्तीत्येतद्विवरणम् ॥ 11 ॥

31 इदानीं यत्पदं सर्वावभासनक्षमा अप्यादित्यादयो भासयितुं न क्षमन्ते यत्प्राप्ताश्च मुमुक्षवः पुनः संसाराय नाऽऽवर्तन्ते यस्य च पदस्योपाधिभेदमनु विधीयमाना जीवा घटाकाशादय इवाऽऽकाशस्य कल्पितांशा मृषैव संसारमनुभवन्ति तस्य पदस्य सर्वात्मत्वसर्वव्यवहारास्पदत्वप्रदर्शनेन ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमिति प्रागुक्तं विवरीतुं चतुर्भिः श्लोकैरात्मनो विभूतिसंक्षेपमाह भगवान् –

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ 12 ॥

32 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' इति श्रुत्यर्धं प्राग्व्याख्यातं न तद्भासयते सूर्य इत्यादिना। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इतिश्रुत्यर्धमनेन व्याख्यायते। यदादित्यगतं तेजश्चैतन्यात्मकं ज्योतिर्यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ स्थितं तेजो जगदखिलमवभासयते तत्तेजो मामकं मदीयं विद्धि। यद्यपि स्थावरजङ्गमेषु समानं चैतन्यात्मकं ज्योतिस्तथाऽपि सत्त्वोत्कर्षेणाऽऽदित्यादीनामुत्कर्षात्तत्रैवाऽऽविस्तरां चैतन्यज्योतिरिति तैर्विशेष्यते-- यदादित्यगतमित्यादि। यथा तुल्येऽपि मुखसंनिधाने काष्ठकुड्यादौ न मुखमाविर्भवति।

---

30 आत्मा = अपनी बुद्धि में अवस्थित = प्रतिफलित -- प्रतिबिम्बित इस आत्मा-जीव को यतन्तः = ध्यानादि से प्रयतमान – प्रयत्न करनेवाले योगिजन ही देखते हैं। यहाँ 'च' अवधारण -- निश्चय अर्थ में है। यतमान = प्रयत्नपरायण भी अकृतात्मा = यज्ञादि से अशोधित -- अशुद्ध अन्तःकरणवाले अतएव अचेता = विवेकशून्य पुरुष इसको नहीं देखते हैं – यह 'विमूढा नानुपश्यन्ति' – इसका विवरण है ॥ 11 ॥

31 अब, जिस पद को सर्वप्रकाशनसमर्थ भी सूर्यादि प्रकाशित नहीं कर सकते हैं, जिसको प्राप्त हुए मुमुक्षुजन पुनः संसार को नहीं लौटते हैं, तथा जिस पद के उपाधिभेदों का अनुसरण करनेवाले जीव = आकाश के कल्पितांश घटाकाशादि के समान ब्रह्म के कल्पितांश जीव मिथ्या ही संसार का अनुभव करते हैं उस पद के सर्वात्मत्व और सर्वव्यवहारास्पदत्व के प्रदर्शनपूर्वक 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' = 'मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ' -- इस पूर्वोक्त वाक्य का विवरण करने के लिए भगवान् चार श्लोकों से आत्मविभूतियों के संक्षेप को कहते हैं :--

[जो तेज सूर्यगत -- सूर्य में स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में भी है उसको तुम मेरा ही तेज समझो ॥ 12 ॥]

32 पूर्व में भगवान् ने 'न तद्भासयते सूर्यः' = 'उसको सूर्य प्रकाशित नहीं करता है' -- इत्यादि श्लोक से 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' इस आधी श्रुति की व्याख्या की है, अब 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' – इस आधी श्रुति की व्याख्या इस श्लोक से करते हैं। जो सूर्यगत = सूर्य में स्थित तेज = चैतन्यात्मक ज्योति और जो चन्द्रमा और अग्नि में स्थित तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है उस तेज को तुम मेरा ही जानो। यद्यपि स्थावर और जंगमों में चैतन्यस्वरूप ज्योति समान है, तथापि सत्त्वगुण के उत्कर्ष -- आधिक्य

आदर्शादौ च स्वच्छे स्वच्छतरे च तारतम्येनाऽऽविर्भवति तद्वत् यदादित्यगतं तेज इत्युक्त्वा पुनस्तत्तेजो विद्धि मामकमिति तेजोग्रहणाद्यदादित्यादिगतं तेजः प्रकाशः परप्रकाशसमर्थं सितभास्वरं रूपं जगदखिलं रूपवद्वस्तु अवभासयते, एवं यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ जगदवभासकं तेजस्तन्मामकं विद्धीति विभूतिकथनाय द्वितीयोऽप्यर्थो द्रष्टव्यः । अन्यथा तन्मामकं विद्धीत्येतावद्ब्रूयात्तेजोग्रहणमन्तरेणैवेति भावः ॥ 12 ॥

33 किं च –

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ 13 ॥

34 गां पृथिवीं पृथिवीदेवतारूपेणाऽऽविश्यौजसा निजेन बलेन पृथिवीं धूलिमुष्टितुल्यां दृढीकृत्य भूतानि पृथिव्याधेयानि वस्तून्यहमेव धारयामि । अन्यथा पृथिवी सिकतामुष्टिवद्विशीर्येताधो निमज्जेद्वा, 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' इति मन्त्रवर्णात् । 'स दाधार पृथिवीम्' इति च हिरण्यगर्भभावापन्नं भगवन्तमेवाऽऽह ।

35 किं च रसात्मकः सर्वरसस्वभावः सोमो भूत्वौषधीः सर्वा व्रीहियवाद्याः पृथिव्यां जाता अहमेव

से सूर्यादि उत्कृष्ट है अत: उनके उत्कर्ष से उन्हीं में आविर्भूत चैतन्यज्योति है – इसप्रकार उन्हीं से विशेषित करते हैं -- यदादित्यगतमित्यादि । जैसे – समान मुखसंनिधान में भी काष्ठ, भित्ति आदि में मुख का अविर्भाव नहीं होता, किन्तु दर्पण आदि स्वच्छ और स्वच्छतर पदार्थों में उनके तारतम्य से अविर्भाव होता है वैसे ही 'यदादित्यगतं तेज:' – ऐसा कहकर पुन: 'तत्तेजो विद्धि मामकम्' – इसप्रकार कहा है -- यहाँ 'तेज' के ग्रहण से जो सूर्यगत तेज -- प्रकाश -- परप्रकाशसमर्थ अर्थात् शुक्लभास्वररूप सम्पूर्ण जगत् – रूपवान् वस्तुओं को प्रकाशित करता है और जो चन्द्रमा और अग्नि में स्थित जगत् का प्रकाशक तेज है उस तेज को मेरा ही समझो -- इसप्रकार विभूति के कथन के लिए द्वितीय अर्थ भी समझना चाहिए, अन्यथा पुन: 'तेज' न कहकर 'तन्मामकं विद्धि' -- 'उसको मेरा जानो' -- इतना ही कहते, अत: द्वितीय 'तेज' का ग्रहण द्वितीय अर्थ के लिये है – यह भाव है ॥ 12 ॥

33 इसके अतिरिक्त :–
[मैं ही पृथिवी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ और रसात्मक -- रसस्वरूप सोम-चन्द्रमा होकर सब ओषधियों का पोषण करता हूँ ॥ 13 ॥]

34 मैं ही पृथ्वी देवतारूप से पृथ्वी में प्रवेश करके ओज अर्थात् अपने बल से मुट्ठीभर धूलि के समान पृथ्वी को दृढ़कर सब भूतों = पृथ्वी के आश्रित वस्तुओं को धारण करता हूँ, अन्यथा पृथ्वी धूलि की मुट्ठी के समान छिन्न-भिन्न हो जाती अथवा नीचे डूब जाती, इसमें यह श्रुति प्रमाण है -- 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' (तैत्तिरीय संहिता, 4.1.8) = 'जिससे आकाश उग्र है और पृथ्वी दृढ़ है', तथा 'स दाधार पृथिवीम्' (तैत्तिरीय संहिता, 4.1.8) -- 'उसने पृथ्वी को धारण किया' -- यह श्रुति भी हिरण्यगर्भभाव को प्राप्त हुए भगवान् को ही कहती है ।

35 इसके अतिरिक्त, रसात्मक[17] = सर्वरसस्वभाव -- सर्वरसस्वरूप सोम-चन्द्रमा होकर मैं ही पृथ्वी में

17. 'रसो जलं रसो हर्ष:'–इस कोश के अनुसार रस जल ही है अतएव प्रकृत में रसात्मक अर्थात् जलात्मक है ।

पुष्णामि पुष्टिमती रसस्वादुमतीश्च करोमि ॥ 13 ॥

36 किं च –

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ 14 ॥

37 अहमीश्वर एव वैश्वानरो जाठरोऽग्निर्भूत्वा 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते' इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितः सन्प्राणिनां सर्वेषां देहमाश्रितोऽन्तःप्रविष्टः प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां संयुक्तः संधुक्षितः सन्पचामि पक्तिं नयामि प्राणिभिर्भुक्तमन्नं चतुर्विधं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं चेति । तत्र यद्दन्तैरवखण्ड्यावखण्ड्य भक्ष्यतेऽपूपादि तद्भक्ष्यं चर्व्यमिति चोच्यते । यत्तु केवलं जिह्वया विलोड्य निगीर्यते सूपौदनादि तद्भोज्यम् । यत्तु जिह्वायां निक्षिप्य रसास्वादेन निगीर्यते किंचिद्द्रवीभूतगुडरसालाशिखरिण्यादि तल्लेह्यम् । यत्तु दन्तैर्निष्पीड्य रसांशं निगीर्यावशिष्टं त्यज्यते यथेक्षुदण्डादि तच्चोष्यमिति भेदः । भोक्ता यः सोऽग्निर्वैश्वानरो यद्भोज्यमन्नं स सोमस्तदेतदुभयमग्नीषोमौ सर्वमिति ध्यायतोऽन्नदोषलेपो न भवतीत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ 14 ॥

38 किं च–

उत्पन्न हुई व्रीहि-यव आदि सब ओषधियों[18] का पोषण करता हूँ अर्थात् उन ओषधियों को पुष्टिमती और रसस्वादुमती -- स्वादयुक्त करता हूँ ।। 13 ।।

36 इसके अतिरिक्त --
[मैं वैश्वानर अग्नि होकर प्राणियों के देह में स्थित हुआ, प्राण और अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ ।। 14 ।।]

37 मैं ईश्वर ही वैश्वानर = 'यह वैश्वानर अग्नि है जो इस पुरुष के भीतर है और जिससे यह अन्न पचाया जाता है' (बृहदारण्यकोपनिषद् 5.9.1) -- इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित जाठराग्नि होकर सब प्राणियों के देह में आश्रित = अन्तःप्रविष्ट हुआ, उसको उद्दीप्त करनेवाले प्राण और अपान से संयुक्त हुआ -- प्रज्वलित हुआ प्राणियों में भुक्त भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य– चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ । उन चतुर्विध अन्नो में -- जो अन्न दाँतों से काट-काट कर खाया जाता है वह 'भक्ष्य' है -- जैसे पूआ – मालपूआ आदि, और वही 'चर्व्य' भी कहा जाता है । जो केवल जीभ से विलोकर निगल लिया जाता है वह 'भोज्य' कहलाता है -- जैसे -- सूप, ओदन आदि । जो जीभ पर रखकर रसस्वादपूर्वक निगला जाता है वह 'लेह्य' कहा जाता है -- जैसे - कुछ द्रवीभूत -- पिघला हुआ गुड़, रसाला, शिखरन आदि । जो दाँतों से दबाकर रसांश -- रसभाग को निगलते हुए शेष अंश को त्याग दिया जाता है वह 'चोष्य' कहलाता है -- जैसे – ईख आदि । 'जो भोक्ता है वह वैश्वानर अग्नि है और जो भोज्य अन्न है वह सोम है-- इसप्रकार ये दोनों अग्नि और सोम ही सब है' -- इसप्रकार ध्यान करनेवालों को अन्नदोष का लेप-संपर्क नहीं होता है -- ऐसा भी समझना चाहिए ।। 14 ।।

38 इसके अतिरिक्त,

---

18. 'ओषधिः फलपाकान्ता' (अमरकोश, 2.4.6) = 'फलकर पकने के बाद नष्ट होनेवाले उद्भित् का नाम 'ओषधि' है, जैसे -- व्रीहि-धान, यव-जो, चना, गेहूँ आदि ।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ 15 ॥

39 **सर्वस्य ब्रह्मादिस्थावरान्तस्य प्राणिजातस्याहमात्मा सन्हृदि बुद्धौ संनिविष्टः 'स एष इह प्रविष्टः' इति श्रुतेः । 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति च । अतो मत्त आत्मन एव हेतोः प्राणिजातस्य यथानुरूपं स्मृतिरेतज्जन्मनि पूर्वानुभूतार्थविषया वृत्तिर्योगिनां च जन्मान्तरानुभूतार्थविषयाऽपि । तथा मत्त एव ज्ञानं विषयेन्द्रियसंयोगजं भवति । योगिनां च देशकालविप्रकृष्टविषयमपि । एवं कामक्रोधशोकादिव्याकुलचेतसामपोहनं च स्मृतिज्ञानयोरपायश्च मत्त एव भवति ।**

40 **एवं स्वस्य जीवरूपतामुक्त्वा ब्रह्मरूपतामाह--वेदैश्च सर्वैरिन्द्रादिदेवताप्रकाशकैरपि अहमेव वेद्यः सर्वात्मत्वात् ।**

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥'

इति मन्त्रवर्णात् । 'एष उ ह्येव सर्वे देवाः' इति च श्रुतेः । वेदान्तकृद्वेदान्तार्थसंप्रदायप्रवर्तको वेदव्यासादिरूपेण । न केवलमेतावदेव वेदविदेव चाहं कर्मकाण्डोपासनाकाण्डज्ञानकाण्डात्मकमन्त्र-ब्राह्मणरूपसर्ववेदार्थविच्चाहमेव । अतः साधूक्तं ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमित्यादि ॥ 15 ॥

41 **एवं सोपाधिकमात्मानमुक्त्वा क्षराक्षरशब्दवाच्यकार्यकारणोपाधिद्वयवियोगेन निरुपाधिकं शुद्ध-**

[मैं ही सभी प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामीरूप से स्थित हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है, मैं ही सब वेदों द्वारा वेद्य – जानने के योग्य हूँ तथा मैं ही वेदान्त का कर्ता और वेदों को जाननेवाला हूँ ॥ 15 ॥]

39 मैं सब अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त प्राणिसमूह के हृदय – बुद्धि में आत्मा होकर संनिविष्ट – स्थित हूँ, श्रुति भी कहती है – 'वह यह जीव इसमें प्रविष्ट हुआ है' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.6); 'इस जीवरूप से प्रविष्ट होकर मैं नाम और रूपों का विभाग करता हूँ' (छान्दोग्योपनिषद्, 6.3.2) – इत्यादि । अत: मुझ आत्मारूप हेतु से ही प्राणिसमूह की यथायोग्य स्मृति = इस जन्म में पूर्वजन्मानुभूत-विषयक वृत्ति और योगियों की जन्मान्तरानुभूत-विषयक भी वृत्ति होती है । इसीप्रकार मुझसे ही विषय और इन्द्रिय के संयोग से होनेवाला ज्ञान होता है और योगियों का देश और काल से व्यवहित विषयसम्बन्धी ज्ञान होता है । इसीप्रकार काम, क्रोध, शोकादि से व्याकुल चित्तवालों का अपोहन = स्मृति और ज्ञान का अपाय – लोप भी मुझसे ही होता है ।

40 इसप्रकार अपनी जीवरूपता कहकर ब्रह्मरूपता कहते हैं :-- इन्द्रादि देवताओं के प्रकाशक सब वेदों द्वारा भी मैं ही वेद्य – जानने योग्य हूँ, क्योंकि मैं सबका आत्मा हूँ, जैसा कि इस मन्त्रवर्ण से भी सिद्ध होता है –

"आत्मा को ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं, वही सुन्दर पंखोवाला दिव्य गरुड है, उसको ही अग्नि, यम और मातरिश्वा-पवन भी कहते हैं -- इसप्रकार एक होने पर भी उसको विप्रजन अनेक प्रकार से कहते हैं" ।

श्रुति भी कहती है -- 'यही समस्त देवतारूप है' -- इत्यादि । मैं ही वेदान्तकृत् = वेदव्यासादिरूप

मात्मानं प्रतिपादयति कृपया भगवानर्जुनाय त्रिभिः श्लोकैः –

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ 16 ॥

42 **द्वाविमौ पृथग्राशीकृतौ पुरुषौ पुरुषोपाधित्वेन पुरुषशब्दव्यपदेश्यौ लोके संसारे । कौ तावित्याह– क्षरश्चाक्षर एव च क्षरतीति क्षरो विनाशी कार्यराशिरेकः पुरुषः । न क्षरतीत्यक्षरो विनाशरहितः क्षराख्यस्य पुरुषस्योत्पत्तिबीजं भगवतो मायाशक्तिर्द्वितीयः पुरुषः । तौ पुरुषौ व्याचष्टे स्वयमेव भगवान्क्षरः सर्वाणि भूतानि समस्तं कार्यजातमित्यर्थः । कूटस्थः कूटो यथार्थवस्त्वाच्छादनेनायथार्थवस्तुप्रकाशनं वञ्चनं मायेत्यनर्थान्तरम् । तेनाऽऽवरणविक्षेपशक्तिद्वयरूपेण स्थितः कूटस्थो भगवान्मायाशक्तिरूपः कारणोपाधिः संसारबीजत्वेनाऽऽनन्त्यादक्षर उच्यते ।**

43 **केचित्तु क्षरशब्देनाचेतनवर्गमुक्त्वा कूटस्थोऽक्षर उच्यत इत्यनेन जीवमाहुः । तन्न सम्यक् ।**

से वेदान्तार्थ के सम्प्रदाय का प्रवर्तक हूँ । न केवल इतना ही, मैं ही वेदविद्– वेदवेत्ता भी हूँ अर्थात् कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डमय मन्त्र और ब्राह्मणरूप सब वेदार्थ को जाननेवाला मैं ही हूँ । अतः 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्'= 'मैं ही ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ'– यह ठीक ही कहा है ॥ 15 ॥

41 इसप्रकार सोपाधिक आत्मा को कहकर क्षर और अक्षर शब्दों से वाच्य कार्य और कारणरूप दोनों उपाधियों के निषेध द्वारा भगवान् अर्जुन पर कृपा करके तीन श्लोकों से निरुपाधिक शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन करते हैं :–

[इस संसार में क्षर – नाशवान् और अक्षर – अविनाशी भी -- ये दो पुरुष हैं, उनमें सब भूत = समस्त कार्यसमूह क्षर है और कूटस्थ अक्षर कहा जाता है ॥ 16 ॥]

42 इस लोक = संसार में पुरुष की उपाधिवाले होने से 'पुरुष' शब्द द्वारा कहे जानेवाले पृथक्-पृथक् राशि -- समुदायरूप में किये हुए ये दो पुरुष हैं । वे दो पुरुष कौन है ? यह कहते हैं :– वे दो पुरुष क्षर और अक्षर भी हैं = जो क्षरित होता है वह क्षर अर्थात् विनाशी कार्यराशि – कार्यसमूह एक पुरुष है और जो क्षरित नहीं होता है वह अक्षर अर्थात् विनाशरहित – अविनाशी 'क्षर' नामक पुरुष की उत्पत्ति का बीज -- कारण भगवान् की मायाशक्तिरूप द्वितीय पुरुष है । उन दोनों पुरुषों की व्याख्या भगवान् स्वयं ही करते है -- 'क्षर' सम्पूर्ण भूत अर्थात् समस्त कार्यसमूह है और कूटस्थ[19] = 'कूट' यथार्थ वस्तु के आच्छादन से अयथार्थ वस्तु का प्रकाशन है – इसके वञ्चन, माया -- ये सब अनर्थान्तर -- पर्याय हैं, उस आवरण और विक्षेप शक्तिद्वयरूप से स्थित कूटस्थ -- भगवान् की मायाशक्तिरूप कारण-उपाधि संसार की बीज-कारणरूप होने से अनन्त है, अतः 'अक्षर' कहा जाता है ।

43 कोई तो 'क्षर' शब्द से अचेतन वर्ग को कहकर 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' = 'कूटस्थ अक्षर कहा

---

19. श्रीधरस्वामी ने 'कूटस्थ' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है – "कूटः शिलाराशि पर्वत इव देहेषु नश्यत्स्वपि निर्विकारतया तिष्ठतीति कूटस्थश्चेतनो भोक्ता, स तु अक्षरः पुरुष इत्युच्यते विवेकिभिः" = 'कूट = शिलाराशि है, जो पर्वत के समान देहों का नाश होने पर भी निर्विकाररूप से स्थित रहता है वह कूटस्थ चेतन भोक्ता है, वह 'अक्षर' पुरुष है – ऐसा विवेकीजन कहते हैं', यह व्याख्या उपयुक्त नहीं है, क्योंकि प्रकृत में क्षेत्रज्ञ ही पुरुषोत्तमरूप से प्रतिपाद्य – इष्ट है, अन्यथा 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गीता, 13.2) -- इससे 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (गीता, 15.17) – इसका विरोध होगा ।

क्षेत्रज्ञस्यैवेह पुरुषोत्तमत्वेन प्रतिपाद्यत्वात् । तस्मात्क्षराक्षरशब्दाभ्यां कार्यकारणोपाधी उभावपि जडावेवोच्येते इत्येव युक्तम् ॥ 16 ॥

44 आभ्यां क्षराक्षराभ्यां विलक्षणः क्षराक्षरोपाधिद्वयदोषेणास्पृष्टो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ 17 ॥

45 उत्तम उत्कृष्टतमः पुरुषस्त्वन्योऽन्य एवात्यन्तविलक्षण आभ्यां क्षराक्षराभ्यां जडराशिभ्यामुभयभासकस्तृतीयश्चेतनराशिरित्यर्थः । परमात्मेत्युदाहृतोऽन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयेभ्यः पञ्चभ्योऽविद्याकल्पितात्मभ्यः परमः प्रकृष्टोऽकल्पितो ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्युक्त आत्मा च सर्वभूतानां प्रत्यक्चेतन इत्यतः परमात्मेत्युक्तो वेदान्तेषु । यः परमात्मा लोकत्रयं भूर्भुवःस्वराख्यं सर्वं जगदिति यावत् । आविश्य स्वकीयया मायाशक्त्याऽधिष्ठाय बिभर्ति सत्तास्फूर्तिप्रदानेन धारयति पोषयति च । कीदृशः, अव्ययः सर्वविकारशून्य ईश्वरः सर्वस्य नियन्ता नारायणः स उत्तमः पुरुषः परमात्मेत्युदाहृत इत्यन्वयः । स उत्तमः पुरुष इति श्रुतेः ॥ 17 ॥

जाता है' – इससे जीव को कहते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि क्षेत्रज्ञ ही यहाँ पुरुषोत्तमरूप से प्रतिपाद्य - इष्ट है, अन्यथा 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गीता, 13.2) – इससे 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (गीता, 15.17) -- इसका विरोध होगा । अतः क्षर और अक्षर – शब्दों से कार्योपाधि और कारणोपाधि – इन दो जड़ों को ही कहा जाता है – यही युक्तियुक्त है ॥ 16 ॥

44 इन क्षर और अक्षर -- दोनों से विलक्षण, क्षर और अक्षर -- दोनों उपाधियों के दोष से अस्पृष्ट – असम्बद्ध नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव --

[उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण, पोषण करता है, जो अव्यय -- अविकारी और ईश्वर-- सबका नियन्ता है और जो 'परमात्मा' कहा गया है ॥ 17 ॥]

45 उत्तम[20] = उत्कृष्टतम -- अति उत्तम पुरुष तो अन्य ही है = इस क्षर और अक्षर -- दोनों जड़राशियों से अत्यन्त विलक्षण है अर्थात् दोनों का प्रकाशक तृतीय चेतनराशि है । वह 'परमात्मा' कहा गया है = अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय -- इन पाँच अविद्याकल्पित आत्माओं से परम -- प्रकृष्ट अकल्पित 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' -- श्रुति से उक्त आत्मा है और सब भूतों का प्रत्यक्चेतन है, अतः वेदान्तों में 'परमात्मा' कहा गया है । जो परमात्मा भूः, भुवः और स्वः संज्ञक तीनों लोकों में अर्थात् सम्पूर्ण जगत् में प्रवेश करके = अपनी मायाशक्ति से उसको अधिष्ठित करके सबको धारण करता है सत्ता और स्फूर्ति प्रदान से सबका धारण – पोषण करता है । वह कैसा है ? अव्यय[21] = सर्वविकारशून्य ईश्वर[22] = सबका नियन्ता नारायण वह उत्तम पुरुष 'परमात्मा'

---

20. उत्तमः = उत् + तमः = 'उत्' – उद्गत– तिरोहित हुआ है 'तमः' = अविद्यारूप अन्धकार जिससे, अथवा तम आदि तीनों गुण उद्गत–तिरोहित हुए हैं जिससे वह उत्तमः–गुणातीत अर्थात् उत्कृष्टतम है । इसको पुरुष कहा जाता है, क्योंकि यह सबके पहले ही विद्यमान है और सबके हृदयरूपी पुरी में पूर्णरूप से सदा ही स्थित है ।

21. न विद्यते व्ययो यस्य सोऽव्ययः । अथवा, अव्ययः सर्वज्ञत्वेन ईश्वरधर्मेण अल्पज्ञत्वेन जीवधर्मेण वा न व्येति वर्धते क्षीयते वेत्यर्थः ।

22. 'संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1.8) = 'ईश संयुक्त क्षर और अक्षर तथा व्यक्त और अव्यक्त – सबका पालन-पोषण करता है' – इस श्रुति के अर्थ को ग्रहण कर प्रकृत में 'ईश्वर' कहा गया है ।

46 इदानीं यथाव्याख्यातेश्वरस्य क्षराक्षरविलक्षणस्य पुरुषोत्तम इत्येतत्प्रसिद्धनामनिर्वचनेनेदृशः परमेश्वरोऽहमेवेत्यात्मानं दर्शयति भगवान्ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहं तद्धाम परमं ममेत्यादिप्रागुक्त-निजमहिमनिर्धारणाय –

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ 18 ॥

47 यस्मात्क्षरं कार्यत्वेन विनाशिनं मायामयं संसारवृक्षमश्वत्थाख्यमतीतोऽतिक्रान्तोऽहं परमेश्वरोऽक्षरादपि मायाख्यादव्याकृतादक्षरात्परतः पर इति पञ्चम्यन्ताक्षरपदेन श्रुत्वा प्रतिपादि-तात्संसारवृक्षबीजभूतात्सर्वकारणादपि चोत्तम उत्कृष्टतमः, अतः क्षराक्षराभ्यां पुरुषोपाधिभ्याम-ध्यासेन पुरुषपदव्यपदेश्याभ्यामुत्तमत्वादस्मि भवामि लोके वेदे च प्रथितः प्रख्यातः पुरुषोत्तम इति स उत्तमः पुरुष इति वेद उदाहृत एव लोके च कविकाव्यादौ 'हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः' इत्यादि प्रसिद्धम् ।

कारुण्यतो नरवदाचरतः परार्थान्पार्थाय बोधितवतो निजमीश्वरत्वम् ।
सच्चित्सुखैकवपुषः पुरुषोत्तमस्य नारायणस्य महिमा न हि मानमेति ॥

कहा गया है – यह अन्वय है, इसमें श्रुति प्रमाण है – 'स उत्तमः पुरुषः' = 'वह उत्तम पुरुष है ॥ 17 ॥

46 अब, 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहं, तद्धाम परमं मम' -- इत्यादि से पूर्व में उक्त अपनी महिमा का निर्धारण – निश्चय करने के लिए भगवान् यथाव्याख्यात क्षर और अक्षर से विलक्षण ईश्वर के 'पुरुषोत्तम' -- इस प्रसिद्ध नाम के निर्वचन से 'ऐसा परमेश्वर मैं ही हूँ' - इसप्रकार आत्मस्वरूप को प्रदर्शित करते हैं :--

[क्योंकि मैं क्षर -- नाशवान् जड़वर्ग क्षेत्र से तो सर्वथा अतीत हूँ और अक्षर = माया संज्ञक अव्याकृत से भी उत्तम हूँ, अतः लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥ 18 ॥]

47 क्योंकि मैं परमेश्वर क्षर = कार्यरूप होने से विनाशी, अश्वत्थ संज्ञक मायामय संसारवृक्ष से अतीत -- अतिक्रान्त हूँ और अक्षर = 'अक्षरात्परतः परः' -- इसप्रकार पञ्चम्यन्त 'अक्षर' पद के द्वारा श्रुति से प्रतिपादित, संसारवृक्ष के बीजभूत सबके कारण मायासंज्ञक अव्याकृत से भी उत्तम = उत्कृष्टमय -- अतिउत्तम हूँ, अतः अध्यासवश 'पुरुष' पद से व्यपदेश्य -- व्यवहार्य क्षर और अक्षर -- दो पुरुषों की उपाधियों से उत्तम होने के कारण मैं लोक और वेद में 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रथित -- प्रसिद्ध = प्रख्यात हूँ, 'स उत्तमः पुरुषः' -- ऐसा वेद-श्रुति में कहा ही है । लोक में भी जैसे -- कवि कालिदास के रघुवंशमहाकाव्य में 'हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः' (तृतीयसर्ग, 49) = 'जिसप्रकार विष्णु ही केवल पुरुषोत्तम कहे जाते हैं' -- इत्यादि प्रसिद्ध है ।

"करुणावश मनुष्य के समान दूसरों के हित का आचरण करते हुए जिन्होंने पार्थ -- अर्जुन को अपने ईश्वरत्व का बोध कराया उन सच्चिदानन्दविग्रह पुरुषोत्तम नारायण की महिमा का कोई परिमाण नहीं है । कोई विशुद्ध चित्त और निर्मल बुद्धिवाले योगपरायण पुरुष इन्द्रियों का निग्रह कर, भोगों का त्याग कर, योग में स्थित होकर मुक्ति के लिए यत्न करते हैं, किन्तु मैं तो अमृत -- अमृतत्व

केचिन्निगृह्य करणानि विसृज्य भोगमास्थाय योगममलात्मधियो यतन्ते ।
नारायणस्य महिमानमनन्तपारमास्वादयन्नमृतसारमहं तु मुक्तः ॥ 18 ॥

48 **एवं नामनिर्वचनज्ञाने फलमाह –**

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ 19 ॥

49 **यो मामीश्वरमेवं यथोक्तनामनिर्वचनेनासंमूढो मनुष्य एवायं कश्चित्कृष्ण इतिसंमोहवर्जितो जानात्ययमीश्वर एवेति पुरुषोत्तमं प्राग्व्याख्यातं स मां भजति सेवते सर्वमिन्मां सर्वात्मानं वेत्तीति स एव सर्वज्ञः सर्वभावेन प्रेमलक्षणेन भक्तियोगेन हे भारत । अतो यदुक्तम् –**

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥'

इति तदुपपन्नम् । यच्चोक्तं 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इति तदप्युपपन्नतरम् ।

चिदानन्दाकारं जलदरुचि सारं श्रुतिगिरां
व्रजस्त्रीणां हारं भवजलधिपारं कृतधियाम् ।
विहन्तुं भूभारं विदधदवतारं मुहुरहो
महो वारंवारं भजत कुशलारम्भकृतिनः ॥ 19 ॥

इदानीमध्यायार्थं स्तुवन्नुपसंहरति–

की सारभूत भगवान् नारायण की अनन्त, अपार महिमा का आस्वादन करते हुए ही मुक्त हो गया हूँ" ॥ 18 ॥

48 इसप्रकार नाम के निर्वचन का ज्ञान होने में फल कहते हैं:--

[हे भारत ! जो संमोहहीन पुरुष मुझको इसप्रकार पुरुषोत्तम जानता है वह सर्ववित् ही मुझको सर्वभाव से भजता है ॥ 19 ॥]

49 जो असंमूढ = 'यह कृष्ण कोई मनुष्य ही है' -- इसप्रकार के संमोह से रहित पुरुष मुझ ईश्वर को यथोक्त नाम के निर्वचन द्वारा 'यह ईश्वर ही है' -- इसप्रकार पूर्वव्याख्यात पुरुषोत्तम जानता है, हे भारत ! वह सर्ववित् = 'मुझ सर्वात्मा को जानता है' -- इसप्रकार वह ही सर्वज्ञ सर्वभाव = प्रेमस्वरूप भक्तियोग से मुझको भजता है -- मेरा सेवन करता है । अतः यह जो कहा है -- "जो पुरुष तो अव्यभिचारी भक्तियोग से मेरा सेवन करता है वह इन सत्त्वादि तीन गुणों का सम्यक्प्रकार से अतिक्रमण -- उल्लंघन कर ब्रह्मभाव -- मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग्य होता है " (गीता, 14.26) ।

वह ठीक ही है । तथा यह जो कहा है कि 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' = 'मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ' -- वह तो और भी युक्तियुक्त है ।

"हे शुभकार्यकृतिजनों ! जो चिदानन्दस्वरूप, जलदरुचि-- श्यामकान्ति-- मेघश्याम, वेदवाणी का सारभूत, व्रजगोपाङ्गनाओं के हृदय का हार, ज्ञानीजनों के लिए भवसागर का पार और भूभार को नष्ट करने के लिए बार-बार अवतार ग्रहण करनेवाला है अहो ! उस तेज का बार-बार भजन करो ॥ 19 ॥

50 अब अध्याय के अर्थ-भावार्थ की स्तुति करते हुए उपसंहार करते हैं --

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ 20 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ 15 ॥

51 इति अनेन प्रकारेण गुह्यतमं रहस्यतमं संपूर्णं शास्त्रमेव संक्षेपेणेदमस्मिन्नध्याये मयोक्तं हेऽनघाव्यसन । एतद्बुद्ध्वाऽन्योऽपि यः कश्चिद्बुद्धिमानात्मज्ञानवान्स्यात्कृतं सर्वं कृत्यं येन न पुनः कृत्यान्तरं यस्यास्ति स कृतकृत्यश्च स्यात् । विशिष्टजन्मप्रसूतेन ब्राह्मणेन यत्कर्तव्यं तत्सर्वं भगवत्तत्त्वे विदिते कृतं भवेत्, न त्वन्यथा कर्तव्यं परिसमाप्यते कस्यचिदित्यभिप्रायः । हे भारत त्वं तु महाकुलप्रसूतः स्वयं च व्यसनरहित इति कुलगुणेन स्वगुणेन चैतद्बुद्ध्वा कृतकृत्यो भविष्यसीति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ 20 ॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥ 1 ॥
सदा सदानन्दपदे निमग्नं मनो मनोभवमपाकरोति ।
गतागतायासमपास्य सद्यः परापरातीतमुपैति तत्त्वम् ॥ 2 ॥
शैवाः सौराश्च गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः ।
भवन्ति यन्मयाः सर्वे सोऽहमस्मि परः शिवः ॥ 3 ॥

[हे अनघ ! हे निष्पाप ! इसप्रकार मैंने तुमको यह अतिरहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र कहा है । हे भारत ! इसको तत्त्व से जानकर मनुष्य बुद्धिमान् -- ज्ञानवान् और कृतकृत्य-कृतार्थ हो जाता है ।। 20 ।।]

51 इसप्रकार हे अनघ[23] ! हे अव्यसन ! इस अध्याय में संक्षेप से मैंने तुमको सम्पूर्ण गुह्यतम = रहस्यतम = अतिरहस्ययुक्त शास्त्र[24] ही कह दिया है । इसको जानकर जो कोई अन्य भी बुद्धिमान् = आत्मज्ञानवान् हो जायेगा और कृतकृत्य = जिसने सब कृत्य कर लिये हैं, जिसका कोई अन्य कृत्य करने को शेष नहीं रहा है ऐसा कृतकृत्य हो जायेगा । विशिष्ट कुल में उत्पन्न ब्राह्मण का जो कुछ कर्तव्य है वह सब भगवत्तत्त्व का ज्ञान होने पर सम्पादित हो जाता है, अन्यथा बिना भगवत्तत्त्व का ज्ञान हुए किसी का कर्तव्य समाप्त नहीं होता है[25] -- यह अभिप्राय है । हे भारत ! तुम तो महाकुल में उत्पन्न हुए हो और स्वयं भी व्यसनरहित -- दोषरहित हो -- इसप्रकार कुलगुण से और स्वगुण से इसको जानकर कृतकृत्य होओगे -- इसमें तो कहना ही क्या है -- यह अभिप्राय है ।। 20 ।।

"वंशी से विभूषित हाथवाले, नवीन नीरद -- श्याममेघ की-सी कान्तिवाले, पीताम्बरधारी, लाल बिम्बफल के समान अधरोष्ठवाले, पूर्ण चन्द्र के समान मुखवाले और कमल के समान नेत्रवाले श्रीकृष्ण से पर -- श्रेष्ठ किसी भी तत्त्व को मैं नहीं जानता हूँ ।। 1 ।।

सदा सदानन्द पद में निमग्न हुआ मन मनोभाव को दूर करता है, गतागत के श्रम को दूरकर शीघ्र ही पर और अपर से अतीत तत्त्व को प्राप्त करता है ।। 2 ।।

शैव, सौर -- सूर्योपासक, गाणेश -- गणेशोपासक, वैष्णव और शक्तिपूजक -- ये सब जिस तत्त्व में निमग्न रहते हैं वह परम शिव मैं ही हूँ ।। 3 ।।

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम् ।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः ॥ 4 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ 15 ॥

जो मूढजन प्रमाण से भी निर्णीत अद्भुत श्रीकृष्ण के माहात्म्य को सहन नहीं कर सकते हैं वे नरकगामी होते हैं ।। 4 ।।

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का पुरुषोत्तमयोग नामक पञ्चदश अध्याय समाप्त होता है ।

23. 'हे अर्जुन ! तुम्हारा जैसा अनघ – अव्यसन – निष्पाप उक्त शास्त्र का अधिकारी है' – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

24. यद्यपि सम्पूर्ण 'गीता' को ही शास्त्र कहा जाता है, तथापि यहाँ स्तुति के लिए प्रकरण होने से यह पन्द्रहवाँ अध्याय ही 'शास्त्र' कहा गया है, क्योंकि इस अध्याय में केवल गीताशास्त्र का अर्थ ही संक्षेप में नहीं कहा गया है, किन्तु इसमें समस्त वेदों का अर्थ भी समाप्त होता है, ऐसा इस अध्याय के पूर्व में ही कहा भी गया है – 'यस्तं वेद स वेदविद्' (गीता, 15.1); 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता, 15.15) = 'जो उसको जानता है वह वेदवित् है', 'समस्त वेदों से मैं ही वेद्य – जानने योग्य हूँ' ।

25. भगवान् ने स्वयं गीता में भी कहा है– 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (गीता, 4.33) = 'हे पार्थ ! सब कर्म ज्ञान में समाप्त होते हैं' । इसीप्रकार मनु का भी वचन है :–

''एतद्धि जन्मसामग्र्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ।। (मनुस्मृति, 12.93)

''द्विजोत्तम आत्मज्ञान, इन्द्रियनिग्रह और वेदाभ्यास में यत्नवान् रहे । विशेषकर ब्राह्मण के जन्म की सफलता इसी में है । इस मोक्ष को पाकर ही द्विज कृतकृत्य होता है, अन्यथा नहीं' ।

अथ षोडशोऽध्यायः

1 **अनन्तराध्याये 'अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' इत्यत्र मनुष्यदेहे प्राग्भवीयकर्मानुसारेण व्यज्यमाना वासनाः संसारस्यावान्तरमूलत्वेनोक्तास्ताश्च दैव्यासुरी राक्षसी चेति प्राणिनां प्रकृतयो नवमेऽध्याये सूचिताः । तत्र वेदबोधितकर्मात्मज्ञानोपायानुष्ठानप्रवृत्तिहेतुः सात्त्विकी शुभवासना दैवी प्रकृतिरित्युच्यते । एवं वैदिकनिषेधातिक्रमेण स्वभावसिद्धरागद्वेषानुसारिसर्वानर्थहेतुप्रवृत्तिहेतुभूता राजसी तामसी चाशुभवासनाऽऽसुरी राक्षसी च प्रकृतिरुच्यते । तत्र च विषयभोगप्राधान्येन रागप्राबल्यादासुरीत्वं हिंसाप्राधान्येन द्वेषप्राबल्याद्राक्षसीत्वमिति विवेकः । संप्रति तु शास्त्रानुसारेण तद्विहितप्रवृत्तिहेतुभूता सात्त्विकी शुभवासना दैवी संपत्, शास्त्रातिक्रमेण तन्निषिद्धविषयप्रवृत्तिहेतुभूता राजसी तामसी चाशुभवासना राक्षस्यासुर्योरेकीकरणेनाऽऽसुरी संपदिति द्वैराश्येन शुभाशुभवासनाभेदं 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं शुभानामादानायाशुभानां हानाय च प्रतिपादयितुं षोडशोऽध्याय आरभ्यते । तत्राऽऽदौ श्लोकत्रयेणाऽऽदेयां दैवीं संपदम् –**

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ 1 ॥

1 पूर्व अध्याय में 'अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' = 'मनुष्यलोक – मनुष्यदेह में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सर्वत्र फैल रही हैं' – इस श्लोक में मनुष्यदेह में पूर्वजन्मों के कर्मानुसार अभिव्यक्त होनेवाली वासनाएँ संसार की अवान्तर मूलरूप से कही गई हैं और वे दैवी, आसुरी और राक्षसी -- प्राणियों की प्रकृतियाँ नवम अध्याय में सूचित की गई हैं । उनमें, वेदविदित -- वेदविहित कर्म और आत्मज्ञान के उपायों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति कराने की हेतु सात्त्विकी शुभवासना 'दैवी-प्रकृति' कही जाती है । इसीप्रकार वैदिक निषेध के अतिक्रमण -- उल्लंघन से स्वभावसिद्ध राग और द्वेष के अनुरूप सब अनर्थों के हेतु में प्रवृत्ति कराने की हेतुभूता राजसी और तामसी अशुभवासनाएँ 'आसुरी और राक्षसी' प्रकृति कही जाती हैं । इनमें, विषयभोग की प्रधानता से राग की प्रबलता होने के कारण 'आसुरी' होती है और हिंसा की प्रधानता से द्वेष की प्रबलता होने के कारण 'राक्षसी' होती है -- इसप्रकार इन दोनों में विवेक-भेद है । इस समय तो शास्त्र के अनुसार शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृति की हेतुभूता सात्त्विकी शुभवासना 'दैवीसंपत्' है और शास्त्र के अतिक्रमण -- उल्लंघनपूर्वक शास्त्रनिषिद्ध विषयों में प्रवृत्ति की हेतुभूता राजसी और तामसी अशुभवासनाएँ राक्षसी और आसुरी प्रकृतियों के एकीकरण से 'आसुरीसंपत्' हैं-- इसप्रकार दो राशियों में विभक्त शुभ और अशुभ वासनाओं के भेद का, जो कि 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च' = 'देव और असुर -- ये दो प्रजापति के पुत्र थे' -- इस श्रुति में भी प्रसिद्ध है, शुभ वासनाओं के ग्रहणार्थ और अशुभ वासनाओं के हान-त्यागार्थ प्रतिपादन करने के लिए सोलहवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है । उनमें सर्वप्रथम आदेय-ग्राह्य -- ग्रहण करने योग्य 'दैवी-सम्पत्' को भगवान् तीन श्लोकों से कहते हैं :--

[श्रीभगवान् ने कहा -- हे भारत ! दैवी-सम्पत् को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष में अभय, सत्त्वसंशुद्धि --

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ 2 ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ 3 ॥

2 शास्त्रोपदिष्टेऽर्थे संदेहं विनाऽनुष्ठाननिष्ठत्वमेकाकी सर्वपरिग्रहशून्यः कथं जीविष्यामीति भयराहित्यं वाऽभयं, सत्त्वस्यान्तःकरणस्य शुद्धिर्निर्मलता तस्याः सम्यक्ता भगवत्तत्त्वस्फूर्ति-योग्यता सत्त्वसंशुद्धिः परवञ्चनमायानृतादिपरिवर्जनं वा । परस्य व्याजेन वशीकरणं परवञ्चनं, हृदयेऽन्यथा कृत्वा बहिरन्यथा व्यवहरणं माया, अयथादृष्टकथनमनृतमित्यादि । ज्ञानं शास्त्रादात्मतत्त्वस्यावगमः, चित्तैकाग्रतया तस्य स्वानुभवारूढत्वं योगः, तयोर्व्यवस्थितिः सर्वदा तन्निष्ठता ज्ञानयोगव्यवस्थितिः । यदा तु अभयं सर्वभूताभयदानसंकल्पपालनम् । एतच्चान्येषामपि परमहंसधर्माणामुपलक्षणम् । सत्त्वसंशुद्धिः श्रवणादिपरिपाकेणान्तःकरणस्यासंभावनाविपरीत-भावनादिमलराहित्यम् । ज्ञानमात्मसाक्षात्कारः । योगो मनोनाशवासनाक्षयानुकूलः पुरुषप्रयत्नस्ताभ्यां विशिष्टा संसारिविलक्षणाऽवस्थितिर्जीवन्मुक्तिर्ज्ञानयोगव्यस्थितिरित्येवं व्याख्यायते तदा फलभूतैव दैवी संपदियं द्रष्टव्या । भगवद्भक्तिं विनाऽन्तःकरणसंशुद्धेरयोगात्तया साऽपि कथिता ।

अन्तःकरणसंशुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, प्राणियों के प्रति दया, अलोलुपता, मार्दव, ह्री-लज्जा, अचापल -- अचञ्चलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह और अधिक मान न होना -- ये धर्म होते हैं ॥ 1-3 ॥]

2 शास्त्रद्वारा उपदिष्ट अर्थ में सन्देह के बिना अनुष्ठान करना, अथवा-- 'सब प्रकार के संग्रह को छोड़कर मैं अकेला कैसे जीवित रहूँगा' -- इसप्रकार के भय से रहित होना 'अभय' है[1] । सत्त्व -- अन्तःकरण की शुद्धि -- निर्मलता उसकी जो सम्यक्ता अर्थात् भगवत्तत्त्वस्फूर्ति की योग्यता है वह 'सत्त्वसंशुद्धि', अथवा-- परवञ्चना, माया, अनृत आदि का परिवर्जन--परित्याग 'सत्त्वसंशुद्धि[2]' है । दूसरे को किसी व्याज-बहाने से वश में करना 'परवञ्चन-परवञ्चना' है । हृदय में अन्य भाव रखकर बाहर दूसरे प्रकार से व्यवहार करना 'माया' है । जैसा देखा नहीं हो वैसा कहना 'अनृत' -- मिथ्या है । 'ज्ञान' शास्त्र द्वारा आत्मतत्त्व का अवगम-बोध है और चित्त की एकाग्रता द्वारा

1. प्रकृत में अधिकारी के भेद से 'अभय' के दो लक्षण किये हैं । प्रथम लक्षण कर्मी पुरुष के लिए हैं और द्वितीय लक्षण संन्यासी के लिए है ।

2. (अ) यहाँ 'सत्त्वसंशुद्धि' अधिकारीभेद से उक्त है । प्रथम लक्षण में कहा है – अन्तःकरण की निर्मलता की सम्यक्ता 'सत्त्वसंशुद्धि' है, यहाँ संशुद्धि = सम् + शुद्धि – इस पद के 'सम्' उपसर्ग के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है – सम्यक्ता अर्थात् भगवत्तत्त्वस्फूर्ति की योग्यता शुद्धि में अपेक्षित है, क्योंकि शुद्ध सत्त्वगुणोपचित अन्तःकरण में भगवत्तत्त्व की स्फूर्ति होती है, अन्यथा नहीं होती है । यह लक्षण संन्यासी के लिए है, क्योंकि उसमें परवञ्चनादि तो स्वयं निवृत्त रहते हैं । द्वितीय लक्षण कर्मी के लिए है ।

(ब) 'सत्त्वानां = दुष्टप्राणिनां व्याघ्रादीनां संशुद्धि = स्वभावपरित्यागो यस्मादितीदृशः प्रभावविशेषः सत्त्वसंशुद्धिः' = 'सत्त्वों = व्याघ्रादि दुष्ट प्राणियों की संशुद्धि = स्वभाव का परित्याग जिससे हो ऐसा प्रभावविशेष सत्त्वसंशुद्धि है, क्योंकि अन्तःकरणशुद्धि से शान्ति होती है' – यह लक्षण उचित नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणशुद्धि की अपेक्षा से व्याघ्रादि का शान्त होना परस्पर भिन्न है अतएव उक्त कल्पना अनुचित है ।

'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥'

इति नवमे दैव्यां संपदि भगवद्भक्तेरुक्तत्वाच्च । भगवद्भक्तेरतिश्रेष्ठत्वादभयादिभिः सह पाठो न कृत इति द्रष्टव्यम् ।

3 महाभाग्यानां परमहंसानां फलभूतां दैवीं संपदमुक्त्वा ततो न्यूनानां गृहस्थादीनां साधनभूतामाह–दानं स्वस्वत्वास्पदानामन्नादीनां यथाशक्ति शास्त्रोक्तः संविभागः । दमो बाह्येन्द्रियसंयम ऋतुकालाद्यतिरिक्तकाले मैथुनाद्यभावः । चकारोऽनुक्तानां निवृत्तिलक्षणधर्माणां समुच्चयार्थः । यज्ञश्च श्रौतोऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिः, स्मार्तो देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति

उसको अपने अनुभव में आरूढ -- स्थिर करना 'योग' है – इन दोनों की व्यस्थिति= सर्वदा उन्हीं में निष्ठता – निष्ठा होना 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' है । जिस समय 'अभय' सब भूतों -- प्राणियों को अभयदान के संकल्प का पालन करना होता है[3] उस समय यह परमहंस के अन्य धर्मों का भी उपलक्षण हो जाता है । 'सत्त्वसंशुद्धि' श्रवणादि के परिपाक से अन्तःकरण का असंभावना[4], विपरीतभावना[5] आदि मलों से रहित होना है । 'ज्ञान' आत्मसाक्षात्कार है और 'योग' मनोनाश और वासनाक्षय के अनुकूल पुरुष का प्रयत्न है -- उन दोनों से विशिष्ट जो संसारियों से विलक्षण अवस्थिति -- जीवन्मुक्ति है वह 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' है -- इसप्रकार जब इसकी व्याख्या की जाती है तब यह फलभूता ही 'दैवी-सम्पत्' है – यह समझना चाहिए । भगवद्-भक्ति के बिना अन्तःकरणसंशुद्धि होना सम्भव नहीं है, अतः इसके द्वारा उस भगवद्भक्ति का भी उल्लेख हो जाता है, क्योंकि नवम अध्याय में -- 'हे पार्थ ! दैवी प्रकृति के आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतों का सनातन कारण और अविनाशी अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मन से युक्त होकर निरन्तर भजते हैं' (गीता, 9.13) -- इस स्थान पर दैवी -- सम्पत् में भगवद्भक्ति भी कही गई है । भगवद्भक्ति अतिश्रेष्ठ है, इसलिए इसका अभयादि के साथ पाठ नहीं किया है -- यह समझना चाहिए ।

3 महाभाग्यशाली परमहंसों की फलभूता दैवीसंम्पत् को कहकर उनसे न्यून गृहस्थादि की साधनभूत दैवी --सम्पत् कहते हैं-- 'दान' अपने स्वत्वास्पद[6] अन्नादि का यथाशक्ति शास्त्रोक्त संविभाग करना है । 'दम' बाह्य इन्द्रियों का संयम है, ऋतुकालादि के अतिरिक्त काल में मैथुनादि का अभाव है[7] । यहाँ चकार अनुक्त निवृतिलक्षण धर्मों के समुच्चय के लिए है । 'यज्ञ' अग्निहोत्र -- दर्शपौर्णमासादि श्रौत यज्ञ हैं तथा देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ -- ये चार प्रकार के स्मार्त यज्ञ हैं, 'ब्रह्मयज्ञ'

---

3. संन्यास ग्रहण करते समय 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा' – इसप्रकार सब प्राणियों को अभय देने के संकल्प का पालन करना ही 'अभय' है । इसमें प्रमाण है – 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा संन्यासमाचरेत्' -- इत्यादि ।

4. 'तत्त्वमसि' = 'तुम वही हो' अर्थात् तुम ब्रह्म हो – यह सुनकर इसप्रकार कहना कि यह असम्भव है, यह कभी नहीं हो सकता है, तो वह 'असंभावना' है ।

5. 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' = 'ब्रह्म एक अद्वितीय है' अर्थात् ब्रह्म अद्वितीय है – इस वाक्य का अर्थ सजातीय – द्वितीयरहित में समझकर ब्रह्म के बराबर दूसरा नहीं है, यह समझना 'विपरीतभावना' है ।

6. अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन में अपना स्वत्व होता है अतएव 'स्वत्वास्पद' उक्त है ।

7. 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' – इस वचन के अनुसार ऋतुकाल में स्त्रीप्रसङ्ग का विधान है, न करने से प्रत्यवाय होगा, अतः प्रकृति में ऋतुकालादि के अतिरिक्त काल का निर्देश है ।

8. 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ (मनुस्मृति, 3.70)

'वेद का पठन-पाठन 'ब्रह्मयज्ञ', पितरों का तर्पण करना 'पितृयज्ञ', होम करना 'देवयज्ञ', जीवों को अन्न की बलि देना 'भूतयज्ञ' और अतिथि का आदर-सत्कार करना 'मनुष्ययज्ञ' है ।'

चतुर्विधः । ब्रह्मयज्ञस्य स्वाध्यायपदेन पृथगुक्तेः । चकारोऽनुक्तानां प्रवृत्तिलक्षणधर्माणां समुच्चयार्थः । एतत्त्रयं गृहस्थस्य । स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञोऽदृष्टार्थमृग्वेदाद्यध्ययनरूपः । यज्ञशब्देन पञ्चविधमहायज्ञोक्तिसंभवेऽप्यसाधारण्येन ब्रह्मचारिधर्मत्वकथनार्थं पृथगुक्तिः । तपस्त्रिविधं शारीरादि सप्तदशे वक्ष्यमाणं वानप्रस्थस्यासाधारणो धर्मः । एवं चतुर्णामाश्रमाणामसाधारणान्धर्मानुक्त्वा चतुर्णां वर्णानामसाधारणधर्मानाह--आर्जवमवक्रत्वं श्रद्दधानेषु श्रोतृषु स्वज्ञातार्थासंगोपनम् ॥ 1 ॥

4 **प्राणिवृत्तिच्छेदो हिंसा तदहेतुत्वमहिंसा । सत्यमनर्थाननुबन्धि यथाभूतार्थवचनम् । परैराक्रोशे ताडने वा कृते सति प्राप्तो यः क्रोधस्तस्य तत्कालमुपशमनमक्रोधः । दानस्य प्रागुक्तेस्त्यागः संन्यासः । दमस्य प्रागुक्तेः शान्तिरन्तःकरणस्योपशमः । परस्मै परोक्षे परदोषप्रकाशनं पैशुनं तदभावोऽपैशुनम् । दया भूतेषु दुःखितेष्वनुकम्पा । अलोलुप्त्वमिन्द्रियाणां विषयसंनिधानेऽप्यविक्रियत्वम् । मार्दवमक्रूरत्वं वृथापूर्वपक्षादिकारिष्वपि शिष्यादिष्वप्रियभाषणादिव्यतिरे-**

'स्वाध्याय' पद से पृथक् कहा गया है[8] । यहाँ द्वितीय चकार अनुक्त प्रवृत्तिलक्षण धर्मों के समुच्चय के लिए है । दान, दम और यज्ञ -- ये तीन धर्म गृहस्थ के हैं । 'स्वाध्याय' अदृष्ट प्रयोजन से ऋग्वेदादि का अध्ययनरूप ब्रह्मयज्ञ है[9] । 'यज्ञ' शब्द से पाँच प्रकार के महायज्ञों का कथन संभव होने पर भी स्वाध्याय को असाधारणरूप से ब्रह्मचारी का धर्म बतलाने के लिए पृथक् कहा है । 'तप' तीन प्रकार का है, जिसको शारीरादि भेद से सत्रहवें अध्याय में कहेंगे, यह वानप्रस्थ का असाधारण धर्म है । इसप्रकार चारों आश्रमों के असाधारण धर्मों को कहकर चार वर्णों के असाधारण धर्मों को कहते हैं -- 'आर्जव' अवक्रता -- अकुटिलता है अर्थात् श्रद्धायुक्त श्रोताओं के प्रति स्वज्ञात -- अपने जाने हुए अर्थ को नहीं छिपाना है ॥ 1 ॥

4 प्राणियों की वृत्ति -- जीविका का छेद -- नाश करना हिंसा है, उसका हेतु न बनना 'अहिंसा' है[10] । 'सत्य' जिसके परिणाम में अनर्थ न हो ऐसा यथार्थवचन -- जैसा हुआ हो वैसा कहना है[11] । दूसरों के आक्रोश[12] करने अथवा पीटने पर जो क्रोध होता है उसको तत्काल शान्त करना 'अक्रोध' है । दानरूप त्याग को पूर्व में कहा जा चुका है, अतः यहाँ 'त्याग' संन्यासपरक है । दम का कथन पहले हो चुका है, अतः यहाँ 'शान्ति' अन्तःकरण का शमन है । परोक्ष में दूसरे के प्रति दूसरे के दोषों को प्रकाशित करना पैशुन है, उसका अभाव 'अपैशुन' है । 'दया' दुःखित प्राणियों पर अनुकम्पा करना है । 'अलोलुपता' विषयों के संनिधान में भी-- विषयों के प्राप्त होने पर भी इन्द्रियों में विकार न होना है । 'मार्दव' अक्रूरता है अर्थात् शिष्यादि के वृथा ही पूर्वपक्षादि करने पर भी अप्रियभाषणादि के

इस मनुस्मृतिवचन के अनुसार स्मार्त यज्ञ पाँच हैं, यहाँ इनमें से 'ब्रह्मयज्ञ' को छोड़कर अन्य चार यज्ञों को ही स्मार्तयज्ञ इसलिए कहा है कि 'स्वाध्याय' पद से 'ब्रह्मयज्ञ' को पृथक् कहा गया है । इससे पुनरुक्तिदोष का परिहार भी हो गया है ।

9. यद्यपि स्वाध्यायरूप से ब्रह्मयज्ञ को पूर्व में पंचविध यज्ञ कहने से कहा जा सकता था, तथापि इसको यहाँ इसलिए पृथक् कहा गया है कि यह ब्रह्मचारी का भी धर्म है, केवल गृहस्थ ही का नहीं है ।

10. प्रकृत में हिंसा का हेतु न बनने को 'अहिंसा' कहा है, कारण कि साक्षात् हिंसाभाव तो दया से ही हो जाता है ।

11. जैसा कि मानववचन है – 'सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।' (मनुस्मृति, 4.138) – तथा च 'वर्णिनां हि वधे यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्' -- इत्यादि ।

12. 'तत्र त्वाक्षारणा यः स्यादाक्रोशो मैथुनं प्रति' (अमरकोश, 6.15) -- इस कोश के अनुसार परपुरुषगमन या परस्त्रीगमन विषयक दोष लगाना 'आक्रोश' है ।

केण बोधयितृत्वम् । ह्रीरकार्यप्रवृत्त्यारम्भे तत्प्रतिबन्धिका लोकलज्जा । अचापलं प्रयोजनं विनाऽपि वाक्पाण्यादिव्यापारयितृत्वं चापलं तदभावः । आर्जवादयोऽचापलान्ता ब्राह्मणस्या-साधारणा धर्माः ॥ 2 ॥

5 **तेजः प्रागल्भ्यं स्त्रीबालकादिभिर्मूढैरनभिभाव्यत्वम् । क्षमा सत्यपि सामर्थ्ये परिभवहेतुं प्रति क्रोधस्यानुत्पत्तिः । धृतिर्देहेन्द्रियेष्ववसादं प्राप्तेष्वपि तदुत्तम्भकः प्रयत्नविशेषः । येनोत्तम्भितानि करणानि शरीरं न नावसीदन्ति । एतत्त्रयं क्षत्रियस्यासाधारणम् । शौचमाभ्यन्तरमर्थप्रयोगादौ मायानृतादिराहित्यं न तु मृज्जलादिजनितं बाह्यमत्र ग्राह्यं तस्य शरीरशुद्धिरूपतया बाह्यत्वेनान्तः–करणवासनात्वाभावात् । तद्वासनानामेव सात्त्विकादिभेदभिन्नानां दैव्यासुर्यादिसंपद्रूपत्वेनात्र प्रतिपिपादयिषितत्वात् । स्वाध्यायादिवत्केनचिद्रूपेण वासनारूपत्वे तदप्यादेयमेव । द्रोहः परजिघांसया शस्त्रग्रहणादि तदभावोऽद्रोहः । एतद्द्वयं वैश्यस्यासाधारणम् । अत्यर्थं मानिताऽऽत्मनि पूज्यत्वातिशयभावनाऽतिमानिता, तदभावो नातिमानिता पूज्येषु नम्रता । अयं शूद्रस्यासाधारणो धर्मः । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाश-केन' इत्यादिश्रुत्या विवदिषौपयिकतया विनियुक्ता असाधारणाः साधारणाश्च वर्णाश्रमधर्मा इहोपलक्ष्यन्ते । एते धर्मा भवन्ति निष्पद्यन्ते दैवीं शुद्धसत्त्वमयीं संपदं वासनासंततिं शरीरारम्भ-**

विना ही उनको समझाना है । 'ह्री' अकार्यप्रवृत्ति के आरम्भ में उसको रोकनेवाली लोकलज्जा है । प्रयोजन के बिना भी वाणी, हाथ आदि को चलाते रहना चापल है, उसका अभाव 'अचापल' है[13] । 'आर्जव' से लेकर 'अचापल' पर्यन्त ब्राह्मण के असाधारण धर्म हैं ॥ 2॥

5 'तेज' प्रागल्भ्य -- प्रगल्भता है अर्थात् स्त्री, बालक आदि मूढ़ों से अभिभूत न होना है । 'क्षमा' सामर्थ्य होने पर भी अपने परिभव-तिरस्कार के हेतु-कारण के प्रति क्रोध उत्पन्न न होना है । 'धृति' देह और इन्द्रियादि के थक जाने पर भी उनको उठानेवाला प्रयत्नविशेष है, जिससे उठाये हुए इन्द्रिय और शरीर थकते नहीं हैं । तेज, क्षमा और धृति – ये तीन क्षत्रिय के असाधारण धर्म है । 'शौच' धन का व्यवहारादि करने में कपट, झूठ आदि से दूर रहना आभ्यन्तर-शौच है, यहाँ मिट्टी, जलादि से होनेवाला बाह्य शौच ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह शरीरशुद्धिस्वरूप होने से बाह्य है अतएव अन्तःकरण की वासनाओं का शोधक नहीं है तथा सात्त्विकादि भेद से भिन्न-भिन्न उसकी वासनाओं का ही यहाँ दैवी, आसुरी आदि संपद्-रूप से प्रतिपादन करना अभीष्ट है । स्वाध्यायादि के समान यदि किसी रूप से बाह्य शौच को वासनारूप मान लिया जाए तो वह यहाँ ग्राह्य ही है[14] । दूसरे की हिंसा करने के लिए शस्त्रग्रहणादि करना द्रोह है, उसका अभाव 'अद्रोह' है । शौच और अद्रोह -- यह दो वैश्य के असाधारण धर्म हैं । अत्यन्त मानिता अर्थात् अपने में पूज्यत्व की अतिशय भावना अतिमानिता है, उसका अभाव 'नातिमानिता' है अर्थात् पूज्यों के प्रति नम्रता है । यह शूद्र का असाधारण धर्म है । यहाँ 'उस इस आत्मा को ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और उपवास द्वारा जानना चाहते हैं' – इत्यादि श्रुति से विविदिषा--जिज्ञासा में उपयोगी होने से विनियुक्त असाधारण और साधारण वर्णाश्रम-धर्मों को उपलक्षित किया गया है । शरीरारम्भ के समय पुण्य कर्मों द्वारा अभिव्यक्त शुद्धसत्त्वमयी दैवी-सम्पत् अर्थात् वासनासन्तति को लक्षित करके उत्पन्न हुए पुरुष में ये धर्म स्वभावतः होते हैं, 'उसमें विद्याकर्म और पूर्वप्रज्ञा प्रकट हो जाती है', 'पुण्य कर्म से पुण्यात्मा होता है और पापकर्म से पापात्मा होता है'

---

13. 'न कुर्वीत वृथाचेष्टाम्' (मनुस्मृति, 4.63) – इस मनुवचन से भी चापल का निषेध किया गया है ।
14. यहाँ बाह्य शौच का प्रतिषेध भाष्यविरुद्ध है, अतएव उक्त कथन है ।

काले पुण्यकर्मभिरभिव्यक्तामभिलक्ष्य जातस्य पुरुषस्य 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च'। 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इत्यादिश्रुतिभ्यः। हे भारतेति संबोधयञ्शुद्ध-वंशोद्भवत्वेन पूतत्वात्त्वमेतादृशधर्मयोग्योऽसीति सूचयति ॥ 3 ॥

6 **आदेयत्वेन दैवीं संपदमुक्त्वेदानीं हेयत्वेनाऽऽसुरीं संपदमेकेन श्लोकेन संक्षिप्याऽऽह–**

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ 4 ॥

7 **दम्भो धार्मिकतयाऽऽत्मनः ख्यापनं तदेव धर्मध्वजित्वम्। दर्पो धनस्वजनादिनिमित्तो महदवधीरणाहेतुर्गर्वविशेषः। अतिमान आत्मन्यत्यन्तपूज्यत्वातिशयाध्यारोपः 'देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽऽसुरा अतिमानेनैव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेति स्वेष्वेवाऽऽस्येषु जुह्वतश्चेरुस्तेऽतिमानेनैव पराबभूवुस्तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य ह्येतन्मुखं यदतिमानः' इतिशतपथश्रुत्युक्तः। क्रोधः स्वपरापकारप्रवृत्तिहेतुरभिज्वलनात्मकोऽन्तः-करणवृत्तिविशेषः। पारुष्यं प्रत्यक्षरूक्षवदनशीलत्वम्। चकारोऽनुक्तानां भावभूतानां चापलादिदोषाणां समुच्चयार्थः। अज्ञानं कर्तव्याकर्तव्यादिविषयविवेकाभावः। च शब्दोऽनुक्ता-नामभावभूतानामधृत्यादिदोषाणां समुच्चयार्थः। आसुरीमसुररमणहेतुभूतां रजस्तमोमयीं संपदम-**

– इत्यादि श्रुतियों से यही अर्थ अभिव्यक्त होता है। 'हे भारत'! – इस सम्बोधन से भगवान् यह सूचित करते हैं कि 'शुद्धवंश में उत्पन्न होने के कारण पवित्र होने से तुम ऐसे धर्म के योग्य हो' ॥ 3 ॥

6 ग्राह्यरूप से दैवी – संपत् को कहकर अब हेय-त्याज्यरूप से आसुरी-संपत् को एक श्लोक से संक्षेप में कहते हैं :--

[हे पार्थ ! आसुरी-संपत् को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष में दम्भ, दर्प, अतिमान-अभिमान, क्रोध, पारुष्य -- कठोर वचन और अज्ञान -- ये धर्म रहते हैं ॥ 4 ॥]

7 'दम्भ' अपने को धार्मिकरूप से ख्यापित -- प्रकाशित करना है, वही 'धर्मध्वजित्व' है। 'दर्प' धन या स्वजनादि के कारण दूसरे की अवहेलना का हेतु गर्वविशेष है। 'अतिमान' अपने में अत्यन्त पूज्यत्वातिशय का अध्यारोप – आरोप करना है; 'देवता और असुर -- ये दोनों ही प्रजापति के पुत्र थे, वे आपस में स्पर्धा करने लगे, तब असुरों ने अतिमान से ही विचार किया कि हम किसमें हवन करें ? अतः उन्होंने अपने मुखों में ही हवन किया। वे अतिमान के कारण पराभव को प्राप्त हुए, इसलिए कभी अतिमान न करे, क्योंकि यह जो अतिमान है वह पराभव का ही कारण है' – यह शतपथ श्रुति ने कहा है। 'क्रोध' अपने और पराये का अपकार करने की प्रवृत्ति की हेतुभूता अन्तःकरण की ज्वलनात्मिका वृत्तिविशेष है। 'पारुष्य' सामने ही रूखा बोलने का स्वभाव है। यहाँ चकार अनुक्त भावभूत चापलादि दोषों के समुच्चय के लिए है। 'अज्ञान' कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य आदि विषयों के विवेक का अभाव है। यहाँ द्वितीय चकार अनुक्त अभावभूत अधृति आदि दोषों के समुच्चय के लिए है। शरीरारम्भ के समय पाप कर्मों के कारण अभिव्यक्त हुई आसुरी – असुरों के रमण की हेतुभूता रजोगुण -- तमोगुणमयी संपत् अर्थात् अशुभवासनासन्तति को लक्ष्य करके उत्पन्न हुए कुपुरुष -- असत्पुरुष में 'दम्भ' से लेकर अज्ञान पर्यन्त दोष ही होते

शुभवासनासंततिं शरीरारम्भकाले पापकर्मभिरभिव्यक्तामभिलक्ष्य जातस्य कुपुरुषस्य दम्भाद्या अज्ञानान्ता दोषा एव भवन्ति न त्वभयाद्या गुणा इत्यर्थः । हे पार्थेति संबोधयन्विशुद्धमातृकत्वेन तदयोग्यत्वं सूचयति ॥ 4 ॥

8 अनयोः संपदोः फलविभागोऽभिधीयते –

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ 5 ॥

9 यस्य वर्णस्य यस्याऽऽश्रमस्य च या विहिता सात्त्विकी फलाभिसंधिरहिता क्रिया सा तस्य दैवी संपत्सा सत्त्वशुद्धिभगवद्भक्तिज्ञानयोगस्थितिपर्यन्ता सती संसारबन्धनाद्विमोक्षाय कैवल्याय भवति । अतः सैवोपादेया श्रेयोर्थिभिः । या तु यस्य शास्त्रनिषिद्धा फलाभिसंधिपूर्वा साहंकारा च राजसी तामसी क्रिया तस्य सा सर्वाऽप्यासुरी संपत् । अतो राक्षस्यपि तदन्तर्भूतैव । सा निबन्धाय नियताय संसारबन्धाय मता संमता शास्त्राणां तदनुसारिणां च । अतः सा हेयैव श्रेयोर्थिभिरित्यर्थः । तत्रैवं सत्यहं कया संपदा युक्त इति संदिहानमर्जुनमाश्वासयति भगवान्--मा

हैं अर्थात् असत्पुरुष में अभयादि गुण नहीं होते हैं । हे पार्थ[15] !' – इस सम्बोधन से 'तुम विशुद्ध -- पवित्र 'पृथा' माता से उत्पन्न हो, अतः तुम उक्त दोषों के योग्य नहीं हो' -- यह सूचित करते हैं ॥ 4 ॥

8 इन दोनों सम्पदों के फलविभाग को कहते हैं :--

[हे पाण्डव ! हे अर्जुन ! दैवी संपत् मोक्ष के लिए होती है और आसुरी संपत् बन्धन के लिए मानी गई है । तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम दैवी संपत् को लक्ष्य बनाकर उत्पन्न हुए हो ॥ 5 ॥]

9 जिस वर्ण और जिस आश्रम की जो फलाभिसंधि -- फलकामना से रहित सात्त्विकी क्रिया विहित है वह उसकी 'दैवी - संपत्' है । वही सत्त्वशुद्धि, भगवद्भक्ति अथवा ज्ञानयोगस्थिति पर्यन्त रहती हुई विमोक्ष = संसारबन्धन से मोक्ष -- कैवल्य के लिए होती है[16], अत: वही कल्याणार्थियों के लिए उपादेय -- ग्राह्य है । जिस वर्ण या आश्रम की जो तो शास्त्रनिषिद्ध, फलाशापूर्वक अंहकार सहित राजसी -- तामसी क्रिया है वह सभी उसकी 'आसुरी - संपत्' है, अत: राक्षसी -- प्रकृति भी उस आसुरी -- संपत् के अन्तर्गत ही है । शास्त्र और शास्त्रानुयायियों के मत -- सम्मत में वह निबन्ध = नियत संसारबन्धन के लिए है, अत: वह कल्यार्थियों के लिए हेय -- त्याज्य ही है । ऐसी परिस्थिति होने पर 'मैं किस संपत् से युक्त हूँ' -- इसप्रकार सन्देह करते हुए अर्जुन को भगवान् आश्वासन देते हैं -- तुम शोक मत करो = 'मैं आसुरीसंपत् से युक्त हूँ' -- ऐसी शंका से शोक -- अनुताप मत करो, क्योंकि तुम दैवी -- संपत् को लक्ष्य बनाकर उत्पन्न हुए हो = तुम पूर्वजन्मार्जितकल्याण और भाविकल्याण हो अर्थात् तुमने पूर्वजन्म में कल्याण का अर्जन किया है

15. 'आसुरीसंपत् के अन्तर्गत कहे हुए स्त्रीस्वभावभूत शोक और मोह मोक्षार्थी तुम्हारे द्वारा अवश्य ही परित्याज्य हैं' – यह ध्वनित करते हुए भगवान् ने 'पार्थ' कहा है ।

16. दैवीसंपत् का विकास होने पर सत्त्वशुद्धि होती है और भगवद्भक्ति से आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है तथा उस आत्मतत्त्वज्ञान से योग में स्थिति अर्थात् ब्राह्मीस्थिति प्राप्त होती है । इसप्रकार की स्थिति से ज्ञाननिष्ठा द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाता है अतएव अज्ञानजनित संसारबन्धनादि की निवृत्ति और विमोक्ष-कैवल्य की प्राप्ति होती है, फलत: दैवी – संपत् संसार-बन्धन से मोक्ष -- कैवल्य के लिए होती है, अत: यह मोक्षार्थी के लिए ग्राह्य है ।

शुचः, अहमासुर्या संपदा युक्त इति शङ्कया शोकमनुतापं मा कार्षीः, दैवीं संपदमभिलक्ष्य जातोऽसि प्रागर्जितकल्याणो भाविकल्याणश्च त्वमसि हे पाण्डव पाण्डुपुत्रेष्वन्येष्वपि दैवी संपत्प्रसिद्धा किं पुनस्त्वयीति भावः ॥ 5 ॥

10 **ननु भवतु राक्षसी प्रकृतिरासुर्यामन्तर्भूता शास्त्रनिषिद्धक्रियोन्मुखत्वेन सामान्यात्कामोपभोग-प्राधान्यप्राणिहिंसाप्राधान्याभ्यां क्वचिद्भेदेन व्यपदेशोपपत्तेः, मानुषी तु प्रकृतिस्तृतीया पृथगस्ति 'त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुराः' इति श्रुतेः । अतः साऽपि हेयकोटावुपादेयकोटौ वा वक्तव्येत्यत आह--**

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ 6 ॥

11 **अस्मिँल्लोके सर्वस्मिन्नपि संसारमार्गे द्वौ द्विप्रकारावेव भूतसर्गौ मनुष्यसर्गौ भवतः । कौ तौ दैव आसुरश्च, न तु राक्षसो मानुषो वाऽधिकः सर्गोऽस्तीत्यर्थः । यो यदा मनुष्यः शास्त्रसंस्कार-प्राबल्येन स्वभावसिद्धौ रागद्वेषावभिभूय धर्मपरायणो भवति स तदा देवः । यदा तु स्वभावसिद्ध-रागद्वेषप्राबल्येन शास्त्रसंस्कारमभिभूयाधर्मपरायणो भवति स तदाऽसुर इति द्वैविध्योपपत्तेः । न हि धर्माधर्माभ्यां तृतीया कोटिरस्ति । तथा च श्रूयते -- 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च**

अतएव तुम भविष्य में भी कल्याण को ही प्राप्त होगे । हे पाण्डव[17] ! – इस सम्बोधन से यह भाव सूचित होता है कि जब अन्य पाण्डुपुत्रों में भी दैवीसंपत् प्रसिद्ध है तो फिर तुममें तो कहना ही क्या है ? ॥ 5 ॥

10 अच्छा, राक्षसी प्रकृति आसुरीसंपत् में अन्तर्भूत हो, कारण कि उन दोनों में शास्त्रनिषिद्ध क्रियाओं में उन्मुखत्व धर्म समान है, तथापि आसुरीप्रकृति में कामोपभोग की प्रधानता और राक्षसी -- प्रकृति में प्राणिहिंसा की प्रधानता रहने से दोनों में कहीं भेदव्यवहार उपपन्न है; किन्तु मानुषी – प्रकृति तो इनसे पृथक् तीसरी ही है -- इसमें श्रुति प्रमाण है -- 'प्रजापति के तीन पुत्र -- देवता, मनुष्य और असुरों ने अपने पिता प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्य का पालन करने हुए निवास किया' -- अतः वह भी हेय – त्याज्यकोटि में है अथवा उपादेय -- ग्राह्यकोटि में है -- यह कहना चाहिए -- ऐसी शंका होने पर कहते हैं :--

[हे पार्थ ! इस लोक में दैव और आसुर -- ये दो ही भूतसर्ग हैं । दैवसर्ग को तो विस्तारपूर्वक कह दिया है, अब तुम मुझसे आसुरसर्ग को सुनो ॥ 6 ॥]

11 इस लोक में = सम्पूर्ण संसारमार्ग में दो अर्थात् दो प्रकार के ही भूतसर्ग[18] = मनुष्यसर्ग हैं । वे कौन दो मनुष्यसर्ग हैं ? दैव और आसुर हैं, न कि राक्षस अथवा मानुष कोई तीसरा अधिक सर्ग है – यह अर्थ है । जिससमय जो मनुष्य शास्त्र के संस्कारों की प्रबलता से स्वभावसिद्ध राग और

17. हे पाण्डव ! पाण्डुपुत्र अर्जुन ! – तुम अतिशूर, दैवीसम्पत् से युक्त अतएव शोकादि से विनिर्मुक्त पाण्डु के पुत्र हो, तुममें दैवीसंपत् आभिजात्य है अतएव तुम आसुरीसंपत् में अन्तर्भूत शोक और मोह को अङ्गीकार करने के योग्य नहीं हो – यह उक्त सम्बोधन से सूचित होता है ।

18. सृज्यते इति सर्गो भूतान्येव सृज्यमानानि दैव्या संपदा युक्तानि दैवो भूतसर्ग इत्युच्यते, तान्येवासुर्या संपदा युक्तानि आसुरो भूतसर्ग इति ।

ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः' इति। दमदानदयाविधिपरे तु वाक्ये त्रयाः प्राजापत्या इत्यादौ दमदानदयारहिता मनुष्या असुरा एव सन्तः केनचित्साधर्म्येण देवा मनुष्या असुरा इत्युपचर्यन्त इति नाऽऽधिक्यावकाशः। एकेनैव द इत्यक्षरेण प्रजापतिना दमरहितान्मनुष्यान्प्रति दमोपदेशः कृतः, दानरहितान्प्रति दानोपदेशः, दयारहितान्प्रति दयोपदेशः, न तु विजातीया एव देवासुरमनुष्या इह विवक्षिता मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य। तथा चान्त उपसंहरति– 'तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति। तस्माद्राक्षसी मानुषी च प्रकृतिरासुर्यामेवान्तर्भवतीति युक्तमुक्तं द्वौ भूतसर्गाविति।

12 **तत्र दैवो भूतसर्गो मया त्वां प्रति विस्तरशो विस्तरप्रकारैः प्रोक्तः स्थितप्रज्ञलक्षणे द्वितीये भक्तलक्षणे द्वादशे ज्ञानलक्षणे त्रयोदशे गुणातीतलक्षणे चतुर्दश इह चाभयमित्यादिना। इदानीमासुरं भूतसर्गं मे मद्वचनैर्विस्तरशः प्रतिपाद्यमानं त्वं शृणु हानार्थमवधारय सम्यक्तया ज्ञातस्य हि परिवर्जनं शक्यते कर्तुमिति। हे पार्थेति संबन्धसूचनेनानुपेक्षणीयतां दर्शयति॥ 6॥**

13 **वर्जनीयामासुरीं संपदं प्राणिविशेषणतया तानहमित्यतः प्राक्तनैर्द्वादशभिः श्लोकैर्विवृणोति--**

द्वेष को दबाकर धर्मपरायण होता है उससमय वह 'देवता' है और जिससमय वह स्वभावसिद्ध राग और द्वेष की प्रबलता से शास्त्र के संस्कारों को दबाकर अधर्मपरायण होता है उससमय वह 'असुर' है – इसप्रकार उसकी द्विविधता ही प्राप्त है, क्योंकि धर्म और अधर्म से पृथक् कोई तीसरी कोटि नहीं है, इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'प्रजापति के दो पुत्र थे – देव और असुर; उनमें देव छोटे थे और असुर बड़े थे' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.3.1)। दम-दान-दयाविधिपरक 'त्रयाः प्राजापत्या' – इत्यादि वाक्य में तो दम-दान-दयारहित मनुष्य असुर ही होते हुए किसी साधर्म्य से 'देवा मनुष्या असुराः' -- इसप्रकार उपचार – गौणीवृत्ति से कहे जाते हैं, आधिक्य का अवकाश नहीं है। प्रजापति ने 'द' -- इस एक अक्षर से ही दमरहित मनुष्यों के प्रति दम का उपदेश किया है, दानरहित मनुष्यों के प्रति दान का उपदेश किया है और दयारहित मनुष्यों के प्रति दया का उपदेश किया है, न कि यहाँ विजातीय – विलक्षण ही देव, असुर और मनुष्य विवक्षित हैं, कारण कि शास्त्र में तो मनुष्य का ही अधिकार है। इसीप्रकार अन्त में श्रुति उपसंहार करती है – 'मेघ की द द द -- ऐसी गर्जन इस दैवी वाणी का ही अनुवाद करती है अर्थात् कहती है कि 'दाम्यत' – दम करो, 'दत्त' -- दान दो, 'दयध्वम्' -- दया करो -- इसप्रकार दम, दान और दया – इन तीनों की शिक्षा ग्रहण करें'। अत: राक्षसी और मानुषी -- ये दोनों प्रकृतियाँ आसुरी -- संपत् में ही अन्तर्भूत होती है – इसप्रकार यह ठीक ही कहा है कि दो भूतसर्ग -- मनुष्यसर्ग हैं।

12 उनमें दैवभूतसर्ग को तो मैंने तुमसे द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में, बारहवें अध्याय में भक्त के लक्षणों में, तेरहवें अध्याय में ज्ञान के लक्षणों में, चौदहवें अध्याय में गुणातीत के लक्षणों में और यहाँ 'अभयम्' -- इत्यादि श्लोकों में विस्तारपूर्वक कह दिया है। अब तुम मेरे वचनों से विस्तारपूर्वक प्रतिपाद्यमान आसुर--भूतसर्ग को सुनो – उसका त्याग करने के लिए ध्यानपूर्वक सुनो -- समझो, क्योंकि जिसको सम्यक् प्रकार से समझ लिया जाता है उसका ही त्याग किया जा सकता है। 'हे पार्थ !' -- इस सम्बोधन से अपने सम्बन्धसूचक शब्द द्वारा 'तुम उपेक्षणीय नहीं हो, अपितु अपेक्षणीय हो' -- यह दिखलाते हैं॥ 6॥

13 वर्जनीय -- त्याज्य आसुरी--संपत् का प्राणियों में विशेषण द्वारा 'तानहम्' -- इससे पूर्व के बारह श्लोकों से विवरण करते हैं :--

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ 7 ॥

14 **प्रवृत्तिं प्रवृत्तिविषयं धर्मं, चकारात्तत्प्रतिपादकं विधिवाक्यं च । एवं निवृत्तिं निवृत्तिविषयमधर्मं, चकारात्तत्प्रतिपादकं निषेधवाक्यं चासुरस्वभावा जना न जानन्ति । अतस्तेषु न शौचं द्विविधं नाप्याचारो मन्वादिभिरुक्तः । न सत्यं च प्रियहितयथार्थभाषणं विद्यते । शौचसत्ययोराचारान्तर्भावेऽपि ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन पृथगुपादानम् । अशौचा अनाचारा अनृतवादिनो ह्यसुरा मायाविनः प्रसिद्धाः ॥ 7 ॥**

15 **ननु धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषययोः प्रतिपादकं वेदाख्यं प्रमाणमस्ति निर्दोषं भगवदाज्ञारूपं सर्वलोकप्रसिद्धं तदुपजीवीनि च स्मृतिपुराणेतिहासादीनि सन्ति, तत्कथं प्रवृत्तिनिवृत्तितत्प्रमाणाद्यज्ञानं, ज्ञाने वाऽऽज्ञोल्लङ्घिनां शासितरि भगवति सति कथं तदननुष्ठानेन शौचाचारादिरहितत्वं दुष्टानां शासितुर्भगवतोऽपि लोकवेदप्रसिद्धत्वादत आह –**

[आसुरीसंपत्वाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते हैं । उनमें न तो शौच होता है, न आचार भी होता है और न सत्य ही रहता है ॥ 7 ॥]

14 प्रवृत्ति -- प्रवृत्तिविषयक धर्म है, चकार से धर्मप्रतिपादक विधिवाक्य विवक्षित हैं । इसीप्रकार निवृत्ति -- निवृत्तिविषयक अधर्म है, चकार से अधर्मप्रतिपादक निषेधवाक्य विवक्षित हैं – इसप्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति को आसुरीस्वभाववाले जन नहीं जानते हैं । अत: उनमें न तो बाह्य और आभ्यन्तर -- दोनों प्रकार का शौच होता है, न मनु आदि के द्वारा उपदिष्ट आचार भी होता है और न सत्य अर्थात् प्रिय और हितकर यथार्थभाषण ही होता है[19] । यद्यपि सत्य और शौच का आचार में ही अन्तर्भाव हो जाता है, तथापि ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय से इनको पृथक्-पृथक् ग्रहण किया गया है[20], कारण कि असुर अशौच, अनाचार -- आचारशून्य, अनृतवादी -- मिथ्यावादी और मायावी प्रसिद्ध ही हैं ॥ 7 ॥

15 प्रवृत्तिविषय धर्म और निवृत्तिविषय अधर्म -- इन दोनों का प्रतिपादक भगवदाज्ञारूप निर्दोष वेदसंज्ञक प्रमाण सर्वजनप्रसिद्ध है और उसके उपजीवी -- उपकारी अर्थात् वेदमूलक स्मृति -- पुराण -- इतिहास आदि भी हैं, तो फिर आसुरी स्वभाववाले मनुष्यों में प्रवृत्ति -- निवृत्ति और उनके प्रमाणादि का अज्ञान कैसे रहता है ? अथवा, उनका ज्ञान होने पर आज्ञा का उल्लंघन करनेवालों के शासिता भगवान् के रहते हुए भी प्रवृत्त्यादि का अनुष्ठान न कर शौचाचारादि की शून्यता उनमें कैसे होती है ? क्योंकि दुष्टों के शासिता भगवान् भी लोक और वेद में प्रसिद्ध हैं -- इस शंका से कहते हैं :--

---

19. जैसा कि मनुस्मृति में कहा है :--

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ (मनुस्मृति, 4.138)

"सत्य बोले, प्रिय बोले, ऐसा सत्य न बोले जो अप्रिय हो, ऐसा प्रिय भी न बोले जो असत्य हो – यह सनातन धर्म है ।"

20. जिसप्रकार 'यह ब्राह्मण परिव्राजक है' – ऐसा कहने पर ब्राह्मण ही संन्यासी होते हैं, अत: संन्यासी कहने से ही ब्राह्मण का लाभ सिद्ध है, पुन: 'ब्राह्मण' शब्द का कथन उस संन्यासी के आदर के लिए किया जाता है; उसीप्रकार प्रकृत में सत्य और शौच का आचार में ही अन्तर्भाव हैं, अत: आचार से ही सत्य और शौच का ज्ञान भी सिद्ध है, पुन: सत्य और शौच का पृथक्-पृथक् कथन उनके महत्त्व के लिए किया गया है ।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ 8 ॥

16 **सत्यमबाधिततात्पर्यविषयं तत्त्वावेदकं वेदाख्यं प्रमाणं तदुपजीवि पुराणादि च नास्ति यत्र तदसत्यं वेदस्वरूपस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेऽपि तत्प्रामाण्यानभ्युपगमाद्विशिष्टाभावः । अत एव नास्ति धर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा व्यवस्थाहेतुर्यस्य तदप्रतिष्ठम् । तथा नास्ति शुभाशुभयोः कर्मणोः फलदातेश्वरो नियन्ता यस्य तदनीश्वरं त आसुरा जगदाहुः, बलवत्पापप्रतिबन्धाद्वेदस्य प्रामाण्यं ते न मन्यन्ते । ततश्च तद्बोधितयोर्धर्माधर्मयोरीश्वरस्य चानङ्गीकाराद्यथेष्टाचरणेन ते पुरुषार्थभ्रष्टा इत्यर्थः ।**

17 **शास्त्रैकसमधिगम्यधर्माधर्मसहायेन प्रकृत्यधिष्ठात्रा परमेश्वरेण रहितं जगदिष्यते चेत्कारणाभावात्कथं तदुत्पत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह--अपरस्परसंभूतं कामप्रयुक्तयोः स्त्रीपुंसयोरन्योन्यसंयोगात्संभूतं जगत्कामहैतुकं कामहेतुकमेव कामहैतुकं कामातिरिक्तकारणशून्यम् । ननु धर्माद्यप्यस्ति कारणं नेत्याह--किमन्यत्, अन्यददृष्टं कारणं किमस्ति नास्त्येवेत्यर्थः । अदृष्टाङ्गी-**

[वे आसुरीसंपत्वाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् अप्रतिष्ठ -- आश्रयरहित है, सर्वथा असत्य और ईश्वरहीन है, एक -- दूसरे के संयोग से उत्पन्न हुआ है और कामहैतुक -- कामजनित है, इसके अतिरिक्त और क्या है ? ॥ 8 ॥]

16 सत्य = अबाधिततात्पर्यविषयक[21] और तत्त्वावेदक[22] वेदसंज्ञक प्रमाण तथा उसके उपजीवी पुराणादि नहीं है जिसमें वह 'असत्य' है । अतएव नहीं है धर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा = व्यवस्था का हेतु जिसका वह 'अप्रतिष्ठ' है, इसीप्रकार नहीं है शुभ और अशुभ कर्मों के फल का दाता -- नियामक ईश्वर जिसमें वह अनीश्वर है -- एवंभूत जगत् -- संसार है -- ऐसा आसुरजन कहते हैं । बलवान् पाप के प्रतिबन्ध से वे वेद में प्रामाण्य नहीं मानते हैं । इसी से वेदप्रतिपादित धर्माधर्म और ईश्वर नहीं मानते हैं, अतएव यथेष्ट आचरण -- स्वेच्छाचार से वे पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाते हैं -- यह अभिप्राय है ।

17 यदि वे जगत् -- संसार को एकमात्र शास्त्र से ही जानने के योग्य धर्माधर्म सहित प्रकृति के अधिष्ठाता परमेश्वर से रहित मानते हैं, तो कारण का अभाव रहने से जगत्रूप कार्य की उत्पत्ति ही कैसे होगी ? क्योंकि कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति नहीं होती है -- यह सर्वसम्मत मार्ग है -- इस शंका से कहते हैं :-- वे आसुर जगत् को अपरस्पर[23]सम्भूत = कामप्रयुक्त स्त्री-पुरुष के परस्पर संयोग से उत्पन्न हुआ अर्थात् कामहैतुक = काम ही जिसका हेतु है -- ऐसा मानते हैं । कामहेतुकमेव कामहैतुकम् = कामहेतुक ही कामहैतुक है अर्थात् यह कामहेतुक जगत् है, काम ही जगत् का कारण है-- ईश्वर नहीं है, काम से अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है -- ऐसा वे मानते हैं । यदि कहो कि धर्मादि भी तो जगत् की उत्पत्ति के कारण हैं, तो वे कहते हैं -- नहीं, अन्यथा जगद्वैलक्षण्य का भंग हो जायेगा -- इससे कहते हैं-- किमन्यत् = इसके अतिरिक्त और क्या है ?

21. अबाधिततात्पर्यविषयक = जिस वाक्य का तात्पर्यविषयीभूत अर्थ बाधित न हो वह वाक्य प्रमाण है -- वेदवाक्य ऐसे ही हैं, अतः वेदवाक्य प्रमाण हैं । अथवा, यह लक्षण न्यायमतानुसार है ।

22. तत्त्वावेदक = वेद में अखण्ड वाक्यार्थ के संग्रह के लिए तत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्य माना जाता है । अथवा, मीमांसामतानुसार उक्त प्रयोग है ।

23. पर और अपर -- ये दोनों शब्द अन्यार्थक हैं, अतः यहाँ 'अपरस्पर' का अर्थ 'परस्पर' ही है ।

कारेऽपि क्वचिद्गत्वा स्वभावे पर्यवसानात्स्वाभाविकमेव जगद्वैचित्र्यमस्तु दृष्टे संभवत्यदृष्ट-कल्पनानवकाशात् । अतः काम एव प्राणिनां कारणं नान्यददृष्टेश्वरादीत्याहुरिति लोकायतिकदृष्टिरियम् ॥ 8 ॥

18 **इयं दृष्टिः शास्त्रीयदृष्टिवदिष्टैवेत्याशङ्क्याऽऽह–**

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ 9 ॥

19 **एतां प्रागुक्तां लोकायतिकदृष्टिमवष्टभ्याऽऽलम्ब्य नष्टात्मानो भ्रष्टपरलोकसाधना अल्पबुद्धयो दृष्टमात्रोद्देशप्रवृत्तमतय उग्रकर्माणो हिंस्रा अहिताः शत्रवो जगतः प्राणिजातस्य क्षयाय व्याघ्रसर्पादिरूपेण प्रभवन्ति उत्पद्यन्ते । तस्मादियं दृष्टिरत्यन्ताधोगतिहेतुतया सर्वात्मना श्रेयोर्थिभिरवहेयैवेत्यर्थः ॥ 9 ॥**

20 **ते च यदा केनचित्कर्मणा मनुष्ययोनिमापद्यन्ते तदा –**

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ 10 ॥

21 **कामं तत्तद्दृष्टविषयाभिलाषं दुष्पूरं पूरयितुमशक्यं दम्भेनाधार्मिकत्वेऽपि धार्मिकत्वख्यापनेन मानेनापूज्यत्वेऽपि पूज्यत्वख्यापनेन मदेनोत्कर्षरहितत्वेऽप्युत्कर्षविशेषाध्यारोपेण महदवधीरणा-**

क्या अदृष्ट कारण है ? नहीं, कुछ नहीं है । अदृष्ट को अङ्गीकार करने पर भी उसका पर्यवसान कहीं स्वभाव में ही होता है, अत: यह जगत् का वैचित्र्य -- वैलक्षण्य स्वाभाविक ही होना चाहिए, क्योंकि दृष्ट कारण के रहते हुए अदृष्ट कारण की कल्पना के लिए अवकाश भी नहीं होता है । अतः काम ही प्राणियों का कारण है, अन्य अदृष्ट, ईश्वरादि कारण नहीं हैं– यह लोकायतिक दृष्टि दर्शन है ॥8 ॥

18 यह दृष्टि-दर्शन भी शास्त्रीय दृष्टि-दर्शन के समान इष्ट ही है – इस आशंका से कहते हैं :–
[इस दृष्टि का आश्रय लेकर नष्टात्मा = परलोक के साधनों से भ्रष्ट, अल्पबुद्धि, उग्रकर्म करनेवाले और सबका अपकार करनेवाले मनुष्य जगत् का नाश करने के लिए उत्पन्न होते हैं ॥ 9 ॥]

19 इस पूर्वोक्त लोकयतिक दृष्टि का अवष्टम्भ -- अवलम्बन – आश्रयण कर नष्टात्मा = परलोक के साधनों से भ्रष्ट, अल्पबुद्धि = केवल दृष्टमात्र में लगी हुई बुद्धिवाले, उग्रकर्मा = हिंसक अतएव अहित अर्थात् शत्रु -- अपकार करनेवाले मनुष्य जगत् = प्राणिसमूह के क्षय के लिए व्याघ्र -- सर्पादिरूप से उत्पन्न होते हैं । अतः यह दृष्टि-दर्शन अत्यन्त अधोगति का कारण होने से कल्याणार्थियों के द्वारा सर्वात्मना -- सर्वथा हेय -- त्याज्य ही है -- यह अर्थ है ॥ 9 ॥

20 जिससमय वे किसी कर्म से मनुष्ययोनि को प्राप्त होते हैं उस समय --
[वे दम्भ, मान और मद से युक्त हुए किसी प्रकार भी न पूर्ण होनेवाली कामनाओं का आश्रय लेकर मोहवश अशुभ निश्चयों को ग्रहण करके अपवित्र व्रतों से युक्त हुए संसार में प्रवृत्त होते हैं ॥ 10 ॥]

21 दुष्पूर = जिसका पूरा होना अशक्य -- असंभव है ऐसे काम = उस-उस दृष्ट विषय की अभिलाषा का आश्रय लेकर दम्भ से = अधार्मिक होने पर भी अपनी धार्मिकता प्रकट करने से, मान से =

हेतुनाऽन्विता असद्ग्राहानशुभनिश्चयाननेन मन्त्रेणेमां देवतामाराध्य कामिनीनामाकर्षणं करिष्यामः, अनेन मन्त्रेणेमां देवतामाराध्य महानिधीन्साधयिष्याम इत्यादिदुराग्रहरूपान्मोहादविवेकाद्गृहीत्वा न तु शास्त्रात्, अशुचिव्रता अशुचीनि श्मशानादिदेशोच्छिष्टत्वाद्यवस्थाद्यशौचसापेक्षाणि वामागमाद्युपदिष्टानि व्रतानि येषां तेऽशुचिव्रताः प्रवर्तन्ते यत्र कुत्राप्यवैदिके दृष्टफले क्षुद्रदेवताराधनादाविति शेषः । एतादृशाः पतन्ति नरकेऽशुचावित्यग्रिमेणान्वयः ॥ 10 ॥

22 **तानेव पुनर्विशिनष्टि –**

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदितिनिश्चिताः ॥ 11 ॥

23 **चिन्तामात्मीययोगक्षेमोपायालोचनात्मिकामपरिमेयामपरिमेयविषयत्वात्परिमातुमशक्यां प्रलयो मरणमेवान्तो यस्यास्तां प्रलयान्तां यावज्जीवमनुवर्तमानामिति यावत् । न केवलमशुचिव्रताः प्रवर्तन्ते किं त्वेतादृशीं चिन्तां चोपाश्रिता इति समुच्चयार्थश्चकारः ।**

24 **सदाऽनन्तचिन्तापरा अपि न कदाचित्पारलौकिकचिन्तायुताः किं तु कामोपभोगपरमाः काम्यन्त**

पूज्य न होने पर भी अपनी पूज्यता प्रकट करने से और मद[24] से = उत्कर्षरहित होने पर भी अपने में बड़ों के तिरस्कार के हेतुभूत उत्कर्षविशेष का आरोप करने से युक्त हुए असद्ग्राहों को = अशुभ निश्चयों को अर्थात् 'इस मन्त्र से इस देवता की आराधना करके कामिनियों का आकर्षण करूँगा, इस मन्त्र से इस देवता की आराधना करके महानिधि -- बड़े खजाने को प्राप्त करूँगा' -- इत्यादि दुराग्रहरूप निश्चयों को मोहवश अर्थात् अविवेक से, शास्त्र से नहीं, ग्रहण करके अशुचिव्रत = जिनके वाममार्गीय आगमों द्वारा उपदिष्ट श्मशानादि दूषित देश और उच्छिष्टादि अवस्थाजनित अशौचसापेक्ष व्रत हैं ऐसे वे अपवित्र व्रतों से युक्त हुए पुरुष संसार में प्रवृत्त होते हैं = जहाँ कहीं भी अवैदिक दृष्टफलवाले क्षुद्र[25] देवताओं की आराधना आदि में प्रवृत्त होते हैं । यहाँ 'क्षुद्रदेवताराधनादौ' -- इसका अध्याहार है । ऐसे मनुष्य अपवित्र नरक में गिरते हैं -- इसप्रकार इसका अग्रिम श्लोक = सोलहवें श्लोक के साथ अन्वय है ॥ 10 ॥

22 उन्हीं जनों को पुनः विशेषरूप से कहते हैं :--

[वे प्रलयान्त = मरणपर्यन्त रहनेवाली अपरिमित चिन्ताओं का आश्रय लिये रहते हैं, काम = दृष्ट विषय के भोगों को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं तथा 'यह दृष्ट सुख ही सब कुछ है' -- ऐसे निश्चयवाले होते हैं ॥ 11 ॥]

23 वे अपने योग-क्षेम[26] के उपायों की आलोचनात्मिका अपरिमेय = अपरिमेय -- असंख्य विषय होने से परिमाण -- इयत्तावधारण के अयोग्य प्रलयान्त = प्रलय -- मरण ही है अन्त जिनका ऐसी अर्थात् यावज्जीवन रहनेवाली चिन्ताओं का आश्रय लिए रहते हैं । 'न केवल अशुचिव्रत ही प्रवृत्त होते हैं, किन्तु इसप्रकार की चिन्ताओं का आश्रय लिए हुए भी प्रवृत्त होते हैं' -- इसप्रकार समुच्चय के लिए चकार है ।

24 इसप्रकार सदा अनन्त चिन्ताओं में निमग्न रहने पर भी वे कभी पारलौकिक चिन्ता से युक्त नहीं

24. 'मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयो' -- इस कोश के अनुसार यहाँ 'मद' शब्द गर्वपरक है ।
25. 'क्षुद्रो दरिद्रे कृपणे निकृष्टेऽल्पनृशंसयो' -- इस कोश के अनुसार यहाँ 'क्षुद्र' शब्द निकृष्टपरक है ।
26. अलब्ध का लाभ 'योग' है और लब्ध का परिपालन 'क्षेम' है ।

इति कामा दृष्टाः शब्दादयो विषयास्तदुपभोग एव परमः पुरुषार्थो न धर्मादिर्येषां ते तथा । पारलौकिकमुत्तमं सुखं कुतो न कामयन्ते तत्राऽऽह–एतावद्दृष्टमेव सुखं नान्यदेतच्छरीरवियोगे भोग्यं सुखमस्ति एतत्कायातिरिक्तस्य भोक्तुरभावादिति निश्चिता एवंनिश्चयवन्तः । तथा च बार्हस्पत्यं सूत्रं 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' 'काम एवैकः पुरुषार्थः', इति च ॥ 11 ॥

25 त ईदृशा असुराः–

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ 12 ॥

26 अशक्योपायार्थविषया अनवगतोपायार्थविषया वा प्रार्थना आशास्ता एव पाशा इव बन्धनहेतुत्वात्पाशास्तेषां शतैः समूहैर्बद्धा इव श्रेयसः प्रच्याव्येतस्तत आकृष्य नीयमानाः कामक्रोधौ परमयनमाश्रयो येषां ते कामक्रोधपरायणाः स्त्रीव्यतिकराभिलाषपरानिष्टाभिलाषाभ्यां

होते हैं, किन्तु कामोपभोगपरम ही होते हैं = जिनकी कामना की जाती है वे काम = दृष्ट शब्दादि विषय काम[27] हैं, उनका उपभोग ही जिनके लिए परम पुरुषार्थ है, धर्मादि नहीं, वे ऐसे होते हैं । वे पारलौकिक उत्तम सुख की कामना क्यों नहीं करते हैं ? इस जिज्ञासा से कहते हैं – 'एतावत् = इतना ही – यह दृष्टमात्र ही सुख है, शरीर का वियोग होने पर अन्य कोई भोग्य सुख नहीं है, क्योंकि इस शरीर के अतिरिक्त कोई अन्य भोक्ता नहीं है' -- इसप्रकार निश्चित किए हुए हैं अर्थात् वे ऐसे निश्चयवाले हैं । इसीप्रकार बार्हस्पत्य = बृहस्पतिप्रोक्त सूत्र हैं – 'चैतन्यविशिष्ट: काय: पुरुष:[28]' = 'चैतन्यविशिष्ट शरीर ही पुरुष है' – तथा 'काम एवैक: पुरुषार्थ:[29]' = 'काम ही एकमात्र पुरुषार्थ है' ॥ 11 ॥

25 वे ऐसे असुर --

[सैकड़ों आशापाशों से बंधे हुए, कामक्रोधपरायण कामनाओं के भोग के लिए अन्याय से धनादिक बहुत से पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं ॥ 12 ॥]

26 अशक्योपायार्थविषया[30] अथवा अनवगतोपायार्थविषया[31] प्रार्थना 'आशा' है, बन्धन की हेतु होने से

---

27. यद्यपि 'काम' शब्द कामना, इच्छा, अभिलाषा -- अर्थ में रूढ़ है, किन्तु प्रकृत में 'कामोपभोगपरमा:' के साथ तदर्थक 'काम' शब्द का अन्वय करना उचित नहीं है, अत: 'काम्यन्त इति कामा: दृष्टा: शब्दादयो विषया:' – इसप्रकार व्युत्पत्ति से 'काम' शब्द का यौगिक अर्थ शब्दादि उपभोगयोग्य विषय किया है ।

28. चार्वाक-मत है -- चैतन्यविशिष्ट शरीर ही पुरुष – आत्मा है, चैतन्य ज्ञानगुण है, जो शरीर और इन्द्रियों के समुदाय से उत्पन्न होता है । जिसप्रकार किण्वादि मादक द्रव्यों से मादकशक्ति उत्पन्न होती है और द्रव्यों के नाश के साथ नष्ट हो जाती है, उसीप्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु -- इन चार तत्त्वों से शरीर के रूप में चैतन्य उत्पन्न होता है । वेदान्तसम्मत चैतन्यब्रह्म पुरुष-आत्मा नहीं है, क्योंकि उक्त ब्रह्म प्रमाणसिद्ध नहीं है, कारण कि प्रत्यक्ष – ज्ञान ही प्रमाण है -- इसके अतिरिक्त प्रमाण नहीं है – प्रमाणाभास हैं और ब्रह्म प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है ।

29. चार्वाकमतानुसार कामसुख ही एकमात्र पुरुषार्थ है, मोक्षादि नहीं है, अतएव कहा है –

यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वां घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ? ॥

30. जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए कोई भी उपाय नहीं हो सके वह 'अशक्योपायार्थविषय' है, जैसे – चन्द्रमा को हाथ से पकडना – यह किसी भी लौकिक उपाय से साध्य नहीं है ।

31. जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए उपाय ज्ञात नहीं हो वह 'अनवगतोपायार्थविषय' है जैसे – लोहे को सोना बनाना – इसके लिए उपाय ज्ञात नहीं है ।

सदा परिगृहीता इति यावत् । ईहन्ते कर्तुं चेष्टन्ते कामभोगार्थं न तु धर्मार्थमन्यायेन परस्वहरणादिनाऽर्थसंचयान्धनराशीन् । संचयानिति बहुवचनेन धनप्राप्तावपि तत्तृष्णानुवृत्तेर्विषयप्राप्तिवर्धमानतृष्णत्वरूपो लोभो दर्शितः ॥ 12 ॥

27 तेषामीदृशीं धनतृष्णानुवृत्तिं मनोराज्यकथनेन विवृणोति–

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ 13 ॥

28 इदं धनमद्येदानीमनेनोपायेन मया लब्धमिदं तदन्यन्मनोरथं मनस्तुष्टिकरं शीघ्रमेव प्राप्स्ये, इदं पुरैव संचितं मम गृहेऽस्ति, इदमपि बहुतरं भविष्यत्यागामिनि संवत्सरे पुनर्धनम् । एवं धनतृष्णाकुलाः पतन्ति नरकेऽशुचावित्यग्रिमेणान्वयः ॥ 13 ॥

29 एवं लोभं प्रपञ्च्यतदभिप्रायकथनेनैव तेषां क्रोधं प्रपञ्चयति –

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ 14 ॥

30 असौ देवदत्तनामा मया हतः शत्रुरतिदुर्जयः । अत इदानीमनायासेन हनिष्ये च हनिष्यामि

वह आशा ही पाश के समान है अतएव 'आशापाश' है । इसप्रकार के सैकड़ों आशापाशों से = आशापाशों के समूहों से बँधे हुए के समान श्रेय -- कल्याण से प्रच्युत करके इधर-उधर खींचकर लिये जाते हुए काम और क्रोध ही जिनके परम अयन – आश्रय हैं ऐसे वे कामक्रोधपरायण अर्थात् स्त्रीप्रसङ्ग की अभिलाषा और दूसरों के अनिष्ट की अभिलाषा से सदा परिगृहीत -- युक्त हुए कामभोग के लिए ही, धर्म के लिए नहीं, अन्याय से = दूसरों की सम्पत्ति हरणादि द्वारा अर्थसञ्चय = धनराशि का सञ्चय करने का प्रयत्न करते हैं । 'सञ्चयान्' – इस द्वितीया -- बहुवचनान्त शब्द से धन की प्राप्ति होने पर भी धनतृष्णा की अनुवृत्ति से विषयप्राप्ति की बढ़ती हुई तृष्णारूप लोभ[32] दिखलाया है ॥ 12 ॥

27 उनकी ऐसी धनतृष्णा की अनुवृत्ति का मनोराज्य के कथन द्वारा विवरण करते हैं :--
[मैंने आज यह तो प्राप्त कर लिया है, इस मनोरथ को भी प्राप्त होऊँगा, यह तो मेरे पास है पुनः यह धन भी मेरे पास होवेगा ॥ 13 ॥]

28 मैंने आज = इस समय इस उपाय से यह धन तो प्राप्त कर लिया है, इस दूसरे मनोरथ = मन को सन्तुष्ट करनेवाले भोग को भी शीघ्र ही प्राप्त होऊँगा, यह तो पहले से ही मेरे घर में सञ्चित है, यह भी धन पुनः – आगामी वर्ष में बहुतर हो जायेगा । इसप्रकार धनतृष्णा से आकुल – व्याकुल हुए वे पुरुष अशुचि नरक में गिरते हैं -- इसप्रकार इसका अग्रिम सोलहवें श्लोक के साथ अन्वय है ॥ 13 ॥

29 इसप्रकार लोभ का विस्तार कर उनके अभिप्राय के कथन से उनके क्रोध का विस्तार करते हैं :--
[मैंने इस शत्रु को तो मार दिया है, दूसरे शत्रुओं को भी मारूँगा, मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ और सुखी हूँ ॥ 14 ॥]

---

32. विषयप्राप्ति से अनिवर्त्य तृष्णा ही 'लोभ' है ।

अपरान्सर्वानपि शत्रून्, न कोऽपि मत्सकाशाज्जीविष्यतीत्यपेरर्थः । चकारात्र केवलं हनिष्यामि तान्किं तु तेषां दारधनादिकमपि ग्रहीष्यामीत्यभिप्रायः। कुतस्तवैतादृशं सामर्थ्यं त्वत्तुल्यानां त्वदधिकानां वा शत्रूणां संभवादित्यत आह – ईश्वरोऽहं न केवलं मानुषो येन मत्तुल्योऽधिको वा कश्चित्स्यात् । किमेते करिष्यन्ति वराकाः सर्वथा नास्ति मत्तुल्यः कश्चिदित्यनेनाभिप्राये-णेश्वरत्वं विवृणोति–यस्मादहं भोगी सर्वैर्भोगोपकरणैरुपेतः सिद्धोऽहं पुत्रभृत्यादिभिः सहायैः संपन्नः स्वतोऽपि बलवानत्योजस्वी सुखी सर्वथा नीरोगः ॥ 14 ॥

31 ननु धनेन कुलेन वा कश्चित्त्वत्तुल्यः स्यादित्यत आह–

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ 15 ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ 16 ॥

32 आढ्यो धनी, अभिजनवान्कुलीनोऽप्यहमेवास्मि । अतः कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया न कोऽपीत्यर्थः । यागेन दानेन वा कश्चित्तुल्यः स्यादित्यत आह–यक्ष्ये यागेनाप्यन्यानभि-भविष्यामि, दास्यामि धनं स्तावकेभ्यो नटादिभ्यश्च । ततश्च मोदिष्ये मोदं हर्षं लप्स्ये नर्तक्या-दिभिः सहेत्येवमज्ञानेनाविवेकेन विमोहिता विविधं मोहं भ्रमपरम्परां प्रापिताः ॥ 15 ॥

---

30 मैंने इस देवदत्त नामक अतिदुर्जय शत्रु को तो मार दिया है, अत: अब दूसरे सब शत्रुओं को भी अनायास ही मारूँगा । मेरे समक्ष कोई भी शत्रु जीवित नहीं रहेगा -- यह 'अपि' शब्द का अर्थ है । 'च' शब्द का अभिप्राय यह है कि न केवल उन शत्रुओं को मारूँगा, अपितु उनकी स्त्री, धन आदि को भी ग्रहण कर लूँगा' । तुम्हारा ऐसा सामर्थ्य कहाँ है ? क्योंकि तुम्हारे समान अथवा तुमसे अधिक सामर्थ्यवान् शत्रुओं का होना संभव है -- इस शंका से कहते हैं -- मैं ईश्वर हूँ, केवल मनुष्य नहीं हूँ जिससे मेरे समान अथवा मुझसे अधिक सामर्थ्यवान् कोई होगा । ये बेचारे क्या करेंगे ? सर्वथा -- सब प्रकार से मेरे समान कोई नहीं है, अधिक की तो क्या सम्भावना की जाय -- इस अभिप्राय से उसके ईश्वरत्व का विवरण करते हैं -- जिससे मैं भोगी हूँ = सब भोगसाधनसामग्री से युक्त हूँ, मैं सिद्ध हूँ = पुत्र-सेवक आदि सहायकों से सम्पन्न हूँ, स्वत: भी बलवान् हूँ = ओजस्वी हूँ और सुखी हूँ = सर्वथा नीरोग हूँ ॥ 14 ॥

31 धन से अथवा कुल से तो कोई तुम्हारे समान होगा ? इस शंका से कहते हैं :--
[मैं धनवान् और कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और हर्ष को प्राप्त होऊँगा -- इसप्रकार अज्ञान से विमोहित, चित्त के अनेक दुष्ट संकल्पों से विभ्रान्त, मोहजाल से घिरे हुए तथा काम और भोगों में अत्यन्त आसक्त हुए वे आसुर मनुष्य अपवित्र नरक में गिरते हैं ॥ 15-16 ॥]

32 मैं आढ्य = धनी और अभिजनवान् = कुलीन भी हूँ, अतः मेरे समान दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई भी नहीं है । याग अथवा दान में कोई समान होगा ? इसपर कहते हैं -- मैं यज्ञ करूँगा अर्थात् याग से भी दूसरों को दबा दूँगा, स्तुति करनेवाले नट-विट आदि को धन दूँगा, इससे मैं

33 **उक्तप्रकारैरनेकैश्चित्तैस्तत्तद्दुष्टसंकल्पैर्विविधं भ्रान्ताः, यतो मोहजालसमावृता मोहो हिताहितवस्तुविवेकासामर्थ्यं तदेव जालमावरणात्मकत्वेन बन्धहेतुत्वात्, तेन सम्यगावृताः सर्वतो वेष्टिता मत्स्या इव सूत्रमयेव जालेन परवशीकृता इत्यर्थः। अत एव स्वानिष्टसाधनेष्वपि कामभोगेषु प्रसक्ताः सर्वथा तदेकपराः प्रतिक्षणमुपचीयमानकल्मषाः पतन्ति नरके वैतरण्यादावशुचौ विण्मूत्रश्लेष्मादिपूर्णे ॥ 16 ॥**

34 **ननु तेषामपि केषांचिद्वैदिके कर्मणि यागदानादौ प्रवृत्तिदर्शनादयुक्तं नरके पतनमिति नेत्याह –**

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ 17 ॥

35 **सर्वगुणविशिष्टा वयमित्यात्मनैव संभाविताः पूज्यतां प्रापिता न तु साधुभिः कैश्चित् । स्तब्धा अनम्राः । यतो धनमानमदान्विता धननिमित्तो यो मान आत्मनि पूज्यत्वातिशयाध्यासस्तन्निमि-**

मुदित होऊँगा -- नर्तकी आदि के साथ मोद -- हर्ष को प्राप्त होऊँगा -- इसप्रकार के अज्ञान -- अविवेक से विमोहित = विविध प्रकार के मोह अर्थात् भ्रमपरम्परा को प्राप्त हुए ॥ 15 ॥

33 उक्त प्रकार के अनेक चित्तों अर्थात् उन-उन दुष्ट संकल्पों से विविधरूप से भ्रान्त हुए, क्योंकि मोहजाल से समावृत = मोह अर्थात् हिताहितरूप वस्तु के विवेक की असमर्थता वही है आवरणात्मक और बन्ध का हेतु होने से जाल, उससे सम्यक् -- सर्वत: आवृत -- वेष्टित अर्थात् मछली के समान सूत्रमय जाल से परवशीकृत हैं अतएव अपने अनिष्ट के साधन काम और भोगों में प्रसक्त = सर्वदा उन्हीं में एकपर -- तत्पर रहने से प्रतिक्षण बढ़ते हुए पापों से युक्त वे आसुर मनुष्य विष्ठा, मूत्र, कफादि से परिपूर्ण वैतरणी आदि अपवित्र नरक में गिरते हैं ॥ 16 ॥

34 उनमें भी किन्हीं-किन्हीं की यज्ञ -- दान आदि वैदिक कर्म में प्रवृत्ति देखी जाती है, इसलिए 'उनका नरक में पतन होता है' -- यह कहना ठीक नहीं है -- ऐसी शंका होने पर कहते हैं -- नहीं,
[वे अपने-आपको ही पूज्य माननेवाले, नम्रतारहित, धन और मान के मद से युक्त हुए, शास्त्रविधि से रहित केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा दम्भपूर्वक यजन करते हैं ॥ 17 ॥]

35 हम सर्वगुणसम्पन्न हैं -- इसप्रकार अपने-आप ही, किन्हीं साधुपुरुषों द्वारा नहीं, सम्भावित = पूज्यता को प्राप्त हुए, अतएव स्तब्ध = अनम्र -- नम्रतारहित, क्योंकि धनमानमदान्वित = धन के कारण हुआ जो मान -- अपने में पूज्यत्वातिशय का अध्यास उससे उत्पन्न हुआ जो मद -- दूसरे गुरु आदि में भी अपूज्यत्व का अभिमान -- उन दोनों से अन्वित वे जन नामयज्ञों[33] द्वारा = नाममात्र के यज्ञों द्वारा, तात्त्विक यज्ञों से नहीं, अथवा -- 'ये उसमें दीक्षित हैं, ये सोमयाजी हैं' -- इसप्रकार नाममात्र के संपादक यज्ञों से अविधिपूर्वक अर्थात् शास्त्रविहित अङ्ग[34], इतिकर्तव्यता[35] आदि से

---

33. यह दर्शपौर्णमास यज्ञ है, यह सोमयज्ञ है -- इसप्रकार केवल नाममात्र से ही किये गये यज्ञ ' नामयज्ञ' है । वास्तव में यज्ञ नहीं, नाम लेने मात्र के यज्ञ 'नामयज्ञ' हैं ।

34. 'परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपमङ्गत्वम्' (अर्थसंग्रह) = पर -- श्रेष्ठ अर्थात् स्वर्गादि फल के साधनभूत 'दर्श' आदि याग करने में प्रवृत्त व्यक्ति की कृति-क्रिया के द्वारा साध्य अर्थात् सम्पाद्य प्रयाज, अनुयाज, अवघात, प्रोक्षण आति कर्म 'अंग' हैं ।

त्तश्च यो मदः परस्मिन्गुर्वादावप्यपूज्यत्वाभिमानस्ताभ्यामन्वितास्ते नामयज्ञैर्नाममात्रैर्यज्ञैर्न तात्त्विकैर्दीक्षिताः सोमयाजीत्यादिनाममात्रसंपादकैर्वा यज्ञैरविधिपूर्वकं विहिताङ्गेतिकर्तव्यतारहितै-र्दम्भेन धर्मध्वजितया न तु श्रद्धया यजन्ते । अतस्तत्फलभाजो न भवन्तीत्यर्थः ॥ 17 ॥

36 यक्ष्ये दास्यामीत्यादिसंकल्पेन दम्भाहंकारादिप्रधानेन प्रवृत्तानामासुराणां बहिरङ्गसाधनमपि यागदानादिकं कर्म न सिध्यति, अन्तरङ्गसाधनं तु ज्ञानवैराग्यभगवद्भजनादि तेषां दूरापास्तमेवेत्याह-

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ 18 ॥

37 अहमभिमानरूपो योऽहंकारः स सर्वसाधारणः । एतैस्त्वारोपितैर्गुणैरात्मनो महत्त्वाभिमानमहंकारं तथा बलं परपरिभवनिमित्तं शरीरगतसामर्थ्यविशेषं दर्पं परावधीरणारूपं गुरुनृपाद्यतिक्रमकारणं चित्तदोषविशेषं काममिष्टविषयाभिलाषं क्रोधमनिष्टविषयद्वेषं, चकारात्परगुणासहिष्णुत्वरूपं मात्सर्यम् । एवमन्यांश्च महतो दोषान्संश्रिताः ।

38 एतादृशा अपि पतितास्तव भक्त्या पूताः सन्तो नरके न पतिष्यन्तीति चेन्नेत्याह-- मामीश्वरं भगवन्तमात्मपरदेहेषु आत्मनां तेषामासुराणां परेषां च तत्पुत्रभार्यादीनां देहेषु प्रेमास्पदेषु तत्तद्-

---

शून्य यज्ञों द्वारा दम्भ से = धर्मध्वजितापूर्वक, श्रद्धापूर्वक नहीं, यजन करते हैं, अत: वे उनके फल के भागी भी नहीं होते हैं[36] -- यह अर्थ है ॥ 17 ॥

36 'यक्ष्ये दास्यामि' = 'मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा' -- इत्यादि दम्भ, अहंकारादि प्रधान संकल्प से प्रवृत्त हुए असुरों का बहिरङ्गसाधन भी यज्ञदानादिक कर्म सिद्ध नहीं होता है, उनका अन्तरङ्गसाधन ज्ञान-वैराग्य-भगवद्‌भजनादि तो दूर ही से निवृत्त रहता हैं -- यह कहते हैं :--

[वे अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध का ही आश्रय लिये रहते हैं, अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझसे अत्यन्त द्वेष करते हैं तथा वैदिक-मार्ग में स्थित गुरु आदि के गुणों में दोषों का आरोप करते हैं ॥ 18 ॥]

37 'मैं हूँ' -- ऐसा अभिमानरूप जो अहंकार है वह तो सर्वसाधारण है -- सभी में समानरूप से रहता है, किन्तु उक्त इन आरोपित गुणों से अपने महत्त्व का जो अभिमान है उस अहंकार, बल = दूसरों के परिभव -- तिरस्कार करने का हेतुभूत शरीरगत सामर्थ्यविशेष, दर्प = दूसरों का अवज्ञानरूप गुरु-नृप आदि के अतिक्रमण करने का कारणभूत चित्तदोषविशेष, काम = इष्ट विषय की अभिलाषा और क्रोध = अनिष्टविषयक द्वेष तथा चकार से दूसरों के गुणों का असहिष्णुत्वरूप मात्सर्य, इसीप्रकार अन्य महान् दोषों का वे आश्रय लिए रहते हैं ।

---

35. 'भावना' में तीन अंशों की अपेक्षा रहती है -- साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता । 'कथं भावयेत्' = 'कैसे किया जाय' -- इससे भावना के भाव्य -- साध्य के निष्पन्न होने में प्रकारता की जिज्ञासा होती है कि भावना का साध्य किस प्रकार निष्पन्न होता है ? यही 'इतिकर्तव्यता' है ।

36. 'अश्रद्धया हुतं दत्तम्' -- इत्यादि वचन के अनुसार यदि श्रद्धाहीन व्यक्ति विधिपूर्वक भी यज्ञकर्मानुष्ठान करता है, तो वह उस यज्ञ के फल का भागी नहीं होता है, क्योंकि श्रद्धाशून्य कृत-कर्म अकृत-कर्म ही कहा जाता है । इसप्रकार जब श्रद्धाभाव मात्र से ही विधिपूर्वक किया हुआ कर्मानुष्ठान भी फल से रहित होता है तो फिर श्रद्धाभाव के साथ अविधिपूर्वक भी किये हुए यज्ञानुष्ठान के फलाभाव के विषय में तो कहना ही क्या है ?

बुद्धिकर्मसाक्षितया सन्तमतिप्रेमास्पदमपि दुर्दैवपरिपाकात्प्रद्विषन्त ईश्वरस्य मम शासनं श्रुतिस्मृतिरूपं तदुक्तार्थानुष्ठानपराङ्मुखतया तदतिवर्तनं मे प्रद्वेषस्तं कुर्वन्तः । नृपाद्याज्ञालङ्घनमेव हि तत्प्रद्वेष इति प्रसिद्धं लोके ।

39 **ननु गुर्वादयः कथं तान्नानुशासति तत्राऽऽह–अभ्यसूयका गुर्वादीनां वैदिकमार्गस्थानां कारुण्यादिगुणेषु प्रतारणादिदोषारोपकाः । अतस्ते सर्वसाधनशून्या नरक एव पतन्तीत्यर्थः ।**

40 **मामात्मपरदेहेष्वित्यस्यापरा व्याख्या–स्वदेहेषु परदेहेषु च चिदंशेन स्थितं मां प्रद्विषन्तो यजन्ते दम्भयज्ञेषु श्रद्धाया अभावाद्दीक्षादिनाऽऽत्मनो वृथैव पीडा भवति । तथा पश्वादीनामप्यविधिना हिंसया चैतन्यद्रोहमात्रमवशिष्यत इति ।**

41 **अपरा व्याख्या–आत्मदेहे जीवानाविष्टे भगवल्लीलाविग्रहे वासुदेवादिसमाख्ये मनुष्यत्वादिभ्रमान्मां प्रद्विषन्तः । तथा परदेहेषु भक्तदेहेषु प्रह्लादादिसमाख्येषु सर्वदाऽऽविर्भूतं मां प्रद्विषन्त इति योजना । उक्तं हि नवमे –**

38 ऐसे भी पतित वे आपकी भक्ति से पूत – पवित्र होकर नरक में नहीं गिरेंगे -- इसप्रकार यदि अर्जुन कहे तो कहते हैं -- अपने = उन असुरों के और दूसरों के = उनके प्रेमास्पद पुत्र-भार्यादि के देहों में उन-उनके बुद्धि-ज्ञान और कर्मों के साक्षीरूप से विद्यमान अतिप्रेमास्पद भी मुझ ईश्वर – भगवान् से वे दुदैव के परिपाक के कारण अत्यन्त द्वेष करते हैं अर्थात् मुझ ईश्वर के श्रुतिस्मृतिरूप शासन में उक्त अर्थ के अनुष्ठान से पराङ्मुख होने के कारण उस शासन का अतिवर्तन -- उल्लंघन करना ही जो मेरा प्रद्वेष है उस द्वेष को करते हैं, क्योंकि नृप आदि की आज्ञा का उल्लंघन करना ही उनके प्रति प्रद्वेष होता है -- यह लोक में प्रसिद्ध है ।

39 गुरु आदि उनका अनुशासन क्यों नहीं करते हैं ? इस शंका पर कहते हैं :-- वे अभ्यसूयक होते हैं = वैदिकमार्ग में स्थित गुरु आदि के करुणा आदि गुणों में प्रतारणा आदि दोषों के आरोपक होते हैं -- दोषों का आरोप करनेवाले होते हैं । अतः वे सब साधनों से शून्य नरक में ही गिरते हैं -- यह अर्थ है ।

40 'मामात्मपरदेहेषु' - इसकी दूसरी व्याख्या इसप्रकार है -- अपने देहों और दूसरों के देहों में 'चित्' अंश से स्थित मुझसे द्वेष करते हुए वे यजन करते हैं, क्योंकि दम्भयज्ञों -- दम्भपूर्वक किये गए यज्ञों में श्रद्धा का अभाव रहने से दीक्षादि के द्वारा आत्मा को वृथा ही पीड़ा होती है तथा बिना विधि के पशु आदि की हिंसा करने से भी चैतन्य से द्रोहमात्र करना ही शेष रह जाता है[37] ।

41 इसकी एक और व्याख्या इसप्रकार है -- आत्मदेह अर्थात् जीव से अनाविष्ट-- जीव के आवेश से रहित वासुदेवादि नामक भगवान् के लीलाविग्रह में मनुष्यत्वादि के भ्रम के कारण मुझसे द्वेष करते हैं तथा परदेहों अर्थात् प्रह्लादादि नामक भक्तों के शरीर में सर्वदा आविर्भूत हुए मुझसे द्वेष करते हैं -- इसप्रकार योजना करनी चाहिए । नवम अध्याय में कहा भी है --

"सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वररूप मेरे परमभाव = पारमार्थिक तत्त्व को न जानने वाले मूढ़ पुरुष

37. मनुवचन है–

'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥' (मनुस्मृति, 5.39)

"स्वयं ब्रह्मा ने यज्ञ के लिए और सब यज्ञों की समृद्धि के लिए पशुओं का निर्माण किया है, इसलिए यज्ञ में पशु का वध अवध हैं' – इसके अनुसार यज्ञ के लिए सविधि पशुहिंसा में दोष नहीं है, किन्तु अविधि हिंसा में 'मा हिंस्यात्' इत्यादि श्रुत्यतिक्रमप्रयुक्तदोष अवश्य है । अतएव उक्त कथन समीचीन है ।

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥' इति

'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः' इति चान्यत्र । तथा च भजनीये द्वेषान्न भक्त्या पूतता तेषां संभवतीत्यर्थः ॥ 18 ॥

42 तेषां त्वत्कृपया कदाचिन्निस्तारः स्यादिति नेत्याह –

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ 19 ॥

43 तान्सन्मार्गप्रतिपक्षभूतान्द्विषतः साधून्मां च क्रूरान्हिंसापरानतो नराधमानतिनिन्दितानजस्रं संततमशुभानशुभकर्मकारिणोऽहं सर्वकर्मफलदातेश्वरः संसारेष्वेव नरकसंसरणमार्गेषु क्षिपामि पातयामि । नरकगताश्चाऽऽसुरीष्वेवातिक्रूरासु व्याघ्रसर्पादियोनिषु तत्तत्कर्मवासनानुसारेण क्षिपामीत्यनुषज्यते । एतादृशेषु द्रोहिषु नास्ति ममेश्वरस्य कृपेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'अथ [य इह] कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा' इति । कपूयचरणाः कुत्सितकर्माणोऽभ्याशो ह शीघ्रमेव कपूयां कुत्सितां योनिमापद्यन्त इति श्रुतेरर्थः । अत एव पूर्वपूर्वकर्मानुसारित्वान्नेश्वरस्य वैषम्यं नैर्घृण्यं वा । तथा च पारमर्षं सूत्रं 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयतिः' इति । एवं च पापकर्माण्येव

मानुष शरीर को धारण करनेवाले मुझ परमात्मा का अनादर करते हैं । वे अविवेकीजन व्यर्थ आशा, निष्फल कर्म और दूषित ज्ञानवाले; विवेक और विज्ञान से रहित तथा मोह में डालनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति का ही आश्रय लिये होते हैं" (गीता, 9.11-12) ।

इसप्रकार सप्तम अध्याय में भी कहा है -- "बुद्धिहीन पुरुष अव्यक्तरूप मुझको व्यक्तत्व को प्राप्त हुआ समझते हैं' (गीता, 7.24) । इसप्रकार भाव यह है कि भजनीय भगवान् में ही द्वेष रहने के कारण भक्ति द्वारा उनकी पवित्रता होना सम्भव नहीं है ।। 18 ।।

42 आपकी कृपा से कदाचित् उन का निस्तार -- उद्धार होगा -- इसपर कहते हैं :-- नहीं, [मुझसे और साधुजनों से द्वेष करनेवाले उन क्रूर और निरन्तर अशुभ कर्मी नराधमों को मैं संसार में आसुरी योनियों में ही फेंकता हूँ ।। 19 ।।]

43 उन सन्मार्ग के प्रतिपक्ष-शत्रुरूप, साधुजनों से और मुझसे द्वेष करनेवाले, क्रूर = हिंसापरायण अतएव नराधम-- मनुष्यों में अधम = अत्यन्तनिन्दित अजस्र = निरन्तर अशुभ कर्म करनेवालों को मैं सब कर्मों का फलदाता ईश्वर संसारों = नरक जानेवाले मार्गों में ही फेंकता हूँ – गिराता हूँ । नरक में गये हुए उनको उन--उनकी कर्मवासनाओं के अनुसार आसुरी अर्थात् अत्यन्त क्रूर व्याघ्र-- सर्पादि योनियों में फेंकता हूँ -- गिराता हूँ । यहाँ 'क्षिपामि' अनुषिक्त -- सम्बद्ध है । ऐसे द्रोहियों में मुझ ईश्वर की कृपा नहीं है-- ऐसे द्रोहियों पर मुझ ईश्वर की कृपा नहीं होती है -- यह अर्थ है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है-- "जो कपूय -- दूषित आचरणवाले होते हैं वे शीघ्र ही कुत्सित योनियों में अर्थात् कुत्ते की योनि में, शूकर की योनि में, अथवा चाण्डाल की योनि में जाते हैं"।

तेषां कारयति भगवांस्तेषु तद्बीजसत्त्वात् । कारुणिकत्वेऽपि तानि न नाशयति तन्नाशकपुण्योपचयाभावात्पुण्योपचयं न कारयति तेषामयोग्यत्वात् । न हीश्वरः पाषाणेषु यवाङ्कुरान्करोति । ईश्वरत्वादयोग्यस्यापि योग्यतां संपादयितुं शक्नोतीति चेत्, शक्नोत्येव सत्यसंकल्पत्वात् यदि संकल्पयेत् । न तु संकल्पयति आज्ञालङ्घिषु स्वभक्तद्रोहिषु दुरात्मस्वप्रसन्नत्वात् । अत एव श्रूयते 'एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते, एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इति । येषु प्रसादकारणमस्त्याज्ञापालनादि तेषु प्रसीदति । येषु तु तद्वैपरीत्यं तेषु न प्रसीदति सति कारणे कार्यं कारणाभावे कार्याभाव इति किमत्र वैषम्यम् । 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इति न्यायाच्च । अन्ततो गत्वा किंचिद्वैषम्यापादने महामायत्वाददोषः ॥ 19 ॥

कपूयचरण[38] = कुत्सित कर्म करनेवाले अभ्याशो ह = शीघ्र ही कपूय = कुत्सित योनि में जाते हैं – यह श्रुति का अर्थ है । अतएव पूर्व-पूर्व कर्मों का अनुसरण करनेवाला होने से ईश्वर में विषमता अथवा क्रूरता का दोष नहीं आता है । इसीप्रकार महर्षि का सूत्र भी है – "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति" ब्रह्मसूत्र, 2.1.34) = " ईश्वर में विषमता और निर्घृणता – क्रूरता – निर्दयता दोष नहीं है, क्योंकि ईश्वर की सापेक्षता होती है अर्थात् सृष्टि की रचना में वह जीवों के धर्माधर्म की अपेक्षा रखता है, ऐसा ही 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.2.13) = 'पुण्यकर्म से पुण्यात्मा होता है और पापकर्म से पापात्मा होता है' – यह श्रुति दिखाती है, स्मृति भी इस अर्थ को दिखाती है – 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता, 4.11) = 'जो मुझको जिसप्रकार प्राप्त होते हैं– भजते हैं, मैं भी उनको उसीप्रकार भजता हूँ अर्थात् उनके भजनानुसार उन पर अनुग्रहादि करता हूँ' – इत्यादि" । इसप्रकार भगवान् उनमें पाप का बीज रहने के कारण उनसे पापकर्म ही कराता है, कारुणिक होने पर भी उनमें पापनाशक पुण्यों का सञ्चय न होने के कारण वह उनके पापों का नाश नहीं करता है तथा उनमें पुण्यकर्म करने की योग्यता न होने के कारण उनसे पुण्यों का सञ्चय भी नहीं कराता है, क्योंकि ईश्वर पत्थरों में यवाङ्कुर उत्पन्न नहीं करता है । यदि कहो कि ईश्वर होने के कारण वह अयोग्य में भी तो योग्यता का संपादन कर सकता है[39], तो इसका समाधान यह है कि सत्यसंकल्प होने के कारण वह ऐसा कर तो सकता है, किन्तु तभी जबकि वह ऐसा संकल्प करे, किन्तु वह संकल्प करता नहीं है, कारण कि उसकी आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले और अपने भक्तों के द्रोही उन दुरात्माओं से वह अप्रसन्न रहता है । अतएव श्रुति कहती है -- 'जिसको यह ऊपर ले जाना चाहता है उससे यही साधु – शुभ कर्म कराता है और जिसको यह नीचे की ओर ले जाना चाहता है उससे यही असाधु – अशुभ कर्म कराता है' । जिन पुरुषों में भगवान् की प्रसन्नता का कारण उसकी आज्ञापालनादि रहता है उन्हीं पर वह प्रसन्न होता है, किन्तु जिनमें इससे विपरीतता रहती है उन पर वह प्रसन्न नहीं होता है, कारण रहने पर कार्य होता है और कारण न रहने पर कार्य नहीं होता है – इसप्रकार इसमें क्या विषमता है ? "परात्तु तच्छ्रुतेः" (ब्रह्मसूत्र, 2.3.41) = "जीव परमात्मा के वशंगत होकर ही कर्म करता है, 'अंतःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्' (तैत्तिरीय, 3.11.10) = 'परमात्मा जीवों के अन्तःकरण में स्थिर होकर शासन करता है' – इस श्रुतिवाक्य ये यही सिद्ध होता है" – इस न्याय से अन्ततोगत्वा यदि ईश्वर में किंचित् विषमता का ही आरोपण किया जाय तो वह महामाया का कारण होने से दोष नहीं है ।। 19 ।।

38. 'कपूयकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समाः' (अमरकोश, 3.1.54) – इस कोश के अनुसार 'कपूय' कुत्सितवाची है और 'चरण' शब्द आचरणपरक है ।

39. जैसा कि कहा है -- मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।

अश्रेयश्चाऽऽचरति येन निरयपातः स्यात् । अधुना तत्प्रतिबन्धरहितः सन्नश्रेयो नाऽऽचरति श्रेयश्चाऽऽचरति तत ऐहिकं सुखमनुभूय सम्यग्धीद्वारा याति परां गतिं मोक्षम् ॥ 22 ॥

50 **यस्मादश्रेयोनाचरणस्य श्रेयआचरणस्य च शास्त्रमेव निमित्तं तयोः शास्त्रैकगम्यत्वात्तस्मात् –**

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ 23 ॥

51 **शिष्यतेऽनुशिष्यतेऽपूर्वोऽर्थो बोध्यतेऽनेनेति शास्त्रं वेदस्तदुपजीविस्मृतिपुराणादि च, तत्संबन्धी विधिर्लिङादिशब्दः कुर्यान्न कुर्यादित्येवंप्रवर्तनानिवर्तनात्मकः कर्तव्याकर्तव्यज्ञानहेतुर्विधि-निषेधाख्यस्तः शास्त्रविधिं, विधिनिषेधातिरिक्तमपि ब्रह्मप्रतिपादकं शास्त्रमस्तीति सूचयितुं विधि-**

विरहित हुआ नर[42] = पुरुष अपने श्रेय – कल्याण का अर्थात् वेदविहित जो हित है उसका आचरण करता है, क्योंकि पूर्व में कामादि से प्रतिबद्ध वह श्रेय – कल्याण का आचरण नहीं करता है जिससे पुरुषार्थ सिद्ध हो, अश्रेय का ही आचरण करता है जिससे नरक में पतित हो । इससमय उस कामादि के प्रतिबन्ध से रहित होकर वह अश्रेय का आचरण नहीं करता है, श्रेय का ही आचरण करता है और उससे वह ऐहिक – लौकिक सुख का अनुभव कर सम्यग्ज्ञान द्वारा परागति = मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ 22 ॥

50 क्योंकि अश्रेय के अनाचरण और श्रेय के आचरण का शास्त्र ही निमित्त है, कारण कि शास्त्र से ही उनका ज्ञान होता है, इसलिए –

[जो पुरुष शास्त्रविधि को छोड़कर स्वेच्छानुसार आचरण करता है वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख पाता है और न परमगति को प्राप्त होता है ॥ 23 ॥]

51 शासन किया जाता है – अनुशासन किया जाता है अर्थात् अपूर्व[43] अर्थ का बोध कराया जाता है इसके द्वारा इसलिए शास्त्र[44] अर्थात् वेद है, वेद के उपजीवी स्मृति-पुराणादि हैं, वेद से सम्बन्ध रखनेवाली विधि[45] = लिङादि[46] शब्द अर्थात् 'कुर्यात्' 'न कुर्यात्'– इसप्रकार प्रवर्तनात्मक और

---

42. जो कामादि से विमुक्त होता है वही 'नर' है और सार्थकनरजन्मा है, इससे भिन्न दूसरे तो पशु हैं और निरर्थकनरजन्मा हैं – यह सूचित करने के लिए यहाँ 'नर' शब्द का प्रयोग है ।

43. यहाँ 'अपूर्व' का कथन अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य की रक्षा के लिए है और स्मृति आदि की व्यावृत्ति के लिए है ।

44. 'शास्त्र' शब्द 'शासनात् शास्त्रम्' शासन करनेवाला होने से 'शास्त्र' कहा जाता है । शासन का अर्थ मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्त करना या किसी कार्य से निवृत्त करना होता है । वेदादि मनुष्यों को सत्कर्म में प्रवृत्त होने और असत्कार्यों से निवृत्त होने का आदेश देते हैं, इसलिए वे 'शास्त्र' कहे जाते हैं । मुख्यरूप से शासन करनेवाले अर्थात् प्रवृत्ति – निवृत्ति करनेवाले ग्रन्थ 'शास्त्र ' कहलाते हैं । 'शासनात् शास्त्रम्' अर्थात् केवल शासन करनेवाले विधि – प्रतिषेधपरक ग्रन्थ ही शास्त्र नहीं कहलाते है, अपितु 'शंसनात् शास्त्रम्' = किसी गूढ़ तत्त्व का 'शंसन्' – प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ भी 'शास्त्र' कहलाते हैं अर्थात् 'ब्रह्म' जैसे गूढ़ तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त आदि भी 'शास्त्र' कहलाते हैं । प्रकृत में प्रथम व्युत्पत्तिपरक अर्थ में ही 'शास्त्र' शब्द को ग्रहण किया गया है ।

45. 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' (अर्थसंग्रह) = वेद का जो भाग अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराता है उसको 'विधि' कहा जाता है । वेद विधि से ही प्रमाण कहा जाता है अर्थात् वेद के विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद – ये जो पाँच भेद है वे सब साक्षात् धर्मादि में प्रमाण नहीं होते हैं, विधि ही साक्षात् धर्मादि में प्रमाण होती है, अतएव प्रकृत में शास्त्रप्रमाण के अर्थ में 'शास्त्र' को वेदपरक कहकर उसमें 'विधि' को प्रमाण कहा है, इसीलिए 'शास्त्रविधि' शब्द का प्रयोग है ।

शब्दः । उत्सृज्याश्रद्धया परित्यज्य कामकारतः स्वेच्छामात्रेण वर्तते विहितमपि नाऽऽचरति निषिद्धमप्याचरति यः स सिद्धिं पुरुषार्थप्राप्तियोग्यतामन्तःकरणशुद्धिं कर्माणि कुर्वन्नपि नाऽऽप्नोति, न सुखमैहिकं, नापि परां प्रकृष्टां गतिं स्वर्गं मोक्षं वा ॥ 23 ॥

52 **यस्मादेवम् –**

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ 24 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोध्यायः ॥ 16 ॥

53 **यस्माच्छास्त्रविमुखतया कामाधीनप्रवृत्तिरैहिकपारत्रिकसर्वपुरुषार्थायोग्यस्तस्मात्ते तव श्रेयोर्थिनः कार्याकार्यव्यवस्थितौ किं कार्यं किमकार्यमिति विषये शास्त्रं वेदतदुपजीविस्मृतिपुराणादिकमेव**

निवर्तनात्मक तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य ज्ञान के हेतुभूत विधि -- निषेध[47] संज्ञक वाक्य शास्त्रविधि है, विधिनिषेधात्मक शास्त्र के अतिरिक्त भी ब्रह्मप्रतिपादक शास्त्र है -- यह सूचित करने के लिए श्लोक में 'विधि' शब्द है -- इसप्रकार शास्त्रविधि को छोड़कर = अश्रद्धा से उसका परित्याग कर जो कामकारत: = स्वेच्छामात्र से वर्तता है अर्थात् विहित का भी आचरण नहीं करता है और निषिद्ध का भी आचरण नहीं करता है वह कर्म करते हुए भी सिद्धि अर्थात् पुरुषार्थप्राप्तियोग्य अन्त:करणशुद्धि को प्राप्त नहीं होता है, ऐहिक -- लौकिक सुख भी नहीं पाता है और परा – प्रकृष्ट गति = स्वर्ग अथवा मोक्ष को भी प्राप्त नहीं होता है ॥ 23 ॥

52 क्योंकि ऐसा है –

[इसलिए कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य कर्म की व्यवस्था करने में तुम्हारे लिए शास्त्र ही प्रमाण है, तुमको शास्त्रविधि से उक्त-नियत किये हुए कर्म को जानकर इस लोक में आचरण करना चाहिए ॥ 24 ।

---

46. 'यजेत स्वर्गकाम:' एक विधि है । 'यजेत' पद 'यज्' धातु में 'त' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है । 'त' प्रत्यय 'तिङ्' होने के कारण सामान्यरूप से आख्यात कहा जाता है और विधिलिङ् होने के कारण विशेषरूप से 'लिङ्' कहा जाता है । श्रुति में उक्त लिङ्, लोट्, तव्य-प्रत्यय स्वरूप 'विधि' है अतएव प्रकृत में लिङादि शब्द को 'विधि' कहा है । स्मृति में भी कहा है –

श्रुत्युक्त-लिङ्-लोट्-तव्य-प्रत्ययलक्षण-लक्षिता
चोदना सैव नान्या सा पुराणश्रुतिचोदिता ॥ (आङ्गिरस-स्मृति, 1.4)

47. 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम:' – यह विधिवाक्य है, क्योंकि यह वाक्य स्वर्ग प्राप्त करानेवाले 'अग्निहोत्र' नामक याग के अनुष्ठान का विधान करता है । 'विधिवाक्य' किसी क्रियानुष्ठान के प्रति पुरुष को प्रवृत्त करता है, जबकि 'निषेधवाक्य' पुरुष को निवृत्त करता है अर्थात् जो वाक्य पुरुष को अनर्थकारणभूत क्रियाओं को करने से रोकता है वह 'निषेध' वाक्य कहलाता है, जैसे – 'न कलञ्जं भक्षयेत्' (पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेध: – अर्थसंग्रह) । भाव यह है कि विधिवाक्य पुरुष में क्रियानुष्ठान के प्रति प्रवर्तना उत्पन्न करता है और निषेधवाक्य निवर्तना उत्पन्न करता है अतएव वे कर्तव्याकर्तव्यज्ञान के हेतु हैं । यहाँ यह शंका हो सकती है कि विधि और निषेध – दोनों परस्पर विरोधी हैं, तो फिर विधि का अर्थ निषेध भी कैसे हो सकता है ? इसके समाधान में श्लोकवार्तिककार ने कहा है कि प्रवृत्तिस्थल में या निवृत्तिस्थल में उसके पूर्व होने वाली शब्दश्रवणजन्य बुद्धि ही 'चोदना' अर्थात् 'विधि' है (प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा या शब्दश्रवणेन धी: सा चोदना – श्लोकवार्तिक) । इसप्रकार निषेध भी विधि प्रतिपाद्य के अन्तर्गत आता है ।

प्रमाणं बोधकं नान्यत्स्वोत्प्रेक्षाबुद्धवाक्यादीत्यभिप्रायः । एवं चेह कर्माधिकारभूमौ शास्त्रविधानेन कुर्यान्न कुर्यादित्येवंप्रवर्तनानिवर्तनारूपेण वैदिकलिङादिपदेनोक्तं कर्म विहितं प्रतिषिद्धं च ज्ञात्वा निषिद्धं वर्जयन्विहितं क्षत्रियस्य युद्धादिकर्म त्वं कर्तुमर्हसि सत्त्वशुद्धिपर्यन्तमित्यर्थः । तदेवमस्मिन्नध्याये सर्वस्या आसुर्याः संपदो मूलभूतान्सर्वाश्रेयःप्रापकान्सर्वश्रेयः-प्रतिबन्धकान्महादोषान्कामक्रोधलोभानपहाय श्रेयोर्थिना श्रद्दधानतया शास्त्रप्रवणेन तदुपदिष्टार्थानुष्ठानपरेण भवितव्यमिति संपद्द्वयविभागप्रदर्शनमुखेन निर्धारितम् ॥ 24 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ 16 ॥

---

53 क्योंकि शास्त्रविमुख होने से कामाधीन -- स्वेच्छाधीन प्रवृत्ति ऐहिक -- ऐहलौकिक और पारत्रिक -- पारलौकिक -- सभी पुरुषार्थों के अयोग्य है इसलिए कल्याण की इच्छावाले तुम्हारे लिए कार्य और अकार्य की व्यवस्था में = 'क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए' -- इस विषय में शास्त्र = वेद और उसके उपजीवी स्मृति -- पुराणादि ही प्रमाण = बोधक हैं, अपनी कल्पना से जाने हुए वाक्यादि नहीं है -- यह अभिप्राय है । इसप्रकार यहाँ -- कर्माधिकारभूमि में शास्त्रविधान से 'यह करो; यह न करो' -- इसप्रकार प्रवर्तन और निवर्तनरूप वैदिकलिङादि पद से उक्त विहित और प्रतिषिद्ध कर्म को जानकर निषिद्ध का त्याग करते हुए क्षत्रिय के लिए विहित युद्धादि कर्म करने के लिए तुम योग्य हो अर्थात् सत्त्वशुद्धि-अन्त:करणशुद्धिपर्यन्त स्वधर्म करने के योग्य हो । इसप्रकार इस अध्याय में दैवीसंपत् और आसुरीसंपत् -- दोनों सम्पदों का विभाग दिखला कर यह निश्चित किया कि सम्पूर्ण आसुरीसंपत् के मूलभूत, सब अश्रेयों -- अकल्याणों -- अनर्थों को प्राप्त करानेवाले, सम्पूर्ण श्रेय के प्रतिबन्धक काम, क्रोध और लोभरूप महान् दोषों को त्यागकर कल्याणार्थी को श्रद्धापूर्वक शास्त्रानुरक्त होकर शास्त्रद्वारा उपदिष्ट अर्थ का अनुष्ठान करने में तत्पर होना चाहिए ।। 24 ।।

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का दैवासुरसंपद्विभाग-योग नामक षोडश अध्याय समाप्त होता है ।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

1 त्रिविधाः कर्मानुष्ठातारो भवन्ति । केचिच्छास्त्रविधिं ज्ञात्वाऽप्यश्रद्धया तमुत्सृज्य कामकारमात्रेण यत्किंचिदनुतिष्ठन्ति ते सर्वपुरुषार्थायोग्यत्वादसुराः । केचित्तु शास्त्रविधिं ज्ञात्वा श्रद्दधानतया तदनुसारेणैव निषिद्धं वर्जयन्तो विहितमनुतिष्ठन्ति ते सर्वपुरुषार्थयोग्यत्वाद्देवा इति पूर्वाध्यायान्ते सिद्धम् । ये तु शास्त्रीयं विधिमालस्यादिवशादुपेक्ष्य श्रद्दधानतयैव वृद्धव्यवहारमात्रेण निषिद्धं वर्जयन्तो विहितमनुतिष्ठन्ति । ते शास्त्रीयविध्युपेक्षालक्षणेनासुरसाधर्म्येण श्रद्धापूर्वकानुष्ठान-लक्षणेन च देवसाधर्म्येणान्विताः किमसुरेष्वन्तर्भवन्ति किं वा देवेष्वित्युभयधर्मदर्शनादेककोटिनि-श्चायकादर्शनाच्च संदिहानः --

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ 1 ॥

2 ये पूर्वाध्याये न निर्णीता न देववच्छास्त्रानुसारिणः किंतु शास्त्रविधिं श्रुतिस्मृतिचोदनामुत्सृज्या-ऽऽलस्यादिवशादनादृत्य नासुरवदश्रद्दधानाः किं तु वृद्धव्यवहारानुसारेण श्रद्धयाऽन्विता यजन्ते

---

1 कर्मानुष्ठान करनेवाले तीन प्रकार के होते हैं:-- कोई शास्त्रविधि को जानकर भी अश्रद्धा से उसका त्याग कर स्वेच्छानुसार जो कुछ करते हैं, वे सब पुरुषार्थों के अयोग्य होने के कारण 'असुर' हैं । कोई तो शास्त्रविधि को जानकर श्रद्धायुक्त होकर उस शास्त्रविधि के अनुसार ही निषिद्ध कर्म का त्याग करते हुए विहित कर्म का अनुष्ठान करते हैं, वे सब पुरुषार्थों के योग्य होने के कारण 'देव' हैं -- यह पूर्व अध्याय के अन्त में सिद्ध हो चुका है । जो तो आलस्यादि के कारण शास्त्रविधि की उपेक्षा कर श्रद्धावान् होकर ही वृद्धों के व्यवहारमात्र से निषिद्ध कर्म का त्याग करते हुए विहित कर्म का अनुष्ठान करते हैं, वे शास्त्रविधि की उपेक्षारूप आसुरधर्म की समानता से और श्रद्धापूर्वक अनुष्ठानरूप देवधर्म की समानता से युक्त होने के कारण क्या असुरों के अन्तर्गत आते हैं अथवा देवताओं के अन्तर्गत आते हैं ? -- इसप्रकार उनमें दोनों के धर्म देखे जाने से और एक कोटि का निश्चायक न देखे जाने से सन्देह करते हुए अर्जुन ने कहा :--

[अर्जुन ने कहा :-- हे कृष्ण ! जो मनुष्य शास्त्रविधि का त्याग कर श्रद्धा से युक्त हुए यजन करते हैं उनकी तो निष्ठा कौन-सी होती है ? सात्त्विकी अथवा राजसी -- तामसी ? ॥ 1 ॥]

2 पूर्व अध्याय में निर्णीत नहीं हुए जो मनुष्य देव के समान शास्त्रानुसारी नहीं हैं, किन्तु शास्त्रविधि = श्रुति-स्मृतिचोदना[2] -- श्रुतिस्मृतिविधि का त्याग कर = आलस्यादि के कारण अनादर कर असुरों

---

1. 'पुरुषैः अर्थ्यन्ते इति पुरुषार्थाः' -- सुखाभिलाषी मनुष्य अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए जिन सुखों और उनकी प्राप्ति के साधनों को प्राप्त करने की अभिलाषा करता है, उनको 'पुरुषार्थ' कहते हैं । वे चार हैं -- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । 'धर्म' सर्वदा अर्थ का मूल -- कारण है, 'अर्थ' का फल काम कहा जाता है, 'काम' त्रिवर्ग का मूल है और इन तीनों से निवृति 'मोक्ष' है, जैसा कि महाभारत में कहा है --

धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते ।
मूलमेतत्त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते ॥

2. 'क्रियायाः प्रवर्तकं निवर्तकं वा यद्वाक्यं, सा चोदना' (शाबरभाष्य) = जो वाक्य क्रिया का प्रवर्तक अथवा निवर्तक होता है उसको 'चोदना' कहते हैं । चोदना, उपदेश और विधि-- ये शब्द एकार्थवाची है (चोदना चोपदेशश्च

देवपूजादिकं कुर्वन्ति तेषां तु शास्त्रविध्युपेक्षाश्रद्धाभ्यां पूर्वनिश्चितदेवासुरविलक्षणानां निष्ठा का कीदृशी तेषां शास्त्रविध्यनपेक्षा श्रद्धापूर्विका च सा यजनादिक्रियाव्यस्थितिर्हे कृष्ण भक्ताघकर्षण, किं सत्त्वं सात्त्विकी । तथा सति सात्त्विकत्वात्ते देवाः । आहो इति पक्षान्तरे । किं रजस्तमो राजसी तामसी च । तथा सति राजसतामसत्वादसुरास्ते सत्त्वमित्येका कोटिः, रजस्तम इत्यपरा कोटिरितिविभागज्ञापनायाऽऽहोशब्दः ॥ 1 ॥

के समान अश्रद्धायुक्त न होकर, किन्तु श्रद्धा[3]युक्त होकर वृद्धों के व्यवहार के अनुसार यजन = देवपूजादि[4] करते हैं[5], उनकी = शास्त्रविधि की उपेक्षा और श्रद्धा के कारण पूर्वनिश्चित देव और असुरों से विलक्षणों की तो[6] निष्ठा[7] कौन-सी है ? = उनकी वह शास्त्रविधि की अपेक्षा से रहित और श्रद्धापूर्विका यजनादिक्रिया की व्यवस्था किस प्रकार की है ? हे कृष्ण[8] ! हे भक्ताघकर्षण – भक्तों के पापों को दूर करनेवाले ! क्या वह निष्ठा -- व्यवस्था सात्त्विकी है ? यदि ऐसी है तो वे सात्त्विक होने से देव हैं । 'आहो' – यह अव्यय पक्षान्तर में हैं । अथवा, वह राजसी और तामसी है ? यदि ऐसी है तो वे राजस – तामस होने से असुर हैं । 'सत्त्व' – एक कोटि है और रज-तम – यह दूसरी कोटि है-- इसप्रकार विभाग को बतलाने के लिए 'आहो' शब्द है ।। 1 ।।

विधिश्चैकार्थवाचिनः – श्लोकवार्तिक), अतएव प्रकृत में 'विधि' शब्द के लिए 'चोदना' शब्द का प्रयोग हुआ है । जो अर्थ – अभीष्ट – श्रेयःसाधन अर्थात् सत्कर्म वेदोक्त विधिवाक्यों द्वारा कर्तव्यरूप से बोधित होता है, उसको 'धर्म' कहते हैं (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः – मीमांसासूत्र, 1.2.3) । धर्म में चार साक्षात् प्रमाण होते हैं – वेद, वेदमूलक स्मृति, शास्त्रमूलक सदाचार और इन तीनों प्रमाणों के अविरुद्ध आत्मतुष्टि । मनुस्मृति में कहा है –

"वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ।। (मनुस्मृति, 2.12)

उक्त चारों प्रमाणों में वेद और स्मृति शब्दमय प्रमाण हैं तथा सदाचार और आत्मतुष्टि आन्तर धर्म होने से अनुभवमय प्रमाण हैं, प्रकृत में चोदनालक्षण धर्म में वेद-श्रुति और स्मृति शब्दमय प्रमाण को ग्रहण करके ही 'श्रुतिस्मृतिचोदना' कहा है । ये वेद और स्मृति 'शास्त्र' कहे जाते हैं अतएव मूल में 'शास्त्रविधि' कहा है ।

3. 'आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा' – आस्तिक्य बुद्धि को 'श्रद्धा' कहते हैं ।

4. यहाँ देवपूजादि से तात्पर्य है – देवपूजा, यज्ञ और दान ।

5. यहाँ 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः' – इस कथन से उन मनुष्यों को ग्रहण किया गया है जो श्रुति या स्मृतिरूप किसी भी शास्त्र के विधान को आलस्यादि के कारण न देखते हुए वृद्धव्यवहार के दर्शन से ही श्रद्धापूर्वक देवादि का पूजन करते हैं । जो मनुष्य शास्त्रविधि को जानते हुए भी उसका परित्याग कर देवादि का पूजन करते हैं उनका ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि प्रकृत में 'श्रद्धयान्विताः'– यह विशेषण दिया गया है । देवादि के पूजाविधिपरक किसी भी शास्त्र को जानते हुए अश्रद्धापूर्वक उसको जो त्याग देते हैं वे स्वेच्छाचारी होने के कारण आसुरी कोटि में आते हैं । अतः जो शास्त्रविधि को नहीं जानते हैं किन्तु वृद्धव्यवहारादि के अनुसार श्रद्धापूर्वक देवादि का पूजन करते हैं वे ही उक्त कथन से ग्रहण किये गये हैं (शाङ्करभाष्य) ।

6. श्लोक में 'तु' शब्द पूर्व की व्यावृत्ति के अर्थ में है अर्थात् जो शास्त्रविधि को जानकर भी उसका त्याग कर स्वेच्छा से कर्म करते हैं उनसे शास्त्र में अनभिज्ञ किन्तु श्रद्धायुक्त उपासकों की विलक्षणता सूचित करने के लिए 'तु' शब्द है ।

7. यहाँ 'निष्ठा' शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने इसप्रकार की है – शंकर – अवस्था – अवस्थान, मधुसूदनसरस्वती – व्यवस्थिति – व्यवस्था, श्रीधर-स्थिति या आश्रय, शंकरानन्द – वृत्ति इत्यादि ।

8. 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।।'

इस निरुक्ति को अभिप्रेत करके सर्वत्र सत्ता, स्फूर्ति आदि से स्थित परमात्मा आपको कुछ भी अविदित नहीं है – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

3 ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य श्रद्धया यजन्ते ते श्रद्धाभेदाद्भिद्यन्ते । तत्र ये सात्त्विक्या श्रद्धयाऽऽन्वितास्ते देवाः शास्त्रोक्तसाधनेऽधिक्रियन्ते तत्फलेन च युज्यन्ते । ये तु राजस्या तामस्या श्रद्धयाऽन्विता-स्तेऽसुरा न शास्त्रीयसाधनेऽधिक्रियन्ते न वा तत्फलेन युज्यन्त इति विवेकेनार्जुनस्य संदेहमपनिनीषुः श्रद्धाभेदम् –

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ 2 ॥

4 यया श्रद्धयाऽन्विताः शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते सा देहिनां स्वभावजा, जन्मान्तरकृतो धर्माधर्मादिशुभाशुभसंस्कार इदानींतनजन्मारम्भकः स्वभावः । स त्रिविधः सात्त्विको राजस-स्तामसश्चेति । तेन जनिता श्रद्धा त्रिविधा भवति सात्त्विकी राजसी तामसी च, कारणानुरूपत्वा-त्कार्यस्य । या त्वारब्धे जन्मनि शास्त्रसंस्कारमात्रजा विदुषां सा कारणैकरूपत्वादेकरूपा सात्त्विक्येव, न राजसी तामसी चेति प्रथमचकारार्थः । शास्त्रनिरपेक्षा तु प्राणिमात्रसाधारणी स्वभावजा । सैव स्वभावत्रैविध्यात्त्रिविधेत्येवकारार्थः । उक्तविधात्रयसमुच्चयार्थश्चरमश्चकारः । यतः प्राग्भवीयवासनाख्यस्वभावस्याभिभावकं शास्त्रीयं विवेकविज्ञानमनादृतशास्त्राणां देहिनां नास्ति अतस्तेषां स्वभाववशात्त्रिधा भवन्तीं तां श्रद्धां शृणु । श्रुत्वा च देवासुरभावं स्वयमेवा-वधारयेत्यर्थः ॥ 2 ॥

---

3 जो शास्त्रविधि का त्यागकर श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं वे श्रद्धाभेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं । उनमें जो सात्त्विकी श्रद्धा से युक्त होते हैं वे 'देव' हैं, उनका शास्त्रोक्त साधन में अधिकार होता है और वे उसी के फल से युक्त होते हैं । जो तो राजसी और तामसी श्रद्धा से युक्त होते हैं वे 'असुर' है, उनका शास्त्रीय साधन में अधिकार नहीं होता है और न वे उसके फल से युक्त होते हैं – इस विवेक के द्वारा अर्जुन के सन्देह को दूर करने की इच्छा से भगवान् ने श्रद्धा के भेदों को कहा --
[श्रीभगवान् ने कहा – देहधारियों की स्वभाव से उत्पन्न हुई वह श्रद्धा तीन प्रकार की होती है -- सात्त्विकी, राजसी और तामसी; उनको तुम सुनो ॥ 2 ॥]

4 मनुष्य जिस श्रद्धा से युक्त हुए शास्त्रविधि का त्याग कर यजन करते हैं वह देहधारियों की स्वभाव से उत्पन्न हुई 'स्वाभाविकी' श्रद्धा है । जन्मान्तर में किये हुए धर्म-अधर्मादि का जो शुभाशुभ संस्कार इदानींतन -- वर्तमान जन्म का आरम्भक -- आरम्भ करनेवाला है उसको 'स्वभाव' कहते हैं । वह स्वभाव तीन प्रकार का होता है-- सात्त्विक, राजस और तामस । उससे उत्पन्न श्रद्धा तीन प्रकार की होती है – सात्त्विकी, राजसी और तामसी, क्योंकि कार्य कारण के अनुरूप होता है । जो तो आरब्ध – वर्तमान जन्म में शास्त्र के संस्कारमात्र से विद्वानों की श्रद्धा उत्पन्न होती है वह शास्त्रसंस्काररूप कारण के एकरूप होने से एकरूपा 'सात्त्विकी' ही होती है, राजसी और तामसी नहीं होती है – यह प्रथम चकार का अर्थ है । शास्त्रनिरपेक्षा -- शास्त्र की अपेक्षा से रहित तो प्राणीमात्र की साधारणी -- प्राणीमात्र में समानरूप से रहनेवाली स्वभाव से उत्पन्न हुई 'स्वाभाविकी' श्रद्धा होती है । वही तीन प्रकार का स्वभाव होने से तीन प्रकार की है -- यह 'एव' शब्द का अर्थ है । उक्त तीन प्रकारों के समुच्चय के लिए अन्तिम चकार है । क्योंकि शास्त्र का आदर नहीं करनेवाले देहधारियों में पूर्वजन्म के

5 **प्राग्भवीयान्तःकरणगतवासनारूपनिमित्तकारणवैचित्र्येण श्रद्धावैचित्र्यमुक्त्वा तदुपादानकारणान्तःकरणवैचित्र्येणापि तद्वैचित्र्यमाह –**

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ 3 ॥

6 **सत्त्वं प्रकाशशीलत्वात्सत्त्वप्रधानत्रिगुणापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतारब्धमन्तःकरणम् । तच्च क्वचिदुद्रिक्तसत्त्वमेव यथा देवानाम् । क्वचिद्रजसाऽभिभूतसत्त्वं यथा यक्षादीनाम् । क्वचित्तमसाऽभिभूतसत्त्वं यथा प्रेतभूतादीनाम् । मनुष्याणां तु प्रायेण व्यामिश्रमेव । तच्च शास्त्रीयविवेकज्ञानेनोद्भूतसत्त्वं**

वासनासंज्ञक स्वभाव का अभिभावक – दबानेवाला विवेक – विज्ञान नहीं होता है, इसलिए उनके स्वभाव के कारण तीन प्रकार की होती हुई उस श्रद्धा को सुनो और उसको सुनकर स्वयं ही उनके देवभाव और असुरभाव का निश्चय करो -- यह अर्थ है ॥2॥

5 पूर्वजन्म की अन्तःकरणगत-वासनारूप निमित्त-कारण की विचित्रता से श्रद्धा की विचित्रता कहकर उसके उपादानकारण अन्तःकरण की विचित्रता से भी श्रद्धा की विचित्रता कहते हैं :--

[हे भारत ! सबकी श्रद्धा उनके सत्त्व -- अन्तःकरण के अनुरूप होती है । यह कर्माधिकारी पुरुष श्रद्धामय है, अतः जिसकी जो श्रद्धा है वह स्वयं भी वही है ॥ 3 ॥]

6 'सत्त्व' प्रकाशशील होने के कारण सत्त्वप्रधान[9], त्रिगुण – त्रिगुणात्मक और पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों[10] से आरब्ध – उत्पन्न अन्तःकरण है । वह कहीं उद्रिक्त -- उपचित -- बढे हुए सत्त्वगुणवाला होता है, जैसे -- देवताओं का अन्तःकरण उपचित-सत्त्वगुणक होता है । कहीं रजोगुण से अभिभूत – दबे हुए सत्त्वगुणवाला होता है, जैसे -- यक्षों का अन्तःकरण होता है । कहीं तमोगुण से अभिभूत -- दबे हुए सत्त्वगुणवाला होता है, जैसे -- प्रेत, भूतादि का होता है । मनुष्यों का अन्तःकरण तो प्रायः तीनों गुणों का मिश्रणरूप ही होता है । उसमें शास्त्रीय विवेकज्ञान से रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर-- दबाकर उपचित -- बढ़े हुए सत्त्वगुणवाला कर दिया जाता है । शास्त्रीय विवेकज्ञान से रहित सब प्राणिजात की सत्त्वानुरूपा -- अन्तःकरण के अनुरूप श्रद्धा होती है और वह अन्तःकरण की विचित्रता से विचित्र = तरह -- तरह की होती है । वह सत्त्वगुणप्रधान अन्तःकरण में सात्त्विकी, रजोगुणप्रधान अन्तःकरण में राजसी और तमोगुणप्रधान अन्तःकरण में तामसी होती है । हे भारत[11] ! = हे महाकुलोत्पन्न, अथवा – 'भा' -- ज्ञान उसमें ' रत' -- निरत

9. 'सत्त्व' मात्र सत्त्वगुण का वाचक है, अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है -- मात्र सत्त्वात्मक नहीं है, तो फिर 'सत्त्व' से अन्तःकरण का बोधन कैसे होगा ? – इस जिज्ञासा से प्रकृत में कहा गया है – 'प्रकाशशीलत्वात्सत्त्वप्रधानम्' = यद्यपि अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है तथापि सत्त्वगुणप्रधान – परिणाम अन्तःकरण है, क्योंकि उसमें रजोगुण और तमोगुण स्वल्पमात्रा में रहते हैं, कारण कि वह प्रकाशशील होता है और 'प्रकाश' सत्त्वगुण का स्वरूप है, जैसा कि कहा है – "सत्त्वं लघु प्रकाशकम्' (सांख्यकारिका, 13) । अतः सत्त्वगुणप्रधान होने से 'सत्त्व' से अन्तःकरण का व्यवहार युक्त ही है ।

10. अन्तःकरण को पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न इसलिए कहा है कि अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत उपभोग के योग्य नहीं होते हैं ।

11. तुम भरतवंश में उत्पन्न होने के कारण 'भारत' हो अर्थात् महाकुलोत्पन्न हो अतएव तुम वक्ष्यमाण विषय को अपनी निर्मलबुद्धि द्वारा अनायास ही समझ सकोगे, अथवा, तुम भा – तत्त्वज्ञान में रत – निरत हो अतएव तुम अपनी शुद्धिबुद्धि द्वारा उक्त विषय का अनायास ही अवधारण कर सकोगे – इसप्रकार उक्त सम्बोधन से अर्जुन की शुद्धसात्त्विकता अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणशीलता को सूचित किया है ।

रजस्तमसी अभिभूय क्रियते । शास्त्रीयविवेकविज्ञानशून्यस्य तु सर्वस्य प्राणिजातस्य सत्त्वानुरूपा श्रद्धा सत्त्ववैचित्र्याद्विचित्रा भवति, सत्त्वप्रधानेऽन्तःकरणे सात्त्विकी, रजःप्रधाने तस्मिन्राजसी, तमः प्रधाने तु तस्मिंस्तामसीति । हे भारत महाकुलप्रसूत ज्ञाननिरतेति वा शुद्धसात्त्विकत्वं द्योतयति । यत्त्वया पृष्टं तेषां निष्ठा केति तत्रोत्तरं शृणु -- अयं शास्त्रीयज्ञानशून्यः कर्माधिकृतः पुरुषस्त्रिगुणान्तःकरणसंपिण्डितः श्रद्धामयः प्राचुर्येणास्मिञ्श्रद्धा प्रकृतेति तत्प्रस्तु(क)तवचने मयट्, अन्नमयो यज्ञ इतिवत् । अतो यो यच्छ्रद्धो सा सात्त्विकी राजसी तामसी वा श्रद्धा यस्य स एव श्रद्धानुरूप एव स सात्त्विको राजसस्तामसो वा । श्रद्धयैव निष्ठा व्याख्यातेत्यभिप्रायः ॥ 3 ॥

7 **श्रद्धा ज्ञाता सती निष्ठां ज्ञापयिष्यति, केनोपायेन सा ज्ञायतामित्यपेक्षिते देवपूजादिकार्यलिङ्गेनानुमेयेत्याह–**

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ 4 ॥

8 **जनाः शास्त्रीयविवेकहीना ये स्वाभाविक्या श्रद्धया देवान्वसुरुद्रादीन्सात्त्विकान्यजन्ते तेऽन्ये सात्त्विका ज्ञेयाः । ये च यक्षान्कुबेरादीन्रक्षांसि च राक्षसान्निॠतिप्रभृतीन्राजसान्यजन्ते तेऽन्ये**

= ज्ञान में निरत-रत ! – यह सम्बोधन अर्जुन की शुद्धसात्त्विकता को सूचित करता है । तुमने जो पूछा कि उनकी निष्ठा क्या है -- उसका उत्तर सुनो :-- यह शास्त्रीय ज्ञान से शून्य और कर्म के अधिकारवाला पुरुष त्रिगुणमय अन्त:करण से संपिण्डित -- संयुक्त श्रद्धामय होता है, क्योंकि इसमें श्रद्धा प्रचुरता से प्रस्तुत – विद्यमान रहती है, कारण कि 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पाणिनिसूत्र, 5.4.21) = 'प्रथमान्त शब्द से प्रचुरताबोधन में 'मयट्' प्रत्यय होता है' – इस सूत्र के अनुसार 'श्रद्धा' शब्द के साथ प्रचुरता अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय होकर 'श्रद्धामय' शब्द निष्पन्न हुआ है, जैसे -- 'अन्नमयो यज्ञ:' -- यहाँ 'अन्नप्रचुर यज्ञ होता है' -- यह अर्थ है । अत: जो जैसी श्रद्धावाला है अर्थात् जिसकी सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी जैसी श्रद्धा है वह वही है अर्थात् वह श्रद्धा के अनुसार ही सात्त्विक, राजस अथवा तामस होता है । इसप्रकार श्रद्धा से ही निष्ठा की व्याख्या हुई -- यह अभिप्राय है ॥ 3 ॥

7 श्रद्धा ज्ञात होने पर निष्ठा का ज्ञान करायेगी, तो वह श्रद्धा किस उपाय से जानी जाय ? -- इसकी अपेक्षा में 'देवपूजादिरूप कार्य -- लिङ्ग[12] से वह अनुमेय है' -- यह कहते हैं :--

[अन्य कोई सात्त्विक पुरुष देवताओं का पूजन करते हैं, दूसरे राजस पुरुष यज्ञ और राक्षसों को पूजते हैं तथा अन्य तामसजन प्रेत और भूतों की पूजा करते हैं ॥ 4 ॥]

8 जो शास्त्रीय विवेक से शून्य जन स्वाभाविकी श्रद्धा से सात्त्विक वसुरुद्रादि देवताओं का पूजन करते हैं वे दूसरे 'सात्त्विक' हैं -- यह समझना चाहिए । जो कुबेरादि यक्ष और निॠति आदि राक्षसों

12. 'लीनम् अप्रत्यक्षं अर्थं गमयति इति लिङ्गम्' = जो लीन – अप्रत्यक्ष अर्थ का बोध कराता है वह 'लिङ्ग' कहलाता है । व्याप्तिबल से जो अर्थ का बोधक होता है उसको 'लिङ्ग' कहते हैं (व्याप्तिबलेन अर्थगमकं लिङ्गम्) । लिङ्ग से अनुमिति हो उसको 'अनुमान' कहते हैं (लिङ्गेन अनुमीयते तदनुमानम्) । जैसे – धूम - लिङ्ग से अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही प्रकृत में उक्त श्रद्धा – लिङ्ग से निष्ठा का अनुमान होता है और देवपूजादि – लिङ्ग से श्रद्धा का अनुमान होता है अतएव श्रद्धा – निष्ठा अनुमेय हैं ।

राजसा ज्ञेयाः । ये च प्रेतान्विप्रादयः स्वधर्मात्प्रच्युता देहपातादूर्ध्वं वायवीयं देहमापन्ना उल्का-मुखकटपूतनादिसंज्ञाः प्रेता भवन्तीति मनूक्तान्पिशाचविशेषान्वा, भूतगणांश्च सप्तमातृकादींश्च तामसान्यजन्ते तेऽन्ये तामसा ज्ञेयाः । अन्य इति पदं त्रिष्वपि वैलक्षण्यद्योतनाय संबध्यते ॥ 4 ॥

9 **एवमनादृतशास्त्राणां सत्त्वादिनिष्ठा कार्यतो निर्णीता । तत्र केचिद्राजसतामसा अपि प्राग्भवीय-पुण्यपरिपाकात्सात्त्विका भूत्वा शास्त्रीयसाधनेऽधिक्रियन्ते । ये तु दुराग्रहेण दुर्दैवपरि-पाकप्राप्तदुर्जनसङ्गादिदोषेण च राजसतामसतां न मुञ्चन्ति ते शास्त्रीयमार्गाद्भ्रष्टा असन्मार्गा-नुसरणेनेह लोके परत्र च दुःखभागिन एवेत्याह द्वाभ्याम् –**

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ 5 ॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ 6 ॥

10 **अशास्त्रविहितं शास्त्रेण वेदेन प्रत्यक्षेणानुमितेन वा न विहितमशास्त्रेण बुद्धाद्यागमेन बोधितं वा**

का यजन करते हैं वे दूसरे 'राजस' समझने चाहिए । जो प्रेतों = 'ब्राह्मणादि अपने धर्म में च्युत होकर देहपात के पश्चात् वायवीय देह धारण कर उल्का मुख-कटपूतनादि नामवाले प्रेत होते है[13]' -- इसप्रकार मनु द्वारा उक्त प्रेतों को अथवा पिशाच विशेषों को तथा भूतगण अर्थात् सप्तमातृकादि तामसी योनियों को पूजते हैं उनको दूसरे 'तामस' समझना चाहिए । यहाँ 'अन्य' – यह पद तीनों में विलक्षणता सूचित करने के लिए तीनों ही के साथ संम्बन्धित है ॥ 4 ॥

9 इसप्रकार शास्त्र का अनादर करनेवाले पुरुषों की सत्त्वादि निष्ठा कार्यों से निश्चित हुई । उनमें कोई राजस-- तामस भी अपने पूर्वजन्म के पुण्य का परिपाक होने से सात्त्विक होकर शास्त्रीय साधन -- कर्म के अधिकारी होते हैं । जो तो दुराग्रह से अथवा दुर्दैव के परिपाकवश प्राप्त हुए दुर्जनसङ्गादि दोष से राजसी-- तामसी भाव को नहीं छोड़ते हैं वे शास्त्रीयमार्ग से भ्रष्ट होकर असन्मार्ग का अनुसरण करने से इस लोक और परलोक में दु:ख के भागी ही होते हैं -- यह दो श्लोकों से कहते हैं :--

[जो मनुष्य शास्त्र द्वारा अविहित घोर तप तपते हैं, दम्भ और अहंकार से संयुक्त होते हैं तथा काम, राग और बल से अन्वित होते हैं । जो अविवेकीजन अपने शरीर में स्थित भूतग्राम और अन्तःशरीर में स्थित मुझको कृश करनेवाले हैं उनको तुम आसुरी निश्चयवाले जानो ॥ 5-6 ॥]

10 जो मनुष्य अशास्त्रविहित = शास्त्र अर्थात् वेदद्वारा प्रत्यक्ष या अनुमान से विधान न किये हुए[14],

---

13. "वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ।
अमेध्यकुणपाकी च क्षत्रियः कटपूतनः॥
मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक ।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः" ॥ (मनुस्मृति, 12.71-72)

"ब्राह्मण अपने कर्म से भ्रष्ट होने पर वमन खानेवाला 'उल्कामुख' नाम का प्रेत होता है और क्षत्रिय अपने धर्म-कर्म को छोड़ दे तो वह विष्ठा, मूर्दा खानेवाला 'कटपूटन' नामक प्रेत होता है । वैश्य अपना कर्म न करे तो वह जन्मान्तर में पीव खानेवाला 'मैत्राक्षज्योतिक' नामक प्रेत होता है और शूद्र अपने कर्म से भ्रष्ट हो तो वह चिल्लड़ खानेवाला 'चैलाशक' नामक प्रेत होता है ।"

घोरं परस्याऽऽत्मनः पीडाकरं तपस्तप्तशिलारोहणादि तप्यन्ते कुर्वन्ति ये जनाः, दम्भो धार्मिकत्व-ख्यापनमहंकारोऽहमेव श्रेष्ठ इति दुरभिमानस्ताभ्यां सम्यग्युक्ताः, योगस्य सम्यक्त्वमनायासेन वियोगजननासामर्थ्यं कामे काम्यमानविषये यो रागस्तन्निमित्तं बलमत्युग्रदुःखसहनसामर्थ्यं तेनान्विताः, कामो विषयेऽभिलाषः, रागः सदातदभिनिविष्टत्वरूपोऽभिष्वङ्गः, बलमवश्यमिदं साधयिष्यामीत्याग्रहः, तैरन्विता इति वा। अत एव बलवद्दुःखदर्शनेऽप्यनिवर्तमानाः, कर्शयन्तः कृशीकुर्वन्तो वृथोपवासादिना शरीरस्थं भूतग्रामं देहेन्द्रियसंघाताकारेण परिणतं पृथिव्यादिभूतसमुदायमचेतसो विवेकशून्याः, मां चान्तःशरीरस्थं भोक्तृरूपेण स्थितं भोग्यस्य शरीरस्य कृशीकरणेन कृशीकुर्वन्त एव, मामन्तर्यामित्वेन शरीरान्तःस्थितं बुद्धितद्वृत्ति-साक्षिभूतमीश्वरमाज्ञालङ्घनेन कर्शयन्त इति वा । तानैहिकसर्वभोगविमुखान्परत्र चाधमगतिभागिनः सर्वपुरुषार्थभ्रष्टानासुरनिश्चयानासुरो विपर्यासरूपो वेदार्थविरोधी निश्चयो येषां तान्मनुष्यत्वेन प्रतीयमानानप्यसुरकार्यकारित्वादसुरान्विद्धि जानीहि परिहरणाय । निश्चयस्याऽऽसुरत्वात्तत्पूर्विकाणां सर्वासामन्तःकरणवृत्तीनामासुरत्वम् । असुरत्वजातिरहितानां च मनुष्याणां कर्मणैवासुरत्वात्तानसुरान्विद्धीति साक्षान्नोक्तमिति च द्रष्टव्यम् ॥ 5-6 ॥

अथवा -- अशास्त्र अर्थात् बुद्धादि के आगम द्वारा बोधित -- बताये हुए[15] घोर = दूसरों को और अपने को पीड़ा पहुँचानेवाले तप्तशिलारोहणादि तप तपते -- करते हैं । जो दम्भ = अपनी धार्मिकता को प्रकट करना और अहंकार = 'मैं ही श्रेष्ठ हूँ' -- इसप्रकार का दुरभिमान – इन दोनों से संयुक्त = सम्यक् प्रकार से युक्त हैं । युक्त होने की सम्यक्ता अनायास वियोग उत्पन्न करने की असमर्थता है । काम = काम्यमान विषय में जो राग है उसके कारण जो बल = अत्यन्त उग्र दु:ख सहन करने का सामर्थ्य है उससे जो युक्त हैं । अथवा, काम = विषय में अभिलाषा, राग = सदा अभिलषित विषय में अभिनिवेश रखनारूप अभिष्वङ्ग – आसक्ति, तथा बल = 'मैं इसको अवश्य सिद्ध करूँगा' – ऐसा आग्रह – इनसे जो अन्वित = युक्त हैं । अतएव प्रबल दु:ख देखने पर भी पीछे न हटनेवाले शरीरस्थ भूतग्राम = देह और इन्द्रियों के संघातरूप में परिणत पृथ्वी आदि भूतसमुदाय को वृथा ही उपवासादि के द्वारा कृश करनेवाले हैं और अन्तःशरीरस्थ = अन्तःशरीर में भोक्तारूप से स्थित मुझको भोग्यरूप शरीर को कृश करने से कृश करनेवाले, अथवा – अन्तर्यामीरूप से शरीर के भीतर स्थित बुद्धि और उसकी वृत्तियों के साक्षीभूत मुझ ईश्वर को मेरी आज्ञा के उल्लंघन के द्वारा कृश करनेवाले हैं -- ऐसे ही जो अचेता = विवेकशून्य पुरुष हैं उनको = सब ऐहिक भोगों से विमुख और परलोक में अधमगति के भागी सब पुरुषार्थों से भ्रष्ट-- पतित

---

14. 'अशास्त्रविहितं शास्त्रेण वेदेन प्रत्यक्षेणानुमितेन वा न विहितम्' – यह अर्थ 'नञ्' – प्रसज्यप्रतिषेधार्थ है । प्रसज्यप्रतिषेध में प्रतिषेध की प्रधानता होती है और क्रिया के साथ 'नञ्' का सम्बन्ध होता है –

'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्य प्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ ॥'

15. अशास्त्रविहितम् = शास्त्रं न भवतीत्यशास्त्रं तेन बुद्धाद्यागमेन बोधितम्' – यह अर्थ 'नञ्' पर्युदासार्थ है । पर्युदास में प्रतिषेध की प्रधानता नहीं रहती है और नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ न होकर उत्तरपद के साथ होता है –

'प्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ ॥'

11 **ये सात्त्विकास्ते देवा ये तु राजसास्तामसाश्च ते विपर्यस्तत्वादसुरा इति स्थिते सात्त्विकानामादानाय राजसतामसानां हानाय चाऽऽहारयज्ञतपोदानानां त्रैविध्यमाह –**

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ 7 ॥

12 **न केवलं श्रद्धैव त्रिविधा, आहारोऽपि सर्वस्य प्रियस्त्रिविध एव भवति सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वेन चतुर्थ्या विधाया असंभवात् । यथा दृष्टार्थ आहारस्त्रिविधस्तथा यज्ञतपोदानान्यदृष्टार्थान्यपि त्रिविधानि । तत्र ' यज्ञं व्याख्यास्यामो द्रव्यदेवतात्यागः' इति कल्पकारैर्देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यज्ञ इति निरुक्तः । स च यजतिना जुहोतिना च चोदितत्वेन यागो होमश्चेति द्विविध उत्तिष्ठद्धोमा**

हुए उन पुरुषों को आसुरी निश्चयवाले जानो = जिनका आसुर अर्थात् विपरीतभावनारूप वेदार्थविरोधी निश्चय है ऐसे उन पुरुषों को त्याग करने के लिए मनुष्यरूप से प्रतीयमान भी असुरों का सा कार्य करनेवाले होने से तुम असुर जानो । निश्चय के आसुरी होने से निश्चयपूर्विका सब अन्त:करण की वृत्तियाँ भी आसुरी होती हैं । अतएव असुरत्व जातिरहित मनुष्यों को कर्म से ही असुर होने के कारण असुर जानो, 'उनको तुम असुर जानो' -- इसप्रकार उनको साक्षात् रूप से असुर नहीं कहा गया है -- यह समझना चाहिए ॥ 5-6]

11 जो सात्त्विक हैं वे देव हैं, जो तो राजस और तामस हैं वे विपरीतभावनावाले होने से असुर हैं -- इस स्थिति में सात्त्विकों के ग्रहण के लिए तथा राजस और तामस के त्याग के लिए आहार, यज्ञ, तप और दान -- इनकी त्रिविधता को कहते हैं :--

[सबका प्रिय आहार भी तीन प्रकार का होता है तथा यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं, उनके इस भेद को तुम सुनो ॥ 7 ॥

12 न केवल श्रद्धा ही तीन प्रकार की होती है, अपितु सबका प्रिय आहार भी तीन प्रकार का ही होता है, क्योंकि सब त्रिगुणात्मक होने से चौथा प्रकार होना सम्भव नहीं है । जैसे क्षुधानिवृत्ति आदि दृष्ट प्रयोजनवाला आहार तीन प्रकार का होता है वैसे ही अदृष्ट प्रयोजनवाले यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं । उनमें 'यज्ञं व्याख्यास्यामो द्रव्यदेवतात्याग:' -- इसप्रकार कल्पसूत्रकारों ने देवता को उद्देश करके द्रव्यत्याग 'यज्ञ' है -- ऐसा कहा है । वह 'यजति' और 'जुहोति' से चोदित -- विहित होने के कारण याग और होम -- भेद से दो प्रकार का है । जिनमें खड़े होकर होम किया जाता है और अन्त में वषट्कार[16] का प्रयोग होता है तथा याज्यापुरोनुवाक्या [17] मन्त्रविशेष होते हैं वे 'याग' है तथा जिनमें बैठकर होम किया जाता है, अन्त में स्वाहाकार[18] का प्रयोग किया जाता है और याज्यापुरोनुवाक्या मन्त्रविशेष नहीं होते हैं वे 'होम' हैं -- इसप्रकार कल्पसूत्रकारों ने जिनकी व्याख्या की है वे यहाँ 'यज्ञ' शब्द से कहे गये हैं । 'तप' शरीर और इन्द्रियों को

16. 'स्वाहा देवहविर्दाने श्रौषड्वौषड् वषट् स्वधा' (अमरकोश, 3.4.8) = 'स्वाहा, श्रौषट्, वौषट् वषट् और स्वधा – ये पाँच 'देवताओं को हविष्य देने में प्रयुक्त होते हैं' । जैसे – 'इदमिन्द्राय वषट्' -- इत्यादि ।

17. 'याज्या' संज्ञक मन्त्रों का उच्चारण यागानुष्ठान काल में किया जाता है । 'अनुवाक्या' संज्ञक मन्त्रों से देवता का आह्वान किया जाता है । 'सोमेन यजेत' इत्यादि वाक्य से विहित 'याग' है ।

18. 'स्वाहा' शब्द देवोद्देश्य से हविष्य देने में प्रयुक्त होता है, जैसे – 'अग्नये स्वाहा' । 'अग्निहोत्रं जुहोति' – इत्यादि वाक्य से विहित 'होम' है ।

वषट्कारप्रयोगान्ता याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतय उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रयोगान्ता याज्यापुरोनुवाक्यारहिता जुहोतय इति कल्पकारैर्व्याख्यातो यज्ञशब्देनोक्तः । तपः कायेन्द्रियशोषणं कृच्छ्रचान्द्रायणादि । दानं परस्वत्वापत्तिफलकः स्वस्वत्वत्यागः । तेषामाहारयज्ञतपोदानानां सात्त्विकराजसतामसभेदं मया व्याख्यायमानमिमं शृणु ॥ 7 ॥

13 आहारयज्ञतपोदानानां भेदः पञ्चदशभिर्व्याख्यायते । तत्राऽऽहारभेदस्त्रिभिः—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ 8 ॥

14 आयुश्चिरंजीवनं, सत्त्व चित्तधैर्यं बलवति दुःखेऽपि निर्विकारत्वापादकं, बलं शरीरसामर्थ्यं स्वोचिते कार्ये श्रमाभावप्रयोजकम्, आरोग्यं व्याध्यभावः, सुखं भोजनानन्तराह्लादस्तृप्तिः, प्रीतिर्भोजनकालेऽनभिरुचिराहित्यमिच्छौत्कट्यं तेषां विवर्धना विशेषेण वृद्धिहेतवः, रस्या आस्वाद्या

सुखानेवाले कृच्छ्रचान्द्रायणादि हैं । 'दान' परकीय स्वत्वोत्पत्तिजनक स्वकीय स्वत्वत्याग है[19] । उन आहार, यज्ञ, तप और दान के सात्त्विक, राजस और तामस -- इन भेदों की मैं व्याख्या कर रहा हूँ, उसको सुनो ॥ 7 ॥

13 आहार, यज्ञ, तप और दान-- इनके भेद की व्याख्या की जाती है । उनमें आहार के भेद को तीन श्लोकों से कहते हैं:--

[जो आयु, सत्त्व-चित्तधैर्य, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसयुक्त, चिकने, शरीर में ठहरनेवाले और हृदयग्राही आहार हैं वे सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं ॥ 8 ॥]

14 आयु = चिरकाल तक जीवन रहना, सत्त्व = प्रबल दु:ख में भी निर्विकार रखनेवाला चित्त का धैर्य, बल = स्वोचित कार्य में श्रमाभाव का प्रयोजक शरीर का सामर्थ्य, आरोग्य = व्याधि का अभाव, सुख = भोजन के बाद आह्लाद -- प्रसन्नता और तृप्ति होना तथा प्रीति = भोजन के समय अरुचि का अभाव और भोजन करने की इच्छा की उत्कटता रहना है -- इन सबको विवर्धित करनेवाले = विशेषरूप से इन सबकी वृद्धि के हेतु; रस्य = आस्वाद्य अर्थात् मधुररसप्रधान, स्निग्ध = सहज -- स्वाभाविक अथवा आगन्तुक स्नेह[20] -- चिकनेपन से युक्त, स्थिर = रसादि अंशरूप से शरीर में चिरकाल तक ठहरनेवाले, हृद्य = हृदयंगम अर्थात् दुर्गन्ध, अशुचित्व -- अपवित्रता आदि दृष्ट और अदृष्ट दोषों से रहित[21] -- ऐसे चर्व्य, चोष्य, लेह्य और पेय आहार सात्त्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं । इन लिङ्गों -- चिह्नों से आहार को सात्त्विक समझना चाहिए । सात्त्विकता चाहनेवाले पुरुषों को ये उक्त सात्त्विक आहार ही ग्राह्य हैं -- यह अर्थ है ॥ 9 ॥

---

19. जिस त्याग से अपना स्वत्व निवृत्त हो जाता है और दूसरे का स्वत्व उत्पन्न हो जाता है वह 'दान' है – जैसे ब्राह्मण को गौ दान देना, इससे 'गौ' में दाता का स्वत्व निवृत्त होता है और ब्राह्मण का स्वत्व उत्पन्न होता है । जिस त्याग से अपना स्वत्व निवृत्त नहीं होता है और दूसरे का स्वत्व उत्पन्न होता है उसको 'उत्सर्ग' कहते हैं – जैसे – तडागोत्सर्गादि । जिस त्याग से अपना स्वत्व निवृत्त होता है और किसी का स्वत्व उत्पन्न नहीं होता है वह 'प्रक्षेप' कहा जाता है – जैसे – अरण्य में त्याग इत्यादि ।

20. 'चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुण: स्नेह:' (तर्कसंग्रह) = 'जिसको पीसे हुए यव आदि चूर्ण में मिलाकर गोली बनाई जाय उसी गुण का नाम 'स्नेह' – चिकनाहट है । स्नेह केवल जल में ही स्वभाव से रहता है, अन्य में तो आगन्तुकरूप से रहता है ।

21. दुर्गन्ध दृष्टदोष है और अशुचित्व – अपवित्रता अदृष्टदोष है ।

मधुररसप्रधानाः, स्निग्धाः सहजेनाऽऽगन्तुकेन वा स्नेहेन युक्ताः, स्थिरा रसाद्यंशेन शरीरे चिरकालस्थायिनः, हृद्या हृदयंगमा दुर्गन्धाशुचित्वादिदृष्टादृष्टदोषशून्याः, आहाराश्चर्व्यचोष्य-लेह्यपेयाः, सात्त्विकानां प्रियाः, एतैर्लिङ्गैः सात्त्विका ज्ञेयाः सात्त्विकत्वमभिलषद्भिश्चैत आदेया इत्यर्थः ॥ 8 ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ 9 ॥

15 **अतिशब्दः कट्वादिषु सप्तस्वपि योजनीयः कटुस्तिक्तः कटुरसस्य तीक्ष्णशब्देनोक्तत्वात् । तत्रातिकटुर्निम्बादिः । अत्यम्लातिलवणात्युष्णाः प्रसिद्धाः । अतितीक्ष्णो मरीचादिः । अतिरूक्षः स्नेहशून्यः कङ्गुकोद्रवादिः । अतिविदाही संतापको राजिकादिः । दुःखं तात्कालिकीं पीडां, शोकं पश्चाद्भावि दौर्मनस्यम्, आमयं रोगं च धातुवैषम्यद्वारा प्रददतीति तथाविधा आहारा राजसस्येष्टाः । एतैर्लिङ्गै राजसा ज्ञेयाः सात्त्विकैश्चैत उपेक्षणीया इत्यर्थः ॥ 9 ॥**

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ 10 ॥

16 **यातयाममर्धपक्वं निर्वीर्यस्य गतरसपदेनोक्तत्वादिति भाष्यम् । गतरसं विरसतां प्राप्तं शुष्कम् ।**

[अत्यन्त कटु – कड़वे, बहुत खट्टे, अतिलवणयुक्त, बहुत गर्म, अतितीक्ष्ण – अत्यन्त तीखे, बहुत सुखे और बहुत दाह पैदा करनेवाले तथा दु:ख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं ॥ 9 ॥]

15 'अति' शब्द कटु आदि सातों विशेषणों के साथ जोड़ना चाहिए । 'कटु' तिक्त -- तीखा है, क्योंकि कटुरस को 'तीक्ष्ण' शब्द से कह चुके हैं । उनमें अतिकटु निम्बादि हैं । अत्यन्त अम्ल -- खट्टे, अतिलवणयुक्त और अत्यन्त उष्ण पदार्थ तो प्रसिद्ध ही हैं । अतितीक्ष्ण मिर्चादि, अत्यन्त रूक्ष – रूखे स्नेहरहित – चिकनाईरहित कङ्गु– ककुनी -- टांगुन, कोदो आदि, अत्यन्त विदाही -- संतापक – जलन पैदा करनेवाले राई आदि तथा जो तत्काल ही अर्थात् भोजन के समय में ही दु:ख--पीड़ा-प्रद हैं, जो भोजन के बाद शोक -- दौर्मनस्य -- चित्त को अप्रसन्नता दें और जो आमय अर्थात् वात, पित्त और कफ -- इन धातुओं की विषमता द्वारा रोग देते हैं -- ऐसे आहार – भोजन के पदार्थ राजस पुरुषों को इष्ट -- प्रिय होते हैं । इन लिङ्गों – चिह्नों से राजस आहार को समझना चाहिए । ये आहार सात्त्विक पुरुषों द्वारा उपेक्षणीय हैं -- यह अर्थ है ॥ 9 ॥

[जो यातयाम -- आधा पका हुआ, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, पर्युषित -- वासी, उच्छिष्ट -- जूठा और अमेध्य – अपवित्र हो वह भोजन तामस पुरुषों को प्रिय होता है ॥ 10 ॥]

16 यातयाम = अर्धपक्व -- आधा पका हुआ, क्योंकि निर्वीर्य पदार्थ 'गतरस' शब्द से कहा गया है -- यह भाष्य है । गतरस = विरसता को प्राप्त अर्थात् सूखा हुआ । यातयाम[22] = पकाने के बाद

---

22. 'यातो यामः प्रहरो यस्य पक्वस्योदनादेः तद्यातयाममिति' – इसप्रकार श्रीधरस्वामी ने 'यातयाम' का जो अर्थ किया है वह तो पाकानन्तर – पकने के बाद कुछ समय के अतिक्रमण से निर्वीर्यता को प्राप्त अन्न को दृष्टि में रखकर कहा है, न कि याममात्र के अतिक्रमण से ऐसा कहा है, अतएव उसमें 'अयातयामत्व' प्राप्त होता है जो कि वेदों का भी विशेषण कहा जाता है, इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने उक्त अर्थ नहीं किया है, फलतः यह अर्थ अग्राह्य है ।

यातयामं पक्वं सत्प्रहरादिव्यवहितमोदनादि शैत्यं प्राप्तं, गतरसमुद्धृतसारं मथितदुग्धादीत्यन्ये । पूति दुर्गन्धम् । पर्युषितं पक्वं सद्रात्र्यन्तरितम् । चेन तत्कालोन्मादकरं धत्तूरादि समुच्चीयते । यदतिप्रसिद्धं दुष्टत्वेनोच्छिष्टं भुक्तावशिष्टम् । अमेध्यमयज्ञार्हमशुचि मांसादि । अपि चेति वैद्यकशास्त्रोक्तमपथ्यं समुच्चीयते । एतादृशं यद्भोजनं भोज्यं तत्तामसस्य प्रियं सात्त्विकैरतिदूरादुपेक्षणीयमित्यर्थः । एतादृशभोजनस्य दुःखशोकामयप्रदत्वमतिप्रसिद्धमिति कण्ठतो नोक्तम् ।

17 **अत्र च क्रमेण रस्यादिवर्गः सात्त्विकः, कट्वादिवर्गो राजसः, यातयामादिवर्गस्तामस इत्युक्तमाहारवर्गत्रयम् । तत्र सात्त्विकवर्गविरोधित्वमितरवर्गद्वये द्रष्टव्यम् । तथा ह्यतिकटुत्वादिकं रस्यत्वविरोधि तादृशस्यानास्वाद्यत्वात् । रूक्षत्वं स्निग्धत्वविरोधि । तीक्ष्णत्वविदाहित्वे धातुपोषणविरोधित्वात्स्थिरत्वविरोधिनी । अत्युष्णत्वादिकं हृद्यत्वविरोधि । आमयप्रदत्वमायुःसत्त्वबलारोग्यविरोधि । दुःखशोकप्रदत्वं सुखप्रीतिविरोधी । एवं सात्त्विकवर्गविरोधित्वं राजसवर्गे स्पष्टम् । तथा तामसवर्गेऽपि गतरसत्वयातयामत्वपर्युषितत्वानि यथासंभवं रस्यत्वस्निग्धत्वस्थिरत्वविरोधीनि । पूतित्वोच्छिष्टत्वामेध्यत्वानि हृद्यत्वविरोधीनि । आयुःसत्त्वादिविरोधित्वं तु स्पष्टमेव । राजसवर्गे दृष्टविरोधमात्रं तामसवर्गे तु दृष्टादृष्टविरोध इत्यतिशयः ॥ 10 ॥**

एक प्रहर = दिन का आठवाँ भाग अर्थात् तीन घण्टे का समय बीतने पर ठंडा हुआ भात आदि, गतरस = सार निकला हुआ, जैसे – मथित दूध आदि –ऐसा अन्य कहते हैं । पूति[23] =दुर्गन्धयुक्त, पयुर्षित = पकाने के बाद एक रात बीता हुआ अर्थात् वासी । 'च' शब्द से तत्काल उन्माद पैदा करनेवाले धतूरादि पदार्थों का समुच्चय किया गया है । जो दूषित होने से अत्यन्त प्रसिद्ध है उच्छिष्ट = खाने पर बचा हुआ अन्न अर्थात् जूठा, अमेध्य = यज्ञ के अयोग्य अपवित्र मांसादि । 'अपि च' -- इन पदों से वैद्यक शास्त्रोक्त अपथ्य पदार्थों को सम्मिलित किया गया है । ऐसा जो भोजन = भोज्य पदार्थ है वह तामस पुरुषों को प्रिय होता है । सात्त्विकों के द्वारा यह अत्यन्त दूर ही से उपेक्षणीय है -- यह अर्थ है । ऐसे भोजन का दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करना तो अत्यन्त प्रसिद्ध है – अतः कण्ठ – मुख से नहीं कहा गया है ।

17 यहाँ क्रम से रस्यादि वर्ग सात्त्विक है, कटु आदि वर्ग राजस है और यातयामादि वर्ग तामस है – इसप्रकार आहार के तीनों वर्गों को कहा गया है । इसमें सात्त्विकवर्ग-विरोधित्व अन्य दो – राजस और तामस -- वर्गों में समझना चाहिए । जैसे -- अतिकटुत्वादि रस्यत्व के विरोधी हैं, क्योंकि वैसे पदार्थ आस्वाद्य -- आस्वादयोग्य नहीं होते हैं । रूक्षत्व स्निग्धत्व का विरोधी है। तीक्ष्णत्व और विदाहित्व धातुपोषण के विरोधी होने से स्थिरत्व के विरोधी हैं । अतिउष्णत्वादि हृद्यत्व के विरोधी हैं । आमयप्रदत्व आयु, सत्त्व, बल, और आरोग्य का विरोधी है । दुःख और शोकप्रदत्व क्रमशः सुख और प्रीति के विरोधी हैं । इसप्रकार सात्त्विकवर्गविरोधित्व राजसवर्ग में स्पष्ट है । इसीप्रकार तामसवर्ग में भी गतरसत्व, यातयामत्व और पर्युषितत्व -- ये यथासम्भव रस्यत्व, स्निग्धत्व और स्थिरत्व के विरोधी हैं । पूतित्व, उच्छिष्टत्व और अमेध्यत्व हृद्यत्व के विरोधी हैं । इनका आयुसत्त्वादिविरोधित्व तो स्पष्ट ही है । राजसवर्ग में दृष्टविरोधमात्र है, तामसवर्ग में तो दृष्ट और अदृष्ट -- दोनों प्रकार का विरोध है -- यही दोनों में अतिशय – विशेष -- भेद है ।। 10 ।।

23. 'पूतिगन्धिस्तु दुर्गन्धः' (अमरकोश, 1.5.12) -- इस कोश के अनुसार 'पूति' शब्द पवित्रवाची नहीं है, दुर्गन्धवाची है । पुनश्च, 'पूयी विशरणे दुर्गन्धे च' (भ्वादिगण, 325), पूय्यते, पूतिः =पूतिर्दुष्टो गन्धोऽस्य' – इसप्रकार निरुक्ति करने पर धात्वर्थानुसार भी 'पूति' शब्द दुर्गन्धवाची है ।

18 इदानीं क्रमप्राप्तं त्रिविधं यज्ञमाह त्रिभिः-

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ 11 ॥

19 अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुबन्धज्योतिष्टोमादिर्यज्ञो द्विविधः काम्यो नित्यश्च । फलसंयोगेन चोदितः काम्यः सर्वाङ्गोपसंहारेणैव मुख्यकल्पेनानुष्ठेयः । फलसंयोगं विना जीवनादिनिमित्त-संयोगेन चोदितः सर्वाङ्गोपसंहारासंभवे प्रतिनिध्याद्युपादानेनामुख्यकल्पेनाप्यनुष्ठेयो नित्यः । तत्र सर्वाङ्गोपसंहारासंभवेऽपि प्रतिनिधिमुपादायावश्यं यष्टव्यमेव प्रत्यवायपरिहाराया-ऽऽवश्यकजीवनादिनिमित्तेन चोदितत्वादिति मनः समाधाय निश्चित्याफलाकाङ्क्षि-भिरन्तःकरणशुद्ध्यर्थितया काम्यप्रयोगविमुखैर्विधिदृष्टो यथाशास्त्रं निश्चितो यो यज्ञ इज्यते-ऽनुष्ठीयते स यथाशास्त्रमन्तःकरणशुद्ध्यर्थमनुष्ठीयमानो नित्यप्रयोगः सात्त्विको ज्ञेयः ॥ 11 ॥

---

18 अब क्रम से प्राप्त तीन प्रकार के यज्ञ को तीन श्लोकों से कहते हैं :–
['यज्ञ करना ही चाहिए' – इसप्रकार मन में निश्चय करके फलाकांक्षाशून्य पुरुषों द्वारा शास्त्रविधि के अनुसार निश्चित जो यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक है ॥ 11 ॥]

19 अग्निहोत्र[24], दर्शपूर्णमास[25], चातुर्मास्य[26], पशुबन्ध[27], ज्योतिष्टोम[28] आदि यज्ञ दो प्रकार के हैं – काम्य और नित्य । जिसका फल के संयोग के साथ विधान किया जाता है उसको 'काम्य' कहते हैं, यह सब अंगों के उपसंहारपूर्वक मुख्य कल्प-विधि से अनुष्ठेय – अनुष्ठान के योग्य होता है[29] । जिसका फल के संयोग के बिना जीवनादिनिमित्तसंयोग से विधान किया जाता है उसको 'नित्य' कहते हैं[30], यह सब अङ्गों का उपसंहार संभव न होने पर प्रतिनिधि आदि को लेकर अमुख्य – गौण कल्प से भी

---

24. 'अग्निहोत्र' दैनिक यज्ञ है । यह दो प्रकार का होता है – एक महीने की अवधि तक करने योग्य और दूसरा जीवनपर्यन्त साध्य ।

25. अग्न्याधान के पश्चात् प्रथम अमावस्या को 'दर्श' और पूर्णिमा को 'पौर्णमास' यज्ञ का विधान होता है । 'दर्शपूर्णमास' यज्ञ भी जीवनपर्यन्त साध्य होता है ।

26. 'चातुर्मास्य' यज्ञ प्रत्येक ग्रीष्म, वर्षा और शरदृतु में होता है । इन प्रत्येक का समय चार-चार मास का होता हैं, अतएव ये यज्ञ चार महीनों के अन्तर पर किये जाते हैं, इसीलिए इनको 'चातुर्मास्य' यज्ञ कहते हैं । प्रथम 'वैश्वदेव' फाल्गुनी पूर्णिमा को, द्वितीय 'वरुण-प्रघास' आषाढ़ी पूर्णिमा को तथा तृतीय 'शाकमेध' कार्तिकी पूर्णिमा को किया जाता है ।

27. 'पशुबन्ध' एक स्वतंत्र यज्ञ है । इसका सम्पादन सोमयज्ञों में होता है अतएव यह उनका एक अभिन्न अंग कहा जाता है । स्वतंत्र पशुयज्ञ को 'निरूढपशुबन्ध' भी कहा जाता है तथा अन्य गौण पशुयज्ञों को 'सौमिक' कहा जाता है ।

28. स्वर्ग की कामना से 'ज्योतिष्टोम' यज्ञ का विधान है । 'अग्निष्टोम' ज्योतिष्टोम यज्ञ का विस्तार है । 'ज्योतिष्टोम' यज्ञ में बहुधा पाँच दिन लगते हैं । प्रकृत में यज्ञों का क्रम जैमिनिमतानुसार है । जैमिनि के अनुसार अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य और पशुबन्ध यज्ञ सम्पादित करने के उपरान्त ही 'ज्योतिष्टोम' सोमयज्ञ करने का विधान है (द्रष्टव्य – मीमांसादर्शन, 4.3.37) ।

29. स्वर्गादि फल की कामना से किया गया यज्ञ 'काम्य' होता है अतएव फलवद्वाक्य से विहित 'काम्य' यज्ञ होता है, जैसे – 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:', 'उद्भिदा यजेत पशुकाम:' इत्यादि । यह सब अङ्गों के साथ मुख्य कल्प से अनुष्ठेय है, अन्यथा किसी अङ्ग के वैगुण्य से यज्ञ ही विगुण हो जायेगा और उसके करने से भी कोई फल प्राप्त नहीं होगा, अत: यह यथाविधि अनुष्ठेय है ।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ 12 ॥

20 **फलं काम्यं स्वर्गादि अभिसंधायोद्दिश्य न त्वन्तःकरणशुद्धिं, तुर्नित्यप्रयोगवैलक्षण्यसूचनार्थः । दम्भो लोके धार्मिकत्वख्यापनं तदर्थम् । अपि चैवेति विकल्पसमुच्चयाभ्यां त्रैविध्यसूचनार्थम् । पारलौकिकं फलमभिसंधायैवादम्भार्थत्वेऽपि पारलौकिकफलानभिसंधानेऽपि दम्भार्थमेवेति विकल्पेन द्वौ पक्षौ । पारलौकिकफलार्थमप्यैहलौकिकदम्भार्थमपीति समुच्चयेनैकः पक्षः । एवं दृष्टादृष्टफलाभिसंधिनाऽन्तःकरणशुद्धिमनुद्दिश्य यदिज्यते यथाशास्त्रं यो यज्ञोऽनुष्ठीयते तं यज्ञं राजसं विद्धि हानाय, हे भरतश्रेष्ठेति योग्यत्वसूचनम् ॥ 12 ॥**

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ 13 ॥

अनुष्ठेय -- अनुष्ठान के योग्य होता है । इसमें सब अंगों का उपसंहार सम्भव न होने पर भी प्रतिनिधि को लेकर अवश्य याग करना ही चाहिए, क्योंकि यह प्रत्यवाय के परिहार के लिए आवश्यक जीवनादिनिमित्त से विहित होता है – इसप्रकार मन में समाधान = निश्चय करके फलाकांक्षा से रहित – अन्तःकरणशुद्धि की इच्छा से काम्यप्रयोग से विमुख पुरुषों द्वारा विधिदृष्ट -- शास्त्रविधि के अनुसार निश्चित जो यज्ञ किया जाता है – जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है वह शास्त्रानुसार अन्तःकरणशुद्धि के लिए अनुष्ठीयमान--क्रियमाण नित्य प्रयोग सात्त्विक है – यह समझना चाहिए ॥ 11 ॥

[हे भरतश्रेष्ठ ! जो यज्ञ फल को उद्देश्य करके और दम्भ के लिए भी किया जाता है उस यज्ञ को तुम राजस समझो ॥ 12 ॥]

20 स्वर्गादि काम्य फल को अभिसंधाय = उद्देश्य बनाकर, अन्तःकरणशुद्धि को नहीं, यहाँ 'तु' शब्द नित्य यज्ञ के प्रयोग से विलक्षणता सूचित करने के लिए है, और दम्भ = लोक में धार्मिकताख्यापन के लिए भी, यहाँ 'अपि चैव' -- ये पद विकल्प और समुच्चय के द्वारा त्रिविधता सूचित करने के लिए है -- दम्भ के लिए न होने पर भी पारलौकिक फल को लक्ष्य करके ही तथा पारलौकिक फल को लक्ष्य न करके भी दम्भ के लिए ही -- इसप्रकार विकल्प से दो पक्ष हैं ; पारलौकिक फल के लिए भी और ऐहलौकिक दम्भ के लिए भी -- इसप्रकार समुच्चय से एक पक्ष है । इसप्रकार दृष्ट और अदृष्ट फल की इच्छा से, अन्तःकरणशुद्धि को उद्देश्य न कर जो यजन किया जाता है अर्थात् शास्त्रानुसार जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है उस यज्ञ को तुम त्याग के लिए राजस समझो । हे भरतश्रेष्ठ[31] !-- इस सम्बोधन से अर्जुन में ज्ञानयोग्यता सूचित की गई है ॥ 12 ॥

[जो यज्ञ विधिहीन, अन्नदान से रहित, मन्त्रहीन, दक्षिणाशून्य और श्रद्धारहित होता है उसको शिष्टजन तामस कहते हैं ॥ 13 ॥]

---

30. 'नित्य' यज्ञ में फल की कामना नहीं रहती है अतएव इससे सम्बद्ध विधिवाक्य में फल का निर्देश नहीं होता है, किन्तु जीवनादिनिमित्तसंयोग रहता है, जैसे – 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्', 'यावज्जीवमधीयीत' इत्यादि ।

31. हे भरतश्रेष्ठ ! यह सम्बोधन करते हुए भगवान् सूचित करते हैं कि अर्जुन ! तुम्हारी राजसयज्ञ में योग्यता नहीं है ।

21 यथाशास्त्रबोधितविपरीतमन्नदानहीनं स्वरतो वर्णतश्च मन्त्रहीनं यथोक्तदक्षिणाहीनमृत्विग्द्वेषादिना श्रद्धारहितं तामसं यज्ञं परिचक्षते शिष्टाः । विधिहीनत्वाद्येकैकविशेषणः पञ्चविधः सर्वविशेषणसमुच्चयेन चैकविध इति षट् । द्वित्रिचतुर्विशेषणसमुच्चयेन च बहवो भेदास्तामसयज्ञस्य ज्ञेयाः । राजसे यज्ञेऽन्तःकरणशुद्ध्यभावेऽपि फलोत्पादकमपूर्वमस्ति यथाशास्त्रमनुष्ठानात् । तामसे त्वयथाशास्त्रानुष्ठानान्न किमप्यपूर्वमस्तीत्यतिशयः ॥ 13 ॥

22 क्रमप्राप्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदं कथयितुं शारीरवाचिकमानसभेदेन तस्य त्रैविध्यमाह त्रिभिः--

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ 14 ॥

23 देवा ब्रह्माविष्णुशिवसूर्याग्निदुर्गादयः, द्विजा द्विजोत्तमा ब्राह्मणाः, गुरवः पितृमात्राचार्यादयः, प्राज्ञाः पण्डिता विदितवेदतदुपकरणार्थाः, तेषां पूजनं प्रणामशुश्रूषादि यथाशास्त्रं, शौचं मृज्जलाभ्यां शरीरशोधनम्, आर्जवमकौटिल्यं भावसंशुद्धिशब्देन मानसे तपसि वक्ष्यति । शारीरं त्वार्जवं

21 शास्त्र से जैसे विहित है उससे विपरीत, अन्नदानहीन, स्वर और वर्ण द्वारा मन्त्रहीन, शास्त्र से जैसी दक्षिणा विहित है उस शास्त्रोक्त दक्षिणा से हीन, ऋत्विगों से द्वेषादि होने के कारण श्रद्धारहित यज्ञ को शिष्टजन तामस यज्ञ कहते हैं । विधिहीनत्वादि एक-एक विशेषण से तामस यज्ञ पाँच प्रकार का है और सब विशेषणों के समुच्चय से एक प्रकार का है – इसप्रकार तामस यज्ञ छः प्रकार का है । तथा दो, तीन या चार विशेषणों के समुच्चय से तामस यज्ञ के बहुत भेद समझने चाहिए । राजस यज्ञ में अन्तःकरण की शुद्धि न होने पर भी उसका फलोत्पादक अपूर्व -- अदृष्ट होता है, क्योंकि उसका शास्त्रविधि के अनुसार अनुष्ठान किया जाता है । तामस यज्ञ में तो शास्त्रविधि के विपरीत अनुष्ठान होने से कुछ भी अपूर्व – अदृष्ट नहीं रहता है – यही दोनों में भेद है ॥ 13 ॥

22 क्रमप्राप्त तप के सात्त्विकादि भेद कहने के लिए शारीर, वाचिक और मानसिक भेद से उसकी त्रिविधता को तीन श्लोकों से कहते हैं:--

[देवता, ब्राह्मण, गुरु और प्राज्ञ -- विद्वान् का पूजन, शौच -- पवित्रता, आर्जव -- सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा – यह 'शारीर' तप कहा जाता है ॥ 14 ॥]

23 देवता = ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, अग्नि, दुर्गा आदि; द्विज[32] = द्विजों में उत्तम ब्राह्मण; गुरु = पिता, माता, आचार्य आदि; प्राज्ञ = पण्डित[33] अर्थात् वेद और उसके उपकरणभूत स्मृति आदि के अर्थ को जाननेवाले -- इन सबका पूजन अर्थात् शास्त्रानुसार प्रणाम, शुश्रूषादि; शौच = मिट्टी और जल से शरीरशोधन, आर्जव = अकुटिलता -- सरलता -- इसको 'भावसंशुद्धि' शब्द से मानस तप में कहा जायेगा; शारीर आर्जव तो विधि और निषेध में एकरूप -- समानरूप से प्रवृत्ति और निवृत्तियुक्त होना है; ब्रह्मचर्य = निषिद्ध मैथुन -- स्त्रीप्रसङ्ग से निवृत्ति -- दूर रहना; अहिंसा =अशास्त्रीय

32. द्विजः = द्विर्जायते इति । जन् + डः (अन्येष्वपि – पाणिनिसूत्र, 3.2.101) । 'द्विजः स्याद् ब्राह्मणक्षत्रवैश्यदन्ताण्डजेषु...' -- इस मेदिनी कोश के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – द्विज हैं, इन द्विजों में उत्तम द्विज अर्थात् ब्राह्मण है ।

33. पण्डितः = पण्डा = वेदोज्ज्वला तत्त्वविषयिणी वा बुद्धिः, सा संजाता अस्य । पण्डा + इतच् (तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् – पाणिनिसूत्र, 5.2.36) ।

विहितप्रतिषिद्धयोरेकरूपप्रवृत्तिनिवृत्तिशालित्वं, ब्रह्मचर्यं निषिद्धमैथुननिवृत्तिः । अहिंसाऽशास्त्रीयप्राणिपीडनाभावः । चकारादस्तेयापरिग्रहावपि । शारीरं शरीरप्रधानैः कर्त्रादिभिः साध्यं न तु केवलेन शरीरेण । पञ्चैते तस्य हेतव इति हि वक्ष्यति । इत्थं शारीरं तप उच्यते ॥ 14 ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ 15 ॥

24 **अनुद्वेगकरं न कस्यचिद्दुःखकरं, सत्यं प्रमाणमूलमबाधितार्थं, प्रियं श्रोतुस्तत्कालश्रुतिसुखं हितं परिणामे सुखकरम् । चकारो विशेषणानां समुच्चयार्थः । अनुद्वेगकरत्वादिविशेषणचतुष्टयेन विशिष्टं न त्वेकेनापि विशेषणेन न्यूनं, यद्वाक्यं यथा शान्तो भव वत्स स्वाध्यायं योगं चानुतिष्ठ तथा ते श्रेयो भविष्यतीत्यादि तद्वाङ्मयं वाचिकं तपः शारीरवत्, स्वाध्यायाभ्यसनं च यथाविधि वेदाभ्यासश्च वाङ्मयं तप उच्यते । एवकारः प्राग्विशेषणसमुच्चयावधारणे व्याख्यातव्यः ॥ 15 ॥**

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ 16 ॥

– शास्त्रविहित हिंसा से अतिरिक्त प्राणीपीडन – प्राणीहिंसा का अभाव, चकार से अस्तेय और अपरिग्रह – इन दोंनो का भी ग्रहण है । शारीर = शरीरप्रधान कर्ता आदि से साध्य, केवल शरीर से नहीं, जो है वह 'शारीर' यहाँ विवक्षित है । यह 'पञ्चैते तस्य हेतवः' (गीता, 18.14-15) इन श्लोकों से कहेंगे । इसप्रकार 'शारीर' तप कहा जाता है ॥ 14 ॥

[जो उद्वेग न करनेवाला, सत्य, प्रिय और हितकारी वाक्य है और जो स्वाध्याय का अभ्यास करना है वह 'वाङ्मय' तप कहा जाता है ॥ 15 ॥]

24 अनुद्वेगकर = किसी को भी दुःख न देनेवाला, सत्य = प्रमाणमूलक – प्रामाणिक अर्थात् अबाधित = जिसका अर्थ प्रमाणों से बाधित न हो, प्रिय = श्रोता को तत्काल श्रुतिसुख = श्रवणसुख = सुनने में सुख देनेवाला और हित = हितकारी – परिणाम में सुखकारी – सुख देनेवाला, यहाँ चकार विशेषणों के समुच्चय के लिए है । इन अनुद्वेगकरत्वादि चारों विशेषणों से विशिष्ट, न कि एक भी विशेषण से न्यून, जो वाक्य है, जैसे – 'वत्स ! शान्त रहो, स्वाध्याय और योग का अनुष्ठान करो, इसप्रकार तुम्हारा श्रेय -- कल्याण होगा' – इत्यादि जो वाक्य है वह 'वाङ्मय' = वाचिक तप शारीर तप के समान है । तथा जो स्वाध्याय का अभ्यास अर्थात् यथाविधि[34] – विधिपूर्वक वेदों का अभ्यास है वह 'वाङ्मय[35]' तप कहा जाता है । एवकार[36] की पूर्व में विशेषणों के समुच्यय का निश्चय करने में व्याख्या की गई है[37] ॥ 15 ॥

34. 'यथाविधि' पद के 'यथा' अव्यय का 'पदार्थानतिक्रम' अर्थ करके 'यथाविधि' का अर्थ है :-- प्राङ्मुखत्वं पवित्रपाणित्वमित्यादिविधानमनतिक्रम्य = प्राङ्मुख पवित्रपाणित्वादि विधान का अतिक्रमण न करके अर्थात् विधि के अनुसार = जैसी विधि है उसके अनुसार – विधिपूर्वक (भाष्य – आनन्दगिरिव्याख्या – भाष्योत्कर्षदीपिका) ।
35. 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पाणिनिसूत्र, 5.4.21) – इस सूत्र के अनुसार 'वाङ्मयम् = वाक्प्राचुर्येण प्रस्तुतास्मिन्निति वाङ्मयम्' = जिसमें वाणी की प्रचुरता प्रस्तुत – विद्यमान हो वह 'वाङ्मय' है अर्थात् वाक्प्रधान 'वाङ्मय' है ।
36. यहाँ श्लोकस्थ 'चैव' अर्थात् 'च' शब्द के साथ 'एव' शब्द निश्चय करने के अर्थ में प्रयुक्त है अर्थात् अनुद्वेगकरत्वादि चारों विशेषणों से युक्त वाक्य और स्वाध्यायाभ्यास = यथाविधि वेदाभ्यास भी 'वाङ्मय' तप है (भाष्य–आनन्दगिरिव्याख्या – भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

25 मनसः प्रसादः स्वच्छता विषयचिन्ताव्याकुलत्वराहित्यं, सौम्यत्वं सौमनस्यं सर्वलोकहितैषित्वं प्रतिषिद्धाचिन्तनं च, मौनं मुनिभाव एकाग्रतयाऽऽत्मचिन्तनं निदिध्यासनाख्यं, वाक्संयमहेतुर्मनःसंयमो मौनमिति भाष्यम् । आत्मविनिग्रह आत्मनो मनसो विशेषेण सर्ववृत्तिनिग्रहो निरोधसमाधिरसंप्रज्ञातः । भावस्य हृदयस्य शुद्धिः कामक्रोधलोभादिमलनिवृत्तिः, पुनरशुद्ध्युत्पादराहित्येन सम्यक्त्वेन विशिष्टा सा भावशुद्धिः । परैः सह व्यवहारकाले मायाराहित्यं सेति भाष्यम् । इत्येतदेवंप्रकारं तपो मानसमुच्यते ॥ 16 ॥

26 शारीरवाचिकमानसभेदेन त्रिविधस्योक्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमिदानीं दर्शयति त्रिभिः—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ 17 ॥

27 तत्पूर्वोक्तं त्रिविधं शारीरं वाचिकं मानसं च तपः श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या परया प्रकृष्टयाऽप्रामाण्यशङ्काकलङ्कशून्यया फलाभिसंधिशून्यैर्युक्तैः समाहितैः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारैर्नैरधिकारिभिस्तप्तमनुष्ठितं सात्त्विकं परिचक्षते शिष्टाः ॥ 17 ॥

[मन की स्वच्छता, सौम्यता, मौन, आत्मनिग्रह -- मनोनिग्रह और भावसंशुद्धि -- हृदयशुद्धि – इसप्रकार यह तप 'मानस' कहा जाता है ॥ 16 ॥]

25 मन:प्रसाद = मन का प्रसाद – स्वच्छता अर्थात् विषयचिन्ता की व्याकुलता से रहित होना; सौम्यत्व -- सौम्यता = सौमनस्य – सुन्दर मनवाला होना = सब लोकों -- प्राणियों का हितैषी होना और प्रतिषिद्ध विषयों का चिन्तन न करना; मौन = मुनिभाव -- एकाग्रतापूर्वक निदिध्यासनस्वरूप आत्मचिन्तन करना = वाक्संयम का हेतुभूत मन का संयम 'मौन[38]' है -- यह भाष्य है; आत्मविनिग्रह[39] = आत्मा -- मन की विशेषरूप से सब वृत्तियों का निग्रह -- निरोध अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि; भावसंशुद्धि = भाव -- हृदय की शुद्धि -- काम, क्रोध, लोभादि मलों की निवृत्ति पुनः अशुद्धि की उत्पत्ति से रहित होने के कारण सम्यक्ता से विशिष्ट होती है वह 'भावसंशुद्धि' है अतएव भाष्यकार ने कहा है -- दूसरों के साथ व्यवहार करते समय कपटरहित होना 'भावसंशुद्धि' है -- यह भाष्य है – इसप्रकार यह तप 'मानस' कहा जाता है ॥ 16 ॥

26 अब शारीर, वाचिक और मानस भेद से तीन प्रकार के उक्त तप की सात्त्विकादि भेद से त्रिविधता तीन श्लोकों से दिखाते हैं:--

[फल की आकांक्षा से रहित योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से तपे हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकार के तप को 'सात्त्विक' कहते हैं ॥ 17 ॥]

27 उस पूर्वोक्त शारीर, वाचिक और मानस -- तीन प्रकार के तप को परम = प्रकृष्ट अर्थात् अप्रामाण्यरूप शंका के कलङ्क से शून्य श्रद्धा = आस्तिक्य बुद्धि से फलाभिसन्धिशून्य युक्त = समाहित अर्थात् सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहनेवाले अधिकारी पुरुषों द्वारा तप्त -- अनुष्ठित होने पर शिष्टजन 'सात्त्विक' कहते हैं ॥ 17 ॥

---

37. यहाँ 'व्याख्यात:' पाठ उचित है ।

38. आनन्दगिरि के अनुसार 'मौन' का अर्थ मनन है ।

39. विशेषभाव से वाक्विषयक मन का संयम 'मौन' है और सामान्यभाव से सर्वत: मनोनिरोध 'आत्मविनिग्रह' है – यह दोनों के अर्थ में भेद है ।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ 18 ॥

28 सत्कारः साधुरयं तपस्वी ब्राह्मण इत्येवमविवेकिभिः क्रियमाणा स्तुतिः, मानः प्रत्युत्थानाभिवादनादिः, पूजा पादप्रक्षालनार्चनधनदानादिः, तदर्थं दम्भेनैव च केवलं धर्मध्वजित्वेनैव च न त्वास्तिक्यबुद्ध्या यत्तपः क्रियते तद्राजसं प्रोक्तं शिष्टैः; इहास्मिन्नेवलोके फलदं न पारलौकिकं, चलमत्यल्पकालस्थायिफलम्, अध्रुवं फलजनकतानियमशून्यम् ॥ 18 ॥

मूढग्राहेणाऽऽत्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ 19 ॥

29 मूढग्राहेणाविवेकातिशयकृतेन दुराग्रहेणाऽऽत्मनो देहेन्द्रियसंघातस्य पीडया यत्तपः क्रियते परस्योत्सादनार्थं वाऽन्यस्य विनाशार्थमभिचाररूपं वा तत्तामसमुदाहृतं शिष्टैः ॥ 19 ॥

30 इदानीं क्रमप्राप्तस्य दानस्य त्रैविध्यं दर्शयति त्रिभिः–

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ 20 ॥

31 दातव्यमेव शास्त्रचोदनावशादित्येवं निश्चयेन न तु फलाभिसंधिना यद्दानं तुलापुरुषादि दीयते-

[जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए दम्भपूर्वक किया जाता है वह 'राजस' कहा जाता है । वह ऐहिक, चल और अध्रुव होता है ॥ 18 ॥]

28 सत्कार = 'यह तपस्वी ब्राह्मण साधु है' – इसप्रकार अविवेकियों द्वारा की जानेवाली स्तुति; मान = प्रत्युत्थान – देखकर खड़ा होना, अभिवादन -- प्रणाम करना आदि; पूजा = पादप्रक्षालन – चरण धोना, अर्चन– पूजन करना, धनदान आदि – इनके लिए और दम्भ से ही = केवल धर्मध्वजित्व से ही, आस्तिक्य बुद्धि से नहीं, जो तप किया जाता है वह शिष्टजनों द्वारा 'राजस' कहा जाता है । वह इह -- इस लोक में ही फल देनेवाला होता है, पारलौकिक नहीं, तथा चल = अत्यन्त अल्पकालस्थायी फलवाला होता है और अध्रुव = फलजनकता के नियम से शून्य होता है ॥ 18 ॥

[जो तप मूढ़तापूर्वक दुराग्रह से देह और इन्द्रियों के संघात को पीडित करने के लिए अथवा दूसरों का नाश करने के लिए किया जाता है वह 'तामस' कहा गया है ॥ 19 ॥]

29 मूढग्राह[40] से = अविवेकातिशयप्रयुक्त दुराग्रह से आत्मा = देह और इन्द्रियों के संघात की पीडा के लिए जो तप किया जाता है, अथवा – जो दूसरों के उत्सादन = विनाश के लिए अभिचार[41]रूप तप किया जाता है वह शिष्टपुरुषों द्वारा 'तामस' कहा गया है ॥ 19 ॥

30 अब क्रमप्राप्त दान की त्रिविधता को तीन श्लोकों से दिखलाते हैं :--

['देना चाहिए'-- इस भाव से जो दान उचित देश और काल में प्रत्युपकार न करनेवाले पात्र को दिया जाता वह दान 'सात्त्विक' कहा गया है ॥ 20 ॥]

40. अत्यन्त अविवेकी पुरुष 'मूढ़' होता है ।
41. मारण, उचाटन, वशीकरण आदि 'अभिचार' हैं ।

ऽनुपकारिणे प्रत्युपकाराजनकाय देशे पुण्ये कुरुक्षेत्रादौ काले च पुण्ये सूर्योपरागादौ । पात्रे चेति चतुर्थ्यर्थे सप्तमी । कीदृशायानुपकारिणे दीयते पात्राय च विद्यातपोयुक्ताय । पात्रे रक्षकायेति वा । विद्यातपोभ्यामात्मनो दातुश्च पालनक्षम एव प्रतिगृह्णीयादिति शास्त्रात् । तदेवंभूतं दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ 20 ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ 21 ॥

32 **प्रत्युपकारार्थं कालान्तरे मामयमुपकरिष्यतीत्येवं दृष्टार्थं फलं वा स्वर्गादिकमुद्दिश्य यत्पुनर्दानं सात्त्विकविलक्षणं दीयते परिक्लिष्टं न कथमेतावद्व्ययितमितिपश्चात्तापयुक्तं यथा भवत्येवं च यद्दीयते तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ 21 ॥**

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ 22 ॥

---

31 'शास्त्रविधि के कारण देना ही चाहिए' – इसप्रकार के निश्चय से, फलाभिसन्धि से नहीं, जो तुलापुरुषादि दान अनुपकारी = प्रत्युपकार न करनेवाले पात्र को कुरुक्षेत्रादि पुण्य – पवित्र देश में और सूर्यग्रहणादि पुण्य – पवित्र काल में दिया जाता है । यहाँ 'पात्रे च' –इसमें सप्तमी चतुर्थी के अर्थ में है । कैसे अनुपकारी को दान दिया जाता है – पात्र को अर्थात् विद्यायुक्त – विद्वान् तपोयुक्त – तपस्वी = विद्वान् तपस्वी को अर्थात् अनुपकारी और विद्वान् तपस्वी को दान दिया जाता है, अथवा -- 'पाति रक्षति इति पाता तस्मै पात्रे[42]' = पात्र = रक्षक को दिया जाता है, क्योंकि 'विद्या और तप से अपनी और दाता की रक्षा करने में समर्थ ही प्रतिग्रह दान ले' – इसप्रकार शास्त्र की विधि है । वह एवंभूत दान 'सात्त्विक' कहा गया है ॥ 20 ॥

[जो दान क्लेशपूर्वक प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल के उद्देश्य से दिया जाता है वह 'राजस' कहा गया है ॥ 21 ॥]

32 प्रत्युपकार के प्रयोजन से = 'कालान्तर में यह मेरा उपकार करेगा'– इसप्रकार दृष्ट प्रयोजन से अथवा अदृष्ट स्वर्गादि फल के उद्देश्य से जो पुन: सात्त्विक से विलक्षण दान परिक्लिष्टता से = 'इतना व्यय क्यों किया' – इसप्रकार के पश्चात्ताप से दिया जाता है वह 'राजस' कहा गया है ॥ 21 ॥

[जो दान अपवित्र देश और काल में अपात्रों को दिया जाता है तथा जो असत्कार और पात्र के प्रति तिरस्कारयुक्त होता है वह 'तामस' कहा गया है ॥ 22 ॥]

---

42. 'पा रक्षणे' (अदादिगण 49) – इसके अनुसार 'पा' धातु से 'तृच्' प्रत्यय होकर 'पातृ' शब्द निष्पन्न होने पर 'पात्रे' शब्दरूप चतुर्थी का ही है । किन्तु धनपति के अनुसार उक्त कल्पना व्यर्थ ही है, कारण कि श्लोकस्थ प्रथम 'दानम्' शब्द रूप कर्मकारक द्वितीया विभक्ति का है अतएव वह देयवस्तुपरक है, 'पात्रे च' – इनमें चकार भावव्युत्पत्ति से समर्पणपरक है, इसलिए जो देयद्रव्यवाची द्वितीयान्त 'दान' शब्द है उसके संयोग से संप्रदान में चतुर्थी की अपेक्षा है, किन्तु श्लोकस्थ द्वितीय 'दानम्' शब्दरूप प्रथमान्त है और त्यागवाची है, इसलिए वहाँ पात्रभूत पुरुष में चतुर्थी की अपेक्षा नहीं है; 'कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम्' (पाणिनिसूत्र, 1.4.32) = 'दान के कर्म द्वारा कर्ता जिसको उद्देश्य बनाता है उसकी 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है' -- यह 'संप्रदान' संज्ञा यहाँ कर्मविभक्ति के अभाव से प्रवृत्त नहीं हो रही है, अत: इससे 'पात्रे च' -- इसमें सप्तमी चतुर्थी के अर्थ में है ।

33 अदेशे स्वतो दुर्जनसंसर्गाद्वा पापहेतावशुचिस्थाने, अकाले पुण्यहेतुत्वेनाप्रसिद्धे यस्मिन्कस्मिंश्चित्, अशौचकाले वा, अपात्रेभ्यश्च वियातपोरहितेभ्यो नटविटादिभ्यो यद्दानं दीयते देशकालपात्रसंपत्तावपि असत्कृतं प्रियभाषणपादप्रक्षालनपूजादिसत्कारशून्यमवज्ञातं पात्रपरिभवयुक्तं च तद्दानं तामसमुदाहृतम् ॥ 22 ॥

34 तदेवमाहारयज्ञतपोदानानां त्रैविध्यकथनेन सात्त्विकानि तान्यादेयानि राजसतामसानि तु परिहर्तव्यानीत्युक्तम् । तत्राऽऽहारस्य दृष्टार्थत्वेन नास्त्यङ्गवैगुण्येन फलाभावशङ्का । यज्ञतपोदानानां त्वदृष्टार्थानामङ्गवैगुण्यादपूर्वानुत्पत्तौ फलाभावः स्यादिति सात्त्विकानामपि तेषामानर्थक्यं प्राप्तं प्रमादबहुलत्वादनुष्ठातॄणामतस्तद्वैगुण्यपरिहारायोंतत्सदितिभगवन्नामोच्चारणरूपं सामान्यप्रायश्चित्तं परमकारुणिकतयोपदिशति भगवान् –

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ 23 ॥

35 ॐतत्सदित्येवंरूपो ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशो निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशः प्रतिपादकशब्दो नामेति यावत् । त्रिविधस्तिस्रो विधा अवयवा यस्य स त्रिविधः स्मृतो वेदान्तविद्भिः । एकवचनात्त्यवयवमेकं नाम प्रणववत् । यस्मात्पूर्वैर्महर्षिभिरयं ब्रह्मणो निर्देशः स्मृतस्तस्मादिदानींतनैरपि

---

33 अदेश में = स्वतः – स्वभावतः अथवा दुर्जनों के संसर्ग से पाप के हेतुभूत अपवित्र स्थान में और अकाल में = पुण्य के हेतुरूप से अप्रसिद्ध जिस - किसी काल में अथवा अपवित्र काल में अपात्रों को = विद्या और तप से रहित नट-विटादि को जो दान दिया जाता है तथा देश, काल और पात्र की प्राप्ति होने पर भी जो असत्कृत = प्रियभाषण, पादप्रक्षालन, पूजादि सत्कार से शून्य और अवज्ञात = पात्र के प्रति तिरस्कार से युक्त होता है वह 'तामस' कहा गया है ॥ 22 ॥

34 इसप्रकार आहार, यज्ञ, तप और दान की त्रिविधता के कथन से यह कहा है कि ये सात्त्विक ग्राह्य हैं और राजस-तामस तो त्याज्य हैं । इसमें आहार का प्रयोजन दृष्ट – प्रत्यक्ष है, अतः इसमें अङ्गों के वैगुण्य से फलाभाव की शंका नहीं है; किन्तु यज्ञ, तप और दान का प्रयोजन अदृष्ट है, अतः इनके अङ्गों के वैगुण्य से अपूर्व की उत्पत्ति न होने पर फलाभाव होगा -- इसप्रकार उन सात्त्विकों की भी अनर्थकता प्राप्त होती है, क्योंकि अनुष्ठान करनेवालों में प्रमादबहुलता होना अनिवार्य है, अतः उस वैगुण्य के परिहार के लिए परम करुणा से भगवान् 'ॐ तत्सत्' – इस भगवन्नामोच्चारणरूप सामान्य प्रायश्चित्त का उपदेश करते हैं :--

['ॐ तत् सत्' – यह ब्रह्म का तीन प्रकार का नाम कहा गया है । पूर्वकाल में प्रजापति ने इस नाम से ब्राह्मण, वेद और यज्ञों की रचना की थी ॥ 23 ॥]

35 'ॐ तत् सत्[44]' – इसप्रकार का रूप ब्रह्म = परमात्मा का निर्देश है -- 'निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशः' – जिससे निर्देश किया जाता है वह निर्देश -- प्रतिपादक शब्द अर्थात् नाम है । यह निर्देश -- नाम तीन प्रकार का है = इसको वेदान्तवेत्ताओं ने 'जिसके तीन विध -- अवयव हैं वह त्रिविध

---

43. श्लोकस्थ 'तु' शब्द पूर्वश्लोकोक्त सात्त्विकदान से राजसदान की विलक्षणता सूचित करने के लिए है ।

44. 'ओम इति ब्रह्म' = 'ओम् – यह ब्रह्म है'; 'तत्त्वमसि' = 'वह तुम हो'; और 'सदेव सोम्य' = 'हे सोम्य ! सत् ही ब्रह्म है' -- इस श्रुतियों से 'ॐ तत् सत्' – यह ब्रह्म का निर्देश-नाम है ।

स्मर्तव्य इति विधिरत्र कल्प्यते । वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष इत्यादिष्विव वचनानि त्वपूर्वत्वादिति न्यायात् । यज्ञदानतपःक्रियासंयोगाच्चास्य तदवैगुण्यमेव फलं नष्टाश्वदग्धरथवत्परस्पराकाङ्क्षया कल्प्यते ।

'प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् ।
स्मरणादेव तद्विष्णोः संपूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥'

इति स्मृतेस्तथैव शिष्टाचाराच्च । ब्रह्मणो निर्देशः स्तूयते कर्मवैगुण्यपरिहारसामर्थ्यकथनाय ।

अर्थात् तीन प्रकार के अवयवोंवाला है' – ऐसा कहा है । एकवचन होने के कारण यह प्रणव[45] के समान तीन अवयवोंवाला एक नाम है । क्योंकि पूर्व महर्षियों ने इसको ब्रह्म का निर्देश-नाम कहा है, इसलिए आधुनिक विद्वान् भी यहाँ 'यह स्मर्तव्य है' – इस विधि की कल्पना करते हैं[46], जैसे – 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः[47]' (आपस्तंब श्रौतसूत्र, 12.24.6) = 'वषट्कर्ता प्रथम भक्षण करे' -- इत्यादि में विधि की श्रुति नहीं है, फिर भी विधि का अध्याहार कर प्राथम्यविशिष्ट भक्षण का विधान किया गया है, क्योंकि इसमें मीमांसासूत्र प्रमाण है – 'वचनानि त्वपूर्वत्वात्तस्माद्यथोपदेशं स्युः' (मीमांसासूत्र, 3.4.21) = 'श्रुतिवचन वचनान्तर प्राप्त न होने से विधायक होते हैं, क्योंकि वे अपूर्व अर्थ के बोधक होते हैं और वचनान्तर प्राप्त न होने के कारण जैसा उपदेश है उसको ग्रहण करना चाहिए[48]' । इसीप्रकार यज्ञ, दान और तपःक्रिया के साथ इस ब्रह्मनिर्देश का संयोग होने से नष्टाश्व – दग्धरथ[49] के समान परस्पर आकांक्षा होने के कारण उन यज्ञादि में अवैगुण्य = वैगुण्यनिराश फल की ही कल्पना की जाती है । "कर्मकरनेवालों के प्रमाद से यज्ञों में जो च्युति -- त्रुटि रह जाय तो वह विष्णु के स्मरण से पूर्ण हो जाती है – यह श्रुति है" -- यह स्मृति है और ऐसा ही शिष्टाचार भी है, अतः कर्मवैगुण्य के परिहार का सामर्थ्य बतलाने के लिए इस ब्रह्म के निर्देश – नाम की स्तुति की जाती है ।

45. जैसे – 'ओम्' – यह त्र्यक्षरमय अर्थात् अ, उ और म् – तीन अक्षरवाला प्रणव एकवचन है अतएव ईश्वर का एक वाचक = बोधक शब्द-नाम है, वैसे ही 'ॐ तत् सत्' – यह तीन अवयवोंवाला रूप एकवचन है अतएव ब्रह्म = परमात्मा का एक निर्देश-नाम है ।

46. क्योंकि पूर्व महर्षियों ने 'ॐ तत् सत्' – यह ब्रह्म का निर्देश-नाम है – ऐसा स्मरण किया है, इसलिए आधुनिक विद्वानों को भी 'ॐ तत् सत्' – इस नाम से भगवान् का स्मरण करना चाहिए अर्थात् 'ॐ तत्सदिति' – इत्यादि श्लोक में यद्यपि 'स्मर्तव्य' = 'ॐ तत् सत् – इस नाम से भगवान् का स्मरण करना चाहिए' – यह विधि श्रुत नहीं है, तथापि आधुनिक विद्वान् उक्त विधि की कल्पना करते हैं ।

47. 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' – इस श्रुतिवचन में विधि की श्रुति नहीं है, फिर भी इसमें विधि का अध्याहार कर प्राथम्यविशिष्ट भक्षण का विधान किया गया है । 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति' – इस वाक्य से भक्षण का विधान सिद्ध है, उक्त वाक्य विधायक नहीं हो सकता है, विधि प्राप्तपदार्थ का विधान नहीं करती है, विधि अप्राप्त = अज्ञात अर्थ की ही विधायिका होती है । 'वषट्कर्तुर्यो भक्षः स प्रथमः' – इसप्रकार भक्षण को उद्देश्य करके 'प्राथम्य' का विधान इस वाक्य में यदि मानना है तो यह संभव नहीं है, क्योंकि 'प्रथमभक्षः'- यह समस्त पद है । समस्त पद एक अर्थ का प्रतिपादक होता है, किन्तु 'प्रथमभक्षः' पद में विधेय और उद्देश्य– दो भिन्न अर्थ हैं । विधेय और उद्देश्य परस्पर सापेक्ष भी हैं । व्यपेक्षालक्षण सामर्थ्य के न रहने पर समास नहीं होगा । यदि प्राप्त भक्षण को उद्देश्य करके 'प्राथम्य' का विधान होता है तो एकप्रसरता = विशिष्ट एक अर्थ की प्रतिपादनता का भंग होगा, विधेयत्व और उद्देश्यत्व का वैशिष्ट्य = विशेष्यविशेषणभाव नहीं होगा । विशेष्यविशेषणभाव तब हो सकता है जब भक्षण को भी विधेय मानेंगे । अतः एकप्रसरताभङ्ग के भय से प्राप्त होते हुए प्राथम्य से विशिष्ट भक्षण का ही विधान किया जाता है। अतएव उक्त वाक्य में विधि श्रुत न होते हुए भी विधि का अध्याहार कर प्राथम्यविशिष्ट भक्षण का विधान किया गया है ।

36 **ब्राह्मणा इति त्रैवर्णिकोपलक्षणम् । ब्राह्मणाद्याः कर्तारो वेदाः करणानि यज्ञाः कर्माणि तेन ब्रह्मणो निर्देशेन करणभूतेन पुरा विहिताः प्रजापतिना । तस्माद्यज्ञादिसृष्टिहेतुत्वेन तद्वैगुण्य-परिहारसमर्थो महाप्रभावोऽयं निर्देश इत्यर्थः ॥ 23 ॥**

37 **इदानीमकारोकारमकारव्याख्यानेन तत्समुदायोंकारव्याख्यानवदोंकारतच्छब्दसच्छब्दव्याख्यानेन तत्समुदायरूपं ब्रह्मणो निर्देशं स्तुत्यतिशयाय व्याख्यातुमारभते चतुर्भिः । तत्र प्रथममोंकारं व्याचष्टे –**

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ 24 ॥

38 **यस्मात् 'ओमिति ब्रह्म' इत्यादिषु श्रुतिष्वोमिति ब्रह्मणो नाम प्रसिद्धं तस्मादोमित्युदाहृत्योंकारो-च्चारणानन्तरं विधानोक्ता विधिशास्त्रबोधिता ब्रह्मवादिनां वेदवादिनां यज्ञदानतपःक्रियाः सततं प्रवर्तन्ते प्रकृष्टतया वैगुण्यराहित्येन वर्तन्ते । यस्यैकावयवोच्चारणादप्यवैगुण्यं किं पुनस्तस्य सर्वस्योच्चारणादिति स्तुत्यतिशयः ॥ 24 ॥**

36 'ब्राह्मणाः' – यह पद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – तीनों वर्णों के पुरुषों का उपलक्षण है, क्योंकि तीनों वर्णों का वैदिक कर्मों में अधिकार है । ब्राह्मणादि कर्ता हैं, वेद करण है और यज्ञ कर्म हैं – इन तीनों को पूर्वकाल में प्रजापति ने इस करणभूत – कारणभूत ब्रह्मनिर्देश = ब्रह्म के निर्देश-नाम से रचा था । इसलिए यज्ञादि की सृष्टि का हेतु होने से यह महान् प्रभाववाला ब्रह्म का निर्देश-नाम यज्ञादि के वैगुण्य का परिहार करने में समर्थ है – यह अभिप्राय है ॥ 23 ॥

37 अब अकार, उकार और मकार की व्याख्या द्वारा उनके समुदाय ओंकार की व्याख्या के समान ओंकार, 'तत्' शब्द और 'सत्' शब्द की व्याख्या द्वारा उनके समुदायरूप = 'ॐ तत् सत्' – एवंरूप ब्रह्म के निर्देश-नाम की विशेष स्तुति के लिए चार श्लोकों से व्याख्या आरम्भ की जाती है । उसमें प्रथम ओंकार की व्याख्या करते हैं :–
[इसलिए 'ओम्' – यह उच्चारण करके ब्रह्मवादियों की यज्ञ, दान और तपरूप विधानोक्त = वेदोक्त क्रियाएँ निरन्तर प्रवृत्त होती हैं ॥ 24 ॥]

38 क्योंकि 'ओमिति ब्रह्म' (तैत्तिरीयोपनिषद्) = 'ओम्' – यह ब्रह्म है' – इत्यादि श्रुतियों में 'ओम्' – यह ब्रह्म का नाम प्रसिद्ध है, इसलिए 'ओम्' – यह उच्चारण करने के अनन्तर ब्रह्मवादियों – वेदवादियों की विधानोक्त = विधिशास्त्र द्वारा बोधित–विहित यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ निरन्तर प्रवृत्त = प्रकृष्टतया अर्थात् वैगुण्य से रहित होती हैं । जिस ब्रह्मनिर्देश के एक अवयव के उच्चारण से भी अवैगुण्य = वैगुण्याभाव होता है फिर उस सबके उच्चारण से अवैगुण्य में तो कहना ही क्या है ? यह विशेष स्तुति है ॥ 24 ॥

48. 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' – इत्यादि श्रुतिवचन वचनान्तर प्राप्त न होने से प्राथम्यविशिष्ट भक्षण के विधायक हैं, क्योंकि वे अपूर्व अर्थ के बोधक हैं, तथा वचनान्तर प्राप्त न होने के कारण ही जैसा उपदेश है उसको ग्रहण कर यह सिद्ध होता है कि उक्त वचन प्राथम्यविशिष्ट भक्षण के विधायक हैं ।

49. जिसप्रकार दो मनुष्यों में से यदि एक का घोड़ा मर जाय और दूसरे का रथ जल जाय तो उन दोनों को परस्पर एक-दूसरे की सहायता की अपेक्षा होती है, इस अपेक्षा से दोनों मिलकर रथ से अपने इष्ट स्थान को चले जाते हैं; उसीप्रकार प्रकृत में ब्रह्मनिर्देश को फल की अपेक्षा है और यज्ञादि को वैगुण्यनिराश की अपेक्षा है, इससे दोनों का संयोग होने पर वैगुण्यनिराश फल की प्राप्ति हो जाती है ।

39 द्वितीयं तच्छब्दं व्याचष्टे –

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ 25 ॥

40 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं तदिति ब्रह्मणो नामोदाहृत्य फलमनभिसंधायान्तःकरणशुद्ध्यर्थं यज्ञतपःक्रिया दानक्रियाश्च विविधा मोक्षकाङ्क्षिभिः क्रियन्ते तस्मादतिप्रशस्तमेतत् ॥ 25 ॥

41 तृतीयं सच्छब्दं व्याचष्टे द्वाभ्याम् –

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ 26 ॥

42 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं सदित्येतद्ब्रह्मणो नाम सद्भावेऽविद्यमानत्वशङ्कायां विद्यमानत्वे साधुभावे चासाधुत्वशङ्कायां साधुत्वे च प्रयुज्यते शिष्टैः। तस्माद्वैगुण्यपरिहारेण यज्ञादेः साधुत्वं तत्फलस्य च विद्यमानत्वं कर्तुं क्षममेतदित्यर्थः । तथा सद्भावसाधुभावयोरिव प्रशस्तेऽप्रतिबन्धेनाऽऽशुसुखजनके माङ्गलिके कर्मणि विवाहादौ सच्छब्दो हे पार्थ युज्यते प्रयुज्यते। तस्मादप्रतिबन्धेनाऽऽशुफलजनकत्वं वैगुण्यपरिहारेण यज्ञादेः समर्थमेतन्नामेति प्रशस्ततरमेतदित्यर्थः ॥ 26 ॥

---

39 द्वितीय 'तत्' शब्द की व्याख्या करते हैं :--
['तत्' – इस शब्द का उच्चारण करके मुमुक्षुओं द्वारा फल का अनुसंधान न करते हुए विविध – अनेक प्रकार की यज्ञ और तपरूप क्रियाएँ तथा दानक्रियाएँ की जाती हैं ॥ 25 ॥]

40 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्योपनिषद्, 6.8.7) = 'वह तुम हो' – इत्यादि श्रुति में प्रसिद्ध 'तत्' – इस ब्रह्म के नाम का उच्चारण करके मुमुक्षुओं द्वारा फल का अनुसन्धान न करते हुए अन्तःकरण की शुद्धि के लिए विविधप्रकार की यज्ञ और तपरूप क्रियाएँ तथा दानक्रियाएँ की जाती हैं, इसलिए यह अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ 25 ॥

41 तृतीय 'सत्' शब्द की व्याख्या करते हैं :--
[हे पार्थ ! 'सत्' -- यह शब्द सद्भाव = विद्यमानता -- वर्तमानता और साधुभाव -- साधुता में प्रयुक्त किया जाता है तथा माङ्गलिक कर्मों में भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है ॥ 26 ॥]

42 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छान्दोग्योनिषद्, 6.2.1) = 'हे सोम्य ! सृष्टि से पूर्व यह 'सत्' ब्रह्म ही था'-- इत्यादि श्रुति में प्रसिद्ध 'सत्' -- यह ब्रह्म का नाम शिष्टपुरुषों द्वारा सद्भाव = अविद्यमानता की शंका होने पर विद्यमानता के अर्थ में तथा साधुभाव = असाधुता की शंका होने पर साधुता के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है । इसलिए यह वैगुण्य के परिहार द्वारा यज्ञादि की साधुता और उसके फल की विद्यमानता करने में समर्थ है -- यह तात्पर्य है । तथा हे पार्थ ! सद्भाव और साधुभाव के समान प्रशस्त = प्रतिबन्ध के बिना शीघ्र सुखजनक विवाहादि माङ्गलिक कर्म में भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त किया जाता है । इसलिए यह नाम यज्ञादि के वैगुण्यपरिहार द्वारा प्रतिबन्ध के बिना शीघ्र ही उसका फल उत्पन्न करने में समर्थ है अर्थात् यह अत्यन्त ही श्रेष्ठ है ॥ 26 ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ 27 ॥

43 **यज्ञे तपसि दाने च या स्थितिस्तत्परतयाऽवस्थितिर्निष्ठा साऽपि सदित्युच्यते विद्वद्भिः । कर्म चैव तदर्थीयं तेषु यज्ञदानतपोरूपेष्वर्थेषु भवं तदनुकूलमेव च कर्म । अथवा यस्य ब्रह्मणो नामेदं प्रस्तुतं तदेवार्थो विषयो यस्य तत्तदर्थं शुद्धब्रह्मज्ञानं तदनुकूलं कर्म तदर्थीयं, भगवदर्पणबुद्ध्या क्रियमाणं कर्म वा तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते । तस्मात्सदिति नाम कर्मवैगुण्यापनोदनसमर्थं प्रशस्ततरम् । यस्यैकैकोऽवयवोऽप्येतादृशः किं वक्तव्यं तत्समुदायस्योंतत्सदिति निर्देशस्य माहात्म्यमिति संपिण्डितार्थः ॥ 27 ॥**

44 **यद्यालस्यादिना शास्त्रीयं विधिमुत्सृज्य श्रद्दधानतयैव वृद्धव्यवहारमात्रेण यज्ञतपोदानादि कुर्वतां प्रमादाद्वैगुण्ये प्राप्त ओंतत्सदिति ब्रह्मनिर्देशेन तत्परिहारस्तर्ह्यश्रद्दधानतया शास्त्रीयं विधिमुत्सृज्य कामकारेण यत्किंचिद्यज्ञादि कुर्वतामसुराणामपि तेनैव वैगुण्यपरिहारः स्यादिति कृतं श्रद्धया सात्त्विकत्वहेतुभूतयेत्यत आह –**

[यज्ञ, तप और दान में स्थित होना 'सत्' ही कहा जाता है तथा उन यज्ञादि के अनुकूल कर्म भी 'सत्' ही कहा जाता है ॥ 27 ॥]

43 यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति = तत्परता से अवस्थिति – निष्ठा है वह भी विद्वानों द्वारा 'सत्' ही कही जाती है । तथा तदर्थीय = उन यज्ञ, दान और तपरूप अर्थों में उत्पन्न होनेवाला अर्थात् उनके अनुकूल कर्म, अथवा – जिस ब्रह्म का यह नाम प्रस्तुत है वही जिसका अर्थ या विषय है वह शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान ही तदर्थ है उसके अनुकूल = तदर्थीय कर्म, अथवा -- भगवदर्पणबुद्धि से क्रियमाण कर्म तदर्थीय कर्म भी 'सत्' ही कहा जाता है । इसलिए यह नाम कर्म के वैगुण्य को दूर करने में समर्थ है अतएव श्रेष्ठतर है । जिसका एक-एक अवयव भी ऐसा है तो फिर उसके समुदाय का तो कहना ही क्या है ? 'ओम् तत् सत्' -- इस ब्रह्मनिर्देश का यह माहात्म्य है – यह समुदायार्थ है[50] ॥ 27 ॥

44 यदि आलस्यादि के कारण शास्त्रीय विधि का त्याग कर श्रद्धावान् होकर ही वृद्धों के व्यवहार -मात्र से यज्ञ, तप, दानादि करनेवालों के प्रमाद से यज्ञादि में वैगुण्य प्राप्त होने पर 'ॐ तत् सत् ' -- इसप्रकार के ब्रह्मनिर्देश से उस वैगुण्य का परिहार होता है, तो अश्रद्धा से शास्त्रीयविधि का त्याग कर स्वेच्छा से जिस किसी यज्ञादि कर्म को करनेवाले असुरों को भी प्राप्त वैगुण्य का उस ब्रह्मनिर्देश से ही परिहार हो जायेगा -- इसप्रकार सात्त्विकता की हेतुभूता श्रद्धा की क्या आवश्यकता है अर्थात् श्रद्धा की कोई आवश्यकता नहीं हैं, वह व्यर्थ ही है – इस जिज्ञासा से कहते हैं :--

50. श्रीधरस्वामी के मत में यहाँ विधि के बिना अर्थवाद की अनुपपत्ति होने से 'कीर्तयेत्' = 'ॐ तत् सत्' – इस ब्रह्मनिर्देश का सब कर्मों के सादुगुण्यार्थ कीर्तन करना चाहिए' – इस विधि की कल्पना की जाती है, क्योंकि 'विधेयं स्तूयते वस्तु' = 'विधिप्राप्त वस्तु की स्तुति की जाती है' – यह न्याय है । अन्य टीकाकारों ने 'प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः', 'क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः' -- इत्यादि में ' समिधो यजति' – इत्यादि वाक्यों के समान वर्तमानकालिक जो क्रिया का उपदेश किया गया है उसको विधिरूप में परिणत करना चाहिए -- ऐसा कहा है, किन्तु उक्त कथन 'सद्भावे साधुभावे च' इत्यादि वाक्यों में प्राप्त होने के कारण संगत नहीं है, अतः पूर्वोक्त क्रम से विधि की कल्पना ही श्रेष्ठ है (द्रष्टव्य -- श्रीधरीटीका) ।

44 ननु तेषामपि क्रमेण बहूनां जन्मनामन्ते श्रेयो भविष्यति नेत्याह –

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ 20 ॥

45 ये कदाचिदासुरीं योनिमापन्नास्ते जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्म मूढास्तमोबहुलत्वेनाविवेकिनस्ततस्तस्मादपि यान्त्यधमां गतिं निकृष्टतमां गतिम् । मामप्राप्येति न मत्प्राप्तौ काचिदाशङ्काऽप्यस्ति, अतो मदुपदिष्टं वेदमार्गमप्राप्येत्यर्थः । एवकारस्तिर्यक्स्थावरादिषु वेदमार्गप्राप्तिस्वरूपायोग्यतां दर्शयति । तेनात्यन्ततमोबहुलत्वेन वेदमार्गप्राप्तिस्वरूपायोग्या भूत्वा पूर्वपूर्वनिकृष्टयोनितो निकृष्टतमामधमां योनिमुत्तरोत्तरं गच्छन्तीत्यर्थः । हे कौन्तेयेति निजसंबन्धकथनेन त्वमितो निस्तीर्ण इति सूचयति । यस्मादेकदाऽऽसुरीं योनिमापन्नानामुत्तरोत्तरं निकृष्टतरनिकृष्टतमयोनिलाभो न तु तत्प्रतीकारसामर्थ्यमत्यन्ततमोबहुलत्वात्, तस्माद्यावन्मनुष्यदेहलाभोऽस्ति तावन्महताऽपि प्रयत्नेनाऽऽसुर्याः संपदः परमकष्टतमायाः परिहाराय त्वरयैव यथाशक्ति दैवी संपदनुष्ठेया श्रेयोर्थिभिरन्यथा तिर्यगादिदेहप्राप्तौ साधनानुष्ठानायोग्यत्वान्न कदाऽपि निस्तारोऽस्तीति महत्संकटमापद्येतेति समुदायार्थः । तदुक्तम् –

'इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
मत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥' इति ॥ 20 ॥

---

44 उनका भी क्रम से बहुत जन्मों के पश्चात् कल्याण होगा – ऐसा कहने पर कहते हैं :--नहीं, [हे कौन्तेय ! वे मूढ़ -- मूर्ख जन्म-जन्म में आसुरी योनि को ही प्राप्त हुए मुझको न प्राप्त हुए फिर अधम गति को ही प्राप्त होते हैं ॥ 20 ॥]

45 जो कभी आसुरी योनि को प्राप्त हो गये हैं वे जन्म-जन्म में मूढ = तमोगुण की बहुलता होने के कारण अविवेकी – विवेकशून्य रहकर ततः = तस्मादपि = उससे भी अधम = निकृष्टतम गति को प्राप्त होते हैं । 'मामप्राप्य' -- 'मुझको न प्राप्त हुए' = मेरी प्राप्ति में तो कोई आशंका भी नहीं है, अतः मेरे द्वारा उपदिष्ट वेदमार्ग को न प्राप्त हुए -- यह अर्थ है । यहाँ 'एव'कार तिर्यक्, स्थावर आदि योनियों में वेदमार्गप्राप्ति की स्वरूपत: अयोग्यता प्रदर्शित करता है । इसलिए अत्यन्त तमोगुण की बहुलता होने के कारण वे वेदमार्गप्राप्ति के लिए स्वरूपतः योग्य न होकर पूर्व-पूर्व निकृष्ट योनि से निकृष्टतम = अधम योनि को उत्तरोत्तर प्राप्त होते हैं – यह अर्थ है । हे कौन्तेय[40] ! -- इस सम्बोधन से अपने सम्बन्ध के कथन द्वारा सूचित करते हैं कि तुम इससे निष्तीर्ण -- पार हो । क्योंकि एक बार आसुरी योनि को प्राप्त हुआ पुरुष उत्तरोत्तर निकृष्टतर -- निकृष्टतम योनियों को प्राप्त होता रहता है, न कि उसको उनके प्रतीकार का सामर्थ्य प्राप्त होता है, कारण कि उसमें अत्यन्त तमोगुण की बहुलता रहती है; इसलिए जब तक मनुष्यदेह प्राप्त है तभी तक कल्याण-कामियों को महान् प्रयत्न से भी अत्यन्त कष्टतमा आसुरी संपत् के परिहार के लिए शीघ्र ही यथाशंक्ति दैवीसंपत् का अनुष्ठान करना चाहिए, अन्यथा तिर्यगादि देह प्राप्त होने पर साधनों के अनुष्ठान की योग्यता न रहने से कदापि उद्धार नहीं होगा – इसप्रकार महान् संकट उपस्थित हो जायेगा -- यह समुदाय का अर्थ है । कहा भी है --

---

40. तुम तो मेरी बुआ कुन्ती के पुत्र होने से मुझको प्राप्त हो अतएव आसुरी योनियों को प्राप्त करने के योग्य नहीं हो, फलत: तुम शोक मत करो, तुम तो आसुरी योनियों से निस्तीर्ण – पार हो – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

46 नन्वासुरी संपदनन्तभेदवती कथं पुरुषायुषेणापि परिहर्तुं शक्येतेत्याशङ्क्य तां संक्षिप्याऽऽह –

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ 21 ॥

47 इदं त्रिविधं त्रिप्रकारं नरकस्य प्राप्तौ द्वारं साधनं सर्वस्या आसुर्याः संपदो मूलभूतमात्मनो नाशनं सर्वपुरुषार्थायोग्यतासंपादनेनात्यन्ताधमयोनिप्रापकम् । किं तदित्यत आह--कामः क्रोधस्तथा लोभ इति । प्राग्व्याख्यातम् । यस्मादेतत्त्रयमेव सर्वानर्थमूलं तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् । एतत्त्रयत्यागेनैव सर्वाऽप्यासुरी संपत्त्यक्ता भवति । एतत्त्रयत्यागश्चोत्पन्नस्य विवेकेन कार्यप्रतिबन्धः । ततः परं चानुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम् ॥ 21 ॥

48 एतत्त्रयं त्यजतः किं स्यादिति तत्राऽऽह –

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ 22 ॥

49 एतैः कामक्रोधलोभैस्त्रिभिस्तमोद्वारैर्नरकसाधनैर्विमुक्तो विरहितः पुरुष आचरत्यात्मनः श्रेयो यद्धितं वेदबोधितं हे कौन्तेय, पूर्वं हि कामादिप्रतिबद्धः श्रेयो नाऽऽचरति येन पुरुषार्थः सिध्येत् ।

"जो पुरुष यहीं पर नरकरूप व्याधि -- रोग की चिकित्सा नहीं करता है वह रोगसहित औषधहीन स्थान को जाकर क्या करेगा ? ॥ 20 ॥

46 आसुरी -- संपत् तो अनन्त भेदोंवाली है उसका एक पुरुष की आयु में भी कैसे परिहार किया जा सकता है ? – इसप्रकार आशंका करके उसको संक्षेप में कहते हैं :--
[काम, क्रोध, और लोभ -- यह तीन प्रकार का नरक का द्वार आत्मा का नाश करनेवाला है, इसलिए इन तीनों को त्याग देना चाहिए ॥ 21 ॥]

47 यह त्रिविध -- तीन प्रकार का नरक की प्राप्ति का द्वार = साधन समस्त आसुरी-संपत् का मूलभूत और आत्मा का नाश करनेवाला अर्थात् सब प्रकार के पुरुषार्थ की अयोग्यता के सम्पादन द्वारा अत्यन्त अधम योनि की प्राप्ति करानेवाला है । वे त्रिविध द्वार कौन-से है ? कहते हैं -- काम, क्रोध और लोभ -- ये तीन प्रकार के द्वार हैं -- इनकी व्याख्या पूर्व में हो चुकी है । क्योंकि ये तीनों ही सब अनर्थों की मूल-जड़ हैं, इसलिए इन तीनों का ही त्याग करना चाहिए । इन तीनों के त्याग से ही सम्पूर्ण आसुरीसंपत् का भी त्याग सिद्ध है । उत्पन्न हुए काम, क्रोध और लोभ के कार्य को विवेक से रोक देना ही इन तीनों का त्याग है, इसके बाद इनकी उत्पत्ति ही नहीं होगी -- यह समझना चाहिए ॥ 21 ॥

48 इन तीनों के त्यागी को क्या होगा ? -- इसपर कहते हैं :--
[हे कौन्तेय ! नरक के द्वारभूत इन तीनों से मुक्त हुआ नर = पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है और उससे वह परम गति को प्राप्त होता है ॥ 22 ॥]

49 हे कौन्तेय[41] ! काम, क्रोध और लोभ -- इन तीन तमोद्वारों = नरक के द्वारों -- साधनों से विमुक्त--

41. तुम तो कामादि से विनिर्मुक्त कुन्ती के पुत्र होने से ही कामादि से विमुक्त हुए लौकिक सुख को भोगकर परागति -- मोक्ष को प्राप्त करने के लिए योग्य हो – यह सूचित करते हुए भगवान् ने अर्जुन को 'हे कौन्तेय !' कहकर सम्बोधित किया है ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं य यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ 28 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ 17 ॥

45 **अश्रद्धया यद्धुतं हवनं कृतमग्नौ दत्तं यद्ब्राह्मणेभ्यो यत्तपस्तप्तं यच्चान्यत्कर्म कृतं स्तुतिनमस्कारादि तत्सर्वमश्रद्धया कृतमसदसाध्वित्युच्यते । अत ओंतत्सदितिनिर्देशेन न तस्य साधुभावः शक्यते कर्तुं सर्वथा तदयोग्यत्वाच्छिलाया इवाङ्कुरः ।**

46 **तत्कस्मादसदित्युच्यते शृणु हे पार्थ । चो हेतौ । यस्मात्तदश्रद्धाकृतं न प्रेत्य परलोके फलति विगुणत्वेनापूर्वाजनकत्वात्, नो इह नापीह लोके यशः साधुभिर्निन्दितत्वात्, अतः ऐहिकामुष्मिकफलविकलत्वादश्रद्धाकृतस्य सात्त्विक्या श्रद्धयैव सात्त्विकं यज्ञादि कुर्यादन्तःकरणशुद्धये । तादृशस्यैव श्रद्धापूर्वकस्य सात्त्विकस्य यज्ञादेर्दैवाद्वैगुण्यशङ्कायां ब्रह्मणो नामनिर्देशेन साद्गुण्यं संपादनीयमिति परमार्थः । श्रद्धापूर्वकमसात्त्विकमपि यज्ञादि विगुणं ब्रह्मणो नामनिर्देशेन सात्त्विकं सगुणं च संपादितं भवतीति भाष्यम् ।**

47 **तदेवमस्मिन्नध्याय आलस्यादिनाऽनादृतशास्त्राणां श्रद्धापूर्वकं वृद्धव्यवहारमात्रेण प्रवर्तमानानां शास्त्रानादरेणासुरसाधर्म्येण श्रद्धापूर्वकानुष्ठानेन च देवसाधर्म्येण किमसुरा अमी देवा वेत्यर्जुन-**

[हे पार्थ ! अश्रद्धा से जो हवन किया जाता है, जो दान दिया जाता है, जो तप किया जाता है और जो कोई दूसरा कर्म किया जाता है वह सब 'असत्' कहा जाता है । वह न मरने पर और न इस लोक में ही कोई फल देनेवाला होता है ॥ 28 ॥]

45 अश्रद्धा से जो हुत अर्थात् अग्नि में हवन किया जाता है, जो ब्राह्मणों को दान दिया जाता है, जो तप किया जाता है, इनके अतिरिक्त अन्य जो कोई दूसरा स्तुतिनमस्कारादि कर्म किया जाता है वह सब अश्रद्धा से किया हुआ 'असत्' अर्थात् असाधु कहा जाता है । अतः 'ॐ तत् सत्' -- इस ब्रह्मनिर्देश से उसकी साधुता नहीं की जा सकती है, क्योंकि वह सर्वथा साधु होने के अयोग्य उसीप्रकार होता है जिसप्रकार पत्थर अंकुर उत्पन्न करने के सर्वथा अयोग्य होता है ।

46 वह 'असत्' क्यों कहा जाता है ? हे पार्थ ! सुनो, चकार हेतु अर्थ में है, क्योंकि वह अश्रद्धा से किया हुआ होता है, इसलिए वैगुण्य के कारण अपूर्व का जनक न होने से वह मरने पर परलोक में फल नहीं देता है और साधुपुरुषों से निन्दित होने के कारण इस लोक में भी यश नहीं देता है; अतः अश्रद्धापूर्वक किये हुए कर्म को ऐहिक -- लौकिक और आमुष्मिक -- पारलौकिक फल से विकल -- रहित होने के कारण असत् -- अकृत ही समझना चाहिए । इसीलिए अन्तःकरण की शुद्धि के लिए यज्ञादि सात्त्विक कर्मों को सात्त्विकी श्रद्धा से ही करना चाहिए । ऐसे श्रद्धापूर्वक किये हुए सात्त्विक यज्ञादि की ही, दैवयोग से वैगुण्य की शंका होने पर, ब्रह्म के नामनिर्देश द्वारा सद्गुणता -- सर्वाङ्गपूरणता का सम्पादन करना चाहिए -- यह परमार्थ है । श्रद्धापूर्वक किया हुआ असात्त्विक और विगुण यज्ञादि भी ब्रह्म के नामनिर्देश द्वारा सात्त्विक और सगुण हो जाता है -- यह भाष्य है ।

संशयविषयाणां राजसतामसश्रद्धापूर्वकं राजसतामसयज्ञादिकारिणोऽसुराः शास्त्रीयज्ञानसाधनानधिकारिणः सात्त्विकश्रद्धापूर्वकं सात्त्विकयज्ञादिकारिणस्तु देवाः शास्त्रीयज्ञानसाधनाधिकारिण इति श्रद्धात्रैविध्यप्रदर्शनमुखेनाऽऽहारादित्रैविध्यप्रदर्शनेन भगवता निर्णयः कृत इति सिद्धम् ॥ 28 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां श्रद्धात्रयविभागयोगविवरणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ 17 ॥

---

47 इसप्रकार इस अध्याय में -- आलस्यादि के कारण अनादृत -- उपेक्षित शास्त्रवालों और श्रद्धापूर्वक वृद्धव्यवहारमात्र से कर्म में प्रवृत्त होनेवालों में शास्त्र के अनादर से असुरसाधर्म्य है और श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करने से देवसाधर्म्य है -- इसप्रकार 'ये असुर हैं या देव हैं' ? -- ऐसे अर्जुन के संशय के विषय राजस -- तामस श्रद्धापूर्वक राजस- तामस यज्ञादि करनेवाले असुर हैं, वे शास्त्रीय ज्ञान के साधनों के अधिकारी नहीं है' और सात्त्विक श्रद्धापूर्वक सात्त्विक यज्ञादि करनेवाले तो देव हैं, वे शास्त्रीय ज्ञान के साधनों के अधिकारी हैं -- इनका श्रद्धा की त्रिविधता के प्रदर्शन द्वारा आहारादि की त्रिविधता के प्रदर्शन से भगवान् ने निर्णय किया है -- यह इससे सिद्ध होता है ॥ 28 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सप्तदश अध्याय समाप्त होता है ।

3 **किं संन्यासत्यागशब्दौ घटपटशब्दाविव भिन्नजातीयार्थौ किं वा ब्राह्मणपरिव्राजकशब्दाविवैक-जातीयार्थौ। यद्याद्यस्तर्हि त्यागस्य तत्त्वं संन्यासात्पृथग्वेदितुमिच्छामि। यदि द्वितीयस्तर्ह्यवान्तरोपाधिभेदमात्रं वक्तव्यम्। एकव्याख्यानेनैवोभयं व्याख्यातं भविष्यति।**

4 **महाबाहो केशिनिषूदनेति संबोधनाभ्यां बाह्योपद्रवनिवारणस्वरूपयोग्यताफलोपधाने प्रदर्शिते। हृषीकेशेत्यन्तरुपद्रवनिवारणसामर्थ्यमिति भेदः। अत्यनुरागात्संबोधनत्रयम्। अत्रार्जुनस्य द्वौ प्रश्नौ। कर्माधिकारिकर्तृकत्वेन पूर्वोक्तयज्ञादिसाधर्म्येण संन्यासशब्दप्रतिपाद्यत्वेन च गुणातीत-**

पृथक्-रूप से = सात्त्विक, राजस और तामस भेद से जानना चाहता हूँ। इसीप्रकार त्याग का तत्त्व-स्वरूप भी मैं पृथक्-पृथक्रूप से जानना चाहता हूँ।

3 क्या संन्यास और त्याग – ये दो शब्द घट और पट – इन दो शब्दों के समान भिन्नजातीय अर्थों के बोधक हैं अथवा ब्राह्मण और परिव्राजक -- इन दो शब्दों के समान एकजातीय अर्थों के बोधक हैं ? यदि प्रथम पक्ष है तो मैं संन्यास से पृथक् त्याग का तत्त्व-स्वरूप जानना चाहता हूँ। यदि द्वितीय पक्ष है तो अवान्तर उपाधिभेदमात्र वक्तव्य है। इसप्रकार एक के व्याख्यान से ही दोनों की व्याख्या हो जायेगी।

4 'महाबाहो[1]' और केशिनिषूदन[2] -- इन दो सम्बोधनों से बाह्य उपद्रवों के निवारण की स्वरूपयोग्यता[3] और फलोपधायकता[4] प्रदर्शित की है तथा 'हृषीकेश[5]' -- इस सम्बोधन से आन्तर उपद्रवों के निवारण का सामर्थ्य प्रकट किया है --यह इनमें भेद है। अत्यन्त अनुराग के कारण ये तीन सम्बोधन दिये गये हैं। यहाँ अर्जुन के दो प्रश्न हैं। इनमें प्रथम प्रश्न का बीज यह संशय है कि कर्माधिकारियों द्वारा किये जाने के कारण पूर्वोक्त यज्ञादि के साधर्म्य से त्रैगुण्य सम्भव है, किन्तु 'संन्यास' शब्द से प्रतिपाद्य होने के कारण गुणातीत और संन्यास – इन दोनों के साधर्म्य से त्रैगुण्य सम्भव नहीं

---

1. 'बाहू राजन्यः कृतः' (ऋग्वेद, 10.90.12) – इन मन्त्र के अनुसार आपकी बाहुओं से उत्पन्न क्षत्रिय महाबाहुओं के द्वारा किये हुए और उनसे भिन्न बाहु आदि से साध्य कर्म में अधिकारी अज्ञानियों के द्वारा किये हुए संन्यास और त्याग के तत्त्व-स्वरूप को मैं जानना चाहता हूँ – अर्जुन उक्त सम्बोधन से यही सूचित करते हैं।

2. (अ) केशिनिषूदन = केशी नामक दैत्य का वध करनेवाले = भगवान् का यह नाम इसलिए हुआ कि हय – अश्व की आकृतिवाला केशी नामक महान् दैत्य जब युद्ध में अपना मुख फैलाकर कृष्ण का भक्षण करने के लिए आया था तब उसके फैले हुए मुख में कृष्ण ने अपनी बायीं बाहु डालकर उसी बढ़ी हुई बाहु से ही तत्क्षण उसको कर्कटिका – ककड़ी के फल के समान चीरकर मार डाला था। इस दृष्टि से ही उनके लिए 'हे महाबाहो !' – यह सम्बोधन है (श्रीधरीटीका)।

(ब) स्वजनों के सुख के लिए केशी आदि दुष्टों का वध करनेवाले आपके अपने भक्त मेरे भी अज्ञानरूप दैत्य का निषूदन – विनाश करना युक्त ही है – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है (भाष्योत्कर्षदीपिका)।

3. कारणता दो प्रकार की होती है – स्वरूपयोग्यतारूपकारणता और फलोपधायकतारूपकारणता। इनमें 'स्वरूपयोग्यतारूपकारणता' वह है जिसमें कार्य के स्वरूप की योग्यता हो अर्थात् कार्य की जनकता हो (स्वरूपयोग्यत्वम् – जनकादित्वम् – तदवच्छेदकधर्मवत्त्वम्)। प्रकृत में 'महाबाहो' सम्बोधन से भगवान् में बाह्य उपद्रवों के निवारणरूप कार्य की स्वरूपयोग्यता – जनकता कही गई है।

4. 'फलोपधायकतारूपकारणता' वह है जिससे फल-कार्य निष्पन्न – उत्पन्न हो अर्थात् कार्योत्पत्ति हो (फलोपधायकत्वम् -- फलोपहितत्वम् – फलनिष्पादकत्वम्)। प्रकृत में 'केशिनिषूदन' सम्बोधन से भगवान् में बाह्य उपद्रवों के निवारणरूप कार्य की निष्पन्नता = फलोपधायकता कही गई है।

5. हे हृषीकेश ! हे समस्त हृषीक = इन्द्रियों के ईश-ईश्वर-नियामक = अन्तर्यामी–सर्वज्ञ ! आपके लिए मेरे अभिप्राय के अनुसार संन्यास और त्याग के तत्त्व – स्वरूप को पृथक्-पृथक् कहना अत्यन्त सरल है – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है।

संन्यासद्वयसाधर्म्येण त्रैगुण्यसंभवासंभवाभ्यां संशयः प्रथमस्य प्रश्नस्य बीजम् । द्वितीयस्य तु संन्यासत्यागशब्दयोः पर्यायत्वात्कर्मफलत्यागरूपेण च वैलक्षण्योक्तेः संशयो बीजम् ॥ 1 ॥

5 तत्रान्तिमस्य सूचिकटाहन्यायेन निराकरणायोत्तरम्–

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ 2 ॥

6 काम्यानां फलकामनया चोदितानामन्तःकरणशुद्धावनुपयुक्तानां कर्मणामिष्टिपशुसोमादीनां न्यासं त्यागं संन्यासं विदुर्जानन्ति कवयः सूक्ष्मदर्शिनः केचित् । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति वाक्येन वेदानुवचनशब्दोपलक्षितस्य ब्रह्मचारिधर्मस्य यज्ञदानशब्दाभ्यामुपलक्षितस्य गृहस्थधर्मस्य तपोनाशकशब्दाभ्यामुपलक्षितस्य वानप्रस्थधर्मस्य नित्यस्य नित्येन हि पापक्षयेण द्वारेणाऽऽत्मज्ञानार्थत्वं बोध्यते । न च विनियोग-

है । द्वितीय प्रश्न का बीज तो यह संशय है कि 'संन्यास' और 'त्याग' – ये दोनों शब्द पर्यायवाची होने से उनकी कर्मफलत्यागरूप से विलक्षणता कही गई है ॥ 1 ॥

5 उनमें से अन्तिम अर्थात् द्वितीय प्रश्न का सूचीकटाहन्याय[6] से निराकरण करने के लिए भगवान् उत्तर देते हैं :–

[श्रीभगवान् ने कहा – कविजन काम्यकर्मों के न्यास – त्याग को 'संन्यास' जानते हैं और विचक्षण – विद्वज्जन सब कर्मों के त्याग को 'त्याग' कहते हैं ॥ 2 ॥]

6 कविजन = कोई सूक्ष्मदर्शी जन काम्य = फल की कामना से चोदित-विहित और अन्तःकरण की शुद्धि में अनुपयुक्त इष्टि[7], पशु और सोम[8] आदि कर्मों के न्यास = त्याग को 'संन्यास' जानते हैं । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.22) = 'ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान और तपोऽनाशक से उस आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं' – इस श्रुतिवाक्य द्वारा 'वेदानुवचन' शब्द से उपलक्षित ब्रह्मचारी के धर्म की; 'यज्ञ और दान' – इन दो शब्दों से उपलक्षित गृहस्थ के धर्म की और 'तपोऽनाशक' शब्द से उपलक्षित वानप्रस्थ के धर्म की नित्यकर्म के द्वारा अर्थात् नित्यकर्म करने से पापक्षय के द्वारा आत्मज्ञानार्थता बोधित की गई है । ज्ञान

6. सूचीकटाहन्याय = सूई और कड़ाही का न्याय = यह न्याय उस समय प्रयुक्त किया जाता है, जब दो कार्य करने को हों – उनमें एक कठिन हो और दूसरा अपेक्षाकृत सरल हो, तो उससमय सरल कार्य को पहले किया जाता है, जैसे कि किसी व्यक्ति को जब सूई और कड़ाही – दो वस्तुएँ बनानी हैं, तो वह पहले सूई बनायेगा, क्योंकि कड़ाही की अपेक्षा सूई का बनाना सरल अर्थात् अल्पश्रमसाध्य – अल्पसमयसाध्य है । इसी न्याय के अनुसार प्रकृत में भी भगवान् को अर्जुन के दो प्रश्नों के उत्तर देने हैं, उनमें से प्रथम प्रश्न का समाधान न देकर भगवान् द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हैं, क्योंकि वह प्रथम से अपेक्षाकृत सुकर है ।

7. 'इष्टि' शब्द का अर्थ है ऐसा यज्ञ जो यजमान = याज्ञिक और उसकी पत्नी द्वारा चार पुरोहितों की सहायता से सम्पादित होता है ।

8. 'सोमयज्ञ' के सात प्रकार है – अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोड़शी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम । अग्निष्टोम को सोमयज्ञों का आदर्शरूप मान लिया गया है । ये सोमयज्ञ कई प्रकार के हैं – जैसे 'एकाह' – एक दिनवाला, 'अहीन' – एक दिन से लेकर बारह दिनों तक चलनेवाला और 'सत्र' – जो बारह दिन से अधिक दिन चलता है ।

अथाष्टादशोऽध्यायः

1 **पूर्वाध्याये श्रद्धात्रैविध्येनाऽऽहारयज्ञतपोदानत्रैविध्येन च कर्मिणां त्रैविध्यमुक्तं सात्त्विकानामादानाय राजसतामसानां च हानाय। इदानीं तु संन्यासत्रैविध्यकथनेन संन्यासिनामपि त्रैविध्यं वक्तव्यम्। तत्र तत्त्वबोधानन्तरं यः फलभूतः सर्वकर्मसंन्यासः स चतुर्दशेऽध्याये गुणातीतत्वेन व्याख्यातत्वान्न सात्त्विकराजसतामसभेदमर्हति । योऽपि तत्त्वबोधात्प्राक्तदर्थं सर्वकर्मसंन्यासस्तत्त्वबुभुत्सया वेदान्तवाक्यविचाराय भवति सोऽपि 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यादिना निर्गुणत्वेन व्याख्यातः । यस्त्वनुत्पन्नतत्त्वबोधानामनुत्पन्नतत्त्वबुभुत्सानां च कर्मसंन्यासः 'स संन्यासी च योगी च' इत्यादिना गौणो व्याख्यातस्तस्य त्रैविध्यसंभवात्तद्विशेषं बुभुत्सुः--**

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ 1 ॥

2 **अविदुषामनुपजातविविदिषाणां च कर्माधिकृतानामेव किंचित्कर्मपरिग्रहेण किंचित्कर्मपरित्यागो यः स त्यागांशगुणयोगात्संन्यासशब्देनोच्यते। एतादृशस्यान्तःकरणशुद्ध्यर्थमविद्वत्कर्माधिकारिकर्तृकस्य संन्यासस्य केनचिद्रूपेण कर्मत्यागस्य तत्त्वं स्वरूपं पृथक्सात्त्विकराजसतामसभेदेन वेदितुमिच्छामि । त्यागस्य च तत्त्वं वेदितुमिच्छामि ।**

1 पूर्व अध्याय में सात्त्विकों के ग्रहण और राजस-तामसों के त्याग के लिए श्रद्धा की त्रिविधता तथा आहार, यज्ञ, तप और दान – इनकी त्रिविधता के द्वारा कर्मियों की त्रिविधता को कहा । अब तो संन्यास की त्रिविधता के कथन से संन्यासियों की भी त्रिविधता वक्तव्य है । उसमें तत्त्वज्ञान के अनन्तर जो फलभूत सब कर्मों का संन्यास-त्याग है उसकी चौहदवें अध्याय में गुणातीतरूप से व्याख्या की गई है, अत: वह सात्त्विक, राजस और तामस भेद के योग्य नहीं है । जो भी तत्त्वज्ञान से पूर्व तत्त्वज्ञान के लिए सब कर्मों का संन्यास – त्याग है वह तत्त्वज्ञान की इच्छा से वेदान्तवाक्य के विचार के लिए होता है उसकी भी 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' (गीता, 2.45) = 'हे अर्जुन ! वेद त्रैगुण्यविषयक हैं, तुम निस्त्रैगुण्य होओ' -- इत्यादि द्वारा निर्गुणरूप से व्याख्या की गई है । जो तो जिनको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है और न तत्त्वजिज्ञासा ही उत्पन्न हुई है उन पुरुषों का कर्मसंन्यास है उसकी 'स संन्यासी च योगी च' -- इत्यादि द्वारा गौणरूप से व्याख्या की गई है अतएव उसकी त्रिविधता संभव है, इसलिए उस विशेष को जानने की इच्छा से अर्जुन ने कहा :--

[अर्जुन ने कहा -- हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! मैं संन्यास और त्याग का तत्त्व पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ॥ 1 ॥]

2 जिनको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है और न विविदिषा -- जिज्ञासा -- तत्त्वजिज्ञासा ही उत्पन्न हुई है उन कर्माधिकारियों का ही जो किसी कर्म के ग्रहणपूर्वक किसी कर्म का परित्याग है वह त्यागांशरूप गुण के योग से 'संन्यास' शब्द से कहा जाता है । अन्त:करणशुद्धि के लिए अविद्वान् कर्माधिकारियों द्वारा किये हुए इसप्रकार के संन्यास का = किसी रूप से कर्मत्याग का तत्त्व = स्वरूप मैं पृथक्-

वैयर्थ्यं 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इत्यनेनैव लब्धत्वादिति वाच्यं, विनियोगाभावे हि सत्यपि नित्यकर्मानुष्ठाने ज्ञानं स्याद्वा न वा स्यात्, सति तु विनियोगे ज्ञानमवश्यं भवेदेवेति नियमार्थत्वात् । तस्मान्नित्यकर्मणामेव वेदने विविदिषायां वा विनियोगात्सत्त्वशुद्धि-विविदिषोत्पत्तिपूर्वकवेदनार्थिना नित्यान्येव कर्माणि भगवदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठेयानि । काम्यानि तु सर्वाणि सफलानि परित्याज्यानीत्येकं मतम् ।

7 **अपरं मतं सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः, सर्वेषां काम्यानां नित्यानां च प्रतिपदोक्त-फलत्यागं सत्त्वशुद्ध्यर्थितया विविदिषासंयोगेनानुष्ठानं विचक्षणा विचारकुशलास्त्यागं प्राहुः । 'खादिरो यूपो भवति' 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं करोति' इत्यत्र यथैकस्य खादिरत्वस्य क्रतुप्रकरणपाठात्फलसंयोगाच्च क्रत्वर्थत्वं पुरुषार्थत्वं च प्रमाणभेदात्तथाऽग्निहोत्रेष्टिपशुसोमानां सर्वेषामपि शतपथपठितानां स्वोत्पत्तिविधिसिद्धानां तत्तत्फलसंयोगः प्रत्येकवाक्येन विविदिषा-संयोगश्च यज्ञादिवाक्येन क्रियत इत्युपपन्नमेकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमिति न्यायात् । तदुक्तं संक्षेपशारीरके—**

के लिए नित्यकर्मों का विनियोग करना व्यर्थ है, क्योंकि 'पाप-कर्मों' का क्षय होने से पुरुषों का ज्ञान उत्पन्न होता है' – इससे ही उक्तार्थ प्राप्त होता है – यह नहीं कहना चाहिए, कारण कि विनियोग न करने पर नित्यकर्मों का अनुष्ठान करने पर भी ज्ञान होगा अथवा नहीं होगा – ऐसा संशय बना रहेगा, किन्तु विनियोग करने पर तो ज्ञान अवश्य ही होगा, क्योंकि इस नियम के लिए ही नित्यकर्मों का विनियोग है; अत: ज्ञान अथवा विविदिषा – जिज्ञासा में नित्यकर्मों का ही विनियोग विहित होने के कारण सत्त्वशुद्धि – अन्त:करणशुद्धि और विविदिषा – जिज्ञासा की उत्पत्तिपूर्वक वेदनार्थी -- ज्ञानार्थी को भगवदर्पणबुद्धि से नित्यकर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए । काम्य कर्मो का तो उनके फलसहित परित्याग करना चाहिए – यह एक मत है ।

7 दूसरा मत है – 'सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा:' = विचक्षण = विचारकुशल पुरुष समस्त काम्य और नित्य कर्मों के पृथक्-पृथक् कहे हुए फलों के त्याग को -- अन्त:करणशुद्धिरूप प्रयोजनवाले होकर विविदिषा -- जिज्ञासा के संयोग से उनका अनुष्ठान करने को 'त्याग' कहते हैं । 'खादिरो यूपो भवति' = 'खादिर यूप होता है', 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं करोति' = 'वीर्यकामी के लिए खादिर यूप बनाता है' – इत्यादि में जैसे एक ही खादिरत्व का यज्ञ के प्रकरण में पाठ होने से और फल का संयोग होने से प्रमाणभेद के कारण यज्ञार्थत्व और पुरुषार्थत्व -- दोनों सिद्ध होते हैं, वैसे ही शतपथ श्रुति में पठित और अपनी उत्पत्तिविधि[9] से सिद्ध अग्निहोत्र, इष्टि, पशु और सोम-- सभी का प्रत्येक वाक्य के द्वारा उस-उस फल से संयोग कर दिया जाता है और 'यज्ञेन दानेन' -- इत्यादि वाक्य द्वारा विविदिषा से संयोग कर दिया जाता है -- वह उचित ही है, क्योंकि इसमें मीमांसासूत्र प्रमाण है – 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्[10]' (मीमांसादर्शन, 4.3.5) = 'जहाँ एक

9. 'कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधि:' (अर्थसंग्रह) = जो विधि केवल कर्म के स्वरूप का बोध कराती है वह 'उत्पत्तिविधि' कही जाती है । जैसे – 'अग्निहोत्रं जुहोति' -- यह वाक्य उत्पत्तिविधि हैं । इस विधि में कर्म का करणरूप में अन्वय होता है । इसप्रकार इसका बोधगम्य मीमांसासम्मत अर्थ होता है – अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेत्' = 'अग्निहोत्र नामक होम के द्वारा इष्ट का सम्पादन करे ।

10. 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' (मीमांसादर्शन, 4.3.5) = एक ही द्रव्यादि के उभयार्थत्व में अधिकारवाक्यों का पृथक्-पृथक् होना ही नियामक है । जैसे – 'दध्ना जुहोति' – इस वाक्य से 'दधि' में क्रत्वर्थता – यज्ञार्थता और 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' – इस वाक्य से 'दधि' में पुरुषार्थत्व का विधान होता है । वैसे ही प्रकृत में

'यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा
स्वोत्पत्त्याम्नातसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति ॥' इति ।

तस्मात्काम्यान्यपि फलाभिसंधिमकृत्वाऽन्तःकरणशुद्धये कर्तव्यानि । न ह्यग्निहोत्रादिकर्मणां स्वतः काम्यत्वनित्यत्वरूपो विशेषोऽस्ति । पुरुषाभिप्रायभेदकृतस्तु विशेषः फलाभिसंधित्यागे कुतस्त्यः । नित्यकर्मणां च प्रातिस्विकफलसद्भावम् 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्' इत्यत्र वक्ष्यति ।

8 नित्यानामेव विविदिषासंयोगेन काम्यानां कर्मणां फलेन सह स्वरूपतोऽपि परित्यागः पूर्वार्धस्यार्थः । काम्यानां नित्यानां च संयोगपृथक्त्वेन विविदिषासंयोगात्तदर्थं स्वरूपतोऽनुष्ठानेऽपि प्रातिस्विक - फलाभिसंधिमात्रपरित्याग इत्युत्तरार्धस्यार्थः । तदेतदाहुर्वार्तिककृतः--

'वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने ।
तमेतमिति वाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥
यद्वा विविदिषार्थत्वं सर्वेषामपि कर्मणाम् ।
तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ॥' इति ।

पदार्थ के दो प्रयोजन होते हैं वहाँ उन प्रयोजनों के साथ उसके पृथक्-पृथक् संयोग मानने चाहिए', इसीप्रकार संक्षेपशारीरक में भी कहा है --

''यज्ञेन दानेन'--इत्यादि वाक्य शतपथश्रुति में विहित और अपनी उत्पत्तिविधि से सिद्ध एकाहादि कर्म-समूह को ग्रहण कर पुरुष को विविदिषारूप साध्य में नियुक्त करता है[11]'' (संक्षेपशारीरक, 1.64) । अत: काम्यकर्मों को भी फल की कामना से न करते हुए अन्त:करण की शुद्धि के लिए करना चाहिए । अग्निहोत्रादि कर्मों में स्वत: काम्यत्व और नित्यत्वरूप भेद नहीं है, किन्तु पुरुष के अभिप्राय के भेद से हुआ भेद है, फलाभिसन्धि का त्याग करने पर दोनों में भेद कहाँ रह सकता है ? नित्यकर्मों के प्रातिस्विक = अपने-अपने फल की सत्ता का निरूपण 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्' (गीता, 18.12) -- इत्यादि में कहेंगे ।

8 इसप्रकार नित्यकर्मों का ही विविदिषा से संयोग होने के कारण काम्य कर्मों का फल के साथ स्वरूप से भी परित्याग विवक्षित है -- यह पूर्वार्ध का अर्थ है । काम्य और नित्यकर्मों का संयोग-पृथक्त्व-न्याय से विविदिषा के साथ संयोग होने से उस-उस प्रयोजन के लिए उनका स्वरूपत: अनुष्ठान करने पर भी उनके अपने-अपने फल की इच्छामात्र का परित्याग विविक्षित है – यह उत्तरार्ध का अर्थ है । यही वार्तिककार ने कहा है --

'यजेत स्वर्गकाम:' आदि वाक्यों से यागादि में स्वर्गार्थत्व और 'यज्ञेन दानेन...? इत्यादि से अन्त:करणशुद्ध्यर्थत्व का प्रतिपादन होता है ।

11. प्रकृत में प्रश्न है– 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' – इत्यादि श्रुति सब कर्मों का उपयोग विविदिषा – जिज्ञासा = ब्रह्मजिज्ञासा – आत्मजिज्ञासा में बतलाती है, किन्तु स्वर्गादि के उद्देश्य से विहित कर्मों का उपयोग विविदिषा में कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर है – प्रत्येक कर्म का उत्पत्तिवाक्य केवल कर्म के स्वरूप का बोधक होता है और अधिकार-वाक्य फल का सम्बन्ध बतलाता है । उत्पत्तिवाक्य से बोधित एक ही कर्म का विनियोग भिन्न-भिन्न अधिकारवाक्य के संयोग से भिन्न-भिन्न फलों के उद्देश्य से कर सकते हैं -- इसको ही 'संयोगपृथक्त्व' न्याय कहते हैं । प्रकृत में उत्पत्तिवाक्य से अवगत यज्ञादि का ही विनियोग 'यज्ञेन' यह श्रुति अन्त:करणशुद्धि में करती है, स्वर्गादि में विनियुक्त कर्मों का नहीं करती है जिससे कि विनियुक्त विनियोगादि दोष की सम्भावना हो -- यह भाव है ।

तदेवं सफलकाम्यकर्मत्यागः संन्यासशब्दार्थः । सर्वेषामपि कर्मणां फलाभिसंधित्यागस्त्याग-शब्दार्थ इति न घटपटशब्दयोरिव संन्यासत्यागशब्दयोर्भिन्नजातीयार्थत्वं किं त्वन्तःकरणशुद्ध्यर्थ-कर्मानुष्ठाने फलाभिसंधित्याग इत्येक एवार्थ उभयोरिति निर्णीत एकः प्रश्नोऽर्जुनस्य ॥ 2 ॥

9 **अधुना द्वितीयप्रश्नप्रतिवचनाय संन्यासत्यागशब्दार्थस्य त्रैविध्यं निरूपयितुं तत्र विप्रतिपत्तिमाह–**

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ 3 ॥

10 **सर्वं कर्म बन्धहेतुत्वाद्दोषवद्दुष्टमतः कर्माधिकृतैरपि कर्म त्याज्यमेवेत्येके मनीषिणः प्राहुः । यद्वा दोषवद्दोष इव, यथा दोषो रागादिस्त्यज्यते तद्वत्कर्म त्याज्यमनुत्पन्नबोधैरनुत्पन्नविविदिषैः कर्माधिकारिभिरपीत्येकः पक्षः । अत्र द्वितीयः पक्षः कर्माधिकारिभिरन्तःकरणशुद्धिद्वारा विविदि-षोत्पत्त्यर्थं यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे मनीषिणः प्राहुः ॥ 3 ॥**

"तमेतं ब्राह्मणा वेदानुवचनेन' – इत्यादि वाक्य द्वारा वेदानुवचनादि नित्य कर्मों की ऐकात्म्यज्ञान की उत्पत्ति में विधि कही गई है । अथवा, तमेतम्' -- इत्यादि वाक्य द्वारा संयोग-पृथक्त्व-न्याय से काम्य और नित्य – सभी कर्मों को विविदिषा के लिए कहा गया है" ।

इसप्रकार 'संन्यास' शब्द का अर्थ फलसहित काम्य कर्मों का त्याग है और 'त्याग' शब्द का अर्थ सभी प्रकार के कर्मों की फलाभिसन्धि – फलाकांक्षा का त्याग है । अतः 'संन्यास' और 'त्याग'-- ये दो शब्द 'घट' और 'पट' – इन दो शब्दों के समान भिन्न-जातीयार्थक नहीं है, किन्तु अन्तः-करणशुद्धि के लिए कर्मानुष्ठान में फलाभिसन्धि -- फलाकांक्षा का त्याग -- यह एक ही अर्थ दोनों का है – इसप्रकार अर्जुन के एक प्रश्न का निर्णय हुआ ॥ 2 ॥

9 अब द्वितीय प्रश्न का उत्तर देने के लिए संन्यास और त्याग – इन दोनों शब्दों के अर्थ की त्रिविधता का निरूपण करने के लिए उसमें विप्रतिपत्ति कहते हैं :–

[कोई मनीषी -- विद्वान् यह कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं अतएव सबका त्याग ही करना चाहिए । कोई दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए ॥ 3 ॥]

10 सब कर्म बन्धन के हेतु होने से दोषयुक्त = दुष्ट हैं अतः कर्माधिकारियों को भी सब कर्मों का त्याग ही करना चाहिए – इसप्रकार कोई मनीषी--विद्वान् कहते हैं[12] । अथवा, दोषवत् = दोष के समान अर्थात् जैसे रागादि दोषों का त्याग किया जाता है, वैसे ही जिनको ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है और न विविदिषा-- जिज्ञासा ही उत्पन्न हुई है उन कर्माधिकारियों को भी कर्मों का त्याग करना चाहिए-- यह एक पक्ष है । यहाँ दूसरा पक्ष है-- कर्माधिकारियों को अन्तःकरणशुद्धि द्वारा विविदिषा

---

12. कोई मनीषी – विद्वान् = सांख्यमतावलम्बी पुरुष कहते हैं कि सब कर्म हिंसादि दोषों से युक्त होने के कारण बन्धक है अतएव त्याज्य हैं । भाव यह है – 'न हिंस्यात्सर्वभूतानि' = 'किसी भी प्राणी की हिंसा न करे'- यह निषेध वाक्य कहता है कि हिंसा मनुष्य के लिए अनर्थ का हेतु है, किन्तु 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' – इत्यादि प्राकरणिक विधिवाक्य हिंसा को यज्ञ के लिए उपकारक कहते हैं, अतः भिन्नविषयक वाक्य होने से 'सामान्य वचन की अपेक्षा विशेष वचन बलवान् होता है'– इस न्याय का विषय न होने के कारण इनमें परस्पर बाध्यबाधकभाव नहीं है और द्रव्यसाध्य सब कर्मों में हिंसादि दोष संभव होने से सभी कर्म त्याज्य ही हैं । कहा भी है– 'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' (सांख्यकारिका, 2) = 'आनुश्रविक– वैदिक कर्मकलापरूप उपाय

11 एवं विप्रतिपत्तौ–

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ 4 ॥

12 तत्र त्वया पृष्टे कर्माधिकारिकर्तृके संन्यासत्यागशब्दाभ्यां प्रतिपादिते त्यागे फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागे मे मम वचनान्निश्चयं पूर्वाचार्यैः कृतं शृणु हे भरतसत्तम । किं तत्र दुर्ज्ञेयमस्तीत्यत आह– हे पुरुषव्याघ्र पुरुषश्रेष्ठ हि यस्मात्त्यागः कर्माधिकारिकर्तृकः फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागस्त्रिविधिस्त्रिप्रकारस्तामसादिभेदेन संप्रकीर्तितः । अथवा विशिष्टाभावरूपस्त्यागो विशेषणाभावाद्विशेष्याभावादुभयाभावाच्च त्रिविधः संप्रकीर्तितः । तथाहि- फलाभिसंधिपूर्वक - कर्मत्यागः सत्यपि कर्मणि फलाभिसंधित्यागादेकः, सत्यपि फलाभिसंधौ कर्मत्यागाद्द्वितीयः, फलाभिसंधेः कर्मणश्च त्यागात्तृतीयः । तत्र प्रथमः सात्त्विक आदेयः । द्वितीयस्तु हेयो द्विविधः,

– जिज्ञासा की उत्पत्ति के लिए यज्ञ, दान और तप -- इन कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए – इसप्रकार कोई दूसरे मनीषी–विद्वान् कहते हैं[13] ॥ 3 ॥

11 इसप्रकार विप्रतिपत्ति होने पर --

[हे भरतसत्तम ! हे भरतश्रेष्ठ ! उस त्याग के विषय में तुम मेरा निश्चय सुनो । हे पुरुषव्याघ्र ! हे पुरुषसिंह ! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है ॥ 4 ॥]

12 हे भरतसत्तम[14] ! हे भरतकुलश्रेष्ठ ! तत्र = तुम्हारे द्वारा पूछे हुए कर्माधिकारियों द्वारा किये जानेवाले तथा संन्यास और त्याग – इन दो शब्दों द्वारा प्रतिपादित त्याग = फलाभिसन्धि - फलाकांक्षापूर्वक कर्मत्याग के विषय में पूर्वाचार्यों द्वारा किये हुए निश्चय को तुम मेरे वचन से सुनो । क्या उसमें दुर्ज्ञेय -- गूढ़वेद्य है ? इस जिज्ञासा से कहते हैं – हे पुरुषव्याघ्र[15] ! हे पुरुषश्रेष्ठ[16] ! हि = यस्मात्

भी दृष्ट–लौकिक उपायों के सदृश ही दु:खत्रय की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति करने में असमर्थ है, क्योंकि वह अशुद्धि, क्षय-विनाश और अतिशय – न्यूनाधिक्य – तारतम्य दोष से युक्त-व्याप्त-विद्ध है' (श्रीधरीटीका) ।

13. कोई दूसरे मनीषी – विद्वान् = मीमांसक कहते हैं कि यज्ञादि कर्म त्याज्य नहीं है । भाव यह है – यज्ञार्थक होने पर भी यह हिंसा पुरुष के ही द्वारा की जाती है और वह हिंसा अन्य के उद्देश्य से भी की जाने पर पुरुष के लिए प्रत्यवाय की हेतु है ही; जिसप्रकार पुरुष के उद्देश्य से ही विधिविहित कर्म का अनुष्ठान होता है, क्योंकि सब अङ्गभूत कर्म पुरुष की अभीष्टसिद्धि के लिए ही किये जाते हैं । इसीप्रकार निषेध यह अपेक्षा नहीं करता कि निषेध कर्म पुरुष के लिए ही हो, क्योंकि वह प्राप्तिमात्र की अपेक्षा करता है । अन्यथा अज्ञान और प्रमाद से किये हुए कर्म में दोष के अभाव का प्रसंग होगा । इसप्रकार विधि और निषेध समानविषयक होने पर भी विशेष शास्त्र से सामान्यशास्त्र का बाध हो जाता है, अत: यज्ञादि कर्म दोषयुक्त नहीं है अतएव नित्य यज्ञादि कर्म त्याज्य नहीं हैं – इसप्रकार इससे सामान्यविशेषन्याय का उपपादन करने के लिए विधि और निषेध की समानबलता का निषेध किया जाता है ।

14. हे भरतसत्तम ! हे भरतवंशीय क्षत्रियश्रेष्ठों में सर्वश्रेष्ठ अर्जुन ! तुम क्षत्रियश्रेष्ठों द्वारा कर्तव्य त्याग और संन्यास के विषय में मेरा कहा हुआ निश्चय सुनो – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

15. न केवल क्षत्रियश्रेष्ठों द्वारा ही कर्त्तव्य त्याग और संन्यास – इन दो शब्दों के अर्थ के विषय में मैं अपना निश्चय कह रहा हूँ अपितु दूसरे भी पुरुषश्रेष्ठों द्वारा अर्थात् कर्माधिकारी अज्ञ पुरुषों द्वारा कर्तव्य त्याग और संन्यास के विषय में भी मेरा निश्चय सुनो – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

16. 'व्याघ्र: स्यात् पुंसि शार्दूले रक्तैरण्डकरण्डयो: ।
श्रेष्ठे नरादुत्तरस्थ: कण्टकाचार्ययोषिति ॥

इस मेदिनी कोष के अनुसार नरादि शब्दों के साथ उत्तर में प्रयुक्त 'व्याघ्र' शब्द ' श्रेष्ठ' का वाचक होता है । तदनुसार 'पुरुषश्रेष्ठ' – यह सम्बोधन है ।

दुःखबुद्ध्या कृतो राजसः, विपर्यासेन कृतस्तामसः । एतावान्कर्माधिकारिकर्तृकस्त्यागोऽर्जुनस्य प्रश्नविषयः । तृतीयस्तु कर्मानधिकारिकर्तृको नैर्गुण्यरूपो नार्जुनप्रश्नविषयः । सोऽपि साधनफलभेदेन द्विविधः । तत्र सात्त्विकेन फलाभिसंधित्यागपूर्वककर्मानुष्ठानरूपेण त्यागेन शुद्धान्तःकरणस्योत्पन्नविविदिषस्याऽऽत्मज्ञानसाधनश्रवणाख्यवेदान्तविचाराय फलाभिसंधिरहित-स्यान्तःकरणशुद्धौ सत्यां तत्साधनस्य कर्मणो वैतुष्ये जात इवावहननस्य परित्यागः । स एकः साधमभूतो विविदिषासंन्यास उच्यते । तमग्रे नैष्कर्म्यसिद्धिं परमामिति वक्ष्यति । द्वितीयस्तु जन्मान्तरकृतसाधनाभ्यासपरिपाकादस्मिञ्जन्मन्यादावेवोत्पन्नात्मबोधस्य कृतकृत्यस्य स्वत एव फलाभिसंधेः कर्मणश्च परित्यागः फलभूतः । स विद्वत्संन्यास इत्युच्यते । स तु यस्त्वात्मरतिरेव स्यादित्यादिश्लोकाभ्यां प्राग्व्याख्यातः । स्थितप्रज्ञलक्षणादिभिश्च बहुधा प्रपञ्चितः । यस्मादेवं त्यागस्य तत्त्वं दुर्ज्ञेयं त्वया चोक्तं तत्त्वं वेदितुमिच्छामीति, अतो मम सर्वज्ञस्य वचनाद्वि-द्धीत्यभिप्रायः । संबोधनद्वयेन कुलनिमित्तोत्कर्षः पौरुषनिमित्तोत्कर्षश्च योग्यतातिशय-सूचनायोक्तः ॥ 4 ॥

= क्योंकि कर्माधिकारियों द्वारा किया हुआ फलाभिसन्धिपूर्वक त्याग = कर्मत्याग त्रिविध = सात्त्विक, राजस और तामस – भेद से तीन प्रकार का कहा गया है । अथवा, विशिष्टाभावरूप त्याग विशेषणाभाव, विशेष्याभाव और विशेषण-विशेष्याभाव -- भेद से तीन प्रकार का कहा गया है, जैसे – फलाभिसन्धिपूर्वक कर्मत्याग ही कर्म के रहते हुए भी फलाभिसन्धि के त्याग से एक प्रकार का है; फलाभिसन्धि के रहते हुए भी कर्मत्याग करने से दूसरे प्रकार का है तथा फलाभिसन्धि और कर्म – इन दोनों का त्याग करने से तीसरे प्रकार का है । इनमें प्रथम सात्त्विक त्याग तो उपादेय – ग्राह्य है; किन्तु द्वितीय हेय -- त्याज्य है, वह दो प्रकार का है – दु:खबुद्धि से किया हुआ त्याग 'राजस' है और विपर्यास -- विपर्यय – भ्रम से किया हुआ त्याग 'तामस' है । इतना कर्माधिकारियों द्वारा किया जानेवाला त्याग ही अर्जुन के प्रश्न का विषय है; तृतीय जो कर्म के अनधिकारियों द्वारा किया जानेवाला नैर्गुण्य -- निर्गुणतारूप त्याग है वह अर्जुन के प्रश्न का विषय नहीं है, वह भी साधन और फल के भेद से दो प्रकार का है । उसमें फलाभिसन्धित्यागपूर्वक कर्मानुष्ठानरूप सात्त्विक त्याग से जिसका अन्त:करण शुद्ध हो गया है और जिसको आत्मज्ञान के साधन श्रवणसंज्ञक वेदान्त विचार के लिए विविदिषा उत्पन्न हो गई है उस फलाभिसन्धिरहित पुरुष के अन्त:करण की शुद्धि हो जाने पर तुष -- भूसी हटने पर जैसे धान के अवहनन -- धान के कूटने की क्रिया निवृत्त हो जाती है वैसे ही अन्त:करणशुद्धि से लेकर विविदिषोत्पत्तिपर्यन्त के साधन कर्म का जो परित्याग – त्याग होता है वह एक साधनभूत 'विविदिषासंन्यास' कहा जाता है । इसको आगे 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमाम्' (गीता, 18.49) -- इत्यादि से कहेंगे । किन्तु जिसको पूर्व जन्मों में किये हुए साधनों के अभ्यास के परिपाक से इस जन्म के आरम्भ में ही आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है अतएव जो कृतकृत्य है उसका स्वत: ही फलाभिसन्धि और कर्म का फलभूत जो परित्याग -- त्याग होता है वह द्वितीय 'विद्वत्संन्यास' कहा जाता है । इसकी तो 'यस्त्वात्मरतिरेव स्याद्...' (गीता, 3.17-18) -- इत्यादि दो श्लोकों से पूर्व में व्याख्या की गई हैं और स्थितप्रज्ञ के लक्षणादि से भी इसका बहुत प्रकार से विवेचन किया गया है । क्योंकि इसप्रकार त्याग का तत्त्व -- स्वरूप दुर्ज्ञेय -- गूढ़वेद्य है और तुमने कहा है कि मैं उस तत्त्व -- स्वरूप को जानना चाहता हूँ, इसलिए मुझ सर्वज्ञ के वचन से उसको

13 **कोऽसौ निश्चयो विप्रतिपत्तिकोटिभूतयोः पक्षयोर्द्वितीयः पक्ष इत्याह द्वाभ्याम्–**

यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ 5 ॥

14 **चो हेतौ । यस्माद्यज्ञदानतपांसि मनीषिणामकृतफलाभिसंधीनां पावनानि ज्ञानप्रतिबन्धकपापमलक्षालनेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपपुण्यगुणाधानेन च शोधकानि । अकृतफलाभिसंधीनामेव यज्ञदानतपांस्येव शोधकानि भवन्त्येव । उपाधिशुद्ध्यैवोपहितशुद्धिरत्राभिप्रेता । तस्मादन्तःकरणशुद्ध्यर्थिभिः कर्माधिकृतैर्यज्ञो दानं तप इति यत्फलाभिसंधिरहितं कर्म तन्न त्याज्यं किं तु कार्यमेव तत् । अत्याज्यत्वेन कार्यत्वे लब्धेऽप्यत्यादरार्थं पुनः कार्यमेवेत्युक्तम् । यस्मात्कार्यं कर्तव्यतया विहितं तस्मान्न त्याज्यमेवेति वा ॥ 5 ॥**

जानो – यह अभिप्राय है । हे भरतसत्तम[17] ! और हे पुरुषव्याघ्र[18] ! – इन दो सम्बोधनों से क्रमशः कुलनिमित्तक उत्कर्ष और पुरुषार्थनिमित्तक उत्कर्ष को अर्जुन की योग्यता के अतिशय – उत्कर्ष की सूचना के लिए कहा गया है ॥ 4 ॥

13 विप्रतिपत्तिकोटिभूत दोनों पक्षों में से आपका निश्चय क्या है ? द्वितीय पक्ष ही मेरा निश्चय है – यह दो श्लोकों से कहते हैं :--

[यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याज्य नहीं हैं, उनको करना ही चाहिए, क्योंकि यज्ञ, दान और तप – ये तीनों ही मनीषी – बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करनेवाले हैं ॥ 5 ॥]

14 यहाँ 'च' शब्द हेतु अर्थ में है । च = यस्मात् = क्योंकि यज्ञ, दान और तप -- ये तीनों ही मनीषियों = फलाभिसन्धि – फलाकांक्षा न करनेवालों को पवित्र करनेवाले = ज्ञान के प्रतिबन्धक पापरूप मल के प्रक्षालन से और ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूप पुण्यगुणों के आधान से शुद्ध करनेवाले है[19] । जो फलाभिसन्धि -- फलाकांक्षा नहीं करते हैं उनके ही यज्ञ, दान और तप ही शोधक ही होते है[20] । उपाधि की शुद्धि से ही उपहित की शुद्धि यहाँ अभिप्रेत है[21] । अतः अन्तःकरणशुद्धि के इच्छुक कर्माधिकारियों को यज्ञ, दान और तप -- ये जो फलाभिसन्धिरहित कर्म हैं उनका त्याग नहीं करना चाहिए, किन्तु उनको करना चाहिए । 'त्याग नहीं करना चाहिए' -- इतना कहने से ही 'करना चाहिए' -- यज्ञादि की कार्यता प्राप्त

---

17. हे भरतवंश में श्रेष्ठतम ! उच्चकुल में उत्पन्न होने के कारण तुमको कुलनिमित्तक उत्कर्ष प्राप्त है अतएव तुममें तत्त्ववचन का श्रवण और उसका अवधारण करने की योग्यता है-- यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

18. 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (पाणिनिसूत्र, 2.1.55) = 'उपमेय का व्याघ्रादि शब्दों के साथ 'कर्मधारय' समास होता है, सामान्य गुण या धर्मबोधक शब्द का उल्लेख नहीं होना चाहिए' – इस सूत्र के अनुसार 'पुरुषो व्याघ्र इव = पुरुषव्याघ्रः' = 'व्याघ्र के समान वीर पुरुष' -- यह समासविग्रह करने पर 'पुरुषव्याघ्र' सम्बोधन से अर्जुन के पुरुषार्थनिमित्तक उत्कर्ष को कहा गया है, अतएव उसमें भगवद्वचन के श्रवण की योग्यता भी सूचित की गई है ।

19. शुद्धि दो प्रकार की होती है – बाह्य और आन्तर । 'बाह्य' शुद्धि देह के मलादि के प्रक्षालन से होती है – जिसके लिए स्नानादि साधन होते हैं । 'आन्तर' शुद्धि ज्ञान के प्रतिबन्धक पापरूप मल के प्रक्षालन से होती है – जिसके लिए स्नानोत्तर नित्य कर्म साधन होते हैं, जैसे – सन्ध्यावन्दनादि । इसप्रकार नित्यकर्म पापरूप मल के प्रक्षालन से शोधक होते हैं, उसके फलभूत पुण्यगुणों के उद्भव से शोधक होते हैं ।

20. जो पुरुष फलाभिसन्धिरहित होते हैं उनके ही, फलाभिसन्धियुक्त के नहीं, यज्ञादि ही, इनके अतिरिक्त नहीं, शोधक ही, अशोधक नहीं, होते हैं -- इसप्रकार एवकार से अन्य की व्यावृत्ति द्वारा अर्थ का निश्चय किया गया है ।

21. उपाधि अर्थात् विद्वान् की शुद्धि से ही उपहित अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि यहाँ अभिप्रेत है ।

15 यदि यज्ञदानतपसामन्तःकरणशोधने सामर्थ्यमस्ति तर्हि फलाभिसंधिना कृतान्यपि तानि तच्छोधकानि भविष्यन्ति कृतं फलाभिसंधित्यागेनेत्यत आह–

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ 6 ॥

16 तुशब्दः शङ्कानिराकरणार्थः । यद्यपि काम्यान्यपि शुद्धिमादधति धर्मस्वाभाव्यात्तथाऽपि सा तत्फलभोगोपयोगिन्येव न ज्ञानोपयोगिनी । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः–

'काम्येऽपि शुद्धिरस्त्येव भोगसिद्ध्यर्थमेव सा ।
विड्वराहादिदेहेन न ह्यैन्द्रं भुज्यते फलम् ॥' इति ।

ज्ञानोपयोगिनीं तु शुद्धिमादधति यानि यज्ञादीनि कर्माणि एतानि फलाभिसंधिपूर्वकत्वेन बन्धनहेतुभूतान्यपि मुमुक्षुभिः सङ्गमहमेवं करोमीति कर्तृत्वाभिनिवेशं फलानि चाभिसंधीयमानानि त्यक्त्वाऽन्तःकरणशुद्धये कर्तव्यानीति मे मम निश्चितम् । अत एव हे पार्थ कर्माधिकृतैः कर्माणि त्याज्यानि न त्याज्यानि वेति द्वयोर्मतयोर्न त्याज्यानीति मम निश्चितं मतमुत्तमं श्रेष्ठम् । यदुक्तं निश्चयं शृणु मे तत्रेति सोऽयं निश्चय उपसंहृतः ।

हो ही जाती है, फिर भी उनके अत्यन्त आदर के लिए कहा है कि 'कार्यमेव' = 'उनको करना ही चाहिए' । अथवा, – क्योंकि यज्ञादि कार्य कर्त्तव्य होने के कारण विहित है, उनका त्याग नहीं ही करना चाहिए – यह भी अर्थ है ।। 5 ।।

15 यदि यज्ञ, दान और तप में अन्त:करण को शुद्ध करने का सामर्थ्य है तो फलाभिसन्धि – फलाशापूर्वक किये हुए भी वे अन्त:करण के शोधक होंगे, अत: फलाभिसन्धि – फलाकांक्षा का त्याग करने की क्या आवश्यकता है ? फलाभिसन्धित्याग व्यर्थ ही है – – इस शंका से कहते हैं :--

[हे पार्थ ! इन कर्मों को तो सङ्ग और फलों का त्याग करके ही करना चाहिए – यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है ।। 6 ।।]

16 यहाँ 'तु' शब्द शंका का निराकरण करने के लिए है । यद्यपि काम्य कर्म भी धर्मरूप होने के कारण शुद्धि करते हैं, तथापि वह अन्त:करणशुद्धि उन काम्य कर्मों के फल के भोग के लिए ही उपयोगी होती है, ज्ञान में उपयोगी नहीं होती है । वार्तिककार ने ऐसा कहा भी है –

"काम्य कर्मों में भी शुद्धि होती ही है, किन्तु वह शुद्धि भोग की सिद्धि के लिए ही होती है, क्योंकि इन्द्ररूप से भोगे जानेवाला फल विड्--वराहादि देह से नहीं भोगा जाता है ।"

फलाभिसन्धिपूर्वक किये हुए होने से बन्धन के हेतुभूत भी जो ये यज्ञादि कर्म मुमुक्षुओं द्वारा सङ्ग = 'मैं ऐसा करता हूँ' -- इसप्रकार के कर्तृत्वाभिनिवेश और अभिसंधीयमान – कामयमान फलों को त्याग कर 'मुझको अन्तःकरणशुद्धि के लिए करने चाहिए' – इस विचार से किये जाते हैं वे ज्ञानोपयोगी शुद्धि करते हैं -- यह मेरा निश्चित मत है । अतएव हे पार्थ[22] ! कर्माधिकारी पुरुषों को कर्मों का त्याग करना चाहिए अथवा त्याग नहीं करना चाहिए -- इन दो मतों में से मेरा निश्चित और उत्तम-श्रेष्ठ मत यह है कि कर्माधिकारियों को कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए । यह जो

---

22. हे अर्जुन ! तुमको तो पृथा के सम्बन्ध से मेरे सम्बन्धी होने के कारण मेरा ही निश्चित मत उपादेय – ग्राह्य है – यह सूचित करने के लिए भगवान् ने 'हे पार्थ !' – यह सम्बोधन किया है ।

भगवत्पूज्यपादानामभिप्रायोऽयमीरितः ।
अनिष्णाततया भाष्ये दुरापो मन्दबुद्धिभिः ॥ 6 ॥

17 **तदेवं 'यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे' इति स्वपक्षः स्थापितः । इदानीं 'त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः' इति परपक्षस्य पूर्वोक्तत्यागत्रैविध्यव्याख्यानेन निराकरणमारभते –**

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ 7 ॥

18 **काम्यस्य कर्मणोऽन्तःकरणशुद्धिहेतुत्वाभावेन बन्धहेतुत्वेन च दोषवत्त्वाद्बन्धनिवृत्तिहेतुबोधार्थिना क्रियमाणस्त्याग उपपद्यत एव । नियतस्य तु नित्यस्य कर्मणः शुद्धिहेतुत्वेनादोषस्य संन्यासस्त्यागो मुमुक्षूणामन्तःकरणशुद्ध्यर्थिनां नोपपद्यते शास्त्रयुक्तिभ्यां तस्यान्तःकरणशुद्ध्यर्थमवश्यानुष्ठेयत्वात् । तथाचोक्तं प्राक्– 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' इति ।**

19 **ननु दोषवत्त्वं काम्यस्येव नित्यस्यापि दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादेर्व्रीहिपश्वादिहिंसामिश्रितत्वेन सांख्यैरभिहितम् । न च 'व्रीहीनवहन्ति' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते' इत्यादिविशेषविधिगोचरत्वात्क्रत्वङ्गहिंसाया 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति सामान्यनिषेधस्य तदितरपरत्वमिति सांप्रतं**

पूर्व में मैंने कहा था कि 'निश्चयं शृणु मे तत्र' = 'उस त्याग के विषय में तुम मेरा निश्चय सुनो' -- उस निश्चय का यह उपसंहार हो गया । यह भगवत्पूज्यपाद शंकराचार्य का अभिप्राय कहा गया है । उक्त अभिप्राय को भाष्य में प्राप्त करना मन्दबुद्धि-जिज्ञासुओं के लिए उनके निष्णात न होने के कारण कठिन है ॥ 6 ॥

17 इसप्रकार 'यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए -- ऐसा कोई दूसरे मनीषी -- विद्वान् कहते हैं' -- इस वाक्य से अपने पक्ष को स्थापित किया । अब 'सभी कर्म दोषयुक्त हैं अतएव सबका त्याग करना चाहिए -- ऐसा कोई मनीषी -- विद्वान् कहते हैं' -- इस परपक्ष का पूर्वोक्त त्याग की त्रिविधता की व्याख्या द्वारा निराकरण करना आरम्भ करते हैं :--
[नियत कर्म का संन्यास -- त्याग तो उचित नहीं है । मोह के कारण उसका परित्याग करना 'तामस' त्याग कहा गया है ॥ 7 ॥]

18 काम्य कर्म अन्त:करणशुद्धि के हेतु न होने से और बन्धन के हेतु होने से दोषवत् = दोषयुक्त हैं, अतः बन्धन से निवृत्ति के हेतु को जानने के इच्छुक पुरुषों द्वारा क्रियमाण -- किये जानेवाले काम्य कर्मों का त्याग उचित ही है, किन्तु शुद्धि का हेतु होने से जो अदोष = दोषरहित हैं उन नियत = नित्य कर्मों का संन्यास = त्याग अन्त:करणशुद्धि के अभ्यर्थी मुमुक्षुजनों के लिए उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्र और युक्तियों द्वारा अन्तःकरणशुद्धि के लिए उनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए । इसप्रकार पूर्व में भी कहा है -- 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते (गीता, 6.3) = 'अन्तःकरणशुद्धिरूप योग पर आरूढ़ होने के इच्छुक मुनि-योगी के लिए भगवदर्पणबुद्धि से किया हुआ शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि नित्य कर्म कारण-साधनरूप से अनुष्ठेय है -- ऐसा कहा जाता है' ।

19 पूर्वपक्ष के रूप में सांख्य-विद्वानों का कथन है -- काम्य कर्मों के समान दर्श, पूर्णमास, ज्योतिष्टोमादि नित्यकर्म भी व्रीहि -- धान, पशु आदि की हिंसा से मिश्रित होने के कारण दोषवत् = दोषयुक्त हैं । यह कथन उचित नहीं है कि 'व्रीहीनवहन्ति' = 'धान कूटता है'; 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते' = 'अग्नि और सोम जिसके देवता हैं ऐसे पशु की हिंसा करे' -- इत्यादि विशेषविधि का विषय यज्ञ की अङ्गभूत

भिन्नविषयत्वेन विधिनिषेधयोरबाधेनैव समावेशसंभवात् । निषेधेन हि पुरुषस्यानर्थहेतुर्हिंसेत्यभिहितं न त्वक्रत्वर्था सेति, विधिना च क्रत्वर्था सेत्यभिहितं न त्वनर्थहेतुर्नेति । तथा च क्रतूपकारकत्वपुरुषानर्थहेतुत्वयोरेकत्र संभवात्क्रत्वर्थाऽपि हिंसा निषिद्धैवेति हिंसायुक्तं दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादि सर्वं दुष्टमेव । विहितस्यापि निषिद्धत्वं निषिद्धस्यापि च विहितत्वं श्येनादिवदुपपन्नमेव । यथा हि 'श्येनेनाभिचरन्यजेत' इत्याद्यभिचारविधिना विहितोऽपि श्येनादिर्न हिंस्यात्सर्वा भूतानीतिनिषेधविषयत्वादनर्थहेतुरेव तद्दोषसहिष्णोरेव च रागद्वेषादिवशीकृतस्य तत्राधिकार एवं ज्योतिष्टोमादावपि । तथा चोक्तं महाभारते–

'जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमो धर्म उच्यते ।
अहिंसया हि भूतानां जपयज्ञः प्रवर्तते ॥' इति ।

मनुनाऽपि–

'जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥'

हिंसा है, अतः 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' = 'सभी प्राणियों की हिंसा न करे ' – इस सामान्यनिषेध का विषय यज्ञाङ्गहिंसा से भिन्न हिंसा है; क्योंकि ये विधिवाक्य और निषेधवाक्य भिन्न-भिन्न विषयक हैं अतएव इन दोनों में एक-दूसरे का बाध न करने से ही समावेश सम्भव है । निषेधवाक्य से यह कहा गया है कि हिंसा मनुष्य के लिए अनर्थ का हेतु है, न कि यह कहा गया है कि वह हिंसा यज्ञ के लिए है और विधिवाक्य से यह कहा गया है कि वह हिंसा यज्ञ के लिए है, न कि यह कहा गया है कि वह अनर्थ की हेतु नहीं है । इसप्रकार यज्ञ के लिए उपकारक होना और पुरुष के लिए अनर्थ का हेतु होना – ये दोनों धर्म एक वस्तु अर्थात् हिंसा में रह सकते हैं, अतः यज्ञार्थ हिंसा भी निषिद्ध ही है -- इसप्रकार हिंसायुक्त दर्श, पूर्णमास, ज्योतिष्टोमादि सब कर्म दुष्ट ही हैं । विहित का भी निषिद्ध होना और निषिद्ध का भी विहित होना श्येनयागादि[23] के समान उचित ही है । जिसप्रकार कि 'श्येनेनाभिचरन्यजेत' = 'श्येनयाग द्वारा अभिचार–मारण करता हुआ यजन करे' -- इत्यादि अभिचार- मारणविधि से विहित भी श्येनयागादि 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' = 'सभी प्राणियों की हिंसा न करे' -- इस निषेधवाक्य का विषय होने के कारण अनर्थ का हेतु ही है और उस दोष के सहिष्णु रागद्वेषादि से वशीकृत पुरुष का ही उसमें अधिकार है – उसीप्रकार ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में भी समझना चाहिए । ऐसा ही महाभारत में भी कहा है --

"जप तो सब धर्मों से श्रेष्ठ धर्म कहा जाता है, क्योंकि जपयज्ञ जीवों की अहिंसा से प्रवृत्त होता है" ।

मनु ने भी–

"ब्राह्मण जप करने से ही सब सिद्धियों को प्राप्त होता है – इसमें सन्देह नहीं है । वह अन्य यज्ञादि कर्म करे या न करे, ब्राह्मण उतने से ही 'मैत्र' कहलाता है" (मनुस्मृति, 2.87) ।

23. 'श्येन' शब्द को याग का नामधेय मानने का कारण यह है कि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत'– इस विधि वाक्य में 'श्येन' शब्द का व्यपदेश है, यह नहीं है कि इसमें 'श्येन' – 'बाज' नामक पक्षी का विधान किया गया है, कारण कि जो अर्थ विधेय होता है उसकी अर्थवाद से स्तुति की जाती है,, प्रकृत स्थल में 'श्येन' पक्षी की स्तुति नहीं है, किन्तु 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते' – इस अर्थवाद वाक्य के द्वारा 'श्येन' पक्षी के उपमान के द्वारा 'श्येन' पक्षी से इतर अर्थ की ही स्तुति की गई है, कारण कि 'श्येन' की उपमा देकर श्येन की ही स्तुति नहीं हो सकती है, क्योंकि दो भिन्न-भिन्न पदार्थ ही उपमान और उपमेय हो सकते है । 'श्येनयाग' ऐसी क्रिया है जिसके अनुष्ठान से शत्रु की मृत्यु हो जाती है अतएव इस याग का फल अभिचाररूप है, तदनुसार ही विधिवाक्य है ।

इति वदता मैत्रीमहिंसां प्रशंसता हिंसाया दुष्टत्वमेव प्रतिपादितम् । अन्तःकरणशुद्धिश्चेदृशेन गायत्रीजपादिना सुतरामुपपत्स्यत इति हिंसादिदोषदुष्टं ज्योतिष्टोमादि नित्यं कर्म दोषासहिष्णुना श्येनादिकमिव कर्माधिकारिणाऽपि त्याज्यम् ।

20 इति प्राप्ते ब्रूमः— न क्रत्वर्था हिंसाऽनर्थहेतुः, विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशात् । तथाहि— विधिना बलवदिच्छाविषयसाधनताबोधरूपां प्रवर्तनां कुर्वताऽनर्थसाधने तदनुपपत्तेः स्वविषयस्य प्रवर्तनागोचरस्यानर्थसाधनत्वाभावोऽप्यर्थादाक्षिप्यते । तेन विधिविषयस्य नानर्थहेतुत्वं युज्यते । न हि क्रत्वर्थत्वं साक्षाद्विध्यर्थः । येन विरोधो न स्यात्किंतु प्रवर्तनैव । प्रवर्तनाकर्मभूता तु पुरुषप्रवृत्तिः पुरुषार्थमेव विषयीकुर्वती क्वचित्क्रतुमपि पुरुषार्थसाधनत्वेन पुरुषार्थभावमापन्नं विषयी करोतीत्यन्यत् । पुरुषप्रवृत्तिश्च बलवदिच्छोपधानदशायां जायमाना न भाव्यस्यार्थहेतुतामाक्षिपति न वाऽनर्थहेतुतां प्रतिक्षिपति । किंतु यथाप्राप्तमेवावलम्बते बलवदिच्छाविषये स्वत एव प्रवृत्तेः स्वर्गादौ विध्यनपेक्षणात् । अत एव विहितश्येनफलस्यापि शत्रुवधरूपस्याभिचारस्यानर्थहेतुत्वमुपपद्यत एव फलस्य विधिजन्यप्रवृत्तिविषयत्वाभावात् । विधिजन्यप्रवृत्तिविषयं तु धात्वर्थरूपं करणं प्रवर्तनाऽवलम्बते । सा चानर्थहेतुं न विषयी करोतीति विशेषविधिबाधितं सामान्यनिषेधवाक्यं रागद्वेषादिमूलाक्रत्वर्थलौकिकहिंसाविषयम् । तेन श्येना-

---

इसप्रकार कहकर मैत्री और अहिंसा की प्रशंसा करते हुए हिंसा की दुष्टता ही प्रतिपादित की है । अन्तःकरणशुद्धि इसप्रकार के गायत्रीजपादि से अच्छी प्रकार हो सकती है, अतः जो दोष को सहन नहीं कर सकता है उस कर्माधिकारी को भी श्येनयागादि के समान हिंसादि दोषों से दुष्ट-दूषित ज्योतिष्टोमादि नित्य कर्मों का त्याग करना चाहिए ।

20 ऐसा प्राप्त होने पर हम सिद्धान्त कहते हैं :-- यज्ञार्थ हिंसा अनर्थ की हेतु नहीं है, क्योंकि विधि का स्पृश होने पर निषेध के लिए अवकाश नहीं होता है । इसी कारण, बलवती इच्छा के विषय की साधनता की ज्ञानरूपा प्रवर्तना को करती हुई विधि से अनर्थ के साधन में प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होने से अपने विषय अर्थात् प्रवर्तना के विषय में अनर्थसाधनता का अभाव भी अर्थतः आक्षिप्त -- प्राप्त हो जाता है ।[24] इसलिए विधि के विषय में अनर्थ की हेतुता नहीं हो सकती है, क्योंकि यज्ञार्थता साक्षात् विधि का विषय नहीं है, जिससे विरोध न हो, किन्तु प्रवर्तना ही साक्षात् विधिविषय है । प्रवर्तनाकर्मभूत पुरुष की प्रवृत्ति तो पुरुषार्थ को ही विषय करती हुई कहीं पुरुषार्थभाव को प्राप्त हुए यज्ञ के भी पुरुषार्थ के साधनरूप से विषय करती है -- यह अन्य बात है । बलवती इच्छा की प्राप्ति की दशा में उत्पन्न होनेवाली पुरुष की प्रवृत्ति न तो भाव्य अर्थ की हेतुता का आक्षेप करती है और न अनर्थ की हेतुता का प्रतिक्षेप-निराकरण करती है; किन्तु यथाप्राप्त का ही अवलम्बन करती है, क्योंकि बलवती इच्छा के विषय में स्वतः ही प्रवृत्ति होने से स्वर्गादि में विधि की अपेक्षा नहीं होती, अतएव विहित श्येनयाग के फल शत्रुवधरूप अभिचार में अनर्थ की हेतुता उपपन्न-उचित ही है, कारण कि फल में विधिजन्य प्रवृत्ति की विषयता नहीं होती है । विधिजन्य

24. अभिप्राय यह है कि जीव की बलवती इच्छा के विषय स्वर्गादि हैं, उनकी प्राप्ति का साधन यागादि क्रिया है, उस साधन का ज्ञान विधिवाक्यों से होता है और इस ज्ञान का नाम ही प्रवर्तना है – इसप्रकार जिस विधिवाक्य से इन यज्ञादि की इष्टसाधनता का ज्ञान होता है उससे ही अनिष्ट के साधन में प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती है, अतः प्रवर्तना के विषयभूत जो यज्ञादि हैं उनमें अनर्थसाधनता का अभाव है – यह अर्थतः प्राप्त होता है ।

ग्नीषोमीययोर्वैषम्यादुपपन्नमदुष्टत्वं ज्योतिष्टोमादेः । विधिस्पृष्टस्यापि निषेधविषयत्वे षोडशिग्रहणस्यात्यनर्थहेतुत्वापत्तिर्नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति निषेधात् । तस्मान्न किंचिदेतदिति भाट्टं दर्शनम् । प्राभाकरं तु दर्शनं फलसाधने रागत एव प्रवृत्तिसिद्धेर्न नियोगस्य प्रवर्तकत्वं, तेन श्येनस्य रागजन्यप्रवृत्तिविषयत्वेन विधेरौदासीन्यान्न तस्यानर्थहेतुत्वं विधिना प्रतिक्षिप्यते । अग्नीषोमीयहिंसायां तु क्रत्वङ्गभूतायां फलसाधनत्वाभावेन रागाभावाद्विधिरेव प्रवर्तकः । स च स्वविषयस्यानर्थहेतुतां प्रतिक्षिपतीति प्रधानभूता हिंसाऽनर्थं जनयति न क्रत्वर्थेति न हिंसामिश्रत्वेन ज्योतिष्टोमादेर्दुष्टत्वमिति सममेव । एतावन्मात्रे तु विशेषः, 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यत्रार्थपदव्यावर्त्यत्वेनाधर्मत्वं श्येनादेः प्राभाकरमते । भाट्टमते तु श्येनफलस्यैवाभिचारस्यानर्थहेतुत्वादधर्मत्वं, श्येनस्य तु विहितस्य समीहितसाधनस्य धर्मत्वमेव । अर्थपदव्यावर्त्यत्वं तु कलञ्जभक्षणादेर्निषिद्धस्यैवेति फलतोऽनर्थहेतुत्वेन तु शिष्टानां श्येनादौ न धर्मत्वेन व्यवहारः । तदुक्तं--

**'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते ।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते ॥' इति ।**

प्रवृत्ति के विषय धात्वर्थरूप करण को तो प्रवर्तना विषय करती है, वह अनर्थ के हेतु को विषय नहीं करती है -- इसप्रकार विशेषविधि से बाधित सामान्यनिषेधवाक्य रागद्वेषादिमूलक और यज्ञ के लिए न होनेवाली हिंसा का विषय होता है । इससे श्येनयाग और अग्निषोमीय याग में विषमता होने के कारण ज्योतिष्टोमादि का अदुष्टत्व = दोषरहित होना उचित ही है । यदि विधि से स्पृष्ट कर्म भी निषेध का विषय होता है तो षोडशीग्रहण में भी अनर्थ की हेतुता की आपत्ति -- प्राप्ति होगी, क्योंकि 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' = 'अतिरात्र यज्ञ में षोडशी का ग्रहण नहीं करता है -- इसप्रकार इसका निषेध भी किया है । इसलिए यह कुछ नहीं है अर्थात् सांख्यसम्मत पूर्वपक्ष कुछ नहीं है -- यह भाट्ट दर्शन-मत है । प्राभाकर दर्शन-मत तो कहता है कि फल के साधन में राग से ही प्रवृत्ति सिद्ध है, अत: नियोग प्रवर्तक नहीं होता है, इसलिए श्येनयाग रागजन्य प्रवृत्ति का विषय होने से उसमें विधि की उदासीनता के कारण उसमें अनर्थ की हेतुता विधि से प्रतिक्षिप्त -- निराकृत नहीं होती है । यज्ञ की अङ्गभूता जो अग्निषोमीय हिंसा है उसमें तो फलसाधनता न होने से राग का अभाव होने के कारण विधि ही प्रवर्तक है और वह विधि अपने विषय की अनर्थहेतुता का प्रतिक्षेप-निराकरण करती है; इसप्रकार प्रधानभूता हिंसा अनर्थ उत्पन्न करती है, वह यज्ञ के लिए नहीं होती है, अत: हिंसा से मिश्रित होने से ज्योतिष्टोमादि यज्ञ दुष्ट-दुषित-दोषयुक्त नहीं है -- यह तो दोनों मतों में समान ही है । भाट्ट और प्राभाकर मतों में विशेष-भेद तो इतना है कि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (जैमिनिसूत्र, 1.1.2) = 'चोदना -- प्रवर्तनास्वरूप अर्थ धर्म है' इस लक्षण में 'अर्थ' पद का व्यावर्त्य प्राभाकरमत में श्येनादि याग है, क्योंकि वह अधर्म है; किन्तु भाट्टमत में श्येनयाग का फल अभिचार ही अनर्थ का हेतु होने से अधर्म है, श्येनयाग तो शास्त्रविहित और समीहित -- अभीष्ट अर्थ का साधन होने से धर्म ही है तथा 'अर्थ' पद का व्यावर्त्य तो निषिद्ध कलञ्जभक्षण[25] आदि ही है । फलत: =फल की दृष्टि से अनर्थ का हेतु होने से ही शिष्टजनों में श्येनयागादि का धर्मरूप से व्यवहार नहीं होता है । ऐसा कहा भी है :--

25. 'कलञ्ज' विषाक्तवाण से मारे हुए पशु-पक्षी के मांस को कहते हैं ।

21 तार्किकाणां तु दर्शनं कृतिसाध्यत्वमर्थहेतुत्वमनर्थाहेतुत्वं चेति त्रयं विध्यर्थः। तत्र क्रत्वर्थहिंसायां साक्षान्निषेधाभावात्प्रायश्चित्तानुपदेशाच्च कृतिसाध्यत्वार्थहेतुत्ववदनर्थाहेतुत्वमपि विधिना बोध्यत इति न तस्या अनर्थहेतुत्वम्। श्येनादेस्त्वभिचारस्य साक्षादेव निषेधात्प्रायश्चित्तोपदेशाच्चानर्थहेतुत्वावगमात्तावन्मात्रं तत्र विधिना न बोध्यत इत्युपपन्नं श्येनाग्नीषोमीययोर्वैलक्षण्यम्।

22 औपनिषदैस्तु भाट्टमेव दर्शनं व्यवहारे प्रायेणावलम्बितम्। तथा च भगवद्बादरायणप्रणीतं सूत्रम्– 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इति। ज्योतिष्टोमादिकर्माग्नीषोमीयहिंसादिमिश्रितत्वेन दुष्टमिति चेत्, न, 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादिविधिशब्दादित्यक्षरार्थः। जपप्रशंसापरं तु वाक्यं न क्रत्वर्थ-

"जो कर्म फल की दृष्टि से भी अनर्थ से नहीं बाँधता है वही केवल प्रीति का हेतु होने से 'धर्म' कहा जाता है" ।

21 तार्किकों का दर्शन तो यह है कि कृतिसाध्यता, अर्थहेतुता और अनर्थाहेतुता = अनर्थ की अहेतुता -- अनर्थहेतुता का अभाव -- ये तीन विधि[26] के अर्थ -- प्रयोजन हैं । उसमें, यज्ञार्थ हिंसा में साक्षात् निषेध का अभाव होने से और प्रायश्चित्त का उपदेश न होने से कृतिसाध्यता और अर्थहेतुता के समान अनर्थहेतुता का अभाव भी विधि से बोधित होता है, अत: उस यज्ञार्थहिंसा में अनर्थ की हेतुता नहीं है अर्थात् यज्ञार्थहिंसा अनर्थ की हेतु नहीं है । श्येनयागादि में तो अभिचार का साक्षात् ही निषेध किया गया है और उसके प्रायश्चित्त का भी उपदेश है, इसलिए उसमें ही अनर्थहेतुता का ज्ञान होने से विधि से उसकी अनर्थहेतुता बोधित नहीं होती है । इसप्रकार श्येनयाग और अग्निषोमीय याग में विलक्षणता उपपन्न -- उचित ही है ।

22 औपनिषद = वेदान्ती तो भाट्टदर्शन का ही प्रायः व्यवहार में अवलम्बन करते हैं । इसप्रकार भगवान् बादरायणप्रणीत वेदान्तसूत्र है -- 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (ब्रह्मसूत्र, 3.1.25) = 'व्रीहि आदि में यदि अनुशयी जीव रहता है तो उसको काटने आदि के समय कष्ट होता होगा, इससे हिंसाजन्य अन्न अशुद्ध है -- यदि ऐसी शंका होती है तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि शब्द से उसमें अभिमानरहित अनुशयी की प्राप्ति होती है । भोग के लिए उसमें पापी की प्राप्ति होती है, निरभिमानी अनुशयी उसमें आकाश के समान असंग रहता है, इससे सुख-दु:खादि का भागी नहीं होता है और न उसकी हिंसा द्वारा अन्न अशुद्ध होता है -- इत्यादि' -- अर्थात् ज्योतिष्टोमादि कर्म अग्निषोमीय हिंसादि से मिश्रित होने के कारण दुष्ट = अशुद्ध है -- यदि ऐसी शंका होती है तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' = 'अग्निषोमीय पशु को प्राप्त करे'-- इत्यादि विधिपरक शब्द प्रमाण है -- यह अक्षरार्थ है । जप की प्रशंसा करनेवाला वाक्य तो यज्ञार्थ हिंसा के अधर्मत्व का बोधक नहीं है, क्योंकि उसमें उसका तात्पर्य ही नहीं है[27] । इसप्रकार सांख्यविद्वानों का जो विहित में निषिद्धत्वज्ञान, अनर्थहेतुता -- अनर्थ की हेतुता के अभाव में अनर्थहेतुता का ज्ञान, धर्म में अधर्मत्व-

26. 'विधिर्विधायक:' (न्यायसूत्र, 2.1.62) = यद्वाक्यं विधायकं चोदकं, स विधि: । विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा, यथा – 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इत्यादि (न्यायभाष्य) = 'इष्टसाधनताबोधकप्रत्ययसमभिव्याहृतवाक्यं विधि:' (न्यायसूत्रवृत्ति) = 'इदं मदिष्टसाधनम्' -- 'यह कार्य मेरा इष्टसाधन है' – इसप्रकार की इष्टसाधनता के बोधक ज्ञान से समभिव्याहृत वाक्य ' विधि' कहलाता है, जैसे – 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इत्यादि । कृतिसाध्यता, अर्थहेतुता और अनर्थाहेतुता – ये तीन विधि के अर्थ – प्रयोजन हैं । 'इदं मत्कृतिसाध्यम्' = 'यह कार्य मेरे प्रयत्न से साध्य है' – यह 'कृतिसाध्यता' है । विधिविहित कार्यकर्ता के अर्थ -- प्रयोजन अर्थात् अभीष्ट स्वर्गादि फल का हेतु – कारण या उपाय है – यह 'अर्थहेतुता' है तथा वह हेतु परिणाम में अनर्थ का हेतु – कारण नहीं है – यह 'अनर्थाहेतुता' है ।

27. यह पूर्वपक्षी द्वारा उद्धृत महाभारत और मनुस्मृति के वाक्यों के विषय में उत्तर है ।

हिंसाया अधर्मत्वबोधकं तस्य तत्रातात्पर्यात् । तथाच सांख्यानां विहिते निषिद्धत्वज्ञानमनर्थहितावनर्थहेतुत्वज्ञानं धर्मे चाधर्मत्वज्ञानमनुष्ठेये चाननुष्ठेयत्वज्ञानं विपर्यासरूपो मोहस्तस्मान्मोहान्नित्यस्य कर्मणो यः परित्यागः स तामसः परिकीर्तितः । मोहो हि तमः ॥ 7 ॥

23 **पूर्वोक्तमोहाभावेऽपि–**

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ 8 ॥

24 **अनुपजातान्तःकरणशुद्धितया कर्माधिकृतोऽपि दुःखमेवेदमिति मत्वा कायक्लेशभयान्नित्यं कर्म त्यजेदिति यत्स त्यागो राजसः । दुःखं हि रजः । अतः स मोहरहितोऽपि राजसः पुरुषस्तादृशं राजसं त्यागं कृत्वा नैव त्यागफलं सात्त्विकत्यागस्य फलं ज्ञाननिष्ठालक्षणं नैव लभेल्लभते ॥ 8 ॥**

25 **कर्मत्यागस्तामसो राजसश्च हेयो दर्शितः । कीदृशः पुनरुपादेयः सात्त्विकस्त्याग इत्युच्यते–**

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ 9 ॥

26 **विध्युद्देशे फलाश्रवणेऽपि कार्यं कर्तव्यमेवेति बुद्ध्वा नियतं नित्यं कर्म सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं**

ज्ञान और अनुष्ठेय में अनुष्ठेय की अयोग्यता का ज्ञान है वह उनका विपर्ययरूप[28] मोह[29] है, उस मोह के कारण जो नित्य कर्म का परित्याग है वह 'तामस' त्याग कहा गया है, क्योंकि मोह ही तम[30] है ॥ 7 ॥

23 पूर्वोक्त मोह के न होने पर भी --
[जो पुरुष 'दुःखम्' = 'यह दुःखरूप ही है' -- यह मानकर शारीरिक क्लेश के भय से कर्म का त्याग करता है वह राजस त्याग करके भी त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता है ॥ 8 ॥]

24 अन्तःकरणशुद्धि न होने के कारण कर्माधिकारी भी 'यह सब दुःखरूप ही है'-- ऐसा मानकर शारीरिक क्लेश के भय से जो नित्य कर्मों का त्याग करता है वह 'राजस' त्याग कहलाता है, क्योंकि दुःख ही रजोगुण[31] है; अतः मोह से रहित होने पर भी वह राजस पुरुष तादृश राजस त्याग को करके भी त्यागफल = सात्त्विक त्याग के ज्ञाननिष्ठास्वरूप फल को प्राप्त ही नहीं होता है ॥ 8 ॥

25 तामस और राजस कर्मत्याग हेय -- त्याज्य है -- यह दिखलाया, तो फिर प्रश्न है कि कैसा त्याग उपादेय -- ग्राह्य है ? सात्त्विक त्याग ग्राह्य है -- यह कहते हैं :--
[हे अर्जुन ! 'कार्यम्' = 'करना चाहिए' -- ऐसा समझकर ही सङ्ग और फल का त्याग करके जो नियत -- नित्य कर्म का अनुष्ठान किया जाता है वह ही त्याग 'सात्त्विक' माना गया है ॥ 9 ॥]

26 विधिवाक्य में उद्दिष्ट फल का श्रवण न होने पर भी 'कार्यम् = कर्तव्यम्' = 'कर्म करना ही चाहिए'

28. 'यदविद्यया विपर्ययेणाऽवधार्यते वस्तु' -- अविद्या के कारण जो वस्तु 'विपरीत' अर्थात् अवस्तु रूप से जानी जाती है वह 'विपर्यय' है ।

29. 'मोह' अज्ञान का कार्य होने से विपर्यय के स्वभाववाला है ।

30. 'तम' विषयाभेद के कारण विपर्यय से अभिन्न है अतएव 'मोह' ही है ।

31. 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः' (सांख्यकारिका, 12) = 'अप्रीतिः दुःखम्, अप्रीत्यात्मको रजोगुणः' (तत्त्वकौमुदी) = 'अप्रीति' का अर्थ दुःख है, अप्रीत्यात्मक -- दुःखात्मक अर्थात् दुःखस्वरूप ' रजोगुण' होता है ।

फलं च त्यक्त्वैव यत्क्रियतेऽन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तं स त्यागः सात्त्विकः सत्त्वनिर्वृत्तो मत आदेयत्वेन संमतः शिष्टानाम् ।

27 ननु नित्यानां फलमेव नास्ति कथं फलं त्यक्त्वेत्युक्तम् । उच्यते– अस्मादेव भगवद्वचनान्नित्यानां फलमस्तीति गम्यते निष्फलस्यानुष्ठानासंभवात् । तथा चाऽऽपस्तम्बः– 'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते' इत्यानुषङ्गिकं फलं नित्यानां दर्शयति । अकरणे प्रत्यवायस्मृतिश्च नित्यानां प्रत्यवायपरिहारं फलं दर्शयति । 'धर्मेण पापमपनुदति । तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति' । 'येन केन च यजेतापि वा दर्विहोमेनानुपहतमना एव भवति । तदाहुर्देवयाजी श्रेयानात्मयाजीत्यात्मयाजीति ह ब्रूयात्स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गꣳ सꣳस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते' इत्यादिश्रुतयश्च ज्ञानप्रतिबन्धकपापक्षयलक्षणं ज्ञानयोग्यतारूपपुण्योत्पत्तिलक्षणं चाऽऽत्मसंस्कारं नित्यानां कर्मणां फलं दर्शयन्ति । तदभिसंधिं त्यक्त्वा तान्यनुष्ठेयानीत्यर्थः ।

---

26 -- ऐसा समझकर जो नियत = नित्य कर्म सङ्ग = कर्तृत्वाभिनिवेश -- कर्तृत्वाभिमान और फल को त्याग कर ही अन्तःकरणशुद्धिपर्यन्त किया जाता है वह त्याग 'सात्त्विक' = सत्त्वगुण से निर्वृत्त – समुत्पन्न माना गया है – वही शिष्यजनों को ग्राह्यरूप से अभिमत है ।

27 प्रश्न है -- नित्य कर्मों का तो फल ही नहीं होता है, फिर 'फलं त्यक्त्वा' -- 'फल को त्याग कर' – ऐसा कैसे कहा है ? उत्तर कहते हैं – भगवान् के इस वाक्य से ही यह ज्ञात होता है कि नित्य कर्मों का भी फल होता है, कारण कि निष्फल – फलरहित कर्म का तो अनुष्ठान ही नहीं हो सकता है । इसीप्रकार आपस्तम्ब भी कहते हैं – 'जैसे फल के लिए लगाये हुए आमवृक्ष के साथ छाया और गन्ध भी पैदा हो जाते हैं वैसे ही धर्म का आचरण करने के साथ ही अर्थ भी उत्पन्न हो जाते हैं' -- इसप्रकार वे नित्य कर्मों का आनुषङ्गिक फल दिखलाते हैं[32] । नित्य कर्मों को न करने पर प्रत्यवाय[33] बतलानेवाली स्मृति[34] भी नित्य कर्मों के सम्पादन से प्रत्यवायपरिहाररूप फल को दिखलाती है, यथा -- 'धर्म से पाप दूर होता है, इसलिए धर्म को श्रेष्ठ कहते हैं' । 'जिस किसी वस्तु से भी यजन करे, दर्वी – स्रुवा द्वारा होम करने से पुरुष उपघातशून्य मनवाला ही होता है'; 'कोई कहता है कि देवयाजी श्रेष्ठ है अथवा आत्मयाजी कहता है -- 'आत्मयाजी श्रेष्ठ है' और आत्मयाजी वही हैं जो यह जानता है कि इस कर्म से मेरे अङ्ग का संस्कार होता है, इस कर्म से मेरे अङ्ग का उपधान होता है'- इत्यादि श्रुतियाँ भी ज्ञानोत्पत्ति के प्रतिबन्धक पापक्षयस्वरूप और ज्ञानोत्पत्ति के लिए योग्यतारूप पुण्योत्पत्तिस्वरूप आत्मसंस्कार को नित्य कर्मों का फल दिखलाती है[35] । अतएव फल की आकांक्षा का त्याग कर नित्य कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए -- यह अर्थ है ।

---

32. 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.5.16) = 'कर्म से पितृलोक और विद्या – ज्ञान से देवलोक की प्राप्ति होती है'- इस श्रुति के अनुसार भी पितृलोक की प्राप्ति नित्यकर्म का आनुषङ्गिक फल सिद्ध है ।

33. 'नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि' (वेदान्तसार-सदानन्द) -- नित्य कर्मों को न करने से प्रत्यवाय होता है ।

34. 'तपसा किल्विषं हन्ति' (मनुस्मृति, 12.104) = 'तप से पाप का नाश होता है' – यह स्मृतिवाक्य नित्य कर्म के प्रत्यवायपरिहाररूप फल को प्रदर्शित करता है ।

35. सुरेश्वराचार्य तत्त्वज्ञान को नित्य कर्मों का फल कहते हैं । उनके अनुसार नित्यकर्मों से सदाचार की प्राप्ति होती है, सदाचार से पाप का नाश होता है, पापनाश से चित्त की शुद्धि होती है, चित्तशुद्धि से संसार का तत्त्वबोध होता है, संसार-तत्त्वबोध से वैराग्य उत्पन्न होता है, वैराग्य से मोक्ष में इच्छा होती है, मोक्षेच्छा से मोक्ष के साधनों की जिज्ञासा होती है इसका परिणाम सब कर्मों का त्याग होता है । तदुपरान्त योगाभ्यास आरम्भ होता है जिसके फलस्वरूप

28 यदुक्तं त्यागसंन्यासशब्दौ घटपटशब्दाविव न भिन्नजातीयार्थौ किंतु फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्याग एव तयोरर्थ इति तत्र विस्मर्तव्यम् । तत्र सत्यपि फलाभिसंधौ मोहाद्वा कायक्लेशभयाद्वा यः कर्मत्यागः स विशेष्याभावकृतो विशिष्टाभावस्तामसत्वेन राजसत्वेन च निन्दितः । यस्तु सत्यपि कर्मणि फलाभिसंधित्यागः स विशेषणाभावकृतो विशिष्टाभावः सात्त्विकत्वेन स्तूयत इति विशेष्याभावकृते विशेषणाभावकृते च विशिष्टाभावत्वस्य समानत्वान्न पूर्वापरविरोधः । उभयाभाव कृतस्तु निर्गुणत्वान्न त्रिविधमध्ये गणनीय इति चावोचाम । एतेन 'त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः' इति प्रतिज्ञाय कर्मत्यागलक्षणे द्वे विधे दर्शयित्वा प्रतिज्ञाननुरूपां कर्मानुष्ठानलक्षणां तृतीयां विधां दर्शयतो भगवतः प्रकटमकौशलमापतितम् न हि भवति त्रयो ब्राह्मणा भोजयितव्या द्वौ कठकौण्डिन्यौ तृतीयः क्षत्रिय इति तद्विदिति परास्तम् । तिसृणामपि विधानां विशिष्टाभावरूपेण त्यागसामान्येनैकजातीयतया प्राग्व्याख्यातत्वात् । तस्माद्भगवदकौशलोद्भावनमेव महदकौशलमिति द्रष्टव्यम् ॥ 9 ॥

29 सात्त्विकस्य त्यागस्याऽऽदानाय सत्त्वशुद्धिद्वारेण ज्ञाननिष्ठां फलमाह–

---

28 पूर्व में यह जो कहा है कि 'त्याग' और 'संन्यास' -- ये दो शब्द 'घट' और 'पट' – इन दो शब्दों के समान भिन्नजातीय अर्थ के बोधक नहीं है, किन्तु फलाभिसन्धि – फलाकांक्षापूर्वक कर्म का त्याग ही उन दोनों का अर्थ है – उसको भूलना नहीं चाहिए । उसमें फलाकांक्षा के रहने पर भी मोह अथवा शरीरक्लेश के भय से जो कर्मत्याग है वह विशेष्य -- कर्म के अभाव द्वारा किया हुआ विशिष्ट का अभाव = फलाकांक्षाविशिष्ट कर्म का अभाव -- विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव है वह तामस और राजस होने से निन्दित है । कर्म के रहने पर भी जो तो फलाकांक्षात्याग है वह विशेषण – फलकांक्षा के अभाव द्वारा किया हुआ विशिष्ट का अभाव – कर्मविशिष्ट फलाकांक्षा का अभाव – विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव है वह सात्त्विक है अतएव उसकी स्तुति – प्रशंसा की जाती है । इसप्रकार विशेष्याभावकृत और विशेषणाभावकृत विशिष्टाभावों में विशिष्टाभावत्व समान है अतएव पूर्वापर में विरोध नहीं है । विशेषण -- फलाकांक्षा के अभाव और विशेष्य – कर्म के अभाव अर्थात् विशेषण और विशेष्य -- दोनों के अभाव से किया हुआ विशिष्टाभाव तो निर्गुण है अतएव इसकी त्रिविध में गणना नहीं है – यह हम कह चुके हैं । इससे 'त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविध: संप्रकीर्तित:' = 'हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग सात्त्विक, राजस और तामस -- भेद से तीन प्रकार का कहा गया है' – इसप्रकार प्रतिज्ञा कर दो प्रकार के कर्मत्याग के स्वरूप को दिखलाकर प्रतिज्ञा के अननुरूप-विरुद्ध कर्मानुष्ठानस्वरूप तृतीय विधा को दिखलाते हुए भगवान् में प्रकट अकौशल -- अनैपुण्य की हुई आपत्ति का निरास उसीप्रकार हो जाता है जिसप्रकार कोई कहता है कि तीन ब्राह्मणों को भोजन कराना है -- दो तो कठ और कौण्डिन्य हैं तथा तीसरा क्षत्रिय है -- इस वाक्य में कोई अकौशलरूप आपत्ति नहीं होती है, कारण कि तीनों विधियों -- प्रकारों में विशिष्टाभावरूप से त्यागसामान्य द्वारा एकजातीयता है – यह पूर्व में भी व्याख्यात है । इसलिए भगवान् में अकौशल की उद्भावना करना ही महान् अकौशल है -- यह समझना चाहिए ।। 9 ।।

चित्तवृत्ति आत्मनिष्ठ होती है । चित्तवृत्ति के आत्मनिष्ठ होने पर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का अर्थ ज्ञात होता है जिसके फलस्वरूप अज्ञान नष्ट होता है । अज्ञान नष्ट होने पर मुमुक्षु साधक मोक्ष को प्राप्त होता है – इसप्रकार नित्य कर्मों के सम्पादन से परम्परया तत्त्वज्ञानरूप फल प्राप्त होता है (नैषकर्म्यसिद्धि, 1.52) ।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ 10 ॥

30 यस्त्यागी सात्त्विकेन त्यागेन युक्तः पूर्वोक्तेन प्रकारेण कर्तृत्वाभिनिवेशं फलाभिसंधिं च त्यक्त्वाऽन्तःकरणशुद्ध्यर्थं विहितकर्मानुष्ठायी स यदा सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वेनाऽऽत्मानात्मविवेक-ज्ञानहेतुना चित्तगतेनातिशयेन सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धकरजस्तमोमलराहित्येनाऽऽसमन्तात्फलाव्य-भिचारेणाऽऽविष्टो व्याप्तो भवति भगवदर्पितनित्यकर्मानुष्ठानात्पापमलापकर्षकलक्षणेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपपुण्यगुणाधानलक्षणेन च संस्कारेण संस्कृतमन्तःकरणं यदा भवतीत्यर्थः । तदा मेधावी शमदमसर्वकर्मोपरमगुरूपसदनादिसामवायिकाङ्गयुक्तेन मननिदिध्यासनाख्यफलो-पकार्यङ्गयुक्तेन न श्रवणाख्यदेदान्तवाक्यविचारेण परिनिष्पन्नं वेदान्तमहावाक्यकरणकं निरस्तसम-

---

29 सात्त्विक त्याग को ग्रहण करने के लिए उसके सत्त्वशुद्धि – अन्तःकरणशुद्धि द्वारा ज्ञाननिष्ठारूप फल को कहते हैं :–

[सात्त्विक-त्यागी पुरुष जब सत्त्व से समाविष्ट -- व्याप्त हुआ मेधावी -- मेधा से युक्त और संशय-विपर्यय से शून्य हो जाता है तब वह अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता है और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता है ॥ 10 ॥]

30 जो त्यागी = सात्त्विक -- त्याग से युक्त अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से कर्तृत्वाभिनिवेश – कर्तृत्वाभिमान और फलाभिसन्धि – फलाकांक्षा को त्यागकर अन्तःकरणशुद्धि के लिए विहित कर्मों का अनुष्ठान करनेवाला है वह जब सत्त्वसमाविष्ट = सत्त्व से – आत्मानात्मविवेकज्ञान के हेतुभूत चित्तगत अतिशय से समाविष्ट – सम्-सम्यक् ज्ञान के प्रतिबन्धक रजोगुण – तमोगुणरूप मल के राहित्य से आ -- समन्तात् -- सब प्रकार – फल के अव्यभिचार से आविष्ट = व्याप्त होता है अर्थात् भगवदर्पित नित्य कर्मों के अनुष्ठान से जब पापरूप मल के अपकर्षकस्वरूप और ज्ञानोत्पत्ति में योग्यतारूप पुण्यगुणों के आधानस्वरूप संस्कार से संस्कृत अन्तःकरणवाला होता है; तब वह मेधावी = शम, दम, सर्वकर्मोपरम – सब कर्मों से उपरम-उपरति, गुरूपसदन -- गुरूपसत्ति[36] इत्यादि सामवायिक[37] अङ्गों से युक्त और मनन – निदिध्यासनसंज्ञक फलोपकारी[38] अङ्गों से युक्त श्रवणसंज्ञक वेदान्तवाक्यों के विचार से परिनिष्पन्न-- समुत्पन्न, वेदान्तमहावाक्यकरणक, समस्त अप्रामाण्य की आशंका से रहित, 'चित्' के अतिरिक्त अन्य किसी को विषय न करनेवाला 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.10) = 'मैं ब्रह्म हूँ'-- इत्याकारक ब्रह्मात्मैकज्ञान = ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान ही मेधा है, उससे नित्य युक्त मेधावी[39] अर्थात् स्थितप्रज्ञ होता है । तब वह छिन्नसंशय = 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' – इस विद्या –

---

36. श्रवणादि से अतिरिक्त विषयों से मन का निग्रह करना 'शम' है । श्रवणादि से अतिरिक्त विषयों से बाह्य इन्द्रियों को हटा लेना 'दम' है । 'विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः' = विहित अर्थात् नित्य, नैमित्तिक कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग 'सर्वकर्मोपरम' = सब कर्मों से 'उपरति' है । 'गुरुसमीपे गमनम्' = गुरु के समीप जाना अर्थात् गुरु की शरण ग्रहण करना 'गुरूपसदन' = ' गुरूपसत्ति' है ।

37. शम, दम, उपरति, गुरूपसत्ति आदि श्रवण के सामवायिक = समवाये प्रसृतः = समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले = नित्य सम्बन्धवाले अर्थात् अभिन्न सम्बन्धवाले अङ्ग हैं ।

38. मनन और निदिध्यासन श्रवण के फलोपकारी = फलोपलब्धि में उपकारी – सहकारी अङ्ग हैं ।

39. 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥' (वार्तिक, 3183)

स्ताप्रामाण्याशङ्कं चिदन्याविषयकमहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मात्मैक्यज्ञानमेव मेधा तया नित्यं युक्तो मेधावी स्थितप्रज्ञो भवति । तदा छिन्नसंशयोऽहं ब्रह्मास्मीतिविद्यारूपया मेधया तदविद्योच्छेदे तत्कार्यसंशयविपर्ययशून्यो भवति । तदा च क्षीणकर्मत्वान्न द्वेष्ट्यकुशलं कर्माशोभनं काम्यं निषिद्धं वा कर्म न प्रतिकूलतया मन्यते, कुशले शोभने नित्ये कर्मणि नानुषज्जते न प्रीतिं करोति कर्तृत्वाद्यभिमानरहितत्वेन कृतकृत्यत्वात् । तथा च श्रुतिः—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥' इति ।

यस्मादेवं सात्त्विकस्य त्यागस्य फलं तस्मान्महताऽपि प्रयत्नेन स एवोपादेय इत्यर्थः ॥ 10 ॥

31 तदेवमात्मज्ञानवतः सर्वकर्मत्यागः संभाव्यते कर्मप्रवृत्तिहेत्वो रागद्वेषयोरभावादित्युक्तं, संप्रत्यज्ञस्य कर्मत्यागासंभवे हेतुरुच्यते —

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ 11 ॥

32 मनुष्योऽहं ब्राह्मणोऽहं गृहस्थोऽहमित्याद्यभिमानेनाबाधितेन देहं कर्माधिकारहेतुवर्णाश्रमादिरूपं कर्तृभोक्तृत्वाद्याश्रयं स्थूलसूक्ष्मशरीरेन्द्रियसंघातं बिभर्ति अनाद्यविद्यावासनावशाद्व्यवहारयोग्य-

ज्ञानरूपी मेधा से उसकी अविद्या - अज्ञान का उच्छेद-नाश होने पर उस अविद्या के कार्य संशय -- विपर्यय से शून्य होता है । तब क्षीणकर्म होने से वह अकुशल कर्मों से द्वेष नहीं करता है अर्थात् अशुभ काम्य अथवा निषिद्ध कर्मों को प्रतिकूल नहीं मानता है और कुशल -- शुभ अर्थात् नित्य कर्मों में आसक्त नहीं होता है -- प्रीति नहीं करता है, क्योंकि कर्तृत्वादि के अभिमान से रहित हो जाने से वह कृतकृत्य होता है । इसप्रकार श्रुति भी कहती है --
"उस परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर इसके हृदय की ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सब संशयों का उच्छेद हो जाता है और सब कर्मों का क्षय हो जाता" (मुण्डकोपनिषद्, 2.2.8) ।"
क्योंकि सात्त्विक त्याग का फल ऐसा है, इसलिए महान् प्रयत्न से भी वह ही उपादेय-ग्राह्य है -- यह अर्थ है ॥ 10 ॥

31 इसप्रकार आत्मज्ञानवान् में सर्वकर्मत्याग की संभावना है, क्योंकि उसमें ही कर्मप्रवृत्ति के हेतुभूत राग और द्वेष का अभाव रहता है -- यह कहा है, अब अज्ञानी में कर्मत्याग की संभावना नहीं है -- इसमें हेतु कहते हैं :--
[क्योंकि देहाभिमानी पुरुष के द्वारा अशेषत:-- सम्पूर्णतया सब कर्मों का त्याग नहीं किया जा सकता है, इसलिए जो कर्मों के फल का त्यागी है वही 'त्यागी' है -- ऐसा कहा जाता है ॥ 11 ॥]

32 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं गृहस्थ हूँ' -- इत्यादि अबाधित अभिमान से जो देह को = कर्माधिकार के हेतुभूत वर्णाश्रमादिरूप, कर्तृत्व -- भोक्तृत्वादि के आश्रय स्थूल -- सूक्ष्म शरीर और

इस वार्तिक के अनुसार 'मेधावी' शब्द में नित्य योग में मतुबर्थीय प्रत्यय है । मेधावी = मेधाऽस्यास्ति (जिसके मेधा है = मेधावाला) = 'मेधा' = 'धीर्धारणावती मेधा (अमरकोश, 1.5.2) -- धारणशक्तिवाली धी-बुद्धि 'मेधा' है = 'मेधा' शब्द से 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (पाणिनिसूत्र, 5.2.121) -- इस सूत्र के अनुसार मत्वर्थ में 'विनि' प्रत्यय है = मेधा + विनि – विन् = 'मेधावी' – इसप्रकार निष्पन्न होता है ।

त्वेन कल्पितमसत्यमपि सत्यतया स्वभिन्नमपि स्वाभिन्नतया पश्यन्धारयति पोषयति चेति देहभृदबाधितकर्माधिकारहेतुदेहाभिमानस्तेन विवेकज्ञानशून्येन देहभृता कर्मप्रवृत्तिहेतुरागद्वेष-पौष्कल्येन सततं कर्मसु प्रवर्तमानेन कर्माण्यशेषतो निःशेषेण त्यक्तुं हि यस्मान्न शक्यं न शक्यानि सत्यां कारणसामग्र्यां कार्यत्यागस्याशक्यत्वात् । तस्माद्यस्त्वज्ञोऽधिकारी सत्त्वशुद्ध्यर्थं कर्माणि कुर्वन्नपि भगवदनुकम्पया तत्फलत्यागी । तुशब्दस्तस्य दुर्लभत्वद्योतनार्थः । स त्यागीत्यभिधीयते गौण्या वृत्त्या स्तुत्यर्थमत्याग्यपि सन् । अशेषकर्मसंन्यासस्तु परमार्थदर्शिनैव देहभृता शक्यते कर्तुमिति स एव मुख्यया वृत्त्या त्यागीत्यभिप्रायः ॥ 11 ॥

33 **ननु देहभृतः परमात्मज्ञानशून्यस्य कर्मिणोऽपि कर्मफलाभिसंधित्यागित्वेन गौणसंन्यासिनः परमात्मज्ञानवतो देहाभिमानरहितस्य सर्वकर्मत्यागिनो मुख्यसंन्यासिनश्च कः फले विशेषो यदलाभेन गौणत्वमेकस्य यल्लाभेन च मुख्यत्वमन्यस्य, कर्मफलत्यागित्वं तु द्वयोरपि तुल्यमित्यन्यो विशेषो वाच्यः । उच्यते –**

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य नतु संन्यासिनां क्वचित् ॥ 12 ॥

इन्द्रियों के संघात को धारण करता है अर्थात् अनादि अविद्या की वासनाओं के कारण व्यवहार के योग्य होने से कल्पित देह को -- असत्य को भी सत्यरूप से, स्वभिन्न -- अपने से भिन्न को भी स्वाभिन्न – अपने से अभिन्नरूप से देखता हुआ धारण – पोषण करता है वह देहभृत् – देह धारण करनेवाला = अबाधित कर्माधिकार का हेतु देहाभिमानी है उस विवेकज्ञान से शून्य देहधारी – देहाभिमानी पुरुष के द्वारा = कर्मप्रवृत्ति के हेतुभूत राग-द्वेष की पुष्कलता के कारण सतत – निरन्तर कर्मों में ही प्रवर्तमान – प्रवृत्त हुए पुरुष के द्वारा-हि = यस्मात् - जिस कारण कर्मों का अशेषत: = निःशेषरूप से त्याग नहीं किया जा सकता है, कारण कि कारणसामग्री के रहते हुए कार्य का त्याग नहीं किया जा सकता है; उस कारण जो तो अज्ञानी अधिकारी सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरणशुद्धि के लिए कर्मों को करता हुआ भी भगवान् की अनुकम्पा से उन कर्मों के फल का त्यागी है वह त्यागी न होते हुए भी गौणी-वृत्ति[40] से स्तुति के लिए 'त्यागी' कहा जाता है । यहाँ 'तु' शब्द उसकी दुर्लभता को सूचित करने के लिए है[41] । सब कर्मों का संन्यास-त्याग तो परमार्थदर्शी देही ही कर सकता है, अतः वह ही मुख्यवृत्ति से त्यागी है – यह अभिप्राय है ॥ 11 ॥

33 शंका है – देहधारी परमात्मज्ञानशून्य कर्मी भी कर्मों की फलाकांक्षा का त्यागी होने से गौण – संन्यासी है और परमात्मज्ञानवान् देहाभिमानरहित सर्वकर्मत्यागी मुख्यसंन्यासी है – इन दोनों के फल में क्या विशेष -- भेद है ? जिसके अलाभ से एक में गौणता होती है और जिसके लाभ से दूसरे में मुख्यता होती है, कर्मफलत्यागित्व-कर्मफलत्यागी होना तो दोनों में समान ही है, अतः दूसरा ही कोई विशेष-भेद कहना चाहिए । इसके समाधान में कहते हैं :--

---

40. 'लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता' (तन्त्रवार्तिक, 1.4.22) = लक्ष्यमाणगुणों के योग से वृत्ति की गौणता हो जाती है अर्थात् 'गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणी' = गुणों के सम्बन्ध से 'गौणीवृत्ति' कहलाती है ।

41. यहाँ 'तु' शब्द उक्त प्रकार के त्यागी की दुर्लभता सूचित करने के लिए है अर्थात् दूसरे साधारण अज्ञानी पुरुषों से इसप्रकार से फल की आकांक्षा का त्याग करनेवाला सत्त्वशुद्धि के लिए कर्मों को करता हुआ पुरुष दुर्लभ ही है, विलक्षण ही है – यह सूचित करने के लिए 'तु' शब्द का प्रयोग है ।

34 **अत्यागिनां कर्मफलत्यागित्वेऽपि कर्मानुष्ठायिनामज्ञानां गौणसंन्यासिनां प्रेत्य विविदिषापर्यन्त-सत्त्वशुद्धेः प्रागेव मृतानां पूर्वकृतस्य कर्मणः फलं शरीरग्रहणं भवति मायामयं फल्गुतया लयमदर्शनं गच्छतीति निरुक्तेः । कर्मण इति जात्यभिप्रायमेकवचनमेकस्य त्रिविध-फलत्वानुपपत्तेः । तच्च फलं कर्मत्रिविधत्वात्त्रिविधं पापस्यानिष्टं प्रतिकूलवेदनीयं नारकतिर्यगादिलक्षणं, पुण्यस्येष्टमनुकूलवेदनीयं देवादिलक्षणं, मिश्रस्य तु पापपुण्ययुगलस्य मिश्रमिष्टानिष्टसंयुक्तं मानुष्यलक्षणमित्येवं त्रिविधमित्यनुवादो हेयत्वार्थः ।**

35 **एवं गौणसंन्यासिनां शरीरपातादूर्ध्वं शरीरान्तरग्रहणमावश्यकमित्युक्त्वा मुख्यसंन्यासिनां परमात्मसाक्षात्कारेणाविद्यातत्कार्यनिवृत्तौ विदेहकैवल्यमेवेत्याह—न तु संन्यासिनां क्वचित्पर-मात्मज्ञानवतां मुख्यसंन्यासिनां परमहंसपरिव्राजकानां प्रेत्य कर्मणः फलं शरीरग्रहणमनिष्टमिष्टं मिश्रं च क्वचिद्देशे काले वा न भवत्येवेत्यवधारणार्थस्तुशब्दः, ज्ञानेनाज्ञानस्योच्छेदे तत्कार्याणां कर्मणामुच्छिन्नत्वात् । तथा च श्रुतिः—**

[अत्यागियों -- गौणसंन्यासियों को मरने के पश्चात् भी अनिष्ट, इष्ट और मिश्र -- तीन प्रकार का कर्मफल प्राप्त होता है, किन्तु संन्यासियों को कभी ऐसा फल प्राप्त नहीं होता है ॥ 12 ॥]

34 अत्यागियों = कर्मफलत्यागी होने पर भी कर्मानुष्ठायी अज्ञानी गौणसंन्यासियों को मरने पर = विविदिषापर्यन्त अन्तःकरणशुद्धि होने से पूर्व ही मरने पर पूर्वकृत कर्म का फलरूप मायामय शरीरग्रहण करना होता है, क्योंकि 'जो फल्गु – तुच्छ – असार होने से लय -- अदर्शन को प्राप्त होता है वह 'फल'[42] है – इसप्रकार 'फल' की निरुक्ति -- व्युत्पत्ति है । यहाँ'कर्मणः[43]' -- यह एकवचन जाति के अभिप्राय से है, क्योंकि एक ही कर्म तीन प्रकार के फलवाला नहीं हो सकता है । कर्म तीन प्रकार का है, इसलिए वह फल भी तीन प्रकार का है । पापकर्म का फल 'अनिष्ट' अर्थात् प्रतिकूलवेदनीय नारक -- तिर्यगादि स्वरूप है, पुण्यकर्म का फल 'इष्ट' अर्थात् अनुकूलवेदनीय देवादिस्वरूप है और पाप-पुण्ययुगलमिश्र का फल इष्टानिष्टसंयुक्त – मिश्र मानुष्यस्वरूप है – इसप्रकार 'त्रिविधम्' = 'त्रिविध फल है' – यह अनुवाद हेयार्थ -- त्यागार्थ है ।

35 इसप्रकार गौणसंन्यासियों को शरीरपात – देहपात के पश्चात् शरीरान्तर -- देहान्तर ग्रहण करना आवश्यक है – यह कहकर मुख्यसंन्यासियों को परमात्मसाक्षात्कार से अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति होने पर विदेहकैवल्य ही होता है – यह 'न तु संन्यासिनां क्वचित्' इस वाक्य से कहते हैं:– परमात्मज्ञानवान् मुख्यसंन्यासी परमहंसपरिव्राजकों को मरने पर किसी भी देश में या किसी भी काल में कर्म का फल इष्ट, अनिष्ट और मिश्ररूप शरीरग्रहण नहीं ही करना होता है – यहाँ 'तु' शब्द अवधारण-निश्चय अर्थ में है –, क्योंकि ज्ञान से अज्ञान का उच्छेद -- नाश होने पर अज्ञान के कार्यभूत कर्मों का भी उच्छेद – विनाश हो जाता है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है :--

---

42. फलम् = फल्गुतया लयमदर्शनं गच्छतीति फलम् = 'असारं फल्गु' (अमरकोश, 3.1.56), 'फल्गुः निरर्थकेऽपि च' (हैमकोश), 'फल्वसारेऽभिधेयवत्' (विश्वकोश) – इसप्रकार कोशत्रय के अनुसार 'फल्गु' का अर्थ है – असार, निरर्थक, निःसार अतएव असार – निःसार होने से जो लय को प्राप्त होता है अर्थात् दिखाई नहीं देता है वह 'फल' कहलाता है । फलरूप मायामय शरीर है अर्थात् जिसप्रकार फल में असारत्व है उसीप्रकार मायामय होने से शरीर में भी असारत्व स्पष्ट ही है । ऐसा मायामय शरीर ही अत्यागियों को मरने के पश्चात् ग्रहण करना होता है ।

43. 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पाणिनिसूत्र, 1.2.58) -- 'जाति का कथन होने पर एकता अर्थ में बहुवचन विकल्प से होता है' – इस सूत्र के अनुसार 'जाति' = अनेकानुगत धर्म का बोध एकत्व – एकवचन से होता है । अतएव प्रकृत में 'कर्मणः' – यह एकवचन जाति के अभिप्राय से है ।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ इति ।'

पारमर्षं च सूत्रम्– 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' इति परमात्मज्ञानादशेषकर्मक्षयं दर्शयति । तेन गौणसंन्यासिनां पुनः संसारो मुख्यसंन्यासिनां तु मोक्ष इति फले विशेष उक्तः ।

36 अत्र कश्चिदाह–

'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च ॥'

इत्यादौ कर्मफलत्यागिषु संन्यासिशब्दप्रयोगात्कर्मिण एवात्र फलत्यागसाम्यात्संन्यासिशब्देन गृह्यन्ते । तेषां च सात्त्विकानां नित्यकर्मानुष्ठानेन निषिद्धकर्माननुष्ठानेन च पापासंभवान्नानिष्टं फलं संभवति नापीष्टं काम्याननुष्ठानात्, ईश्वरार्पणेन फलस्य त्यक्तत्वाच्च । अत एव मिश्रमपि नेति त्रिविधकर्मफलासंभवः । अत एवोक्तम्–

'मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया ॥' इति ।

37 स वक्तव्यः शब्दस्यार्थस्य च मर्यादा न निरधारि भवतेति । तथाहि–'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः' इति शब्दमर्यादा । यथा 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' इत्यत्रा-

---

"उस कार्य--कारणरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर इसके हृदय की ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सब संशयों का उच्छेद–नाश हो जाता है और सब कर्मों का क्षय हो जाता है" (मुण्डकोपनिषद्, 2.2-8)। महर्षि वेदव्यास का सूत्र है -- 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.13) = 'ब्रह्म का अधिगम -- अनुभव होने पर उत्तर के अघ का अश्लेष और पूर्व के अघ का विनाश होता है, क्योंकि श्रुति इसप्रकार व्यपदेश – कथन करती है' -- यह सूत्र भी परमात्मज्ञान से सम्पूर्ण कर्मों के क्षय को प्रदर्शित करता है । अत: 'गौणसंन्यासियों को पुन: संसार की प्राप्ति होती है और मुख्यसंन्यासियों को तो मोक्षलाभ ही होता है' -- यह दोनों के फल में विशेष-भेद कहा है ।

36 यहाँ कोई कहते हैं[44] --

'अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य: । स संन्यासी च ।।' (गीता, 6.1) = 'जो पुरुष कर्मफल की अपेक्षा न कर अपने कार्य-कर्तव्य कर्मों को करता है वह संन्यासी है' – इत्यादि में कर्मफल-त्यागी के लिए 'संन्यासी' शब्द का प्रयोग किया गया है, अत: कर्मी ही यहाँ फलत्यागसादृश्य से 'संन्यासी' शब्द से ग्रहण होता है । उन सात्त्विकों के लिए नित्य-कर्मों का अनुष्ठान करने से और निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान न करने से पाप संभव न होने के कारण अनिष्ट फल संभव नहीं होता है तथा काम्य कर्मों का अनुष्ठान न करने से और ईश्वरार्पण से फल का त्याग कर देने से इष्टफल भी संभव नहीं होता है, अतएव मिश्रफल भी संभव नहीं होता है – इसप्रकार त्रिविध कर्मफल संभव नहीं होता है । अतएव कहा है :--

"मोक्षार्थी पुरुष काम्य और निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त न हो तथा प्रत्यवायनिवृत्ति की इच्छा से नित्य और नैमित्तिक कर्मों को करे" (श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, 110) ।

37 उनसे यह कहना है कि आपने शब्द और अर्थ की मर्यादा का निर्धारण नहीं किया है । यह कहा

---

44. यहाँ 'कोई' नीलकण्ठ और श्रीधरस्वामी है । प्रकृतांश उन्हीं के मत का संकेत हैं ।

मावास्याशब्दः काले मुख्यः । तत्कालोत्पन्ने कर्मणि च गौणः 'य एवं विद्वानमावास्यायां यजते' इत्यादौ । तत्रामावास्यायामिति कर्मग्रहणे पितृयज्ञस्य तदङ्गत्वान्न फलं कल्पनीयमिति विधेर्लाघवमिति पूर्वपक्षितं कात्यायनेन— 'अङ्गं वा समभिव्याहारात्' इति । गौणार्थस्य मुख्यार्थोपस्थितिपूर्वकत्वान्मुख्यार्थस्य चेहाबाधादमावास्याशब्देन काल एव गृह्यते फलकल्पनागौरवं तूत्तरकालीनं प्रमाणवत्त्वादङ्गीकार्यमिति सिद्धान्तितं जैमिनिना— 'पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात्' इति । एवं स्थिते संन्यासिशब्दस्य सर्वकर्मत्यागिनि मुख्यत्वात्कर्मिणि च फलत्यागसाम्येन गौणत्वान्मुख्यार्थस्य चेहाबाधात्तस्यैव संन्यासिशब्देन ग्रहणमिति शब्दमर्यादया सिद्धम् । सत्यां कारणसामग्र्यां कार्योत्पाद इति चार्थमर्यादा । तथाहि— ईश्वरार्पणेन त्यक्तकर्मफलस्यापि सत्त्वशुद्ध्यर्थं नित्यानि कर्माण्यनुतिष्ठतोऽन्तराले मृतस्य प्रागर्जितैः कर्मभिस्त्रिविधं शरीरग्रहणं केन वार्यते 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' इति श्रुतेः । अन्ततः सत्त्वशुद्धिफलज्ञानोत्पत्त्यर्थं तदधिकारिशरीरमपि तस्याऽऽवश्यकमेव । अत एव विविदिषासंन्यासिनः श्रवणादिकं कुर्वतोऽन्तकाले मृतस्य योगभ्रष्टशब्दवाच्यस्य 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' इत्यादिना ज्ञानाधिकारिशरीरप्राप्ति-

गया है कि गौण और मुख्य – दोनों से यदि कार्य की प्राप्ति हो तो मुख्य से ही कार्य का ज्ञान करना चाहिए – यह शब्द की मर्यादा है । जैसे :-- 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' = 'अमावास्या के दिन अपराह्ण – दोपहर के पश्चात् पिण्डपितृयज्ञ करते हैं' -- इस वाक्य में 'अमावास्या' शब्द काल के अर्थ में मुख्य है, किन्तु 'य एवं विद्वानमावास्यायां यजते' = 'इसप्रकार का जो विद्वान् अमावास्या – कर्म में यजन करता है' – इत्यादि में उस काल में होनेवाले कर्म के अर्थ में गौण है । उसमें 'अमावास्यायाम्' – इस प्रथम वाक्य में 'अमावास्या' शब्द से यदि कर्म का ग्रहण होता है तो पितृयज्ञ उस कर्म का अङ्ग होगा अतएव पितृयज्ञ के किसी पृथक् फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए – इसप्रकार विधि में लाघव है – यह कात्यायन ने पूर्वपक्ष किया है – 'अङ्गं वा समभिव्याहारात्' = 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' – इस वाक्य में संशय है कि क्या पिण्डपितृयज्ञ अमावास्य – कर्म का अङ्ग है अथवा अङ्ग नहीं है ? तो पूर्वपक्ष है – वह अङ्ग है, क्योंकि फल के साथ उसका कथन किया गया है' । किन्तु गौणार्थ की उपस्थिति मुख्यार्थ की उपस्थितिपूर्वक होती है, कारण कि मुख्यार्थोपस्थिति में मुख्यार्थबाध = अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति होने पर रूढ़ि – प्रसिद्धि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन की सूचना करने के लिए मुख्यार्थ से सम्बन्धित किन्तु मुख्यार्थ से भिन्न अर्थात् गौणार्थ का ग्रहण किया जाता है[45]; यहाँ मुख्यार्थ का बाध नहीं है, अतः 'अमावास्या' शब्द से काल ही का ग्रहण होता है; फल की कल्पना तो गौरव है और फिर उत्तर कालीन है, वह भी प्रमाणसिद्ध होने से अङ्गीकार्य – स्वीकार्य ही है – इसप्रकार जैमिनि ने सिद्धान्त किया है -- 'पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात्' (मीमांसादर्शन, 4.4.19) = पितृयज्ञ का 'स्व' शब्द से अभिहित काल से सम्बन्ध है, अतः वह अमावास्या – कर्म का अङ्ग नहीं है' (शाबरभाष्य, 4.4.19) । ऐसी स्थिति में– 'संन्यासी' शब्द 'सर्वकर्मत्यागी' के अर्थ में मुख्य है और 'कर्मी' के अर्थ में फलत्यागसाम्य से गौण है अतएव यहाँ

45. मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ।। (साहित्यदर्पण, 2.5) ।

रवश्यंभाविनीति निर्णीतं षष्ठे यत्र सर्वकर्मत्यागिनोऽप्यज्ञस्य शरीरग्रहणमावश्यकं तत्र किं वक्तव्यमज्ञस्य कर्मिण इति । तस्मादज्ञस्यावश्यं शरीरग्रहणमित्यर्थमर्यादया सिद्धं पराक्रान्तं चैकभविकपक्षनिराकरणे सूरिभिः। तस्माद्यथोक्तं भगवत्पूज्यपादभाष्यकृतं व्याख्यानमेव ज्यायः।

38 तदयमत्र निष्कर्षः– अकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वितीयसत्यस्वप्रकाशब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण निर्विकल्पेन वेदान्तवाक्यजन्येन विचारनिश्चितप्रामाण्येन सर्वप्रकाराप्रामाण्यशङ्काशून्येन ब्रह्मात्मज्ञानेनाऽऽत्माज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यकर्तृत्वाद्यभिमानरहितः परमार्थसंन्यासी सर्वकर्मोच्छेदाच्छुद्धः केवलः

मुख्यार्थ का बाध नहीं है अतएव 'संन्यासी' शब्द से 'सर्वकर्मत्यागी' – मुख्यार्थ का ही ग्रहण होता है -- यह शब्दमर्यादा से सिद्ध होता है । कारण-सामग्री रहने पर कार्य की उत्पत्ति अवश्य होती है – यह अर्थ की मर्यादा है । यह कहा गया है कि जो ईश्वरार्पणबुद्धि से सब कर्मों के फल का त्याग किये हुए भी सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरणशुद्धि के लिए नित्य कर्मों का अनुष्ठान करते हुए यदि बीच ही में = अन्तःकरणशुद्धि होने से पूर्व ही मर जाता है तो उसको उसके पूर्वार्जित कर्मों द्वारा तीन प्रकार के शरीर को ग्रहण-धारण करने से कौन रोक सकता है ? श्रुति भी कहती है – 'हे गार्गि ! जो पुरुष इस अक्षर को न जानकर ही इस लोक से चला जाता है वह कृपण- दीन है'। अन्त में अन्तःकरणशुद्धि के फलस्वरूप ज्ञान की उत्पत्ति के लिए उसको ज्ञानाधिकारी शरीर भी ग्रहण करना आवश्यक ही होता है । अतएव छठे अध्याय में 'योगभ्रष्ट पुरुष पवित्र और श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है' (गीता, 6.41) -- इत्यादि से यह निर्णय किया गया है कि विविदिषा संन्यासी श्रवणादि करता हुआ बीच ही में मर जाता है तो वह 'योगभ्रष्ट' कहा जाता है, उसको ज्ञानाधिकारी शरीर की प्राप्ति अवश्य ही होती है । जहाँ सब कर्मों के त्यागी भी अज्ञानी को शरीरग्रहण करना आवश्यक है वहाँ कर्मी अज्ञानी के विषय में तो कहना ही क्या है ?. अतः अर्थमर्यादा से यह सिद्ध होता है कि अज्ञानी को शरीर ग्रहण करना आवश्यक है । एकभविकपक्ष[46] का निराकरण करने में विद्वानों ने अतिश्रम किया है । इसलिए यथोक्त भगवत्पूज्यपाद शंकराचार्य प्रणीत भाष्यकृत व्याख्यान ही श्रेष्ठ है ।

38 यहाँ यह निष्कर्ष है – वेदान्तवाक्यजन्य, विचारजन्य प्रमाण से निश्चित, सब प्रकार के अप्रामाण्य की शङ्का से शून्य, निर्विकल्पक अकर्ता-अभोक्ता-परमानन्द-अद्वितीय-सत्य-स्वयंप्रकाश-ब्रह्मरूप से आत्मसाक्षात्कारस्वरूप ब्रह्मात्मज्ञान से आत्मसम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होने पर अज्ञान के कार्यभूत

46. 'एकभविक' पक्ष यह है कि एक ही जन्म के कर्म का एक जन्म में भोग होता है, जन्मान्तर के कर्मों का जन्मान्तर में भोग नहीं होता है । 'एकभविक' मत के निराकरण के लिए ही महर्षि बादरायण का सूत्र है – 'कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च' (ब्रह्मसूत्र, 3.1.8) = 'स्वर्गादि के लिए किये हुए इष्टादि कर्मों के फलों के उपभोग से अत्यय – विनष्ट होने पर भी कर्मान्तरजन्य संचित अदृष्ट – कर्मरूप अनुशय – कर्माशय-वासना सहित ही जीव इस लोक में आते हैं, यह श्रुति और स्मृति से सिद्ध होता है । श्रुति है – 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्' (छान्दोग्योपनिषद्, 5.10.7) = 'आनेवाले जीवों में जो इस लोक में रमणीय – सुन्दर आचरणवाले – अवशिष्ट पुण्यकर्मवाले होते हैं वे अवश्य ही रमणीय योनिरूप ब्राह्मणादि योनि को प्राप्त करते हैं' – इत्यादि । इसीप्रकार गौतम-स्मृति कहती है – 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' (द्वितीय प्रकरण) = 'अपने कर्मों के आचरण में वर्तमान वर्ण और आश्रमवाले मरकर स्वर्गादि में जाकर कर्मफल का अनुभव – उपभोग करके फिर अवशिष्ट कर्म द्वारा विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, श्रुत, वृत्त, वित्त, सुख और मेधावाले होते हुए जन्म ग्रहण करते हैं' । उक्त ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में भाष्यकार शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य आदि आचार्यों ने 'एकभविक' मत का विस्तारपूर्वक निराकरण-खण्डन किया है ।

सन्नाविद्याकर्मादिनिमित्तं पुनः शरीरग्रहणमनुभवति सर्वभ्रमाणां कारणोच्छेदेनोच्छेदात् । यस्त्वविद्यावान्कर्तृत्वाद्यभिमानी देहभृत्स त्रिविधो रागादिदोषप्राबल्यात्काम्यनिषिद्धादियथेष्टकर्मानुष्ठायी मोक्षशास्त्रानधिकार्येकः । अपरस्तु यः प्राक्तसुकृतवशात्किंचित्प्रक्षीणरागादिदोषः सर्वाणि कर्माणि त्यक्तुमशक्नुवन्निषिद्धानि काम्यानि च परित्यज्य नित्यानि नैमित्तिकानि च कर्माणि फलाभिसंधित्यागेन सत्त्वशुद्ध्यर्थमनुतिष्ठन्गौणसंन्यासी मोक्षशास्त्राधिकारी द्वितीयः सः । ततो नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेनान्तःकरणशुद्ध्या समुपजातविविदिषः श्रवणादिना वेदनं मोक्षसाधनं संपिपादयिषुः सर्वाणि कर्माणि विधितः परित्यज्य ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसर्पति विविदिषासंन्यासिसमाख्यस्तृतीयः । तत्राऽऽद्यस्य संसारित्वं सर्वप्रसिद्धं, द्वितीयस्य त्वनिष्टमित्यादिना व्याख्यातं, तृतीयस्य तु अयतिः श्रद्धयोपेत इति प्रश्नमुत्थाप्य निर्णीतं षष्ठे । अज्ञस्य संसारित्वं ध्रुवं कारणसामग्र्याः सत्त्वात् । तत्तु कस्यचिज्ज्ञानाननुगुणं कस्यचिज्ज्ञानानुगुणमिति विशेषः । विज्ञस्य तु संसारकारणाभावात्स्वत एव कैवल्यमिति द्वौ पदार्थौ सूत्रितावस्मिञ्श्लोके ॥ 12 ॥

39 **तत्राऽऽत्मज्ञानरहितस्य संसारित्वे हेतुः कर्मत्यागासंभव उक्तः 'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' इति । तत्राज्ञस्य कर्मत्यागासंभवे को हेतुः कर्महेतावधिष्ठानादिपञ्चके तादा-**

कर्तृत्वादि के अभिमान से रहित जो परमार्थ संन्यासी है वह सब कर्मों का उच्छेद-विनाश हो जाने से शुद्ध, केवल हो जाने के कारण अविद्या, कर्मादि से होनेवाले पुन: शरीरग्रहण का अनुभव नहीं करता है, क्योंकि अज्ञानरूप कारण का उच्छेद-विनाश हो जाने से उसके कार्यभूत सब भ्रमों का उच्छेद-विनाश हो जाता है । किन्तु जो अविद्यावान्, कर्तृत्वादि का अभिमानी देहधारी पुरुष है वह तीन प्रकार का है – जो रागादि दोषों की प्रबलता के कारण काम्य, निषिद्धादि यथेष्ट कर्मों का आचरण करनेवाला, मोक्षशास्त्र के ज्ञान का अनधिकारी है वह एक प्रकार का है । इसके अतिरिक्त अन्य जो पूर्वकृत सुकृत – शुभ कर्मों के कारण रागादि दोषों के कुछ क्षीण हो जाने से, सब कर्मों का त्याग करने में समर्थ न होने पर भी, निषिद्ध और काम्य कर्मों का त्याग कर अन्तःकरणशुद्धि के लिए फलाभिसन्धि – फलाकांक्षा के त्यागपूर्वक नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ गौण-संन्यासी, मोक्षशास्त्र के ज्ञान का अधिकारी है वह दूसरे प्रकार का है । इसके अतिरिक्त जो नित्य और नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान द्वारा अन्त:करणशुद्धि से विविदिषा उत्पन्न होने पर श्रवणादि द्वारा मोक्ष के साधनभूत वेदन-ज्ञान का सम्पादन करने की इच्छा से युक्त हो सब कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग कर ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाता है वह 'विविदिषा-संन्यासी'– नाम का तीसरे प्रकार का है । इसमें प्रथम का संसारित्व -- संसारी होना सर्वजनप्रसिद्ध है, द्वितीय की व्याख्या तो 'अनिष्टमिष्टम्'– इत्यादि से की गई है तथा तृतीय का निर्णय छठे अध्याय में 'अयति: श्रद्धयोपेतो' (गीता, 6.37)-- इसप्रकार प्रश्न उठाकर किया गया है । अज्ञानी का संसारी होना निश्चित है, क्योंकि अज्ञानरूप कारण सामग्री विद्यमान रहती है । भेद इतना ही है कि उनमें से किसी का संसारी होना ज्ञानोत्पत्ति के अनुकूल नहीं होता है और किसी का ज्ञानोत्पत्ति के अनुकूल होता है । किन्तु जो विज्ञ-ज्ञानी है उसके तो संसार का कारण न रहने से स्वत: ही कैवल्य हो जाता है – इसप्रकार संसारित्व और कैवल्य -- ये दो पदार्थ इस श्लोक में सूत्ररूप से कहे गए है ।। 12 ।।

39 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषत:' (गीता, 18.11) = 'क्योंकि देहाभिमानी पुरुष के द्वारा सम्पूर्णतया सब कर्मों का त्याग नहीं किया जा सकता है' -- इत्यादि से आत्मज्ञानरहित पुरुष के संसारित्व में कर्मत्याग का असंभव होना हेतु कहा गया है । अज्ञानी के कर्मत्याग के असंभव होने

त्म्याभिमान इतीममर्थं चतुर्भिः श्लोकैः प्रपञ्चयति । तत्र प्रथमेनाधिष्ठानादीनि पञ्च वेदान्तप्रमाणमूलानि हेयत्वार्थमवश्यं ज्ञातव्यानीत्याह–

पञ्चेमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ 13 ॥

40 इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये कारणानि निर्वर्तकानि हे महाबाहो मे मम परमाप्तस्य सर्वज्ञस्य च वचनान्निबोध बोद्धुं सावधानो भव । न ह्यत्यन्तदुर्ज्ञानान्येतान्यनवहितचेतसा शक्यन्ते ज्ञातुमिति चेतःसमाधानविधानेन तानि स्तौति । महाबाहुत्वेन च सत्पुरुष एव शक्तो ज्ञातुमिति सूचयति स्तुत्यर्थमेव ।

41 किमेतान्यप्रमाणकान्येव तव वचनाज्ज्ञेयानि नेत्याह– सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि निरतिशयपुरुषार्थप्राप्त्यर्थं सर्वानर्थनिवृत्त्यर्थं च ज्ञातव्यानि जीवो ब्रह्म तयोरैक्यं तद्बोधोपयोगिनश्च श्रवणादयः पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्तेऽस्मिन्निति सांख्यं वेदान्तशास्त्रं तस्मिन्नात्मवस्तुमात्रप्रतिपादके किमर्थमनात्मभूतान्यवस्तूनि लोकसिद्धानि च कर्मकारणानि पञ्च प्रतिपाद्यन्त इत्यतः शास्त्रविशेषणं कृतान्त इति । कृतमिति कर्मोच्यते तस्यान्तः परिसमाप्तिस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्या

में क्या हेतु है ? कर्म के हेतुभूत अधिष्ठानादि पाँच पदार्थों में तादात्म्याभिमान ही कर्मत्यागासंभव में हेतु है – इस अर्थ को चार श्लोकों से विस्तारपूर्वक कहते हैं । उनमें, प्रथम श्लोक अर्थात् तेरहवें श्लोक से 'वेदान्तप्रमाणमूलक अधिष्ठानादि पाँच पदार्थ हेयत्वार्थ अवश्य ज्ञातव्य हैं' -- यह कहते हैं :--

[हे महाबाहो ! तुम मेरे वचन से कृतान्त = जिसमें कर्म का अन्त होता है उस सांख्य = वेदान्तशास्त्र में कहे गये इन पाँच पदार्थों को सब कर्मों की सिद्धि के लिए कारण समझो ॥ 13 ॥]

40 हे महाबाहो ! तुम मुझ परम आप्त और सर्वज्ञ के वचन से इन वक्ष्यमाण पाँच पदार्थों को सब कर्मों की सिद्धि के लिए = निष्पत्ति के लिए कारण = निर्वर्तक – निष्पन्न करनेवाले समझो अर्थात् समझने के लिए सावधान होओ । क्योंकि ये पाँचों पदार्थ अत्यन्त दुर्ज्ञान-दुर्बोध – समझने में कठिन हैं, इसलिए इनको अनवहित -- असमाहित -- असावधान चित्त से नहीं जाना – समझा जा सकता है – इसप्रकार चित्तसमाधान = चित्तसमाधि के विधान से उन पाँच पदार्थों की स्तुति करते हैं । महाबाहो[47] ! -- सम्बोधन से भी उक्त पाँच पदार्थों की स्तुति के लिए ही यह सूचित करते हैं कि सत्पुरुष ही इन पाँच पदार्थों को जान सकता है ।

41 क्या ये पाँच पदार्थ अप्रमाणिक ही हैं ? जो कि आपके वचन से ही जाने जा सकते हैं -- इस पर कहते हैं -- नहीं, 'सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि' = 'सांख्य कृतान्त-शास्त्र में कहे गये हैं' = निरतिशय पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए और सब अनर्थों की निवृत्ति के लिए ये अवश्य ज्ञातव्य हैं । जीव, ब्रह्म, जीव और ब्रह्म की एकता तथा उस बोध-ज्ञान के उपयोगी श्रवणादि पदार्थों की संख्या[48] --

---

47. तुम मेरे वचन से पँचविध कर्मकारणों को जानकर महाबाहु = सत्पुरुष द्वारा साध्य कायिक युद्धरूप कर्म में कर्तृत्वाभिमान का परित्याग करो – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

48. संख्या = सम्यग्विवेकेन आत्मतत्त्वकथनम् = सम्यक् क्रमपूर्वकं ख्यानं पदार्थकथनम् यस्यां सा संख्या = कर्मपूर्वा विचारणा = व्युत्पत्तिः संख्या ।

यत्र तस्मिन्कृतान्ते शास्त्रे प्रोक्तानि प्रसिद्धान्येव लोकेऽनात्मभूतान्येवाऽऽत्मतया मिथ्याज्ञानारोपेण गृहीतान्यात्मतत्त्वज्ञानेन बाधसिद्धये हेयत्वेनोक्तानि । यदा ह्यन्यधर्म एव कर्माऽऽत्मन्यविद्यया-ऽध्यारोपितमित्युच्यते तदा शुद्धात्मज्ञानेन तद्बाधात्कर्मणोऽन्तः कृतो भवति । अत आत्मनः कर्मासंबन्धप्रतिपादनायानात्मभूतान्येव पञ्च कर्मकारणानि वेदान्तशास्त्रे मायाकल्पितान्यनूदिता-नीति नाद्वैतात्ममात्रतात्पर्यहानिस्तेषां तदङ्गत्वेनैवेतरत्र प्रतिपादनात् । इहापि च सर्वकर्मान्तत्वं ज्ञानस्य प्रतिपादितं 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इति । तस्माज्ज्ञानशास्त्रस्य कर्मान्तत्वमुपपन्नम् ॥ 13 ॥

42 **प्रमाणमूलानि कर्मकारणानि पञ्चाऽऽत्मनोऽकर्तृत्वसिद्ध्यर्थं हेयत्वेन ज्ञातव्यानीत्युक्ते कानि तानीत्यपेक्षायां तत्स्वरूपमाह द्वितीयेन–**

व्युत्पत्ति जिसमें की जाती है वह सांख्य[49] अर्थात् वेदान्तशास्त्र है; उस आत्मवस्तुमात्र के प्रतिपादक सांख्य = वेदान्तशास्त्र में अनात्मभूत, अवस्तुस्वरूप और लोकसिद्ध पाँच कर्म के कारणों का प्रतिपादन क्यों – किसलिए किया है ? इस जिज्ञासा से शास्त्र का विशेषण है – 'कृतान्ते' = कृतम् – किया जाता है अतएव 'कर्म' कहा जाता है, उस कर्म का अन्त अर्थात् परिसमाप्ति तत्त्वज्ञानोत्पत्ति से जिसमें होती है वह 'कृतान्त[50]' है; उस कृतान्त – शास्त्र में उक्त पाँच पदार्थ कहे गये हैं = लोक में प्रसिद्ध ही अनात्मभूत ये पाँच पदार्थ आत्मभाव से मिथ्याज्ञान के आरोप द्वारा गृहीत हैं अतएव आत्मतत्त्वज्ञान से बाध की सिद्धि के लिए हेयरूप से कहे गये हैं । जब 'अन्य धर्म ही कर्म आत्मा में अविद्या से अध्यारोपित[51] है' – ऐसा कहा जाता है, तब शुद्ध आत्मज्ञान के द्वारा उस अविद्या का बाध होने से कर्म का अन्त किया हुआ ही होता है । अत: आत्मा का कर्म के साथ असम्बन्ध का प्रतिपादन करने के लिए अनात्मभूत ही पाँच कर्मकारण वेदान्तशास्त्र में माया से कल्पित हैं, उनका ही यहाँ अनुवाद किया है । अत: इससे अद्वैत आत्ममात्र में तात्पर्य की हानि नहीं होती है, क्योंकि उनका उस तात्पर्य के अङ्गरूप से अन्यत्र प्रतिपादन किया गया है । यहाँ भी ज्ञान में सब कर्मों के अन्तत्व = समाप्ति को प्रतिपादित किया है, जैसा कि पूर्व में भगवान् ने कहा है – 'सब श्रौत और स्मार्त कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं' (गीता, 4.33) । अत: ज्ञानशास्त्र में कर्मान्तत्व युक्तियुक्त है ॥ 13 ॥

42 प्रमाणमूलक पाँच कर्मकारण आत्मा में अकर्तृत्व की सिद्धि के लिए हेयरूप से ज्ञातव्य हैं – ऐसा कहने पर 'वे कर्मकारण कौन-से हैं' - इस अपेक्षा -- जिज्ञासा से उनके स्वरूप को द्वितीय श्लोक अर्थात् चौदहवें श्लोक से कहते हैं :--

49. शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते (विष्णुसहस्रनामशाङ्करभाष्य; व्यासस्मृति) । सम्यक् ख्यायते ज्ञायते परमात्माऽनेनेति सांख्यं तत्त्वज्ञानम् (श्रीधरीटीका) ।

50. कृतं कर्म तस्यान्त: समाप्तिरस्मिन्निति कृतान्त: – वेदान्तसिद्धान्त: (श्रीधरीटीका) । श्रीधरस्वामी ने विकल्प में अन्य व्युत्पत्ति इसप्रकार की है – संख्यायन्ते गण्यन्ते तत्त्वानि यस्मिन्निति सांख्यं, कृत: अन्तो निर्णयो यस्मिन्निति कृतान्तं सांख्यशास्त्रमेव – जो ग्राह्य नहीं है, क्योंकि सांख्यशास्त्र में अधिष्ठानादि को कारणरूप से नहीं कहा गया है और सांख्यशास्त्र अनेक, भिन्न, भोक्ता आत्मा-पुरुष का प्रतिपादक है जबकि स्वसिद्धान्त – वेदान्तसिद्धान्त कर्तृत्व-भोक्तृत्वशून्य एक ही आत्मा का प्रतिपादक है – इसप्रकार स्वसिद्धान्त के विरुद्ध सांख्यशास्त्र का प्रतिपादन करना स्ववदतोव्याघात होगा (भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

51. वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोप: (वेदान्तसार) = वस्तु में अवस्तु के आरोप को 'अध्यारोप' कहते हैं; जैसे – असर्प-रूप अर्थात् सर्प के आस्तित्व से रहित रज्जु में सर्प का आरोप होता है, वैसे ही सच्चिदानन्द, अनन्त, अद्वयब्रह्म – वस्तु में अज्ञानादि सकल जड़समूह – अवस्तु आरोपित होती है ।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ 14 ॥

43 **इच्छाद्वेषसुखदुःखचेतनाद्यभिव्यक्तेराश्रयोऽधिष्ठानं शरीरम् । तथा कर्ता यथाऽधिष्ठानमनात्मा भौतिकं मायाकल्पितं स्वाप्नगृहरथादिवत्तथा कर्ताऽहं करोमीत्याद्यभिमानवाञ्ज्ञानशक्तिप्रधानापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्योऽहंकारोऽन्तःकरणं बुद्धिर्विज्ञानमित्यादिपर्यायशब्दवाच्यस्तादात्म्याध्यासेनाऽऽत्मनि कर्तृत्वादिधर्माध्यारोपहेतुरनात्मा भौतिको मायाकल्पितश्चेति तथाशब्दार्थः । स्थूलशरीरस्य लोकायतिकैरात्मत्वेन परिगृहीतस्याप्यन्यैः परीक्षकैरनात्मत्वेन निश्चयात्तद्दृष्टान्तेन तार्किकादिभिरात्मत्वेन परिगृहीतस्य कर्तुरप्यनात्मत्वनिश्चयः सुकर इत्यर्थः । करणं च श्रोत्रादि शब्दाद्युपलब्धिसाधनम् । चशब्दस्तथेत्यनुकर्षार्थः । पृथग्विधं नानाप्रकारं पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति द्वादशसंख्यम् । करणवर्गे मनो बुद्धिश्चेति वृत्तिविशेषौ वृत्तिमांस्त्वहंकारः कर्तैव । चिदाभासस्तु सर्वत्रैवाविशिष्टः । विविधा नानाप्रकाराः**

[अधिष्ठान, कर्ता, पृथक्-पृथक् करण और विविध प्रकार की पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ – चार कर्मकारण तो ये हैं तथा पाँचवा दैव है ॥ 14 ॥]

43 इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, चेतना आदि की अभिव्यक्ति का आश्रय 'अधिष्ठान' है वह शरीर है । तथा कर्ता = जिसप्रकार अधिष्ठान – शरीर अनात्मा, भौतिक, मायाकल्पित, स्वप्न में निर्मित गृह, रथादि के समान है उसीप्रकार 'कर्ता' = 'मैं करता हूँ' -- ऐसा अभिमानवान्, ज्ञानशक्तिप्रधान, अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों का कार्य 'अहंकार[52]' है, जो अन्तःकरण, बुद्धि, विज्ञानादि पर्याय शब्दों से वाच्य है, तादात्म्याध्यास से आत्मा में कर्तृत्वादि धर्मों के अध्यारोप का हेतु – कारण है; अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित है -- यह 'तथा' शब्द का अर्थ है । लोकायतिकों[53] द्वारा आत्मरूप से ग्रहण किये हुए शरीर का अन्य परीक्षक विद्वानों ने अनात्मरूप से निश्चय किया है अतएव उस दृष्टान्त से तार्किकों[54] द्वारा आत्मरूप से ग्रहण किये हुए कर्ता का भी अनात्मरूप से निश्चय करना सुकर -- सुगम ही है -- यह अर्थ है । और 'करण[55]' श्रोत्रादि हैं जो शब्दादि विषयों की उपलब्धि के साधन हैं । 'च[56]' शब्द 'तथा' -- इस अव्यय के अनुकर्षण के लिए है । ये श्रोत्रादि करण

---

52. 'अभिमानोऽहङ्कारः' = अभिमान 'अहंकार' है । 'जो यह गृहीत और विचारित विषय है, इसमें मैं ही अधिकृत हूँ, मैं ही इनको करने में समर्थ हूँ, ये मेरे लिए ही हैं, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई इनमें अधिकृत नहीं है, अतः मैं ही अधिकृत हूँ, मैं ही कर्ता हूँ' – इसप्रकार का यह अभिमान ही 'अहंकार' है ।

53. 'चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा, देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात्' (सर्वदर्शनसंग्रह) = लोकायतिक कहते हैं कि चैतन्य से युक्त शरीर ही आत्मा है, शरीर के अतिरिक्त आत्मा नाम का दूसरा कोई भी पदार्थ है – इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है ।

54. 'आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्' (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका, 47) = 'आत्मा इन्द्रिय और शरीर का अधिष्ठाता है, क्योंकि चक्षुआदि जो ज्ञान के करण हैं उनको अपने फल अर्थात् ज्ञान के लिए किसी कर्ता की अपेक्षा होती है और वह 'कर्त्ता' आत्मा है ।

55. साधकतमं करणम् (पाणिनिसूत्र, 1.4.42) = साधकतम = अतिशयित साधक अर्थात् प्रकृष्ट कारण को 'करण' कहा जाता है । 'करण' वह कारण है जिसके रहने पर फल की अनुपलब्धि – अप्राप्ति नहीं रहती है (फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम् – पदार्थचन्द्रिका) ।

56. यहाँ 'च' शब्द 'तथा' शब्द का अनुकर्षण अर्थात् पुनः ग्रहण करने के लिए है अर्थात् यह सूचित करने के लिए है कि जिसप्रकार अधिष्ठान -- शरीर अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित हैं उसीप्रकार ये बारह प्रकार के करण भी अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित हैं ।

पञ्चधा दशधा वा प्रसिद्धाः । चशब्दस्तथेत्यनुकर्षार्थः । पृथगसंकीर्णाः, चेष्टाः क्रियारूपाः क्रियाशक्तिप्रधानापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्याः क्रियाप्राधान्येन वायवीयत्वेन व्यपदिश्यमानाः प्राणापानव्यानोदानसमाना । नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजयाख्याश्च तदन्तर्भूता एव । अत्र च सुषुप्तावन्तःकरणस्य कर्तुर्लयेऽपि प्राणव्यापारदर्शनाद्भेदव्यपदेशाच्चान्तःकरणादत्यन्तभिन्न एव प्राण इति केचित् । क्रियाशक्तिज्ञानशक्तिमदेकमेव जीवत्वोपाधिभूतमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्यं क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राण इति ज्ञानशक्तिप्राधान्येन चान्तःकरणमिति व्यपदिश्यत इत्यभियुक्ताः । 'स ईक्षां चक्रे कस्मिन्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत' इति श्रुतावुत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं प्राणस्योक्तम् । तथा सुधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादिश्रुतावुत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं बुद्धेरुक्तम् ।

पृथग्विध = नानाप्रकार के हैं = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि – इसप्रकार संख्या में बारह हैं । उक्त करणवर्ग में मन[57] और बुद्धि[58] वृत्तिविशेष हैं = संकल्पात्मकवृत्ति 'मन' है और अध्यवसायात्मकवृत्ति 'बुद्धि' है -- इन दोनों का आश्रय -- वृत्तिमान् अहंकार तो 'कर्त्ता' ही है । चिदाभास तो सर्वत्र – सब में ही समानरूप से रहता है । विविध = नाना प्रकार की -- पाँच प्रकार[59] अथवा दस प्रकार[60] से प्रसिद्ध -- यहाँ 'च'[61] शब्द 'तथा' शब्द के अनुकर्षण के लिए है – पृथक् = असंकीर्ण -- अमिश्रित – न मिली हुई चेष्टाएँ = क्रियारूप, क्रियाशक्तिप्रधान, अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों के कार्य, क्रिया की प्रधानता से वायवीयरूप से कहे जानेवाले प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान -- ये पाँच प्राण हैं । नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय[62]संज्ञक प्राण उन प्राणादि में ही अन्तर्भूत हैं । यहाँ सुषुप्ति में अन्त:करणरूप कर्ता का लय होने पर भी प्राण का व्यापार देखा जाता है और अन्तःकरण से उसका भेद भी कहा जाता है अतएव प्राण अन्त:करण से अत्यन्त भिन्न ही है -- यह कोई कहते हैं । क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिविशिष्ट एक ही जीवत्व का उपाधिभूत, अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों का कार्य क्रियाशक्ति की प्रधानता से 'प्राण' और ज्ञानशक्ति की प्रधानता से 'अन्तःकरण' कहा जाता है – यह सुविज्ञजन कहते हैं । 'उसने विचार किया कि किसके उत्क्रमण करने पर मैं उत्क्रान्त होऊँगा और किसके प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठित होऊँगा' (प्रश्नोपनिषद्, 6.3) -- इसप्रकार श्रुति में प्राण की उत्क्रान्ति आदि उपाधिता को कहा गया है; तथा 'सुधी स्वानुरूप होकर इस लोक – स्थूल शरीर से अतिक्रमण करता है,

57. 'मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकाऽन्त:करणवृत्ति:' (वेदान्तसार) = अन्त:करण की संकल्प-विकल्पात्मक वृत्ति को 'मन' कहते हैं । अन्त:करण में जब 'मैं चिद्रूप हूँ, मैं देह हूँ' -- इसप्रकार की संकल्पात्मक वृत्ति अथवा 'मैं यह करूँ या न करूँ' – इसप्रकार की विकल्पात्मक वृत्ति उत्पन्न होती है तब उसको 'मन' कहते हैं ।

58. 'बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः' (वेदान्तसार) =अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति को 'बुद्धि' कहते हैं ।

59. सुप्रसिद्ध पाँच प्राण हैं – प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ।

60. कोई प्राणादि पाँच प्राणों सहित नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय – इन पाँच अतिरिक्त प्राणों को स्वीकार करके दस प्रकार से प्राण स्वीकार करते हैं, किन्तु वेदान्तशास्त्र में नागादि का प्राणादि पाँच प्राणों में ही अन्तर्भाव है (नागादीनां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादय: पञ्चैवेति – वेदान्तसार) ।

61. यहाँ भी 'च' शब्द 'तथा' शब्द को पुनः ग्रहण करने के लिए है अर्थात् यह सूचित करने के लिए है कि ये नाना प्रकार की क्रियारूप प्राणादि चेष्टाएँ भी अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित हैं ।

62. 'नाग' उद्गिरण अर्थात् डकार और वमन उत्पन्न करनेवाला है । 'कूर्म' नेत्रों का उन्मीलन और निमीलन करनेवाला है । 'कृकल' क्षुधा को उत्पन्न करनेवाला है । 'देवदत्त' जम्भाई लानेवाला है । 'धनञ्जय' पोषण करनेवाला है ।

स्वतन्त्रोपाधिभेदे च जीवभेदप्रसङ्गः । तस्माद्बुद्धिप्राणयोरेकत्वेनैवोत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं युक्तं भेदव्यपदेशश्च शक्तिभेदात् । सुषुप्तौ च ज्ञानशक्तिभागलयेऽपि क्रियाशक्तिभागदर्शनमेकत्वेऽपि न विरुद्धमनुभवसिद्धत्वात्, दृष्टिसृष्टिनये सर्वलयेऽपि प्राणव्यापारवच्छरीरस्य सुषुप्तोऽयमित्येवंरूपेण परैः कल्पितत्वाच्च । तस्मादुभयथाऽपि व्यपदेशभेद उपपन्नः ।

44 **दैवं चानुग्राहकदेवताजातम् । चशब्दस्तथेत्यनुकर्षणार्थः । अत्र कारणवर्गे पञ्चमं पञ्चसंख्यापूरणम् । एवशब्दस्तथाशब्देन संबध्यमानोऽनात्मत्वभौतिकत्वकल्पितत्वाद्यवधारणार्थः पञ्चानामपि । तत्र शरीरस्य कर्तृकरणक्रियाधिष्ठानस्य देवता पृथिवी । 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं दिशः श्रोत्रं मनश्चन्द्रं पृथिवीं शरीरम्' इति श्रुतौ वागाद्यधिष्ठात्र्यग्न्यादिभिः सह शरीराधिष्ठातृत्वेन पृथिवीपाठात् । कर्तुरहंकारस्याधिष्ठात्री देवता रुद्रः पुराणादिप्रसिद्धः । करणानां चाधिष्ठात्र्यो देवताः सुप्रसिद्धाः । श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणानां दिग्वातार्कप्रचेतोश्विनः वाक्पाणिपादपायूपस्थानां वह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रप्रजापतयः । मनोबुद्ध्योश्चन्द्रबृहस्पती इति । पञ्चप्राणानां क्रियारूपाणां सद्योजातवामदेवाघोरतत्पुरुषेशानाः पुराणप्रसिद्धाः । भाष्ये दैवमादित्यादि चक्षुराद्यनुग्राहकमित्यधिष्ठानादिदेवतानामप्युपलक्षणम् ॥ 14 ॥**

उससमय वह मृत्यु के रूपों का ध्यान करता-सा और चेष्टा करता-सा जान पड़ता है' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.3.7) -- इत्यादि श्रुति में बुद्धि की उत्क्रान्ति आदि उपाधिता को कहा गया है । यदि इस उपाधिभेद को स्वतंत्र मानते हैं तो जीवभेद का प्रसंग होगा, इसलिए बुद्धि और प्राण की एकता से ही उनकी उत्क्रान्ति आदि उपाधिता ठीक है । इनके भेद का कथन तो शक्तिभेद के कारण होता है । सुषुप्ति में ज्ञानशक्तिरूप भाग का लय होने पर भी क्रियाशक्तिरूप भाग का दर्शन होना बुद्धि और प्राण की एकता होने पर भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है[63] । दृष्टिसृष्टिमत में सबका लय होने पर भी प्राण के व्यापार से युक्त शरीर के लिए 'यह सुषुप्त -- सोया हुआ है' -- ऐसी कल्पना दूसरे करते हैं । अतः दोनों प्रकार से ही व्यपदेशभेद उपयुक्त है ।

44 'दैव[64]' अनुग्राहक देवतासमूह है । यहाँ भी 'च[65]' शब्द 'तथा' शब्द के अनुकर्षण के लिए है । यहाँ कारणवर्ग में 'पञ्चम' शब्द पाँच संख्या की पूर्ति के लिए है । 'एव' शब्द 'तथा' शब्द के साथ सम्बद्ध होकर उक्त पाँचों कारणों के अनात्मत्व, भौतिकत्व, कल्पितत्वादि के निश्चय के लिए है । उनमें कर्ता, करण और क्रिया के अधिष्ठानभूत शरीर का देवता पृथिवी है, क्योंकि 'जहाँ इस मृत पुरुष की वाणी अग्नि में लीन हो जाती है, प्राण वायु में लीन हो जाता है, चक्षु सूर्य में लीन हो जाते हैं, तथा श्रोत्र दिशाओं में, मन चन्द्रमा में और शरीर पृथिवी में लीन हो जाते हैं' --

63. जो अनुभवसिद्ध होता है, जो प्रत्यक्ष देखने में आता है, उसमें अनुपपत्ति नहीं हो सकती है । यदि अनुपपत्ति होती तो बुद्धि और प्राण की एकता देखने में नहीं आती । उचित ही कहा है -- न हि प्रत्यक्षमनुपपन्नं नामास्ति (शाबरभाष्य, 1.3.3) ।

64. शाङ्करभाष्य में 'दैव' शब्द से चक्षु आदि इन्द्रियों के जो अनुग्राहक – अधिष्ठाता आदित्यादि देव हैं उनका ग्रहण किया गया है, किन्तु श्रीधरस्वामी ने 'दैव' शब्द से विकल्प में सबके प्रेरक, अन्तर्यामी परमात्मा का ग्रहण किया है जो कि उचित नहीं है, कारण कि आत्मा–परमात्मा के कर्तृत्व की व्यावृत्ति के लिए ही 'दैव' शब्द का प्रयोग हुआ है ।

65. यहाँ भी 'च' शब्द 'तथा' शब्द को पुनः ग्रहण करने के लिए है अर्थात् यह सूचित करने के लिए है कि जिसप्रकार अधिष्ठान, कर्ता, करण और चेष्टाएँ अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित हैं उसीप्रकार 'दैव' भी अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित है ।

पञ्चधा दशधा वा प्रसिद्धाः । चशब्दस्तथेत्यनुकर्षार्थः । पृथगसंकीर्णाः, चेष्टाः क्रियारूपाः क्रिया-शक्तिप्रधानापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्याः क्रियाप्राधान्येन वायवीयत्वेन व्यपदिश्यमानाः प्राणापानव्यानोदानसमाना । नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजयाख्याश्च तदन्तर्भूता एव । अत्र च सुषुप्तावन्तःकरणस्य कर्तुर्लयेऽपि प्राणव्यापारदर्शनाद्भेदव्यपदेशाच्चान्तःकरणादत्यन्तभिन्न एव प्राण इति केचित् । क्रियाशक्तिज्ञानशक्तिमदेकमेव जीवत्वोपाधिभूतमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्यं क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राण इति ज्ञानशक्तिप्राधान्येन चान्तःकरणमिति व्यपदिश्यत इत्यभियुक्ताः । 'स ईक्षां चक्रे कस्मिन्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत' इति श्रुतावुत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं प्राणस्योक्तम् । तथा सुधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादिश्रुतावुत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं बुद्धेरुक्तम् ।

पृथग्विध = नानाप्रकार के हैं = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि – इसप्रकार संख्या में बारह हैं । उक्त करणवर्ग में मन[57] और बुद्धि[58] वृत्तिविशेष हैं = संकल्पात्मकवृत्ति 'मन' है और अध्यवसायात्मकवृत्ति 'बुद्धि' है -- इन दोनों का आश्रय -- वृत्तिमान् अहंकार तो 'कर्त्ता' ही है । चिदाभास तो सर्वत्र – सब में ही समानरूप से रहता है । विविध = नाना प्रकार की -- पाँच प्रकार[59] अथवा दस प्रकार[60] से प्रसिद्ध – यहाँ 'च'[61] शब्द 'तथा' शब्द के अनुकर्षण के लिए है – पृथक् = असंकीर्ण – अमिश्रित – न मिली हुई चेष्टाएँ = क्रियारूप, क्रियाशक्तिप्रधान, अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों के कार्य, क्रिया की प्रधानता से वायवीयरूप से कहे जानेवाले प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान – ये पाँच प्राण हैं । नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय[62]संज्ञक प्राण उन प्राणादि में ही अन्तर्भूत हैं । यहाँ सुषुप्ति में अन्तःकरणरूप कर्ता का लय होने पर भी प्राण का व्यापार देखा जाता है और अन्तःकरण से उसका भेद भी कहा जाता है अतएव प्राण अन्तःकरण से अत्यन्त भिन्न ही है – यह कोई कहते हैं । क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिविशिष्ट एक ही जीवत्व का उपाधिभूत, अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों का कार्य क्रियाशक्ति की प्रधानता से 'प्राण' और ज्ञानशक्ति की प्रधानता से 'अन्तःकरण' कहा जाता है – यह सुविज्ञजन कहते हैं । 'उसने विचार किया कि किसके उत्क्रमण करने पर मैं उत्क्रान्त होऊँगा और किसके प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठित होऊँगा' (प्रश्नोपनिषद्, 6.3) -- इसप्रकार श्रुति में प्राण की उत्क्रान्ति आदि उपाधिता को कहा गया है; तथा 'सुधी स्वानुरूप होकर इस लोक – स्थूल शरीर से अतिक्रमण करता है,

57. 'मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः' (वेदान्तसार) = अन्तःकरण की संकल्प-विकल्पात्मक वृत्ति को 'मन' कहते हैं । अन्तःकरण में जब 'मैं चिद्रूप हूँ, मैं देह हूँ' -- इसप्रकार की संकल्पात्मक वृत्ति अथवा 'मैं यह करूँ या न करूँ' – इसप्रकार की विकल्पात्मक वृत्ति उत्पन्न होती है तब उसको 'मन' कहते हैं ।

58. 'बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः' (वेदान्तसार) =अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति को 'बुद्धि' कहते हैं ।

59. सुप्रसिद्ध पाँच प्राण हैं – प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ।

60. कोई प्राणादि पाँच प्राणों सहित नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय – इन पाँच अतिरिक्त प्राणों को स्वीकार करके दस प्रकार से प्राण स्वीकार करते हैं, किन्तु वेदान्तशास्त्र में नागादि का प्राणादि पाँच प्राणों में ही अन्तर्भाव है (नागादीनां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति – वेदान्तसार) ।

61. यहाँ भी 'च' शब्द 'तथा' शब्द को पुनः ग्रहण करने के लिए है अर्थात् यह सूचित करने के लिए है कि ये नाना प्रकार की क्रियारूप प्राणादि चेष्टाएँ भी अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित हैं ।

62. 'नाग' उद्गिरण अर्थात् डकार और वमन उत्पन्न करनेवाला है । 'कूर्म' नेत्रों का उन्मीलन और निमीलन करनेवाला है । 'कृकल' क्षुधा को उत्पन्न करनेवाला है । 'देवदत्त' जम्भाई लानेवाला है । 'धनञ्जय' पोषण करनेवाला है ।

स्वतन्त्रोपाधिभेदे च जीवभेदप्रसङ्गः । तस्माद्बुद्धिप्राणयोरेकत्वेनैवोत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं युक्तं भेदव्यपदेशश्च शक्तिभेदात् । सुषुप्तौ च ज्ञानशक्तिभागलयेऽपि क्रियाशक्तिभागदर्शनमेकत्वेऽपि न विरुद्धमनुभवसिद्धत्वात्, दृष्टिसृष्टिनये सर्वलयेऽपि प्राणव्यापारवच्छरीरस्य सुषुप्तोऽयमित्येवंरूपेण परैः कल्पितत्वाच्च । तस्मादुभयथाऽपि व्यपदेशभेद उपपन्नः ।

44 **दैवं चानुग्राहकदेवताजातम् । चशब्दस्तथेत्यनुकर्षणार्थः । अत्र कारणवर्गे पञ्चमं पञ्चसंख्यापूरणम् । एवशब्दस्तथाशब्देन संबध्यमानोऽनात्मत्वभौतिकत्वकल्पितत्वाद्यवधारणार्थः पञ्चानामपि । तत्र शरीरस्य कर्तृकरणक्रियाधिष्ठानस्य देवता पृथिवी । 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं दिशः श्रोत्रं मनश्चन्द्रं पृथिवीं शरीरम्' इति श्रुतौ वागाद्यधिष्ठात्र्यग्न्यादिभिः सह शरीराधिष्ठातृत्वेन पृथिवीपाठात् । कर्तुरहंकारस्याधिष्ठात्री देवता रुद्रः पुराणादिप्रसिद्धः । करणानां चाधिष्ठात्र्यो देवताः सुप्रसिद्धाः । श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणानां दिग्वातार्कप्रचेतोश्विनः वाक्पाणिपादपायूपस्थानां वह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रप्रजापतयः । मनोबुद्ध्योश्चन्द्रबृहस्पती इति । पञ्चप्राणानां क्रियारूपाणां सद्योजातवामदेवाघोरतत्पुरुषेशानाः पुराणप्रसिद्धाः । भाष्ये दैवमादित्यादि चक्षुराद्यनुग्राहकमित्यधिष्ठानादिदेवतानामप्युपलक्षणम् ॥ 14 ॥**

उससमय वह मृत्यु के रूपों का ध्यान करता-सा और चेष्टा करता-सा जान पड़ता है' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.3.7) -- इत्यादि श्रुति में बुद्धि की उत्क्रान्ति आदि उपाधिता को कहा गया है । यदि इस उपाधिभेद को स्वतंत्र मानते हैं तो जीवभेद का प्रसंग होगा, इसलिए बुद्धि और प्राण की एकता से ही उनकी उत्क्रान्ति आदि उपाधिता ठीक है । इनके भेद का कथन तो शक्तिभेद के कारण होता है । सुषुप्ति में ज्ञानशक्तिरूप भाग का लय होने पर भी क्रियाशक्तिरूप भाग का दर्शन होना बुद्धि और प्राण की एकता होने पर भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है[63] । दृष्टिसृष्टिमत में सबका लय होने पर भी प्राण के व्यापार से युक्त शरीर के लिए 'यह सुषुप्त -- सोया हुआ है' -- ऐसी कल्पना दूसरे करते हैं । अतः दोनों प्रकार से ही व्यपदेशभेद उपयुक्त है ।

44 'दैव[64]' अनुग्राहक देवतासमूह है । यहाँ भी 'च[65]' शब्द 'तथा' शब्द के अनुकर्षण के लिए है । यहाँ कारणवर्ग में 'पञ्चम' शब्द पाँच संख्या की पूर्ति के लिए है । 'एव' शब्द 'तथा' शब्द के साथ सम्बद्ध होकर उक्त पाँचों कारणों के अनात्मत्व, भौतिकत्व, कल्पितत्वादि के निश्चय के लिए है । उनमें कर्ता, करण और क्रिया के अधिष्ठानभूत शरीर का देवता पृथिवी है, क्योंकि 'जहाँ इस मृत पुरुष की वाणी अग्नि में लीन हो जाती है, प्राण वायु में लीन हो जाता है, चक्षु सूर्य में लीन हो जाते हैं, तथा श्रोत्र दिशाओं में, मन चन्द्रमा में और शरीर पृथिवी में लीन हो जाते हैं' –

---

63. जो अनुभवसिद्ध होता है, जो प्रत्यक्ष देखने में आता है, उसमें अनुपपत्ति नहीं हो सकती है । यदि अनुपपत्ति होती तो बुद्धि और प्राण की एकता देखने में नहीं आती । उचित ही कहा है -- न हि प्रत्यक्षमनुपपन्नं नामास्ति (शाबरभाष्य, 1.3.3) ।

64. शाङ्करभाष्य में 'दैव' शब्द से चक्षु आदि इन्द्रियों के जो अनुग्राहक – अधिष्ठाता आदित्यादि देव हैं उनका ग्रहण किया गया है, किन्तु श्रीधरस्वामी ने 'दैव' शब्द से विकल्प में सबके प्रेरक, अन्तर्यामी परमात्मा का ग्रहण किया है जो कि उचित नहीं है, कारण कि आत्मा–परमात्मा के कर्तृत्व की व्यावृत्ति के लिए ही 'दैव' शब्द का प्रयोग हुआ है ।

65. यहाँ भी 'च' शब्द 'तथा' शब्द को पुनः ग्रहण करने के लिए है अर्थात् यह सूचित करने के लिए है कि जिसप्रकार अधिष्ठान, कर्ता, करण और चेष्टाएँ अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित हैं उसीप्रकार 'दैव' भी अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित है ।

45 स्वरूपमुक्त्वा तेषां पञ्चानां कर्महेतुत्वमाह तृतीयेन--

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ 15 ॥

46 शारीरं वाचिकं मानसिकं च विधिप्रतिषेधलक्षणं त्रिविधं कर्म धर्मशास्त्रेषु प्रसिद्धम् । अक्षपादेन चोक्तं-- 'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' इति । बुद्धिर्मनः । अतः प्राधान्याभिप्रायेणोच्यते शरीरेण वाचा मनसा वा यत्कर्म प्रारभते निर्वर्तयति नरो मनुष्याधिकारित्वाच्छास्त्रस्य । कीदृशं कर्म

इस श्रुति में वाणी आदि के अधिष्ठाता अग्नि आदि देवताओं के साथ शरीर के अधिष्ठातारूप पृथिवी देवता का पाठ है । कर्ता अर्थात् अहंकार का अधिष्ठाता देवता रुद्र है -- जैसा कि पुराणादि में प्रसिद्ध है । करणों -- इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता तो सुप्रसिद्ध हैं -- श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण के देवता क्रमश: दिक्, वायु, सूर्य, प्रचेता और अश्विनी हैं; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ के देवता क्रमश: अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र और प्रजापति हैं; तथा मन और बुद्धि के देवता क्रमश: चन्द्रमा और बृहस्पति हैं । क्रियारूप प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान -- इन पाँच प्राणों के देवता क्रमश: सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान हैं -- ये पुराणों में प्रसिद्ध हैं । भाष्य में कहा है कि 'दैव' चक्षु आदि इन्द्रियों के अनुग्राहक आदित्यादि हैं -- ये अधिष्ठान आदि के देवताओं के भी उपलक्षण हैं[66] ॥ 14 ॥

45 उन अधिष्ठानादि पाँच कर्मकारणों का स्वरूप कहकर उनके कर्महेतुत्व को तृतीय श्लोक अर्थात् पन्द्रहवें श्लोक से कहते हैं :--

[मनुष्य शरीर, वाणी और मन से न्याय्य -- शास्त्रीय अथवा उससे विपरीत अशास्त्रीय जिस कर्म को भी प्रारम्भ करता है उसके ये पाँच हेतु होते हैं ॥ 15 ॥]

46 शारीर, वाचिक और मानसिक -- ये विधिस्वरूप अथवा प्रतिषेधस्वरूप तीन प्रकार के कर्म धर्मशास्त्रों में प्रसिद्ध हैं । अक्षपाद गौतम ने कहा है -- 'वाणी, बुद्धि और शरीर से होनेवाला आरम्भ ही 'प्रवृत्ति' है (न्यायसूत्र, 1.1.17) । बुध्यतेऽनेनेति बुद्धि: = जिससे बोध -- ज्ञान होता है वह 'बुद्धि' है, बुद्धि से यहाँ 'मन' विवक्षित है (न्यायभाष्य, 1.1.17) । अत: प्राधान्य के अभिप्राय से कहा जाता है[67] कि शरीर, वाणी अथवा मन से जिस कर्म को भी मनुष्य प्रारम्भ करता है अर्थात् जिस कर्म का भी मनुष्य आचरण करता है, क्योंकि शास्त्र में मनुष्य का ही अधिकार है; किस प्रकार के कर्म को करता है ? न्याय्य = शास्त्रीय अर्थात् धर्मस्वरूप अथवा उससे विपरीत = अशास्त्रीय अर्थात् अधर्मस्वरूप अथवा इनके अतिरिक्त जो विहित और प्रतिषिद्ध कर्मों के समान जीवन की

---

66. इसप्रकार 'दैव' शब्द अधिष्ठान-शरीर; कर्ता-अहंकार; करण -- पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन और बुद्धि अर्थात् बारह करण; तथा क्रियारूप प्राणादि चेष्टाओं के अनुग्राहकत्व अर्थात् अधिष्ठित देवता होने को सूचित कर रहा है ।

67. अत: = इससे = 'अधिष्ठानं तथा कर्ता' -- इत्यादि से पूर्व में सब कर्मों के कारण पाँच कहे हैं, प्रकृत श्लोक में शरीरादि भेद से तीन ही कारण कहे हैं, इसप्रकार पूर्वापर में विरोध होता है ? इस जिज्ञासा से कहते हैं कि यद्यपि प्रकृत श्लोक में सब कर्मों के कारण तीन ही कहें है, उनमें ही सब कर्मों का अन्तर्भाव किया गया है तथापि उसका तात्पर्य प्राधान्य में है अर्थात् जिस कर्म में शरीर प्रधान कारण है वह 'शारीर' है, जिस कर्म में वाक् प्रधान कारण है वह 'वाचिक' है, और जिसमें मन प्रधान कारण है वह 'मानसिक' है, किन्तु उक्त तीनों के अधिष्ठानादि पाँच कारण अवश्य हैं अतएव पूर्वापर में कोई विरोध नहीं है ।

न्याय्यं वा शास्त्रीयं धर्मं विपरीतं वाऽशास्त्रीयमधर्मं यच्च निमिषितचेष्टितादि जीवनहेतुरन्यद्वा विहितप्रतिषिद्धसमं तत्सर्वं पूर्वकृतधर्माधर्मयोरेव कार्यमिति न्याय्यविपरीतयोरेवान्तर्भूतम् । पञ्चैते यथोक्ता अधिष्ठानादयस्तस्य सर्वस्यैव कर्मणो हेतवः कारणानि ॥ 15 ॥

47 इदानीमेतेषामेव कर्मकर्तृत्वादात्मनो न कर्तृत्वमित्यधिष्ठानादिनिरूपणफलमाह--

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ 16 ॥

48 तत्र कर्मणि प्रागुक्ते सर्वस्मिन्, एवं सति अधिष्ठानादिपञ्चहेतुके सति तैर्निर्वर्त्यमान आत्मानं सर्वजडप्रपञ्चस्य भासकं सत्तास्फूर्तिरूपं स्वप्रकाशपरमानन्दमबाध्यं केवलमसङ्गोदासीनमकर्तारमविक्रियमद्वितीयं तु एव परमार्थतः । अविद्यया त्वधिष्ठानादौ प्रतिबिम्बितमादित्यमिव तोये तद्भासकमनन्यत्वेन परिकल्प्य तोयचलनेनाऽऽदित्यश्चलतीतिवदधिष्ठानादिकर्मणोऽहमेव कर्तेति साक्षिणमपि सन्तं कर्तारं क्रियाश्रयं यः पश्यत्यविद्यया कल्पयति रज्जुमिव भुजंगं स एवं पश्यन्नपि न पश्यत्यात्मानं तत्त्वेन स्वरूपाज्ञानकृतत्वादध्यासस्य । स भ्रान्त्या विपरीतमेव पश्यति न यथातत्त्वमित्यत्र को हेतुरत आह-- अकृतबुद्धित्वात् । शास्त्राचार्योपदेशन्यायैरनुपजनितविवेक -

---

हेतुभूत निमिषित – पलक मारना आदि चेष्टादि हैं वे सब पूर्व कृत धर्म और अधर्म की कार्य हैं – इसप्रकार वे भी न्याय्य--शास्त्रीय और उससे विपरीत अशास्त्रीय कर्मों में ही अन्तर्भूत हैं अतएव शास्त्रीय-धर्मस्वरूप अथवा अशास्त्रीय-अधर्मस्वरूप जिस कर्म को भी मनुष्य प्रारम्भ करता है उन सब ही कर्मों के ये पूर्वोक्त अधिष्ठानादि पाँच पदार्थ हेतु अर्थात् कारण हैं ॥ 15 ॥

47 अब, 'ये ही सब कर्मों के कर्ता हैं अतएव आत्मा में कर्तृत्व नहीं है' – इसप्रकार अधिष्ठानादि के निरूपण का फल कहते हैं :–

[उन कर्मों के विषय में ऐसा होने पर भी जो दुर्मति पुरुष केवल शुद्धस्वरूप आत्मा को ही कर्ता देखता है-- समझता है वह विवेक-बुद्धि उत्पन्न न होने कारण यथार्थ नहीं देखता -- समझता है ॥ 16 ॥]

48 तत्र = उनमें अर्थात् उन पूर्वोक्त सब कर्मों के विषय में एवं सति = ऐसा होने पर अर्थात् अधिष्ठानादि पाँच हेतु होने पर भी = अधिष्ठानादि के द्वारा ही सब कर्मों को निष्पन्न किये जाने पर भी जो पुरुष आत्मा को = समस्त जड प्रपञ्च के भासक – प्रकाशक, सत्ता और स्फूर्तिरूप, स्वप्रकाश, परमानन्द, अबाध्य केवल = असंग, उदासीन, अकर्ता, अविक्रिय, अद्वितीय आत्मा को ही परमार्थतः अविद्या के कारण तो अधिष्ठानादि में प्रतिबिम्बित उसको जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान भासक -- प्रकाशक और अनन्य – अभिन्नरूप से कल्पित कर, जल के हिलने-डुलने से सूर्य के चलने-घूमने की कल्पना के समान अधिष्ठानादि के कर्मों का मैं ही कर्ता हूँ -- इसप्रकार साक्षी होने पर भी उसको कर्ता अर्थात् क्रिया का आश्रय देखता है = अविद्यावश रज्जु में सर्प की भाँति उसकी कर्तारूप से कल्पना करता है वह इसप्रकार देखता हुआ भी आत्मा को तत्त्वरूप से नहीं देखता है, क्योंकि अध्यास स्वरूप के अज्ञान से ही किया हुआ होता है । वह पुरुष भ्रान्ति से विपरीत ही देखता है, यथार्थ नहीं देखता है -- इसमें क्या कारण है ? इस जिज्ञासा से कहते हैं कि वह अकृतबुद्धि होता है अर्थात् उसमें शास्त्र, आचार्य के उपदेश और न्याय से विवेक-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है । रज्जुतत्त्व के साक्षात्कार के बिना कोई भी सर्पभ्रम का बाध नहीं कर सकता

बुद्धित्वात्। नहि रज्जुतत्त्वसाक्षात्काराभावे भुजंगभ्रमं कश्चन बाधते। एवं शास्त्राचार्योपदेशन्यायैः परिनिष्ठितेऽहमस्मि सत्यं ज्ञानमनन्तमकर्त्रभोक्तृ परमानन्दमनवस्थमद्वयं ब्रह्मेति साक्षात्कारेऽनुपजनिते कुतो मिथ्याज्ञानतत्कार्यबाधः।

49 **एतादृशं साक्षात्कारमेव गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारेण कुतो न जनयतीत्यत आह-- दुर्मतिः, दुष्टा विवेकप्रतिबन्धकपापेन मलिना मतिर्यस्य सः। अतोऽशुद्धबुद्धित्वान्नित्यानित्यवस्तुविवेकादिशून्यत्वेन तत्त्वज्ञानायोग्यत्वादकर्तारमपि कर्तारं केवलमप्यकेवलमात्मानमविद्यया कल्पयन्संसारी कर्माधिकारी देहभृदकृतबुद्धिः कर्मकर्तृषु तादात्म्याभिमानात्कर्मत्यागासमर्थः सर्वदा जननमरणप्रबन्धेनानिष्टमिष्टं मिश्रं च कर्मफलमनुभवति। एतेन यस्तार्किको देहादिव्यतिरिक्तमात्मानमेव कर्तारं केवलं पश्यति सोऽप्यकृतबुद्धित्वेन व्याख्यातः।**

50 **अन्यस्त्वाह-- आत्मा केवलो न कर्ता किं त्वधिष्ठानादिभिः संहतः सन्परमार्थतः कर्तैव, कर्तारमात्मानं केवलं पश्यन्दुर्मतिरिति केवलशब्दप्रयोगादिति। तन्न, परमार्थतः सर्वक्रियाशून्यस्यासङ्गस्याऽऽत्मनोऽधिष्ठानादिभिः संहतत्वानुपपत्तेः, जलसूर्यकादिवत्त्वाविद्यकेन संहतत्वेन कर्तृत्वमपि तादृशमेव, अधिष्ठानादीनामप्याविद्यकत्वाच्च। केवलशब्दस्तु स्वभावसिद्धमात्मनोऽसङ्गाद्वितीयरूपत्वमनुवदति कर्तृत्वदर्शिनो दुर्मतित्वहेतुत्वेनेत्यदोषः॥ 16॥**

है, इसीप्रकार शास्त्र-आचार्य के उपदेश और न्याय से परिनिष्ठित -- सुनिश्चित हुए 'मैं सत्य, ज्ञान, अनन्त, अकर्ता, अभोक्ता, परमानन्द, अनवस्थ -- अवस्थातीत, अद्वय -- अद्वितीय ब्रह्म हूँ' -- इसप्रकार साक्षात्कार के उत्पन्न न होने पर मिथ्या अज्ञान और उसके कार्य का बाध कैसे हो सकता है ?

49 इसप्रकार का साक्षात्कार ही गुरु के समीप जाकर वेदान्तवाक्यों के विचार से क्यों उत्पन्न नहीं होता है ? इस आकांक्षा से कहते हैं -- वह पुरुष 'दुर्मति' होता है = जिसकी दुष्ट अर्थात् विवेक के प्रतिबन्धक पाप से मलिन मति है वह 'दुर्मति' होता है, अत: अशुद्धबुद्धि होने से, नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक से शून्य होने से तत्त्वज्ञानोत्पत्ति के लिए अयोग्य होने के कारण अविद्यावश आत्मा को अकर्ता होने पर भी कर्ता, केवल होने पर भी अकेवल कल्पित करता हुआ संसारी कर्माधिकारी देहाभिमानी पुरुष अकृतबुद्धि होता है, वह कर्म करनेवालों में तादात्म्याभिमान के कारण कर्मत्याग में असमर्थ तथा सर्वदा जन्म-मरण की परम्परा से अनिष्ट, इष्ट और मिश्र कर्मफल का अनुभव करता है। इससे जो तार्किक देहादि से अतिरिक्त आत्मा को ही केवल कर्ता समझते हैं वे भी अकृतबुद्धि ही हैं -- यह व्याख्या करनी चाहिए।

50 अन्य जो यह कहते हैं कि 'आत्मा केवल कर्ता नहीं है, किन्तु अधिष्ठानादि के साथ होकर वह परमार्थत: -- वस्तुत: कर्ता ही है, अतएव जो केवल आत्मा को ही कर्ता समझता है वही दुर्मति है, इसी से 'केवल' शब्द का उक्त वाक्य में प्रयोग है', वह ठीक नहीं है, क्योंकि परमार्थत: सब क्रियाओं से शून्य, असंग आत्मा का अधिष्ठानादि के साथ संयोग हो ही नहीं सकता है; जल में प्रतिबिम्बित सूर्यादि के समान अविद्या से उनको परस्पर संहत स्वीकार करें तो उसका कर्तृत्व भी वैसा ही -- अविद्यक ही होगा, पारमार्थिक नहीं होगा, क्योंकि अधिष्ठानादि भी अविद्यक ही हैं। 'केवल' शब्द तो स्वभावसिद्ध आत्मा के असंग, अद्वितीय-रूपत्व का अनुवाद करता है, उस आत्मा में जो कर्तृत्व समझते हैं वे दुर्मति = विवेक के प्रतिबन्ध पाप से मलिन -- दुष्ट मति होने से ऐसा समझते हैं अतएव उनका दोष नहीं है॥ 16॥

51 तदेवं चतुर्भिः श्लोकैः–

'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य' इति चरणत्रयं व्याख्यातमिदानीं 'न तु संन्यासिनां क्वचित्' इति तुरीयं चरणमेकेन व्याचष्टे–

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ 17 ॥

52 यस्य पूर्वोक्तविपरीतस्य पुण्यैः कर्मभिः क्षपितेषु विवेकविरोधिपापेषु नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनचतुष्टयं प्राप्तवतः शास्त्राचार्योपदेशन्यायजनिताकर्त्रभोक्तृस्वप्रकाशपरमानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्याज्ञाने सकार्ये बाधिते न भवत्यहं कर्तेत्येवंरूपो भावः प्रत्ययः । यस्य भावः सद्भावोऽहंकृतोऽहमितिव्यपदेशार्हो न, अहंकारबाधेन शुद्धस्वरूपमात्रपरिशेषादिति वा । अहंकृतोऽहंकारस्य भावस्तत्तादात्म्यं यस्य न विवेकेन बाधितत्वादिति वा । बाधितानुवृत्तावपि एत एव पञ्चाधिष्ठानादयो मायया मयि सर्वात्मनि कल्पिताः सर्वकर्मणां कर्तारो मया स्वप्रकाशचैतन्येनासङ्गेन कल्पितसंबन्धेन प्रकाश्यमाना अहं तु न कर्ता किंतु कर्तृतद्व्यापाराणां साक्षिभूतः क्रियाज्ञानशक्तिमदुपाधिद्वयनिर्मुक्तः शुद्धः सर्वकार्यकारणासंबद्धः कूटस्थनित्यो निर्द्वयः सर्वविकारशून्यः 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः', 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च', 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो

---

51 इसप्रकार चार श्लोकों से 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मण: फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य' (गीता, 18.12) = 'अत्यागियों – गौणसंन्यासियों को मरने के पश्चात् भी अनिष्ट, इष्ट और मिश्र – तीन प्रकार का कर्मफल प्राप्त होता है' – इन तीन चरणों की व्याख्या हुई, अब 'न तु संन्यासिनां क्वचित्' = 'किन्तु संन्यासियों को कभी ऐसा फल प्राप्त नहीं होता है' – इस चतुर्थ चरण की एक श्लोक से व्याख्या करते हैं :–

[जिसको 'मैं कर्ता हूँ' – ऐसा भाव नहीं होता है और जिसकी बुद्धि 'मैंने यह कर्म किया है, इसका यह फल मैं भोगूँगा' – ऐसे भाव से लिप्त नहीं होती है वह इन समस्त लोकों – प्राणियों को मारकर भी नहीं मारता है और न कर्मबन्धन से बँधता ही है ॥ 17 ॥]

52 जिसको = पूर्वोक्त दुर्मति से विपरीत सुमति को = पुण्य कर्मों से आत्मानात्मविवेक के विरोधी पापों का क्षय हो जाने पर नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि साधनचतुष्टय[68] को प्राप्त करनेवाले तथा शास्त्र, आचार्य के उपदेश और न्याय से समुत्पन्न अकर्ता, अभोक्ता, स्वयंप्रकाश, परमानन्द, अद्वितीय ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार करनेवाले पुरुष को सकार्य – कार्यसहित अज्ञान के बाधित होने पर 'अहं कर्ता' = 'मैं कर्ता हूँ' -- ऐसा भाव – प्रत्यय-ज्ञान नहीं होता है । अथवा, जिसका भाव = सद्भाव -- सत्ता अहंकृत = 'अहम्' -- 'मैं' – इसप्रकार व्यपदेश-व्यवहार के योग्य नहीं होता है, क्योंकि अहंकार का बाध होने पर शुद्धस्वरूपमात्र ही अवशिष्ट रह जाता है । अथवा, अहंकृत = अहंकार का भाव अर्थात् आत्मा में अहंकार का तादात्म्य जिसको नहीं है, क्योंकि विवेक से उसका तादात्म्याध्यास बाधित होता है । बाधितानुवृत्ति होने पर भी ये अधिष्ठानादि ही माया से मुझ सर्वात्मा में कल्पित ही सब कर्मों के कर्ता हैं और मुझ स्वयंप्रकाश, चैतन्य, असङ्ग द्वारा कल्पित सम्बन्ध से प्रकाशित हैं; मैं तो कर्ता नहीं हूँ, किन्तु कर्ता और उसके व्यापारों का साक्षीभूत हूँ अतएव क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति--दोनों उपाधियों

---

68. नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शम-दमादि षट्क सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व– ये चार साधन हैं ।

अक्षरात्परतः परः', 'अज आत्मा महान्ध्रुवः सकल एको द्रष्टाऽद्वैतः', 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः', 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः, 'अविकार्योऽयमुच्यते ।'

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥'
'तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते' ॥'
'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ।

53 **तस्मान्नाहं कर्तेत्येवंपरमार्थदृष्टेर्बुद्धिरन्तःकरणं यस्य न लिप्यते नानुशयिनी भवति, इदमहमकार्षमेतत्फलं भोक्ष्य इत्यनुसंधानं कर्तृत्ववासनानिमित्तं लेपोऽनुशयः । स च पुण्ये कर्मणि हर्षरूपः । पापे पश्चात्तापरूपः । ईदृशेन द्विविधेनापि लेपेन बुद्धिर्न युज्यते कर्तृत्वाभिमानबाधात् । तथा च ज्ञानिनं प्रकृत्य श्रुतिः-- 'एतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः । तदेतदृचाऽभ्युक्तम्--**

से सर्वथा मुक्त, शुद्ध, समस्त कार्य और कारणों से असम्बद्ध, कूटस्थनित्य, निर्द्वय – अद्वय -- अद्वितीय, सब विकारों से शून्य हूँ, जैसा कि 'यह पुरुष असंग ही है' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.3.16), 'आत्मा साक्षी, चेता, केवल और निर्गुण है', 'आत्मा प्राण और मन से रहित शुद्ध और अक्षर से परे जो पुरुष है उससे भी परे है', 'आत्मा अज, महान् और नित्य है', 'जल में एक ही अद्वैत द्रष्टा है', 'यह आत्मा अज, नित्य, शाश्वत, पुरातन है', 'यह कलाहीन, क्रियाहीन, शान्त, निरवद्य-निर्मल, निरञ्जन – निर्लेप है' – इत्यादि श्रुतियों से उक्तार्थ सिद्ध है; इसीप्रकार 'यह अविकार्य कहा जाता है', 'कर्म सर्वशः प्रकृति-माया के गुणों से किये जा रहे हैं, किन्तु अहंकारविमूढ़ात्मा 'मैं कर्ता हूँ' – ऐसा मानता है' (गीता, 3.27), 'हे महाबाहो ! जो गुण-कर्म और आत्मा -- इनके तत्त्व को जाननेवाला है वह 'इन्द्रियाँ अपने विषयों में वर्तती रहती हैं' – ऐसा मानकर कर्तृत्व का अभिनिवेश नहीं करता है' (गीता, 3.28); 'हे कौन्तेय ! शरीर में स्थित हुआ भी यह न तो कर्म करता है और न उसके फल से ही लिप्त होता है' (गीता, 3.31) -- इत्यादि स्मृतिवचन भी उक्तार्थ के साधक हैं ।

53 अतः 'मैं कर्ता नहीं हूँ' -- इसप्रकार की परमार्थ – वास्तविक दृष्टि के कारण जिसकी बुद्धि = अन्तःकरण लिप्त नहीं होता है अर्थात् अनुशयी -- अनुशयवान् नहीं होता है । 'यह कर्म मैंने किया है, इसका यह फल मैं भोगूँगा' -- इसप्रकार का अनुसन्धान = कर्तृत्ववासनाजनित लेप 'अनुशय' कहा जाता है और वह 'अनुशय' पुण्य कर्म करने पर हर्षरूप होता है तथा पाप कर्म करने पर पश्चात्तापरूप होता है – ऐसे दोनों ही प्रकार के लेप से जिसकी बुद्धि कर्तृत्वाभिमान का बाध होने के कारण युक्त -- लिप्त नहीं होती है । इसीप्रकार ज्ञानी के प्रकरण में श्रुति भी है -- 'इसप्रकार मैंने पाप किया और इसप्रकार मैंने पुण्य किया -- ये दोनों ही बातें इसको कोई प्रतिबन्ध नहीं करती हैं, क्योंकि यह इन दोनों से पार हो जाता है, इसको कृत अथवा अकृत कर्म ताप नहीं पहुँचाते हैं' । इसीप्रकार ऋचा द्वारा भी कहा गया है ।-- 'ब्राह्मण की यह नित्य महिमा है कि वह कर्म से न तो बढ़ता है और न घटता है । उसको ही यह ब्रह्मपदरूप धन प्राप्त होता है । इसको

'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥' इति ।

पापकेनेति पुण्यस्याप्युपलक्षणम् । वर्धते कनीयानिति च पुण्यपापयोः परितोषपरितापाभिप्रायम् । एव यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते स पूर्वोक्तदुर्मतिविलक्षणः सुमतिः परमार्थदर्शी पश्यत्यकर्तारमात्मानं केवलं, स कर्तृत्वाभिमानाभावादनिष्टादित्रिविधकर्मफलभागी न भवतीत्येतावति शास्त्रार्थेऽहंकाराभावबुद्धिलेपाभावौ स्तोतुमाह-- हत्वा हिंसित्वाऽपि स इमाँल्लोकान्सर्वान् प्राणिनो न हन्ति हननक्रियायाः कर्ता न भवति अकर्तृस्वरूपसाक्षात्कारात् । न निबध्यते नापि तत्कार्येणाधर्मफलेन संबध्यते ।

54 अत्र नाहंकृतो भाव इत्यस्य फलं न हन्तीति । बुद्धिर्न लिप्यत इत्यस्य फलं न निबध्यत इति । अनेन च कर्मालेपप्रदर्शनेऽतिशयमात्रमुक्तं न तु सर्वप्राणिहननं संभवति । हत्वाऽपीति कर्तृत्वाभ्यनुज्ञा बाधितकर्तृत्वदृष्ट्या लौकिक्या, न हन्तीति कर्तृत्वनिषेधः शास्त्रीयया परमार्थदृष्ट्येति न विरोधः । शास्त्रादौ नायं हन्ति न हन्यत इति सर्वकर्मासंस्पर्शित्वमात्मनः प्रतिज्ञाय न जायत इत्यादिहेतुवचनेन साधयित्वा वेदाविनाशिनमित्यादिना विदुषः सर्वकर्माधिकारनिवृत्तिः संक्षेपेणोक्ता । मध्ये च

जानकर वह पाप-कर्म से लिप्त नहीं होता हैं' -- यहाँ 'पापकेन' शब्द पुण्य का भी उपलक्षण है अतएव 'वह पाप-पुण्य कर्म से लिप्त नहीं होता है' -- यह अर्थ है । 'वर्धते' और 'कनीयान्' -- ये दोनों शब्द क्रमशः पुण्यद्वारा परितोष और पापद्वारा परिताप -- पश्चात्ताप के अभिप्राय से हैं अतएव 'वह ब्राह्मण पुण्य कर्म से न तो बढ़ता है और पापकर्म से न घटता है' -- यह अर्थ है । इसप्रकार जिसको अहंकार का भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती है वह पूर्वोक्त दुर्मति से विलक्षण सुमति परमार्थदर्शी पुरुष आत्मा को केवल अद्वितीय, अकर्ता देखता है; वह कर्तृत्वाभिमान के अभाव से अनिष्टादि तीन प्रकार के कर्मफल का भागी नहीं होता है -- इतना ही शास्त्र का अर्थ होने पर अहंकाराभाव और बुद्धिलेपाभाव -- दोनों की स्तुति के लिए कहते हैं :-- वह सुमति इन समस्त लोकों = प्राणियों को मारकर = इनकी हिंसा करके भी नहीं मारता है अर्थात् 'हनन'-- 'मारण' क्रिया का कर्ता नहीं होता है, क्योंकि आत्मा अकर्तास्वरूप है-- यह उसको प्रत्यक्ष है । वह कर्म से बँधता भी नहीं है अर्थात् उसका कार्य अधर्मरूप फल से सम्बद्ध भी नहीं होता है ।

54 यहाँ 'नाहंकृतो भावः' -- इसका फल 'न हन्ति' है और 'बुद्धिर्न लिप्यते' -- इसका फल 'न निबध्यते' -- है । इससे कर्मालेप -- कर्मलेप का अभाव दिखलाने में अतिशयमात्र कहा है, उसके द्वारा प्राणियों का हनन तो संभव ही नहीं है । 'हत्वाऽपि' -- यह कर्तृत्वविधि लौकिकी बाधित कर्तृत्वदृष्टि से है तथा 'न हन्ति' -- यह कर्तृत्वनिषेध शास्त्रीय पारमार्थिक--वास्तविकदृष्टि से है -- इसप्रकार इनमें कोई विरोध नहीं है । गीताशास्त्र के आरम्भ में अर्थात् द्वितीय अध्याय में 'नायं हन्ति न हन्यते' (गीता, 2.19) = 'यह न तो मारता है और न मारा जाता है' -- इसप्रकार आत्मा के सब कर्मों से असंस्पर्शित्व -- असंबद्धत्व की प्रतिज्ञा करके 'न जायते' (गीता, 2.20) -- इत्यादि हेतुयुक्त वचनों से आत्मा के अविक्रियत्व को सिद्ध कर -- कहकर 'वेदाविनाशिनम्' (गीता, 2.21) -- इत्यादि से विद्वान् -- तत्त्वज्ञानी की सब कर्मों में अधिकार की निवृत्ति संक्षेप में कही है । मध्य में उस-उस प्रसङ्ग से उक्त निवृत्ति को प्रसारित -- विस्तृत किया है और यहाँ 'शास्त्र का अर्थ --

तेन तेन प्रसङ्गेन प्रसारितेह शास्त्रार्थैतावत्त्वप्रदर्शनायोपसंहृता न हन्ति न निबध्यत इति । एवं चाविद्याकल्पितानामधिष्ठानाद्यनात्मकृतानां सर्वेषामपि कर्मणामात्मविद्यया समुच्छेदोपपत्तेः परमार्थसंन्यासिनामनिष्टादि त्रिविधं कर्मफलं न भवतीत्युपपन्नम् । परमार्थसंन्यासश्चा-कर्त्रात्मसाक्षात्कार एव । जनकादीनामेतादृशसंन्यासित्वेऽपि बलवत्प्रारब्धकर्मवशाद्बाधिता-नुवृत्त्या परपरिकल्पनया वा कर्मदर्शनं न विरुद्धं परमहंसानामीदृशानां भिक्षाटनादिवत् । अत एव ज्ञानफलभूतो विद्वत्संन्यास उच्यते । साधनभूतस्तु विविदिषासंन्यासोऽनेवंविधोऽपि प्रथममुत्तरकाले ज्ञानोत्पत्तावेवंविधो भवतीति वक्ष्यते ॥ 17 ॥

55 **पूर्वमधिष्ठानादिपञ्चकस्य क्रियाहेतुत्वेनाऽऽत्मनः सर्वकर्मासंस्पर्शित्वमुक्तं संप्रति तमेवार्थं ज्ञानज्ञेयादिप्रक्रियारचनया त्रैगुण्यभेदव्याख्यया च विवरीतुमुपक्रमते–**

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ 18 ॥

56 **ज्ञानं विषयप्रकाशक्रिया, ज्ञेयं तस्य कर्म, परिज्ञाता तस्याऽऽश्रयो भोक्ताऽन्तःकरणो-पाधिपरिकल्पितः, एतेषां त्रयाणां संनिपाते हि हानोपादानादिसर्वकर्मारम्भः स्यादत एतत्त्रयं सर्वेषां कर्मणां प्रवर्तकं तदेतदाह– त्रिविधा कर्मचोदनेति । चोदनेति प्रवर्तकमुच्यते । चोदनेति**

तात्पर्यार्थ इतना ही है' – यह दिखलाने के लिए 'न हन्ति न निबध्यते' -- इससे उक्त निवृत्ति का उपसंहार किया है। इसप्रकार अविद्याकल्पित, अनात्मस्वरूप उक्त अधिष्ठानादि के द्वारा किये हुए सभी कर्मों का आत्मज्ञान से उच्छेद–विनाश संभव होने से परमार्थ संन्यासियों को अनिष्टादि तीन प्रकार के कर्मफल प्राप्त नहीं होते हैं – यह उपपन्न – उचित ही है। परमार्थ संन्यास तो अकर्ता आत्मा का साक्षात्कार ही है। जनकादि में इसप्रकार का संन्यासित्व रहने पर भी बलवान् प्रारब्धकर्म के प्रभाव से, बाधित भी कर्तृत्वादि की अनुवृत्ति से अथवा दूसरे की परिकल्पना – कल्पना से कर्म देखना विरुद्ध नहीं है, जैसे इसप्रकार के परमहंसों में भिक्षाटनादि कर्म देखे जाते हैं। अतएव तत्त्वज्ञान का फलस्वरूप 'विद्वत्संन्यास' कहा जाता है। साधनस्वरूप तो विविदिषा-संन्यास पहले ऐसा न होने पर भी बाद में ज्ञानोत्पत्ति होने पर ऐसा ही हो जाता है – यह आगे कहा जायेगा ॥ 17 ॥

55 पूर्व में अधिष्ठानादि पाँच पदार्थ ही क्रिया के हेतु होने से आत्मा का सब कर्मों से असंस्पर्शित्व – असंबद्धत्व कहा है, अब उसी अर्थ का ज्ञान – ज्ञेयादि प्रक्रिया की रचना और त्रैगुण्यभेद की व्याख्या से भी विवरण करने के लिए आरम्भ करते हैं :--

[ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता – ये तीन कर्मचोदना के भेद हैं तथा करण, कर्म और कर्ता – ये तीन कर्मसंग्रह के प्रकार हैं ॥ 18 ॥]

56 'ज्ञान[69]' विषय को प्रकाशित करनेवाली क्रिया है, 'ज्ञेय[70]' उक्त ज्ञान-क्रिया का कर्म है, और

---

69. ज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्याऽविशेषेण सर्वविषयं ज्ञानमात्रमुच्यते = 'ज्ञा' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होकर 'ज्ञान' शब्द निष्पन्न होता है अतएव जिससे कोई पदार्थ जाना जाता है वह ' ज्ञान' है। इसप्रकार करणव्युत्पत्ति से सामान्यभाव सर्वपदार्थविषयक 'ज्ञान' कहा जाता है।

70. ज्ञेयमपि समान्येनैव ज्ञातव्यं सर्वमुच्यते = जो कुछ ज्ञातव्य — जानने के योग्य पदार्थ है वह 'ज्ञेय है, यह भी सामान्यभाव से ही सर्वपदार्थविषयक होता है।

क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुरिति शाबरे । 'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः', इति भाट्टे च वचने क्रियाप्रवर्तकवचनत्वं यद्यपि चोदनापदशक्यतया प्रतीयते तथाऽपि वचनत्वं विहाय प्रवर्तकमात्रमिह लक्ष्यते ज्ञानादिषु वचनत्वाभावात् । एवं च प्रेरणीयत्वं प्रेरकत्वं चानात्मन एव नाऽऽत्मन इत्यभिप्रायः । तथा करणं साधकतमं बाह्यं श्रोत्राद्यन्तःस्थं बुद्ध्यादि । कर्मकर्तुरीप्सिततमं क्रियया व्याप्यमानमुत्पाद्यमाप्यं विकार्यं संस्कार्यं च । कर्ता च, इतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकाणां प्रयोक्ता क्रियाया निर्वर्तकश्चिदचिद्ग्रन्थिरूप इति त्रिविधस्त्रिप्रकारः, कर्म संगृह्यते समवैत्यत्रेति कर्मसंग्रहः कर्माश्रयः । चकारार्थादितिशब्दात्संप्रदानमपा-

'परिज्ञाता[71]' उक्त ज्ञान और ज्ञेय का आश्रय अर्थात् अन्तःकरणरूप उपाधि से परिकल्पित भोक्ता है – इन तीनों का संनिपात – सम्मिश्रण होने पर ही हान – त्याग, उपादान-ग्रहण-आदिरूप सब कर्मों का आरम्भ होता है, अतः ये तीनों ही सब कर्मों के प्रवर्तक हैं, अतएव कहते हैं – 'त्रिविधा कर्मचोदना' = 'तीन प्रकार की 'कर्मचोदना' है । 'चोदना[72]' प्रवर्तक को कहते हैं । 'चोदना' क्रिया के प्रवर्तक वचन को कहते हैं' (शाबरभाष्य, 1.1.2) -- इस शबरस्वामी के वाक्य में और 'चोदना, उपदेश और विधि – ये एक अर्थ के वाचक हैं' (श्लोकवार्तिक, 1.1.5.11, 1.1.5-शब्दपरिच्छेद, 12) – इस कुमारिलभट्ट के वचन में भी यद्यपि 'चोदना' पद की शक्यता से 'क्रिया के प्रवर्तक वचनत्व' – शक्यार्थ की प्रतीति होती है, तथापि यहाँ वचनत्व को छोड़कर प्रवर्तकमात्र में 'चोदना' पद की लक्षणा की जाती है, क्योंकि ज्ञानादि में वचनत्व का अभाव होता है । इसप्रकार प्रेरणीयत्व और प्रेरकत्व – ये अनात्मा के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं है – यह अभिप्राय है । 'करण[73]' साधकतम = क्रिया की सिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक -- सहायक कारक है, यह श्रोत्रादि 'बाह्य' और बुद्धि आदि 'अन्तःस्थ' – भेद से दो प्रकार का है । 'कर्म' = कर्ता को अपनी क्रिया से जो ईप्सिततम हो -- कर्ता अपनी क्रिया से जिस पदार्थ को प्राप्त करने की सबसे अधिक इच्छा रखता हो अर्थात् कर्ता की क्रिया से जो व्याप्यमान – व्याप्त होनेवाला है वह 'कर्म' है, यह चार प्रकार का है -- उत्पाद्य, विकार्य, प्राप्य और संस्कार्य । तथा, 'कर्ता[74]' इतर कारकों से -- स्वभिन्न कर्मादि कारकों से अप्रयोज्य होते हुए सब कारकों का प्रयोजक[75] अर्थात् क्रिया का निर्वर्तक –क्रिया को निष्पन्न करनेवाला चिदचिद्ग्रन्थिरूप[76] है -- इसप्रकार तीन प्रकार का 'कर्मसंग्रह' है । जिसमें कर्म संगृहीत -- समवेत होता है वह 'कर्मसंग्रह' अर्थात् कर्म का आश्रय होता है । यहाँ 'इति' शब्द चकार के अर्थ में है अतएव 'इति[77]' शब्द से सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण – ये तीन अनुक्त कारक भी उक्त तीन कारकों में ही अन्तर्भूत कहे गये हैं । इसप्रकार छहों कारक

71. 'परिज्ञाता' उपाधियुक्त अविद्याकल्पित भोक्ता है, परिज्ञाता को अविद्याकल्पित कहने से यह निर्देश किया गया है कि यह अवस्तु – मिथ्या है ।

72. चोद्यते प्रवर्त्यते येनेति चोदना – जिससे चोदित – प्रवृत्त किया जाता है उसको चोदना– प्रवर्त्तक कहते हैं ।

73. क्रियतेऽनेनेति करणम् = जिससे कार्य किया जाता है वह करण है, यह श्रोत्रादि बाह्य और बुद्धि आदि आन्तर भेद से दो प्रकार का है ।

74. स्वतन्त्रः कर्ता (पाणिनिसूत्र, 1.4.54) = क्रियासम्पादन में जो स्वतन्त्र अर्थात् प्रधानभाव से विवक्षित होता है = जो अन्य किसी कारक के अधीन न होकर स्वयं क्रिया-निष्पादन करता है उसको 'कर्ता' कहते हैं ।

75. क्रियोपयोगि क्रियान्वयि कारकम् = क्रिया के साथ जिसका अन्वय अर्थात् सम्बन्ध रहता है उसको कारक कहते हैं । कारक छः हैं :-- कर्ता, कर्म करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण । क्रिया का आश्रय कर्ता है, कर्ता के बिना क्रिया नहीं होती है अतएव क्रिया द्वारा कर्ता सब कारकों का प्रयोजक होता है और स्वयं कारकान्तर से अप्रयोज्य होता है ।

दानमधिकरणं च राशित्रयान्तर्भूतम् । एवं कारकषट्कमेव त्रिविधं क्रियाया आश्रयो नतु कूटस्थ आत्मेत्यर्थः । कर्मप्रेरकस्य कर्माश्रयस्य च कारकरूपत्वात्त्रैगुण्यात्मकत्वाच्चाकारकस्वभावो गुणातीतश्चाऽऽत्मा सर्वकर्मासंस्पर्शीत्यभिप्रायः ।

57 अथवा ज्ञानं प्रेरणारूपं लिङादिशब्दजन्यं, ज्ञेयं तस्य ज्ञानस्य विषयत्वेन लिङादिशब्दस्वरूपं प्रेरकं, परिज्ञाता तस्य ज्ञानस्याऽऽश्रयः प्रेरणीयः, इत्येवं त्रिविधा कर्मचोदना कर्म क्रिया पुरुषव्यापार-रूपाऽऽर्थी भावना, तद्विषया चोदना प्रेरणा विधिरूपा शाब्दी भावनेत्यर्थः । तथा करणं सेतिकर्तव्यताकं साधनं धात्वर्थः, कर्म भाव्यं स्वर्गादिफलं, कर्ता फलकामनावान्पुरुषः क्रियाया

ही तीन प्रकार के कारक हैं, ये तीन प्रकार के कारक क्रिया के आश्रय हैं, कूटस्थ आत्मा के आश्रय नहीं हैं – यह अभिप्राय है । कर्मप्रेरक और कर्माश्रय कारकरूप हैं और त्रैगुण्यात्मक हैं अतएव अकारक-स्वभाव और गुणातीत आत्मा सब कर्मों से असंस्पर्श -- असम्बद्ध होता है -- यह अभिप्राय है ।

57 अथवा, 'ज्ञान' लिङादिशब्दजन्य प्रेरणारूप[78] है, 'ज्ञेय' उस ज्ञान का विषय होने से लिङादिशब्दस्वरूप प्रेरक है, और 'परिज्ञाता' उस ज्ञान का आश्रय प्रेरणीय है -- इसप्रकार तीन प्रकार की 'कर्मचोदना' है = 'कर्म' क्रिया अर्थात् पुरुषव्यापाररूपा आर्थी-भावना[79] है, उसकी विषय 'चोदना' – प्रेरणा अर्थात् विधिरूपा शाब्दी-भावना है – यह अर्थ है । तथा 'करण' इतिकर्तव्यता[80] सहित साधन[81] अर्थात् धात्वर्थ है, 'कर्म' भाव्य-- करण से होनेवाला स्वर्गादि फल है, और 'कर्ता' फल की कामना

76. क्रिया का निर्वर्तक 'कर्ता' चिदचिद्ग्रन्थिरूप है, अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य है = अन्तःकरण अचित् है, चैतन्य चित् है – दोनों की अनादिमाया से वैशिष्ट्यरूप ग्रन्थि हुई है अतएव वह चिदचिद्ग्रन्थिरूप है, यही प्राणधारण क्रिया से 'जीव' कहलाता है ।

77. प्रकृत में 'इति' शब्द चकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतएव 'इति' शब्द से सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण – ये तीन अनुक्त कारक ग्रहण किये गये हैं । 'कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम्' (पाणिनिसूत्र, 1.4.32) = दान के कर्म द्वारा कर्ता जिसको उद्देश्य बनाता है वह 'सम्प्रदान' कहलाता है । 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (पाणिनिसूत्र, 1.4.24) = किसी वस्तु या व्यक्ति के अपाय = अलग होने में जो कारक ध्रुव अर्थात् अवधि – सीमारूप है वह 'अपादान' कहलाता है । 'अधारोऽधिकरणम्' (पाणिनिसूत्र, 1.4.45) = कर्ता और कर्म के द्वारा उनमें स्थित क्रिया का आधार 'अधिकरण' कारक कहलाता है । इसके अतिरिक्त 'इति' शब्द से ही ये उक्त तीन कारक कर्ता, कर्म और करण – इन तीन कारकों में ही अन्तर्भूत कहे गये हैं, कारण कि कर्ता, कर्म और करण – ये तीन कारक क्रिया के साक्षात् आश्रय हैं, किन्तु सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण – ये तीन कारक तो केवल परम्परा से क्रिया के निर्वर्तक है, साक्षात् क्रिया के आश्रय नहीं हैं ।

78. लिङ्त्व लोट्त्व, लेट्त्व, तव्यत्व का उपलक्षक है अतएव लिङ्, लोट्, लेट्, तव्य प्रत्यय से जन्य प्रेरणा – प्रवर्तना 'ज्ञान' है ।

79. 'प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना' (अर्थसंग्रह) = स्वर्गादि प्रयोजन को लक्ष्य करके यागादि क्रिया को अनुष्ठित करने का पुरुष में जो मानसिक व्यापार – कर्म उत्पन्न होता है उसको 'आर्थीभावना' कहते हैं ।

80. इतिकर्तव्यता = 'इति' का अर्थ प्रकार है, सामान्यरूप से प्राप्त पदार्थ का विशेषरूप देना 'प्रकार' है । 'कर्तव्य' शब्द सामान्य क्रिया का अभिधायक-है । अतएव सामान्यक्रियाभिहित 'कर्तव्य' को ही विशेषरूप करना 'इतिकर्तव्यता' शब्द का अर्थ है । 'यजेत' पद में 'त' प्रत्यय प्रवर्तना बोधक होकर पुरुष को अपने इष्ट साधन में प्रवर्तित करता है । लिङादि ज्ञान सम्पन्न भी पुरुष 'यजेत' पद को सुनकर तटस्थ रहता हो तो विधि तटस्थ पुरुष को प्रवर्तित कराने में आकांक्षा रखती है, इसी को 'इतिकर्तव्यता' आकांक्षा कहते हैं ।

81. यद्यपि भावना अपने साध्य को उत्पन्न करती है तथापि भावना और साध्य के बीच एक साधन का अस्तित्व पाया जाता है जो साध्य के निष्पन्न होने में करण का स्थान ग्रहण करता है । साधन धात्वर्थ होता है । 'यजेत' पद में दो अंश है– 'यज्' धातु और 'त' प्रत्यय । यज् धातु याग के सामान्यरूप का बोधक है और 'त' प्रत्यय का बोधक है । 'त' प्रत्यय के दो अंश है-- आख्यातत्व और लिङ्त्व । लिङादिज्ञान करण है । धात्वर्थ करण है । इसप्रकार यागानुष्ठान साधन है, करण है ।

निर्वर्तक इत्येवं त्रिविधः कर्मसंग्रहः कर्मणः पुंव्यापाररूपस्यार्थभावनायाः संग्रहः संक्षेपः । तदेवमर्थभावनारूपपुंप्रयत्नस्य विधेयस्याभावाच्छब्दभावनारूपो विधिर्न शुद्धमात्मानं गोचरयति कारकाश्रयत्वाद्विधिविधेययोः । तदुक्तं— 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इति । कारकाणां च त्रैगुण्यरूपत्वमनन्तरमेव व्याख्यास्यत इत्यभिप्रायः ।

58 **अत्र प्रसङ्गाद्विधिश्चिन्त्यते, प्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रेरणा तावत्सर्वलोकानुभवसिद्धा । राज्ञा प्रेरितो बालेन प्रेरितो ब्राह्मणेन प्रेरितोऽहमिति हि प्रवर्तमाना वक्तारो भवन्ति । सा च प्रवर्तना प्रवर्तकराजादिनिष्ठा । तत्रोत्कृष्टस्य निकृष्टं प्रति प्रवर्तनाऽऽज्ञा प्रेषणेति चोच्यते । निकृष्टस्योत्कृष्टं प्रति प्रवर्तना याञ्चाऽध्येषणेति चोच्यते । समस्य समं प्रत्युत्कर्षनिकर्षौदासीन्येन प्रवर्तनाऽनुज्ञाऽनुमतिरिति चोच्यते । ते चाऽऽज्ञादयो ज्ञानविशेषा इच्छाविशेषा वा चेतनधर्मा एव लोके प्रसिद्धाः । वेदे तु विधिनाऽहं प्रेरितः करोमीति व्यवहर्तारो भवन्ति । तत्र स्वयमचेतनत्वादपौरुषेयत्वाच्च वैदिकस्य विधेर्न चेतनधर्मेणाऽऽज्ञादिना प्रेरकता संभवति । अतः स्वधर्मेणैव साऽभ्युपगन्तव्या गत्यन्तरासंभवात् । स एव च धर्मश्चोदना प्रवर्तना प्रेरणा विधिरुपदेशः शब्दभावनेति चोच्यते ।**

करनेवाला पुरुष अर्थात् क्रिया का निर्वर्तक -- क्रिया को निष्पन्न करनेवाला पुरुष है -- इसप्रकार तीन प्रकार का 'कर्मसंग्रह' है = कर्म अर्थात् पुंव्यापाररूपा आर्थीभावना का संग्रह-संक्षेप है । इसप्रकार आर्थीभावनारूप पुंप्रयत्नरूप विधेय का अभाव होने के कारण शाब्दीभावनारूप विधि शुद्ध आत्मा को गोचर-विषय नहीं करती है, क्योंकि विधि और विधेय कारक के आश्रय होते हैं । यही भगवान् ने कहा है :–

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' (गीता, 2.45) = 'हे अर्जुन ! वेद त्रैगुण्य को विषय करनेवाले हैं, तुम निस्त्रैगुण्य होओ' । कारकों की त्रैगुण्यरूपता की व्याख्या आगे की जायेगी – यह अभिप्राय है ।

58 यहाँ प्रसङ्ग[82]सङ्गति से 'विधि' के विषय में विचार किया जाता है, प्रवृत्ति की हेतु होने से प्रेरणा-प्रवर्तना तो सब प्राणियों के अनुभव से ही सिद्ध है, क्योंकि 'मैं राजा से प्रेरित हूँ', 'मैं बालक से प्रेरित हूँ', 'मैं ब्राह्मण से प्रेरित हूँ' -- इसप्रकार प्रवृत्त होनेवाले वक्ता होते हैं और वह प्रवर्तना प्रवर्तक-राजादिनिष्ठ होती है । उसमें, उत्कृष्ट पुरुष की निकृष्ट पुरुष के प्रति होनेवाली प्रवर्तना आज्ञा अर्थात् प्रेषणा कही जाती है । निकृष्ट पुरुष की उत्कृष्ट पुरुष के प्रति होनेवाली प्रवर्तना याञ्चा अर्थात् अध्येषणा कही जाती है । समान पुरुष की समान पुरुष के प्रति उत्कर्ष और निकर्ष की उदासीनतापूर्वक होनेवाली प्रवर्तना अनुज्ञा अर्थात् अनुमति कही जाती है । वे आज्ञादि ज्ञानविशेष अथवा इच्छाविशेष चेतन के ही धर्मरूप से लोक में प्रसिद्ध हैं । वेद में तो पुरुष 'मैं विधि से प्रेरित हुआ कर्म करता हूँ' -- इसप्रकार का व्यवहार करनेवाले होते हैं । उसमें, स्वयं अचेतन होने से और अपौरुषेय होने से वैदिक विधि में चेतन के धर्मरूप आज्ञादि से प्रेरकता संभव नहीं है, अतः उसको अपने शब्दात्मक धर्म से ही प्रेरक स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि कोई अन्य गति सम्भव नहीं है; और वह धर्म ही चोदना, प्रवर्तना, प्रेरणा, विधि, उपदेश और शाब्दीभावना कहा जाता है ।

---

82. स्मृतस्य उपेक्षाऽनर्हत्वम्प्रसङ्गः = स्मृत हुए की उपेक्षा न करने को प्रसङ्ग कहते हैं ।

59 तत्र केचिदलौकिकमेव शब्दव्यापारं कल्पयन्ति । अन्ये तु क्लृप्तेनैवोपपत्तौ नालौकिककल्पनां सहन्ते । प्रवर्तना हि प्रवृत्तिहेतुर्व्यापारः । विधिशब्दस्य चाऽऽख्यातत्वेन दशलकारसाधारणेनोपाधिना पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनां प्रति वाचकत्वं तज्ज्ञानहेतुत्वमिति यावत् । सा च ज्ञातैवानुष्ठातुं शक्यत इति तद्धीहेतोरपि शब्दस्य तद्धेतुत्वं परम्परया भवत्येव । तत्र विधिशब्दस्य पुरुषप्रवृत्तिरूपभावनाज्ञानहेतुर्व्यापारस्तद्वाचकशक्तिमत्तया विधिशब्दज्ञानम् । स एव च तस्य प्रवृत्ति-

59 इस विषय में कोई विद्वान्[83] अलौकिक ही शब्दव्यापार की कल्पना करते हैं, किन्तु अन्यजन[84] कहते हैं कि यदि क्लृप्तनिश्चित कारण से ही लौकिक कर्म के समान वैदिक कर्म में प्रवृत्ति हो सकती है तो अलौकिक व्यापार मानने की क्या आवश्यकता है ?– इसप्रकार वे अलौकिक-कल्पना को सहन नहीं करते हैं । कारण कि प्रवर्तना प्रवृत्ति का हेतुभूत व्यापार है और 'विधि' शब्द का दश लकारों के साधारणधर्म आख्यातत्वरूप उपाधि से पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना के प्रति वाचकत्व है अर्थात् आर्थीभावना के ज्ञान का हेतुत्व है । उस आर्थीभावना का ज्ञान होने पर ही अनुष्ठान किया जा सकता है, अत: उसके ज्ञान के हेतुभूत शब्द का उसके प्रति भी परम्परा से हेतुत्व होता ही है । उसमें, पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना के ज्ञान में हेतुरूप 'विधि' शब्द का व्यापार पुरुषप्रवृत्ति का वाचक है और उसकी वाचकशक्तिमत्ता होने से ही 'विधि' शब्द का ज्ञान होता है और वही उसकी प्रवृत्ति का हेतुभूत व्यापार है अतएव वही 'प्रवर्तना' नाम प्राप्त करता है, क्योंकि ज्ञानद्वारा ही शब्द प्रवृत्ति का जनक होता है, कारण कि ज्ञानजनक व्यापार से अतिरिक्त उसके किसी अन्य व्यापार की कल्पना करने में प्रमाण नहीं है[85] । इसप्रकार विधि का स्वज्ञान = लिङादिज्ञान, उसकी शक्ति

83. कोई विद्वान् = भट्टसोमेश्वर और खण्डदेव कहते हैं कि शब्दनिष्ठ प्रेरणा-प्रवर्तना का अपरपर्याय कोई अलौकिक शब्दव्यापार शाब्दीभावना शब्द से शब्दित है । उक्त मत में अरुचि प्रकट करने के लिए 'केचित्' शब्द का प्रयोग है, कारण कि उक्त मत में तीन दोष प्रसक्त होते हैं । प्रथम दोष यह है कि अलौकिक शब्दव्यापार में व्यवहारादि से शब्दशक्तिग्रहण नहीं हो सकता है अतएव अगृहीतशक्तिक पद का प्रयोग अबोधक होने से व्यर्थ ही होगा, फलत: अबोधक पद से पुरुषप्रवृत्ति भी नहीं होगी । द्वितीय दोष यह है कि पुरुष राजादि की प्रेरणा से कर्म में इसलिए प्रवृत्त होते हैं कि वह स्वतंत्र फल देता है और अचेतन लिङादि में यह सामर्थ्य नहीं है अतएव इनकी प्रेरणा से पुरुषप्रवृत्ति नहीं होगी । तृतीय दोष यह है कि पुरुषप्रवृत्ति में प्रधान कारण लिङादि हैं अथवा प्रेरणा है ? यदि लिङादि कारण हैं तो किसी भी फल की सम्भावना नहीं है, क्योंकि वे स्वयं पुरुषार्थ नहीं हैं । यदि प्रेरणा कारण है तो प्रेरणामात्र के ज्ञान से विद्वान् की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, अपितु उचित और अनुचित – दोनों प्रकार की प्रवृत्ति हो सकती है ।

84. अन्यजन = पार्थसारथिमिश्रादि की मान्यता है कि क्लृप्त – निश्चित कारण से ही लौकिक कर्म के समान वैदिक कर्म में प्रवृत्ति हो सकती है अतएव अलौकिक व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है ।

85. भाव यह है कि प्रवर्तना प्रवृत्ति का हेतुभूत व्यापार है और पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना सब आख्यातों का अर्थ है अतएव लिङादि शब्द का भी वह अर्थ है, क्योंकि लिङादि शब्द भी आख्यात ही हैं तथा लिङादि शब्द ही पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना का ज्ञान कराते हैं । 'यजेत' आदि शब्दों में 'लिङ्' शब्द के श्रवण से श्रोता को यह ज्ञान होता है कि ये लिङादि शब्द मुझको यागादि में प्रवृत्त कराते हैं कि 'याग करो' – इसप्रकार यागादि में मेरी प्रवृत्ति का प्रयोजक व्यापार लिङादि शब्दों में है – यह सर्वलोकप्रसिद्ध अनुभव है । 'यजेत' – इस विधि शब्द में दो अंश है – आख्यातत्व और लिङ्त्व । आख्यातत्व या तिङ्त्व धर्म दसों लकारों में रहता है अतएव यह उसका साधारण धर्म है, किन्तु लिङ्त्व धर्म केवल लिङ् लकार में ही रहता है अतएव यह उसका असाधारण धर्म है । पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना आख्यातार्थ है जो सब आख्यातों से प्रतीत होता है । प्रवृत्ति करानेवाली प्रेरणा शाब्दीभावना है जो कि लिङादि शब्दों में ही रहती है । लोक में राजादि प्रवर्त्तक पुरुषों में आज्ञादिरूप धर्म से रहते हैं किन्तु वेद अपौरुषेय हैं, अचेतन हैं अतएव उनमें लिङादिरूप शब्दात्मक धर्म को ही प्रेरणा मानकर शाब्दीभावना कहा जाता है । आर्थीभावना का ज्ञान लिङादि विधि शब्दों से होता है इसलिए लिङादि शब्द आर्थीभावना

हेतुर्व्यापार इति प्रवर्तनाभिधानीयतां लभते ज्ञानद्वारेणैव शब्दस्य प्रवृत्तिजनकत्वात्, ज्ञानजनकव्यापारातिरिक्तव्यापारकल्पने मानाभावात् । ज्ञानजनकश्च व्यापारस्तस्य स्वज्ञानं शक्तिज्ञानं शक्तिविशिष्टस्वज्ञानं च । तत्राऽऽद्ययोरन्यतरस्य शब्दभावनात्वं तृतीयस्य तु तत्र करणत्वमिति विवेकः ।

60 **एवं स्थिते निष्कर्षः, विधिना स्वज्ञानं जन्यते प्रवर्तनात्वेनाभिधीयतेऽपीति विधिज्ञानमेव-शब्दभावना । तस्यां च पुरुषप्रवृत्तिरूपाऽर्थभावनैव भाव्यतयाऽन्वेति । करणतया च प्रवृति-वाचकशक्तिमद्विधिज्ञानमेव । भावनासाध्यस्यापि फलावच्छिन्नां भावनां प्रति करणत्वं फलकरण-**

का ज्ञान और शक्तिज्ञानविशिष्टस्वज्ञान -- ये उसके ज्ञानजनक व्यापार हैं[86] । उनमें प्रथम दो में से कोई भी एक अर्थात् प्रथम अथवा द्वितीय शाब्दीभावनारूप है और तृतीय तो भावनाकरण[87] है -- यह विवेक -- अन्तर है ।

60 ऐसी स्थिति में निष्कर्ष यह है कि विधि -- विधिवाक्य से विधि का स्वज्ञान = लिङादिज्ञान उत्पन्न होता है, वही प्रवर्तनारूप से कहा भी जाता है अतएव विधिज्ञान ही शाब्दीभावना है । उसमें पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना ही भाव्य-साध्यरूप से अन्वित होती है तथा करण[88]रूप से प्रवृत्तिवाचक

के वाचक हैं । लिङादिशब्द से प्रवृत्ति को जब तक पुरुष नहीं जानता है तब तक पुरुष यागादि कर्मों में प्रवृत्त नहीं हो सकता है अतः प्रवृत्तज्ञान द्वारा लिङादि शब्द प्रवृत्ति के वाचक हैं । यह श्रोताओं का ज्ञान ही लिङादि शब्दों का वह व्यापार है जो कि पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना के ज्ञान का जनक है ।

86. विधि -- लिङादि शब्दों का ज्ञानजनक व्यापार तीन प्रकार होता है -- प्रथम = विधि का स्वज्ञान -- लिङादिज्ञान अर्थात् लिङादि शब्दों का श्रावण प्रत्यक्ष, द्वितीय = उसकी शक्ति का ज्ञान -- प्रवृत्ति कराने की शक्ति का ज्ञान अर्थात् उस शक्ति का ज्ञान जिससे लिङादि शब्दों के श्रावण प्रत्यक्ष के उपरान्त प्रवृत्ति का ज्ञान श्रोताओं को होता है और तृतीय = शक्तिज्ञानविशिष्टस्वज्ञान अर्थात् प्रवृत्तिज्ञान कराने की शक्ति विधि-लिङादि शब्दों में है एतादृश शक्तिज्ञानविशिष्टस्वज्ञान है । विधि -- लिङादि का श्रावण प्रत्यक्ष द्वितीय ज्ञान का स्मारक है, कारण कि सामान्यज्ञानपूर्वक ही विशेषज्ञान होता है अतएव द्वितीय ज्ञान अपेक्षित है । सामान्यज्ञान प्रवृत्ति का कारण नहीं है, क्योंकि वह शक्ति का ज्ञान है, द्वितीय ज्ञान से यह प्रतीत नहीं होता है कि वह शक्ति कहाँ है अतएव तृतीय ज्ञान अपेक्षित है । तृतीय ज्ञान से यह स्पष्ट हो जाता है वह शक्ति विधि -- लिङादि शब्दों में है अतएव लिङादि शब्दों के श्रवण से यागादि में पुरुष की प्रवृत्ति होती है ।

87. 'करण' दो प्रकार का होता है -- कारक और ज्ञापक । 'कारक' का अर्थ है उत्पादक अर्थात् उत्पन्न करनेवाला और 'ज्ञापक' का अर्थ है ज्ञान कराने वाला । शक्तिविशिष्टस्वज्ञान -- लिङादिज्ञान भावना का उत्पादकरूप करण नहीं है, जैसा कि चक्षु:सन्निकर्ष रूपादि के ज्ञान का उत्पादक है, सन्निकर्ष न होने पर रूपादि का ज्ञान नहीं होता है और चक्षु:सन्निकर्ष हो जाने पर रूपादि का ज्ञान होता है । इसप्रकार शाब्दीभावना के साथ लिङादि ज्ञान का जन्य -- जनकभाव सम्बन्ध नहीं है । यदि जन्य-जनकभाव सम्बन्ध होगा तो लिङादिज्ञान न होने से उसका अभाव मानना पड़ेगा और यह संभव नहीं है, क्योंकि भावना 'यजेत स्वर्गकामः' -- इस वैदिक शब्दसमूह में पूर्व से ही विद्यमान रहती है, वेद के अनादि होने से शाब्दीभावना भी अनादि है अतएव उसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता है । लिङादिज्ञानरूप करण से शाब्दीभावना का ज्ञान अवश्य होता है । 'लिङादि' के श्रवण से श्रोता अथवा वक्ता वेदवाक्य में पूर्व से ही विद्यमान शाब्दीभावना का अनुमान द्वारा ज्ञान कर लेता है । इसप्रकार लिङादिज्ञान ज्ञापकरूप में शाब्दीभावना का करण है, उत्पादकरूप में करण नहीं है, किन्तु लिङादिज्ञान शाब्दीभावना का ज्ञापक करण होने के साथ-साथ आर्थीभावना का कारक-उत्पादक करण भी है, कारण कि लिङादि का ज्ञान होने पर ही श्रोता में आर्थीभावना- प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । इसप्रकार शक्तिविशिष्टस्वज्ञान भावनाकरण है ।

88. प्रकृत में 'करण' स्वभाव्यनिर्वर्तकत्वरूप है । 'स्व' शब्द शाब्दीभावना परक है अतएव शाब्दीभावना का भाव्य -- साध्य -- आर्थीभावना जो पुरुषप्रवृत्तिरूपा है उस प्रवृत्ति की निर्वर्तकता -- संपादकता लिङादिज्ञान में है, क्योंकि उसमें प्रवृत्ति कराने की शक्ति रहती है अतएव प्रवृत्तिवाचक शक्तिविशिष्टविधिज्ञान शाब्दीभावना का करण है ।

त्वादेव यागस्येव स्वर्गभावनां प्रति न विरुध्यते। तया च पुरुषः स्वप्रवृत्तिं भावयेत्। केनेत्यपेक्षायां पुरुषप्रवृत्तिवाचकशक्तिमत्तया ज्ञातेन विधिशब्देनेति करणांशपूरणम् । कथमित्याकाङ्क्षाया-मर्थवादैः स्तुत्वेतीतिकर्तव्यतांशपूरणम् । इयं गौः क्रय्येति लौकिके विधौ बहुक्षीरा जीववत्सा ह्यपत्या समांसमीनेत्यादिलौकिकार्थवादवत् ।

61 **नन्वाख्यातत्वेन विधिशब्दादुपस्थिता पुरुषप्रवृत्तिर्भाव्यतयाऽन्वेतु। करणं तु कथमनुपस्थितमन्वेति। उच्यते– विधिशब्दस्तावच्छ्रवणेनोपस्थापितस्तस्य पुरुषप्रवृत्तिवाचकशक्तिरपि स्मरणेनोपस्थापिता। तदुभयवैशिष्ट्यं तन्निष्ठा ज्ञातता च मनसेति वाचकशक्तिमत्तया ज्ञातो विधिशब्द उपस्थित एव। अनेन यच्छृणुयात्तद्भावयेदिति प्रतिशब्दं स्वाध्यायविधितात्पर्याच्छब्दातिरिक्तेनोपस्थितमपि शाब्द-**

शक्तिविशिष्टविधिज्ञान ही अन्वित होता है। शाब्दीभावना का साध्य-आर्थीभावना जो पुरुषप्रवृत्तिरूपा फलस्वरूपा है उस पुरुषप्रवृत्तिरूप फल से अवच्छिन्न-विशिष्ट शाब्दीभावना के प्रति भी शक्तिविशिष्टविधिज्ञान करण है, क्योंकि वह फल का करण है; जैसे याग यद्यपि आर्थीभावना का करण है तथापि स्वर्गादि फल का करण होने से स्वर्गादि फल से युक्त आर्थीभावना का भी करण है – इसप्रकार इसमें कोई विरोध नहीं है। विधि से पुरुष अपनी प्रवृत्ति करे – इससे शाब्दी भावना कही गई है, इसमें तीन अंशों की अपेक्षा रहती है -- साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता। उक्त अपेक्षात्रय का स्वरूप क्रमशः इसप्रकार है – किं भावयेत्' = 'क्या करे', 'केन भावयेत्' = 'किससे करे' और 'कथं भावयेत्' = 'कैसे करे'। इनमें प्रथम साध्य की अपेक्षा 'पुरुषः स्वप्रवृत्तिं भावयेत्' = 'पुरुष अपनी प्रवृत्ति करे' – इससे निवृत्त हो गई, इसके पश्चात् 'केन भावयेत्' = 'किससे करे' -- इसप्रकार साधन की अपेक्षा-आकांक्षा होने पर 'पुरुषप्रवृत्ति की वाचकशक्तिमत्ता से ज्ञात 'विधि' शब्द से करे' – इसप्रकार करण-साधन अंश की पूर्ति होती है, इसके पश्चात् 'कथं भावयेत्' = 'कैसे करे' – इसप्रकार इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होने पर अर्थवादों[89] से स्तुति कर इतिकर्तव्यता अंश की पूर्ति होती है = जिसप्रकार 'गौ: क्रय्या' -- 'गौ क्रय के योग्य है' – इस लौकिक विधि में 'यह गौ बहुत दूध देती है, इसके बच्चे जीवित रहते हैं, यह वत्सा – बछड़ीवाली है, प्रतिवर्ष प्रसव करती है' – इत्यादि लौकिक अर्थवादवाक्यों से क्रेता की गौ-क्रय में प्रवृत्ति होती है, उसीप्रकार 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' – 'ऐश्वर्यप्राप्ति का इच्छुक पुरुष वायु देवता के लिए श्वेत पशु का आलभन करे' -- इस विधि में 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' -- 'वायु शीघ्रगामी देवता है' -- अतएव शीघ्र फलप्रद है -- इस 'अर्थवाद-वाक्य से पुरुष की याग में प्रवृत्ति होती है -- इसप्रकार इतिकर्तव्यता अंश का पूरक अर्थवाद होता है।

61 शंका है – आख्यातत्व धर्म से युक्त 'विधि' शब्द से उपस्थित पुरुषप्रवृत्ति भाव्य -- साध्यरूप से

89. प्राशस्त्यपरक अथवा निन्दापरक वाक्य को 'अर्थवाद' कहते हैं (प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः–अर्थसंग्रह)। अर्थवाद वाक्य का अपने मुख्यार्थ में कोई प्रयोजन नहीं रहता है अतएव अर्थवाद वाक्य लक्षणा द्वारा विधेय पदार्थ के प्राशस्त्य और निषेध्य पदार्थ की निन्दा का प्रतिपादन करता है। यदि अर्थवादवाक्य का अभिप्राय उसके अपने मुख्यार्थ में स्वीकार किया जायेगा तो अर्थवादवाक्य के व्यर्थ होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा, क्योंकि सम्पूर्ण वेद क्रियापरक हैं, किन्तु अर्थवादवाक्य के व्यर्थ होने की आपत्ति को इष्टापत्ति नहीं माना जा सकता है, कारण कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'– यह अध्ययनविधि सूचित करती है कि सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए, सम्पूर्ण वेद का अभिप्राय प्रयोजनवान् अर्थ– धर्म में ही होता है और अर्थवाद भी वेदगत होने के कारण क्रियापरकरूप में स्वीकृत होता है अतएव अर्थवादवाक्य व्यर्थ नहीं होता है। अर्थवाद के दो भेद हैं– विधिशेष और निषेधशेष।

बोधे भासत एव । यथा ज्योतिष्टोमादिनामधेयं यथा वा लिङ्गविनियोज्यो मन्त्रः । तदुक्तमाचार्यैरुद्भिदधिकरणे– 'अनुपस्थितविशेषणा विशिष्टबुद्धिर्न भवति न त्वनभिहितविशेषणा' इति । एवमर्थवादानामुपस्थितिः श्रोत्रेण प्राशस्त्यस्य तु तैरेव लक्षणया तदुभयनिष्ठज्ञाततायास्तु मनसेत्यर्थवादैः प्रशस्तत्वेन ज्ञात्वेतीतिकर्तव्यतांशान्वयोऽप्युपपन्न एव ।

62 ननु किं प्राशस्त्यं, न तावत्फलसाधनत्वं, तस्य यागेन भावयेत्स्वर्गमित्यर्थभावनान्वयवशेन विधिवाक्यादेव लब्धत्वात् । नान्यत्, प्रवृत्तावनुपयोगात् । उच्यते– बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं प्राशस्त्यम् । तच्च नेष्टहेतुत्वज्ञानाल्लभ्यते, इष्टहेतावपि कलञ्जभक्षणादावनिष्टहेतुत्वस्यापि दर्शनात् । विहितश्येनफलस्य च शत्रुवधस्यानिष्टानुबन्धित्वं दृष्टम् । अतो यावत्साधनस्य फलस्य चानिष्टाहेतुत्वं नोच्यते तावदिष्टहेतुत्वेन ज्ञातेऽपि तत्र पुरुषो न प्रवर्तते । अत एवोक्तम्–

अन्वित होती है तो हो, किन्तु करण जो विधिशब्द से उपस्थित नहीं है वह पुरुषप्रवृत्ति में कैसे अन्वित हो सकता है[90] ? समाधान है -- विधिशब्द -- लिङादि तो श्रवणेन्द्रिय से उपस्थित रहता है अर्थात् उसका श्रावणप्रत्यक्ष होता है अतएव वह प्रत्यक्ष से उपस्थित रहता है, उसकी पुरुषप्रवृत्तिरूपा वाचकशक्ति भी स्मरण से उपस्थित रहती है, तथा विधिशब्द और उसकी शक्ति – दोनों का वैशिष्ट्य और उसमें निष्ठ -- रहनेवाली ज्ञातता मन से उपस्थित रहती है -- इसप्रकार वाचकशक्तिमत्ता से ज्ञात विधिशब्द उपस्थित ही रहता है । 'इससे जो कर सके वह करे' -- इसप्रकार प्रत्येक शब्द में स्वाध्यायविधि का तात्पर्य रहने से शब्दातिरिक्त स्मरण से उपस्थित हुआ शक्तिज्ञान भी शाब्दबोध में भासित होता ही है, जैसे 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' -- 'स्वर्गलाभ के लिए ज्योतिष्टोम नामक याग करे' – यहाँ ज्योतिष्टोम नामक याग की उपस्थिति शब्दातिरिक्त श्रवणेन्द्रिय से हुई है, क्योंकि ज्योतिष्टोम की शक्ति तदर्थ याग में है, अथवा 'बर्हिर्देवसदनं दामि' -- इत्यादि में 'दामि' -- इस लिङ्ग से कुशच्छेदन में इस मन्त्र का विनियोग है । मीमांसक आचार्यों ने उद्भिद् अधिकरण में कहा भी है -- 'जो विशेषण उपस्थित ही नहीं है उसके सम्बन्ध का बोध न होने से उस विशेषण से विशिष्ट में उस विशेषण से विशिष्ट बुद्धि नहीं होती है -- यह नियम है, न कि जो विशेषणमात्र शब्द से उपस्थित नहीं है उस विशेषण से विशिष्ट बुद्धि नहीं होती है-- यह नियम है' । इसीप्रकार अर्थवादों की उपस्थिति श्रोत्र से होती है, प्राशस्त्य अर्थ तो उन अर्थवादों से ही लक्षणावृत्ति द्वारा उपस्थित होता है और उन दोनों में निष्ठ -- रहनेवाली ज्ञातता की प्राप्ति मन से होती है -- इसप्रकार अर्थवादों द्वारा विधि को प्रशस्तरूप से जानकर तत्तद्विहित कर्म को तत्तत्फलप्राप्ति के लिए करे -- इसप्रकार इतिकर्तव्यता अंश का अन्वय भी उपपन्न ही है ।

62 प्रश्न है -- प्राशस्त्य क्या है ? फलसाधनत्व तो प्राशस्त्य हो नहीं सकता है, क्योंकि 'यागेन स्वर्गं भावयेत्'-- 'याग से स्वर्ग की भावना करे' – इस आर्थीभावना के अन्वयवश से फल तो विधिवाक्य द्वारा ही प्राप्त हो जाता है, पुनः एतदर्थ अर्थवादों की क्या आवश्यकता है ? इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी प्राशस्त्य नहीं हो सकता है, क्योंकि उसका प्रवृत्ति में उपयोग ही नहीं है । उत्तर है --

90. भाव यह है कि एक-एक पद से जो अर्थ उपस्थित होते हैं उन्हीं में परस्पर सम्बन्ध का बोध पदसमूहरूप वाक्य से होता है, प्रकारान्तर से उपस्थित अर्थों में सम्बन्ध का बोध नहीं होता है, अतएव 'शाब्दी ह्याकांक्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' = शब्दसम्बन्धिनी आकांक्षा शब्द से ही पूर्ण होती है' -- यह न्याय संगत है । प्रकृत में आख्यातत्व धर्म से युक्त 'विधि' शब्द से उपस्थित पुरुषप्रवृत्ति साध्यरूप से अन्वित होती है तो वह ठीक है, किन्तु 'करण' जो विधिशब्द से उपस्थित नहीं है वह पुरुषप्रवृत्ति में कैसे अन्वित हो सकता है ?

'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते ।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते ॥' इति ।

अतः स्वतः फलतो वाऽनर्थाननुबन्धित्वरूपप्राशस्त्यबोधनेनार्थवादा विधिशक्तिमुत्तम्भयन्ति । क उत्तम्भः, स्वतः फलतो वाऽनर्थानुबन्धित्वशङ्कायाः प्रवृत्तिप्रतिबन्धिकाया विगमः । इदमेव च विधेः प्रवृत्तिजनने साहाय्यमर्थवादैः क्रियत इति विधिरर्थवादसाकाङ्क्षः । एवमर्थवादा अप्यभिधया गौण्या वा वृत्त्या भूतमर्थं वदन्तोऽपि स्वाध्यायविध्यापादितप्रयोजनवत्त्वलाभाय विधिसाकाङ्क्षाः । सोऽयं नष्टाश्वदग्धरथवत्संप्रयोगः । यथैकस्य दग्धस्य रथस्य जीवद्भिरश्वैरन्यस्य विद्यमानस्य रथस्याविद्यमानाश्वस्य संप्रयोगः परस्परस्यार्थवत्त्वाय तथाऽर्थवादानां प्रयोजनांशो विधिना पूर्यते, विधेश्च शब्दभावनाया इतिकर्तव्यतांशोऽर्थवादैरिति । तदिदमुभयोः श्रवणे पूर्णमेव वाक्यमेकस्य श्रवणे त्वन्यस्य कल्पनया पूरणीयं, यथा 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत' इति विधावर्थवादांशोऽश्रुतोऽपि कल्प्यते, 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्याद्यर्थवादे विध्यंशः । तथा च सूत्रं 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां

बलवान् अनिष्ट से सम्बन्ध न होना ही 'प्राशस्त्य' है । उसकी प्राप्ति 'विहित साधन इष्ट का हेतु है' -- इस ज्ञान से नहीं होती है, क्योंकि इष्ट का हेतु होने पर भी कलञ्जभक्षण आदि में अनिष्टहेतुत्व देखा जाता है तथा विहित श्येनयाग के फलभूत शत्रुवध में अनिष्टानुबन्धित्व देखा जाता है । अत: जबतक साधन और फल में अनिष्ट का अहेतुत्व नहीं कहा जाता है तब तक इष्ट के हेतुरूप से ज्ञात होने पर भी उनमें पुरुष प्रवृत्त नहीं होता है । अतएव कहा भी है --

"जो कर्म फल के द्वारा भी अनर्थ से अनुबद्ध नहीं होता है वही केवल प्रीति का हेतु होने से 'धर्म' कहा जाता है" (श्लोकवार्तिक, 1.1.2.268) ।

अतः स्वतः -- स्वरूपतः अथवा फलतः अनर्थ से अननुबन्धित्वरूप प्राशस्त्य का बोध कराने से अर्थवाद विधिशक्ति को उत्तम्भित -- उत्तेजित करते हैं । उत्तेजकत्वस्वरूप उत्तम्भ क्या है ? स्वत: -- स्वरूपतः अथवा फलतः अनर्थानुबन्धित्व की शङ्का, जो पुरुषप्रवृत्ति की प्रतिबन्धक है, का निवारण होना ही 'उत्तम्भ' है । प्रवृत्ति उत्पन्न करने में अर्थवादों द्वारा विधि की यही सहायता की जाती है -- इसप्रकार विधि को अर्थवाद की अपेक्षा रहती है । इसीप्रकार अर्थवाद भी अभिधा अथवा गौणी वृत्ति से यथार्थ अर्थ को कहते हुए भी स्वाध्यायविधि द्वारा आपादित -- प्राप्त प्रयोजनवत्ता की प्राप्ति के लिए विधि की आकांक्षा -- अपेक्षा रखते हैं । यह संप्रयोग नष्टाश्वदग्धरथ के समान है । जैसे -- जिसका रथ जल गया है और घोड़े जीवित हैं ऐसे एक पुरुष का दूसरे पुरुष के साथ, जिसका रथ विद्यमान है किन्तु घोड़े अविद्यमान हैं अर्थात मर गये हैं, परस्पर अर्थसिद्धि -- प्रयोजनसिद्धि के लिए संप्रयोग -- मेल हो जाता है, वैसे ही अर्थवादों के प्रयोजनरूप अंश की पूर्ति विधि से होती है तथा शाब्दीभावनारूपा विधि के इतिकर्तव्यतारूप अंश की पूर्ति अर्थवादों से होती है । अतः यह ध्यातव्य है कि यदि प्रयोजन और इतिकर्त्तव्यता -- दोनों का श्रवण होता है तो पूर्ण ही वाक्य है और यदि दोनों में से एक का श्रवण होता है तो उसको दूसरे की कल्पना से पूर्ण करना चाहिए । जैसे 'वसन्त के लिए कपिञ्जल का आलभन करे' -- इस विधि में अर्थवादांश का श्रवण नहीं है अतएव अर्थवाद की कल्पना करके यहाँ वाक्य को पूर्ण किया जाता है तथा 'जो ये रात्रियाग करते हैं वे प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं'-- इस अर्थवाद में विध्यंश श्रुत नहीं है अतएव विधिवाक्य की कल्पना करके यहाँ वाक्य को पूर्ण किया जाता है । इसीप्रकार सूत्र भी है-- 'विधिना

स्युः' इति । विधिना स्तुतिसाकाङ्क्षेण प्रयोजनसाकाङ्क्षाणामर्थवादानामेकवाक्यत्वाद्विधीनां विधेयानां स्तुत्यर्थेन स्तुतिप्रयोजनेन स्तुतिरूपेण प्रयोजनसाकाङ्क्षेण लाक्षणिकेनार्थेन वाऽऽनर्थक्याभावादर्थवादा धर्मे प्रमाणानि स्युरिति तस्यार्थः ।

63 **ननु या एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव चामीषामर्था इति न्यायाद्विधिशब्दस्य लोके यत्र शक्तिर्गृहीता वेदेऽपि तदर्थकेनैव तेन भवितव्यम् । लोके च प्रेषणादौ पुरुषधर्मवाचित्वं क्लृप्तमिति वेदे शब्दभावनावाचित्वं कथमुपपद्यन्ते । उच्यते—लोकवेदयोरैकरूप्यमेव । तथा हि— लोके प्रेषणादिकं न तेन तेन रूपेण विधिपदवाच्यमननुगमेन नानार्थत्वप्रसङ्गात्तद्वदेव भावनावाचित्वोपपत्तेश्च । किं तु प्रेषणाध्येषणानुज्ञा स्वस्तिप्रवर्तनात्वमेकं, तच्च शब्दव्यापारेऽपि तुल्यमिति तदेव लिङादिपदवाच्यम् । तच्च लौकिकशब्दे नास्त्येव । तत्र राजादीनामेव प्रवर्तकत्वात् । प्रवर्तकव्यापार एव हि प्रवर्तना प्रवर्तकत्वं च राजादेरिव वेदस्याप्यनुभवसिद्धम् ।**

64 **ननु वेदेऽपि प्रवर्तनावानीश्वरः कल्प्यतां लोके राजादिवत् । तदुक्तं विधिरेव तावद्गर्भ इव श्रुतिकुमार्याः पुंयोगे मानमिति । न, वेदस्यापौरुषेयत्वात् । न हि वेदस्य कर्ता पुरुषो लोके वेदे वा**

त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (मीमांसादर्शन, 1.2.7) -- इस सूत्र का अर्थ है कि स्तुति की अपेक्षावाली विधि के साथ प्रयोजन की अपेक्षावाले अर्थवादों की एकवाक्यता होने के कारण विधियों अर्थात् विधेय वस्तुओं की स्तुत्यर्थ से = स्तुतिप्रयोजन से – स्तुतिरूप प्रयोजन से आकांक्षावाले होने से अथवा लाक्षणिक अर्थ से आनर्थक्य न होने के कारण अर्थवाद धर्म में प्रमाण होते है[91] ।

63 शंका है-- जो लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक हैं और वे ही उनके अर्थ हैं-- इस न्याय से विधिशब्द की लोक में जिस अर्थ में शक्ति ग्रहण की गई है वेद में भी उसको उसी अर्थवाला होना चाहिए । लोक में प्रेषणादि को पुरुषधर्मवाची माना गया है, तो फिर वेद में वे शाब्दीभावनावाची कैसे हो सकते हैं ? उत्तर है -- लोक और वेद की एकरूपता ही है । यह कहा गया है कि लोक में प्रेषणादिक उस-उस रूप से विधिपद वाच्य नहीं है, क्योंकि वे सर्वत्र अनुगत नहीं है, कारण कि उनके अननुगत होने से विधिशब्द नानार्थक हो जायेगा और इसी प्रकार ही उनका शाब्दीभावनावाची होना भी उपपन्न हो जायेगा; किन्तु प्रेषणा, अध्येषणा, अनुज्ञा आदि में प्रवर्तनात्व एक धर्म है और वह शब्दव्यापार में भी समानरूप से रहता है अतएव वही लिङादि पद का वाच्य है । वह लौकिकशब्द में तो है ही नहीं, क्योंकि उसमें राजादि ही प्रवर्तक होते हैं । प्रवर्तक का व्यापार ही प्रवर्तना है और प्रवर्तकत्व राजादि के समान वेद का भी अनुभव से सिद्ध है ।

64 शंका-- जैसे लोक में राजादि प्रवर्तक हैं वैसे ही वेद में भी प्रवर्तनावान् ईश्वर की कल्पना करो । कहा भी है-- जैसे कुमारी का गर्भ ही अदृष्ट कुमारी-पुंयोग में प्रमाण है वैसे ही श्रुतिकुमारी-- पुरुष के संयोग में विधि ही प्रमाण है । इसका उत्तर है कि नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि वेद तो अपौरुषेय हैं, कारण कि वेद का कर्ता पुरुष न तो लोक में प्रसिद्ध है और न वेद में ही प्रसिद्ध है, फिर भी उसकी कल्पना

91. तात्पर्य यह है कि विधिवाक्य अर्थवादवाक्यों को ग्रहण करके ही पूर्ण वाक्य कहलाते हैं और वे अर्थवादवाक्य विधि से पृथक् कोई वस्तु नहीं है किन्तु विधि के अङ्ग ही हैं । यद्यपि विधिवाक्य यज्ञादि कर्मों में पुरुष को प्रवृत्त कराते हैं, तथापि यज्ञों में परिश्रम और धनव्यय अधिक होने के कारण जब पुरुषों का मन यज्ञों से उपराम होने लगता है तब अर्थवादवाक्य ही यज्ञों प्राशस्त्य द्वारा पुरुषों को यज्ञों से उपराम होने से रोक देते हैं । इसी सहायता के कारण अर्थवादवाक्य विधिवाक्यों के अङ्ग होकर धर्म में प्रमाण होते हैं । यह कोई अपूर्व कल्पना नहीं है, अपितु लोकप्रसिद्ध ही विषय है ।

प्रसिद्धः । तत्कल्पने च तज्ज्ञानप्रामाण्यापेक्षया वेदप्रामाण्ये निरपेक्षत्वेन स्थितं स्वतः प्रामाण्यं भग्नं स्यात् । बुद्धवाक्येऽपि प्रामाण्यप्रसङ्गाच्च । ईश्वरवचनत्वे समानेऽपि बुद्धवाक्यं न प्रमाणं वेदवाक्यं तु प्रमाणमिति सुभगाभिक्षुकन्यायप्रसङ्गः । महाजनानामुभयसिद्धत्वाभावेन तत्परिग्रहापरिग्रहाभ्यामपि विशेषानुपपत्तेः । ईश्वरप्रेरणाया लोकवेदसाधारणत्वेन लोकेऽपि राजादीनां प्रेरकत्वं न स्यात् । ईश्वरप्रेरणायां स्थितायामेव राजादिरप्यसाधारणतया प्रेरक इति चेत् । हन्त सा तिष्ठतु न वा किंत्विहाप्यसाधारणः प्रेरको वेद एव राजादिस्थानीय इत्यागतं मार्गे । ईश्वरप्रेरणायाः साधारणाया असाधारणप्रेरणासहकारेणैव प्रवर्तकत्वात् । किंचेश्वरप्रेरणायां सर्वोऽपि विहितं कुर्यादेव न तु कश्चिदपि लङ्घयेत्, निषिद्धेऽपि चेश्वरप्रेरणाऽस्त्येव । अन्यथा न कोऽपि तत्र प्रवर्तेतेति तदपि विहितं स्यात् । तथा चोक्तम् –

'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥' इति ।

करने पर उस पुरुषविशेष ईश्वर के ज्ञान के प्रामाण्य की अपेक्षा से वेद के प्रामाण्य में निरपेक्षरूप से स्थित स्वतःप्रामाण्य भग्न हो जायेगा और बुद्ध के वाक्य में भी प्रामाण्य का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । ईश्वरवचनत्व तो वेदवाक्य और बुद्धवाक्य -- दोनों में समान होने पर भी बुद्धवाक्य प्रमाण नहीं है और वेदवाक्य प्रमाण है-- ऐसा कहने से सुभगाभिक्षुकन्याय[92] का प्रसंग होगा, क्योंकि उभय = बौद्ध और वैदिक-- इन दोनों में सिद्ध -- सम्मत कोई महाजन -- महापुरुष हो नहीं सकता है अतएव उसके ग्रहण करने या न करने में कोई विशेषता नहीं आ सकती है । ईश्वर-प्रेरणा लोक और वेद में साधारण-समान होने पर भी राजादि का प्रेरकत्व तो लोक में भी सिद्ध नहीं होगा । यदि कहो कि ईश्वरप्रेरणा के रहते हुए ही राजादि भी असाधारणरूप से प्रेरक हैं तो हन्त[93] = बड़ी प्रसन्नता की बात है, ईश्वरप्रेरणा हो अथवा न हो किन्तु यहाँ --वैदिक कर्मों में भी असाधारण प्रेरक वेद ही हैं जैसे लोक में राजादि असाधारण प्रेरक माने जाते हैं-- इस प्रकार ठीक रास्ते पर आ गए, क्योंकि साधारण ईश्वरप्रेरणा असाधारण प्रेरणा की सहायता से ही प्रवर्तक-प्रेरक हो सकती है । इसके अतिरिक्त, यदि ईश्वरप्रेरणा ही प्रेरक होती है तो फिर सबको विहित कर्म ही करना चाहिए, किसी को भी उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए; निषिद्ध कर्म में भी ईश्वरप्रेरणा रहती ही है, अन्यथा उसमें कोई भी प्रवृत्त न हो-- इसप्रकार निषिद्ध कर्म भी विहित हो जायेगा । पूर्वाचार्यों ने ऐसा ही कहा हैं :--

92. सुभगाभिक्षुकन्याय = किसी गृहस्थ पुरुष की दो पत्नियाँ थीं – सुभगा और दुर्भगा । उसके यहाँ एक दिन एक भिक्षुक भिक्षा माँगने आया । उस भिक्षुक को पहले दुर्भगा ने देखा और उसने उस भिक्षुक से कह दिया कि भिक्षा नहीं मिलेगी, यह वाक्य सुनकर भिक्षुक चला गया, किन्तु जब सुभगा को यह ज्ञात हुआ कि भिक्षुक भिक्षा के लिए मना करने से चला गया है तो उसके उसने उस भिक्षुक को पुनः बुलाया । भिक्षुक ने कहा कि 'मैं तो द्वार पर उपस्थित अन्य स्त्री के मना करने से चला गया था' । उस समय यदि सुभगा यह कहे कि उस स्त्री को मना करने का अधिकार नहीं था, इस घर में तो मेरा ही अधिकार है तो भिक्षुक सुभगा की बात पर विश्वास नहीं करेगा, क्योंकि घर में अधिकार तो दोनों का ही समान है । यही सुभगाभिक्षुकन्याय है । इसी न्याय से वेदवाक्य और बुद्धवाक्य – दोनों ही ईश्वरवचन होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता है बुद्धवाक्य प्रमाण नहीं है और वेदवाक्य प्रमाण हैं ।

93. 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' (अमरकोश, 3.3.244) = 'हन्त के हर्ष, दया, वाक्यारम्भ और विषाद अर्थ हैं' । प्रकृत में 'हन्त' शब्द वादी के पक्ष में हर्षादि का द्योतक है अथवा प्रतिवादी के पक्ष में विषाद का सूचक है ।

तस्माद्राजादिरिव वेदोऽपि स्वप्रवर्तनां ज्ञापयन्निच्छोपहारमुखेन प्रवर्तयतीति सिद्धं लोकवेदयोरैकरूप्यम् । पूर्वमीमांसकानां स्वतन्त्रो वेदो ब्रह्ममीमांसकानां तु ब्रह्मविवर्तस्तत्परतन्त्रो वेद इति यद्यपि विशेषस्तथाऽपि श्वसिततुल्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वमुभयेषामपि समानम् ।

65 **अत्र च प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारत्वं प्रवर्तनात्वं सखण्डोऽखण्डो वोपाधिस्तस्मिन्विधिपदशक्येऽपि तदाश्रयविशेषोपस्थितिर्गवादितुल्यैव । अनुकूलव्यापारत्वं वा शक्यं प्रवृत्त्यंशस्त्वाख्यातत्वेन शक्त्यन्तरलभ्य एव । दण्डीत्यत्र संबन्धिनि मतुबर्थे प्रकृत्यर्थदण्डांशवत् । फलसाधनताबोध एव प्रेरणा तामेव कुर्वन्प्रेरको विधिरतः फलसाधनतैव प्रेरणात्वेन विधिपदशक्येति मण्डनाचार्याः । फलसाधनता चार्थभावनान्वयलभ्येत्युक्तं प्राक् । इममेव च पक्षं पार्थसारथिप्रभृतयः पण्डिताः**

"यह अज्ञानी जीव अपने सुख और दु:ख के विषय में परतन्त्र है, यह ईश्वर से प्रेरित होकर ही स्वर्ग अथवा नरक में जाता है ।"

इससे यह सिद्ध हो गया कि राजादि के समान वेद भी अपनी प्रवर्तना को ज्ञापित-सूचित करते हुए पुरुषों में इच्छा उत्पन्न कर कर्मों में उनको प्रवृत्त करता है -- इसप्रकार लोक और वेद की एकरूपता सिद्ध है । पूर्वमीमांसकों के मत में वेद स्वतंत्र हैं, किन्तु ब्रह्ममीमांसकों के मत में वेद ब्रह्म का विवर्त्त हैं अतएव ब्रह्म के अधीन हैं -- इसप्रकार यद्यपि इन दोनों मतों में विशेष-भेद है, तथापि परमात्मा के श्वास के तुल्य होने से वेद की अपौरुषेयता तो दोनों ही मतों में समान है[94] ।

65 यहाँ प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापारत्व प्रवर्तनात्व है = जिस व्यापार से तत्तत्कार्यों में पुरुष की प्रवृत्ति होती है तादृश व्यापारवती 'प्रवर्तना' कहलाती है, वह सखण्ड–उपाधिस्वरूप हो अथवा अखण्ड -- उपाधि[95]स्वरूप हो उसमें विधिपद की शक्यता होने पर भी उसके आश्रयविशेष की उपस्थिति तो गौ आदि के समान ही है[96] । अथवा, अनुकूलव्यापारत्व ही विधिपद का शक्यार्थ है, उसमें विशेषण-स्वरूप प्रवृत्त्यंश विधिप्रत्ययगत आख्यातत्व से शक्त्यन्तर ही लब्ध होता है अतएव 'अनन्यलभ्य: शब्दार्थ:'-- यह न्याय[97] सङ्गत होता है; जैसे 'दण्डी' पद है = 'दण्डोऽस्ति अस्य' इति 'दण्डी'-- यहाँ 'अत इनिठनौ' (पाणिनिसूत्र, 5.2.115) -- इस सूत्र से विहित मतुबर्थीय 'इनि' प्रत्यय केवल

94. 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितं यदयमृग्वेद:' = 'यह जो ऋग्वेद है वह परम ब्रह्म के निश्वास के तुल्य स्वाभाविक है' – इत्यादि वाक्य के अनुसार वेद की अपौरुषेयता पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा – दोनों दर्शनों में समान है ।

95. अनुगत प्रतीति को जाति अथवा उपाधि कहते हैं । जहाँ जातिबाधकदोष विद्यमान रहता है वहाँ उसको 'उपाधि' कहा जाता है । व्यक्ति का अभेद, तुल्यत्व, सङ्कर, अनवस्था, रूपहानि और असम्बन्ध-ये छः जातिबाधकदोष हैं । जैसे– आकाशत्व, कालत्व और दिक्त्व– ये आकाशादि व्यक्ति के अभेद से जाति नहीं है अपितु 'उपाधि' हैं । इसीप्रकार तुल्यत्व के कारण घटत्व और कलशत्व जाति नहीं हैं, उपाधि हैं । सङ्कर-दोष के कारण भूतत्व और मूर्तत्व – ये दोनों भी जाति नहीं है, उपाधि हैं । अनवस्थादोष के कारण 'सामान्यत्व' उपाधि है, जाति नहीं है । रूपहानि के कारण 'विशेषत्व' उपाधि है । असम्बन्ध के कारण 'समवायत्व' और 'अभावत्व' भी उपाधि हैं । यह उपाधि दो प्रकार की होती है – सखण्ड और अखण्ड । निरवच्छिन्न उपाधि 'अखण्ड' कहलाती है और सावच्छिन्न उपाधि 'सखण्ड' होती है । अतएव 'प्रवर्तनात्व' अखण्ड उपाधि है और 'प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारत्व' सखण्ड उपाधि है, कारण कि यह प्रवृत्ति, अनुकूल और व्यापार -- इन तीनों खण्डों से अवच्छिन्न – परिच्छिन्न है ।

96. अर्थ यह है – जैसे– 'गौ' पद की शक्ति गोत्वादि में है, इसलिए 'गो' पद के श्रवण से शक्ति के आश्रय गोत्वादि की उपस्थिति होती है; वैसे ही 'विधि' पद की शक्ति उक्त प्रवर्तना – प्रेरणा में है, अतएव लिङादि विधिपद के श्रवण से शक्ति की आश्रय प्रवर्तना – प्रेरणा की उपस्थिति होती है ।

97. 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थ:' – इस न्याय का अभिप्राय यह है कि शब्द का अर्थ वही माना जाता है जो प्रकारान्तर से लब्ध न होता हो ।

प्रतिपन्नाः । औपनिषदानामपि केषांचिदिष्टसाधनतावादोऽनेनैव मतेनोपपादनीयः । इष्टसाधनत्वं स्वरूपेणैव लिङादिपदशक्यं न प्रेरणात्वेनेति तार्किकाः, तन्न, गौरवादन्यलभ्यत्वादन्वयायोग्यत्वाच्च । इच्छाविषयसाधनत्वापेक्षया प्रवर्तनात्वमतिलघु इच्छातद्विषययोरप्रवेशात् । इच्छाज्ञानस्यापि प्रवृत्तिज्ञानवत्प्रवृत्तिहेतुत्वापातात्, वस्तुगत्या य इच्छाविषयस्तत्साधनमिति शब्देन प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् । साधनत्वमात्रस्यैव शक्यत्वे च तेनैव प्रत्ययेनोपस्थापितया प्रवृत्त्या सह श्रुत्या तदन्वयसंभवे पदान्तरोपस्थापितस्वर्गेण सह वाक्येन तदन्वयासंभवात्प्रवर्तनात्व एव पर्यवसानं श्रुत्या वाक्यस्य बाधात् । प्रत्ययश्रुतेः पदश्रुतितोऽपि बलीयस्त्वेन पशुना यजेतेत्यत्र प्रकृत्यर्थं पशुं विहाय प्रत्यायर्थेन करणेन सहैवैकत्वस्यान्वयादेकं करणं पशुरिति वचनव्यक्त्या क्रत्वङ्गत्वमेकत्वस्य स्थितं किमु वक्तव्यं पदान्तरसमभिव्याहाररूपाद्वाक्याद्‌बलीयस्त्वमिति ।

सम्बन्धी अर्थ में है, क्योंकि 'दण्ड' जो 'इनि' प्रत्यय की प्रकृति है उस प्रकृत्यंश विशेषण की प्राप्ति 'दण्ड' शब्द की शक्ति से होती है । फलसाधनताबोध ही प्रेरणा है, उसी को करता हुआ विधि प्रेरक होता है, अत: फलसाधनता ही प्रेरणात्वरूप से विधिपद की शक्य है -- यह आचार्य मण्डनमिश्र का मत है[98] । फलसाधनता आर्थीभावना के अन्वय से लभ्य है -- यह पूर्व में कहा जा चुका है । इसी पक्ष को पार्थसारथिमिश्र आदि पण्डितों ने भी स्वीकार किया है । किन्हीं-किन्हीं वेदान्तियों[99] का इष्टसाधनतावाद भी इसी मत से उपपादनीय – ग्रहणीय है । नैयायिकों का मत है कि इष्टसाधनता स्वरूप से ही लिङादि पद की शक्य है[100], प्रेरणात्वरूप से शक्य नहीं है, किन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें तीन दोष हैं-- कल्पनागौरव, अन्यलभ्यत्व और अन्वयायोग्यत्व । इष्टसाधनता को स्वरूप से ही लिङादि पद का शक्यार्थ मानने पर इच्छा, इच्छा का विषय और उसका साधन-- ये तीन पदार्थ मानने होंगे अतएव इन तीन पदार्थों को मानने की अपेक्षा प्रवर्तनात्व को ही शक्यार्थ मानने में अतिलाघव है, क्योंकि प्रवर्तना में इच्छा और इच्छा के विषय स्वर्गादि का प्रवेश--समावेश नहीं है । इन दोनों का समावेश करने पर दूसरा दोष यह भी है कि जैसे प्रवृत्तिज्ञान प्रवृत्ति में हेतु होता है वैसे ही इच्छाज्ञान को भी प्रवृत्तिहेतुता प्राप्त होगी । यदि कहें कि इच्छा और इच्छा का विषय तो अज्ञात रहते हैं केवल साधन मात्र ही लिङ्पद का शक्यार्थ है अतएव ऐसा मानने में भी गौरव नहीं जाता है, तो वस्तुतः 'जो इच्छा का विषय है वह उसका साधन है'-- यह शब्द से प्रतिपादित नहीं हो सकता है, क्योंकि शब्दार्थ वही होता है जो ज्ञात हो, अज्ञात अर्थ शक्य नहीं होता है । यदि इष्टसाधनत्व को लिङ्पद का शक्यार्थ न कहकर यह कहें कि केवल साधनत्वमात्र लिङ्पद का शक्यार्थ है, तो ऐसा मानने पर भी उस लिङादि प्रत्यय के द्वारा उपस्थापित पुरुषवृत्ति के साथ एक विभक्ति-श्रुति के बल से उसका

98. आचार्य मण्डनमिश्र का कथन है –

'पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात्क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः ।
प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् ।। (विधिविवेक)

'इष्टाभ्युपाय – इष्टसाधनत्व के अतिरिक्त याग-दानादि क्रियाओं में पुरुषों का प्रवर्तक अन्य कोई नहीं है । जो प्रवृत्ति के प्रति हेतु है उसी को 'प्रवर्तना' कहते हैं ।' भाव यह है कि प्रवृत्तिहेतु धर्म का इष्टसाधनत्व है, इष्टसाधन को छोड़कर इसका प्रवर्तक नहीं हो सकता है तो प्रवर्तना के रूप से इष्टसाधनत्व ही विध्यर्थ होता है ।

99. सुरेश्वराचार्य और चित्सुखाचार्य इष्टसाधनत्व को लिङर्थ स्वीकार करते हैं ।

100. 'विधिर्विधायकः' (न्यायसूत्र, 2.1.62) = यद्वाक्यं विधायकं चोदकं, स विधिः । विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा; यथा "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" (मैत्री० उप० 6.26) इत्यादि (न्यायभाष्य) = इष्टसाधनताबोधकप्रत्ययसमभिव्याहृतवाक्यं विधिः (न्यायसूत्रवृत्ति) ।

66 वाक्यार्थान्वयलभ्यत्वाच्च नेष्टसाधनत्वं पदार्थः । तथा हि प्रवर्तनाकर्मभूता पुरुषप्रवृत्तिरूपाऽर्थभावना किं केन कथमित्यंशत्रयवती विधिनाऽऽलम्बत्वेन प्रतिपाद्यत इत्युक्तं प्राक् । अपुरुषार्थकर्मिकायां च तस्यां प्रवर्तनानुपपत्तेरेकपदोपस्थापितमप्यपुरुषार्थं धात्वर्थं विहाय भिन्नपदोपात्तमन्यविशेषणमपि कमिपदसंबन्धेन साध्यतान्वययोग्यं स्वर्गमेव पुरुषार्थं सा भाव्यतयाऽऽलम्बते । इच्छाविषयस्यैव कृतिविषयत्वनियमात् । स्वर्गं कामयते स्वर्गकाम इति कर्मणि द्वितीयाया अन्तर्भूतत्वात्, यजतेरकर्मकत्वेन स्वर्गमित्युक्तेऽनन्वयाच्च । अत एव यत्र कमिपदं न श्रूयते तत्रापि तत्कल्प्यते । यथा 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्यादौ प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रमुपेयुरित्यादि । एवं च लब्धभाव्यायां तस्यां समानपदोपस्थापितो धात्वर्थ एव करणतयाऽन्वेति भाव्यांशस्य कमिविषयेणाविरुद्धत्वात्सुब्विभक्तियोग्ये धात्वर्थनामधेये ज्योतिष्टोमादौ तृतीयाश्रवणात् । यत्रापि नामधेये द्वितीया श्रूयते तत्रापि व्यत्ययानुशासनेन

अन्वय सम्भव होने पर केवल वाक्य के बल से पदान्तर द्वारा उपस्थापित स्वर्ग के साथ उसका अन्वय नहीं हो सकता है अतएव इष्टसाधनत्व का पर्यवसान प्रवर्तनात्व में ही होता है, कारण कि श्रुति से वाक्य का बाध हो जाता है । प्रत्ययश्रुति पदश्रुति से भी बलवती होती है अतएव 'पशुना यजेत'-- इस वाक्य में प्रकृत्यर्थ पशु को छोड़कर प्रत्ययार्थ करण के साथ ही एकत्व का अन्वय होने से 'एक करण पशु है' -- इस वचनव्यक्ति से एकत्व यागाङ्ग है-- यह सिद्धान्त पूर्वमीमांसा में स्थित है । जब प्रत्ययश्रुति पदश्रुति से भी बलवती होती है तब वह पदान्तरसमभिव्याहाररूप वाक्य से प्रबल हो-- इसमें तो कहना ही क्या है ?

66 वाक्यार्थ के अन्वय से लभ्य होने के कारण इष्टसाधनत्व विधिपद का अर्थ नहीं है । इसीलिए शाब्दीभावना -- प्रवर्तना की कर्मभूता पुरुषप्रवृत्तिरूपा आर्थीभावना जो 'किं भावयेत्' -- 'क्या करे', 'केन भावयेत्' -- 'किससे करे' और 'कथं भावयेत्' -- 'कैसे करे' -- इसप्रकार अंशत्रयवती है विधिद्वारा आलम्बनरूप से प्रतिपादित की जाती है -- यह पूर्व में कहा जा चुका है । यदि पुरुषार्थ उस आर्थीभावना का कर्म न हो तो उसमें प्रवर्तना की उपपत्ति नहीं होगी अतएव 'यजेत' -- इस एक पद द्वारा उपस्थापित -- प्रस्तुत अपुरुषार्थरूप धात्वर्थ को छोड़कर भिन्नपद 'स्वर्ग' से उपात्त-प्राप्त और अन्य का विशेषण होने पर भी 'कम्' धातु से निष्पन्न 'कमि' पद के सम्बन्धद्वारा साध्यता में अन्वय के योग्य स्वर्गरूप पुरुषार्थ को ही वह विधि भाव्यता-साध्यतारूप से आलम्बन करती है, क्योंकि यह नियम है कि जो इच्छा का विषय होता है उसी में कृति की भी विषयता होती है[101]। स्वर्गं कामयते स्वर्गकामः = जो स्वर्ग की कामना करता है वह 'स्वर्गकाम[102]' है -- इसप्रकार कर्म में द्वितीया विभक्ति का अन्तर्भाव है[103] और 'यज्' धातु अकर्मक है अतएव 'स्वर्गम्' -- ऐसा

101. सुप्रसिद्ध उक्ति है कि --

'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।
कृतिजन्या भवेच्चेष्टा चेष्टाजन्यं फलं भवेत् ।।'

102. 'स्वर्गकाम' पद की व्युत्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है -- प्रथम = 'स्वर्गं कामयते यः स स्वर्गकामः' = जो स्वर्ग की कामना करता है वह 'स्वर्गकाम' है, द्वितीय = 'काम्यते इति कामः -- स्वर्गः कामः यस्य स स्वर्गकामः' = कामना की जाती है अतएव 'काम' है, स्वर्ग ही काम -- कामना है जिसकी वह 'स्वर्गकाम' है । प्रकृत में प्रथम व्युत्पत्ति को ग्रहण किया गया है ।

103. अभिप्राय यह है कि 'कर्मण्यण्' (पाणिनिसूत्र, 3.2.1) -- 'कर्म उपपद होने पर धातु से 'अण्' प्रत्यय होता है' । प्रकृत 'स्वर्गकामः' पद में कर्मसंज्ञक उपपद 'स्वर्ग' पद है, तत्पूर्वक 'कमु कान्तौ' (भ्वादिगण, 302) = 'कम्' धातु से 'अण्' प्रत्यय होने से उपधा में वृद्धि करके 'स्वर्गकामः' -- यह कृदन्त एक पद है । 'स्वर्ग' पद में जो द्वितीया विभक्ति श्रुत है उसका अन्तर्भाव कृदन्त में हो जाता है, क्योंकि द्वितीयान्त उपपद के रहने पर ही 'अण्' प्रत्यय होता है, अन्यथा नहीं होता है ।

तृतीयाकल्पनात् । तदुक्तं महाभाष्यकारैरग्निहोत्रं जुहोतीति तृतीयार्थे द्वितीयेति । अत एव तैः प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्राधान्येन प्रकृत्यर्थो गुणत्वेनेति प्रत्ययार्थभावनां प्रति धात्वर्थस्य गुणत्वेन करणत्वमुक्तम् । आख्यातं क्रियाप्रधानमिति वदद्भिर्निरुक्तकारैरप्येतदेवोक्तम् । भावार्थाधिकरणे च तथैव स्थितम् । तेन सर्वत्र प्रत्ययार्थं प्रति धात्वर्थस्य करण-

कहने से इसके साथ 'यज्' धातु की अन्वय-योग्यता भी नहीं है, अतएव जहाँ 'कमि' पद = 'कम्' धातु से 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' (वार्तिक, 2226) -- उक्त वार्तिकानुसार 'इक्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न 'कमि ' पद श्रुत नहीं होता है वहाँ भी उसकी कल्पना की जाती है; जैसे -- 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' = 'जो रात्रिसत्र करते हैं वे प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं'-- इत्यादि वाक्य में विधिवाक्य ही श्रुत नहीं है यहाँ भी 'प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रमुपेयु:' = 'प्रतिष्ठाकामी रात्रिसत्र करे' -- इत्यादि विधिवाक्य की कल्पना की जाती है । इसप्रकार 'स्वर्ग' -- भाव्य -- साध्य के प्राप्त होने पर उस आर्थीभावना में 'यजेत' -- समानपद[104] से उपस्थापित -- प्रस्तुत धात्वर्थ 'याग' ही करणरूप से अन्वित होता है, क्योंकि 'कमि' पद के विषयरूप से भाव्य -- साध्य 'स्वर्ग' का 'याग' से विरोध नहीं है अपितु वह करण -- साधन होने से अनुकूल ही है और फिर सुब्विभक्ति के योग्य धात्वर्थ-नामधेय[105] ज्योतिष्टोमादि में तृतीया विभक्ति का श्रवण हैं -- जैसे -- 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत', इसके अतिरिक्त जहाँ भी नामधेय में द्वितीया विभक्ति श्रुत है -- जैसे -- 'अग्निहोत्रं जुहोति' -- वहाँ भी 'व्यत्ययो बहुलम्' – (पाणिनिसूत्र, 3.1.85) -- इस सूत्र से तृतीया विभक्ति की कल्पना की जाती है -- जैसे -- 'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्' । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहा है – 'अग्निहोत्रं जुहोति' -- यहाँ तृतीया विभक्ति के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है । अतएव उन्होंने कहा है कि प्रकृति और प्रत्यय मिलकर प्रत्यय का अर्थ बताते हैं, उनमें प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है और प्रकृत्यर्थ गौण होता है[106] -- इस न्याय से प्रत्ययार्थ आर्थीभावना के प्रति धात्वर्थ यागादि का गुणरूप से करणत्व है । 'आख्यात क्रियाप्रधान होता है' – इसप्रकार कहनेवाले निरुक्तकार ने भी यही कहा है । मीमांसादर्शन के भावार्थाधिकरण[107] में भी यही सिद्धान्त स्थिर किया गया है । इससे यह सिद्ध हुआ कि सर्वत्र प्रत्ययार्थ के प्रति धात्वर्थ -- प्रकृत्यर्थ का करणरूप से अन्वय होने का ही नियम है । अतएव गुणविशिष्ट धात्वर्थविधि[108] में धात्वर्थ के अनुवाद से

104. 'यजेत' पद में दो अंश है – 'यज्' धातु और 'त' प्रत्यय । 'यज्' धातु से 'याग' के सामान्य रूप का बोध होता है और 'त' प्रत्यय के आख्यातत्व अंश से आर्थीभावना उपस्थित होती है – इसप्रकार 'याग' और 'आर्थीभावना' -- ये दोनों समानपद 'यजेत' से उपस्थित हैं अतएव धात्वर्थ 'याग' प्रत्ययार्थ आर्थीभावना में करणरूप से अन्वित होता है ।

105. मीमांसादर्शन में 'नामधेय' का संक्षिप्त रूप नाम -- संज्ञा है अर्थात् 'नामधेय' कर्म की संज्ञा है = किसी याग के नाम को 'नामधेय' कहते हैं । विधेय अर्थ का परिच्छेद करना नामधेय का प्रयोजन है । विधेय अर्थ कोई क्रिया होती है उस क्रिया को सजातीय और विजातीय अर्थों से भिन्नरूप में समझाना विधेय अर्थ का परिच्छेद है । इसप्रकार विधेय = विधि के द्वारा विहित अर्थ = याग या होम के परिच्छेद = व्यावृत्ति -- वैलक्षण्य का बोधन करना 'नामधेय' का प्रयोजन है । नामधेय विधि के द्वारा विहित कर्म के वैलक्षण्य का प्रतिपादक है, जैसे – 'ज्योतिष्टोम' नाम 'दर्शपूर्णमास' से विलक्षण कर्म का प्रतिपादन करता है, इसीप्रकार 'दर्शपूर्णमास' नाम ज्योतिष्टोम से भेद का प्रतिपादक है (नामधेयानां विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम् – अर्थसंग्रह) ।

106. महाभाष्य ।

107. 'धात्वर्थ: केवल: शुद्धो भाव इत्यभिधीयते' – इस प्रमाण से भावार्थ को धात्वर्थ कहते हैं । भावार्थ भावना में करण बनता है -- यह निश्चय जिस अधिकरण में किया गया है वह 'भावार्थाधिकरण' है ।

त्वेनैवान्वयनियमः । अत एव गुणविशिष्टधात्वर्थविधौ धात्वर्थानुवादेन केवलगुणविधौ च मत्वर्थलक्षणा विधेर्विप्रकृष्टविषयत्वं च । यथा सोमेन यजेतेति विशिष्टविधौ सोमवता यागेनेति दध्ना जुहोतीति गुणविधौ दधिमता होमेनेति ।

67 नामधेयान्वये तु सामानाधिकरण्योपपत्तेर्धात्वर्थमात्रविधानाच्च न मत्वर्थलक्षणा न वा विधिविप्रकर्षः । तदेवं ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यत्राऽऽख्यातार्थो भावयेदिति किमित्याकाङ्क्षायां कमिविषयं स्वर्गमिति विधिश्रुतेर्बलीयस्त्वादाकाङ्क्षाया उत्कटत्वाच्च । तथा च स्थितं षष्ठाद्ये । ततः केनेत्यपेक्षिते यागेनेति तृतीयान्तपदसमानाधिकरणत्वात्करणत्वेनैवान्वय-

---

केवल गुणविधि[109] में मत्वर्थलक्षणा[110] होती है और विधि की विप्रकृष्टविषयता होती है, जैसे – 'सोमेन यजेत' – इस विशिष्ट विधि में 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्' – यह 'सोम' पद में मत्वर्थलक्षणा मानकर अर्थ होता है और 'दध्ना जुहोति' – इस गुणविधि में 'दधिमता होमेनेष्टं भावयेत्' -- यह 'दधि' पद में मत्वर्थलक्षणा मानकर अर्थ होता है ।

67 नामधेय का अन्वय होने पर तो सामानाधिकरण्य से अन्वय उपपन्न होने के कारण और धात्वर्थमात्र का विधान होने के कारण न तो मत्वर्थलक्षणा ही होती है और न विधि की विप्रकृष्टविषयता ही होती है । इसप्रकार से 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' - यहाँ 'भावयेत्' -- यह आख्यातार्थ है; 'किं भावयेत्' -- 'क्या करे' -- ऐसी आकांक्षा होने पर 'कमिविषयं स्वर्गं भावयेत्' -- 'कमिपद के विषय स्वर्ग की भावना करे' -- यह साध्य होगा, क्योंकि विधिश्रुति बलवती होती है और आकांक्षा उत्कट होती है । इसीप्रकार मीमांसादर्शन के षष्ठाध्याय के प्रथम अधिकरण में स्थित है[111]। तदनन्तर 'केन भावयेत्' -- 'किससे करे' -- इसप्रकार करण की आकांक्षा होने पर 'यागेन भावयेत्' -- 'याग से भावना करे' -- यह करण होगा, क्योंकि 'ज्योतिष्टोमेन' इस तृतीयान्त पद के साथ इसका सामानाधिकरण्य है और धात्वर्थ – प्रकृत्यर्थ का करणरूप से अन्वय होने का नियम है । 'किं नाम्ना यागेन भावयेत्' -- 'किस नाम के याग से भावना करे'--ऐसी अपेक्षा होने पर 'ज्योति-

---

108. इस विधि को 'गुणविशिष्ट विधि' और 'गुणविशिष्टकर्मविधि' भी कहा जाता है । इस विधिस्थल में गुण और क्रिया-कर्म – दोनों का एक ही विधान विशेषणविशेष्यभावापन्नरूप में किया जाता है । जहाँ गुण और कर्म – दोनों प्रमाणान्तर से अप्राप्त रहते हैं वहाँ विधि गुणविशिष्ट कर्म का विधान करती है । जैसे -- 'सोमेन यजेत' – इस विधिस्थल में 'सोम' – गुण और 'याग' – कर्म – दोनों प्रमाणान्तर से अप्राप्त रहते हैं अतएव सोमविशिष्ट याग का विधान किया जाता है । 'सोम' पद में मत्वर्थलक्षणा मानकर 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्' = 'सोमयुक्त याग से स्वर्ग की भावना करे' -- यह अर्थ होता है ।

109. जहाँ कर्म का विधान अन्य प्रमाण से हुआ रहता है वहाँ विधि कर्म को उद्देश्य करके गुणमात्र का विधान करती है अर्थात् अङ्गभूत द्रव्य या देवता का विधान करती है (यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते – अर्थसंग्रह) । जैसे -- 'दध्ना जुहोति' – इस विधिस्थल में होम का विधान 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' -- इस वाक्य से होने के कारण 'होम' को उद्देश्य करके दधिमात्र का विधान किया जाता है, अतएव 'दध्ना जुहोति' का मीमांसक अर्थ होता है -- 'दध्ना होमं भावयेत्' – 'दधि के द्वारा होम की भावना करे' ।

110. लक्षणा से प्राप्त'मतुप् – मत्' – प्रत्यय का अर्थ 'मत्वर्थलक्षणा' है ।

111. मीमांसादर्शन के षष्ठाध्याय के प्रथम अधिकरण का विषय वाक्य 'यजेत स्वर्गकामः' है । इस वाक्य में सन्देह है कि 'यजेत' -- पद के 'त' प्रत्यय से अभिहित आर्थीभावना में साध्य की आकांक्षा होने पर क्या धात्वर्थ 'याग' का अन्वय है ? अथवा स्वर्ग का अन्वय है ? पूर्वपक्षी धात्वर्थ 'याग' का ही साध्य के रूप में अन्वय चाहता है, क्योंकि धात्वर्थ 'याग' ही 'यजेत' – समान पद से उपस्थित है, स्वर्ग तो भिन्न पद से बोधित है । स्वर्ग की अपेक्षा सन्निहित धात्वर्थ है अतएव धात्वर्थ ही साध्य है । स्वर्ग -- सुखसाधन स्रकचन्दन आदि द्रव्य का लक्षक है, इसलिए 'स्वर्गेण यागं भावयेत्'– 'स्वर्ग – सुखसाधन स्रक्रचन्दन आदि द्रव्य से याग की भावना करे'– यह अर्थबोध

नियमाच्च । किंनाम्नेत्यपेक्षिते ज्योतिष्टोमेनेति तन्नाम्नेत्यर्थः । शब्दादनुपस्थितोऽपि ज्योतिष्टोमशब्दो भासत एव शाब्दे बोधे श्रवणेन्द्रोपस्थापितस्तात्पर्यवशात् । नामधेयान्वये च न विभक्त्यर्थो द्वारं नञिवाद्यर्थान्वय इव । तेन मत्वर्थलक्षणामन्तरेणैव ज्योतिष्टोमशब्दवतेत्यन्वयलाभः । तथा च कविप्रयोगः—'हिमालयो नाम नगाधिराजः' इति । हिमालयनामवानित्यर्थः । एवमिह 'प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यादावगृहीतसंगतिकैकपदवति वाक्ये मधुकरादिपदं स्वरूपेणैव भासते नामधेयवन्नार्थमुपस्थापयति प्रागगृहीतसंगतिकत्वात् । अत एव मधुकरशब्दवाच्य इत्यपि लक्षणया नान्वयः शक्यज्ञानपूर्वकत्वाल्लक्ष्यज्ञानस्य । स्वरूपतस्तु शब्दे भाते वाच्यवाचकसंबन्धः पश्चात्कल्प्यते संसर्गनिर्वाहायेति । तदयं वाक्यार्थः— ज्योतिष्टोमनाम्ना यागेन स्वर्गमिष्टं भावयेदिति । कथमित्यपेक्षिते श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याभिः सामवायिकारादुपकारकाङ्क्षामपूर्व्येति विकृतौ प्रकृतिवदित्युपबन्धेन नित्ये यथाशक्तीत्युपबन्धेन मुख्यालाभे प्रतिनिधायापीति यावन्न्यायलभ्यं तत्पूरणम् । एवं च यागस्य स्वर्गावच्छिन्नभावनाकरणत्वेन स्वर्गकरणत्वं करणत्वेन च साक्षात्कर्तृव्यापारविषयत्वरूपं कृतिसाध्यत्वं श्रुत्यर्थाभ्यां लभ्यत इति तदुभयमपि न लिङादि-

ष्टोमेन = ज्योतिष्टोमनाम्ना यागेन स्वर्गमिष्टं भावयेत्' -- 'ज्योतिष्टोम नामक याग से स्वर्ग की भावना करे' – यह अर्थ होगा[112] । शब्दशक्ति से अनुपस्थित भी 'ज्योतिष्टोम' शब्द तात्पर्यवश श्रवणेन्द्रिय से उपस्थापित – प्रस्तुत होकर शाब्दबोध में भासित होता ही है और नामधेय का अन्वय होने पर विभक्त्यर्थ द्वार भी नहीं माना जाता है, जैसे – नञ्, इव आदि अव्यय पदों के अर्थ का अन्वय होने पर विभक्त्यर्थ द्वार नहीं होता है[113]; इसलिए 'ज्योतिष्टोमशब्दवता यागेन स्वर्गमिष्टं भावयेत्' – इसप्रकार मत्वर्थलक्षणा के बिना ही प्रत्यक्षोपस्थित 'ज्योतिष्टोम' का अभेद सम्बन्ध से याग में अन्वय भलीभाँति हो जाता है । इसीप्रकार कविजन भी प्रयोग करते हैं – 'हिमालयो नाम नगाधिराजः' (मेघदूत, 1) – यहाँ भी लक्षणा के बिना ही 'हिमालयनामवान्'– यह अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है । इसीप्रकार 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति'– इत्यादि परस्पर सङ्गतिग्रहण न करने वाले एक-एक पद से युक्त वाक्य में मधुकरादि पद स्वरूप से ही भासित होते हैं और पूर्व में सङ्गतिग्रहण न होने के कारण नामधेय के समान अर्थ को उपस्थित नहीं करते हैं । अतएव 'मधुकरशब्दवाच्यः'– इसप्रकार

होता है, किन्तु सिद्धान्ती का कथन है कि 'याग' यद्यपि समानपद से बोधित होने के कारण सन्निहित है, तथापि वह अपुरुषार्थ – पुरुष के द्वारा अभिलषणीय न होने से 'याग' का साध्य के रूप से अन्वय करना उचित नहीं है, पुरुषों द्वारा अभिलषित 'स्वर्ग' का ही साध्यत्व है, 'याग' उसका साधन है ।

112. अतएव वार्तिककार कुमारिलभट्ट ने कहा है –

'विधाने वानुवादे वा यागः करणमिष्यते ।
तत्समीपे तृतीयान्तस्तद्वाचित्वं न मुञ्चति ।।' (तन्त्रवार्तिक, 1.4.2)

'चाहे याग – धात्वर्थ का विधान – विधिविषय हो, चाहे उसका अनुवाद हो, याग – धात्वर्थ भावना का करण होगा । धात्वर्थ के समीप जो तृतीयाविभक्ति युक्त पद है वह अपने करणवाचित्व को नहीं छोड़ता है ।'

113. प्रकृत प्रसङ्ग में प्रश्न है – पद से उपस्थित पदार्थ का शाब्दबोध में भान होता है, प्रकारान्तर से उपस्थित अर्थ का शाब्दबोध में भान नहीं होता है; अतएव प्रकृत में ज्योतिष्टोमादि नामधेय की शक्ति यागादि में है, स्वस्वरूप में नहीं है, इसी से उपस्थित यागादि अर्थ का ही शाब्दबोध में भान होता है, नामधेय स्वानुपूर्वी का भान शाब्दबोध में कैसे होगा ? इसका उत्तर है– शब्दशक्ति से अनुपस्थित भी ज्योतिष्टोमादि शब्द तात्पर्यवश श्रवणेन्द्रिय से प्रस्तुत होकर शाब्दबोध में भासित होता ही है और नामधेय का अन्वय होने पर विभक्त्यर्थ द्वार भी नहीं माना जाता है, उदाहरण के लिए नञ्, इव आदि अव्यय-पदों के अर्थ का अन्वय होने पर विभक्त्यर्थ द्वार नहीं होता है, जैसे – 'घटो नास्ति' इत्यादि वाक्य से नञ् का अन्वय अस्तित्वादि के साथ है, इसीप्रकार 'चन्द्र एव मुखम्'– इत्यादि में इवादि = सादृश्य का स्वरूपादि सम्बन्ध से मुख में अन्वय होता है, इवादि के आगे कोई विभक्ति नहीं है ।

पदवाच्यमप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति न्यायात् , अनन्वयाच्चेष्टसाधनमिति समासे गुणभूतमिष्टपदं स्वर्गकाम इतिसमासान्तरगुणभूतेन स्वर्गपदेन कथमन्वियादिष्टस्वर्गसाधनमिति । नहि राजपुरुषो वीरपुत्र इत्यत्र वीरपदराजपदयोरन्वयोऽस्ति पदार्थः पदार्थेनान्वेति नतु पदार्थैकदेशेनेति न्यायात् । करणविभक्त्यन्तज्योतिष्टोमादिनामधेयानन्वयप्रसङ्गादिदोषाश्चास्मिन्पक्षे द्रष्टव्याः । एतेनेष्टसाधनत्वमनिष्टासाधनत्वं कृतिसाध्यत्वमिति त्रयमपि विध्यर्थ इत्यपास्तम् । अतिगौरवादर्थवादानां सर्वथा वैयर्थ्यापत्तेश्च । अत एव कृतिसाध्यत्वमात्रं विध्यर्थ इत्यपि न भावनाकरणत्वेनार्थलभ्य-

लक्षणा के द्वारा भी अन्वय नहीं होता है, क्योंकि लक्ष्य का ज्ञान शक्य के ज्ञानपूर्वक होता है । स्वरूपतः तो शब्द का भान होने पर ही संसर्ग का निर्वाह करने के लिए बाद में वाच्य-वाचक सम्बन्ध की कल्पना की जाती है । इसप्रकार 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' – इसका वाक्यार्थ यह है -- 'ज्योतिष्टोमनाम्ना यागेन स्वर्गमिष्टं भावयेत्' -- 'ज्योतिष्टोम नाम के याग द्वारा स्वर्गरूप इष्टकर्म की भावना करे' । 'कथं भावयेत्' -- ' कैसे करे'– यह अपेक्षा होने पर 'श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या[114] द्वारा सामवायिकोपकारक--सन्निपत्योपकारक और आरादुपकारक

114.(i) श्रुति = अपने अर्थ के बोधन और प्रामाण्य के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न करनेवाला शब्दप्रमाण 'श्रुति' कहलाता है (निरपेक्षो रवः श्रुतिः) । यह तीन प्रकार की है – विधात्री, अभिधात्री और विनियोक्त्री । इनमें से लिङादि विधायक-प्रयत्यय -- विधात्री श्रुति है, 'व्रीहिभिर्यजेत्' आदि अभिधात्री श्रुति है, और जिसके श्रवणमात्र से सम्बन्ध की प्रतीति हो जाती है उसको 'विनियोक्त्री श्रुति' कहा जाता है । विनियोक्त्री श्रुति भी तीन प्रकार की है – विभक्तिरूपा, समानाभिधानरूपा और एकपदरूपा । इनमें से 'व्रीहीन् प्रोक्षति' में द्वितीया विभक्ति से, 'व्रीहिभिर्यजेत्' में तृतीया विभक्ति से, 'आहवनीये जुहोति' में सप्तमी विभक्ति से व्रीहि और आहवनीय अग्नि की याग के प्रति अङ्गता बोधित होती है – ये सभी विभक्तिश्रुति के उदाहरण हैं । जितनी विभक्तियाँ हैं वे सभी श्रुति हैं । 'पशुना यजेत्' में 'आङो नाऽस्त्रियाम् (पाणिनिसूत्र, 7.3.120) -- इस सूत्र से तृतीया विभक्ति के एकवचन में 'टा' के स्थान पर अस्त्रीलिङ्ग अर्थात् पुंल्लिङ्ग में 'ना' होकर 'पशुना' – यह रूप बना है, अतएव इस 'ना' से एकवचन तथा पुंस्त्व – दोनों सूचित होते हैं और उसी से करण कारक का बोध होता है – इसप्रकार तीनों की उपस्थिति एक ही प्रत्ययरूप अंश से होती है । इसलिए पुंस्त्व और एकत्व की कारकाङ्गता का निर्णय समानाभिधानश्रुति से होता है । इसीप्रकार 'यजेत' में दो अंश है– प्रकृतिरूप 'यज्' धातु और 'त ' प्रत्ययांश । प्रत्ययांश के भी दो भाग हैं – आख्याततत्वरूप साधारण भाग और लिङ्त्वरूप विशेष भाग । इनमें से लिङंश से शाब्दीभावना या प्रवर्तना बोधित होती है और आख्यातांश से संख्यादि का बोध होता है । उस संख्या का प्रकृतिभाग 'यज्' धातु से बोधित याग के साथ अङ्गरूप से अन्वय होता है । इसमें यागरूप एक अंश प्रकृति से और संख्यारूप दूसरा अंश प्रत्यय से बोधित होता है । प्रकृति और प्रत्यय मिलकर पद बन जाते हैं, इसलिए यह अन्वय एकपदरूपा श्रुति होता है ।

(ii) लिङ्ग = शब्द की अभिधाशक्ति को 'लिङ्ग' कहते हैं अतएव तन्त्रवार्तिक में कुमारिलभट्ट ने कहा है – 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' = 'सभी शब्दों में होनेवाले सामर्थ्य को 'लिङ्ग' कहा जाता है' । सामार्थ्य का अर्थ 'रूढि' है और समाख्या का अर्थ 'यौगिक' -- शब्द है, अतएव रूढिरूप 'लिङ्ग' प्रमाण यौगिक – शब्दरूप 'समाख्या' प्रमाण से भिन्न है ।

(iii) वाक्य = समभिव्याहार अर्थात् सम्बद्ध उच्चारण को 'वाक्य' कहते हैं (समभिव्याहारो वाक्यम् –अर्थसंग्रह) । अभिप्राय यह है कि अङ्गत्व का ख्यापन करनेवाली द्वितीया आदि विभक्तियों के अभाव में अङ्ग और अङ्गी का बोध करानेवाले पदों के सहोच्चारण को 'वाक्य' कहा जाता है, जैसे – 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' – एक विधि है । यहाँ पर्णता और जुहू – इन दोनों में 'पर्णता' 'जुहू' का अङ्ग है, क्योंकि 'पर्णमयी' और 'जूहू' – इन दोनों का सहोच्चारणरूप वाक्य प्रमाण प्राप्त होता है ।

(iv) प्रकरण = दो वाक्यों की परस्पर आकांक्षा को 'प्रकरण' कहते हैं (उभयाकांक्षा प्रकरणम् -- अर्थसंग्रह) । प्रकरण दो प्रकार होता है – महाप्रकरण और अवान्तरप्रकरण ।

(v) स्थान = देश की समानता का नाम 'स्थान' है (देशसामान्यं स्थानम् – अर्थसंग्रह) । यह दो प्रकार का होता है – पाठसादेश्य और अनुष्ठानसादेश्य ।

त्वादित्युक्तेः । अलौकिको नियोगस्त्वलौकिकत्वादेव न विध्यर्थः । पराक्रान्तं चात्र सूरिभिः । तस्मादनन्यलभ्या लघुभूता च प्रेरणैव लिङादिपदवाच्येति स्थितम् । प्रवर्तकं तु ज्ञानं वाक्यार्थमर्यादालभ्यमन्यदेव सर्वेषामपि वादिनाम् । आख्यातार्थ एव च विशेष्यतया भासते न

अङ्गों की पूर्ति से' भावना करे; विकृति सौर्यादि याग में 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' – 'प्रकृति के समान विकृतियाग का अनुष्ठान करना चाहिए' – इस अतिदेश वाक्य से प्रकृति के समान आकांक्षा की पूर्ति करे; नित्य कर्म सन्ध्यावन्दनादि में जैसा सामर्थ्य हो वैसा ही उतना करे; मुख्य का लाभ न होने पर प्रतिनिधि के द्वारा उपयोग करे; मुख्यलाभ से कर्म का त्याग न करे जितना न्याय से मिल सके उतने ही से आकांक्षा की पूर्ति करे । इसप्रकार 'याग' स्वर्गावच्छिन्न भावना का करण होने से स्वर्ग का करण है और करणत्व से साक्षात् कर्तृव्यापार की विषयतारूप कृतिसाध्यता श्रुति और अर्थ से प्राप्त होती है, अतएव इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व -- ये दोनों लिङादि पद के वाच्य नहीं है[115], क्योंकि 'अप्राप्त अर्थ का विधान करने में शास्त्र अर्थवान् होता है' -- यह न्याय है और इष्टसाधनत्व का अन्वय भी असम्भव है, कारण कि 'इष्टसाधनम्' -- इस समस्त पद में गुणभूत विशेषण 'इष्ट' पद का 'स्वर्गकामः' -- इस दूसरे समस्त पद में गुणभूत 'स्वर्ग' पद के साथ अन्वय कैसे होगा ? जिससे 'इष्टस्वर्गसाधनम्' – यह अर्थ हो । 'राजपुत्र' और 'वीरपुत्र' -- इन दो समस्त पदों के 'राज' पद और 'वीर' पद का अन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि पदार्थ का पदार्थ के साथ अन्वय होता है, पदार्थ के एकदेश के साथ अन्वय नहीं होता है -- यह न्यायप्रसिद्ध है । इस पक्ष में करणविभक्त्यन्त ज्योतिष्टोमादि नामधेयों के अनन्वयप्रसंङ्गादि दोष भी द्रष्टव्य हैं । इससे 'इष्टसाधनत्व, अनिष्टासाधनत्व और कृतिसाध्यत्व – ये तीन विध्यर्थ हैं[116] -- यह मत भी खण्डित होता है, क्योंकि इसमें अतिगौरव है और अर्थवादों की सर्वथा व्यर्थता प्राप्त होती है । अतएव 'कृतिसाध्यत्वमात्र विध्यर्थ है[117]' — यह मत भी उचित नहीं है, क्योंकि भावना के करणत्व से ही कृतिसाध्यता श्रुति और अर्थ से प्राप्त हो जाती है – यह कहा जा चुका है । अलौकिक नियोग[118] तो अलौकिक होने कारण ही अर्थात् लोक में प्रसिद्ध न होने के कारण ही विध्यर्थ नहीं है । इस विषय में विद्वानों ने बड़ा परिश्रम किया है[119] । अतः अनन्यलभ्य – अन्य से अलभ्य -- अन्य से

(vi) समाख्या = समाख्या 'यौगिक' शब्द को कहते हैं (समाख्या यौगिकः शब्दः – अर्थसंग्रह) । यह 'समाख्या' वैदिकी और लौकिकी भेद से दो प्रकार की होती है । 'होतृचमस' -- इस वैदिकी समाख्या से 'होता' नामक ऋत्विक् चमसभक्षणरूप क्रिया का अङ्ग समझा जाता है । 'आध्वर्यवम्' – इस लौकिकी समाख्या से 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् तद्-तद् क्रियाओं का अङ्ग समझा जाता है ।

115. वाचस्पति मिश्र के मत में इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व-दोनों लिङर्थ हैं ।

116. इष्टसाधनत्व, बलवदनिष्टाननुबन्धित्व और कृतिसाध्यत्व – इन तीनों को लिङर्थ मानकर विशेष्य-विशेषण-भाव मानते हुए प्राचीन नैयायिक एक ही शक्ति स्वीकार करते हैं ।

117. रत्नाकोशकार का मत है कि कृतिसाध्यत्वमात्र विध्यर्थ है ।

118. प्राभाकर अपूर्व – कार्य – नियोग को लिङर्थ कहते हैं ।

119. विध्यर्थ के विषय में विद्वानों का मतभेद इसप्रकार भी है :--

(i) पाणिनि के मत में विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सप्रंश्न और प्रार्थना – ये छः लिङर्थ है (विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्-पाणिनिसूत्र, 3.3.16 ।

(ii) वाक्यपदीयकार के मत में विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण और अधीष्ट – इन चारों में प्रवर्तनात्व तथा संप्रश्न और प्रार्थना – ये लिङर्थ हैं ।

(iii) नवीन वैयाकरण इष्टसाधनत्व को लिङर्थ कहते हैं ।

(iv) नैयायिक उदयनाचार्य का मत है -- प्रवृत्ति-निवृत्ति के विषय में वक्ता का अभिप्रायविशेष लिङर्थ है (विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः – न्यायकुसुमाञ्जलि, 5.14) ।

धात्वर्थो न नामार्थः स्वर्गकामो वेति चोक्तप्रायमेव । तेन च यागानुकूलकृतिमान्स्वर्गकाम इति तार्किकमतं पुरुषविशेष्यकवाक्यार्थज्ञानमपास्तम् ।

68 **संक्षेपेण मतं भाट्टमिदमत्रोपपादितम् ।**
यद्वक्तव्यमिहान्यत्तदनुसंधेयमाकरात् ॥ 18 ॥

69 **इदानीं ज्ञानज्ञेयज्ञातृरूपस्य करणकर्मकर्तृरूपस्य च त्रिकद्वयस्य त्रिगुणात्मकत्वं वक्तव्यमिति तदुभयं संक्षिप्य त्रिगुणात्मकत्वं प्रतिजानीते–**

ज्ञानं कर्म च कर्ता न त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ 19 ॥

70 **ज्ञानं प्राग्व्याख्यातम् । ज्ञेयमप्यत्रैवान्तर्भूतं ज्ञानोपाधिकत्वाज्ज्ञेयत्वस्य । कर्म क्रिया त्रिविधः कर्मसंग्रह इत्यत्रोक्ता । चकारात्करणकर्मकारकयोरत्रैवान्तर्भावः क्रियोपाधिकत्वात्कारकत्वस्य । कर्ता क्रियाया निर्वर्तकः । चकाराज्ज्ञाता च कर्तुः क्रियोपाधिकत्वे पृथक्त्रैगुण्यकथनं कुतार्किकभ्रमकल्पितात्मत्वनिवारणार्थम् । ते हि कर्तैवाऽऽत्मेति मन्यन्ते । गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि**

अप्राप्त और लघुभूत प्रेरणा – प्रवर्तना ही लिङादि विधिपदों की वाच्या है – यह सिद्ध होता है । वाक्यार्थ की मर्यादा से लभ्य प्रवर्तक ज्ञान तो अन्य ही है -- यह सब वादियों के मतों में समान है । आख्यातार्थ ही शाब्दबोध में विशेष्यरूप से भासित होता है, धात्वर्थ भासित नहीं होता है, न नामार्थ अथवा स्वर्गकाम ही भासित होता है-- यह प्रायः कहा गया है । इससे 'यागानुकूलकृतिमान् स्वर्गकामः' = 'याग के अनुकूल कृतिमान् स्वर्गकामी पुरुष' -- यह पुरुषविशेष्यक वाक्यार्थज्ञानस्वरूप नैयायिकों का मत भी खण्डित होता है ।

68 यहाँ संक्षेप में कुमारिलभट्ट के मत का ही उपपादन किया है । इसके विषय में जो और कुछ वक्तव्य है उसको आकरग्रन्थों से जानना चाहिए ॥ 18 ॥

69 अब ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातृरूप तथा करण, कर्म और कर्तृरूप -- त्रिकद्वय = तीन-तीन पदार्थों के दो समूहों की त्रिगुणात्मकता वक्तव्य है अतएव उन दोनों को संक्षिप्त कर = त्रिकद्वय का वक्ष्यमाण ज्ञान, कर्म और कर्ता – इस एक त्रिक में अन्तर्भाव कर उनकी त्रिगुणात्मकता की प्रतिज्ञा करते है :--
[ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणों के भेद से सांख्यशास्त्र में तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं, उनको भी तुम शास्त्रानुसार सुनो ॥ 19 ॥]

70 'ज्ञान' पूर्व में व्याख्यात है, 'ज्ञेय' भी इसी में ही अन्तर्भूत है, क्योंकि ज्ञेयत्व ज्ञानोपाधिक है । 'कर्म' क्रिया है – यह 'त्रिविधः कर्मसंग्रहः' (गीता, 18.18) -- इत्यादि में कहा है । श्लोकस्थ प्रथम चकार से यह सूचित होता है कि करण और कर्म कारकों का भी इस क्रिया में ही अन्तर्भाव है, क्योंकि कारकत्व क्रियोपाधिक है । 'कर्ता' क्रिया का निर्वर्तक -- निष्पादक-उत्पादक है । श्लोकस्थ द्वितीय चकार से 'ज्ञाता' का भी ग्रहण है । यद्यपि कर्ता क्रियोपाधिक है, तथापि उसकी त्रिगुणता का पृथक्-कथन कुतार्किकों के भ्रम से कल्पित उस कर्ता में आत्मत्व के निवारण के लिए है, क्योंकि वे कुतार्किक यह मानते हैं कि 'कर्ता ही आत्मा है' । 'गुणाः = सत्त्वरजस्तमांसि सम्यक् = कार्यभेदेन

(v) कतिपय भाट्टसम्प्रदायवाले धात्वर्थगत कार्यत्व को लिङर्थ कहते हैं ।
(vi) कतिपय भाट्टविद्वान् लिङादि शब्दों में अर्थप्रकाशनसमर्थ अभिधाव्यापार को लिङर्थ स्वीकार करते हैं ।

सम्यक्कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंख्यानं कापिलं तस्मिन्, ज्ञानं क्रिया च कर्ता च गुणभेदतः सत्त्वरजस्तमोभेदेन त्रिधैव प्रोच्यते। एवकारो विधान्तरनिवारणार्थः। यद्यपि कापिलं शास्त्रं परमार्थब्रह्मैकत्वविषये न प्रमाणं तथाऽप्यपरमार्थगुणगौणभेदनिरूपणे व्यावहारिकं प्रामाण्यं भजत इति वक्ष्यमाणार्थस्तुत्यर्थं गुणसंख्याने प्रोच्यत इत्युक्तम्। तन्त्रान्तरेऽपि प्रसिद्धमिदं न केवलमस्मिन्नेव तन्त्र इति स्तुतिः। यथावद्यथाशास्त्रं शृणु श्रोतुं सावधानो भव तानि ज्ञानादीनि। अपिशब्दात्तद्भेदजातानि च गुणभेदकृतानि। अत्र चैवमपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम्।

71 **चतुर्दशेऽध्याये तत्र सत्त्वं निर्मलत्वादित्यादिना गुणानां बन्धहेतुत्वप्रकारो निरूपितो गुणातीतस्य जीवन्मुक्तत्वनिरूपणाय। सप्तदशे पुनर्यजन्ते सात्त्विका देवानित्यादिना गुणकृतत्रिविधस्वभावनिरूपणेनाऽऽसुरं रजस्तमःस्वभावं परित्यज्य सात्त्विकाहारादिसेवया दैवः सात्त्विकः स्वभावः संपादनीय इत्युक्तम्। इह तु स्वभावतो गुणातीतस्याऽऽत्मनः क्रियाकारकफलसंबन्धो नास्तीति दर्शयितुं तेषां सर्वेषां त्रिगुणात्मकत्वमेव न रूपान्तरमस्ति येनाऽऽत्मसंबन्धिता स्यादित्युच्यत इति विशेषः ॥ 19 ॥**

72 **एवं ज्ञानस्य कर्मणः कर्तुश्च प्रत्येकं त्रैविध्ये ज्ञातव्यत्वेन प्रतिज्ञाते प्रथमं ज्ञानत्रैविध्यं निरूपयति त्रिभिः श्लोकैः। तत्राद्वैतवादिनां सात्त्विकं ज्ञानमाह—**

ख्यायन्ते -- प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंख्यानं = कापिलम्' = सत्त्व, रज और तम -- इन तीनों गुणों का जिसमें सम्यक्-- कार्यभेद से ख्यान -- प्रतिपादन किया जाता है वह 'गुणसंख्यान' अर्थात् कापिलदर्शन है, उस कापिलदर्शन – सांख्यशास्त्र में ज्ञान, क्रिया और कर्ता गुणभेद से अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं। एवकार[120] इन तीन-तीन भेदों से अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की निवृत्ति के लिए है। यद्यपि कापिलशास्त्र – सांख्यशास्त्र परमार्थ ब्रह्म के एकत्व के विषय में प्रमाण नहीं है, तथापि अपरमार्थभूत गुण और गौण अर्थात् गुणों के कार्यों के भेद का निरूपण करने में उसकी व्यावहारिक प्रामाणिकता है ही -- अतएव वक्ष्यमाण गुणार्थ की स्तुति के लिए 'गुणसंख्याने प्रोच्यते' -- यह कहा गया है। यह गुणभेद से ज्ञानादि का भेदनिरूपण अन्य शास्त्रों = सांख्यादि शास्त्रों में भी प्रसिद्ध है, न कि केवल इसी गीता-शास्त्र में प्रसिद्ध है -- यह इसकी स्तुति है। तुम यथावत्-यथाशास्त्र -- शास्त्रानुसार उन ज्ञानादि को और 'अपि' शब्द से गृहीत गुणभेद से किये हुए उनके भेदों को भी सुनो अर्थात् सुनने के लिए सावधान होओ। इसप्रकार यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है -- यह समझना चाहिए।

71 चौदहवें अध्याय में गुणातीत की जीवन्मुक्तता का निरूपण करने के लिए 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्' (गीता, 14.6) -- इत्यादि श्लोक से गुणों के बन्ध में हेतु होने के प्रकार का निरूपण किया गया है। पुनः सत्रहवें अध्याय में 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' (गीता, 17.4) -- इत्यादि श्लोकों से गुणकृत तीन प्रकार के स्वभाव का निरूपण करके राजस और तामसरूप आसुर स्वभाव का परित्याग कर सात्त्विक आहारादि के सेवन से सात्त्विक दैव स्वभाव सम्पादनीय है -- यह कहा गया है। यहाँ तो 'स्वभावतः गुणातीत आत्मा का क्रिया, कारक और फल से सम्बन्ध नहीं है' -- यह दिखलाने के लिए वे सब क्रिया-कारकादि त्रिगुणात्मक ही हैं, रूपान्तर नहीं हैं, जिससे कि उनका आत्मा से सम्बन्ध हो -- यह कहते हैं -- यह विशेष है ॥ 19 ॥

---

120. एवकार गुणत्रय की उपाधि से व्यतिरिक्त आत्मा में स्वतःकर्तृत्वादि के प्रतिषेध के लिए है (श्रीधरीटीका)।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ 20 ॥

73 सर्वेषु भूतेषु अव्याकृतहिरण्यगर्भविराट्संज्ञेषु बीजसूक्ष्मस्थूलरूपेषु समष्टिव्यष्ट्यात्मकेषु, सर्वेष्वित्यनेनैव निर्वाहे भूतेष्वित्यनेन भवनधर्मकत्वमुच्यते । तेनोत्पत्तिविनाशशीलेषु दृश्यवर्गेषु, विभक्तेषु परस्परव्यावृत्तेषु नानारसेषु अव्ययमुत्पत्तिविनाशादिसर्वविक्रियाशून्यमदृश्यमविभक्तम-व्यावृत्तं सर्वत्रानुस्यूतमधिष्ठानतया बाधावधितया चैकमद्वितीयं भावं परमार्थसत्तारूपं स्वप्रकाशा-नन्दमात्मानं येनान्तःकरणपरिणामभेदेन वेदान्तवाक्यविचारपरिनिष्पन्नेनेक्षते साक्षात्करोति तन्मिथ्याप्रपञ्चबाधकमद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकं सर्वसंसारोच्छित्तिकारणं ज्ञानं विद्धि । द्वैतदर्शनं तु राजसं तामसं च संसारकारणं न सात्त्विकमित्यभिप्रायः ॥20 ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ 21 ॥

---

72 इसप्रकार ज्ञान, कर्म और कर्ता – प्रत्येक को तीन प्रकार से जानना चाहिए -- यह प्रतिज्ञा करने पर पहले ज्ञान की त्रिविधता का तीन श्लोकों से निरूपण करते हैं । उसमें अद्वैतवादियों के सात्त्विक ज्ञान को कहते है :–

[जिससे ज्ञानी पुरुष परस्पर विभक्त सब भूतों में एक, अव्यय-अविनाशी, अविभक्त -- विभागरहित भाव को देखता है उस ज्ञान को सात्त्विक समझो ॥ 20 ॥]

73 सब भूतों में[121] = अव्याकृत, हिरण्यगर्भ[122] और विराट्[123] संज्ञक बीज सूक्ष्म और स्थूलरूप समष्टि -- व्यष्टिभूत सब प्राणियों में, -- यहाँ 'सर्वेषु' -- इससे ही निर्वाह होने पर भी 'भूतेषु' -- इससे भवनधर्मकत्व -- उत्पत्तिधर्मकत्व कहते हैं, अतएव उत्पत्ति-विनाशशील, विभक्त = परस्पर व्यावृत्त अर्थात् नानारस दृश्य वर्गों में जो अव्यय = उत्पत्तिविनाशादि सब विकारों से शून्य, अदृश्य, अविभक्त= अव्यावृत्त, अधिष्ठानरूप से और बाध की अवधि होने से सर्वत्र अनुस्यूत एक = अद्वितीय भाव[124] = परमार्थसत्तारूप स्वयंप्रकाश, आनन्दस्वरूप आत्मा को वेदान्तवाक्यों के विचार से परिनिष्पन्न जिस अन्त:करण के परिणामभेद के द्वारा देखता है अर्थात् उसका साक्षात्कार करता है, उस मिथ्याप्रपञ्च के बाधक अद्वैत-आत्मदर्शन को तुम सात्त्विक = सम्पूर्ण संसार के उच्छेद का कारणरूप ज्ञान समझो । द्वैतदर्शन तो राजस और तामस = संसार का कारण है अतएव सात्त्विक = संसार के उच्छेद का कारण नहीं है -- यह अभिप्राय है ॥ 20 ॥

[जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा तो पुरुष पृथक्रूप से स्थित सब भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को जानता है उस ज्ञान को तुम 'राजस' जानो ॥ 21 ॥]

---

121. सर्वभूतेषु = 'अव्यक्तादिस्थावरान्तेषु भूतेषु' -- 'अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त सब भूतों में' (शाङ्करभाष्य); 'ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु' -- 'ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सब भूतों में' (श्रीधरीटीका)

122. माया से प्रथम जो विकार उत्पन्न हुआ है उसको महत्तत्त्व या 'हिरण्यगर्भ' अर्थात् सूक्ष्मबुद्धि की समष्टि – अवस्था कहा जाता है, वही व्यष्टिरूप से प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धिरूप से विद्यमान है ।

123. स्थूल देह की समष्टि-अवस्था को 'विराट्' कहा जाता है, वही व्यष्टिरूप से सूक्ष्म भूत के साथ प्रत्येक भूत में स्थूल-शरीररूप से परिणत होता है ।

124. 'भाव' शब्द वस्तुवाचक है अतएव 'भाव' का अर्थ आत्मवस्तु है (शाङ्करभाष्य) ।

74 तुशब्दः प्रागुक्तसात्त्विकव्यतिरेकप्रदर्शनार्थः । पृथक्त्वेन भेदेन स्थितेषु सर्वभूतेषु देहादिषु नानाभावान्प्रतिदेहमन्यानात्मनः पृथग्विधान्सुखदुःखित्वादिरूपेण परस्परविलक्षणान्, येन ज्ञानेन वेत्तीति वक्तव्ये यज्ज्ञानं वेत्तीति करणे कर्तृत्वोपचारादेधांसि पचन्तीतिवत्कर्तुरहंकारस्य तद्वृत्त्यभेदाद्वा, तज्ज्ञानं विद्धि राजसमिति पुनर्ज्ञानपदमात्मभेदज्ञानमनात्मभेदज्ञानं च परामृशति । तेनाऽऽत्मनां परस्परं भेदस्तेषामीश्वराद्भेदस्तेभ्य ईश्वरादन्योन्यतश्चाचेतनवर्गस्य भेद इत्यनौपाधिकभेदपञ्चकज्ञानं कुतार्किकाणां राजसमेवेत्यभिप्रायः ॥ 21 ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ 22 ॥

75 तुशब्दो राजसाद्विनत्ति । बहुषु भूतकार्येषु विद्यमानेष्वेकस्मिन्कार्ये भूतविकारे देहे प्रतिमादौ वाऽहेतुकं हेतुरुपपत्तिस्तद्रहितमन्येषां भूतकार्याणामात्मत्वाभावे कथमेकस्य तादृशस्याऽऽत्मत्वमित्यनुसंधानशून्यं, कृत्स्नवत्परिपूर्णवत्सक्तमेतावानेवाऽऽत्मेश्वरो वा नातः परमस्तीत्यभिनिवेशेन लग्नं यथा दिगम्बराणां सावयवो देहपरिमाण आत्मेति यथा वा चार्वाकाणां देह एवाऽऽत्मेति एवं पाषाणदार्वादिमात्र ईश्वर इत्येकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकत्वादेवातत्त्वार्थवन्नतत्त्वा-

---

74 यहाँ 'तु' शब्द पूर्वोक्त सात्त्विक ज्ञान से व्यतिरेक -- भेद या अन्तर दिखलाने के लिए है । पृथक्त्व -- पृथक्ता अर्थात् भेद से स्थित सब भूतों में = देहादि में पृथक्विध = सुखित्वदुःखित्वादिरूप से परस्पर विलक्षण नाना भावों[125] को अर्थात् प्रत्येक देह में अन्य-अन्य आत्मा को जिस ज्ञान से जो जानता है, -- यहाँ 'येन ज्ञानेन वेत्ति' -- यह वक्तव्य था, किन्तु 'यज्ज्ञानं वेत्ति' -- यह कहा है -- यह कथन 'एधांसि पचन्ति' = 'ईंधन पकाता है अर्थात् ईंधन से पकाता है' -- इस वाक्य के समान करण में कर्तृत्वोपचार से है, अथवा -- कर्ता अहंकार का उसकी वृत्ति के साथ अभेद करके यह प्रयोग है, -- उस ज्ञान को तुम 'राजस' जानो -- यहाँ पुनः 'ज्ञान' पद का प्रयोग आत्मभेदज्ञान और अनात्मभेदज्ञान का परामर्श करता है । अतः आत्माओं का परस्पर भेद, उनका ईश्वर से भेद, अचेतन वर्ग का आत्माओं से भेद, अचेतन वर्ग का ईश्वर से भेद और अचेतन वर्ग का एक दूसरे से भेद -- इसप्रकार का जो यह कुतार्किकों का पाँच प्रकार का अनौपाधिक -- उपाधिहीन भेदज्ञान[126] है वह 'राजस' ही है -- यह अभिप्राय है ॥ 21 ॥

[जो ज्ञान तो एक कार्यरूप देह में ही परिपूर्ण की भाँति आसक्त है तथा अहेतुक -- बिना युक्तिवाला, तत्त्व अर्थ से रहित और अल्प -- तुच्छ है, वह ज्ञान 'तामस' कहा गया है ॥ 22 ॥]

75 'तु' शब्द उक्त ज्ञान को 'राजस' ज्ञान से पृथक् करता है । बहुत भूतकार्यों के विद्यमान रहते हुए एक कार्य = भूतविकार देह अथवा प्रतिमादि में अहेतुक = हेतु -- उपपत्ति से रहित अर्थात् 'अन्य भूतकार्यों में आत्मत्व का अभाव रहने पर तादृश एक भूतकार्य में आत्मत्व कैसे रह सकता है ?' -- इसप्रकार के अनुसन्धान से शून्य जो कृत्स्नवत् = परिपूर्ण के समान सक्त है = 'यह इतना ही आत्मा अथवा ईश्वर है, इससे परे नहीं है' -- इसप्रकार के अभिनिवेश से लग्न है = 'जैसे दिगम्बरों के मत में सावयव और देह के परिमाणवाला आत्मा है, अथवा -- चार्वाकों के मत में देह ही आत्मा है, इसीप्रकार पाषाण, दारु-काष्ठ आदिमात्र ईश्वर है' -- इसप्रकार एक कार्य में सक्त --

---

125. 'नानाभावान्' -- यहाँ बहुवचन का प्रयोग अत्यन्तभेद दिखलाने के लिए है ।

126. उक्त भेदपञ्चकज्ञान माध्व -- वेदान्ताभिमत है जिसका प्रकृत में खण्डन भी विवक्षित है ।

र्थालम्बनम्, अल्पं च नित्यत्वविभुत्वाग्रहात् । ईदृशं नित्यविभुदेहादिव्यतिरिक्तात्मतद्व्यतिरिक्तेश्वरग्राहितार्किकज्ञानविलक्षणमनित्यपरिच्छिन्नदेहाद्यात्माभिमानरूपं चार्वाकादीनां यज्ज्ञानं तत्तामसमुदाहृतं तामसानां प्राकृतजनानामीदृशज्ञानदर्शिभिः ॥ 22 ॥

76 तदेवमौपनिषदानामद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकमुपादेयं मुमुक्षुभिर्द्वैतदर्शिनां तु नित्यविभुपरस्परविभिन्नात्मदर्शनं राजसमनित्यपरिच्छिन्नात्मदर्शनं च तामसं हेयमुक्तं, संप्रति त्रिविधं कर्मोच्यते--

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ 23 ॥

77 नियतं यावदङ्गोपसंहारासमर्थानामपि फलावश्यंभावव्याप्तं नित्यमिति यावत् । सङ्गोऽहमेव महायाज्ञिक इत्याद्यभिमानरूपोऽहंकारापरपर्यायो राजसो गर्वविशेषस्तेन शून्यं सङ्गरहितं, यावदज्ञानं तु कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तनोऽहंकारोऽनुवर्तत एव सात्त्विकस्यापि । तद्रहितस्य तु तत्त्वविदो न कर्माधिकार इत्युक्तमसकृत् । रागो राजसन्मानादिकमनेन लप्स्य इत्यभिप्रायः, द्वेषः शत्रुमनेन पराजेष्य इत्यभिप्रायस्ताभ्यां न कृतमरागद्वेषतः कृतम् । अफलप्रेप्सुना फलाभिलाषरहितेन कर्त्रा यत्कृतं कर्म यागदानहोमादि तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ 23 ॥

संलग्न है, अहेतुक होने से अतत्त्वार्थवत् = तत्त्वार्थरूप आलम्बन से शून्य है और नित्यत्व -- विभुत्व का ग्रहण न करने से अल्प है -- ऐसा जो नित्य, विभु, देहादि से व्यतिरिक्त आत्मा; उस आत्मा से व्यतिरिक्त ईश्वर को ग्रहण करनेवाले तार्किक ज्ञान से विलक्षण अनित्य, परिच्छिन्न, देहादि में ही आत्माभिमानरूप चार्वाकादि का ज्ञान है वह 'तामस' कहा गया है, कारण कि तामस प्राकृत जनों में ऐसा ही ज्ञान देखा जाता है ॥ 22 ॥

76 इसप्रकार औपनिषदों -- वेदान्तियों का अद्वैत -- आत्मदर्शन सात्त्विक है अतएव मुमुक्षुओं द्वारा उपादेय -- ग्राह्य है, किन्तु द्वैतदर्शियों का नित्य, विभु और परस्पर विभिन्न आत्मदर्शन 'राजस' है और अनित्य, परिच्छिन्न आत्मदर्शन 'तामस' है अतएव हेय कहा गया है । अब तीन प्रकार का कर्म कहा जाता है --

[फलेच्छाशून्य पुरुष द्वारा जो नियत = शास्त्रविधि से नियत, सङ्गरहित, बिना राग और द्वेष से किया हुआ कर्म है वह 'सात्त्विक' कहा जाता है ॥ 23 ॥]

77 नियत = सम्पूर्ण अङ्गों के उपसंहार में असमर्थ पुरुषों को भी फल अवश्यंभाव व्याप्त अर्थात् नित्य है, 'सङ्ग' = 'मैं ही महायाज्ञिक हूँ' -- इत्यादि अभिमानरूप, अहंकार का अपर पर्याय राजस गर्वविशेष है उससे शून्य अर्थात् सङ्गरहित है । अज्ञान रहने तक तो कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रवर्तना, अहंकार सात्त्विक को भी अनुवृत्त होता ही है, किन्तु उससे रहित तत्त्ववेत्ता को कर्म का अधिकार नहीं रहता है -- यह अनेकबार कहा जा चुका है । 'राग' = 'इससे मैं राजसन्मानादि प्राप्त करूँगा' -- ऐसा अभिप्रायविशेष है, 'द्वेष' = 'इससे मैं शत्रु को पराजित करूँगा' -- ऐसा अभिप्रायविशेष है -- इन दोनों के द्वारा न किया हुआ 'अरागद्वेषकृत' है । इसप्रकार अफलप्रेप्सु अर्थात् फलाभिलाषारहित कर्ता के द्वारा जो याग, दान, होमादि कर्म किया जाता है वह 'सात्त्विक' कहा जाता है ॥ 23 ॥

[कामेप्सु = फल को चाहनेवाले और अहंकारयुक्त पुरुष के द्वारा जो तो बहुलायास = बहुश्रमसाध्य कर्म किया जाता है वह 'राजस' कहा गया है ॥ 24 ॥]

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ 24 ॥

78 **तुः सात्त्विकाद्भिनत्ति । कामेप्सुना फलकामेन कर्त्रा साहंकारेण प्रागुक्तसङ्गात्मकगर्वयुक्तेन च । वाशब्दः समुच्चये । पुनरित्यनियतं यावत्कामनं काम्यावृत्तेः । बहुलायासं सर्वाङ्गोपसंहारेण क्लेशावहं यत्काम्यं कर्म क्रियते तद्राजसमुदाहृतम् । अत्र सर्वैर्विशेषणैः सात्त्विक-सर्वविशेषणव्यतिरेको दर्शितः ॥ 24 ॥**

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ 25 ॥

79 **अनुबन्धं पश्चाद्भाव्यशुभं, क्षयं शरीरसामर्थ्यस्य धनस्य सेनायाश्च नाशं हिंसां प्राणिपीडां, पौरुषमात्मसामर्थ्यं चानपेक्ष्यापर्यालोच्य मोहात्केवलाविवेकादेवाऽऽरभ्यते यत्कर्म यथा दुर्योधनेन युद्धं तत्तामसमुच्यते ॥ 25 ॥**

80 **इदानीं त्रिविधः कर्तोच्यते—**

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ 26 ॥

---

78 'तु' शब्द उक्त कर्म को सात्त्विक कर्म से पृथक् करता है । कामेप्सु = फलकामी-- फलाभिलाषी और साहंकार = पूर्वोक्त सङ्गात्मक गर्व से युक्त कर्त्ता द्वारा, -- यहाँ 'वा' शब्द समुच्चय अर्थ में है और 'पुनः' -- यह अनियत अर्थ में है, क्योंकि जब तक कामना रहती है तब तक काम्य कर्मों की आवृत्ति होती है, -- बहुलायास = बहुश्रमसाध्य समस्त अङ्गों का उपसंहार करने से क्लेशावह -- क्लेशप्रद जो काम्य कर्म किया जाता है वह 'राजस' कहा गया है । यहाँ सभी विशेषणों से सात्त्विक कर्म के समस्त विशेषणों का व्यतिरेक -- भेद दिखलाया गया है ॥ 24 ॥

[जो कर्म अनुबन्ध = पश्चाद्भावी अशुभपरिणाम, क्षय, हिंसा और अपने सामार्थ्य को न देखकर केवल मोहवश आरम्भ किया जाता है वह 'तामस' कहा जाता है ॥ 25 ॥]

79 अनुबन्ध[127] = पश्चाद्भावी अशुभ-परिणाम, क्षय = शरीर के सामर्थ्य, धन और सेना के नाश, हिंसा = प्राणियों की पीड़ा और पौरुष = आत्मसामर्थ्य -- अपने सामर्थ्य को न देखकर = इनका विचार न करके मोह से = केवल अविवेक से ही जो कर्म आरम्भ किया जाता है, जैसे दुर्योधन ने युद्ध आरम्भ किया था, वह 'तामस' कहा जाता है ॥ 25 ॥

80 अब तीन प्रकार का कर्ता कहा जाता है --

[जो कर्ता आसक्ति से रहित, 'मैं कर्ता हूँ' -- ऐसे अहंकार के वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य सिद्ध होने और सिद्ध न होने में निर्विकार = हर्ष-शोकादि विकारों से रहित होता है वह 'सात्त्विक' कर्ता कहा जाता है ॥ 26 ॥]

---

127. 'अनुबध्यत इत्यनुबन्धः' = जो अनुबद्ध होता है – पीछे बँधा रहता है उसको 'अनुबन्ध' कहते हैं । अतएव भविष्य में होनेवाले शुभ और अशुभ कर्मफल का नाम 'अनुबन्ध' है । अथवा, अनु = पश्चात् – कर्म करने के पश्चात् जो अन्त में होनेवाला बन्ध = संसारबन्धन का कारणरूप परिणाम या फल उत्पन्न होता है उसको 'अनुबन्ध' कहते हैं । अथवा, 'अनुबध्यतेऽनेनेत्यनुबन्धः फलम्' = 'जिससे बन्धन होता है वह अनुबन्ध अर्थात् फल है ।

81 मुक्तसङ्गस्त्यक्तफलाभिसंधिः, अनहंवादी कर्ताऽहमिति वदनशीलो न भवति स्वगुणश्लाघाविहीनो वा । धृतिर्विघ्नाद्युपस्थितावपि प्रारब्धापरित्यागहेतुरन्तःकरणवृत्तिविशेषो धैर्यमुत्साह इदमहं करिष्याम्येवेतिनिश्चयात्मिका बुद्धिर्धृतिहेतुभूता ताभ्यां संयुक्तो धृत्युत्साहसमन्वितः । कर्मणः क्रियमाणस्य फलस्य सिद्धावसिद्धौ च हर्षशोकाभ्यां हेतुभ्यां यो विकारो वदनविकासम्लानत्वादिस्तेन रहितः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः केवलं शास्त्रप्रमाणप्रयुक्तो न फलरागेण । अत एवंभूतः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ 26 ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ 27 ॥

82 रागी कामाद्याकुलचित्तः । अत एव कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलार्थी । लुब्धः परद्रव्याभिलाषी धर्मार्थं स्वद्रव्यत्यागासमर्थश्च । स्वाभिप्रायप्रकटनेन परवृत्तिच्छेदनं हिंसा तदात्मकस्तत्स्वभावः । स्वाभिप्रायाप्रकटने तु नैष्कृतिक इति भेदः । अशुचिः शास्त्रोक्तशौचहीनः । सिद्ध्यसिद्ध्योः कर्मफलस्य हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ 27 ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ 28 ॥

---

81 मुक्तसङ्ग = जिसने फलाभिसन्धि -- फलेच्छा को त्याग दिया है, अनहंवादी = 'मैं कर्ता हूँ' -- ऐसा बोलने का जिसका स्वभाव नहीं होता है अथवा जो अपने गुणों की प्रशंसा नहीं करता है, 'धृति' = विघ्नादि के उपस्थित होने पर भी आरम्भ किये हुए कर्म का परित्याग न करने में हेतुभूत अन्त:करण की वृत्तिविशेष अर्थात् धैर्य है और 'उत्साह' = 'मैं इसको करूँगा ही'-- ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि है जो धृति की हेतुभूता हैं -- उन दोनों से जो संयुक्त अर्थात् धृत्युत्साहसमन्वित है तथा क्रियमाण कर्म के फल की सिद्धि और असिद्धि में जो हर्ष और शोक हेतुओं से होनेवाला मुखविकास -- मुख का खिलना और मलिन होना रूप विकार है उससे जो रहित अर्थात् 'सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार' है अर्थात् केवल शास्त्रप्रमाण से ही कर्म में प्रवृत्त होनेवाला है, फल के राग से नहीं -- ऐसा कर्ता 'सात्त्विक' कहा जाता है ॥ 26 ॥

[जो रागी, कर्मफल को चाहनेवाला, लोभी, हिंसा के स्वभाववाला, अशुचि -- अशुद्धाचारी, हर्ष -- शोक से युक्त कर्ता है वह 'राजस' कहा गया है ॥ 27 ॥]

82 रागी = कामादि से आकुल -- व्याकुलचित्त अतएव कर्मफलप्रेप्सु[128] = कर्मफलार्थी -- कर्मफलप्रार्थी अर्थात् कर्मफल को चाहनेवाला, लुब्ध = लोभी -- दूसरे के धन की इच्छा करनेवाला और धर्म के लिए अपने धन का त्याग करने में असमर्थ, अपने अभिप्राय को प्रकट करके दूसरे की वृत्ति का छेदन करना 'हिंसा' है तदात्मक = तत्स्वभाव अर्थात् हिंसा के स्वभाववाला, -- जो अपने अभिप्राय को प्रकट किये बिना ही दूसरे की वृत्ति का छेदन करता है वह तो 'नैष्कृतिक' होता है -- यह दोनों में भेद है, -- अशुचि = शास्त्रोक्त शौच-शुद्धि से हीन तथा कर्मफल की सिद्धि और असिद्धि में हर्ष और शोक से व्याप्त होनेवाला कर्ता 'राजस' कहा गया है ॥ 27 ॥

---

128. कर्मफलप्रेप्सु = कर्म में जिसका राग अर्थात् आसक्ति है और कर्मफल में भी जिसका राग अर्थात् कामना है वह 'कर्मफलप्रेप्सु' है, इसी अभिप्राय से दोनों को पृथक् करके यह कहा गया है (आनन्दगिरिटीका) ।

83 अयुक्तः सर्वदा विषयापहृतचित्तत्वेन कर्तव्येष्वनवहितः । प्राकृतः शास्त्रासंस्कृतबुद्धिर्बालसमः । स्तब्धो गुरुदेवतादिष्वप्यनम्रः । शठः परवञ्चनार्थमन्यथा जानन्नप्यन्यथावादी । नैष्कृतिकः स्वस्मिन्नुपकारित्वभ्रममुत्पाद्य परवृत्तिच्छेदनेन स्वार्थपरः । अलसोऽवश्यकर्तव्येष्वप्यप्रवृत्तिशीलः । विषादी सततमसंतुष्टस्वभावत्वेनानुशोचनशीलः । दीर्घसूत्री निरन्तरशङ्कासहस्रकवलितान्तःकरणत्वेनातिमन्थरप्रवृत्तिर्यदद्यकर्तव्यं तन्मासेनापि करोति न वेत्येवंशीलश्च कर्ता तामस उच्यते ॥ 28 ॥

84 तदेवं ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदत इति व्याख्यातं संप्रति धृत्युत्साहसमन्वित इत्यत्र सूचितयोर्बुद्धिधृत्योस्त्रैविध्यं प्रतिजानीते–

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ 29 ॥

85 बुद्धेरध्यवसायादिवृत्तिमत्तया धृतेश्च तद्वृत्तेः सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधमेव भेदं मया त्वां प्रति त्यक्तालस्येन परमाप्तेन प्रोच्यमानमशेषेण निरवशेषं पृथक्त्वेन हेयादेयविवेकेन शृणु श्रोतुं सावधानो भव । हे धनंजयेति दिग्विजये प्रसिद्धं महिमानं सूचयन्प्रोत्साहयति ।

[जो अयुक्त = अनवहितचित्त अर्थात् विक्षेपयुक्त चित्तवाला, प्राकृत = शास्त्र से असंस्कृत बुद्धिवाला, स्तब्ध = अनम्र – घमण्डी, शठ, नैष्कृतिक, आलसी, विषादी-शोक करने के स्वभाववाला और दीर्घसूत्री होता है वह कर्ता 'तामस कहा जाता है ॥ 28 ॥]

83 अयुक्त = सर्वदा विषयों द्वारा अपहृत चित्त होने से जो कर्तव्यों में अनवहित -- असावधान है, प्राकृत = बालक के समान शास्त्रों से असंस्कृतबुद्धि है, स्तब्ध = गुरु, देवता आदि में भी अनम्र = नम्र न रहनेवाला है, शठ = दूसरों को ठगने के लिए अन्यथा जानते हुए भी अन्यथा बोलनेवाला है, नैष्कृतिक = अपने में उपकारी -- परोपकारी होने का भ्रम उत्पन्न करके दूसरे की वृत्ति -- आजीविका का छेदन -- विनाश कर स्वार्थ में तत्पर रहनेवाला है, अलस = आलसी अर्थात् अवश्य करने योग्य कार्य में भी अप्रवृत्तिशील है, विषादी = सतत -- निरन्तर असंतुष्टस्वभाव होने से अनुशोचनशील -- पश्चात्ताप करते रहनेवाला है और दीर्घसूत्री[129] = निरन्तर सहस्रों शंकाओं से कवलित -- ग्रस्तचित्त होने से अतिमन्थर -- अत्यन्त मन्द प्रवृत्तिवाला है, जो आज कर्तव्य है उसको महीने भर में भी करता है अथवा नहीं करता है -- ऐसे स्वभाववाला कर्ता 'तामस' कहा जाता है ॥ 28 ॥

84 इसप्रकार 'ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः'-- इसकी व्याख्या हो गई, अब 'धृत्युत्साहसमन्वितः' -- इत्यादि में सूचित बुद्धि और धृति की त्रिविधता की प्रतिज्ञा करते हैं :--

[हे धनञ्जय ! अब सत्त्वादि गुणों की दृष्टि से मेरे द्वारा संपूर्णतया और पृथक्रूप से अर्थात् हेयोपादेय के विवेक से कहे जाते हुए बुद्धि और धृति के तीन-तीन प्रकार के भेदों को तुम सुनो ॥ 29 ॥]

85 अध्यवसायादि वृत्तियोंवाली 'बुद्धि' है और उस बुद्धि की वृत्ति ही 'धृति' है -- इनका सत्त्वादि गुणों की दृष्टि से तीन-तीन प्रकार का भेद त्यक्त-आलस्य, परम-आप्त मेरे द्वारा तुम्हारे प्रति अशेषेण

---

129. दीर्घसूत्री = दीर्घं सूत्रयितुं शीलमस्य इति दीर्घसूत्री अर्थात् कर्तव्य कर्म को प्रसारित करने का स्वभाव जिसका है वह 'दीर्घसूत्री' है अर्थात् आज या कल कर लेने के योग्य कार्य को महीने भर में भी जो समाप्त नहीं कर पाता है वह 'दीर्घसूत्री' है ।

86 अत्रेदं चिन्त्यते– किमत्र बुद्धिशब्देन वृत्तिमात्रमभिप्रेतं किं वा वृत्तिमदन्तःकरणं, प्रथमे ज्ञानं पृथङ्न वक्तव्यं, द्वितीये कर्ता पृथङ्न वक्तव्यः, वृत्तिमदन्तःकरणस्यैव कर्तृत्वात् । ज्ञानधृत्योः पृथक्कथनवैयर्थ्यं च । न चेच्छादिपरिसंख्यार्थं तत्, वृत्तिमदन्तःकरणत्रैविध्यकथनेन सर्वासामपि तद्वृत्तीनां त्रैविध्यस्य विवक्षितत्वात् । उच्यते– अन्तःकरणोपहितश्चिदाभासः कर्ता । इह तूपहितान्निष्कृष्योपाधिमात्रं करणत्वेन विवक्षितं सर्वत्र करणोपहितस्य कर्तृत्वात् । यद्यपि च 'कामः सकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इति श्रुत्यनूदितानां सर्वासामपि वृत्तीनां त्रैविध्यं विवक्षितं तथाऽपि धीधृत्योस्त्रैविध्यं पृथगुक्तं ज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्युपलक्षणार्थं न तु परिसंख्यार्थमिति रहस्यम् ॥ 29 ॥

87 तत्र बुद्धेस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः–

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ 30 ॥

88 प्रवृत्तिं कर्ममार्गं, निवृत्तिं संन्यासमार्गं, कार्यं प्रवृत्तिमार्गे कर्मणा करणम्, अकार्यं निवृत्तिमार्गे कर्मणामकरणं, भयं प्रवृत्तिमार्गे गर्भवासादिदुःखम्, अभयं निवृत्तिमार्गे तदभावं, बन्धं प्रवृत्तिमार्गे

– निरवशेषेण अर्थात् संपूर्णतया और पृथक्रूप से अर्थात् हेयोपादेय के विवेक से कहा जाता है उसको सुनो = उसको सुनने के लिए सावधान होओ, हे धनञ्जय[130] ! – इस सम्बोधन से भगवान् अर्जुन की दिग्विजय में प्रसिद्ध महिमा को सूचित करते हुए उसको प्रोत्साहित करते हैं ।

86 यहाँ यह विचार किया जाता है -- क्या यहाँ 'बुद्धि' शब्द से वृत्तिमात्र अभिप्रेत है ? अथवा वृत्तियुक्त अन्तःकरण अभिप्रेत है ? प्रथम पक्ष में ज्ञान को बुद्धि से पृथक् नहीं कहना चाहिए और द्वितीय पक्ष में कर्ता को बुद्धि से पृथक् नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वृत्ति से उक्त अन्तःकरण ही कर्ता होता है तथा ज्ञान और धृति का भी उससे पृथक् कथन करना व्यर्थ ही है । ज्ञान और धृति का पृथक्-कथन इच्छादि की परिसंख्या – व्यावृत्ति के लिए भी नहीं हो सकता है, क्योंकि वृत्तियुक्त अन्तःकरण की त्रिविधता का कथन करने से ही उसकी समस्त वृत्तियों की त्रिविधता विवक्षित होती है । उच्यते – समाधान कहते हैं :-- अन्तःकरणोपहित चिदाभास कर्ता है । यहाँ तो उपहित चिदाभास से पृथक् कर उपाधिमात्र अन्तःकरण करणत्वेन विवक्षित है, क्योंकि सर्वत्र करणोपहित ही कर्ता होता है । यद्यपि 'काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री-लज्जा, धी-बुद्धि, भी-भय-- ये सब मन ही हैं'– इस श्रुति द्वारा अनूदित सभी वृत्तियों में त्रिविधता विवक्षित है, तथापि ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के उपलक्षण के लिए, अन्य वृत्तियों की परिसंख्या– व्यावृत्ति के लिए नहीं, बुद्धि और धृति की त्रिविधता को पृथक् कहा गया है-- यह इसका रहस्य है ॥ 29 ॥

87 इसमें बुद्धि की त्रिविधता को तीन श्लोकों से कहते हैं:--

[हे पार्थ ! जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष -- इनको जानती है वह बुद्धि 'सात्त्विकी' है ॥ 30 ॥]

---

130. दिग्विजय में मानुष और दैव प्रभूत धन जिस बुद्धि और धृति से तुमने जीता था – प्राप्त किया था वह बुद्धि और धृति तुम्हारे और दूसरों के द्वारा धनादि समस्त पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए विजय की हेतुभूता होने से उपादेय -- ग्राह्य है – यह बोधित करने के लिए मेरे द्वारा कहे हुए बुद्धि और धृति के त्रिविधभेद को सुनो · इसप्रकार सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

मिथ्याज्ञानकृतं कर्तृत्वाद्यभिमानं, मोक्षं निवृत्तिमार्गे तत्त्वज्ञानकृतमज्ञानतत्कार्याभावं च या वेत्ति करणे कर्तृत्वोपचाराद्यया वेत्ति कर्ता बुद्धिः सा प्रमाणजनितनिश्चयवती हे पार्थ सात्त्विकी । बन्धमोक्षयोरन्ते कीर्तनात्तद्विषयमेव प्रवृत्त्यादि व्याख्यातम् ॥ 30 ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ 31 ॥

89 **धर्मं शास्त्रविहितमधर्मं शास्त्रप्रतिषिद्धमदृष्टार्थमुभयं कार्यं चाकार्यं च दृष्टार्थमुभयमयथावदेव प्रजानाति यथावन्न जानाति किंस्विदिदमिदमित्थं न वेति चानध्यवसायं संशयं वा भजते यया बुद्ध्या सा राजसी बुद्धिः । अत्र तृतीयानिर्देशादन्यत्रापि करणत्वं व्याख्येयम् ॥ 31 ॥**

---

88 प्रवृत्ति = कर्ममार्ग, निवृत्ति = संन्यासमार्ग, कार्य = प्रवृत्तिमार्ग में कर्मों का करना, अकार्य = निवृत्तिमार्ग में कर्मों का न करना, भय = प्रवृत्तिमार्ग में गर्भवासादि दु:ख, अभय = निवृत्तिमार्ग में उस गर्भवासादि दु:ख का अभाव, बन्ध = प्रवृत्तिमार्ग में मिथ्याज्ञानकृत कर्तृत्वादि का अभिमान और मोक्ष = निवृत्तिमार्ग में तत्त्वज्ञानकृत अज्ञान और उसके कार्य का अभाव -- इन सबको जो जानती है, अथवा – करण में कर्तृत्वोपचार से 'यया वेत्ति कर्ता' अर्थात् जिससे कर्ता जानता है वह प्रमाणजनित[131] निश्चयवती बुद्धि हे पार्थ[132] ! 'सात्त्विकी' है[133] । बन्ध और मोक्ष का अन्त में कथन होने से ही उनसे सम्बद्ध प्रवृत्ति आदि की व्याख्या की गई है ।। 30 ।।

[हे पार्थ[134] ! जिससे पुरुष धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य को यथावत् -- यथार्थरूप से नहीं जानता है वह बुद्धि 'राजसी है ।। 31 ।।]

89 धर्म = शास्त्रविहित है और अधर्म = शास्त्रप्रतिषिद्ध है – ये दोनों ही अदृष्टार्थ = अदृष्ट प्रयोजनवाले हैं तथा कार्य और अकार्य -- दोनों दृष्टार्थ = दृष्ट प्रयोजनवाले हैं -- इन दोनों को जिस बुद्धि से पुरुष अयथावत् जानता है– यथावत् नहीं जानता है अर्थात् क्या यह ऐसा है ? अथवा नहीं है ? – इसप्रकार अनध्यवसाय-अनिश्चय अथवा संशय करता है, वह बुद्धि 'राजसी' है । यहाँ तृतीया का निर्देश होने से अन्यत्र भी करणरूप से ही बुद्धि की व्याख्या करनी चाहिए ।। 31 ।।

[हे पार्थ[135] ! तमोगुण से आवृत जो बुद्धि अधर्म को धर्म – ऐसा मानती है तथा अन्य सब विषयों को विपरीत ही समझती है वह 'तामसी' है ।। 32 ।।]

---

131. जो बुद्धि सब प्रमाणों = प्रत्यय, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों के द्वारा प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष के यथार्थ स्वरूप का निश्चय करने में समर्थ होती है वह बुद्धि 'सात्त्विकी' है ।

132. ईदृशी सात्त्विकी बुद्धि से युक्त पृथा के पुत्र पार्थ ! तुम भी अपनी माता के समान सात्त्विकी बुद्धि से युक्त होने के योग्य हो – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

133. शंका है – प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य आदि को जान लेने पर ही अर्थात् उनसे सम्बन्धित ज्ञान के रहने पर ही यदि बुद्धि सात्त्विकी होती है तो क्या ज्ञान और बुद्धि – दोनों एक ही वस्तु हैं ? यदि दोनों एक हैं तो ज्ञान के त्रिविध भेद को पूर्व में कह ही दिया गया है, पुन: बुद्धि के त्रिविध भेद कहने की क्या आवश्यकता है? समाधान है– ज्ञान और बुद्धि– दोनों एक वस्तु नहीं है । पूर्व में जो 'ज्ञान' कहा गया है वह बुद्धि की वृत्तिविशेष है और 'बुद्धि' स्वयं वृत्तिवाली है अर्थात् ज्ञानरूप वृत्ति बुद्धि का धर्म है । उसीप्रकार 'धृति' भी बुद्धि की वृत्तिविशेष ही है

134. हे पृथापुत्र– पार्थ ! तुम्हारे लिए राजसी बुद्धि युक्त नहीं है– यह सूचित करने के लिए उक्त सम्वोधन है ।।

135. हे पार्थ ! तुम्हारे लिए तामसी बुद्धि तो सर्वथा उचित नहीं है – यह सम्बोधन का आशय है ।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ 32 ॥

90 तमसा विशेषदर्शनविरोधिना दोषेणाऽऽवृता या बुद्धिरधर्मं धर्ममिति मन्यतेऽदृष्टार्थे सर्वत्र विपर्यस्यति । तथा सर्वार्थान्सर्वान्दृष्टप्रयोजनानपि ज्ञेयपदार्थान्विपरीतानेव मन्यते सा विपर्ययवती बुद्धिस्तामसी ॥ 32 ।

91 इदानीं धृतेस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ 33 ॥

92 योगेन समाधिनाऽव्यभिचारिण्याऽविनाभूतया समाधिव्याप्तया यया धृत्या प्रयत्नेन मनसः प्राणस्येन्द्रियाणां च क्रियाश्चेष्टा धारयत उच्छास्त्रप्रवृत्तेर्निरुणद्धि, यस्यां सत्यामवश्यं समाधिर्भवति, यया च धार्यमाणा मनआदिक्रियाः शास्त्रमतिक्रम्य नार्थान्तरमवगाहन्ते धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥33 ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ 34 ॥

93 तुः सात्त्विक्या भिनत्ति । प्रसङ्गेन कर्तृत्वाद्यभिनिवेशेन फलाकाङ्क्षी सन्यया धृत्या धर्मं काममर्थं च

---

90 तमोगुण से = विशेषदर्शन के विरोधी दोष से आवृत हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म – ऐसा मानती है अर्थात् अदृष्ट अर्थों में सर्वत्र विपरीत ग्रहण करती है तथा सब अर्थों को = सब दृष्ट प्रयोजनों को अर्थात् ज्ञेय पदार्थों को भी विपरीत ही समझती है वह विपर्ययवती बुद्धि 'तामसी' है ॥ 32 ॥

91 अब धृति की त्रिविधता को तीन श्लोकों से कहते हैं :–
[हे पार्थ ! जिस समाधि से व्याप्त धृति के द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है वह धृति 'सात्त्विकी' है ॥ 33 ॥]

92 योग अर्थात् समाधि के द्वारा अव्यभिचारिणी[136] = अविनाभूता अर्थात् समाधि से व्याप्त जिस धृति से प्रयत्नपूर्वक मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं – चेष्टाओं को मनुष्य धारण करता है अर्थात् शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति से रोकता है, जिसके होने पर अवश्य समाधि होती है और जिसके द्वारा धार्यमाण – धारण की हुई मन आदि की क्रियाएँ शास्त्र का अतिक्रमण कर अर्थान्तर में प्रवेश नहीं करती हैं, वह धृति हे पार्थ ! 'सात्त्विकी' है ॥ 33 ॥
[हे अर्जुन[137] ! जिस धृति से तो फलाकाङ्क्षी मनुष्य प्रसङ्गपूर्वक धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है वह धृति हे पार्थ ! 'राजसी' है ॥ 34 ॥]

---

136. समाधि द्वारा ब्रह्म के साथ जीव की एकात्मता के अनुभव से सतत – निरन्तर – नित्य व्याप्त रहने के कारण जो धृति– धारणाशक्ति अन्य किसी विषय को धारण नहीं करती है उसको 'अव्यभिचारिणी' धृति कहा जाता है ।

137. 'अर्जुन' शब्द का अर्थ शुद्धबुद्धि – संस्कृतबुद्धि है अतएव हे अर्जुन ! तुम्हारी बुद्धि भी शुभ कर्मों के अनुष्ठान से और शुभ भावना के उद्रेक से संस्कृत हुई है, फलत: जन्म-मृत्यु के हेतुभूत कर्मों के फल के लिए तुम्हारी आकांक्षा होना सम्भव नहीं है, इसीलिए तुम्हारी धृति राजसी नहीं हो सकती है और फिर तुम मेरी परम भक्ता पृथा के पुत्र भी तो हो अतएव निश्चिन्त रहो – ऐसा आश्वासन देने के लिए भगवान् ने अर्जुन और पार्थ कह कर दो बार सम्बोधन किया है ।

धारयते नित्यं कर्तव्यतयाऽवधारयति न तु मोक्षं कदाचिदपि धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ 34 ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ 35 ॥

94 **स्वप्नं निद्रां भयं त्रासं शोकमिष्टवियोगनिमित्तं संतापं विषादमिन्द्रियावसादं मदमशास्त्रीय-विषयसेवोन्मुखत्वं च यया न विमुञ्चत्येव किंतु सदैव कर्तव्यतया मन्यते दुर्मेधा विवेकासमर्थो धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ 35 ॥**

95 **एवं क्रियाणां कारकाणां च गुणतस्त्रैविध्यमुक्त्वा तत्फलस्य सुखस्य त्रैविध्यं प्रतिजानीते श्लोकार्धेन--**

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।

96 **मे मम वचनाच्छृणु हेयादेयविवेकार्थं व्यासङ्गान्तरनिवारणेन मनः स्थिरीकुरु, हे भरतर्षभेति योग्यता दर्शिता ।**

---

93 'तु' शब्द उक्त धृति को सात्त्विकी धृति से पृथक् करता है । प्रसङ्ग[138]पूर्वक = कर्तृत्वादि के अभिनिवेशपूर्वक फलाकांक्षी = फल की इच्छावाला होकर जिस धृति से मनुष्य धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है अर्थात् नित्य कर्तव्यरूप से अवधारण करता है, कदाचित् भी मोक्ष को धारण -- अवधारण नहीं करता है वह धृति हे पार्थ ! 'राजसी' है ॥ 34 ॥

[हे पार्थ ! जिससे दुर्मेधा = दुष्ट बुद्धिवाला -- सदसद्विवेक में असमर्थ मनुष्य स्वप्न-निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद को भी नहीं छोड़ता है वह धृति 'तामसी' है ॥ 35 ॥]

94 दुर्मेधा[139] = सदसद्विवेक में असमर्थ मनुष्य जिससे स्वप्न-निद्रा, भय-त्रास, शोक-इष्टवियोगनिमित्त संताप, विषाद = इन्द्रियों में अवसाद--शैथिल्य और मद = अशास्त्रीय विषयसेवन में उन्मुखता-- तत्परता -- इनको नहीं छोड़ता है, किन्तु सदैव कर्तव्य ही मानता है वह धृति हे पार्थ ! 'तामसी' है ॥ 35 ॥

95 इसप्रकार क्रियाओं और कारकों की सत्त्वादि गुणों के भेद से त्रिविधता कहकर अब उसके फल सुख की त्रिविधता के विषय में आधे श्लोक से प्रतिज्ञा करते हैं :--

[हे भरतर्षभ ! अब तुम मुझसे तीन प्रकार के सुख को तो[140] सुनो ॥ 36 अ ॥]

96 मुझसे = मेरे वचन से सुनो अर्थात् हेय और उपादेय का विवेक करने के लिए व्यासङ्गान्तर = अन्य प्रवृत्तियों का निवारण कर मन को स्थिर करो, हे भरतर्षभ[141] ! -- इस सम्बोधन से अर्जुन की योग्यता प्रदर्शित की है ॥ 36 अ ॥

---

138. प्रकर्षेण सङ्गःकर्तृत्वाभिनिवेशः प्रसङ्गः = प्रकृष्ट सङ्ग अर्थात् कर्तृत्व का अभिनिवेश 'प्रसङ्ग' है – ऐसा मधुसूदन सरस्वती कहते हैं; तथा 'प्रसङ्गः धर्मादिः सम्बन्धः' -- 'धर्मादि का सम्बन्ध 'प्रसङ्ग' है' -- यह नीलकण्ठ कहते हैं, किन्तु भाष्यकार ने प्रसङ्ग का प्रसिद्ध अर्थ ही ग्रहण किया है, प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग करने पर विनिगमकविरह नामक तर्कदोष की कल्पना कर भाष्यकार ने पूर्वोक्त अर्थों की भाँति 'प्रसङ्ग' शब्द की व्याख्या नहीं की है (द्रष्टव्य – भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

139. दुर्मेधाः = दुष्टा कुत्सिता मेधा बुद्धिर्यस्य स दुर्बुद्धिः; दुष्टा अविवेकबहुला मेधा यस्य स दुर्मेधाः पुरुषः; विवेकासमर्था दुर्मेधाः -- इत्यादि ।

140. 'तु' शब्द क्रिया और कारकों से उनके फलस्वरूप सुख के पृथक्त्व का निर्देश करने के लिए है ।

141. हे भरतर्षभ ! – यह सम्बोधन करते हुए भगवान् यह सूचित करते हैं कि तुम सुख की त्रिविधता को मेरे वचनों से सुनकर सात्त्विक सुख का अनुभव करने के योग्य हो ।

97 सात्त्विकं सुखमाह सार्धेन–

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ 36 ॥

98 यत्र समाधिसुखेऽभ्यासादतिपरिचयाद्रमते परितृप्तो भवति न तु विषयसुख इव सद्य एव । यस्मिन्रममाणश्च दुःखस्य सर्वस्याप्यन्तमवसानं नितरां गच्छति न तु विषयसुख इवान्ते महद् दुःखम् ॥ 36 ॥

99 तदेव विवृणोति–

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ 37 ॥

100 यदग्रे ज्ञानवैराग्यध्यानसमाध्यारम्भेऽत्यन्तायासनिर्वाह्यत्वाद्विषमिव द्वेषविशेषावहं भवति । परिणामे ज्ञानवैराग्यादिपरिपाके त्वमृतोपमं प्रीत्यतिशयास्पदं भवति । आत्मविषया बुद्धिरात्मबुद्धिस्तस्याः प्रसादो निद्रालस्यादिराहित्येन स्वच्छतयाऽवस्थानं ततो जातमात्मबुद्धि-प्रसादजं नतु राजसमिव विषयेन्द्रियसंयोगजं न वा तामसमिव निद्रालस्यादिजम् । ईदृशं यदनात्मबुद्धिनिवृत्त्याऽऽत्मबुद्धिप्रसादजं समाधिसुखं तत्सात्त्विकं प्रोक्तं योगिभिः ।

---

97 सात्त्विक सुख को डेढ़ श्लोक से कहते हैं :–
[जिस समाधिसुख में मनुष्य अभ्यास = अतिपरिचय से रमण करता है और दुःखों के अन्त को प्राप्त होता है ॥ 36 ब ॥]

98 जहाँ = जिस समाधिसुख में मनुष्य अभ्यास = अतिपरिचय होने से रमण करता है – परितृप्त होता है, विषयसुख के समान तुरन्त ही तृप्त नहीं होता है, तथा जिसमें रमण करता हुआ वह सम्पूर्ण दुःख के अन्त – अवसान को नितराम् प्राप्त होता है, विषयसुख के समान अन्त में महान् दुःख को प्राप्त नहीं होता है ॥ 36 ब ॥

99 इसी का विवरण करते हैं –
[जो वह सुख पहले = साधन के आरम्भकाल में यद्यपि विष के सदृश प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में अमृत के समान अनुभूत होता है, वह सुख आत्मविषया बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने के कारण योगियों द्वारा 'सात्त्विक' कहा गया है ॥ 37 ॥]

100 जो सुख पहले = ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधि के आरम्भ में अत्यन्त परिश्रमपूर्वक निर्वाह्य – साध्य होने से यद्यपि विष के सदृश प्रतीत होता है अर्थात् द्वेषविशेष को उत्पन्न करनेवाला होता है, किन्तु परिणाम में = ज्ञान, वैराग्यादि का परिपाक होने पर अमृतोपम[142] = अमृत के समान अत्यन्त प्रीति का विषय होता है तथा आत्मबुद्धिप्रसादज होता है = आत्मबुद्धि[143] – आत्मविषया जो बुद्धि है उसका प्रसाद अर्थात् निद्रा, आलस्यादि से रहित होने से जो स्वच्छरूप से अवस्थान -- स्थिति है उससे उत्पन्न हुआ होता है; राजस सुख के समान विषय और इन्द्रियों के संयोग से

---

142. जैसे कालकूट को दूर करने से प्राप्त हुआ अमृत देवताओं की जरा और मृत्यु का निवर्तक होता है वैसे ही अन्तःकरण के दोषों को दूर करने से प्राप्त हुआ ब्रह्मसुख भी योगियों के लिए जन्ममरणरूप दुःखप्रवाह का नाशक होने से अमृत के समान परमानन्दकर होता है ।

143. आत्मविषया आत्मालम्बना बुद्धिर्वा आत्मबुद्धिः ।

101 अपर आह– अभ्यासादावृत्तेर्यत्र रमते प्रीयते यत्र च दुःखावसानं प्राप्नोति तत्सुखं, तच्च त्रिविधं गुणभेदेन शृण्विति तत्पदाध्याहारेण पूर्वस्य श्लोकस्यान्वयः । यत्तदग्र इत्यादिश्लोकेन तु सात्त्विकसुखलक्षणमिति । भाष्यकाराभिप्रायोऽप्येवम् ॥ 37 ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ 38 ॥

102 विषयाणामिन्द्रियाणां च संयोगाज्जातं न त्वात्मबुद्धिप्रसादाद्यत्तदतिप्रसिद्धं स्रक्चन्दनवनिता-सङ्गादिसुखमग्रे प्रथमारम्भे मनःसंयमादिक्लेशाभावादमृतोपमं परिणामे त्वैहिकपारत्रिक-दुःखावहत्वाद्विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ 38 ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ 39 ॥

103 अग्रो प्रथमारम्भे चानुबन्धे परिणामे च यत्सुखमात्मनो मोहकरं, निद्रालस्ये प्रसिद्धे, प्रमादः

उत्पन्न होनेवाला नहीं होता है और न तामस सुख के समान निद्रा, आलस्यादि से ही उत्पन्न हुआ होता है । ऐसा जो अनात्मबुद्धि की निवृत्ति द्वारा आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ समाधिसुख है उसको योगियों ने 'सात्त्विक' कहा है ।

101 अन्य व्याख्याकार कहते हैं -- अभ्यास = आवृत्ति से जिसमें रमण करता है – प्रसन्न होता है और जिसमें दुःख के अवसान -- अन्त को प्राप्त करता है वह 'सुख' है और वह गुणभेद से तीन प्रकार का है, उसको सुनो -- इसप्रकार 'तत्' पद के अध्याहार से पूर्वश्लोक का अन्वय है । 'यत्तदग्रे' – इत्यादि श्लोक से तो 'सात्त्विक' सुख का लक्षण कहा गया है । भाष्यकार का अभिप्राय भी ऐसा ही है ॥ 37 ॥

[जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होता है, वह यद्यपि भोगारम्भ में अमृत के समान प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में विष के सदृश होता है, अतएव वह सुख 'राजस' कहा गया है ॥ 38 ॥]

102 विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न हुआ, न कि आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ, जो वह अतिप्रसिद्ध स्रक्, चन्दन, वनिता-स्त्री आदि के सङ्ग से होनेवाला सुख अग्रे – पहले अर्थात् भोग के प्रथम आरम्भ में मनःसंयमादि क्लेश के अभाव के कारण यद्यपि अमृत के समान प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में ऐहिक – लौकिक और पारत्रिक -- पारलौकिक दुःखों की प्राप्ति करानेवाला होने से विष के सदृश ही होता है[144] अतएव वह सुख 'राजस' कहा गया है ॥ 38 ॥

[जो सुख भोगारम्भ में और अनुबन्ध-परिणाम में भी आत्मा को मोहनेवाला होता है वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख 'तामस' कहा गया है ॥ 39 ॥]

103 अग्रे = पहले अर्थात् भोग के प्रथम आरम्भ में और अनुबन्ध – परिणाम में भी जो सुख आत्मा

144. अभिप्राय यह है कि बल = शारीरिक सामर्थ्य, वीर्य = पराक्रम द्वारा प्राप्त हुआ यश, रूप = शरीरसौन्दर्य, प्रज्ञा = वेदादि शास्त्रों के अर्थ को ग्रहण करने की सामर्थ्य, मेधा = शास्त्रों के अर्थ को ग्रहण करने के पश्चात् उसको स्मृति में धारण करने की शक्ति, धन = गोहिरण्यादि और उत्साह = कार्य करने के लिए उपक्रमादि – इन सबकी वैषयिक सुख से हानि होने के कारण इहलोक में विष के समान दुःख भोगना पड़ता है और यह वैषयिक सुख प्रायः अधर्ममूलक होने के कारण नरकादि का भी हेतु होने से इहलोक के भोग की समाप्ति के पश्चात् परलोक में भी विष के सदृश ही अत्यन्त दुःखदायक होता है (शाङ्करभाष्य और आनन्दगिरिटीका) ।

कर्तव्यार्थविधानमन्तरेण मनोराज्यमात्रं, तेभ्य एवोत्तिष्ठति नतु सात्त्विकमिव बुद्धिप्रसादजं न वा राजसमिव विषयेन्द्रियसंयोगजं, तन्निद्रालस्यप्रमादोत्थं तामसं सुखमुदाहृतम् ॥ 39 ॥

104 इदानीमनुक्तमपि संगृह्णन्प्रकरणार्थमुपसंहरति भगवान्–

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥ 40 ॥

105 सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिस्ततो जातैर्वैषम्यावस्थां प्राप्तैः प्रकृतिजैर्नतु साक्षाद् गुणानां प्रकृतिजत्वमस्ति तद्रूपत्वात् । तस्माद्वैषम्यावस्थैव तदुत्पत्तिरुपचारात् । अथवा प्रकृतिर्माया तत्प्रभवैस्तत्कल्पितैः प्रकृतिजैरेभिस्त्रिभिर्गुणैर्बन्धनहेतुभिः सत्त्वादिभिर्मुक्तं हीनं सत्त्वं प्राणिजात-

को मोह उत्पन्न करनेवाला होता है, इसके अतिरिक्त निद्रा और आलस्य तो प्रसिद्ध ही हैं तथा 'प्रमाद' कर्तव्य अर्थ का निश्चय किये बिना मनोराज्यमात्र है – उनसे ही उत्थित – उत्पन्न होता है, न कि सात्त्विक सुख के समान बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है और न राजस सुख के समान ही विषय और इन्द्रियों के संयोग से ही उत्पन्न होता है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख 'तामस' कहा गया है ॥ 39 ॥

104 अब अनुक्त विषयों का भी संग्रह करते हुए भगवान् प्रकरण के अर्थ का उपसंहार करते हैं : – [पृथिवी पर अथवा स्वर्ग में अथवा देवताओं में भी ऐसा वह कोई भी प्राणी अथवा अप्राणी नहीं है जो कि इन प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्वादि तीन गुणों से मुक्त – रहित हो ॥ 40 ॥]

105 सत्त्व, रज और तम – इन तीन गुणों की साम्यावस्था 'प्रकृति[145]' है, उससे उत्पन्न हुए = विषमावस्था को प्राप्त हुए प्रकृतिज; गुणों का साक्षात् प्रकृतिजत्व नहीं है, क्योंकि वे प्रकृतिरूप ही हैं, अतः उनकी विषमावस्था ही उपचार से उनकी उत्पत्ति है; अथवा – 'प्रकृति' माया है उससे प्रभूत-- कल्पित प्रकृतिज-प्रकृतिजनित बन्धन के हेतुभूत इन सत्त्वादि तीन गुणों से मुक्त अर्थात् हीन सत्त्व = प्राणी अथवा अप्राणी जो हो वह पृथिवी पर मनुष्यादि में वा दिवि[146] = अथवा स्वर्ग

145. प्रकरोतीति प्रकृतिः = जो कार्यों को उत्पन्न करती है वह 'प्रकृति' है; सत्त्व, रज और तम – इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम 'प्रकृति' है (सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः – सांख्यसूत्र, 1.61; गौडपादभाष्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी) । साम्यावस्था का अर्थ अन्यूनतया अनधिकावस्था है अर्थात् तीनों गुणों का अन्यूनाधिक भाव से रहना ही सन्तुलित-साम्यावस्था है । साम्यावस्था में तीनों सत्त्वादि गुणों की अकार्यावस्था रहती है, कार्यावस्था तो उन सत्त्वादि गुणों की विषमावस्था होने पर ही होती है । यदि कार्यावस्था में गुणों की विषमावस्था होती है, तो उस समय गुणों की साम्यावस्था नष्ट होने से 'प्रकृति' ही नष्ट होनी चाहिए, क्योंकि गुणों की साम्यावस्था को ही 'प्रकृति' कहते हैं ? इसका समाधान यह है कि प्रकृति गुणों की एक अवस्थामात्र नहीं है, अपितु वह स्वयं गुणत्रय ही है (सत्त्वादीनामतद्धर्मत्त्वं तद्रूपत्वात् – सांख्यसूत्र 6.39) अर्थात् अकार्यावस्थास्वरूप साम्यावस्था से उपलक्षित सत्त्वादि तीनों गुण ही 'प्रकृति' हैं (अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्यं प्रकृतिरित्यर्थः – सांख्यप्रवचनभाष्य, सांख्यसूत्र – 1.61); इसीप्रकार कार्यावस्थास्वरूप विषमावस्था से भी उपलक्षित सत्त्वादि तीनों गुण ही 'प्रकृति' है (वैषम्यावस्थायामपि प्रकृतित्वसिद्धय उपलक्षितमित्युक्तम् – सांख्यप्रवचनभाष्य, वही) । अतएव सत्त्वादि गुणों का साक्षात् प्रकृतिजत्व नहीं है, उन गुणों की प्रकृति से उत्पत्ति उपचार से ही उन सत्त्वादि गुणों की विषमावस्था है ।

146. श्लोकस्थ 'वा दिवि' - इन दो पदों में सन्धि कर 'अदिवि' – पद का अर्थ अन्य व्याख्याकार ने इसप्रकार किया है – दिव्-स्वर्ग = परलोक के सदृश होने के कारण 'अदिवि' पद स्वर्ग के साथ पातालादिपर भी है, जैसे 'अब्राह्मण' पद है; किन्तु आचार्यों ने इसप्रकार की व्याख्या नहीं की है, कारण कि श्लोक में तृतीय 'वा' शब्द नहीं है, पृथिवी के विवरात्मक होने से पातालादि भी 'पृथिवी' शब्द से ही ग्रहण हो सकते हैं और प्रयोजनशून्य क्लिष्ट कल्पना करना अयुक्त है ।

मप्राणि वा यत्स्यात्तत्पुनः पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि देवेषु वा नास्ति क्वापि गुणत्रय-रहितमनात्मवस्तु नास्तीत्यर्थः ॥ 40 ॥

106 तदेवं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकः क्रियाकारकफललक्षणः सर्वः संसारो मिथ्याज्ञानकल्पितोऽनर्थश्चतुर्दशाध्यायोक्त उपसंहृतः । पञ्चदशे च वृक्षरूपककल्पनया तमुक्त्वा–

'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ॥'

इत्यसङ्गशस्त्रेण विषयवैराग्येण तस्य च्छेदनं कृत्वा परमात्माऽन्वेष्टव्य इत्युक्तम् । तत्र सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वे त्रिगुणात्मकस्य संसारवृक्षस्य कथं छेदोऽसङ्गशस्त्रस्यैवानुपपत्तेरित्याशङ्कायां स्वस्वाधिकारविहितैर्वर्णाश्रमधर्मैः परितोष्यमाणात्परमेश्वरादसङ्गशस्त्रलाभ इति वदितुमेतावानेव सर्ववेदार्थः परमपुरुषार्थमिच्छद्भिरनुष्ठेय इति च गीताशास्त्रार्थ उपसंहर्तव्य इत्येवमर्थमुत्तरं प्रकरणमारभ्यते । तत्रेदं सूत्रम्–

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ 41 ॥

107 त्रयाणां समासकरणं द्विजत्वेन वेदाध्ययनादितुल्यधर्मत्वकथनार्थम् । शूद्राणामिति पृथक्करणमेक-

---

में, अथवा देवताओं में भी नहीं है अर्थात् तीनों गुणों से रहित कोई भी अनात्मवस्तु कहीं भी नहीं हैं [147] ॥ 40 ॥

106 इसप्रकार चौदहवें अध्याय में उक्त 'सत्त्व, रज और तम – गुणत्रयात्मक, क्रियाओं और कारकों का फलस्वरूप सम्पूर्ण संसार मिथ्याज्ञान से कल्पित और अनर्थ ही है' – इसका उपसंहार हुआ । पन्द्रहवें अध्याय में उसको वृक्षरूपक कल्पना से कहकर –
"जिसकी जड़ें अत्यन्त रूढ हो गई हैं ऐसे इस अश्वत्थ वृक्ष को असङ्गशस्त्र से दृढ़तापूर्वक काटकर पुनः उस पद का अन्वेषण करना चाहिए, जहाँ गये हुए पुरुष फिर लौटकर नहीं आते हैं" (गीता, 15.3 ब – 4 अ) ।
उक्त श्लोक के अनुसार असङ्गशस्त्र अर्थात् विषयों के वैराग्य द्वारा उसका छेदन कर परमात्मा का अन्वेषण करना चाहिए– यह कहा है । उसमें 'यदि सब कुछ त्रिगुणात्मक है, तो त्रिगुणात्मक संसारवृक्ष का असङ्गशस्त्र से ही अनुपपत्ति होने के कारण किसप्रकार छेद-उच्छेद हो सकता है' ? – ऐसी आशंका होने पर 'अपने-अपने अधिकार के अनुसार विहित वर्णाश्रमधर्मों के द्वारा परितुष्ट किये हुए परमेश्वर से ही असङ्गशस्त्र का लाभ हो सकता है' – यह कहने के लिए 'परम पुरुषार्थ की इच्छावालों को सब वेदों के इतने ही अर्थ का अनुष्ठान करना चाहिए' और 'गीताशास्त्र के अर्थ का उपसंहार करना चाहिए'– इसी के लिए उत्तर प्रकरण आरम्भ किया जाता है । उसमें यह सूत्रभूत श्लोक है–
[हे परन्तप । स्वभाव से उत्पन्न गुणों के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म पृथक्-प्रथक् विभक्त हुए हैं ॥ 41 ॥]

---

147. भाव यह है कि क्रियाओं और कारकों का फलस्वरूप सम्पूर्ण संसार भी सत्त्व, रज और तम – गुणत्रयात्मक है, अविद्या से परिकल्पित है, समूल अनर्थ है अतएव आत्मज्ञान से अविद्या की निवृत्ति द्वारा संसार का निवारण करना चाहिए ।

जातित्वेन वेदानधिकारित्वज्ञापनार्थम् । तथा च वसिष्ठः– 'चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां त्रयो वर्णा द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यास्तेषाम्–

'मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
अत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥' इति ।

तथा प्रतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं स्थानविशेषाच्च ।

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥'

इत्यपि निगमो भवति । गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कारो विज्ञायत इति । शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिरिति च गौतमः ।

108 हे परंतप शत्रुतापन तेषां चतुर्णामपि वर्णानां कर्माणि प्रकर्षेण विभक्तानीतरेतरविभागेन व्यवस्थितानि । कैः स्वभावप्रभवैर्गुणैः ब्राह्मण्यादिस्वभावस्य प्रभवैर्हेतुभूतैर्गुणैः सत्त्वादिभिः । तथाहि– ब्राह्मणस्वभावस्य सत्त्वगुण एव प्रभवः प्रशान्तत्वात् । क्षत्रियस्वभावस्य सत्त्वोपसर्जनं रज ईश्वरस्वभावत्वात् । वैश्यस्वभावस्य तमउपसर्जनं रज ईहास्वभावत्वात् । शूद्रस्वभावस्य रजउपसर्जनं तमो मूढस्वभावत्वात् ।

---

107 प्रकृत में 'ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्' – यह जो तीन पदों का समास किया गया है वह द्विज होने से उनकी वेदाध्ययन आदि तुल्यधर्मता का कथन करने के लिए है । 'शूद्राणाम्' – इस पद का पृथक् प्रयोग एकजाति होने से उनका वेद में अनधिकार सूचित करने के लिए है । इसीप्रकार वसिष्ठ ने भी कहा है – "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र – ये चार वर्ण हैं, उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – ये तीन वर्ण द्विजाति हैं, क्योंकि उनका 'प्रथम जन्म माता से होता है और द्वितीय जन्म मौञ्जीबन्धन होने पर होता है, इस समय उनकी माता सावित्री होती है और पिता 'आचार्य' कहा जाता है' । तथा स्थानविशेष के कारण चारों वर्णों की प्रकृति भिन्न-भिन्न हैं, – ऐसा वेद में कहा है –
"ब्राह्मण इस ब्रह्मा का मुख था, क्षत्रिय दोनों भुजाएँ थी, जो वैश्य है वह इसकी जघाएँ हैं तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ है" ।
'गायत्री से ब्राह्मण को रचा, त्रिष्टुप् से क्षत्रिय, जगती से वैश्य को उत्पन्न किया, किन्तु शूद्र को किसी भी छन्द से उत्पन्न नहीं किया अतएव उसको संस्कारहीन जाना जाता है' और 'शूद्र चतुर्थ वर्ण है और एकजाति है' – ऐसा गौतम का भी कथन है ।

108 हे परन्तप[148] ! हे शत्रुतापन ! उन चारों ही वर्णों के कर्म प्रविभक्त = प्र – प्रकर्ष से विभक्त = एक-दूसरे के विभाग से व्यवस्थित हैं । किनसे विभक्त हैं ? स्वभाव से उत्पन्न गुणों से प्रविभक्त – व्यवस्थित हैं अर्थात् ब्राह्मणादि स्वभाव के प्रभव – हेतुभूत सत्त्वादि गुणों से विभक्त हैं, जैसे – ब्राह्मणस्वभाव का प्रभव – हेतु सत्त्वगुण ही है, क्योंकि दोनों ही प्रशान्त – अत्यन्त शान्त हैं; क्षत्रियस्वभाव का प्रभव सत्त्वोपसर्जन -- सत्त्व की गौणतापूर्वक रजोगुण है, क्योंकि वह ईश्वर--शक्तिसम्पन्नस्वभाव है; वैश्यस्वभाव का प्रभव तमोगुण की गौणतापूर्वक रजोगुण है, क्योंकि वह ईहा -- चेष्टाशील होता है; तथा शूद्रस्वभाव का हेतु रजोगुण की गौणतापूर्वक तमोगुण है, क्योंकि वह मूढस्वभाव होता है ।

---

148. क्षत्रियस्वभाव से उत्पन्न शत्रुतापनरूप कर्म का त्याग करना संभव नहीं है, तुम उसको अङ्गीकार करने के योग्य हो – यह सूचित करने के लिए भगवान् ने अर्जुन को हे परन्तप ! – यह सम्बोधन किया है ।

109 अथवा मायाख्या प्रकृतिः स्वभावस्तत उपादानात्प्रभवो येषां तैः । प्राग्भवीयः संस्कारो वर्तमाने भवे स्वफलाभिमुखत्वेनाभिव्यक्तः स्वभावः स निमित्तत्वेन प्रभवो येषामिति वा । शास्त्रस्यापि पुरुषस्वभावसापेक्षत्वाच्छास्त्रेण प्रविभक्तान्यपि गुणैः प्रविभक्तानीत्युच्यन्ते । आख्यातानामर्थं बोधयतामधिकारिशक्तिः सहकारिणीति न्यायात् । तथा हि गौतमः – 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानं, ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः । पूर्वेषु नियमस्तु । राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानां न्याय्यदण्डत्वं, वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यं कुसीदं च । शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिस्तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचमाचमनार्थे पाणिपादप्रक्षालनमेवैके श्राद्धकर्म भृत्यभरणं स्वदारवृत्तिः परिचर्योत्तरेषाम्' इति ।

110 अत्र साधारणा असाधारणाश्च धर्मा उक्ताः । पूर्वेषु अध्ययनेज्यादानेषु नियमोऽवश्यकर्तव्यत्वं नतु प्रवचनयाजनप्रतिग्रहेषु वृत्त्यर्थत्वादित्यर्थः । वणिग्वाणिज्यं, कुसीदं वृद्ध्यै धनप्रयोगः । उत्तरेषामिति श्रेष्ठानां द्विजातीनामित्यर्थः । वसिष्ठोऽपि– 'षट्कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति । त्रीणि राजन्यस्याध्ययनं यज्ञो दानं च शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मस्तेन जीवेत् । एतान्येव त्रीणि वैश्यस्य कृषिवणिक्पाशुपाल्यं कुसीदं च । तेषां परिचर्या

109 अथवा, – 'माया' संज्ञावाली प्रकृति ही स्वभाव है, उस उपादान से ही प्रभव – उत्पत्ति हुई है जिनकी उन गुणों से; अथवा -- पूर्वजन्म का संस्कार वर्तमान जन्म में अपने फल की अभिमुखतापूर्वक अभिव्यक्त होने पर स्वभाव होता है, वह निमित्तरूप से प्रभव-- उत्पत्तिस्थान है जिनका उन गुणों से; शास्त्र भी पुरुषस्वभाव सापेक्ष होने से शास्त्र से प्रविभक्त हुए भी कर्म प्रविभक्त कहे जाते हैं, इसमें 'आख्यातानामर्थं बोधयतामधिकारिशक्तिः सहकारिणी' = 'अधिकारी की शक्ति अर्थ का बोधन करनेवाले आख्यातों की सहकारिणी होती है'– यह न्याय प्रमाण है । ऐसा ही गौतम ने कहा है -- 'अध्ययन, इज्या, और दान – ये द्विजातियों के धर्म हैं; प्रवचन, याजन-यज्ञ कराना और प्रतिग्रह – दानग्रहण करना-- ये ब्राह्मण के अधिक धर्म हैं । पूर्व धर्मों में तो नियम-विधि है । सब प्राणियों की रक्षा करना और न्यायानुसार दण्ड देना – ये क्षत्रिय के अधिक धर्म हैं । कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और कुसीद-व्याज लेना-- ये वैश्य के अधिक धर्म हैं । शूद्र चतुर्थ वर्ण है और एकजाति है, उसके भी सत्य, अक्रोध, शौच और आचमन के लिए हाथ-पैर धोना -- ये धर्म हैं; किन्हीं का कथन है कि श्राद्धकर्म, भृत्यभरण, स्वदारवृत्ति औ उत्तर वर्णों की परिचर्या -- सेवा करना– ये शूद्र के धर्म हैं ।'

110 यहाँ साधारण और असाधारण धर्म कहे गये हैं । पूर्व में उक्त अध्ययन, इज्या और दानरूप जो कर्म हैं उनमें नियम अर्थात् अवश्यकर्तव्यता है, किन्तु प्रवचन, याजन और प्रतिग्रह में नियम नहीं है, क्योंकि ये कर्म वृत्ति -- आजीविका के लिए ही होते हैं -- यह अर्थ है । 'वणिज्' वाणिज्य – व्यापार को कहते हैं, 'कुसीद' वृद्धि के लिए धन का प्रयोग करना है । 'उत्तरेषाम्' – इसका अर्थ है 'श्रेष्ठानां द्विजातीनाम्' = 'श्रेष्ठ द्विजातियों की' परिचर्या करना शूद्रधर्म है । वसिष्ठ ने भी कहा है -- 'ब्रह्मण के छः कर्म हैं -- अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ, याजन, दान और प्रतिग्रह । क्षत्रिय के तीन कर्म हैं – अध्ययन, यज्ञ और दान; शस्त्र से प्रजा का पालन करना – यह क्षत्रिय का स्वधर्म है, इससे ही क्षत्रिय को अपनी जीविका का निर्वाह करना चाहिए । अध्ययन, यज्ञ और दान -- ये ही तीन वैश्य के भी धर्म हैं, इनके अतिरिक्त कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और कुसीद-- ये वैश्य के स्वधर्म हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य -- इन सबकी परिचर्या-सेवा करना शूद्र का धर्म

शूद्रस्य' इति। आपस्तम्बोऽपि– 'चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्। स्वकर्म ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रतिग्रहणं दायाद्यं शिलोञ्छाद्यन्यच्चा–परिगृहीतम्। एतान्येव क्षत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहणानीति परिहाय युद्धदण्डाधिकानि। क्षत्रियवद्वैश्यस्य दण्डयुद्धवर्जं कृषिगोरक्ष्यवाणिज्याधिकम्। परिचर्या शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम्' इति।

111 मनुरपि–

'अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समादिशत्॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥' इति

एवं चतुर्णामपि वर्णानां गुणभेदेन कर्माणि प्रविभक्तानि॥ 41॥

112 तत्र ब्राह्मणस्य स्वाभाविकगुणकृतानि कर्माण्याह–

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ 42॥

है'। आपस्तम्ब ने भी कहा है – 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-- ये चार वर्ण हैं, इनमें पूर्व-पूर्व जन्म से श्रेष्ठ है। ब्राह्मण के स्वकर्म अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ, याजन, दान, प्रतिग्रहण, दायाद्य – पैतृक सम्पत्ति को स्वीकार करना, शिलोञ्छवृत्ति से निर्वाह करना और अपरिग्रहपूर्वक अन्य कर्म करना हैं। क्षत्रिय के भी अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह – इन धर्मों को छोड़कर ये ही उक्त धर्म हैं, इनके अतिरिक्त क्षत्रिय के युद्ध और दण्ड – ये स्वधर्म हैं। वैश्य के भी दण्ड और युद्ध – इन कर्मों को छोड़कर क्षत्रिय के समान ही धर्म हैं, इनके अतिरिक्त उसके कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य – ये स्वधर्म हैं। अन्य वर्णों की परिचर्या – सेवन करना – यह शूद्र का धर्म है'।

111 मनु ने भी कहा है –
"अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह --- ये छः कर्म ब्राह्मणों के लिए नियत किये गये हैं। प्रजा की रक्षा करना, दान, इज्या, अध्ययन, विषयों में आसक्ति न होना – संक्षेप में ये कर्म क्षत्रिय के हैं। पशुओं का पालन, दान, इज्या, अध्ययन, वाणिज्य – व्यवसाय, कुसीद और कृषि – ये कर्म वैश्य के हैं। ईश्वर ने शूद्र के लिए एक ही कर्म का आदेश किया है कि वह इन उत्तर तीन वर्णों की ईर्ष्यारहित होकर सेवा शुश्रूषा करे" (मनुस्मृति, 1.88-89)।
इसप्रकार चारों ही वर्णों के गुणभेद से कर्म विभक्त किये गये हैं॥ 41॥

112 उनमें ब्राह्मण के स्वाभाविक गुणों द्वारा होनेवाले कर्मों को कहते हैं :--
[शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति-क्षमा, आर्जव-सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता – ये ब्राह्मण के स्वभाविक कर्म हैं॥ 42॥]

113 शमोऽन्तःकरणोपरमः । दमो बाह्यकरणोपरमः प्रागुक्तः । तपः शारीरादि देवद्विजगुरुप्राज्ञेत्यादावुक्तम् । शौचमपि बाह्याभ्यन्तरभेदेन प्रागुक्तम् । क्षान्तिः क्षमाऽऽक्रुष्टस्य ताडितस्य वा मनसि विकाररहित्यं प्राग्व्याख्यातम् । आर्जवमकौटिल्यं प्रागुक्तम् । ज्ञानं साङ्गवेदतदर्थविषयम् । विज्ञानं कर्मकाण्डे यज्ञादिकर्मकौशल्यं ब्रह्मकाण्डे ब्रह्मात्मैक्यानुभवः । आस्तिक्यं सात्त्विकी श्रद्धा प्रागुक्ता । एतच्छमादिनवकं स्वभावजं सत्त्वगुणस्वभावकृतं ब्रह्मकर्म ब्राह्मणजातेः कर्म । यद्यपि चतुर्णामपि वर्णानां सात्त्विकावस्थायामेते धर्माः संभवन्ति तथाऽपि बाहुल्येन ब्राह्मणे भवन्ति सत्त्वस्वभावत्वात्तस्य । सत्त्वोद्रेकवशेन त्वन्यत्रापि कदाचिद्भवन्तीति शास्त्रान्तरे साधारणधर्मतयोक्ताः । तथा च विष्णुः–

'क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः ।
अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् ।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ॥' इति ।

सामान्यश्चतुर्णामपि वर्णानां तथा प्रायेण चतुर्णामप्याश्रमाणामित्यर्थः ।

114 तथा बृहस्पतिः–

'दया क्षमाऽनसूया च शौचानायासमङ्गलम् ।
अकार्पण्यमस्पृहत्वं सर्वसाधारणानि च ॥

---

113 'शम' अन्त:करण की उपरति है, 'दम' बाह्य इन्द्रियों की उपरति है जिसको पूर्व में कहा जा चुका है, 'तप' शारीरादि हैं जिनको 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्' (गीता, 17.14-16) – इत्यादि में कहा गया है, 'शौच' बाह्य और आभ्यन्तर भेद से पूर्व में कहा गया है, 'क्षान्ति' क्षमा है -- आक्रुष्ट अथवा ताडित हुए पुरुष का मन में विकाररहित होना है जिसकी पूर्व में व्याख्या की जा चुकी है, 'आर्जव' अकुटिलता है जिसको पूर्व में कहा जा चुका है, 'ज्ञान' अङ्गों सहित वेद और उसके अर्थ को विषय करनेवाला है, 'विज्ञान' कर्मकाण्ड में उक्त यज्ञादि कर्मों में कुशलता और ब्रह्मकाण्ड – ज्ञानकाण्ड में उपदिष्ट ब्रह्म और आत्मा की एकता का अनुभव है, 'आस्तिक्य' पूर्वोक्त सात्त्विकी श्रद्धा है । ये शमादि नौ स्वभावज = स्वाभाविक – सत्त्वगुण स्वभाव से होनेवाले 'ब्रह्मकर्म' = ब्राह्मण जाति के कर्म हैं । यद्यपि सात्त्विक अवस्था में ये धर्म चारों ही वर्णों के हो सकते हैं, तथापि ये बहुलता से ब्राह्मण में ही होते हैं, क्योंकि वह सत्त्वस्वभाव होता है । सत्त्वगुण के उद्रेक-उपचय-आधिक्य से तो ये गुण कदाचित् अन्यत्र = अन्य वर्णों में भी होते हैं – इसप्रकार अन्य शास्त्रों में इनको साधारण धर्मरूप से कहा गया है । ऐसा ही विष्णु ने कहा है –

'क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा, गुरुशुश्रूषा, तीर्थसेवन, दया, आर्जव -- सरलता, लोभशून्यता, देवता और ब्राह्मणों का पूजन और असूयारहित होना– ये सामान्य धर्म कहे जाते हैं ।' यहाँ 'सामान्य' का अर्थ है कि ये धर्म चारों वर्णों में तथा प्रायः चारों आश्रमों में भी 'सामान्य' हैं ।

114 इसीप्रकार बृहस्पति ने भी कहा है :--

''दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य और अस्पृहत्व – ये सर्वसाधारण धर्म हैं । पर – अन्य हो अथवा बन्धुवर्ग हो, मित्र हो अथवा द्वेष्य – शत्रु हो, उनके आपत्तिग्रस्त होने पर सदा उनकी रक्षा करनी चाहिए -- यह 'दया' कही जाती है । बाह्य अथवा आध्यात्मिक --

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा ।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता ॥
बाह्ये चाऽऽध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित् ।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥
न गुणान्गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
नान्यदोषेषु रमते साऽनसूया प्रकीर्तिता ॥
अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिर्गुणैः ।
स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत्प्रकीर्तितम् ।
शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनापि कर्मणा ।
अत्यन्तं तन्न कर्तव्यमनायासः स उच्यते ॥
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविसर्जनम् ।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
स्तोकादपि प्रदातव्यमदीनेनान्तरात्मना ।
अहन्यहनि यत्किंचिदकार्पण्यं हि तत्स्मृतम् ॥
यथोत्पन्नेन संतोषः कर्तव्यो ह्यर्थवस्तुना ।
परस्याचिन्तयित्वाऽर्थं साऽस्पृहा परिकीर्तिता ॥' इति ।

एत एवाष्टावात्मगुणत्वेन गौतमेन पठिताः-- 'अथाष्टावात्मगुणा दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहा' इति । तथा महाभारते--

'सत्यं दमस्तपः शौचं संतोषो ह्रीः क्षमाऽऽर्जवम् ।
ज्ञानं शमो दया ध्यानमेष धर्मः सनातनः ॥

आन्तरिक दुःख उत्पन्न कर दिये जाने पर क्वचित् न क्रोध करता है अथवा न आघात ही करता है -- वह 'क्षमा' कही गई है । जो गुणी के गुणों का हनन नहीं करता है, अल्प गुणवालों की भी स्तुति करता है और दूसरों के दोषों में सुख ही मानता है -- यह 'अनसूया' कहीं जाती है । अभक्ष्य का परिहार -- त्याग, गुणहीनों का संसर्ग न करना और स्वधर्म में व्यवस्थित रहना -- यह 'शौच' कहा गया है । जिस अत्यन्त शुभ भी कर्म से शरीर को पीडा हो उसको नहीं करना चाहिए -- यह 'अनायास' कहा जाता है । नित्य -- सर्वदा प्रशस्त-श्रेष्ठ आचरण करना और अप्रशस्त -- निन्द्य आचरण का त्याग करना -- इसको तत्त्वदर्शी मुनियों ने 'मंगल' कहा है । अपने पास थोडी ही वस्तु हो तो भी दीनताशून्य हृदय से उसमें से दिन -- प्रतिदिन जो कुछ भी दे दी जाय -- वह 'अकार्पण्य' कहा जाता है । दूसरे के द्रव्य का चिन्तन न करते हुए अपने को जो कुछ वस्तु भी प्राप्त हो उसी से संतोष करना चाहिए -- यह 'अस्पृहा' कही गई है ।"

इन आठ गुणों को ही गौतम ने आत्मगुणरूप से कहा है -- 'आत्मा के आठ गुण हैं -- सब प्राणियों के प्रति दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य और अस्पृहा' । इसी प्रकार महाभारत में कहा है --

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं मनसो दमनं दमः ।
तपः स्वधर्मवर्तित्वं शौचं संकरवर्जनम् ।
संतोषो विषयत्यागो ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वमार्जवं समचित्तता ॥
ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्तप्रशान्तता ।
दया भूतहितैषित्वं ध्यानं निर्विषयं मनः ॥' इति ।

115 देवलः--

'शौचं दानं तपः श्रद्धा गुरुसेवा क्षमा दया ।
विज्ञानं विनयः सत्यमिति धर्मसमुच्चयः ॥ इति ।

तथा--

'व्रतोपवासनियमैः शरीरोत्तापनं तपः ।
प्रत्ययो धर्मकार्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता ॥
नास्ति ह्यश्रद्दधानस्य कर्मकृत्यप्रयोजनम् ।
यत्पुनर्वैदिकीनां च लौकिकीनां च सर्वशः ॥
धारणं सर्वविद्यानां विज्ञानमिति कीर्त्यते ।
विनयं द्विविधं प्राहुः शश्वद्दमशमाविति ॥' इति ।

शेषं व्याख्यातप्रायमिति वचनानि न लिखितानि । याज्ञवल्क्यः--

'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम् ॥' इति ।

इयं च सर्वा दैवी संपत्प्राग्व्याख्याता ब्राह्मणस्य स्वाभाविकीतरेषां नैमित्तिकीति न विरोधः ॥ 42 ॥

"सत्य, दम, तप शौच, सन्तोष, ह्री-लज्जा, क्षमा, आर्जव-सरलता, ज्ञान, शम, दया और ध्यान -- ये सनातन धर्म हैं । 'सत्य' प्राणियों के हित को कहा गया है, 'दम' मन का दमन करना है, 'तप' स्वधर्म में तत्पर रहना है, 'शौच' संकरता का त्याग है, 'सन्तोष' विषय का त्याग है, 'ह्री' न करने योग्य कर्म से दूर रहना है, 'क्षमा' द्वन्द्वसहिष्णुता है, 'आर्जव' समचित्तता है, 'ज्ञान' तत्त्वार्थ का संबोध है, 'शम' चित्त की अत्यन्त शान्ति है, 'दया' प्राणियों का हितैषी होना है और 'ध्यान' मन का निर्विषय होना है ।"

115 देवल ऋषि कहते हैं :--

'शौच, दान, तप, श्रद्धा, गुरुसेवा, क्षमा, दया, विज्ञान विनय और सत्य -- यह धर्म का समुच्चय है ।"

तथा --

"व्रत और उपवास के नियमों से शरीर को संतप्त करना 'तप' है, धर्मकार्यों में विश्वास रखना 'श्रद्धा' कही जाती है, क्योंकि जो श्रद्धाहीन है उसको धर्मसम्बन्धी कृत्यों से प्रयोजन नहीं होता है । वैदिकी और लौकिकी -- सब विद्याओं का जो सर्वशः धारण करना है वह 'विज्ञान' कहा जाता है । निरन्तर शम और दम रखना -- यह दो प्रकार का 'विनय' कहा गया है ।"

116 क्षत्रियस्य गुणस्वभावकृतानि कर्माण्याह–

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्[149] ।
दानमीश्वरभावश्च[150] क्षत्रकर्म स्वभावजम् ॥ 43 ॥

117 शौर्यं विक्रमो बलवत्तरानपि प्रहर्तुं प्रवृत्तिः । तेजः प्रागल्भ्यं परैरधर्षणीयत्वम् । धृतिर्महत्यामपि विपदि देहेन्द्रियसंघातस्यानवसादः । दाक्ष्यं दक्षभावः सहसा प्रत्युत्पन्नेषु कार्येष्वव्यामोहेन प्रवृत्तिः । युद्धे चाप्यपलायनमपराङ्मुखीभावः । दानमसंकोचेन वित्तेषु स्वस्वत्वपरित्यागेन परस्वत्वापादनम् । ईश्वरभावः प्रजापालनार्थमीशितव्येषु प्रभुशक्तिप्रकटीकरणं च । क्षत्रकर्म क्षत्रियजातेर्विहितं कर्म, स्वभावजं सत्त्वोपसर्जनरजोगुणस्वभावजम् ॥ 43 ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ 44 ॥

118 कृषिरन्नोत्पत्त्यर्थं भूमेर्विलेखनम् । गोरक्षस्य भावो गौरक्ष्यं पाशुपाल्यम् । वाणिज्यं वणिजः कर्म क्रयविक्रयादिलक्षणं, कुसीदमप्यत्रान्तर्गमनीयम् । वैश्यकर्म वैश्यजातेः कर्म, स्वभावजं तमउप-

---

शेष धर्मों की व्याख्या तो प्रायः हो चुकी है अतएव उन अविशिष्ट धर्मों की व्याख्या करनेवाले देवल ऋषि के वचनों को नहीं लिखा गया है । याज्ञवल्क्य कहते हैं :–

"इज्या, आचार, दम, अहिंसा, दान और स्वाध्याय – इन सब धर्मों के होते हुए भी योग द्वारा जो आत्मदर्शन – आत्मसाक्षात्कार करना है यह परम धर्म है ।"

यह सब दैवीसम्पत्, जिसकी पूर्व में व्याख्या हो चुकी है, ब्राह्मण में स्वाभाविकरूप से ही होती है, दूसरों में तो यह नैमित्तिकरूप से होती है, अतएव इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ 42 ॥

116 क्षत्रिय के गुणस्वभावकृत कर्मों को कहते हैं :--
[शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य -- कुशलता, युद्ध में पलायन न करना, दान और ईश्वरभाव -- ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ 43 ॥]

117 'शौर्य' विक्रम -- पराक्रम है अर्थात् अपने से अधिक बलवानों पर भी प्रहार करने की प्रवृत्ति है, 'तेज' प्रागल्भ्य – प्रगल्भता अर्थात् दूसरों से तिरस्कृत न होना है, 'धृति' महान् विपत्ति में भी देह और इन्द्रिय के संघात का शिथिल न पड़ना है, 'दाक्ष्य' दक्षभाव है अर्थात् सहसा प्रत्युत्पन्न --उपस्थित हुए कार्यों में अव्यामोहपूर्वक प्रवृत्ति है, 'युद्ध में पलायन न करना' = पराङ्मुख न होना अर्थात् न भागना है, 'दान' बिना संकोच के धन में अपने स्वत्व का परित्याग कर दूसरे के स्वत्व का आपादन करना है, तथा 'ईश्वरभाव' प्रजापालन के लिए ईशितव्य -- शासन के योग्य पदार्थों में प्रभुशक्ति -- शासनशक्ति को प्रकट करना है -- ये स्वभावज अर्थात् सत्त्व की गौणतापूर्वक रजोगुण स्वभाव से उत्पन्न हुए क्षत्रकर्म = क्षत्रिय जाति के विहित कर्म हैं ॥ 43 ॥

[कृषि, गोरक्षा करना और वाणिज्य -- ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा परिचर्यात्मक -- सेवारूप कर्म शूद्र का भी स्वाभाविक है ॥ 44 ॥]

---

149. चकार से 'युद्ध से पराङ्मुख होनेवाले को न मारना' भी ग्रहण होता है ।
150. चकार अनुक्त क्षत्रिय धर्मों के समुच्चय के लिए है ।

सर्जनरजोगुणस्वभावजम् । परिचर्यात्मकं द्विजातिशुश्रूषात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजं रजउपसर्जनतमोगुणस्वभावजम् ॥ 44 ॥

119 तदेवं वर्णानां स्वभावजा गौणाख्या धर्मा अभिहिताः । अन्येऽपि धर्माः शास्त्रेष्वाम्नाताः । तदुक्तं भविष्यपुराणे--

'धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम् ।
स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः ॥
वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम् ।
वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा ॥
वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते ।
वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ॥
यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते ।
स खल्वाश्रमधर्मः स्याद्भिक्षादण्डादिको यथा ॥
वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते ।
स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्ज्याद्या मेखला यथा ॥
यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मः स उच्यते ।
यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम् ॥

---

118 'कृषि' अन्न की उत्पत्ति के लिए भूमि का जोतना है, गोरक्ष का भाव गौरक्ष्य[151] है अर्थात् पाशुपाल्य है = पशुपालन है, वाणिज्य = वणिज् – वाणिक-वैश्य का क्रय-विक्रयादि स्वरूप कर्म है, 'कुसीद' -- व्याज लेना भी इसी वाणिज्य के अन्तर्गत समझना चाहिए – ये स्वभावज अर्थात् तमोगुण की गौणतापूर्वक रजोगुण स्वभाव से उत्पन्न हुए वैश्यकर्म अर्थात् वैश्य जाति के कर्म हैं । परिचर्यात्मक = द्विजातियों की शुश्रूषात्मक -- सेवारूप कर्म शूद्र का भी स्वभावज अर्थात् रजोगुण की गौणतापूर्वक तमोगुण स्वभाव से उत्पन्न हुआ है ।। 44 ।।

119 इसप्रकार वर्णों के गौणसंज्ञक स्वभावज धर्म कहे गये, शास्त्रों में अन्य धर्म भी कहे गये हैं, जैसा कि भविष्यपुराण में कहा है :--
''धर्म' श्रेय कहा गया है और 'श्रेय' अभ्युदयस्वरूप है । वह वेदमूलक सनातन धर्म तो पाँच प्रकार का कहा गया है :– एक तो 'वर्णधर्म' कहा गया है, दूसरा 'आश्रमधर्म' है, तीसरा 'वर्णाश्रम' धर्म है तथा गौण और नैमित्तिक – दो धर्म और हैं । उसमें, हे राजन् ! जो धर्म एक वर्णत्व का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है वह 'वर्णधर्म' कहा गया है, जैसे-- उपनयन संस्कार है । जो अधिकार=धर्म आश्रम का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त होता है वह 'आश्रमधर्म' है, जैसे -- भिक्षा, दण्डग्रहण आदि हैं । जो वर्णत्व और आश्रमत्व को अधिकृत कर प्रवृत्त होता है वह 'वर्णाश्रम' धर्म कहा जाता है, जैसे – मौञ्जी आदि की मेखला है । जो धर्म गुण द्वारा प्रवृत्त हो वह 'गुणधर्म' कहा जाता है, जैसे-- मूर्धाभिषिक्त राजा के लिए प्रजा का पालन करना है । जो धर्म एक निमित्त का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है उसको 'नैमित्तिक' जानना चाहिए, जैसे -- प्रायश्चित्त विधि है ।''

---

151. गां रक्षतीति गोरक्षः तस्य भावो गौरक्ष्यं अर्थात् पाशुपाल्यम् = जो गो की रक्षा करता है वह गोरक्ष है, उसका भाव गौरक्ष्य अर्थात् पाशुपाल्य – पशुपालन है ।

निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते ।
नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा ॥' इति ।

अधिकारोऽत्र धर्मः ।

120 चतुर्विधं धर्ममाह हारीतः-- 'अथाऽऽश्रमिणां पृथग्धर्मो विशेषधर्मः समानधर्मः कृत्स्नधर्मश्च' इति । पृथगाश्रमानुष्ठानात्पृथग्धर्मो यथा चातुर्वर्ण्यधर्मः । स्वाश्रमविशेषानुष्ठानाद्विशेषधर्मो यथा नैष्ठिकयायावरानुज्ञायिकचातुराश्रम्यसिद्धानाम् । सर्वेषां यः समानो धर्मः स समानधर्मो नैष्ठिकः कृत्स्नधर्म इति । नैष्ठिको ब्रह्मचारिविशेषः । यायावरो गृहस्थविशेषः । आनुज्ञायिको वानप्रस्थविशेषः । चातुराश्रम्यसिद्धो यतिविशेषः । सर्वेषामिति वर्णानामाश्रमाणां च । तत्राऽऽद्यो यथा महाभारते--

'आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता ।
श्राद्धकर्माऽऽतिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ॥
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता ।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप ॥' इति ।

सर्वाश्रमसाधारणस्तु प्रागुदाहृतः । निष्ठा संसारसमाप्तिस्तत्प्रयोजनो नैष्ठिको मोक्षहेत्वात्मज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकप्रत्यवायपरिहाराय निष्कामकर्मानुष्ठानं कृत्स्नधर्म नत्यर्थः ।

121 आश्रमाश्च शास्त्रेषु चत्वार आम्नाताः । यथाऽऽह गौतमः-- 'तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवते ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः इति । आपस्तम्बः -- 'चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं

यहाँ 'अधिकार' शब्द का अर्थ 'धर्म' है ।

120 हारीत ऋषि ने धर्म को चार प्रकार का कहा है -- 'आश्रमियों के पृथक्-पृथक् धर्म, विशेषधर्म, समानधर्म और कृत्स्न धर्म' । पृथक्-पृथक् आश्रम के अनुष्ठान से 'पृथक्-धर्म' कहलाता है, जैसे -- चारों वर्णों का धर्म है । अपने आश्रमविशेष के अनुष्ठान से 'विशेषधर्म' होता है, जैसे -- नैष्ठिक, यायावर, आनुयाज्ञिक और चातुराश्रम्य-सिद्धों का धर्म है । जो सबका समानधर्म है वह 'समानधर्म' कहलाता है और नैष्ठिक -- निष्काम धर्म 'कृत्स्नधर्म' है । 'नैष्ठिक' ब्रह्मचारी-विशेष होता है । 'यायावर' गृहस्थविशेष होता है । 'आनुयाज्ञिक' वानप्रस्थविशेष होता है । 'चातुराश्रम्य-सिद्ध' यतिविशेष होता है । यहाँ 'सर्वेषाम्' का अर्थ है -- जो सब वर्णों और आश्रमों का समान धर्म होता है वह 'समानधर्म' कहा जाता है । उनमें प्रथम जैसे महाभारत में कहा है --

'हे राजन ! आनृशंस्य-- मृदुता-दया, अहिंसा, अप्रमाद, दान, श्राद्धकर्म, आतिथेय, सत्य, अक्रोध, अपनी स्त्री में ही सन्तोष, शौच, नित्य अनसूयता-- सदा किसी के प्रति असूया-- ईर्ष्या न रखना, आत्मज्ञान और तितिक्षा-- ये साधारण धर्म हैं ।'

सब आश्रमों के लिए साधारण धर्म तो पूर्व में कहे जा चुके हैं । 'निष्ठा' संसार की समाप्ति को कहते हैं, वह निष्ठा जिसका प्रयोजन है वह 'नैष्ठिक' कहलाता है अर्थात् मोक्ष के हेतुभूत आत्मज्ञान की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक प्रत्यवाय-- दुरित की निवृत्ति के लिए निष्काम कर्म का अनुष्ठान करना 'कृत्स्नधर्म' है ।

121 शास्त्रों में आश्रम चार कहे गये हैं, जैसा कि गौतम कहते हैं -- 'उसके आश्रमविकल्प को कोई

मौनं वानप्रस्थमिति तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति' इति । वसिष्ठः– 'चत्वार आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थपरिव्राजकास्तेषां वेदमधीत्य वेदौ वेदान्वाऽविशीर्णब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तमावसेत्' इति । एवं तेषां पृथग्धर्मा अप्याम्नाताः । तथा फलमप्यज्ञानामाम्नातम् । यथाऽऽह मनुः–

'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥' इति ।

अनुत्तमं सुखमिति यथाप्राप्ततत्तत्फलोपलक्षणार्थम् । आपस्तम्बः– 'सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखं ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं वृत्तं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते' (इति) । गौतमः– 'वर्णा आश्रमाश्च स्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विष्वञ्चो विपरीता नश्यन्ति' [इति] । अत्र शेषशब्देन भुक्तज्योतिष्टोमादिकर्मातिरिक्तं चित्रादिकर्मानुशयशब्दितमुच्यते नतु पूर्वकर्मण एकदेश इति स्थितं 'कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च' इत्यत्र । भट्टैरप्युक्तम्–

जन ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस -- इसप्रकार बतलाते हैं' । आपस्तम्ब कहते हैं -- 'चार आश्रम हैं -- गार्हस्थ्य, आचार्यकुल-ब्रह्मचर्य, मौन-संन्यास और वानप्रस्थ । उन सबमें अव्यग्र चित्त से शास्त्रोपदेशानुसार वर्तमान -- वर्तनेवाला पुरुष क्षेम -- कल्याण को प्राप्त करता है' । वसिष्ठ कहते हैं :-- 'चार आश्रम हैं -- ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक -- संन्यासी । इनमें से एक वेद, दो वेद अथवा तीन वेदों का अध्ययन कर अविशीर्ण -- अलुप्त -- अखण्डित ब्रह्मचर्य -- ब्रह्मचारी पुरुष जिसकी इच्छा करे उसी में रहे' । इसप्रकार उनके पृथक्-पृथक् धर्म भी कहे गये हैं, इसीप्रकार अज्ञों -- अज्ञानियों के लिए फल भी कहे गये हैं; जैसा कि मनु कहते हैं :-- 'जो मनुष्य श्रुति और स्मृति में कहे गये धर्म का आचरण करता है, वह इस लोक में कीर्ति -- यश और परलोक में अनुत्तम सुख पाता है' (मनुस्मृति, 2.9) । यहाँ 'अनुत्तम सुख' समय-समय पर प्राप्त होनेवाले उस-उस फल के उपलक्षण के लिए है । आपस्तम्ब कहते हैं -- 'सब वर्णों के पुरुषों को अपने-अपने धर्म का अनुष्ठान करने पर परम अपरिमित -- असीम सुख प्राप्त होता है और बाद में परिवर्तन होने पर भोगने से अवशिष्ट कर्मफल द्वारा जाति, रूप, वर्ण, बल, वृत्त, मेधा, प्रज्ञा, द्रव्य और धर्मानुष्ठान -- यह सब प्राप्त होता है' । गौतम कहते हैं -- 'अपने-अपने धर्म में निष्ठा रखनेवाले वर्ण और आश्रम मरने के पश्चात् कर्मफल का अनुभव कर शेष कर्मों के द्वारा विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, श्रुत, वृत्त, वित्त, सुख और मेधावाले होकर जन्म ग्रहण करते हैं तथा विपरीत आचरणवाले यथेच्छानुसारी पुरुष सब ओर से नष्ट होते हैं' । यहाँ 'शेष' शब्द से मुक्त ज्योतिष्टोमादि कर्मफल से अतिरिक्त 'अनुशय' शब्द से शब्दित चित्रादि[152] कर्म कहे जाते हैं, पूर्वकर्म का एक देश नहीं कहा जाता है -- यह सिद्धान्त है, ऐसा ही वेदान्त दर्शन में कहा गया है-- 'कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च' (ब्रह्मसूत्र, 3.1.8)= 'कृत कर्म का अत्यय--

---

152. 'चित्रा' यागविशेष का नाम है । 'चित्रया यजेत पशुकामः' -- यह एक विधि है, इसका अर्थ है -- 'पशु को प्राप्त करने की इच्छावाले व्यक्ति को 'चित्रा' से यागानुष्ठान करना चाहिए' । यहाँ 'चित्रा' शब्द विचित्र गुण का वाचक है, जिस इष्टि में विचित्र द्रव्य हैं उस इष्टि का नाम 'चित्रा' है, वाक्यभेद -- भीति से 'चित्रा' शब्द को नामधेय माना जाता है, अतएव 'चित्रया यजेत पशुकामः' विधि का अर्थबोध -- वाक्य इसप्रकार होगा -- 'चित्रायागेन पशुं भावयेत्' = 'चित्रा नामक याग से पशुफल का संपादन करे' ।

'गौतमीयेऽपि तच्छेषस्तस्माच्चित्राद्यपेक्षया' इति ।

विष्वञ्चः सर्वतोगामिनो यथेष्टचेष्टा विपरीता नरकादौ जन्म प्रतिपद्य विनश्यन्ति कृमिकीटादिभावेन सर्वपुरुषार्थेभ्यो भ्रश्यन्त इत्यर्थः । हारीतः—

'काम्यैः केचिद्यज्ञदानैस्तपोभिर्लब्ध्वा लोकान्पुनरायान्ति जन्म ।
कामैर्मुक्ताः सत्ययज्ञाः सुदानास्तपोनिष्ठा अक्षयान्यान्ति लोकान् ॥' इति ।

122 अत्र कामनासदसद्भावनिबन्धनः फलभेदो दर्शितो भविष्यपुराणे —

'फलं विनाऽप्यनुष्ठानं नित्यानामिष्यते स्फुटम् ।
काम्यानां स्वफलार्थं तु दोषघातार्थमेव तु ॥
नैमित्तिकानां करणे त्रिविधं कर्मणां फलम् ।
क्षयं केचिदुपात्तस्य दुरितस्य प्रचक्षते ॥
अनुत्पत्तिं तथा चान्ये प्रत्यवायस्य मन्वते ।
नित्यां क्रियां तथा चान्ये अनुषङ्गफलं विदुः ॥' इति ।

अन्य आपस्तम्बादयस्तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते इत्यादिवचनैरानुषङ्गिकफलतां नित्यकर्मणो विदुः । श्रुतिश्च— 'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्' इति गृहस्थवानप्रस्थब्रह्मचारिण उक्त्वा 'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' इति तेषामन्तःकरणशुद्ध्यभावे मोक्षाभावमुक्त्वा शुद्धान्तः-

---

विनाश होने पर अर्थात् किये हुए इष्टादि कर्मों के फलों के उपभोग से उपक्षय – विनष्ट होने पर अन्य सञ्चित कर्मरूप अनुशय -- कर्माशय सहित ही जीव इस लोक में आते हैं अर्थात् जिस मार्ग से जाते हैं उससे विपरीत मार्ग द्वारा भी आते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष श्रुति और स्मृति से ऐसा ही जाना जाता है' । इसीप्रकार कुमारिल भट्ट ने भी कहा है -- 'गौतमीय शास्त्र में भी चित्रादि कर्म की अपेक्षा से ही कर्मशेष का निरूपण किया गया है' (श्लोकवार्तिक, चित्राक्षेपपरिहार, 16) । 'विष्वञ्च' का अर्थ है – सर्वतोगामी – सर्वगामी अर्थात् यथेष्ट चेष्टा करनेवाले विपरीत नरकादि में जन्म पाकर विनष्ट होते हैं अर्थात् कृमि-कीटादि भाव को पाकर सब पुरुषार्थों से भ्रष्ट होते हैं । हारीत ऋषि कहते हैं :–

'कोई जन काम्य यज्ञ, दान और तप के द्वारा पुण्यलोकों को प्राप्त करके पुनः जन्म पाते हैं, किन्तु कामनाओं से मुक्त हुए सत्ययज्ञ, सुदानी और तपोनिष्ठजन अक्षय लोकों को प्राप्त होते हैं' ।

122 यहाँ पर कामनाओं के होने और न होने के कारण जो फलभेद दिखाया गया है उसको भविष्यपुराण में इसप्रकार कहा है –

'फल -- फलकामना के बिना भी नित्य कर्मों का अनुष्ठान स्पष्ट अभिलषित है । काम्य कर्मों का अनुष्ठान तो अपने अभीष्ट फल के लिए और दोष की निवृत्ति के लिए ही है । नैमित्तिक कर्मों के करने पर तीन प्रकार का कर्मफल होता है -- कोई जन तो उसका फल उपात्त -- प्राप्त हुए दुरित -- पाप का क्षय -- नाश कहते हैं; अन्य जन प्रत्यवाय -- पाप की अनुत्पत्ति मानते हैं; और अन्य कोई जन नित्य क्रिया को ही उसका आनुषङ्गिक फल समझते हैं' ।

अन्य अर्थात् आपस्तम्बादि 'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते' -- इत्यादि वचनों के द्वारा नित्य कर्मों की आनुषङ्गिकफलता समझते हैं । श्रुति ने भी-- 'तीन धर्म के स्कन्ध हैं :-- यज्ञ, अध्ययन और दान--

करणानामेषामेव परिव्राजकभावेन ज्ञाननिष्ठया मोक्षमाह– 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति। तदेवं स्थिते ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थो वा मुमुक्षुः फलाभिसंधित्यागेन भगवदर्पणबुद्ध्या-

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ 45 ॥

123 स्वे स्वे तत्तद्वर्णाश्रमविहिते नतु स्वेच्छामात्रकृते कर्मणि श्रुतिस्मृत्युदितेऽभिरतः सम्यगनुष्ठानपरः संसिद्धिं देहेन्द्रियसंघातस्याशुद्धिक्षयेन सम्यग्ज्ञानोत्पत्तियोग्यतां लभते नरो वर्णाश्रमाभिमानी मनुष्यो मनुष्याधिकारित्वात्कर्मकाण्डस्य। देवादीनां वर्णाश्रमाभिमानित्वाभावाद्युक्त एव तद्धर्मेष्वनधिकारः। वर्णाश्रमाभिमानानपेक्षे तूपासनादावधिकारस्तेषामप्यस्तीति साधितं देवताधिकरणे। ननु बन्धहेतूनां कर्मणां कथं मोक्षहेतुत्वमुपायविशेषादित्याह–स्वकर्मनिरतः सिद्धिमुक्तलक्षणां यथा येन प्रकारेण विन्दति तच्छृणु श्रुत्वा तं प्रकारमवधारयेत्यर्थः॥ 45 ॥

यह प्रथम स्कन्ध है, तप ही द्वितीय स्कन्ध है, तथा ब्रह्मचर्य से ही आचार्य कुल में रहनेवाला अर्थात् अर्थात् आचार्यकुल में ही अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर देनेवाला तृतीय स्कन्ध है' -- इसप्रकार गृहस्थ, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारी का निरूपण करके 'ये सब पुण्यलोक के भागी होते हैं' -- इसप्रकार उनके अन्त:करण की शुद्धि न होने पर उनके मोक्ष का अभाव कहकर इन्हीं शुद्धान्त:करणों का परिव्राजकभावपूर्वक ज्ञाननिष्ठा से मोक्ष कहा है -- 'ब्रह्म में सम्यक् प्रकार से स्थित हुआ पुरुष अमृतत्व को प्राप्त होता है'। इसप्रकार ऐसा निश्चय होने पर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा मुमुक्षु फलाभिसन्धि – फलेच्छा का त्याग कर भगवदर्पण बुद्धि से --

[अपने-अपने अधिकार के अनुसार कर्मों में अभिरत -- अच्छी प्रकार रत हुआ नर संसिद्धि को प्राप्त होता है, अपने कर्म में निरत -- रत हुआ पुरुष जिसप्रकार सिद्धि को प्राप्त होता है वह तुम सुनो ॥ 45 ॥]

123 अपने-अपने अर्थात् उस-उस वर्ण और आश्रम के लिए विहित, न कि स्वेच्छामात्रकृत, श्रुति --स्मृति द्वारा उदित -- उक्त कर्म में अभिरत = सम्यक्-अनुष्ठानपर अर्थात् भलीभाँति उसके अनुष्ठान में तत्पर हुआ नर संसिद्धि = देह और इन्द्रियों के संघात की अशुद्धि के क्षयद्वारा सम्यग्ज्ञानोत्पत्ति -- तत्त्वज्ञानोत्पत्ति की योग्यता को प्राप्त होता है। 'नर' वर्णाश्रम का अभिमानी मनुष्य है, क्योंकि कर्मकाण्ड का अधिकारी मनुष्य ही है। देवता आदि वर्णाश्रमाभिमानी नहीं होते हैं अतएव उनका उनके धर्मों में अनधिकार -- अधिकार न होना उचित ही है। वर्णाश्रमाभिमान की अपेक्षा से शून्य उपासनादि में तो उन देवताओं का भी अधिकार है – यह वेदान्तसूत्र के देवताधिकरण[153] में सिद्ध किया गया है। यदि आशंका हो कि बन्धन के हेतुभूत कर्मों की मोक्ष में हेतुता कैसे है ? तो उत्तर है कि उपायविशेष से वे कर्म मोक्ष में हैं -- यह श्लोकार्ध से कहते हैं :-- स्वकर्म अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुसार कर्म में निरत -- तत्पर हुआ नर जिसप्रकार उपर्युक्त अर्थात् तत्त्वज्ञानोत्पत्ति की योग्यतास्वरूप सिद्धि को प्राप्त होता है वह तुम सुनो और सुनकर उस प्रकार -- उपाय को हृदय में धारण करो -- यह भावार्थ है ॥ 45 ॥

---

153. वेदान्तसूत्र के देवताधिकरण में पूर्वपक्ष के निराकरणपूर्वक यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरुद्ध अर्थवाद और मन्त्र-पुराण-इतिहासादि से देवताओं के देहवत्त्व सिद्ध होने से और देही होने पर अर्थित्वादि के भी सुलभ होने से देवताओं का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है, क्योंकि उन देवताओं को अपने अन्त:करण में विद्यमान ब्रह्म की उपासना की लिप्सा होती है अतएव कल्पान्तर में भी वे स्वाधिकारपूर्वक ब्रह्म की उपासना करते हैं।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ 46 ॥

124 यतो मायोपाधिकचैतन्यानन्दघनात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वरादुपादानान्निमित्ताच्च सर्वान्तर्यामिणः प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्मायामयी स्वाप्नरथादीनामिव भूतानां भवनधर्मणामाकाशादीनां येन चैकेन सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वमिदं दृश्यजातं त्रिष्वपि कालेषु ततं व्याप्तं स्वात्मन्येवान्तर्भावितं कल्पितस्याधिष्ठानानतिरेकात् । तथा च श्रुतिः -- 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति' [इति] । अत्र यत इति प्रकृतौ पञ्चमी । यतो येनेति चैकत्वं विवक्षितम् । 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।' इति च तस्य निर्णयवाक्यम् । 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च मायोपाधिलाभः । 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इयादिश्रुत्यन्तरात्सर्वज्ञत्वादिलाभः । एवं च श्रौत एवायमर्थो भगवता प्रकाशितः-- यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततमिति । तमन्तर्यामिणं भगवन्तं स्वकर्मणा प्रतिवर्णाश्रमं विहितेनाभ्यर्च्य तोषयित्वा तत्प्रसादादैकात्म्यज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां सिद्धिमन्तःकरणशुद्धिं विन्दति मानवः । देवादिस्तूपासनामात्रेणेति भावः ॥ 46 ॥

[जिससे आकाशादि भूतों की प्रवृत्ति -- उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सब दृश्यसमूह व्याप्त है उस अन्तर्यामी भगवान् की अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार श्रुति-स्मृति विहित कर्मों से अर्चना करके मानव सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ 46 ॥]

124 जिस उपादानकारणरूप मायोपाधिक चैतन्य, आनन्दघन, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर और निमित्त--कारणरूप सर्वान्तर्यामी से स्वप्न के रथादि के समान भूतों = उत्पत्तिधर्मा आकाशादि की प्रवृत्ति = मायामयी उत्पत्ति हुई है तथा जिस एक से यह सब दृश्यसमूह सद्रूप और स्फुरणरूप से तीनों कालों में तत-- व्याप्त है = अपने आत्मा में ही अन्तर्भावित है, कारण कि कल्पित वस्तु अधिष्ठान से अतिरिक्त नहीं होता है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर ये जीवित रहते हैं और जिसमें जाकर लीन हो जाते हैं, उसको जानने की इच्छा करो, वह ब्रह्म है' (तैत्तिरीयोपनिषद्, 3.1) । यहाँ 'यतः'-- इसमें प्रकृति = हेतु में पञ्चमी है[154] । 'यतः' और 'येन' -- इन दोनों पदों से हेतु = कारण का एकत्व विवक्षित है । 'आनन्द ब्रह्म है -- ऐसा जाना, क्योंकि निश्चय ही आनन्द से ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं' -- यह उसका निर्णय वाक्य है । 'माया को तो प्रकृति जानो और मायी को महेश्वर जानो' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4.10) -- इत्यादि अन्य श्रुति से उसकी मायोपाधि की प्राप्ति होती है । 'जो सर्वज्ञ, सर्ववित् है' -- इत्यादि अन्य श्रुति से उसके सर्वज्ञत्वादि की प्राप्ति होती है । इसप्रकार भगवान् ने 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्' -- यह श्रौत अर्थ ही प्रकाशित किया है । उस अन्तर्यामी भगवान् की स्वकर्म अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार श्रुति--स्मृतिविहित कर्म से अर्चना करके अर्थात् उसको संतुष्ट करके मानव उसके प्रसाद से ऐकात्म्यज्ञाननिष्ठा की योग्यतास्वरूप सिद्धि को अर्थात् अन्तःकरणशुद्धि को प्राप्त होता है, देवता आदि तो उपासनामात्र से इस सिद्धि को प्राप्त होते हैं -- यह भाव है ॥ 46 ॥

154. हेतु अर्थ में पञ्चमी और तृतीया विभक्ति होती है (हेतौ, पाणिनिसूत्र, 2.3.23) ।

125 यतः स्वधर्म एव मनुष्याणां भगवत्प्रसादहेतुरतः –

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम् ॥ 47 ॥

126 परधर्मात्सम्यगनुष्ठितादपि श्रेयान्प्रशस्यतरः स्वधर्मो विगुणोऽसम्यगनुष्ठितोऽपि । तस्मात्क्षत्त्रियेण सता त्वया स्वधर्मो युद्धादिरेवानुष्ठेयो न परधर्मो भिक्षाटनादिरित्यभिप्रायः । ननु स्वधर्मोऽपि युद्धादिर्बन्धुवधादिप्रत्यवायहेतुत्वान्नानुष्ठेय इति नेत्याह–स्वभावनियतं पूर्वोक्तं शौर्यं तेज इत्यादि स्वभावजं युद्धादि कर्म कुर्वन्किल्बिषं पापं बन्धुवधादिनिमित्तं न प्राप्नोति । तथा च प्राग्व्याख्यातं 'सुखदुःखे समे कृत्वा' इत्यत्र । विहितज्योतिष्टोमाङ्गपशुहिंसाया इव विहितयुद्धाङ्गबन्धुहिंसाया अपि प्रत्यवायहेतुत्वाभावात् । तथा चोक्तमधस्तात् ॥ 47 ॥

127 यस्मादेवं विहितहिंसादेर्न प्रत्यवायहेतुत्वं परधर्मश्च भयावहः सामान्यदोषेण च सर्वकर्माणि दुष्टानि तस्मादज्ञो वर्णाश्रमाभिमानी –

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः ॥ 48 ॥

128 हे कौन्तेय सहजं स्वभावजं कर्म सदोषमपि विहितहिंसायुक्तमपि ज्योतिष्टोमयुद्धादि न त्यजेदन्तः–करणशुद्धेः प्राग्भवानन्यो वा । नह्यनात्मज्ञः कश्चित्क्षणमपि कर्माण्यकृत्वा स्थातुं शक्नोति ।

---

125 क्योंकि मनुष्यों का स्वधर्म ही भगवान् के प्रसाद का हेतु है, इसलिए –
[सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित परधर्म की अपेक्षा विगुण = असम्यक् प्रकार से अनुष्ठित भी स्वधर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत कर्म को करते हुए मनुष्य को पाप का भागी नहीं होना होता है ॥ 47 ॥]

126 सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित भी परधर्म की अपेक्षा विगुण = असम्यक् प्रकार से अनुष्ठित भी स्वधर्म श्रेयान् = प्रशस्यतर अर्थात् अधिक अच्छा है, इसलिए क्षत्रिय होते हुए तुमको युद्धादि स्वधर्म ही अनुष्ठेय है, भिक्षाटनादि परधर्म अनुष्ठेय नहीं है – यह अभिप्राय है। यदि कहो कि बन्धुवधादिस्वरूप युद्धादि स्वधर्म भी प्रत्यवाय-पाप का हेतु होने से अनुष्ठेय नहीं है, तो ऐसा नहीं है – यह कहते हैं :-- स्वभावनियत = पूर्वोक्त शौर्य, तेज इत्यादि स्वभावज – स्वभाव से जनित युद्धादि कर्म को करते हुए मनुष्य बन्धुवधादि निमित्तक किल्विष -- पाप को प्राप्त नहीं करता है, इसप्रकार 'सुखदुःखे समे कृत्वा' (गीता, 2.38) – इत्यादि स्थल पर पूर्व में ही व्याख्या कर चुके हैं, क्योंकि विहित 'ज्योतिष्टोम' याग की अङ्गभूता पशुहिंसा के समान विहित कर्म युद्ध ही अङ्गभूता बन्धुहिंसा भी प्रत्यवाय -- पाप की हेतु नहीं होती है। इसीप्रकार अधस्तात् – नीचे कहा है ॥ 47 ॥

127 क्योंकि इसप्रकार विहित हिंसादि प्रत्यवाय -- दुरित का हेतु नहीं है और परधर्म भयावह = भय की प्राप्ति करानेवाला है तथा सामान्यदोष से सब कर्म दुष्ट हैं, इसलिए अज्ञ--अज्ञानी वर्णाश्रमाभिमानी को--
[हे कौन्तेय ! सहज कर्म का, सदोष होने पर भी, त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि अग्नि जैसे धूम से आवृत-- आच्छादित रहती है वैसे ही सब आरम्भ -- कर्म दोष से आच्छादित ही रहते हैं ॥ 48 ॥]

128 हे कौन्तेय[155] ! आपको अथवा किसी दूसरे को अपने सहज = स्वभावज -- स्वाभाविक कर्म युद्धादि अथवा ज्योतिष्टोमादि का, सदोष होने पर भी = विहित हिंसायुक्त होने पर भी, अन्तःकरण की

न च परधर्माननुतिष्ठन्नपि दोषान्मुच्यते । सर्वारम्भाः स्वधर्माः परधर्माश्च सर्वे हि यस्माद्दोषेण त्रिगुणात्मकत्वेन सामान्येनाऽऽवृता व्याप्ताः सदोषा एव । तथा च प्राग्व्याख्यातं ' परिणामतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इति । तस्मादगत्याऽनात्मज्ञः कर्माणि कुर्वन्विषजकृमिरिव विषं सहजं कर्म युद्धादि त्रिगुणात्मकत्वेन सामान्येन बन्धुवधादिनिमित्तत्वेन विशेषेण च सदोषमपि न त्यजेत्सर्वकर्मत्यागासमर्थत्वात् । सर्वकर्मत्यागसमर्थस्तु शुद्धान्तःकरणस्त्यजेदेवेत्यभिप्रायः ॥ 48 ॥

129 **कः पुनः सर्वकर्मत्यागसमर्थः, यो नित्यानित्यवस्तुविवेकजेनेहामुत्रार्थभोगवैराग्येण शमदमादिसंपन्नः कर्मजां सिद्धिमशुद्धिपरिक्षयद्वारा मुमुक्षुः शुद्धब्रह्मात्मैक्यजिज्ञासां प्राप्तः स स्वेष्टमोक्षहेतुब्रह्मात्मैक्यज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यश्रवणादि कर्तुं सर्वविक्षेपनिवृत्त्या तच्छेषभूतं सर्वकर्मसंन्यासं श्रुतिस्मृतिविहितं कुर्यादेव । 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्' इति श्रुतेः । 'सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्' इति । स्मृतेश्च । उपरतस्त्यक्तसर्वकर्मा भूत्वाऽऽत्मानं पश्येदात्मदर्शनाय**

शुद्धि होने से पहले त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि कोई भी अनात्मज्ञ पुरुष क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता है और न परधर्म का अनुष्ठान न करते हुए भी दोष से मुक्त हो सकता है, कारण कि सर्वारम्भ = सब आरम्भ – कर्म अर्थात् स्वधर्म और परधर्म सब त्रिगुणात्मकरूप सामान्य दोष से आवृत -- व्याप्त हैं अर्थात् दोषयुक्त ही हैं । इसीप्रकार पूर्व में भी व्याख्या की गई है – 'परिणामतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन:' (योगसूत्र, 2.15) = 'क्योंकि परिणामदु:ख, तापदु:ख और संस्कारदु:ख बना रहता है तथा गुणों से स्वभाव में भी विरोध है, इसलिए विवेकी पुरुष के लिए सब कुछ दु:ख ही है' । इसलिए कोई और गति न होने के कारण अनात्मज्ञ कर्मों को करता हुआ जिसप्रकार विष से उत्पन्न हुआ कीड़ा विष का त्याग नहीं करता है उसीप्रकार अपने सहज – स्वाभाविक कर्म युद्धादिका, त्रिगुणात्मकरूप सामान्य और बन्धुवधादि निमित्तक विशेष दोष के कारण सदोष होने पर भी, त्याग न करे, क्योंकि वह सब कर्मों का त्याग करने में असमर्थ होता है । जो सब कर्मों का त्याग करने में समर्थ है वह शुद्धान्त:करण पुरुष तो उनका भी त्याग कर ही दे – यह अभिप्राय है ॥ 48 ॥

129 पुनः प्रश्न है कि कौन सब कर्मों का त्याग करने में समर्थ है ? जो नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक से उत्पन्न हुए इहलोक और परलोकसम्बन्धी भोगों के वैराग्य द्वारा शम – दमादि से सम्पन्न होकर कर्मजा सिद्धि को अर्थात् अशुद्धि के परिक्षयद्वारा मुमुक्षु होकर शुद्धब्रह्म और आत्मा की एकता की जिज्ञासा को प्राप्त है वह अपने इष्ट मोक्ष के हेतुभूत ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के साधनभूत वेदान्तवाक्य के श्रवणादि करने के लिए सम्पूर्ण विक्षेप की निवृत्तिपूर्वक उसका शेषभूत श्रुति – स्मृतिविहित सर्वकर्मसंन्यास करें ही, जैसा कि श्रुति भी कहती है -- 'अत: एवंवित् शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मा में ही आत्मा को देखे'; इसीप्रकार स्मृति भी कहती है – 'सत्यानृत, सुख-दु:ख, इस लोक और परलोक को त्यागकर आत्मा का अनुसन्धान करे' । 'उपरत अर्थात् सब कर्मों का त्याग करनेवाला होकर आत्मा को देखे अर्थात् आत्मदर्शन के लिए वेदान्तवाक्यों

---

155. कुन्तीपुत्र क्षत्रियवर तुमको युद्ध में अपलायनादि सहज – स्वाभाविक कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए – यह उक्त सम्बोधन का आशय है ।

वेदान्तवाक्यानि विचारयेदिति श्रुत्यर्थः । एतादृश एव ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीति श्रुत्या धर्मस्कन्धत्रयविलक्षणत्वेन प्रतिपादितः परमहंसपरिव्राजकः परमहंसपरिव्राजकं कृतकृत्यं गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारसमर्थो यमुद्दिश्याथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादिचतुर्लक्षणमीमांसा भगवता बादरायणेन समारम्भि । कीदृशोऽसावित्याह –

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ 49 ॥

130 सर्वत्र पुत्रदारादिषु सक्तिनिमित्तेष्वपि असक्तबुद्धिरहमेषां ममैत इत्यभिष्वङ्गरहिता बुद्धिर्यस्य सः । यतो जितात्मा विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य वशीकृतान्तःकरणः । विषयरागे सति कथं प्रत्याहरणं तत्राऽऽह– विगतस्पृहः, देहजीवितभोगेष्वपि वाञ्छारहितः सर्वदृश्येषु दोषदर्शनेन नित्यबोधपरमानन्दरूपमोक्षगुणदर्शनेन च सर्वतो विरक्त इत्यर्थः । य एवं शुद्धान्तःकरणः 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इतिवचनप्रतिपादितां कर्मजामपरमां सिद्धिं ज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यविचारा-

का विचार करे' – यह श्रुति का अर्थ है । ऐसा ही पुरुष 'ब्रह्म में स्थिर हुआ अमतृत्व को प्राप्त होता है' – इस श्रुति से तीन धर्मस्कन्धों[156] से विलक्षणरूप से प्रतिपादित किया गया है, यह परमहंसपरिव्राजक अन्य परमहंसपरिव्राजक कृतकृत्य गुरु के समीप जाकर वेदान्तवाक्यों का विचार करने में समर्थ होता है, इसी के उद्देश्य से भगवान् बादरायण ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा [157]'– इत्यादि चार लक्षणों[158] वाली मीमांसा[159] का आरम्भ किया है । वह कैसी है ? इसपर कहते हैं :–
[सर्वत्र अनासक्त बुद्धिवाला, जितात्मा = आत्मा– अन्तःकरण को वश में रखनेवाला और विगतस्पृह = सब प्रकार की स्पृहाओं– इच्छाओं से शून्य पुरुष संन्यास = शिखा, यज्ञोपवीतादिसहित सर्वकर्मत्याग के द्वारा नैष्कर्म्य = ब्रह्मज्ञानरूपा परम सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ 49 ॥]

130 सर्वत्र अर्थात् सक्ति-आसक्ति के निमित्तभूत पुत्र-स्त्री आदि में भी असक्तबुद्धि = 'मैं इनका हूँ, ये मेरे हैं' – इसप्रकार के अभिष्वङ्ग – अभिषङ्ग अर्थात् आग्रह से रहित बुद्धि है जिसकी वह अनासक्तबुद्धि है, क्योंकि जितात्मा = विषयों से खींचकर वशीकृत किया है अन्तःकरण जिसने वह जितात्मा है: किन्तु विषयों में राग रहने पर उनसे अन्तःकरण को कैसे खींचता है, इसपर कहते हैं– वह विगतस्पृह है = देह, जीवन और भोगों में भी वाञ्छारहित है अर्थात् समस्त दृश्य-पदार्थों में दोष देखने से और नित्यबोध परमानन्दस्वरूप मोक्ष में गुण देखने से सर्वतः विरक्त है । जो इसप्रकार का शुद्धान्तःकरण पुरुष है अर्थात् 'अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार श्रुति – स्मृतिविहित कर्मों

156. तीन धर्मस्कन्ध हैं :– यज्ञ, अध्ययन और दान – यह प्रथम धर्मस्कन्ध है, 'तप' ही द्वितीय धर्मस्कन्ध है तथा ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्य के कुल में वास करना – यह तृतीय धर्मस्कन्ध है ।

157. 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.1) = 'अथ = नित्यानित्यवस्तुविवेक से उत्पन्न हुए ऐहिक और आमुष्मिक भोगों के वैराग्य द्वारा शमादि षट्क सम्पत्ति से सम्पन्न होकर मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्षेच्छा की उत्पत्ति के बाद, अतः = क्योंकि वेद ही अग्निहोत्रादि स्वर्गसाधनों के फल की अनित्यता सूचित करते हैं इसलिए उक्त साधन – चतुष्टय – नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, शमादि षट्क सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व की सिद्धि के बाद ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए' ।

158. यहाँ 'लक्षण' का अर्थ अध्याय है अतएव ब्रह्मजिज्ञासा के द्वारा चार अध्यायों वाली वेदान्तवाक्यमीमांसा का आरम्भ किया है – यह भाव है । वेदान्तसूत्र – ब्रह्मसूत्र के चार अध्याय इसप्रकार हैं – समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय, साधनाध्याय और फलाध्याय ।

159. 'मीमांसा' शब्द का अर्थ विचार है ।

धिकारलक्षणां ज्ञाननिष्ठायोग्यतां प्राप्तः स संन्यासेन शिखायज्ञोपवीतादिसहितसर्वकर्मत्यागेन हेतुना तत्पूर्वकेण विचारेणेत्यर्थः । नैष्कर्म्यसिद्धिं निष्कर्म ब्रह्म तद्विषयं विचारपरिनिष्पन्नं ज्ञानं नैष्कर्म्यं तद्रूपां सिद्धिं परमां कर्मजाया अपरमसिद्धेः फलभूतामधिगच्छति साधनपरिपाकेण प्राप्नोति ।

131 अथवा संन्यासेनेतीत्थंभूतलक्षणे तृतीया । सर्वकर्मसंन्यासरूपां नैष्कर्म्यसिद्धिं ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतां नैर्गुण्यलक्षणां सिद्धिं परमां पूर्वस्याः सिद्धेः सात्त्विक्याः फलभूतामधिगच्छतीत्यर्थः ॥ 49 ॥

132 प्रागुक्तसाधनसंपन्नस्य सर्वकर्मसंन्यासिनो ब्रह्मज्ञानोत्पत्तौ साधनक्रममाह—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ 50 ॥

से उस अन्तर्यामी भगवान् की अर्चना करके मानव सिद्धि को प्राप्त करता है' -- इस भगवद्वचन के द्वारा प्रतिपादित कर्मजा अपरमा सिद्धि अर्थात् ज्ञान के साधन वेदान्तवाक्यविचार के अधिकारस्वरूप ज्ञाननिष्ठा की योग्यता को प्राप्त पुरुष है वह संन्यास = शिखा, यज्ञोपवीतादि सहित सर्वकर्मत्यागरूप हेतु से अर्थात् उस सर्वकर्मत्यागपूर्वक विचार से नैष्कर्म्यसिद्धि[160] को = निष्कर्म ब्रह्म है[161], ब्रह्मविषयक विचार से परिनिष्पन्न--सिद्ध ज्ञान नैष्कर्म्य है, उस नैष्कर्म्यरूपा परमा सिद्धि को, जो कर्मजा अपरमा सिद्धि की फलभूता है, अधिगत करता है -- साधन के परिपाक से प्राप्त करता है ।

131 अथवा, 'संन्यासेन' – इस पद में 'इत्थंभूतलक्षणे' (पाणिनिसूत्र, 2.3.21) = 'किसी विशेष दशा की प्राप्ति का बोध कराने वाले चिह्न में तृतीया विभक्ति होती है' -- इस सूत्र से विशेष अवस्था को प्राप्त चिह्न में तृतीया विभक्ति है । सर्वकर्मसंन्यास – सर्वकर्मत्यागरूपा नैष्कर्म्यसिद्धि अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार की योग्यता – नैर्गुण्यस्वरूपा सिद्ध को, जो परमा अर्थात् पूर्व सात्त्विकी सिद्धि की फलभूता है, प्राप्त करता है-- यह अर्थ है ॥ 49 ॥

132 पूर्वोक्त साधनों से सम्पन्न सर्वकर्मसंन्यासी के ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति में साधनक्रम कहते हैं :--
[हे कौन्तेय ! सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जिसप्रकार ब्रह्म को प्राप्त करता है उसप्रकार को तुम मुझसे संक्षेप से ही सुनो, जो कि ज्ञान की परा निष्ठा है ॥ 50 ॥]

160. 'नैष्कर्म्यसिद्धि' शब्द की व्याख्या विभिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है यद्यपि उन सभी की व्याख्याओं का तात्पर्य एक ही है, जैसे – भाष्यकार के अनुसार – 'निष्क्रियब्रह्मात्मबोध से जीव के सब कर्मों की निवृत्ति होने पर उसको 'निष्कर्मा' कहा जाता है, निष्कर्मा का भाव 'नैष्कर्म्य' है उस नैष्कर्म्य की सिद्धि 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है, अथवा – निष्क्रिय आत्मस्वरूप में अवस्थितरूप नैष्कर्म्य की सिद्धि – निष्पत्ति 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है (निर्गतानि कर्माणि यस्मान्निष्क्रियब्रह्मात्मसंबोधात्स निष्कर्मा तस्य भावो नैष्कर्म्यं नैष्कर्म्यं च तत्सिद्धिश्च सा नैष्कर्म्यसिद्धिः नैष्कर्म्यस्य वा सिद्धिर्निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः -- शाङ्करभाष्य); श्रीधरस्वामी कहते हैं कि सर्वकर्मनिवृत्तिस्वरूप सत्त्वशुद्धि – अन्तःकरणशुद्धि 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है; नीलकण्ठ के अनुसार 'सम्पूर्णतया स्वरूपतः कर्मत्यागस्वरूप पारिव्राज्यसिद्धि 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है'; शंकरानन्द कहते हैं कि जहाँ कर्म नहीं है वह निष्कर्मा अर्थात् निष्क्रिय परब्रह्म है, निष्कर्मा के भाव को नैष्कर्म्य अर्थात् ब्रह्मभाव कहते हैं, उस नैष्कर्म्य की प्राप्ति अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप में अवस्थिति 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है, तथा मधुसूदनसरस्वती के अनुसार 'निष्कर्म ब्रह्म को कहते हैं, ब्रह्मविषयक विचार से सिद्ध ज्ञान को नैष्कर्म्य कहा जाता है, उस नैष्कर्म्यरूपा सिद्धि को 'नैष्कर्म्यसिद्धि' कहते हैं ।

161. जैसाकि श्रुति भी कहती है – 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' अर्थात् ब्रह्म निष्कल, निष्क्रिय, शान्त है ।

133 स्वकर्मणेश्वरमाराध्य तत्प्रसादजां सर्वकर्मत्यागपर्यन्तां ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपां सिद्धिमन्तः-करणशुद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म प्राप्नोति येन प्रकारेण शुद्धमात्मानं साक्षात्करोति तथा तं प्रकारं निबोध मे मद्वचनादवधारयानुष्ठातुम् । किमतिविस्तरेण नेत्याह– समासेन संक्षेपेणैव न तु विस्तरेण हे कौन्तेय । तदवधारणे किं स्यादित्यत आह– निष्ठा ज्ञानस्य या परा, ज्ञानस्य विचारपरिनिष्पन्नस्य निष्ठा परिसमाप्तिः । यदनन्तरं साधनान्तरं नानुष्ठेयमस्ति । परा श्रेष्ठा सर्वान्त्या वा साक्षान्मोक्षहेतुत्वात् । तां सिद्धिं प्राप्तस्य ब्रह्मप्राप्तिरूपां ज्ञाननिष्ठां परां संक्षेपेण निबोधेत्यर्थः ॥ 50 ॥

134 सेयं ज्ञाननिष्ठा सप्रकारोच्यते–

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ 51 ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ 52 ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ 53 ॥

---

133 वर्णाश्रमानुसार श्रुति-स्मृतिविहित अपने-अपने कर्मों से ईश्वर की आराधना कर उनके प्रसाद से उत्पन्न हुई सर्वकर्मत्यागपर्यन्त ज्ञानोत्पत्ति की योग्यतारूप सिद्धि = अन्तःकरणशुद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जिसप्रकार ब्रह्म को प्राप्त करता है = जिसप्रकार शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार करता है उसप्रकार को तुम मुझसे सुनो – अनुष्ठान करने के लिए उसका मेरे वचन से निश्चय करो । क्या अतिविस्तार से कहेंगे ? इसपर कहते हैं – नहीं, संक्षेप से ही सुनो, विस्तार से नहीं – हे कौन्तेय[162] ! उसका निश्चय करने पर क्या होगा ? इसपर कहते हैं -- 'निष्ठा ज्ञानस्य या परा' = 'जो ज्ञान की परा निष्ठा है' अर्थात् जो ज्ञान = विचार से परिनिष्पन्न -- सिद्ध ज्ञान की निष्ठा = परिसमाप्ति है, जिसके अनन्तर – बाद कोई अन्य साधन अनुष्ठेय नहीं है, अतएव परा = श्रेष्ठा अथवा सर्वान्त्या[163] है, कारण कि साक्षात् मोक्ष की हेतु है । उस सिद्धि को प्राप्त हुए पुरुष की उस परा ब्रह्मप्राप्तिरूपा ज्ञाननिष्ठा को संक्षेप से समझो -- यह अर्थ है ॥ 50 ॥

134 वह यह ज्ञाननिष्ठा प्रकारसहित कही जाती है :–

[विशुद्ध बुद्धि से युक्त ब्रह्मवित् धैर्यपूर्वक आत्मा = शरीर और इन्द्रियों के संघात का संयम कर, शब्दादि विषयों का त्याग कर, राग और द्वेष का परित्याग कर; विविक्तसेवी – एकान्तसेवी, मिताहारी और वाणी, शरीर तथा मन का संयमवाला होकर; नित्य – सर्वदा ध्यानयोग में तत्पर हो ; वैराग्य का आश्रय ग्रहण कर; अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग कर निर्मम – ममतारहित और शान्त हो ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए समर्थ होता है ॥ 51-52-53 ॥]

---

162. अन्तःकरणशुद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जिसप्रकार ब्रह्म को प्राप्त करता है उसप्रकार को सुनो– जिस प्रकार का आश्रय लेकर जीव का माता के गर्भ से सम्बद्ध नहीं रहता है उसको सुनो – उसको समझो – यह सूचित करने के लिए 'कौन्तेय' सम्बोधन है ।

163. सर्वान्त्या = जो सबके अन्त में वर्तमान रहे उसको 'सर्वान्त्या' कहते हैं अर्थात् जो चरम व्यावर्तक के रूप में हो उसी को 'सर्वान्त्या' कहते हैं ।

135 विशुद्धया सर्वसंशयविपर्ययशून्यया बुद्ध्याऽहं ब्रह्मास्मीति वेदान्तवाक्यजन्यया बुद्धिवृत्त्या युक्तः सदा तदन्वितो धृत्या धैर्येणाऽऽत्मानं शरीरेन्द्रियसंघातं नियम्योन्मार्गप्रवृत्तेर्निवार्याऽऽत्मप्रवणं कृत्वा । चशब्देन योगशास्त्रोक्तं साधानान्तरं समुच्चीयते । शब्दादीञ्शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान्विषयान्भोगेन बन्धहेतून्, सामर्थ्याज्ज्ञाननिष्ठार्थशरीरस्थितिमात्रप्रयोजनानुपयुक्ताननिषिद्धानपि त्यक्त्वा शरीरस्थितिमात्रार्थेषु च तेषु रागद्वेषौ व्युदस्य परित्यज्य । चकारादन्यदपि ज्ञानविक्षेपकं परित्यज्य, विविक्तसेवीत्यत्र स्यादित्यध्याहृतेन ब्रह्मभूयाय कल्पत इत्यनेन वाऽन्वयः ॥ 51 ॥

136 विविक्तं जनसंमर्दरहितं पवित्रं च यदरण्यगिरिगुहादि तत्सेवितुं शीलं यस्य स चित्तैकाग्र्यसंपत्त्यर्थं तद्विक्षेपकारिरहित इत्यर्थः । लघ्वाशी लघु परिमितं हितं मेध्यं चाशितुं शीलं यस्य स निद्रालस्यादिचित्तलयकारिरहित इत्यर्थः । यतानि संयतानि वाक्कायमानसानि येन स यमनियमासनादिसाधनसंपन्न इत्यर्थः । ध्यानयोगपरो नित्यं चित्तस्याऽऽत्माकारप्रत्ययावृत्तिर्ध्यानम् । आत्माकारप्रत्ययेन निर्वृत्तिकतापादनं योगः । नित्यं सदैव तत्परस्तयोरनुष्ठानपरो न तु मन्त्रजप-

---

135 विशुद्ध = सब प्रकार के संशय और विपर्यय से शून्य बुद्धि से = 'अहं ब्रह्मास्मि' – 'मैं ब्रह्म हूँ' – इसप्रकार की वेदान्तवाक्यों से जन्य बुद्धिवृत्ति – अन्तःकरणवृत्ति[164] से युक्त = उससे सदा अन्वित ब्रह्मवित् संन्यासी धृति = धैर्यपूर्वक आत्मा = शरीर और इन्द्रियों के संघात को नियम में कर = उन्मार्ग – कुमार्ग से उसकी प्रवृत्ति को रोककर उसको आत्मप्रवण कर – आत्मा में प्रवृत्त कर; – यहाँ 'च' शब्द से योगशास्त्र में उक्त अन्य साधनों का समुच्चय किया जाता है; -- शब्दादि = शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप, भोग के द्वारा बन्धन के हेतुभूत विषयों को तथा प्रकरण के सामर्थ्य से जो ज्ञाननिष्ठा के लिए शरीर की स्थितिमात्र प्रयोजन में उपयुक्त नहीं हैं ऐसे अनिषिद्ध भी विषयों को त्यागकर; शरीर की स्थितिमात्र प्रयोजनवाले उन विषयों में राग और द्वेष का परित्याग कर; चकार से अन्य भी ज्ञानविक्षेपक विषयों[165] का भी परित्याग कर; 'विविक्तसेवी' -- इत्यादि में 'स्यात्' -- इस क्रियापद के अध्याहार द्वारा, अथवा -- 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' -- इसके द्वारा अन्वय करना चाहिए ॥ 51 ॥

136 विविक्तसेवी = विविक्त-- जनसमूह से रहित और पवित्र जो अरण्य-वन, गिरिगुहादि है उनका सेवन करने का जिसका स्वभाव है वह विविक्तसेवी अर्थात् चित्त की एकाग्रता प्राप्त करने के लिए उसमें विक्षेपकारी कारणों से रहित; लघ्वाशी = लघु अर्थात् परिमित, हितकारी और मेध्य – विशुद्ध-पवित्र भोजन करने का स्वभाव जिसका है वह लघ्वाशी अर्थात् निद्रा, आलस्यादि चित्तलयकारी पदार्थों

---

164. वर्तनं वृत्तिः = व्यापार को 'वृत्ति' कहते हैं, अन्तःकरण के व्यापार अथवा परिणामविशेष को 'अन्तःकरणवृत्ति' कहते हैं । जिसप्रकार तालाब का जल तालाब की एक नालिका द्वारा निकलकर नहर के समान प्रवाहित होकर क्षेत्र के केदारों में प्रविष्ट होकर उन केदारों के ही समान त्रिकोण – चतुष्कोण आदि आकारों को प्राप्त होता है उसीप्रकार तैजस होने से अतिशीघ्रगामी अन्तःकरण भी चक्षु आदि के द्वारा निकलकर घटादि विषयदेश को प्राप्त होकर घटादि विषयों के आकाररूप से परिणमित होता है यही अन्तःकरण की परिणामवृत्ति है (वेदान्तपरिभाषा) । अन्तःकरण की इस वृत्ति के चार भेद हैं – संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण ।इस वृत्तिचतुष्टय के आधार क्रमशः मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त हैं । यह अन्तःकरणवृत्ति दो प्रकार की कही जा सकती है – लौकिक और आध्यात्मिक । लौकिक वृत्ति का कार्य लौकिक विषयगत अज्ञान को दूर करके उस विषय का बोध कराना है और आध्यात्मिक वृत्ति अध्यारोप-अपवाद-न्याय से 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' – इन दोनों पदों के अर्थ का शोधन करती है, उसके फलस्वरूप अधिकारी को अखण्डार्थ का बोध होता है और उस अधिकारी में 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध आदि अद्वैत ब्रह्म हूँ' – ऐसी अन्तःकरणवृत्ति का उदय होता है ।

165. चकार से यहाँ मात्सर्यादि ज्ञानविक्षेपक अन्य विषयों का ग्रहण है ।

तीर्थयात्रादिपरः कदाचिदित्यर्थः । वैराग्यं दृष्टादृष्टविषयेषु स्पृहाविरोधिचित्तपरिणामं समुपाश्रितः सम्यङ्निश्चलत्वेन नित्यमाश्रितः ॥ 52 ॥

137 अहंकारं महाकुलप्रसूतोऽहं महतां शिष्योऽतिविरक्तोऽस्मि नास्ति द्वितीयो मत्सम इत्यभिमानं, बलमसदाग्रहं न तु शारीरं तस्य स्वाभाविकत्वेन त्यक्तुमशक्यत्वात्, दर्पं हर्षजन्यं मदं धर्मातिक्रमकारणं 'हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति' इति स्मृतेः, कामं विषयाभिलाषं 'वैराग्यं समुपाश्रित' इत्यनेनोक्तस्यापि कामत्यागस्य पुनर्वचनं यत्नाधिक्यार्थम्, क्रोधं, द्वेषं, परिग्रहं शरीरधारणार्थमस्पृहत्वेऽपि परोपनीतं बाह्योपकरणं विमुच्य त्यक्त्वा शिखायज्ञोपवीतादिकमपि, दण्डमेकं कमण्डलुं कौपीनाच्छादनं च शास्त्राभ्यनुज्ञातं स्वशरीरयात्रार्थमादाय परमहंसपरिव्राजको भूत्वा निर्ममो देहजीवनमात्रेऽपि ममकाररहितः । अत एवाहंकारममकाराभावादपगतहर्षविषादत्वाच्छान्तश्चित्तविक्षेपरहितो यतिर्ज्ञानसाधनपरिपाकक्रमेण ब्रह्मभूयाय ब्रह्मसाक्षात्काराय कल्पते समर्थो भवति ॥ 53 ॥

138 केन क्रमेण ब्रह्मभूयाय कल्पत इति तदाह—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ 54 ॥

से रहित; यतवाक्कायमानस = यत -- संयत किये हैं वाणी, शरीर और मन जिसने वह यतवाक्कायमानस अर्थात् यम, नियम, आसनादि साधनों से सम्पन्न; नित्य ध्यानयोगपर = 'ध्यान' चित्त के आत्माकार प्रत्यय की आवृत्ति है और आत्माकार प्रत्यय के द्वारा चित्त को निर्वत्तिक -- वृत्तिशून्य करना 'योग' है -- इस ध्यान और योग में ही जो नित्य -- सर्वदा ही तत्पर है -- अनुष्ठानपर है अर्थात् मन्त्र, जप, तीर्थयात्रादि में कदाचित् तत्पर नहीं है वह ध्यानयोगपर होकर; वैराग्य अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट विषयों में स्पृहा के विरोधी चित्त के परिणाम के समुपाश्रित = सम्यक् -- निश्चलतापूर्वक नित्य-सर्वदा आश्रित हो ॥ 52 ॥

137 अहंकार = 'मैं महाकुलप्रसूत हूँ, महापुरुषों का शिष्य हूँ, अतिविरक्त हूँ, मेरे समान कोई दूसरा नहीं है' -- इसप्रकार के अभिमान; बल = मिथ्या आग्रह, न कि शारीरिक बल, क्योंकि स्वाभाविक होने से शारीरिक बल का तो त्याग नहीं किया जा सकता है; दर्प = हर्षजन्य मद, जो कि धर्म के अतिक्रमण का कारण है, जैसा कि 'हृष्ट पुरुष को दर्प होता है और दर्पवाला पुरुष धर्म का अतिक्रमण करता है' -- इस स्मृति से सिद्ध होता है; काम = विषय की अभिलाषा, 'वैराग्यं समुपाश्रितः' -- इस वचन से ही कामत्याग यद्यपि उक्त है तथापि प्रयत्न की अधिकता के लिए पुनः उक्तवचन है; क्रोध -- द्वेष; परिग्रह = स्पृहा -- इच्छा न होने पर भी दूसरे के द्वारा लाये हुए शरीरधारण में उपयोगी बाह्य उपकरण -- पदार्थ का त्यागकर; शिखायज्ञोपवीतादि को भी छोड़कर; अपने शरीर की यात्रा के लिए शास्त्राज्ञानुसार दण्ड, एक कमण्डलु, कौपीन और ओढ़ने का वस्त्र लेकर; परमहंस परिव्राजक होकर निर्मम अर्थात् देह के जीवनमात्र में भी ममकाररहित हो, अतएव अहंकार और ममकार का अभाव हो जाने से हर्ष और विषाद से शून्य हो जाने के कारण शान्तचित्त और विक्षेपरहित हुआ ज्ञानसाधनों के परिपाक के क्रम से ब्रह्मभूय = ब्रह्म साक्षात्कार के लिए कल्पित -- समर्थ होता है ॥ 53 ॥

138 किस क्रम से ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए कल्पित -- समर्थ होता है, उसको कहते हैं --

139 ब्रह्मभूतोऽहं ब्रह्मास्मीतिदृढनिश्चयवाञ्श्रवणमननाभ्यासात्, प्रसन्नात्मा शुद्धचित्तः शमदमाद्यभ्यासात् । अत एव न शोचति नष्टं न काङ्क्षत्यप्राप्तम् । अत एव निग्रहानुग्रहयोरनारम्भात्समः सर्वेषु भूतेषु आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखं दुःखं च पश्यतीत्यर्थः । एवंभूतो ज्ञाननिष्ठो यतिर्मद्भक्तिं मयि भगवति शुद्धे परमात्मनि भक्तमुपासनां मदाकारचित्तवृत्त्यावृत्तिरूपां परिपक्वनिदिध्यासनाख्यां श्रवणमननाभ्यासफलभूतां लभते परां श्रेष्ठामव्यवधानेन साक्षात्कारफलां चतुर्विधा भजन्ते मामित्यत्रोक्तस्य भक्तिचतुष्टयस्यान्त्यां ज्ञानलक्षणामिति वा ॥ 54 ॥

140 ततश्च–

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ 55 ॥

141 भक्त्या निदिध्यासनात्मिकया ज्ञाननिष्ठया मामद्वितीयमात्मानमभिजानाति साक्षात्करोति । यावान्विभुर्नित्यश्च यश्च परिपूर्णसत्यज्ञानानन्दघनः सदा विध्वस्तसर्वोपाधिरखण्डैकरस एकस्तावन्तं चाभिजानाति । ततो मामेवं तत्त्वतो ज्ञात्वाऽहमस्म्यखण्डानन्दाद्वितीयं ब्रह्मेति साक्षात्कृत्य विशतेऽज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ सर्वोपाधिशून्यतया मद्रूप एव भवति । तदनन्तरं बलवत्प्रारब्ध–

[ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा -- शुद्धचित्तवाला संन्यासी न शोक करता है और न इच्छा ही करता है, वह समस्त प्राणियों में समवर्त्ती होकर मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है ॥ 54 ॥]

139 ब्रह्मभूत = श्रवण और मनन के अभ्यास से 'अहं ब्रह्मास्मि' -- 'मैं ब्रह्म हूँ' -- ऐसे दृढ़ निश्चयवाला, प्रसन्नात्मा = शम-दमादि के अभ्यास से शुद्धचित्तवाला होता है, अतएव वह नष्ट हुई वस्तु के लिए शोक नहीं करता है और अप्राप्त वस्तु के लिए इच्छा नहीं करता है, अतएव निग्रह और अनुग्रह न करने से वह समस्त प्राणियों के प्रति समान होता है अर्थात् अपने ही समान सर्वत्र सुख और दुःख को देखता है । ऐसा ज्ञाननिष्ठ यति मेरी भक्ति अर्थात् मुझ शुद्ध परमात्मा भगवान् में भक्ति -- उपासना को; जो मेरे आकार की चित्तवृत्तियों की आवृत्तिरूपा है, श्रवण-मनन के अभ्यास की फलभूता है और परिपक्व निदिध्यासन संज्ञावाली है; प्राप्त करता है । वह भक्ति परा -- श्रेष्ठा अर्थात् अव्यवधान से आत्मसाक्षात्काररूप फलवाली है । अथवा -- 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' (गीता, 7.16)-- इत्यादि श्लोक में उक्त जो चार प्रकार की भक्ति है उनमें से अन्तिम ज्ञानलक्षणा भक्ति ही पराभक्ति है ॥ 54 ॥

40 इसके अतिरिक्त :--

[भक्ति के द्वारा वह मुझको, जितना और जो हूँ, तत्त्व से जान लेता है, इसके पश्चात् मुझको तत्त्व से जानकर देहपात के अनन्तर मुझमें ही प्रवेश कर जाता है ॥ 55 ॥]

141 भक्ति[166] अर्थात् निदिध्यासनरूपा ज्ञाननिष्ठा के द्वारा वह यति मुझ अद्वितीय आत्मा को जानता है अर्थात् मेरा साक्षात्कार करता है । मैं जितना अर्थात् विभु और नित्य हूँ और जो अर्थात् परिपूर्ण, सत्य, ज्ञान, आनन्दघन, सदा सब उपाधियों से रहित, अखण्डैकरस, एक हूँ वह मुझको उतना और

166. श्रीधर स्वामी ने 'भक्ति' का अर्थ 'पराभक्ति' किया है, जो कि उचित प्रतीत नहीं होता है, कारण कि पराभक्ति अथवा ज्ञाननिष्ठा तो चरम मोक्ष की अवस्था है, उस अवस्था में द्वैतभाव का लेश भी संभव नहीं है, अतएव पराभक्ति के द्वारा भगवान् कितना है, कैसा है -- इन सबको जानकर भगवान् में प्रवेश करने का प्रसंग उपस्थित नहीं हो सकता है ।

कर्मभोगेन देहपातानन्तरं नतु ज्ञानानन्तरमेव । क्त्वाप्रत्ययेनैव तल्लाभे तदनन्तरमित्यस्य वैयर्थ्यापातात् । तस्मात् 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इतिश्रुत्यर्थ एवात्र दर्शितो भगवता । यद्यपि ज्ञानेनाज्ञानं निवर्तितमेव दीपेनेव तमस्तस्य तद्विरोधिस्वभावत्वात्तथाऽपि तदुपादेयमहंकारदेहादि निरुपादानमेव यावत्प्रारब्धकर्मभोगमनुवर्तते दृष्टत्वादेव । नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । तार्किकैरपि हि समवायिकारणनाशाद् द्रव्यनाशमङ्गीकुर्वद्भिर्निरुपादानं द्रव्यं क्षणमात्रं तिष्ठतीत्यङ्गीकृतम् । नित्यपरमाणुसमवेतद्व्यणुकनाशे त्वसमवायिकारणनाशादेव द्रव्यनाशः । समवायिनिरूपितकारणनाशत्वमुभयोरनुगतमिति नाननुगमः । ये त्वसमवायिकारण-

---

वैसे ही जानता है । तदनन्तर मुझको इसप्रकार तत्त्वत: जानकर अर्थात् 'मैं अखण्ड, आनन्द, अद्वितीय ब्रह्म हूँ' – इसप्रकार मेरा साक्षात्कार कर मुझमें ही प्रवेश करता है[167] अर्थात् अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति होने पर सब उपाधियों से शून्य होने के कारण मद्रूप = मेरा रूप ही होता है । तदनन्तर = बलवान् प्रारब्धकर्म के भोग द्वारा देहपात के अनन्तर मुझमें ही प्रवेश करता है, ज्ञान के अनन्तर ही नहीं, क्योंकि 'ज्ञात्वा' पद के 'क्त्वा' प्रत्यय से ही 'ज्ञानानन्तर्य्य' अर्थ का लाभ होने पर 'तदनन्तर' -- यह पद व्यर्थ हो जायेगा[168], इसलिए भगवान् ने यहाँ उक्त अर्थ के द्वारा 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' – 'उसकी विदेहमुक्ति में तभी तक विलम्ब है जबतक उसका देहपात नहीं होता है, देहपात होने पर तो तुरन्त ही मोक्ष प्राप्त होता है' – इस श्रुति के अर्थ को ही दिखलाया है । यद्यपि ज्ञान से अज्ञान दीपक से अन्धकार के समान निवृत्त होता ही है, क्योंकि ज्ञान-प्रकाश और अज्ञान - अन्धकार – दोनों का विरोधी स्वभाव है; तथापि अज्ञान के उपादेय अहंकार, देहादि निरुपादान ही जबतक प्रारब्ध-कर्म रहता है तबतक बने ही रहते हैं, क्योंकि वे दिखाई देते ही हैं और जो वस्तु दिखाई देती है उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं होती है । समवायिकारण[169] के नाश से द्रव्य[170] का नाश स्वीकार करनेवाले तार्किकों ने भी यह स्वीकार किया है कि निरुपादान द्रव्य क्षणमात्र निराधार रहता है[171] । नित्य परमाणुओं से समवेत

---

167. आनन्दगिरि के अनुसार 'मां विशते'-- 'मुझमें प्रवेश करता है' – इसका अर्थ है – 'तत्त्वज्ञान का फल जो विदेहकैवल्य है उसको प्राप्त करता है' ।

168. इसके अतिरिक्त, ज्ञान होते समय ही देहपात का प्रसंग होगा तथा 'विमुक्तश्च विमुच्यते', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' – इत्यादि से मुक्त पुरुष की मुक्ति और माया की निवृत्ति होने पर पुन: उसकी निवृत्ति को बतलानेवाला जीवन्मुक्तिशास्त्र बाधित होगा ।

169. 'यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्' (तर्कसंग्रह) – जिस द्रव्य में समवेत – समवाय सम्बन्ध से वर्तमान कार्य की उत्पत्ति होती है, वह 'समवायिकारण' कहलाता है, जैसे – तन्तु पट का समवायिकारण है और पट स्वगत रूपादि का समवायिकारण है ।

170. 'समवायिकारणं द्रव्यम्' (तर्कभाषा) – समवायिकारण 'द्रव्य' होता है ।

171. न्याय-वैशेषिकशास्त्र के अनुसार एक क्षण ऐसा भी होता है, जबकि निरुपादान द्रव्य क्षणमात्र निराश्रित रहता है । न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त है – (i) समवायिकारण के नाश से कार्य-द्रव्य का नाश होता है, (ii) असमवायिकारण के नाश से भी कार्य-द्रव्य का नाश होता है,(iii) समवायिकारण और असमवायिकारण – इन दोनों कारणों के नाश से भी कार्य-द्रव्य का नाश होता है । पट का समवायिकारण तन्तु है और असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' है । अतएव कदाचित् समवायिकारणभूत 'तन्तु' के नाश से कार्यभूत 'पट' का नाश होगा, कदाचित् असमवायिकारणभूत 'तन्तुसंयोग' के नाश से भी कार्यभूत 'पट' का नाश होगा, और कदाचित् 'तन्तु' और 'तन्तुसंयोग' -- इन दोनों के नाश से भी पट का नाश होगा । न्याय-वैशेषिक का एक अन्य सिद्धान्त यह भी है कि 'कारण' कार्य का नियतपूर्ववर्ती होता है (कार्यनियतपूर्ववर्ति कारणम् – तर्कसंग्रह) । अतएव पटनाश में कारणभूत जो तन्तुनाश है वह अवश्य ही पटनाश के पूर्वक्षण में रहेगा । तन्तुनाश से पटनाश के होने में क्रम इसप्रकार रहेगा –

नाशमेव सर्वत्र कार्यद्रव्यनाशकमिच्छन्ति तेषामाश्रयनाशस्थले क्षणद्वयमनुपादानं कार्यं तिष्ठति । एवं च तत्रैव प्रतिबन्धकसंनिपाते बहुकालावस्थितिः केन वार्यते । प्रारब्धकर्मणश्च प्रतिबन्धकत्वं श्रुतिसिद्धमन्तःकरणदेहाद्यवस्थित्यन्यथानुपपत्तिसिद्धं च । एवं शिष्यसेवकाद्यदृष्टमपि तत्प्रतिबन्धकं तदभावमपेक्ष्य च पूर्वसिद्ध एवाज्ञाननाशस्तत्कार्यमन्तःकरणादिकं नाशयतीति न पुनर्ज्ञानापेक्षा । तदुक्तं –

'तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम् ।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः ॥' इति ।

द्व्यणुक का नाश होने पर तो असमवायिकारण[172] के नाश से ही द्रव्य का नाश होता है । समवायिनिरूपित कारणनाशत्व उक्त दोनों पक्षों में अनुगत है [173] -- इसप्रकार उनमें अननुगम-दोष नहीं है । जो तो असमवायिकारण के नाश को ही सर्वत्र कार्य-द्रव्य का नाशक मानते हैं, उनके मत में आश्रयनाश के स्थल पर दो क्षण तक अनुपादान कार्य रहता है[174] । इसप्रकार वहीं यदि अनेक प्रतिबन्धक आ गिरें तो उस कार्य-द्रव्य की बहुकालावस्थिति को कौन रोक सकता है ? प्रारब्ध-कर्म का प्रतिबन्धकत्व तो श्रुतिसिद्ध है और अन्तःकरण, देहादि की अवस्थिति अन्यथा अनुपपत्ति-सिद्ध है । इसीप्रकार शिष्य-सेवकादि का अदृष्ट भी कार्य-शरीर के नाश का प्रतिबन्धक है, उस प्रतिबन्धक के अभाव की अपेक्षा कर पूर्वसिद्ध ही अज्ञाननाश उस अज्ञान के कार्य – अन्तःकरणादि का नाश करता है, एतदर्थ उसको पुनः ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है । ऐसा कहा भी है :--

''जो ज्ञान प्राप्त करके शोकरहित हो गया है वह ज्ञान प्राप्त होने के समय ही मुक्त हो जाता है और वह तीर्थ में अथवा श्वपच -- चाण्डाल के घर में ज्ञान के विस्मृत हो जाने पर भी देह का परित्याग करते हुए कैवल्य प्राप्त करता है'' ।

पटनाश का कारण → तन्तुनाश → पूर्वक्षण में होगा ।
तन्तुनाश का कार्य → पटनाश → उत्तरक्षण में होगा ।
इस परिस्थिति में जब पूर्वक्षण में तन्तुनाश हो जायेगा, तब एक क्षण के लिए पट को बिना किसी उपादान – आश्रय के निराश्रित ही रहना होगा ।

172. 'कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् यत् कारणं तदसमवायिकारणम्' (तर्कसंग्रह) – जो कार्य अथवा कारण के साथ एक वस्तु में समवेत – समवाय सम्बन्ध से युक्त होता हुआ कारण होता है वह 'असमवायिकारण' कहलाता है, जैसे-- तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है और तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है ।

173. अभिप्राय यह है कि समवायिकारण के नाश से द्रव्य का नाश होता है और असमवायिकारण के नाश से भी द्रव्य का नाश होता है – ये दो पक्ष हैं, इन दोनों ही पक्षों में कोई अननुगम–दोष नहीं है, क्योंकि दोनों ही पक्षों में समवायिनिरूपितकारणनाशत्व अनुगत है ।

174. उदाहरण के लिए असमवायिकारणभूत 'तन्तुसंयोग' का नाश ही कार्यभूत 'पट' का नाशक होगा, 'तन्तुसंयोग' के नाश से 'पट' का नाश होने में क्रम इसप्रकार रहेगा –
पटनाश का कारण → तन्तुसंयोगनाश → पूर्वक्षण में होगा ।
तन्तुसंयोगनाश का कारण → तन्तुनाश → द्वितीयक्षण में होगा ।
तन्तुनाश का कार्य → पटनाश → तृतीयक्षण में होगा ।
इस परिस्थिति में जब पूर्वक्षण में तन्तुसंयोगनाश और द्वितीयक्षण में तन्तुनाश हो जायेगा, तब दो क्षण के लिए पट को बिना किसी उपादान – आश्रय के आश्रयनाश स्थल पर निराश्रित ही रहना होगा ।

142 न जानामीत्यादिप्रत्ययस्तु तस्य निवृत्ताज्ञानस्याप्यज्ञाननाशजनितादनुपादानात्साक्षादात्माश्रयादेवाज्ञानसंस्कारात्तत्त्वज्ञानसंस्कारनिवर्त्यादन्तःकरणस्थित्यवधेरिति विवरणकृतः । अहं ब्रह्मास्मीतिचरमसाक्षात्कारानन्तरमहं ब्रह्म न भवामि न जानामीत्यादिप्रत्ययो नास्त्येव । यदि परं घटं न जानामीत्यादिप्रत्ययः स्यात्तदुपपादनाय चेयं संस्कारकल्पनेति नानुपपन्नम् । अज्ञानलेशपदेनाप्ययमेव संस्कारो विवक्षितः । नहि सावयवमज्ञानं, येन कियन्नश्यति कियत्तिष्ठतीति वाच्यमनिर्वचनीयत्वात् । एकदेशाभ्युपगमे तु तन्निवृत्त्यर्थं पुनश्चरमं ज्ञानमपेक्षितमेव । तच्च मृतिकाले दुर्घटमिति तत्त्वज्ञानसंस्कारनाश्यता तस्याभ्युपेया । ततश्च संस्कारपक्षान्न कोऽपि विशेष इति पूर्वोक्तैव कल्पना श्रेयसी । ईदृशजीवन्मुक्त्यपेक्षया च प्राग्भगवतोक्तम् 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इति, स्थितप्रज्ञलक्षणानि च व्याख्यातानि । तस्मात्साधूक्तं विशते तदनन्तरमिति ॥ 55 ॥

143 ननु योऽनात्मज्ञोऽशुद्धान्तःकरणः सोऽन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तं सहजं कर्म न त्यजेत् । यस्तु शुद्धान्तःकरणः स नैष्कर्म्यसिद्धिं संन्यासेनाधिगच्छतीत्युक्तम् । संन्यासश्च ब्राह्मणेनैव कर्तव्यो न क्षत्रियवैश्याभ्यामिति प्रागुक्तं भगवता 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यत्र ।

---

142 'मैं नहीं जानता हूँ' -- इत्यादि ज्ञान तो जिसका अज्ञान निवृत्त हो गया है ऐसे उस ज्ञानी पुरुष को भी; अज्ञान के नाश से जनित, अनुपादान, साक्षात् आत्माश्रय ही अज्ञान के संस्कार से, जो कि तत्त्वज्ञान के संस्कार से निवर्त्य है; अन्तःकरण की स्थितिपर्यन्त रहता है -- यह विवरणकार का मत है । 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इसप्रकार के चरम साक्षात्कार के अनन्तर 'मैं ब्रह्म नहीं होता हूँ', 'मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ' -- इसप्रकार का ज्ञान होता ही नहीं है । यदि 'मैं परम घट को नहीं जानता हूँ'-- इत्यादि ज्ञान होता तो उसके उपपादन-- ग्रहण के लिए यह संस्कारकल्पना होती, अतः अनुपपत्ति नहीं है । 'अज्ञानलेश' पद से भी यही संस्कार विवक्षित है । अज्ञान सावयव नहीं है जिससे कि यह कहा जाय कि वह कुछ तो नष्ट हो जाता है और कुछ रह जाता है, क्योंकि वह तो अनिर्वचनीय है[175] । यदि 'अज्ञानलेश' को अज्ञान का एकदेश मानते हैं तो उसकी निवृत्ति के लिए पुनः चरम ज्ञान अपेक्षित होगा ही और वह मरणकाल में होना दुर्घट -- अत्यन्त कठिन है, अतः उसमें तत्त्वज्ञानसंस्कारनाश्यता स्वीकार की गई है । तब संस्कारपक्ष से कोई विशेष-भेद नहीं है, अतः पूर्वोक्त ही कल्पना श्रेयसी है । ऐसी जीवन्मुक्ति की अपेक्षा से पूर्व में भगवान् ने कहा है -- 'तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुमको ज्ञान का उपदेश करेंगे' और स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की व्याख्या भी की है, अतः 'विशते तदनन्तरम्' = 'देहपात के अनन्तर मुझमें ही प्रवेश करता है अर्थात् मद्रूप ही होता है' -- यह ठीक ही कहा है ॥ 55 ॥

143 'जो अनात्मज्ञ अशुद्धान्तःकरण है वह अन्तःकरणशुद्धिपर्यन्त सहज -- स्वाभाविक कर्म का त्याग न करे, जो तो शुद्धान्तःकरण है वह नैष्कर्म्यसिद्धि को संन्यास से प्राप्त करता है -- यह कहा है; और संन्यास ब्राह्मण को ही करना चाहिए, क्षत्रिय और वैश्य को नहीं करना चाहिए -- यह भगवान् ने 'कर्मणैव ही संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (गीता, 3.20) = 'जनकादि ने कर्म से ही संसिद्धि प्राप्त की थी' -- इत्यादि से पूर्व में कहा है । उसमें, शुद्धान्तःकरण क्षत्रियादि के द्वारा क्या कर्म अनुष्ठेय

---

175. अज्ञान अथवा माया न सत् है, न असत् है और न उभयरूप है; न भिन्न है, न अभिन्न है और न उभयरूप है; न अङ्गसहित है, न अङ्गरहित है और न उभयरूप है, यह तो अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीयरूप है (विवेकचूडामणि, 111) ।

तत्र शुद्धान्तःकरणेन क्षत्रियादिना किं कर्माण्यनुष्ठेयानि किं वा सर्वकर्मसंन्यासः कर्तव्यः । नाऽऽद्यः–

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥'

इत्यादिना योगमन्तःकरणशुद्धिमारूढस्य कर्मानुष्ठाननिषेधात् । न द्वितीय :–

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।'

इत्यादिना ब्राह्मणधर्मस्य सर्वकर्मसंन्यासस्य क्षत्रियादिकं प्रति निषेधात् । नच कर्मानुष्ठानकर्मत्यागयोरन्यतरमन्तरेण तृतीयः प्रकारोऽस्ति । तस्मादुभयोरपि प्रतिषिद्धत्वेन गत्यन्तराभावेन चावश्यकर्तव्ये प्रतिषेधातिक्रमे कर्मत्याग एव श्रेयान्बन्धहेतुपरित्यागेन मोक्षसाधनपौष्कल्यात्, नतु कर्माण्यनुष्ठेयानि चित्तविक्षेपहेतुत्वेन मोक्षसाधनज्ञानप्रतिबन्धकत्वा-दित्यभिप्रायमर्जुनस्याऽऽलक्ष्याऽऽह भगवान् –

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ 56 ॥

144 **यः पूर्वोक्तैः कर्मभिः शुद्धान्तःकरणः सोऽवश्यं भगवदेकशरणो भगवदेकशरणतापर्यन्तत्वा-दन्तःकरणशुद्धेः । एतादृशश्चेद्ब्राह्मणः संन्यासप्रतिबन्धरहितः सर्वकर्माणि संन्यस्यतु नाम । संसारविमोक्षस्तु तस्य भगवदेकशरणस्य भगवत्प्रसादादेव । एतादृशश्चेत्क्षत्रियादिः संन्यासा-**

हैं अथवा सर्वकर्मसंन्यास कर्तव्य है ? इस संशय में प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि 'जो मुनि अन्तःकरणशुद्धिरूप योग पर आरूढ़ होना चाहता है उसके लिए उसका साधन 'कर्म' कहा गया है और योगारूढ़ उसी के लिए सर्वकर्मसंन्यास ही साधन कहा गया है' (गीता, 6.3) -- इत्यादि से अन्तःकरणशुद्धिरूप योग पर आरूढ़ पुरुष के लिए कर्मानुष्ठान का निषेध किया गया है । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि, 'स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:' (गीता, 3.35) -- 'स्वधर्म में मर जाना अच्छा है, किन्तु परधर्म भयदायक होता है' – इत्यादि से ब्राह्मणधर्म सर्वकर्मसंन्यास का क्षत्रियादि के लिए निषेध किया गया है । कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग – इन दोनों में से किसी एक के बिना तृतीय प्रकार नहीं है, इसलिए दोनों ही के प्रतिषिद्ध होने से और अन्य गति न रहने से जब शास्त्रप्रतिषेध का अतिक्रमण -- उल्लंघन करना आवश्यक ही है तो कर्मत्याग करना ही अच्छा है, क्योंकि बन्धन के हेतु कर्म का परित्याग कर देने से मोक्षसाधन पुष्ट होता है । कर्मों का अनुष्ठान करना उचित नहीं है, क्योंकि चित्तविक्षेप के कारण होने से वे मोक्ष के साधन ज्ञान के प्रतिबन्धक होते हैं' -- ऐसे अर्जुन के अभिप्राय को लक्ष्य कर भगवान् कहते हैं :--

[मेरा आश्रय ग्रहण कर सदा श्रौत-स्मार्त -- सब प्रकार के कर्मों को करता हुआ भी यति मुझ ईश्वर के अनुग्रह से शाश्वत -- नित्य और अव्यय-अपरिणामी पद को प्राप्त करता है ।। 56 ।।]

144 जो पूर्वोक्त कर्मों से शुद्धान्त:करण है वह अवश्य भगवदेकशरण -- भगवान् की ही एकमात्र शरण है, क्योंकि अन्त:करणशुद्धि भगवदेकशरणतापर्यन्त होती है । ऐसा पुरुष यदि ब्राह्मण हो तो संन्यास के प्रतिबन्ध से रहित होने से वह सब कर्मों का संन्यास कर दे, क्योंकि उस भगवदेकशरण ब्राह्मण का संसार से मोक्ष तो भगवान् के प्रसाद -- अनुग्रह से ही हो जायेगा । ऐसा पुरुष यदि संन्यास

नधिकारी स करोतु नाम कर्माणि किंतु मद्व्यपाश्रयः, अहं भगवान्वासुदेव एव व्यपाश्रयः शरणं यस्य स मदेकशरणो मय्यर्पितसर्वात्मभावः संन्यासानधिकारात्सर्वकर्माणि सर्वाणि कर्माणि वर्णाश्रमधर्मरूपाणि लौकिकानि प्रतिषिद्धानि वा सदा कुर्वाणो मत्प्रसादान्ममेश्वरस्यानुग्रहादवाप्नोति हिरण्यगर्भवन्मद्विज्ञानोत्पत्त्या शाश्वतं नित्यं पदं वैष्णवमव्ययमपरिणामि। एतादृशो भगवदेकशरणः करोत्येव न प्रतिषिद्धानि कर्माणि, यदि कुर्यात्तथाऽपि मत्प्रसादात्प्रत्यवायानुत्पत्त्या मद्विज्ञानेन मोक्षभाग्भवतीति भगवदेकशरणतास्तुत्यर्थं सर्वकर्माणि सर्वदा कुर्वाणोऽपीत्यनूद्यते ॥ 56 ॥

145 यस्मान्मदेकशरणतामात्रं मोक्षसाधनं न कर्मानुष्ठानं कर्मसंन्यासो वा तस्मात्क्षत्रियस्त्वम् –

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ 57 ॥

146 चेतसा विवेकबुद्ध्या सर्वकर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि मयीश्वरे संन्यस्य यत्करोषि यदश्नासीत्युक्तन्यायेन समर्प्य मत्परोऽहं भगवान्वासुदेव एव परः प्रियतमो यस्य स मत्परः सन्बुद्धियोगं पूर्वोक्त-

का अनधिकारी क्षत्रिय आदि हो तो वह कर्मों को करता रहे, किन्तु मद्व्यपाश्रय = मैं भगवान् वासुदेव ही व्यपाश्रय – शरण हूँ जिसका वह मदेकशरण = अपने सब भावों को मुझमें ही अर्पित करनेवाला होकर कर्मों को करे, क्योंकि उसको संन्यास का अधिकार नहीं होता है। इसप्रकार सब कर्मों को = वर्णाश्रमधर्मरूप लौकिक अथवा प्रतिषिद्ध -- सब कर्मों को सदा करता हुआ वह मेरे प्रसाद से = मुझ ईश्वर के अनुग्रह से हिरण्यगर्भ के समान मद्विज्ञानोत्पत्ति होने से शाश्वत – नित्य और अव्यय – अपरिणामी वैष्णव पद[176] को प्राप्त करता है। एतादृश भगवदेकशरण पुरुष प्रतिषिद्ध कर्म तो करता ही नहीं है, यदि करे तो भी मेरे प्रसाद-अनुग्रह से प्रत्यवाय -- दुरित – पाप उत्पन्न न होने के कारण वह मेरे विज्ञान से ही मोक्ष का भागी होता है -- इसप्रकार भगवदेकशरणता की स्तुति के लिए 'सर्वकर्माणि सर्वदा कुर्वाणोऽपि' = 'सब प्रकार के कर्मों को सर्वदा करता हुआ भी' – यह अनुवाद है ॥ 56 ॥

145 क्योंकि मदेकशरणतामात्र मोक्ष का साधन है, कर्मानुष्ठान अथवा कर्मसंन्यास नहीं है, इसलिए क्षत्रिय तुम –

[चित्त-विवेकबुद्धि से सब कर्मों का मुझमें संन्यास -- अर्पण कर, मुझ ही को अपना पर- प्रियतम मानकर, समत्वबुद्धिस्वरूप योग का आश्रय ग्रहण कर निरन्तर मुझमें ही चित्त लगानेवाले होओ ॥ 57 ॥]

146 चित्त = विवेकबुद्धि[177] से दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजनवाले सब कर्मों का मुझ ईश्वर में संन्यास कर= 'यत्करोषि यदश्नासि[178]' (गीता, 9.27) -- इत्यादि श्लोक द्वारा उक्तन्याय से समर्पण कर, मत्पर =

176. 'पद' शब्द का अर्थ 'पदनीय' है अर्थात् समस्त उपनिषदों के तात्पर्य का जो गन्तव्य–लक्ष्य स्थान है वही 'पद' – मोक्ष है।

177. भगवान् के प्रसाद से सम्यक् ज्ञान को प्राप्त होकर मुक्ति होती है – इसप्रकार के निश्चय ज्ञान को 'विवेकबुद्धि' कहा जाता है (आनन्दगिरिटीका)।

178. 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (गीता, 9.27)

'हे कौन्तेय ! तुम जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो देते हो और जो तप करते हो – वह सब मुझको अर्पण कर दो'।

समत्वबुद्धिलक्षणं योगं बन्धहेतोरपि कर्मणो मोक्षहेतुत्वसंपादकमुपाश्रित्यानन्यशरणतया स्वीकृत्य मच्चितो मयि भगवति वासुदेव एव चित्तं यस्य न राजनि कामिन्यादौ वा स मच्चित्तः सततं भव ॥ 57 ॥

147 ततः किं स्यादिति तदाह –

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ 58 ॥

148 मच्चित्तस्त्वं सर्वदुर्गाणि दुस्तराणि कामक्रोधादीनि संसारदुःखसाधनानि मत्प्रसादात्स्वव्यापारमन्तरेणैव तरिष्यसि अनायासेनैवातिक्रमिष्यसि । अथ चेद्यदि तु त्वं मदुक्ते विश्वासमकृत्वाऽहंकारात्पण्डितोऽहमिति गर्वान्न श्रोष्यसि मद्वचनार्थं न करिष्यसि ततो विनङ्क्ष्यसि पुरुषार्थाद्भ्रष्टो भविष्यसि कामकारेण संन्यासाद्याचरन् ॥ 58 ॥

149 त्वं च –

यदहंकारमाश्रित्य य योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ 59 ॥

150 अहंकारं धार्मिकोऽहं क्रूरं कर्म न करिष्यामीति मिथ्याभिमानमाश्रित्य न योत्स्ये युद्धं न

मैं भगवान् वासुदेव ही पर – प्रियतम हूँ जिसका वह मत्पर होकर, बुद्धियोग = पूर्वोक्त समत्वबुद्धिस्वरूप योग का, जो कि बन्धन के हेतुभूत कर्म को भी मोक्ष का हेतु बना देनेवाला है, आश्रय ग्रहण कर = अनन्यशरणतया उसको स्वीकार कर निरन्तर मच्चित्त = मुझ भगवान् वासुदेव में ही जिसका चित्त है, राजा अथवा कामिनी आदि में नहीं है, वह तुम मच्चित्त -- मुझमें ही चित्त लगानेवाले होओ ॥ 57 ॥

147 उससे क्या होगा ? उसको कहते हैं :--

[मच्चित्त = मुझमें चित्त लगानेवाले होकर तुम मेरे प्रसाद -- अनुग्रह से समस्त दुस्तर दुःखसाधनों को पार कर जाओगे; और यदि अहंकारवश तुम मेरे वचन को नहीं सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे ॥ 58 ॥]

148 मच्चित = मुझमें चित्त लगानेवाले होकर तुम समस्त दुर्गों = दुस्तरों अर्थात् काम – क्रोधादि संसारदुःखसाधनों को मेरे प्रसाद -- अनुग्रह से अपने व्यापार के बिना ही तर जाओगे अर्थात् अनायास ही पार कर जाओगे । और यदि तुम मेरे वचन में विश्वास न कर अहंकारवश = 'मैं पण्डित हूँ' – इसप्रकार के गर्ववश मेरे वचन को नहीं सुनोगे = मेरे वचन के अनुसार नहीं करोगे तो विनष्ट हो जाओगे अर्थात् स्वेच्छापूर्वक संन्यासादि करते हुए पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाओगे ॥ 58 ॥

149 और तुम –

[यदि अहंकार का आश्रय लेकर ऐसा मानते हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो तुम्हारा यह व्यवसाय --निश्चय मिथ्या--निष्फल ही है, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव तुमको युद्ध में नियुक्त कर ही देगा ॥ 59 ॥]

150 यदि अहंकार = 'मैं धार्मिक हूँ अतएव क्रूर कर्म नहीं करूँगा' – ऐसे मिथ्या अभिमान का आश्रय लेकर ऐसा मानते हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो तुम्हारा यह व्यवसाय – निश्चय मिथ्या --

करिष्यामीति मन्यसे यन्मिथ्या निष्फल एष व्यवसायो निश्चयस्ते तव यस्मात्प्रकृतिः क्षत्रजात्यारम्भको रजोगुणस्वभावस्त्वां नियोक्ष्यति प्रेरयिष्यति युद्धे ॥ 59 ॥

151 प्रकृतिं विवृणोति –

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ 60 ॥

152 स्वभावजेन पूर्वोक्तक्षत्रियस्वभावजेन शौर्यादिना स्वेनानागन्तुकेन कर्मणा निबद्धो वशीकृतस्त्वं हे कौन्तेय यद्बन्धुवधादिनिमित्तं युद्धं मोहात्स्वतन्त्रोऽहं यथेच्छामि तथा संपादयिष्यामीति भ्रमात्कर्तुं नेच्छसि तदवशोऽपि अनिच्छन्नपि स्वाभाविककर्मपरतन्त्रः परमेश्वरपरतन्त्रश्च करिष्यस्येव ॥60 ॥

153 स्वभावाधीनतामुक्त्वेश्वराधीनतां विवृणोति–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ 61 ॥

154 ईश्वर ईशनशीलो नारायणः सर्वान्तर्यामी 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति ।'

यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥'

निष्फल ही है, क्योंकि प्रकृति = क्षत्रियजाति का आरम्भक रजोगुणस्वभाव तुमको युद्ध में नियुक्त कर ही देगा – प्रेरित कर ही देगा[179] ॥ 59 ॥

151 प्रकृति का विवरण करते हैं :–
[हे कौन्तेय ! मोह के कारण जिस कर्म को तुम करना नहीं चाहते हो उसको तुम अपने स्वाभाविक कर्म से बँधे होने के कारण विवश होकर भी करोगे ॥ 60 ॥]

152 स्वभावज = पूर्वोक्त क्षत्रिय-स्वभाव से जनित शौर्यादि अपने अनागन्तुक कर्मों से निबद्ध -- वशीकृत हो तुम, अतएव हे कौन्तेय[180] ! मोह के कारण = 'मैं स्वतंत्र हूँ, जैसा चाहता हूँ वैसा ही करूँगा' – ऐसे भ्रम के कारण जिस बन्धुवधादिनिमित्तक युद्ध को तुम करना नहीं चाहते हो उसको तुम अवश होकर भी = इच्छा न होने पर भी स्वाभाविक कर्म के अधीन और परमेश्वर के अधीन होकर करोगे ही ॥ 60 ॥

153 स्वभाव की अधीनता कहकर ईश्वर की अधीनता का विवरण करते हैं :--
[हे अर्जुन ! ईश्वर यन्त्रारूढ के समान समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमित करता हुआ -- घुमाता हुआ सब प्राणियों के हृदय-देश में रहता है ॥ 61 ॥]

154 ईश्वर = ईशनशील नारायण, -- 'जो पृथिवी में स्थित हुआ पृथिवी के अन्दर है, जिसको पृथिवी नहीं जानती है, जिसका पृथिवी शरीर है और जो पृथिवी को उसके अन्दर रहकर नियमित करता

179. जैसा कि कहा भी है – 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' (गीता, 3.33) 'समस्त भूत अपनी प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं, इसमें निग्रह क्या करेगा ?' ।

180. क्योंकि ऐसा है इसलिए है कौन्तेय ! हे कुन्तीपुत्र ! क्षत्रियशिरोमणि तुम मुझसे सम्बन्धित हो अतएव तुम्हारी युद्ध से विमुखता उचित नहीं है – यह उक्त सम्बोधन से सूचित करते हैं ।

इत्यादिश्रुतिसिद्धः सर्वभूतानां सर्वेषां प्राणिनां हृद्देशेऽन्तःकरणे तिष्ठति सर्वव्यापकोऽपि तत्राभिव्यज्यते सप्तद्वीपाधिपतिरिव राम उत्तरकोसलायां, हेऽर्जुन हे शुक्ल शुद्धान्तःकरण, एतादृशमीश्वरं त्वं ज्ञातुं योग्योऽसीति द्योत्यते । किं कुर्वंस्तिष्ठति भ्रामयन्नितस्तत-श्चालयन्सर्वभूतानि परतन्त्राणि मायया छद्मना यन्त्रारूढानीव सूत्रसंचारादियन्त्रमारूढानि दारुनिर्मितपुरुषादीन्यत्यन्तपरतन्त्राणि यथा मायावी भ्रामयति तद्वदित्यर्थशेषः ॥ 61 ॥

155 **ईश्वरः सर्वभूतानि परतन्त्राणि प्रेरयति चेत्प्राप्तं विधिप्रतिषेधशास्त्रस्य सर्वस्य पुरुषकारस्य चाऽऽनर्थक्यमित्यत्राऽऽह –**

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ 62 ॥

156 **तमेवेश्वरं शरणमाश्रयं संसारसमुद्रोत्तरणार्थं गच्छाऽऽश्रय सर्वभावेन सर्वात्मना मनसा वाचा कर्मणा च हे भारत तत्प्रसादात्तस्यैवेश्वरस्यानुग्रहात्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तात्परां शान्तिं सकार्या-वियानिवृत्तिं स्थानमद्वितीयस्वप्रकाशपरमानन्दरूपेणावस्थानं शाश्वतं नित्यं प्राप्स्यसि ॥ 62 ॥**

157 **सर्वगीतार्थमुपसंहरन्नाह –**

है', 'जो कुछ भी जगत् दिखाई या सुनाई भी देता है उस सबको अन्दर-बाहर से व्याप्त करके नारायण स्थित है'– इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध सर्वान्तर्यामी समस्त भूतों– प्राणियों के हृद्देश = अन्तःकरण में स्थित है = सप्तद्वीपाधिपति राम जैसे उत्तर-कोसल देश में रहे उसीप्रकार सर्वव्यापक होने पर भी वह उस हृद्देश में अभिव्यक्त होता है । हे अर्जुन != हे शुक्ल अर्थात् शुद्धान्तःकरण ! एतादृश ईश्वर को तुम जानने के योग्य हो – यह उक्त सम्बोधन से सूचित करते हैं । यह ईश्वर क्या करता हुआ अन्तःकरण में स्थित रहता है ? वह अपनी माया या छद्म से यन्त्रारूढ के समान परतन्त्र सब भूतों – प्राणियों को भ्रमित करता हुआ = इधर-उधर चलाता हुआ रहता है । जिसप्रकार मायावी सूत्रसंचारादि यन्त्र पर आरूढ़ अत्यन्त परतन्त्र दारु-काष्ठनिर्मित पुरुषादि को घुमाता – चलाता है उसी प्रकार ईश्वर अपनी माया से सब प्राणियों को घुमाता – चलाता हुआ रहता है – इस अर्थ का अध्याहार करना चाहिए ॥ 61 ॥

155 यदि ईश्वर समस्त परतन्त्र प्राणियों को प्रेरित करता है तब तो विधि-प्रतिषेधशास्त्र और सब पुरुषकार की व्यर्थता प्राप्त होती है – इसका उत्तर कहते हैं :–
[हे भारत ! तुम सम्पूर्ण भाव से उस शरणरूप ईश्वर का ही आश्रय ग्रहण करो । उसके प्रसाद – अनुग्रह से तुम परम शान्ति और शाश्वत – नित्य स्थान – पद को प्राप्त होओगे ॥ 62 ॥]

156 हे भारत[181] ! तुम सर्वभाव से = सर्वात्मना – मन, वाणी और कर्म से उस शरण = आश्रयरूप ईश्वर का ही संसारसमुद्र से पार होने के लिए आश्रय ग्रहण करो, उस ईश्वर के ही प्रसाद = तत्त्वज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त अनुग्रह से तुम परा शान्ति = कार्यसहित अविद्या की निवृत्ति और शाश्वत = नित्य स्थान = अद्वितीय, स्वप्रकाश, परमानन्दरूप से अवस्थान– अवस्थिति को प्राप्त होओगे ॥ 62 ॥

157 सम्पूर्ण गीता के अर्थ का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं :–

---

181. हे भारत ! – यह सम्बोधन करते हुए भगवान् सूचित करते हैं कि तुम उत्तम वंश– भरतवंश में उत्पन्न हुए हो अतएव तुम ईश्वर की शरण ग्रहण करने पर उनके अनुग्रह से परम शान्ति और शाश्वत पद को प्राप्त करने के योग्य हो ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ 63 ॥

158 इति अनेन प्रकारेण ते तुभ्यमत्यन्तप्रियाय ज्ञानमात्ममात्रविषयं मोक्षसाधनं गुह्याद्गुह्यतरं परमरहस्यादपि संन्यासान्तात्कर्मयोगाद्रहस्यतरं तत्फलभूतत्वादाख्यातं समन्तात्कथितं मया सर्वज्ञेन परमाप्तेन । अतो विमृश्य पर्यालोच्यैतन्मयोपदिष्टं गीताशास्त्रमशेषेण सामस्त्येन सर्वैकवाक्यतया ज्ञात्वा स्वाधिकारानुरूप्येण यथेच्छसि तथा कुरु न त्वेतदविमृश्यैव कामकारेण यत्किंचिदित्यर्थः ।

159 अत्र चैतावदुक्तम्—अशुद्धान्तःकरणस्य मुमुक्षोर्मोक्षसाधनज्ञानोत्पत्तियोग्यताप्रतिबन्धकपापक्षयार्थं फलाभिसंधिपरित्यागेन भगवदर्पणबुद्ध्या वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानं, ततः शुद्धान्तःकरणस्य विविदिषोत्पत्तौ गुरुमुपसृत्य ज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यविचाराय ब्राह्मणस्य सर्वकर्मसंन्यासः, ततो भगवदेकशरणतया विविक्तदेशसेवादिज्ञानसाधनाभ्यासाच्छ्रवणमननिदिध्यासनैरात्मसाक्षात्कारोत्पत्त्या मोक्ष इति । क्षत्रियादेस्तु संन्यासानधिकारिणो मुमुक्षोरन्तःकरणशुद्ध्यनन्तरमपि भगवदाज्ञापालनाय लोकसंग्रहाय च यथाकथंचित्कर्माणि कुर्वतोऽपि भगवदेकशरणतया पूर्वजन्मकृतसंन्यासादिपरिपाकाद्वा हिरण्यगर्भन्यायेन तदनपेक्षणाद्वा भगवदनुग्रहमात्रेणेहैव तत्त्वज्ञानोत्पत्त्याऽग्रिमजन्मनि ब्राह्मणजन्मलाभेन संन्यासादिपूर्वकज्ञानोत्पत्त्या वा मोक्ष इति । एवं विचारिते च नास्ति मोहावकाश इति भावः ॥ 63 ॥

[इसप्रकार मैंने तुमको गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान का उपदेश किया है, इस पर पूर्णतया विचार करके तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो ॥ 63 ॥]

158 इति = इसप्रकार सर्वज्ञ, परम आप्त मैंने अत्यन्त प्रिय तुमको गुह्य से भी गुह्यतर = संन्यास में समाप्त होनेवाले परम रहस्य कर्मयोग से भी, उसका फलभूत होने के कारण, रहस्यतर ज्ञान = आत्ममात्रविषयक मोक्ष का साधन 'आ = समन्तात् ख्यातं = कथितम्' = पूर्णरूप से कहा है । अत: इस मेरे द्वारा उपदिष्ट गीताशास्त्र का अशेषतया = सम्पूर्णतया विमर्श – पर्यालोचन कर = सम्पूर्ण को एकवाक्यता से जानकर अपने अधिकार के अनुरूप तुम जैसा चाहो वैसा करो, किन्तु इसका विमर्श – विचार किये बिना ही स्वेच्छा से जो कुछ चाहो वह नहीं करना -- यह अर्थ है ।

159 यहाँ इतना कहा है-- अशुद्धान्तःकरण मुमुक्षु को मोक्ष के साधन ज्ञानोत्पत्तियोग्यता के प्रतिबन्धक पाप का क्षय करने के लिए फलाभिसंधि – फलाकांक्षापरित्यागपूर्वक भगवदर्पणबुद्धि से वर्णाश्रमानुसार धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, तदुपरान्त शुद्धान्तःकरण ब्राह्मण को विविदिषा की उत्पत्ति होने पर गुरु के समीप जाकर ज्ञान के साधन वेदान्तवाक्यों के विचार के लिए सर्वकर्मसंन्यास = समस्त कर्मों का त्याग करना चाहिए, तदनन्तर भगवदेकशरणतापूर्वक विविक्तदेशसेवा – एकान्तसेवनादि ज्ञान के साधनों का अभ्यास करने से श्रवण-मनन-निदिध्यासन के द्वारा आत्मसाक्षात्कार की उत्पत्ति होने से मोक्ष होता हैं; किन्तु संन्यास के अनधिकारी, मुमुक्षु क्षत्रियादि को अन्तःकरणशुद्धि के पश्चात् भी भगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए और लोकसंग्रह के लिए किसी न किसी प्रकार कर्मों को करते हुए भी भगवदेकशरणता से अथवा पूर्वजन्म में किये हुए संन्यासादि के परिपाक से अथवा हिरण्यगर्भ के समान संन्यास की अनपेक्षा से भगवान् के अनुग्रहमात्र से ही यहाँ तत्त्वज्ञानोत्पत्ति

160 अतिगम्भीरस्य गीताशास्त्रस्याशेषतः पर्यालोचनक्लेशनिवृत्तये कृपया स्वयमेव तस्य सारं संक्षिप्य कथयति –

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति[182-183] ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ 64 ॥

161 पूर्वं हि गुह्यात्कर्मयोगाद्गुह्यतरं ज्ञानमाख्यातमधुना तु कर्मयोगात्तत्फलभूतज्ञानाच्च सर्वस्मादतिशयेन गुह्यं रहस्यं गुह्यतमं परमं सर्वतः प्रकृष्टं मे मम वचो वाक्यं भूयस्तत्र तत्रोक्तमपि त्वदनुग्रहार्थं पुनर्वक्ष्यमाणं शृणु । न लाभपूजाख्यात्याद्यर्थं त्वां ब्रवीमि किं तु इष्टः प्रियोऽसि मे मम दृढमतिशयेनेति यतस्ततस्तेनैवेष्टत्वेन वक्ष्यामि कथयिष्याम्यपृष्टोऽपि सन्नहं ते तव हितं परमं श्रेयः ॥ 64 ॥

162 तदेवाऽऽह –

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ 65 ॥

हो जाने से अथवा आगामी जन्म में ब्राह्मणजन्म के लाभ से संन्यासादिपूर्वक ज्ञानोत्पत्ति होने से मोक्ष प्राप्त होता है । इसप्रकार विचार करने पर मोह के लिए अवकाश नहीं रहता है – यह भाव है ॥ 63 ॥

160 अतिगम्भीर गीताशास्त्र के अशेषतया -- सम्पूर्णतया पर्यालोचनरूप क्लेश से निवृत्ति के लिए कृपापूर्वक भगवान् स्वयं ही उसके सार को संक्षिप्त करके कहते हैं :--
[अब तुम पुनः मेरा सबसे गुह्यतम परम वचन सुनो । तुम मेरे अतिशय प्रिय हो, इसलिए मैं तुम्हारे हित के लिए वचन कहूँगा ॥ 64 ॥]

161 पूर्व में गुह्य कर्मयोग से गुह्यतर ज्ञान को कहा, अब तो कर्मयोग और उसके फलभूत ज्ञान -- सबसे अतिशय गुह्य – रहस्य अर्थात् गुह्यतम अतएव परम = सर्वतः प्रकृष्ट – सबसे श्रेष्ठ मेरे वचन = वाक्य को भूयः = वहाँ-वहाँ उक्त भी तुम्हारे अनुग्रह के लिए पुनः कहा जाता हुआ सुनो । मैं तुमको यह वचन लाभ, पूजा, ख्याति आदि के लिए नहीं कह रहा हूँ, किन्तु क्योंकि तुम मेरे दृढ़ = अतिशय इष्ट = प्रिय हो, इसलिए उस इष्टता के कारण ही, तुम्हारे न पूछने पर भी, मैं यह तुम्हारे हित अर्थात् परम श्रेय-कल्याण के लिए कहूँगा ॥ 64 ॥

162 वही कहते हैं :--
[तुम मुझमें ही मन लगानेवाले होओ, मेरे ही भक्त और मेरा ही पूजन करनेवाले होओ तथा मुझको ही नमस्कार करो । इससे तुम मुझको ही प्राप्त होओगे -- यह मैं तुमको सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो ॥ 65 ॥]

---

182. कोई विद्वान् 'दृढमिति' के स्थान पर 'दृढमतिः' – यह पाठ भी स्वीकार करते हैं ।
183. मधुसूदन सरस्वती ने इति का अर्थ 'यतः' करके श्लोकस्थ 'ततः' से सङ्गति की है, जबकि शाङ्करभाष्य में 'इति कृत्वा ततः' और श्रीधरीटीका में 'इति मत्वा ततः'– इसप्रकार अन्वय किया गया है, उक्त अन्वय पूर्व की अपेक्षा प्रसिद्धार्थ में अन्वित होने के कारण सहज सा प्रतीत होता है ।

163 मयि भगवति वासुदेवे मनो यस्य स मन्मना भव सदा मां चिन्तय । द्वेषेण कंसशिशुपालादिरपि तथाऽत आह—मद्भक्तः प्रेम्णा मय्यनुरक्तः, मद्विषयेणानुरागेण सदा मद्विषयं मनः कुर्विति विधीयते । त्वद्विषयोऽनुराग एव केन स्यादित्यत आह—मयाजी मां यष्टुं पूजयितुं शीलं यस्य स सदा मत्पूजापरो भव । पूजोपकरणाभावे तु मां नमस्कुरु कायेन वाचा मनसा च प्रह्वीभवनेनाऽऽराधय । इदं चार्चनं वन्दनं चान्येषामपि भागवतधर्माणामुपलक्षणम् । तथा चोक्तं श्रीभागवते –

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥' इति

एतच्च भक्तिरसायने व्याख्यातं विस्तरेण । एवं सदा भागवतधर्मानुष्ठानेन मय्यनुरागोत्पत्त्या मन्मनाः सन्मां भगवन्तं वासुदेवमेवैष्यसि प्राप्स्यसि वेदान्तवाक्यजनितेन मद्बोधेन । त्वं चात्र संशयं मा कार्षीः, सत्यं यथार्थं ते तुभ्यं प्रतिजाने सत्यामेव प्रतिज्ञां करोम्यस्मिन्नर्थे । यतः प्रियोऽसि मे, प्रियस्य प्रतारणा नोचितैवेति भावः । सत्यन्ते प्रारब्धकर्मणोऽन्ते सति मामेष्यसीति वा । अनुवादापेक्षया विश्वासदार्ढ्यप्रयोजनं प्रथमं व्याख्यानमेव श्रेयः । अनेन यत्पूर्वमुक्तं –

---

163 तुम मुझ भगवान् वासुदेव में ही मन है जिसका वह मन्मना होओ अर्थात् सदा मेरा ही चिन्तन करो । द्वेष से तो कंस, शिशुपाल आदि भी सदा आपका चिन्तन करते थे, अत: कहते हैं – मद्भक्त = प्रेम से मुझमें ही अनुरक्त होओ अर्थात् मद्विषयक – मुझको ही विषय करनेवाले अनुराग से सदा मद्विषयक – मुझको ही विषय करनेवाला मन करो – यह विधान करते हैं । आपको विषय करनेवाला अनुराग ही कैसे होगा ? इसपर कहते हैं – मद्याजी = मेरा यजन – पूजन करने का स्वभाव है जिसका वह मद्याजी – सदा मेरी ही पूजा करनेवाले होओ । यदि पूजा की सामग्री न हो तो मुझको नमस्कार करो = शरीर, वाणी और मन से विनम्रतापूर्वक मेरी आराधना करो । ये अर्चन और वन्दन अन्य भागवत धर्मों के भी उपलक्षण हैं । इसीप्रकार श्रीमद्भागवत में कहा है :–

"विष्णु भगवान् का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन – ये भक्ति के नौ भेद हैं । यदि किसी पुरुष के द्वारा भगवान् विष्णु के प्रति समर्पण-भाव से यह नौ प्रकार की भक्ति की जाती है तो उसी को मैं उत्तम अध्ययन मानता हूँ' (श्रीमद्भागवतपुराण, 7.5.23-24) ।

इसकी 'भक्तिरसायन[184]' ग्रन्थ में विस्तार से व्याख्या की है । इसप्रकार सदा भागवत धर्मों के अनुष्ठान से मुझमें अनुराग उत्पन्न होगा उससे मन्मना = मुझमें ही मन लगानेवाले होकर तुम वेदान्तवाक्यजनित मेरे बोध के द्वारा मुझ-भगवान् वासुदेव को ही प्राप्त होओगे – तुम इसमें संशय मत करो, मैं तुमसे यह सत्य -- यथार्थ प्रतिज्ञा करके कहता हूँ अर्थात् इस विषय में सत्य ही प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो, प्रिय को प्रतारणा – धोखा देना उचित ही नहीं है– यह भाव है[185] । अथवा, श्लोकस्थ 'सत्यं ते' -- इन दो पदों में 'सत्यन्ते' – इसप्रकार सन्धि

---

184. द्रष्टव्य – मधुसूदन-सरस्वती-विरचित 'श्रीभगवद्भक्तिरसायन', स्वोपज्ञटीकासहित, प्रथम उल्लास, हरिगुणश्रुति – चतुर्थी भूमिका ।

185. वाक्यार्थ यह है कि इसप्रकार भगवान् को सत्यप्रतिज्ञ जानकर तथा 'भगवान् की भक्ति का फल अवश्यंभावी – ऐकान्तिक मोक्ष है' – यह निश्चय कर मनुष्य को एकमात्र भगवान् की शरण में ही तत्पर होना चाहिए ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥'

इति तद्व्याख्यातं मच्छब्देनेश्वरत्वप्रकटनात् ॥ 65 ॥

164 अधुना तु 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति,' 'तमेव सर्वभावेन शरणं गच्छ' इति यदुक्तं तद्विवृणोति –

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ 66 ॥

165 केचिद्वर्णधर्माः केचिदाश्रमधर्माः केचित्सामान्यधर्मा इत्येवं सर्वानपि धर्मान्परित्यज्य विद्यमानानविद्यमानान्वा शरणत्वेनानादृत्य मामीश्वरमेकमद्वितीयं सर्वधर्माणामधिष्ठातारं फलदातारं च शरणं व्रज, धर्माः सन्तु न सन्तु वा किं तैरन्यसापेक्षैर्भगवदनुग्रहादेव त्वन्यनिरपेक्षादहं कृतार्थो भविष्यामीति निश्चयेन परमानन्दघनमूर्तिमनन्तं श्रीवासुदेवमेव भगवन्तमनुक्षणभावनया भजस्व, इदमेव परमं तत्त्वं नातोऽधिकमस्तीति विचारपूर्वकेण प्रेमप्रकर्षेण सर्वानात्मचिन्ताशून्यया मनोवृत्त्या तैलधारावदविच्छिन्नया सततं चिन्तयेत्यर्थः ।

करके यह अर्थ होगा – 'सति अन्ते' = 'प्रारब्धकर्मणोऽन्ते सति' – प्रारब्ध कर्मों का अन्त होने पर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे – यह मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो' । इस अनुवाद की अपेक्षा विश्वास की दृढ़ता के लिए प्रथम व्याख्यान ही श्रेयस्कर है, इससे जो पूर्व में कहा है –

'जिससे आकाशादि भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सब दृश्यसमूह व्याप्त है उस अन्तर्यामी भगवान् की अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार श्रुतिस्मृतिविहित कर्मों से अर्चना करके मानव सिद्धि को प्राप्त होता है' (गीता, 18.46) -- उसकी व्याख्या की गई है, क्योंकि यहाँ 'मत्' शब्द से भगवान् ने अपनी ईश्वरता प्रकट की है ।। 65 ।।

164 'ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'; 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत' = 'हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय-देश में रहता है; हे भारत ! तुम सम्पूर्ण भाव से उस ईश्वर की ही शरण में जाओ' (गीता, 18.61-62) – यह जो कहा है उसका अब विवरण करते हैं :--

[हे अर्जुन ! तुम सब धर्मों का परित्याग कर एक मेरी ही शरण में आ जाओ, मैं तुमको सब पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो ।। 66 ।।]

165 हे अर्जुन ! कोई वर्णधर्म है, कोई आश्रमधर्म हैं, कोई सामान्यधर्म हैं – इसप्रकार विद्यमान अथवा अविद्यमान सब धर्मों का परित्याग कर = उनका शरणत्वेन अनादर कर सब धर्मों – कर्मों के अधिष्ठाता और फलदाता एक, अद्वितीय मुझ ईश्वर की ही शरण[186] में आ जाओ; धर्म हों अथवा न हों – उन अन्यसापेक्ष धर्मों से क्या प्रयोजन है ? अन्यनिरपेक्ष भगवान् के अनुग्रह से ही मैं कृतार्थ होऊँगा – इस निश्चय से परमानन्दघनमूर्ति अनन्त श्री वासुदेव भगवान् का ही प्रतिक्षण भावनापूर्वक भजन करो, – यही परम तत्त्व है, इससे अधिक नहीं है – इसप्रकार विचारपूर्वक प्रेम के प्रकर्ष से सब अनात्म पदार्थों की चिन्ता से शून्य और तैलधारा के समान अविच्छिन्न मनोवृत्ति से सतत-निरन्तर चिन्तन करो – यह अर्थ है ।

---

186. 'शृणाति हिनस्त्यविद्यादीन्क्लेशादीन् शरणमाश्रय: परायणमिति' (नीलकण्ठीटीका) = अविद्या आदि पाँच क्लेशों को जो नष्ट करता है उसको 'शरण' कहते हैं अतएव शरण का अर्थ भगवदाश्रय अथवा भगवत्परायण होना है ।

166 अत्र मामेकं शरणं व्रजेत्यनेनैव सर्वधर्मशरणतापरित्यागे लब्धे सर्वधर्मान्परित्यज्येति निषेधानुवादस्तत्कार्यकारितालाभाय यज्ञायज्ञीये साम्नि ऐरं कृत्वोद्गेयमित्यत्र न गिरा गिरेति ब्रूयादितिवत् । तथा च ममैव सर्वधर्मकार्यकारित्वान्मदेकशरणस्य नास्ति धर्मापेक्षेत्यर्थः । एतेनेदमपास्तं सर्वधर्मान्परित्यज्येत्युक्ते नाधर्माणां परित्यागो लभ्यतेऽतो धर्मपदं कर्ममात्रपरमिति । नह्यत्र कर्मत्यागो विधियतेऽपि तु विद्यमानेऽपि कर्मणि तत्रानादरेण भगवदेकशरणतामात्रं ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थभिक्षूणां साधारण्येन विधीयते । तत्र सर्वधर्मान्परित्यज्येति तेषां स्वधर्मादरसंभवेन तन्निवारणार्थम् । अधर्मे चानर्थफले कस्याप्यादराभावात्तत्परित्यागवचनमनर्थकमेव, शास्त्रान्तरप्राप्तत्वाच्च । तस्माद्वर्णाश्रमधर्माणामभ्युदयहेतुत्वप्रसिद्धेर्मोक्षहेतुत्वमपि स्यादितिशङ्कानिराकरणार्थमेवैतद्वच इति न्याय्यम् । नच सर्वधर्माधर्मपरित्यागोऽत्र विधीयते संन्यासशास्त्रेण प्रतिषेधशास्त्रेण च लब्धत्वादेव । न चेदमपि संन्यासशास्त्रं भगवदेकशरणताया विधित्सितत्वात् । तस्मात्सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यनुवाद एव ।

167 सर्वेषां तु शास्त्राणां परमं रहस्यमीश्वरशरणतैवेति तत्रैव शास्त्रपरिसमाप्तिर्भगवता कृता । तामन्तरेण संन्यासस्यापि स्वफलापर्यवसायित्वात् । अर्जुनं च क्षत्रियं संन्यासानधिकारिणं प्रति संन्यासोपदेशायोगात् । अर्जुनव्याजेनान्यस्योपदेशे तु वक्ष्यामि ते हितं त्वा मोक्षयिष्यामि सर्वपापे-

---

166 यहाँ 'मामेकं शरणं व्रज' = 'तुम एक मेरी ही शरण में आजाओ' – इससे ही यद्यपि सब धर्मों की शरणता का परित्याग प्राप्त हो जाता है, तथापि 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' = 'सब धर्मों का परित्याग कर' – यह निषेधानुवाद कार्यकारिता के लाभ के लिए है, जैसे 'यज्ञायज्ञीये साम्नि ऐरं कृत्वोद्गेयमित्यत्र न गिरा गिरेति ब्रूयात्' -- यह उक्ति है । इसप्रकार मैं ही सब धर्मों का कार्यकारी हूँ अतएव मदेकशरण पुरुष को धर्म की अपेक्षा नहीं है – यह अर्थ है । इससे यह भी अपास्त -- निरस्त होता है कि 'सर्वाधर्मान्परित्यज्य' -- यह कहने पर अधर्मों का परित्याग प्राप्त नहीं होता है, अतः 'धर्म' पद कर्ममात्र परक है । यहाँ कर्मत्याग का विधान नहीं किया गया है, अपितु विद्यमान कर्म में भी ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुओं-संन्यासियों के लिए साधारणरूप से अनादरपूर्वक भगवदेकशरणतामात्र का विधान किया गया है । उसमें, उन ब्रह्मचारी आदि का अपने-अपने धर्म में आदर होना संभव हो सकता है अतएव 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' – यह उसके निवारण के लिए है । अनर्थफल अधर्म में तो किसी का भी आदर नहीं होता है अतएव उसके परित्याग को बतलानेवाला वचन तो व्यर्थ ही होगा, क्योंकि अधर्म -- प्रतिषेध तो अन्य शास्त्रों से भी प्राप्त है । अतः, वर्णाश्रम धर्मों में अभ्युदय की हेतुता प्रसिद्ध है अतएव उनमें मोक्ष की भी हेतुता होगी -- ऐसी शंका का निराकरण करने के लिए ही यह वचन है – यह न्याययुक्त है । यहाँ सब धर्माधर्म के परित्याग का भी विधान नहीं किया गया है, क्योंकि संन्यासशास्त्र और प्रतिषेधशास्त्र से ही वह प्राप्त है । यह भी नहीं है कि यह वचन भी संन्यासशास्त्र ही है, क्योंकि इससे तो भगवदेकशरणता का ही विधान करना अभीष्ट है । अतः 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' – यह अनुवादमात्र ही है ।

167 सब शास्त्रों का परम रहस्य तो ईश्वर की शरणता ही है-- इसप्रकार उसी में भगवान् ने गीता-शास्त्र की परिसमाप्ति की है, क्योंकि उसके बिना संन्यास का भी अपने फल में पर्यवसान नहीं होता है और संन्यास के अनधिकारी क्षत्रिय अर्जुन के प्रति संन्यासोपदेश अयुक्त है । अर्जुन के व्याज से दूसरों के लिए उपदेश स्वीकार करने पर तो 'वक्ष्यामि ते हितम्' (गीता, 18.64) = 'मैं तुम्हारे

भ्यस्त्वं मा शुच इति चोपक्रमोपसंहारौ न स्याताम् । तस्मात्संन्यासधर्मेष्वप्यनादरेण भगवदेकशरणतामात्रे तात्पर्यं भगवतः । यस्मात्त्वं मदेकशरणः सर्वधर्मानादरेणातोऽहं सर्वधर्मकार्यकारी त्वा त्वां सर्वपापेभ्यो बन्धुवधादिनिमित्तेभ्यः संसारहेतुभ्यो मोक्षयिष्यामि प्रायश्चित्तं विनैव 'धर्मेण पापमपनुदति' इति श्रुतेर्धर्मस्थानीयत्वाच्च मम । अतो मा शुचो युद्धे प्रवृत्तस्य मम बन्धुवधादिनिमित्तप्रत्यवायात्कथं निस्तारः स्यादिति शोकं मा कार्षीः ।

168 **भाष्यकारैर्निरस्तानि दुर्मतानीह विस्तरात् ।**
ग्रन्थव्याख्यानमात्रार्थी न तदर्थमहं यते ॥
तस्यैवाहं ममैवासो स एवाहमिति त्रिधा ।
भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकतः ॥
विशेषो वर्णितोऽस्माभिः सर्वो भक्तिरसायने ।
ग्रन्थविस्तरभीरुत्वाद्दिङ्मात्रमिह कथ्यते ॥

तत्राऽऽद्यं मृदु यथा –

'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥'

द्वितीयं मध्यं यथा –

'हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम् ।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥'

हित के लिए वचन कहूँगा'; 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि त्वं मा शुचः' = 'मैं तुमको सब पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो' – इसप्रकार उपक्रम और उपसंहार नहीं होंगे । अतः संन्यासधर्मों में भी अनादरपूर्वक भगवदेकशरणतामात्र में ही भगवान् का तात्पर्य है । क्योंकि तुम सब धर्मों का अनादर कर एक मेरी ही शरण हो, इसलिए मैं सब धर्मों के कार्यों को करनेवाला होने से प्रायश्चित्त के बिना ही तुमको बन्धुवधादिनिमित्तक, संसार के हेतुभूत सब पापों से मुक्त कर दूँगा, क्योंकि 'धर्म से पाप को दूर करता है' – ऐसी श्रुति है और मैं धर्मस्थानीय हूँ । अतः शोक मत करो = युद्ध में प्रवृत्त हुए मेरा बन्धुवधादिनिमित्तक प्रत्यवाय-पाप से कैसे निस्तार होगा – ऐसा शोक मत करो ।

168 भाष्यकार ने यहाँ विस्तारपूर्वक समस्त दूषित मतों का निराकरण किया है । मैं तो ग्रन्थमात्र की व्याख्या ही करना चाहता हूँ, इसलिए मैं उसके लिए प्रयत्न नहीं करता हूँ । साधन के अभ्यास का परिपाक होने से 'तस्यैवाहम्' = 'मैं उसका ही हूँ', 'ममैवासौ' = 'वह मेरा ही है' और 'स एवाहम्' = 'मैं वही हूँ'– इसप्रकार तीन प्रकार की भगवत्शरणता होती है । इन सबका विशेष वर्णन हमने अपने 'भक्तिरसायन[187]' ग्रन्थ में किया है । यहाँ तो ग्रन्थविस्तार के भय से केवल दिग्दर्शनमात्र कहते हैं :–

उनमें प्रथम शरणागति 'मृदु' है; जैसे –

"हे नाथ ! भेद नहीं रहने पर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं है, क्योंकि तरङ्ग ही समुद्र का होता है, समुद्र कहीं तरङ्ग का नहीं होता है" (शंकराचार्यप्रणीत षट्पदीस्तोत्र, पद 3) ।

---

187. द्रष्टव्य – श्रीभगवद्भक्तिरसायन, द्वितीय उल्लास, कारिका – 60-72 ।

तृतीयमधिमात्रं यथा –

'सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान्परमेश्वरः स एकः ।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान्विहाय दूरात् ॥'

इति दूतं प्रति यमवचनम् । अम्बरीषप्रह्लादगोपीप्रभृतयश्चास्यां भूमिकायामुदाहर्तव्याः ।

169 अस्मिन्हि गीताशास्त्रे निष्ठात्रयं साध्यसाधनभावापन्नं विवक्षितमुक्तं च बहुधा । तत्र कर्मनिष्ठा सर्वकर्मसंन्यासपर्यन्तोपसंहृता 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्यत्र । संन्यासपूर्वकश्रवणादिपरिपाकसहिता ज्ञाननिष्ठोपसंहृता 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इत्यत्र । भगवद्भक्तिर्निष्ठा तूभयसाधनभूतोभयफलभूता च भवतीत्यन्त उपसंहृता सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेत्यत्र । भाष्यकृतस्तु सर्वधर्मान्परित्यज्येति सर्वकर्मसंन्यासानुवादेन मामेकं शरणं व्रजेति ज्ञाननिष्ठोपसंहृतेत्याहुः । भगवदभिप्रायवर्णने के वयं वराकाः ।

'वचो यद्गीताख्यं परमपुरुषस्याऽऽगमगिरारहस्यं तद्व्याख्यामनतिनिपुणः को वितनुताम् । अहं त्वेतद्बाल्यं यदिह कृतवानस्मि कथमप्यहेतुस्नेहानां तदपि कुतुकायैव महताम्' ॥ 66 ॥

170 समाप्तः शास्त्रार्थः । शास्त्रसंप्रदायविधिमधुना कथयति –

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ 67 ॥

द्वितीय शरणागति 'मध्यम' है; जैसे –

"हे कृष्ण ! तुम बलात् हाथ को झटक कर जा रहे हो, इसमें क्या अद्भुत – आश्चर्य है ? यदि तुम मेरे हृदय से निकल जाओ तो मैं तुम्हारा पौरुष समझूँगा ।"

तृतीय शरणागति 'अधिमात्र' है; जैसे :-

"यह सब और मैं वह एकमात्र परमपुरुष परमेश्वर भगवान् वासुदेव ही हैं – ऐसी जिनकी हृदयगत अनन्त में अचल बुद्धि होती है उनको दूर से ही छोड़कर चले जाना ।" – यह दूत के प्रति यमराज का वचन है । अम्बरीष, प्रह्लाद, गोपी आदि इस भूमिका में उदाहरण के योग्य है ।

169 इस गीताशास्त्र में साध्य-साधन-भावापन्न – तीन निष्ठाएँ विवक्षित रही हैं और बहुत प्रकार से उनको कहा गया है । उनमें, कर्मनिष्ठा सर्वकर्मसंन्यासपर्यन्त 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गीता, 18.46) – इत्यादि में उपसंहृत हुई है । संन्यासपूर्वक श्रवणादि के परिपाकसहित ज्ञाननिष्ठा 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' (गीता, 18.55) --इत्यादि में उपसंहृत हुई है । तथा भगवद्भक्तिनिष्ठा तो उक्त दोनों की साधनभूता और दोनों ही की फलभूता होती है-- इसकारण अन्त में 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'-- इत्यादि में उपसंहृत हुई है । भाष्यकार तो कहते हैं कि 'सर्वधर्मान्परित्यज्य'-- इसके द्वारा सर्वकर्मसंन्यास का अनुवाद करके 'मामेकं शरणं व्रज-- इससे ज्ञाननिष्ठा उपसंहृत हुई है । भगवान् के अभिप्राय का वर्णन करने में हम क्या हैं, कुछ नहीं हैं ।

'परम पुरुष भगवान् का यह 'गीता' नामक वचन वेदवाणी का रहस्य है, इसकी व्याख्या कौन अत्यन्त अनिपुण व्यक्ति कर सकता है ? मैंने तो जो इसमें किसी प्रकार भी यह बचपन किया है वह भी अहेतुक स्नेह करनेवाले महापुरुषों के कौतुक के लिए ही है' ॥ 66 ॥

170 शास्त्र का अर्थ समाप्त हुआ, अब शास्त्र के सम्प्रदाय की विधि को कहते हैं :--

171 इदं गीताख्यं सर्वशास्त्रार्थरहस्यं ते तव संसारविच्छित्तये मयोक्तं नातपस्कायासंयतेन्द्रियाय न वाच्यं कदाचन कस्यामप्यवस्थायामिति पर्यायत्रयेऽपि संबध्यते । तपस्विनेऽप्यभक्ताय गुरौ देवे च भक्तिरहिताय न वाच्यं कदाचन । तपस्विने भक्तायापि अशुश्रूषवे शुश्रूषां परिचर्यामकुर्वते च न वाच्यं कदाचन । चशब्दो वाच्यं कदाचनेतिपदद्वयाकर्षणार्थः । न च मां योऽभ्यसूयति मां भगवन्तं वासुदेवं मनुष्यमसर्वज्ञत्वादिगुणकं मत्वाऽभ्यसूयति आत्मप्रशंसादिदोषाध्यारोपणेनेश्वरत्वमसहमानो द्वेष्टि यस्तस्मै श्रीकृष्णोत्कर्षासहिष्णवे तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवेऽपि न वाच्यं कदाचनेत्यनुकर्षणार्थश्चकारः । तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवे श्रीकृष्णानुरक्ताय च वाच्यमित्यर्थः । एकैकविशेषणाभावेऽप्ययोग्यताप्रतिपादनार्थाश्चत्वारो नकाराः । मेधाविने तपस्विने वेत्यन्यत्र विकल्पदर्शनाच्छुश्रूषागुरुभक्तिभगवदनुरक्तियुक्ताय तपस्विने तद्युक्ताय मेधाविने वा वाच्यम् । मेधातपसोः पाक्षिकत्वेऽपि भगवदनुरक्तिगुरुभक्तिशुश्रूषाणां नियम एवेनि भाष्यकृतः ॥ 67 ॥

172 एवं संप्रदायस्य विधिमुक्त्वा तस्य कर्तुः फलमाह –

य इदं[188] परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ 68 ॥

[हे अर्जुन ! तुम इस गीताशास्त्र का उपदेश ऐसे पुरुष को कभी नहीं करना जो तपस्वी न हो, भक्त न हो, सेवापरायण न हो और मुझसे द्वेष करता हो ॥ 67 ॥]

171 तुम्हारे संसार-बन्धन का छेदन करने के लिए मेरे द्वारा उक्त यह 'गीता' नामक सब शास्त्रों के अर्थ का रहस्य अतपस्क = असंयतेन्द्रिय पुरुष को कभी -- किसी भी अवस्था में तुम्हारे द्वारा बतलाये जाने के योग्य नहीं है अर्थात् तुमको इस गीताशास्त्र का उपदेश ऐसे पुरुष को कभी नहीं करना चाहिए जो तपस्वी न हो । 'वाच्यं कदाचन' इन पदों का तीनों पर्यायों से सम्बन्ध है । तपस्वी होने पर भी जो अभक्त हो अर्थात् जो गुरु और देवता में भक्ति न रखता हो उसको भी कभी नहीं कहना चाहिए । तपस्वी हो और भक्त भी हो किन्तु जो अशुश्रूषु = शुश्रूषा -- परिचर्या-सेवा करने वाला न हो तो उसको भी कभी नहीं कहना चाहिए । यहाँ प्रथम चकार 'वाच्यम्' और 'कदाचन' -- इन दो पदों के आकर्षण के लिए है । तथा जो मुझसे अभ्यसूया करता हो = मुझ भगवान् वासुदेव को असर्वज्ञत्वादि गुणोंवाला मनुष्य मानकर जो अभ्यसूया करता हो अर्थात् आत्मप्रशंसादि दोषों के अध्यारोपण से मुझमें ईश्वरत्व को सहन न करता हुआ जो द्वेष करता हो उस श्रीकृष्ण के उत्कर्ष को सहन न कर सकनेवाले तपस्वी, भक्त, सेवापरायण को भी कभी नहीं कहना चाहिए । यहाँ द्वितीय चकार भी 'वाच्यम्' और 'कदाचन' -- इन दोनों पदों के आकर्षण के लिए है । तात्पर्य यह है कि इस गीताशास्त्र को तपस्वी, भक्त, सेवापरायण और श्रीकृष्णप्रेमी पुरुष से ही कहना चाहिए । एक-एक विशेषण न होने पर भी अयोग्यता बतलाने के लिए चार 'न' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, क्योंकि अन्यत्र 'मेधावी अथवा तपस्वी को उपदेश करना चाहिए' -- इसप्रकार का विकल्प देखा गया है । सेवापरायण, गुरुभक्ति और भगवदनुरागयुक्त तपस्वी को अथवा उन विशेषणों से युक्त मेधावी को यह शास्त्र कहना चाहिए । यहाँ मेधा और तप का विकल्प होने पर भी भगवदनुरक्ति, गुरुभक्ति और शुश्रूषा का तो नियम ही है -- यह भाष्यकार कहते हैं ॥ 67 ॥

172 इसप्रकार संप्रदाय की विधि को कहकर उसके कर्ता के फल को कहते हैं :--

188. यहाँ 'इदम्' के स्थान पर 'इमम्' पाठ उपयुक्त है, क्योंकि नीलकण्ठ के अतिरिक्त भाष्यकारादि अन्य आचार्यों ने 'इमम्' पाठ ही स्वीकार करके व्याख्या की है ।

173 यः संप्रदायस्य प्रवर्तक इममावयोः संवादरूपं ग्रन्थं परमं निरतिशयपुरुषार्थसाधनं गुह्यं रहस्यार्थत्वात्सर्वत्र प्रकाशयितुमनर्हं मद्भक्तेषु मां भगवन्तं वासुदेवं प्रत्यनुरक्तेषु अभिधास्यति अभितो ग्रन्थतोऽर्थतश्च धास्यति स्थापयिष्यति । भक्तेः पुनर्ग्रहणात्पूर्वोक्तविशेषणत्रयरहितस्यापि भगवद्भक्तिमात्रेण पात्रता सूचिता भवति । कथमभिधास्यति तत्राह—भक्तिं मयि परां कृत्वा भगवतः परमगुरोः शुश्रूषैवेयं मया क्रियत इत्येवं कृत्वा निश्चित्य योऽभिधास्यति स मामेवैष्यति मां भगवन्तं वासुदेवमेष्यत्येवाचिरान्मोक्ष्यत एव संसारादत्र संशयो न कर्तव्यः । अथवा मयि परां भक्तिं कृत्वाऽसंशयो निःसंशयः सन्मामेष्यत्येवेति वा मामेवैष्यति नान्यमिति यथाश्रुतमेव वा योज्यम् ॥ 68 ॥

174 किं च—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ 69 ॥

175 तस्मान्मद्भक्तेषु शास्त्रसंप्रदायकृतः सकाशादन्यो मनुष्येषु मध्ये कश्चिदपि मे मम प्रियकृत्तमो-

[जो पुरुष इस परम गुह्य शास्त्र का मेरे भक्तों में उपदेश करेगा, वह मेरे प्रति परा भक्ति करके मुझको ही प्राप्त होगा -- इसमें संशय नहीं करना चाहिए ।। 68 ।।]

173 जो सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक इस हमारे = कृष्ण और अर्जुन के संवादरूप ग्रन्थ को, जो कि परम = निरतिशय पुरुषार्थ का साधन और गुह्य = अति-रहस्यार्थ होने से सर्वत्र प्रकाशित करने के लिए अयोग्य है, मेरे भक्तों में = मुझ भगवान् वासुदेव के प्रति अनुरक्त भक्तों में अभिधास्यति – कहेगा = अभितः ग्रन्थतोऽर्थतश्च धास्यति स्थापयिष्यति – ग्रन्थतः और अर्थत: स्थापित करेगा । यहाँ श्लोक के उत्तरार्ध के आरम्भ में पुनः 'भक्ति' शब्द का ग्रहण करने से पूर्वोक्त तप, शुश्रूषा और अनसूया -- इन तीन विशेषणों से रहित में भी भगवद्भक्तिमात्र से शास्त्रसम्प्रदानहेतु पात्रता सूचित की गई है । किस प्रकार कहेगा -- स्थापित करेगा ? इसपर कहते हैं – मेरे प्रति परा भक्ति करके अर्थात् 'यह मेरे द्वारा परम गुरु भगवान् की शुश्रूषा – सेवा ही की जा रही है' -- इसप्रकार निश्चय करके जो कहेगा -- स्थापित करेगा वह मुझको ही प्राप्त होगा मुझ भगवान् वासुदेव को प्राप्त होगा ही = शीघ्र संसार से मुक्त ही होगा, इसमें संशय नहीं करना चाहिए । अथवा, मेरे प्रति परा भक्ति करके असंशय = नि:संशय होकर मुझको प्राप्त होगा ही, अथवा मुझको ही प्राप्त होगा, अन्य को नहीं – इसप्रकार यथाश्रुत ही योजना करनी चाहिए[189] ।। 68 ।।

174 इसके अतिरिक्त, --

[मनुष्यों में मेरे भक्तों को गीताशास्त्र का उपदेश करनेवाले उस पुरुष की अपेक्षा दूसरा कोई भी पुरुष मेरा प्रिय करनेवाला नहीं है, न हुआ है और न होगा । संसार में उस पुरुष की अपेक्षा दूसरा कोई भी पुरुष मुझको प्रिय नहीं है, न हुआ है और न होगा ही ।। 69 ।।]

175 मनुष्यों में उस मेरे भक्तों को गीताशास्त्र का सम्प्रदान करनेवाले पुरुष की अपेक्षा दूसरा कोई भी

189. प्रकृत में 'मामेवैष्यति' – यह जो पद है, इसमें तीन पद हैं – 'माम्', 'एव' और 'एष्यति', इनमें 'एव' पद 'माम्' और 'एष्यति' – इन दोनों पदों के मध्य में है, अत: एवकार का देहलीदीपन्याय से उक्त दोनों पदों के साथ सम्बन्ध हो सकता है – 'मामेष्यत्येव' अथवा 'मामेवैष्यति', दोनों के अर्थों की विवक्षा में भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि संसार से मुक्ति दोनों ही पक्षों में फलितार्थ है– यह विचार कर यतिवर मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ उक्त पदों की विकल्प से व्याख्या की है ।

ऽतिशयेन प्रियकृन्मद्विषयप्रीत्यतिशयवान्नास्ति वर्तमाने काले। नापि प्रागासीत्तादृक्कश्चित्। न च कालान्तरे भविता भविष्यति। ममापि तस्मादन्यः प्रियतरः प्रीत्यतिशयविषयः कश्चिदप्यासीन्न। अधुना च भुवि लोकेऽस्मिन्नास्ति। न च कालान्तरे भवितेत्यवृत्त्या योज्यम्॥ 69॥

176 अध्यापकस्य फलमुक्त्वाऽध्येतुः फलमाह –

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ 70॥

177 आवयोः संवादमिमं ग्रन्थं धर्म्यं धर्मादनपेतं योऽध्येष्यते जपरूपेण पठिष्यति ज्ञानयज्ञेन ज्ञानात्मकेन यज्ञेन चतुर्थाध्यायोक्तेन द्रव्ययज्ञादिश्रेष्ठेनाहं सर्वेश्वरस्तेनाध्येत्रेष्टः पूजितः स्यामिति मे मतिर्मम निश्चयः। यद्यप्यसौ गीतार्थमबुध्यमान एव जपति तथाऽपि तच्छृण्वतो मम मामेवासौ प्रकाशयतीति बुद्धिर्भवति। अतो जपमात्रादपि ज्ञानयज्ञफलं मोक्षं लभते सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारा। अर्थानुसंधानपूर्वकं पठतस्तु साक्षादेव मोक्ष इति किं वक्तव्यमिति फलविधिरेवायं नार्थवादः। 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप' इति हि प्रागुक्तम्॥ 70॥

मेरा प्रियकृत्तम-- अधिक प्रिय करनेवाला अर्थात् मद्विषयक प्रीति का अतिशयवाला वर्तमान काल में नहीं है, न पूर्व में ही वैसा कोई था और न कालान्तर में ही होगा। मुझको भी उस पुरुष की अपेक्षा दूसरा कोई भी पुरुष प्रियतर = अतिशय प्रीति का विषय इस लोक में नहीं था, न इस समय है और न कालान्तर में ही होगा-- इसप्रकार पदों की आवृत्ति से योजना करनी चाहिए॥ 69॥

176 अध्यापक के फल को कहकर अध्येता के फल को कहते हैं :--

[जो पुरुष हमारे = मेरे और तुम्हारे अर्थात् कृष्ण और अर्जुन के मध्य में हुए इस धर्मयुक्त संवाद का अध्ययन करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञानरूप यज्ञ से इष्ट-पूजित होऊँगा – यह मेरा मत है॥ 70॥]

177 हमारे = कृष्ण और अर्जुन के मध्य हुए संवादरूप इस धर्म्य[190] = धर्मयुक्त ग्रन्थ का जो अध्ययन करेगा अर्थात् जपरूप से पाठ करेगा उस अध्येता -- अध्ययन करनेवाले के द्वारा मैं सर्वेश्वर ज्ञानयज्ञ = चतुर्थ अध्याय में उक्त द्रव्ययज्ञादि की अपेक्षा श्रेष्ठ ज्ञानात्मक -- ज्ञानमय -- ज्ञानरूप यज्ञ[191] से इष्ट -- पूजित होऊँगा -- यह मेरी मति है -- मेरा निश्चय है। यद्यपि वह अध्येता गीता के अर्थ को न समझते हुए ही उसको पढ़कर जप करता है अर्थात् उसका मानसिक पाठ करता है, तथापि उसको सुनते हुए मेरी तो ऐसी बुद्धि ही होती है कि वह मुझको ही प्रकाशित कर रहा है। अतः इसके जपमात्र से ही वह ज्ञानयज्ञ के फल मोक्ष को प्राप्त करता है। जो सत्त्वशुद्धि -- अन्तःकरणशुद्धि और ज्ञानोत्पत्ति के द्वारा अर्थानुसंधानपूर्वक इसका पाठ करता है वह तो साक्षात् ही मोक्ष को प्राप्त होता है -- इसमें कहना ही क्या है ? यह फलविधि है, अर्थवाद नहीं है,क्योंकि पूर्व में कहा है :--

'हे परन्तप ! द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है' (गीता, 4.33)॥ 70॥

190. धर्म्यं = धर्मादनपेतम् = जो धर्म से अनपेत अर्थात् व्याप्त है उसको 'धर्म्य' कहा जाता है, अतः 'धर्म्य' शब्द का अर्थ धर्मसम्मत = पुण्यजन्य है।

191. श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ (गीता, 4.33)

'हे परंतप ! द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ ! सब श्रौत और स्मार्त कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं।'

178 प्रवक्तुरध्येतुश्च फलमुक्त्वा श्रोतुरिदानीं फलं कथयति –

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ 71 ॥

179 यो नरः कश्चिदपि अन्यस्योच्चैर्जपतः कारुणिकस्य सकाशाच्छ्रद्धावाञ्श्रद्धायुक्तः । तथा किमर्थमयमुच्चैर्जपत्यबद्धं वा जपतीति दोषदृष्ट्याऽसूयया रहितोऽनसूयश्च केवलं शृणुयादिमं ग्रन्थम्, अपिशब्दात्किमुतार्थज्ञानवान्, सोऽपि केवलाक्षरमात्रश्रोताऽपि मुक्तः पापैः शुभान्प्रशस्ताँल्लोकान्पुण्यकर्मणामश्वमेधादिकृतां प्राप्नुयात् । ज्ञानवतस्तु किं वाच्यमिति भावः ॥ 71 ॥

180 शिष्यस्य ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं गुरुणा कारुणिकेन प्रयासः कार्य इति गुरोर्धर्मं शिक्षयितुं सर्वज्ञोऽपि पुनरुपदेशापेक्षा नास्तीति ज्ञापनाय पृच्छति –

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ 72 ॥

181 कच्चिदिति प्रश्ने । एतन्मयोक्तं गीताशास्त्रमेकाग्रेण व्यासङ्गरहितेन चेतसा हे पार्थ त्वया किं श्रुतमर्थतोऽवधारितम् । कच्चित्किमज्ञानसंमोहोऽज्ञाननिमित्तः संमोहो विपर्ययोऽज्ञाननाशात्प्र-

178 प्रवक्ता और अध्येता का फल कहकर अब श्रोता का फल कहते हैं :–
[जो श्रद्धावान् और असूयाशून्य पुरुष इस गीताशास्त्र को सुनता भी है, वह भी पापों से मुक्त होकर पुण्य कर्म करनेवाले पुरुषों के शुभ लोकों को प्राप्त होता है ॥ 71 ॥]

179 जो नर[192] = मनुष्य किसी भी अन्य उच्च-स्वर से जप करनेवाले – पाठ करनेवाले अतएव कारुणिक पुरुष के सकाश से श्रद्धावान् = श्रद्धायुक्त होकर तथा 'यह उच्च-स्वर से क्यों पढ़ता है अथवा असम्बद्धरूप से क्यों पढ़ता है' – इसप्रकार की दोषदृष्टिरूपा असूया से रहित अर्थात् अनसूय होकर इस ग्रन्थ को केवल सुनता ही है, अर्थज्ञानवान् के विषय में तो कहना ही क्या है ? – यह 'अपि' शब्द से सूचित है, वह केवल अक्षरमात्र का श्रोता भी पापों से मुक्त होकर अश्वमेधादि पुण्यकर्म करनेवालों के शुभ – प्रशस्त लोकों को प्राप्त होता है । ज्ञानवान् के विषय में तो कहना ही क्या है ? यह भाव है ॥ 71 ॥

180 कारुणिक गुरु को शिष्य की ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त प्रयास करना चाहिए -- इसप्रकार के गुरुधर्म की शिक्षा देने के लिए सर्वज्ञ भी भगवान् 'पुनः उपदेश की अपेक्षा नहीं है' -- यह ज्ञापित करने के लिए पूछते हैं :--
[हे पार्थ ! क्या तुमने मेरे द्वारा उपदिष्ट इस गीताशास्त्र को एकाग्रचित्त से सुना ? हे धनञ्जय ! क्या तुम्हारा अज्ञानजनित सम्मोह इस गीताशास्त्र के सुनने से नष्ट हुआ ? ॥ 72 ॥]

181 'कच्चित्[193]' -- यह पद प्रश्नार्थक है । हे पार्थ[194] ! क्या तुमने मेरे द्वारा उक्त इस गीताशास्त्र को

192. यहाँ 'नर' शब्द से यह सूचित किया गया है कि जो इस गीताशास्त्र के श्रवण से भी वञ्चित -- हीन होता है वह नर नहीं है किन्तु पशु ही है ।

193. 'कच्चित्' -- यह पद प्रश्न के लिए है । स्नेहपूर्वक जब कोई प्रशस्त प्रश्न किया जाता है तब 'कच्चित्' पद का प्रयोग होता है ।

194. हे पार्थ ! – यह सम्बोधन करते हुए भगवान् यह सूचित करते हैं कि स्त्रीस्वभाव-शोक और मोह के निवर्तक इस गीताशास्त्र को तुमने एकाग्रचित्त से सुना । यदि तुमने नहीं सुना होगा तो मैं पुनः तुमको वह कहूँगा, पृथा के

नष्टः प्रकर्षेण पुनरुत्पत्तिविरोधित्वेन नष्टस्ते तव हे धनंजय । यदि स्यात्पुनरुपदेशं करिष्यामीत्यभिप्रायः ॥ 72 ॥

182 एवं पृष्टः कृतार्थत्वेन पुनरुपदेशानपेक्षतामात्मनः—

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ 73 ॥

183 नष्ट उच्छिन्नो मोहोऽज्ञानकृतो विपर्ययः । तन्नाशकमाह—स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मया । यस्मात्त्वदुपदेशादात्मज्ञानं लब्धं सर्वसंशयानाक्रान्ततया प्राप्तमतः सर्वप्रतिबन्धशून्येनाऽऽत्मज्ञानेन मोहो नष्ट इत्यर्थः । हेऽच्युताऽऽत्मत्वेन निश्चितत्वात् । वियोगायोग्यस्मृतिलम्भे सर्व-

एकाग्र अर्थात् व्यासङ्गरहित -- विषयान्तर से व्यावृत चित्त से सुना -- अर्थतः इसको समझा ? हे धनञ्जय[195] ! क्या तुम्हारा अज्ञानसंमोह = अज्ञाननिमित्तक – अज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ सम्मोह – विपर्यय – विपरीतज्ञान प्रनष्ट = प्रकर्ष से अर्थात् पुनरुत्पत्ति के विरोधीरूप से नष्ट हुआ ? यदि सम्मोह होगा तो पुन उपदेश करूँगा – यह अभिप्राय है ॥ 72 ॥

182 इसप्रकार भगवान् के पूछने पर 'मैं कृतार्थ हो गया हूँ अतएव मुझको पुन: उपदेश की अपेक्षा नहीं है' – यह अर्जुन ने कहा :–

[अर्जुन ने कहा – हे अच्युत ! आपके प्रसाद – अनुग्रह से मेरा मोह नष्ट हो गया है और आत्मतत्त्वस्मृति भी प्राप्त हो गई है, अतएव सब सन्देहों से मैं मुक्त हो गया हूँ, इसीलिए मैं स्थित हूँ और यावज्जीवन आपके वचनों का पालन करूँगा ॥ 73 ॥]

183 मेरा मोह = अज्ञानकृत विपर्यय नष्ट = उच्छिन्न हो गया हैं । उसके नाशक को कहते हैं :-- आपके प्रसाद – अनुग्रह से मुझको स्मृति का लाभ हुआ है । क्योंकि आपके उपदेश से मुझको आत्मज्ञान का लाभ हुआ है अर्थात् सब संशयों की अनाक्रान्तता से आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है, इसलिए सब प्रकार के प्रतिबन्धों से शून्य आत्मज्ञान द्वारा मोह नष्ट हो गया है – यह अर्थ है । भगवान् आत्मरूप से निश्चित हैं अतएव उनके लिए हे अच्युत[196] ! — यह सम्बोधन है । 'वियोगायोग्यस्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्र-

---

पुत्र होने से तुम मेरे प्रेमास्पद हो अतएव तुम जबतक इस शास्त्र को नहीं समझोगे तबतक मैं तुमको यह शास्त्र सुनाऊँगा – यह उक्त सम्बोधन का आशय है । मेरी आज्ञा से लोकोद्धार के लिए तुमने स्त्रीस्वभाव-शोक और मोह को अङ्गीकार किया और मेरे द्वारा उक्त लोकोद्धार के उपायरूप इस गीताशास्त्र को भी तुमने एकाग्रमन से सुना अतएव इस समय तुम शोक और मोह – दोनों को त्यागकर अपने स्वभाव का आविर्भाव करो – यह उक्त सम्बोधन की गूढाभिसन्धि है ।

195. हे धनञ्जय ! – यह सम्बोधन करते हुए भगवान् यह सूचित करते हैं कि यदि तुम्हारा मोह सर्वथा नष्ट हो गया हो तो धनञ्जय होओ, यदि मोह नष्ट नहीं हुआ हो तो पुन: उसके नाश के लिए जो तुमको पूछना है वह पूछो । गूढाभिसन्धि पक्ष में 'वीरोऽनन्तो धनंजय:' – इस स्थल पर उक्त 'धनंजय' अपने नाम से सम्बोधित करते हुए भगवान् यह ध्वनित करते हैं कि मेरे अवतार तुम्हारा अज्ञाननिमित्तक मोह का अभाव होने से मेरी आज्ञा से लोकोपकार के लिए स्वीकार किया हुआ अज्ञानजनित सम्मोह क्या नष्ट हुआ ? मेरे द्वारा उपदिष्ट गीताशास्त्र द्वारा क्या सम्मोह नष्ट करने के लिए तुम्हारे में सामर्थ्य है ?

196. अच्युत अर्थात् अभिन्न होने से, स्वस्वरूप होने से वह कदापि प्रच्युत नहीं है, वह जरा – मरणादि से वर्जित है अतएव कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि से सर्वथा विमुक्त है – इसप्रकार आत्मतत्त्वविषया, सब ग्रन्थियों से मोक्ष करानेवाली स्मृति को प्राप्त करके अर्जुन भगवान् को हे अच्युत ! कहकर सम्बोधित करते हैं ।

ग्रन्थीनां विप्रमोक्ष इति श्रुत्यर्थमनुभवन्नाह–स्थितोऽस्मि गतसंदेहो निवृत्तसर्वसंदेहः स्थितोऽस्मि युद्धकर्तव्यतारूपे त्वच्छासने । यावज्जीवं च करिष्ये वचनं तव भगवतः परमगुरोराज्ञां पालयिष्यामीति प्रयाससाफल्यकथनेन भगवन्तमर्जुनः परितोषयामास । अनेन गीताशास्त्राध्यायिनो भगवत्प्रसादादवश्यं मोक्षफलपर्यन्तं ज्ञानं भवतीति शास्त्रफलमुपसंहृतं तद्धास्य विजज्ञावितिवत् ॥ 73 ॥

184 समाप्तः शास्त्रार्थः, कथासंबन्धमिदानीमनुसंदधानः–

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ 74 ॥

185 अद्भुतं चेतसो विस्मयाख्यविकारकरं लोकेष्वसंभाव्यमानत्वात् । रोमहर्षणं शरीरस्य रोमाञ्चाख्यविकारकरम् । तेनातिपरिपुष्टत्वं विस्मयस्य दर्शितम् । स्पष्टमन्यत् ॥ 74 ॥

186 व्यवहितस्यापि भगवदर्जुनसंवादस्य श्रवणयोग्यतामात्मन आह–

मोक्षः' = 'वियोग के अयोग्य स्मृतिलाभ होने पर समस्त ग्रन्थियों का सर्वथा मोक्ष हो जाता है' -- इस श्रुति के अर्थ का अनुभव करते हुए कहते है :-- 'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः' = मैं सब सन्देहों से मुक्त होकर युद्धकर्त्तव्यतारूप आपके शासन में स्थित हूँ और यावज्जीवन -- जीवनपर्यन्त आपके वचनों का = परमगुरु भगवान् की आज्ञा का पालन करूँगा -- इसप्रकार भगवान् के प्रयास की सफलता कहकर अर्जुन ने भगवान् को पूर्णतया सन्तुष्ट किया । इस श्लोक से 'तद्धास्य विजज्ञौ' – इस श्रुति के समान 'गीताशास्त्र का अध्ययन करनेवाले को भगवान् के प्रसाद – अनुग्रह से अवश्य ही मोक्षफलपर्यन्त ज्ञान होता हैं' -- यह इस शास्त्र का फल उपसंहृत हुआ है ।। 73 ।।

184 शास्त्र का अर्थ समाप्त हुआ, अब कथा के सम्बन्ध का अनुसन्धान करते हुए संजय ने कहा :-- [संजय ने कहा :-- इसप्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा अर्जुन के मध्य हुए इस अद्भुत और रोमाञ्चकारी संवाद को सुना ।। 74 ।।]

185 अद्भुत अर्थात् चित्त के विस्मयसंज्ञक[197] विकार को उत्पन्न करनेवाला है, क्योंकि लोकों में यह सम्भव नहीं है जो भगवान् और अर्जुन के मध्य सम्वाद हुआ है । रोमहर्षण अर्थात् शरीर के रोमाञ्चसंज्ञक[198] विकार को उत्पन्न करनेवाला है, इससे विस्मय की अतिपरिपुष्टता दिखलाई गई है । शेष स्पष्ट है ।। 74 ।।

186 भगवान् कृष्ण और अर्जुन का सम्वाद व्यवहित -- व्यवधानयुक्त होने पर भी उसको सुनने में अपनी योग्यता कहते हैं :--

---

197. 'लोकोत्तरचमत्कारिवस्तुदर्शनजः परः ।
तज्जन्यायां द्रुतौ चेतोविकासो विस्मयो मतः' ।। (श्रीभगवद्भक्तिरसायन, 2.15)

'अलौकिक चमत्कारी वस्तुओं को देखने से उत्पन्न होनेवाले हर्ष से होनेवाली द्रुति में जो चित्त का विकास होता है उसको 'विस्मय' कहा जाता है' ।

198. 'रोमाञ्चः क्रोधरुग्भीतिहर्षशीतादिभिर्भवेत् ।
तं चोत्सुकासकृद्गात्रसंस्पर्शैः पुलकैर्वदेत् ।।' (भावप्रकाशन, प्रथमोऽधिकार)

''रोमाञ्च' क्रोध, रोग, भय, हर्ष, शीतादि से होता है । बार-बार शरीर के स्पर्श से और पुलकित होने से 'रोमाञ्च' जाना जाता है ।'

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ 75 ॥

187 व्यासदत्तदिव्यचक्षुःश्रोत्रादिलाभरूपाद्व्यासप्रसादादिमं परं गुह्यं योगं योगाव्यभिचारिहेतुं संवादं योगेश्वरात्कृष्णात्स्वयं स्वेन पारमेश्वरेण रूपेण कथयतः साक्षादेवाहं श्रुतवानस्मि न परम्परयेति स्वभाग्यमभिनन्दति । अत्रेममिति पुँल्लिङ्गपाठो भाष्यकारैर्व्याख्यातः। एतदिति नपुंसकलिङ्ग-पाठस्यैव योगशब्दसामानाधिकरण्येन व्याख्यानमिदमिति तद्व्याख्यातारः ॥ 75 ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ 76 ॥

188 पुण्यं श्रवणेनापि सर्वपापहरं केशवार्जुनयोरिमं संवादमद्भुतं न केवलं श्रुतवानस्मि किंतु संस्मृत्य

[मैंने भगवान् वेदव्यास के प्रसाद – अनुग्रह से ही अर्जुन को स्वयं अपने पारमेश्वर रूप से कह रहे साक्षात् योगेश्वर भगवान् कृष्ण से इस परम गुह्य योग को सुना है ।। 75 ।।]

187 भगवान् वेदव्यास के प्रसाद से अर्थात् वेदव्यास के दिये हुए दिव्य चक्षु, श्रोत्रादि के लाभरूप प्रसाद से ही मैंने इस परम[199] गुह्य[200] योग[201] = योग के अव्यभिचारी हेतुरूप सम्वाद को स्वयं अपने पारमेश्वररूप से कह रहे योगेश्वर[202] कृष्ण[203] से साक्षात् ही सुना है, परम्परा से नहीं -- इसप्रकार सञ्जय अपने भाग्य का अभिनन्दन करते हैं । यहाँ 'इमम्[204]'– इस पुँल्लिङ्ग पाठ की ही भाष्यकार ने व्याख्या की है । उनके भाष्य की व्याख्या करनेवालों ने कहा हैं कि 'एतत्'-- इस नपुंसकलिङ्ग पाठ का ही 'योग' शब्द के सामानाधिकरण्य के कारण यह व्याख्यान है ।। 75 ।।

[हे राजन्[205] ! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत और पुण्य -- पवित्र सम्वाद का स्मरण कर – करके मैं बार-बार हर्षित – रोमाञ्चित होता हूँ ।। 76 ।।]

188 केशव और अर्जुन के इस अद्भुत और पुण्य = सुनने से भी सब पापों को हरनेवाले सम्वाद को

199. कृष्णार्जुनसंवाद परम पुरुषार्थरूप मोक्ष की प्राप्ति का उपाय होने के कारण परम् – श्रेष्ठ है ।

200. योग्य शिष्य के बिना उक्त सम्वाद को सुनने का अधिकार नहीं है अतएव यह गुह्य अर्थात् गोपनीय है ।

201. 'योगार्थत्वादयं संवादोऽपि योग:' = योग अर्थात् परमात्मा के साथ योग = एकत्व के अनुभव के अव्यभिचारी उपायरूप ज्ञान और कर्म अथवा भक्ति – ये संवाद के अर्थ- विषय हैं अतएव यह संवाद 'योग' कहा जाता है; अथवा – यह संवाद ही 'योग' है, क्योंकि चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग का यह अङ्ग है, कारण कि इस संवाद के श्रवण से ही भगवान् में चित्त स्वत: ही युक्त हो जाता है ।

202. योगानामीश्वरो योगेश्वर: = योगों का जो ईश्वर है वह 'योगेश्वर' है, 'योगेश्वर' शब्द से यह सूचित किया गया है कि व्यवहित मैंने जिस योगसामर्थ्य से इस गीताशास्त्र को सुना है वह उसी योगेश्वर का सामर्थ्य है, मेरा सामर्थ्य नहीं है ।

203. 'कृष्ण' शब्द से यह ध्वनित होता है कि कृष्णप्रसादरूप कृष्णद्वैपायन का प्रसाद ही इस गीताशास्त्र को सुनने में मेरा सामर्थ्य है ।

204. यहाँ 'इमम्' – यह पुँल्लिङ्ग पाठ ही उपयुक्त है, क्योंकि भाष्यकार ने इस पाठ की ही व्याख्या की है, कारण कि यह 'योग' शब्द का विशेषण है । किन्तु प्राचीन पाठ में 'एतत्'– इस नपुंसकलिङ्ग पाठ का प्रचलन है ।

205. कृष्ण और अर्जुन के मध्य हुए संवाद को सुननेवाले धृतराष्ट्र आप भी वैर को त्यागकर कृष्णभक्तिमति को आदरपूर्वक अङ्गीकार करते हुए अत्यन्त दीप्तिमान्, अत्यन्त हृष्ट वास्तविक राजा होओ -- इसप्रकार बोध कराते हुए सञ्जय धृतराष्ट्र को हे राजन् ! कहकर सम्बोधित करते हैं ।

संस्मृत्य, संभ्रमे द्विरुक्तिः । मुहुर्मुहुर्वारं वारं हृष्यामि च हर्षं प्राप्नोमि च, प्रतिक्षणं रोमाञ्चितो भवामीति वा ॥ 76 ॥

189 यद्विश्वरूपाख्यं सगुणं रूपमर्जुनाय ध्यानार्थं भगवान्दर्शयामास तदिदानीमनुसंदधान आह –

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ 77 ॥

190 तदिति विश्वरूपं हे राजन्मम महान्विस्मयोऽत एव हृष्यामि चाहम् । स्पष्टमन्यत् ॥ 77 ॥

191 एवं च सति स्वपुत्रे विजयादिसंभावनां परित्यजेत्याह –

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ 78 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ 18 ॥

192 यत्र यस्मिन्युधिष्ठिरपक्षे योगेश्वरः सर्वयोगसिद्धीनामीश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्भगवान्कृष्णो भक्त-

---

मैंने केवल सुना ही नहीं है किन्तु उसका स्मरण कर -- करके — यहाँ 'संस्मृत्य -- संस्मृत्य' – यह द्विरुक्ति सम्भ्रम = श्रद्धा अर्थ में है – मैं मुहुर्मुहु = बार-बार हर्षित होता हूँ – हर्ष[206] को प्राप्त होता हूँ अथवा प्रतिक्षण रोमाञ्चित होता हूँ ॥ 76 ॥

189 भगवान् ने अर्जुन के ध्यान के लिए जो अपना विश्वरूपाख्य सगुण रूप दिखाया था उसका अब अनुसन्धान करते हुए कहते हैं :--
[हे राजन् ! हरि – भगवान् के उस अत्यन्त अद्भुत रूप का स्मरण कर – करके मुझको महान् विस्मय होता है और मैं बार-बार हर्षित होता हूँ ॥ 77 ॥]

190 'तत्' अर्थात् विश्वरूप का स्मरण कर – करके हे राजन्[207] ! मुझको महान् विस्मय होता है अतएव मैं हर्षित होता हूँ । शेष स्पष्ट है ॥ 77 ॥

191 ऐसा होने पर राजन् ! आप अपने पुत्र के लिए विजयादि की सम्भावना का परित्याग कीजिए -- यह कहते हैं :--
[जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर पार्थ -- अर्जुन हैं वहाँ अवश्य ही श्री, विजय, भूति -- वृद्धि और नीति प्राप्त होती है – यह मेरा निश्चय है ॥ 78 ॥]

192 जहाँ = जिस युधिष्ठिरपक्ष मे योगेश्वर[208] = समस्त योगसिद्धियों के ईश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्

---

206. चित्त का समुल्लास ही 'हर्ष' होता है ।-शुद्ध-हर्ष परम आनन्दमय श्रीश = भगवान् की महिमा से उत्पन्न होता है (हर्षश्चित्तसमुल्लासः, परानन्दमयः श्रीशमाहात्म्यकारणम् – श्रीभगवद्भक्तिरसायन, 2.12) ।

207. 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' (गीता, 12.6) = 'हम यह भी नहीं जानते कि शत्रुओं को हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे' – इसप्रकार के अर्जुन के संशय को विश्वरूपप्रदर्शनद्वारा हरने में प्रवृत्त हरि – भगवान् के सर्वोपसंहार को दिखानेवाले विश्वरूप को सुनकर भी आप तो द्रोह का परित्याग कर सन्धि के लिए तैयार होते हुए भी तैयार नहीं हुए -- यह आश्चर्य है – इसप्रकार ध्वनित करते हुए सञ्जय धृतराष्ट्र को हे राजन् ! कहकर सम्बोधित करते हैं ।

दुःखकर्षणस्तिष्ठति नारायणः, यत्र पार्थो धनुर्धरो यत्र गाण्डीवधन्वा तिष्ठत्यर्जुनो नरः, तत्र नरनारायणाधिष्ठिते तस्मिन्युधिष्ठिरपक्षे श्री राज्यलक्ष्मीर्विजयः शत्रुपराजयनिमित्त उत्कर्षो भूतिरुत्तरोत्तरं राज्यलक्ष्म्या विवृद्धिर्ध्रुवाऽवश्यंभाविनीति सर्वत्रान्वयः । नीतिर्नयः । एवं मम मतिर्निश्चयः । तस्माद्वृथा पुत्रविजयाशां त्यक्त्वा भगवदनुगृहीतैर्लक्ष्मीविजयादिभाग्भिः पाण्डवैः सह संधिरेव विधीयतामित्यभिप्रायः ॥ 78 ॥

193 **वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।**
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥ 1 ॥
काण्डत्रयात्मकं शास्त्रं गीताख्यं येन निर्मितम् ।
आदिमध्यान्तषट्केषु तस्मै भगवते नमः ॥ 2 ॥
श्रीगोविन्दमुखारविन्दमधुना मिष्टं महाभारते
गीताख्यं परमं रहस्यमृषिणा व्यासेन विख्यापितम् ॥
व्याख्यातं भगवत्पादैः प्रतिपदं श्रीशंकराख्यैः पुन –
र्विस्पष्टं मधुसूदनेन मुनिना स्वज्ञानशुद्ध्यै कृतम् ॥ 3 ॥

भगवान् कृष्ण[209] = भक्तों के दुखों को खींचनेवाले नारायण हैं और जहाँ धनुर्धर पार्थ = गाण्डीवधन्वा अर्जुन अर्थात् नर हैं वहाँ = उस नर -- नारायण से अधिष्ठित युधिष्ठिरपक्ष में श्री = राज्यलक्ष्मी, विजय = शत्रु के पराजय से होनेवाला उत्कर्ष, भूति = उत्तरोत्तर राज्यलक्ष्मी की वृद्धि और नीति = नय – न्याय -- ये ध्रुव = अवश्यंभावी हैं । श्लोकस्थ 'ध्रुवा[210]' विशेषण श्री, विजय, भूति और नीति -- इन सबके साथ अन्वित है । ऐसी मेरी मति है -- यह मेरा निश्चय है । अत: राजन् ! आप अपने पुत्र के लिए विजय की वृथा आशा को त्यागकर भगवान् से अनुगृहीत और लक्ष्मी, विजय आदि के भागी पाण्डवों के साथ सन्धि ही कर लीजिए -- यह अभिप्राय है ।। 78 ।।

193 जिनके हाथ वंशी – मुरली से विभूषित हैं, जिनके शरीर की आभा – कान्ति नव[211]= नवीन नीरद = जलपूर्णमेघ के समान है, जो पीताम्बरधारी हैं, जिनके अधरोष्ठ अरुण बिम्बाफल के समान हैं, जिनका मुख पुर्णेन्दु = पूर्णिमा के चन्द्र के समान सुन्दर है और जिनके नेत्र अरविन्द -- कमल के समान हैं उन श्रीकृष्ण से पर = उत्कृष्ट अन्य किसी भी तत्त्व को मैं नहीं जानता हूँ ।। 1 ।।

आदि -- प्रथम षट्क = छः अध्यायों से कर्मकाण्ड, मध्य के छ: अध्यायों से उपासना काण्ड- भक्ति काण्ड और अन्तिम छ: अध्यायों से ज्ञान काण्ड-- इसप्रकार तीन काण्डों वाले 'गीता' नामक शास्त्र की जिसने रचना की है उस भगवान् को नमस्कार है ।। 2 ।।

---

208. ज्ञान और कर्म अथवा भक्ति -- ये सब योग और इस योगसमूह के बीज -- मूल शास्त्रीय ज्ञान – वैराग्यादि भगवान् के अधीन हैं, क्योंकि जो भगवदनुग्रह से वंचित रहता है उसके लिए योग और उसका फल संभव नहीं होता है, अतः सभी योग और उनके फल भगवान् के अधीन रहने के कारण भगवान् कृष्ण को 'योगेश्वर' कहते हैं ।

209. 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।।'

इत्यादि के द्वारा निर्दिष्ट सच्चिदानन्दघन, अघ – पापों का कर्षण करनेवाले 'कृष्ण' हैं ।

210. भाष्यकार ने केवल 'नीति' शब्द के विशेषणरूप से 'ध्रुवा' शब्द को ग्रहण करके व्याख्या की है ।

211. यहाँ 'नव' पद का प्रयोग साभिप्राय है । 'नवनीरद' का अभिप्राय श्रावण-भाद्रमास के मेघ से है, क्योंकि श्रावण-मास में मेघ प्रथम तो स्वयं होते हैं, सहज होते हैं अतएव नव -- नवीन होते हैं और द्वितीय वे जलपूर्ण होते हैं, जलद होते हैं अतएव श्याम होते हैं, किन्तु शरद् - ऋतु के मेघ स्वल्पजल होते हैं अतएव श्वेत होते हैं, अतः 'नव' पद शरत्कालीन मेघ की व्यावृत्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

इह योऽस्ति विमोहयन्मनः परमानन्दघनः सनातनः ।
गुणदोषभृदेष एव नस्तृणतुल्यो यदयं स्वयं जनः ॥ 4 ॥
श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां प्रसादमासाद्य मया गुरूणाम् ।
व्याख्यानमेतद्विहितं सुबोधं समर्पितं तच्चरणाम्बुजेषु ॥ 5 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां संन्यासयोगप्रतिपादनं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ 18 ॥

(समाप्तेयं श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचिता श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका टीका ।)

महर्षि व्यास ने श्रीगोविन्द भगवान् के मुखारविन्दमधु से मधुर 'गीता' नामक परम रहस्य को महाभारत[212] में प्रसिद्ध किया है, भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ने 'गीता' के प्रत्येक पद की व्याख्या की है, पुनः उसी का मधुसूदन मुनि ने अपने ज्ञान की शुद्धि के लिए विशेषरूप से स्पष्ट किया है ॥ 3 ॥
जो मन को विमुग्ध करता हुआ परमानन्दघन सनातन प्रभु है वह हमारे ग्रन्थ के गुण अथवा दोषों का निर्वाहक है, क्योंकि यह जन स्वयं तृणतुल्य है[213] ॥ 4 ॥
मैंने अपने गुरुदेव श्रीरामानन्द सरस्वती[214], श्रीविश्वेश्वर सरस्वती[215] और श्रीमाधव सरस्वती[216] के प्रसाद – अनुग्रह को प्राप्त कर यह सुबोध व्याख्यान किया है और इसको उनके ही चरणकमलों में समर्पित किया है ॥ 5 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-विश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दी भाषानुवाद का संन्यासयोग नामक अष्टादश अध्याय समाप्त होता है ।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

---

212. यह 'गीता' नामक परम रहस्य महाभारत के भीष्मपर्व के चौबीसवें अध्याय में विशेषरूप से प्रकाशित है ।
213. भाव यह है कि जिसप्रकार अचेतन तृण – तिनका चेतन के व्यापार के बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता है उसीप्रकार यह जन मधुसूदन सरस्वती भी केवल शरीर और इन्द्रियों का संघात होने से परमानन्दघन भगवान् की प्रेरणा के बिना कुछ भी करने में असमर्थ है ।
214. श्रीरामानन्द सरस्वती मधुसूदन सरस्वती के गुरु के गुरु अर्थात् परमगुरु हैं ।
215. श्रीविश्वेश्वर सरस्वती मधुसूदन सरस्वती के दीक्षागुरु हैं ।
216. श्रीमाधव सरस्वती मधुसूदन सरस्वती के विद्यागुरु हैं ।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

इसप्रकार श्रीमधुसूदन सरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीता-गूढार्थदीपिका-टीका का
मथुरा-मण्डलान्तर्गत सादाबाद-उपमण्डलनिवासी
श्री हरिचरण दास अग्रवाल तथा श्रीमती गायत्री देवी के पुत्र
डॉक्टर मदन मोहन अग्रवाल द्वारा कृत
विमर्श सहित प्रतिभा-संज्ञक हिन्दीभाष्यानुवाद समाप्त होता है ।

॥ श्रीगुरुः शरणम् ॥
॥ श्रीः ॥

अनुबन्धावली

अनुबन्ध
1
श्रीमद्भगवद्गीताश्लोकानुक्रमणी

अनुबन्ध
2
गूढार्थदीपिकोद्धृतवाक्यानुक्रमणिका

वाक्यप्रतीक	सन्दर्भ-सङ्केत	पृष्ठ
अकाकारयोः स्त्रीप्रत्ययोः	वार्तिक, 1513	170
अकामतः क्रियाः	बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक; मनुस्मृति, 11.127	240
अकारो वै सर्वा वाक्	ऐतरेयोपनिषद्, 3.6.7	580
अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य०	श्रुतिवाक्य	162
अक्षरमम्बरान्तधृतेः	ब्रह्मसूत्र, 1.3.10	491
अक्षरात्परतः परः	मुण्डकोपनिषद्, 2.1.4	668
अगृहीत्वैव सम्बन्धम्	बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, 1208.697	134
अग्निदो गरदश्चैव	वसिष्ठस्मृति, 1.3.16	35
अग्निषोमीयं पशुमालभते	—	795, 799
अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः०	मनुस्मृति, 3.76	212,494
अङ्कुशेन विना मतो०	मुक्तिकोपनिषद्, 2.44; योगवासिष्ठ, उपशमप्रकरण, 92.35	424
अङ्गं वा समभिव्याहारात्	—	808
अज आत्मा महान्ध्रुवः	बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.20	820
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः	कठोपनिषद्, 2.18	820
अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं	महोपनिषद्, 5.105	226
अज्ञातज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यम्	मीमांसा, वेदान्त	93
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः	महाभारत, वनपर्व, 30.28	325, 832
अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति	मैत्रायणीसंहिता, 4.7.6	273
अतिवर्णाश्रमी जीवन्मुक्त०	गूढार्थदीपिका	6
अत्यन्ताभाव संपत्तौ०	योगवासिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरण, 22.27	420
अत्रायं पुरुषः	बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.3.19	76
अथ (य इह) कपूरचरणा अभ्याशो	छान्दोग्योपनिषद्, 5.10.7	752
अथात आदेशो नेति नेति	बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.3.6	663
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	ब्रह्मसूत्र, 1.1.1	433
अथाऽऽश्रमिणां०	हारीतस्मृति	865
अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन	छान्दोग्योपनिषद्, 5.10.8	437
अथो अयं वा आत्मा	बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.16	214
अथो खल्वाहुः काममय	बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.5	238
अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः	महाभारत, शान्तिपर्व, 174.17	128

अनुबन्ध
3
विमर्शोद्धृतवाक्यानुक्रमणिका

अनुबन्ध

4

विशिष्टनामानुक्रमणिका

अनुबन्ध
5
विशिष्टपदानुक्रमणी

अनुबन्ध
6
सहायक ग्रन्थ-सूची

अग्निपुराण , नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

अद्वैतरत्नलक्षणम् , मधुसूदन सरस्वती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1937 ।

अद्वैतसिद्धि , मधुसूदन सरस्वती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1937; सम्पादक – स्वामी योगीन्द्रानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1986 ।

अमरकोश , रामाश्रमी-टीका सहित, सम्पादक – पण्डित हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1970 ।

अर्थसंग्रह , लौगाक्षि भास्कर, सम्पादक – एस० एस० सुक्थङ्कर, पुनर्मुद्रित संस्करण, दिल्ली, 1983 ।

अलङ्काररत्नाकर , शोभाकर मित्र, सम्पादक – सी० आर० देवधर, ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना, 1942 ।

अलङ्कारसर्वस्व , रुय्यक, सम्पादक – डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1971 ।

अष्टादश उपनिषदः , वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1958 ।

अष्टादश स्मृतयः , श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1951 ।

अष्टाध्यायी , पाणिनि, सम्पादक – एस० पाठक तथा एस० चित्राव, पूना 1935; सम्पादक – श्रीगोपाल शास्त्री 'दर्शनकेशरी', चौखम्बा प्रकाशन, 1980 ।

अष्टोत्तरशतोपनिषद् , सम्पादक – अनुवादक = श्रीराम शर्मा आचार्य, तीन भाग, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1961 ।

आङ्गिरसस्मृति , सम्पादक – ए० एन० कृष्णा अय्यङ्गर, अड्यार लाईब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, अड्यार ।

आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र , सम्पादक – आर० गार्वे, कलकत्ता, 1882 ।

ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः , निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1925 ।

ईशाद्यष्टोपनिषदः , सम्पादक – प्रोफेसर रामप्रताप शास्त्री, मथुरा, 1937 ।

ईशावास्योपनिषद् , शाङ्करभाष्योपेता, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016 ।

उपनिषद्-ग्रन्थ :–

अक्ष्युपनिषद्
अन्नपूर्णोपनिषद्
ईशावास्योपनिषद्
ऐतरेयोपनिषद्
कठोपनिषद्
कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्
छान्दोग्योपनिषद्
जाबलोपनिषद्
तैत्तिरीयोपनिषद्
त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्
नारदपरिव्राजकोपनिषद्
परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्
प्रश्नोपनिषद्
बाष्कलमन्त्रोपनिषद्
बृहदारण्यकोपनिषद्
भवसन्तरणोपनिषद्
महानारायणोपनिषद्
महोपनिषद्
माण्डूक्योपनिषद्
मुक्तिकोपनिषद्

मुण्डकोपनिषद्
मैत्रायण्युपनिषद्
योगोपनिषदः
वराहोपनिषद्
वेदान्तोपनिषदः
वैष्णवोपनिषदः ; शाण्डिल्योपनिषद्
श्वेताश्वतरोपनिषद्
संन्यासोपनिषदः

उपनिषद्वाक्यमहाकोश , संकलनकर्ता -- श्रीगजानन शम्भु साधले, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1990 ।

उपनिषद्-संग्रहः , अड्यार लाइब्रेरी, अड्यार ।

ऋग्वेद-संहिता , सम्पादक – मैक्समूलर, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1966 ।

एतरेयोपनिषद् , शाङ्करभाष्योपेता, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016 ।

कठोपनिषद् , शाङ्करभाष्योपेता, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016 ।

कालिकापुराण , नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

काव्यप्रकाश , मम्मट, 'बालबोधिनी' टीकासहित, टीकाकार – वामनाचार्य रामभट्ट झलकीकर, सम्पादक – रघुनाथ दामोदर करमरकर, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1965 ।

काव्यादर्श , दण्डी, व्याख्याकार – आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1991 ।

काव्यालङ्कार , भामह, भाष्यकार – देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, 1985 ।

काशिकावृत्ति , वामनजयादित्य, सम्पादक – शोभित मिश्र, दो भाग, काशी संस्कृत सीरीज नं० 37, वाराणसी, 1952 ।

किरणावली , उदयनाचार्य, सम्पादक – जितेन्द्र एस० जेतली, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० 125, बडोदा, 1971; हिन्दीभाषाव्याख्यानसमलङ्कृता, व्याख्याकार – गौरीनाथ शास्त्री, गङ्गानाथ झा ग्रन्थमाला नं० 8, सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, 1980 ।

कुवलयानन्द , अप्पय दीक्षित, हिन्दी-व्याख्याकार – डॉ० भोलाशङ्कर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1963 ।

कृष्णयजुर्वेद , आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1900 ।

कोश-ग्रन्थ :--

अमरकोश
उपनिषद्वाक्यमहाकोश
न्यायकोश
महाभारतकोश
मेदिनीकोश
विश्वकोश
शब्दकल्पद्रुमः
शब्दसागर
संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी
संस्कृत-हिन्दी-कोश
सांख्ययोगकोश
हलायुधकोश
हिन्दूधर्मकोश
हैमकोश

कौषीतकि ब्राह्मण , सम्पादक – ई० वी० कोवेल, कलकत्ता, 1861 ।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् , सम्पादक – एस० सी० विद्यारण्य, इलाहाबाद, 1926 ।

गौडपादकारिका-माण्डूक्यकारिका , शाङ्करभाष्योपेता, आनन्दाश्रम, पूना, 1921; गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016; सम्पादक – रघुनाथ दामोदर करमरकर, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1973 ।

छान्दोग्योपनिषद् , आनन्दाश्रम, पूना, 1890; सम्पादक – पं० अमोलकराम शास्त्री, वृन्दावन ।

जीवन्मुक्तिविवेक , विद्यारण्य मुनि, सम्पादक – एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री तथा टी० आर० एस० अय्यंगर, संशोधक – ए० जी० कृष्णा वारियर, अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन नं० 41, 1977 ।

जैनदर्शनसार , चैन्सुखदास, सम्पादक – सी० एस० मल्लिनाथन, हिन्दी अनुवादक – पण्डित एम० सी० शास्त्री, न्यायतीर्थ, जयपुर, 1981 ।

जैमिनिसूत्र , जैमिनि, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1981 ।

तन्त्रवार्तिक , कुमारिलभट्ट, आनन्दश्रम मुद्रणालय, पूना, 1981 ।

तर्कभाषा , केशव मिश्र, व्याख्याकार – आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1963 ।

तर्कसंग्रह, तर्कदीपिका , अन्नम्भट्ट, भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, काशी, 1939 ।

ताण्ड्य ब्राह्मण, सम्पादक – चिन्नस्वामी, 1935 ।

ताण्ड्यमहाब्राह्मण

तैत्तिरीयारण्यक, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1927 ।

तैत्तिरीयोपनिषद्, शाङ्करभाष्योपेता, आनन्दाश्रम, पूना, 1897; गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016 ।

द योग-उपनिषद्स , सम्पादक – पण्डित ए० महादेव शास्त्री, अड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, अड्यार, 1983 ।

द योगवासिष्ठ, बी० एल० आत्रेय, थियोसोफीकल पब्लिशिंग हॉउस, अड्यार, 1935 ।

द वेदान्त-उपनिषद्स , सम्पादक – पण्डित ए० महादेव शास्त्री, अड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, अड्यार, 1921 ।

द वैष्णव-उपनिषद्स , सम्पादक – पण्डित ए० महादेव शास्त्री, अड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, अड्यार, 1923।

दशरूपक , धनञ्जय, धनिककृत 'अवलोक' टीकासहित, हिन्दी-व्याख्याकार – डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1962 ।

द संन्यास-उपनिषद्स , सम्पादक – डॉ० एफ० ओ० श्रेडर, अड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, अड्यार, 1912 ।

देवीभागवतमहापुराण, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सम्वत् 1982 ।

धर्मशास्त्र का इतिहास , मूलग्रन्थ अंग्रेजी में अतएव मूल लेखक -- महामहोपाध्याय डॉ० पाण्डुरङ्ग वामन काणे, हिन्दी-अनुवादक – प्राध्यापक अर्जुन चौबे काश्यप, प्रथम भाग, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला -- 74, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण ।

धर्मोत्तरप्रदीप , दुर्वेक मिश्र, न्यायबिन्दु तथा न्यायबिन्दुटीका सहित, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955 ।

नारदपञ्चरात्र , अनुवादक – हरि प्रसन्न चटर्जी, इलाहाबाद, 1921 ।

निरुक्त , यास्क, सम्पादक – प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966 ।

नैष्कर्म्यसिद्धि , सुरेश्वराचार्य, सम्पादक – एम० हिरियाना, मैसूर, 1925 ।

न्यायकुसुमाञ्जलि , उदयनाचार्य, सम्पादक -- आचार्य विश्वेश्वर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978 ।

न्यायकोश , महामहोपाध्याय भीमाचार्य झलकीकर, पूना, 1928 ।

न्यायबोधिनी , गोवर्धन, सम्पादक – यशवन्त वासुदेव ऐथले तथा महादेव राजाराम बोडास, बोम्बे संस्कृत सीरीज नं० LV, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1963 ।

न्यायभाष्य , वात्स्यायन, सम्पादक – पण्डित श्री आशुबोध विद्याभूषण तथा पण्डित श्री नित्यबोध विद्यारल, कलकत्ता, 1919 ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली , विश्वनाथ पञ्चानन, पण्डित-श्रीकृष्णवल्लभाचार्यकृता 'किरणावली' व्याख्योपेता, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत् 2039 ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-प्रभा , सम्पादक – श्री सी० शङ्कराम शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1988 ।

न्यायसूत्र , गौतम, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1966 ।

न्यायसूत्रवृत्ति , विश्वनाथ, सम्पादक – आशुबोध विद्याभूषण तथा नित्यबोध विद्यारल, कलकत्ता, 1919 ।

पञ्चदशी , विद्यारण्य मुनि, भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, काशी, 1942; बम्बई, 1925 ।

पदार्थचन्द्रिका , शेषालन्त, सप्तपदार्थीटीका, अप्रकाशित ।

पद्मपुराण , गुरुमण्डलग्रन्थमाला संख्या 18, भाग 1-5, कलकत्ता, 1958-59 ।

पाणिनीय-शब्दानुशासनम् , सम्पादक – सत्यानन्द वेदवागीश, अलवर, 1987 ।

पातञ्जलयोगसूत्र , बंगाली बाबा कृत अंग्रेजी अनुवाद से हिन्दी-अनुवादिका – कुमारी वृजरानी देवी, पूना, 1943 ।

पुराण-ग्रन्थ :–

अग्निपुराण
कालिकापुराण
देवीभागवतमहापुराण
पद्मपुराण
ब्रह्मवैवर्तपुराण
भविष्यपुराण
मत्स्यपुराण
मार्कण्डेयपुराण
वराहपुराण
वायुपुराण
विष्णुपुराण
श्रीमद्भागवतमहापुराण
हरिवंशपुराण

प्रमाणचन्द्रिका , वेदेशतीर्थीसहिता, शेषाचार्य, अप्रकाशित ।

प्रमाणवार्तिक , धर्मकीर्ति, सम्पादक -- राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, 1943 ।

प्रशस्तपादभाष्य , जगदीश 'सूक्ति' सहित, सम्पादक – श्री कालीपद तर्काचार्य, संस्कृत-साहित्य-परिषद्, कलकत्ता, 1926 ।

प्रशस्तपादभाष्य , 'न्यायकन्दली' टीका सहित, सम्पादक – पं० दुर्गाधर झा, गङ्गानाथ झा गन्थमाला संख्या 1, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977 ।

प्रशस्तपादभाष्य , 'प्रकाशिका' हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार – आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1966 ।

प्रश्नोपनिषद् , शाङ्करभाष्योपेता, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016 ।

बार्हस्पत्यसूत्र

बृहदारण्यकोपनिषद् , शाङ्करभाष्योपेता, आनन्दाश्रम, पूना, 1927; सम्पादक – पं० अमोलकराम शास्त्री, वृन्दावन ।

बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य-वार्तिक , सुरेश्वराचार्य, सम्पादक – श्री एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री, महेश-अनुसंधान-संस्थान, वाराणसी, 1990 ।

बृहस्पतिस्मृति , सम्पादक – के० वी० रङ्गस्वामी अय्यंगर, बडोदा, 1941 ।

बोधायनधर्मसूत्र , गोविन्दस्वामीप्रणीतटीकासहित, सम्पादक – ए० चिन्नस्वामी शास्त्री, वाराणसी, सम्वत् 1991 ।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण , गुरुमण्डलग्रन्थमाला संख्या 14, कलकत्ता, 1955 ।

ब्रह्मसूत्र , बादरायण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1938 ।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, शंकराचार्य, सम्पादक -- स्वामी श्री हनुमानदास षट्शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1977; **चतुःसूत्री ,** व्याख्याकार -- आचार्य विश्वेश्वर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966 ।

भक्तिरसायन-भगवद्भक्तिरसायन , मधुसूदन सरस्वती, अनुवाद एवं विवृतिकार – श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, वाराणसी, सम्वत् 2033 ।

भविष्यपुराण , नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

भागवतदर्शनम् , प्रो० रसिक विहारी जोशी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1985 ।

भावप्रकाशन , शारदातनय, सम्पादक – यदुगिरि यतिराजस्वामी तथा के० एस० रामास्वामी शास्त्री, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० 45, बडोदा, 1968; हिन्दीभाष्यानुवादकार -- डॉ० मदन मोहन अग्रवाल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983 ।

भाषापरिच्छेद -- कारिकावली , विश्वनाथ पञ्चानन, व्याख्याकार -- पं० श्री ज्वाला प्रसाद गौड़, सम्पादक -- पं० श्री ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1991 ।

भाष्योत्कर्षदीपिका , धनपति, गीताभाष्यटीका, सम्पादक -- वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, नई-दिल्ली, 1978 ।

मत्स्यपुराण , श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1895; पुनर्मुद्रित, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

मधुसूदन सरस्वती ऑन् द भगवद्गीता , एस० के० गुप्ता, दिल्ली, 1977 ।

मनुस्मृति , श्रीकुल्लूकभट्टप्रणीत 'मन्वर्थमुक्तावली' टीकासहिता 'मणिप्रभा' हिन्दीव्याख्योपेता च, व्याख्याकार – पण्डित हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत् 2049 ।

महाभारत , वेदव्यास, आलोचनात्मक संस्करण, भाग I-XIX, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना ।

महाभारतकोश , सम्पादक – डॉ० रामकुमार राय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1982 ।

महाभाष्य , पतञ्जलि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1951 ।

महावाक्यरत्नावली

महिम्नस्तोत्रटीका , मधुसूदन सरस्वती, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1938 ।

माठरवृत्ति , (सांख्यकारिकावृत्ति), चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी ।

माण्डूक्योपनिषद् , गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016 ।

मार्कण्डेयपुराण , नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

मीमांसादर्शन , जैमिनि, मीमांसासूत्र तथा शाबरभाष्य सहित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1981 ।

मीमांसान्यायप्रकाश , आपदेव, हिन्दीव्याख्याकार – आचार्य पं० पट्टाभिराम शास्त्री विद्यासागर, श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई-दिल्ली, 1983 ।

मीमांसासूत्र , जैमिनि, आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना, 1981 ।

मुण्डकोपनिषद् , शाङ्करभाष्योपेता, आनन्दाश्रम, पूना, 1896 ।

मेघदूत , कालिदास, सम्पादक – काशिनाथ पाण्डुरङ्ग पाठक, पूना, 1916 ।

मेघदूत , कालिदास, सम्पादक – शारदारञ्जन रे, कलकत्ता, 1946 ।

मेदिनीकोश , सम्पादक – जगन्नाथ शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1968 ।

मैत्रायणीसंहिता

मैत्रायण्युपनिषद् , रामतीर्थकृतटीकासहित, सम्पादक – ई० बी० कोवेल, बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1929 ।

याज्ञवल्क्यस्मृति , 'मिताक्षरा' सहित, हिन्दीव्याख्याकार – उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत्, 2050 ।

योगभाष्य , व्यास, व्याख्याकार – स्वामी श्री ब्रह्मलीन मुनि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1970 ।

योगभाष्यतत्त्ववैशारदी , व्यास – वाचस्पति मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1963 ।

योगसूत्र-भोजवृत्ति , भाषानुवादक – स्वामी विज्ञानाश्रम जी, द फ़ाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर, 1961 ।

योगवार्तिक , विज्ञानभिक्षु, सम्पादक – श्रीनारायण मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।

योगवासिष्ठ , हिन्दी-व्याख्याकार – पण्डित ठाकुर प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, 1992; आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती द्वारा प्रणीत 'तात्पर्यप्रकाश' व्याख्यासहित, सम्पादक – वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1937 ।

रघुवंश , कालिदास, सञ्जीवनीटीकासहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1961 ।

लघुशब्देन्दुशेखरटीका , नागेशभट्ट, म० म० श्री नित्यानन्द पन्त पर्वतीय कृत 'शेखरदीपक' टीका सहित ।

लङ्कावतारसूत्र , सम्पादक – बी० नानजिओ, ओरिएण्टल बुकसेलर एण्ड पब्लिशर, लन्दन, 1923 ।

वराहपुराण , नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

वाक्यपदीय , भर्तृहरि, रघुनाथ शर्मा कृत 'अम्बकर्त्री' टीकासहित, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1963-68 ।

वायुपुराण , नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

वाल्मीकिरामायण , दो भाग, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2045; दक्षिण संस्करण, मेलापुर, मद्रास, 1958 ।

विधिविवेक , मण्डन मिश्र, वाचस्पति मिश्र प्रथम कृत 'न्यायकणिका' सहित, सम्पादक – महाप्रभु लाल गोस्वामी, प्राच्यभारती सीरीज नं० 8, वाराणसी, 1978 ।

विवरणप्रमेयसंग्रह , विद्यारण्य मुनि, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, सम्वत् 1996 ।

विवेकचूडामणि , शंकराचार्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2010 ।

विष्णुपुराण , गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 1990; नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

विष्णुस्मृति , सम्पादक – एम० एन० दत्त, कलकत्ता, 1909 ।

वेदान्तकल्पलतिका , मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – आर० डी० करमरकर, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1962; सम्पादक – पण्डित रामाज्ञ शर्मा पाण्डेय, सरस्वती भवन टेक्स्ट नं० 3, वाराणसी, 1920 ।

वेदान्तपरिभाषा , धर्मराजाध्वरीन्द्र, सम्पादक – महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री, पुनर्मुद्रित, नवरंग, नई-दिल्ली, 1993 ।

वेदान्तसार , सदानन्द, एम० हिरियाना, ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना, 1962 ।

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली , प्रकाशानन्द, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, सम्वत् 1993 ।

वैशेषिकसूत्र , कणाद, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1933 ।

वैशेषिकसूत्रोपस्कार , शंकर मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1933; सम्पादक – श्रीनारायण मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1969 ।

शब्दकल्पद्रुमः , राजा राधाकान्त देव, पाँच भाग, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1967 ।

शब्दसागर , एच० एच० विल्सनस् संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी, सम्पादक – पण्डित कुलपति जीवानन्द विद्यासागर, प्रकाशक – आशुबोध भट्टाचार्य तथा नित्यबोध भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1900 ।

शाबरभाष्य , शबरस्वामी, आनन्दाश्रम-संस्कृत-ग्रन्थावली संख्या 97, पूना, 1981 ।

शास्त्रदीपिका , पार्थसारथि मिश्र, सम्पादक – श्री धर्मदत्त झा (बच्चा झा), कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988 ।

शिशुपालवध , माघ, सम्पादक – पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति, कलकत्ता, 1847 ।

श्रीमद्भगवद्गीता , केशव-काश्मीरी-भट्टकृत 'तत्त्वप्रकाशिका' टीकोपेता, हिन्दी-व्याख्याकार – कालिका सिंह, मुजफ्फरपुर, वर्धमान, 1935 ।

श्रीमद्भगवद्गीता , मधुसूदन सरस्वती विरचित 'गूढार्थदीपिका' सहित, हिन्दी- व्याख्याकार -- पण्डित श्री हरिहर कृपालु द्विवेदी, प्रकाशक – सेठ श्री छोटेलाल मुरारका, कलकत्ता, सम्वत् 2006 ।

श्रीमद्भगवद्गीता , मधुसूदन सरस्वती कृत 'गूढार्थदीपिका' संस्कृत-टीकायुक्त, हिन्दी-व्याख्याकार -- स्वामी श्री सनातन देव जी महाराज, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सम्वत् 2018 ।

श्रीमद्भगवद्गीता , शाङ्करभाष्यनीलकण्ठ्यादिव्याख्याष्टकसंवलिता, सम्पादक – वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा० लि०, नई-दिल्ली, 1978 ।

श्रीमद्भागवतम् , टी० आर० कृष्णाचार्य, बम्बई, 1916 ।

श्रीमद्भागवतमहापुराण , गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2049 ।

श्लोकवार्तिक , कुमारिलभट्ट, सम्पादक – डॉ० गंगा सागर राय, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1993 ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् , गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2009; शाङ्करभाष्योपेता, आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावली संख्या 17, पूना, 1982; सम्पादक – पं० अमोलकराम शास्त्री, वृन्दावन ।

षट्पदीस्तोत्र , शंकराचार्य, वाराणसी ।

संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी , वी० एस० आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1963 ।

संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी , सर एम० मोनियर विलियम्स, संशोधक – ई० ल्यूमेन + सी० काप्पेलर, प्रथम भारतीय संस्करण, मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा० लि०, नई-दिल्ली, 1976 ।

संस्कृत-हिन्दी कोश , लेखक – वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1973 ।

संक्षेपशारीरक , सर्वज्ञात्ममुनि, काशी, सम्वत् 1994; सम्पादक – स्वामी योगीन्द्रानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1987; सम्पादक – एन० वीझीनाथन, मद्रास यूनीवर्सिटी संस्कृत सीरीज नं० 18, 1972 ।

संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह , मधुसूदन सरस्वती, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1934 ।

सर्वदर्शनसंग्रह , माधवाचार्य, सम्पादक – उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978 ।

सांख्यकारिका , ईश्वरकृष्ण, हिन्दीभाषानुवादकार – पण्डित ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सम्वत् 2020 ।

सांख्याकारिका , गौडपादभाष्य, सम्पादक – टी० जी० माईणकर, ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना, 1964 ।

सांख्यतत्त्वकौमुदी – तत्त्वकौमुदी , वाचस्पति मिश्र, व्याख्याकार – शिवनारायण शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1940; सम्पादक – गंगानाथ झा, पूना, 1965 ।

सांख्यप्रवचनभाष्य , विज्ञानभिक्षु, सम्पादक – श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, सम्वत् 2022 ।

सांख्ययोगकोश , प्रणेता – आचार्य केदारनाथ त्रिपाठी, वाराणसी, 1974 ।

सांख्यसूत्र , कपिल, सम्पादक – डॉ० श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, सम्वत् 2022 ।

साहित्यदर्पण , विश्वनाथ कविराज, सम्पादक – पण्डित दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, निर्णयसागरप्रेस, बम्बई 1922 ।

सिद्धान्तकौमुदी , भट्टोजिदीक्षित, बालमनोरमातत्त्वबोधिनीसहिता, सम्पादक – महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तथा महामहोपाध्याय पण्डित परमेश्वरानन्द शर्मा भास्कर, चार भाग, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1975, 1971, 1967 ।

सिद्धान्तबिन्दु , मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1962; सम्पादक – पी० सी० दीवानजी, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० LXIV, बडोदा, 1933 ।

सुश्रुत-संहिता , सम्पादक – शिवराम शर्मा आयुर्वेदाचार्य, बम्बई, 1938 ।

स्मृति-ग्रन्थ :--

अत्रिसंहिता
आङ्गिरसस्मृति
आपस्तम्बस्मृति
गौतमस्मृति
देवलस्मृति
पराशरस्मृति
बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति
बृहस्पतिस्मृति
मनुस्मृति
याज्ञवल्क्यस्मृति
वसिष्ठस्मृति
विष्णुस्मृति
सुश्रुतसंहिता
हारीतस्मृति

स्टडीज़ इन् द फ़िलॉसफ़ी ऑव् मधुसूदन सरस्वती , सञ्जुक्ता गुप्ता, कलकत्ता, 1966 ।

स्मृतिसन्दर्भ , गुरुमण्डलग्रन्थमाला नं० 9, छै भाग, प्रकाशक – मनसुखराय मोर, कलकत्ता, 1951-1955; नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, पुनर्मुद्रित – 1988 ।

हरिवंशपुराण , सम्पादक – रामचन्द्र शास्त्री, पूना, 1936; नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

हलायुधकोश , सम्पादक – जयशङ्कर जोशी, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1967 ।

हिन्दू धर्मकोश , सम्पादक – डॉ० राजबली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1978 ।